पारस्करगृह्यसूत्रम्

डॉ. जगदीशचन्द्र मिश्र

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी

।। श्रीः ।।
चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला
209

पारस्करगृह्यसूत्रम्

'हरिहर'–'गदाधर'–भाष्यद्वयोपेतम्

तच्च

'विमला'–हिन्दीव्याख्योपेतम्

(वाप्यादिप्रतिष्ठा-शौचसूत्र-स्नानसूत्र-श्राद्धसूत्र-भोजनसूत्रादिपरिशिष्टसहितम्)

हिन्दी-व्याख्याकार
डॉ. जगदीशचन्द्र मिश्र

सम्पादक
डॉ. ब्रह्मानन्द त्रिपाठी

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
वाराणसी

प्रकाशक :

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
के-37/117 गोपाल मंदिर लेन, पोस्ट बॉक्स न. 1129
वाराणसी-221001
दूरभाष : (0542) 2335263

पुनर्मुद्रि
मूल्य :

अन्य प्राप्तिस्थान :

चौखम्बा पब्लिशिंग हाऊस

4697/2, भू-तल (ग्राउण्ड फ्लोर)
गली न. 21-ए, अंसारी रोड़, दरियागंज
नई दिल्ली - 110002
दूरभाषः (011) 32996391, टेलीफैक्सः (011) 23286537

*

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

38. यू. ए. बंग्लो रोड़, जवाहर नगर,
पोस्ट बॉक्स न. 2113, दिल्ली - 110007

*

चौखम्बा विद्याभवन

चौक (बैंक ऑफ बड़ोदा भवन के पीछे)
पोस्ट बॉक्स न. 1069, वाराणसी-221001

मुद्रक
डीलक्स ऑफसेट प्रिंटर्स, दिल्ली

THE

CHAUKHAMBA SURBHARATI GRANTHAMALA

209

GRHYA-SŪTRA

OF

PĀRASKARA

With two Commentaries of Harihar and Gadadhar

(As well as appendices namely Vapyadipratishtha, Shouchasutra, Snanasutra, Shraddhasutra and Bhojanasutra etc.)

&

'Vimala' Hindi Commentary

By

Dr. Jagadish Chandra Mishra

Sahityacharya, V. S.

M. A. (Double), Ph. D., Dip. in Ed.

Edited by

Dr. Brahmanand Tripathi

CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN

VARANASI

Publishers :

CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
(Oriental Publishers & Distributors)
K. 37/117, Gopal Mandir Lane
Post Box No. 1129
Varanasi 221001
Tel. : 2335263

Also can be had from :

CHAUKHAMBA PUBLISHING HOUSE
4697/2, Ground Floor
Gali No. 21-A, Ansari Road
Daryaganj, New Delhi 110002
Tel. : 32996391
e-mail : chaukhamba_neeraj@yahoo.com

CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
38 U.A. Bungalow Road, Jawahar Nagar
Post Box No. 2113
Delhi 110007
Tel. : 23856391

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
Chowk (Behind to Bank of Baroda Building)
Post Box No. 1069
Varanasi 221001
Tel. : 2420404

भूमिका

भारतीय ऋषि-मुनियों के प्रातिभ अनुभूतियों के परिप्रेक्ष्य में वैदिक-वाङ्मय का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस वाङ्मय में आधुनिक विज्ञान से भी उदात्ततर वैज्ञानिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन है। वैदिक वाङ्मय की उपेक्षा ही इस जीवन्त तथ्य की विस्मृति का कारण है। जहाँ तक गृह्यसूत्रों में वर्णित याज्ञिक तत्त्व का प्रश्न है, यह भी ध्यान देने योग्य विषय है। एक यज्ञ वह है जिसका अनुष्ठान निरन्तर प्रकृति द्वारा चलता रहता है। जिसके द्वारा यह विराट् जगत् अहर्निश उत्पत्ति, स्थिति और विनाश के क्रम में संचालित है। दूसरे प्रकार का यज्ञ लोकव्यवहार और लोकजीवन के लिए नितान्त आवश्यक है। इसका मूल उद्देश्य है समाज-कल्याण के लिए सम्पूर्ण रूप से समर्पण तथा व्यक्तिनिष्ठ देवतापरक उपासना।

वर्तमान विज्ञान का मूलाधार विद्युत् शक्ति है; और वैदिक विज्ञान का मूलाधार प्राणशक्ति है। प्राणशक्ति का आयाम विद्युत् शक्ति की अपेक्षा अधिक व्यापक है। विद्युत् शक्ति भी प्राणशक्ति का एक भेद है। देवता, ऋषि, पितृ, गन्धर्व आदि इसी प्राणशक्ति के उपभेद हैं। इनके संकेतों से सम्पूर्ण वेदवेदाङ्ग भरे हुए हैं।

हमारे भारतीय धर्म के प्रधान पीठ ये वेद ही हैं। ये अत्यन्त समादरणीय हैं। वेदों का अक्षर-अक्षर पवित्र माना जाता है। इसमें किसी प्रकार का परिवर्तन-परिवर्द्धन क्षम्य नहीं है। इनके स्वरूप और अर्थ-संरक्षण हेतु ही वेदाङ्ग साहित्य का सृजन हुआ। इस सहायक वैदिकवाङ्मय का सृजन उपनिषत् काल में ही हो गया था। सर्वप्रथम षड्वेदाङ्गों की चर्चा तथा उनके क्रम का वर्णन हमें 'मुण्डकोपनिषद' (१।१५) में प्राप्त होता है। अपरा विद्या के अन्तर्गत चारों वेदों के बाद वेद के षडङ्गों का ही नामोल्लेख हुआ है। उनके नाम और क्रम इस प्रकार हैं—(१) शिक्षा, (२) कल्प, (३) व्याकरण, (४) निरुक्त, (५) छन्द और (६) ज्यौतिष। इन वेदाङ्गों की पृथक्-पृथक् महत्ता तथा अपना-अपना निजी वैशिष्ट्य है। वेद का मुख्य प्रयोजन यज्ञ-याग का यथार्थ अनुष्ठान है। इसके लिए प्रवृत्त होने वाला अङ्ग 'कल्प' कहलाता है। कल्प का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है—'कल्प्यते समर्थ्यते यागप्रयोगोऽत्र' अर्थात् जिसमें यज्ञ के प्रयोगों का समर्थन या कल्पना की जाये। और भी देखें—

'द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च। तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।' (मुण्डकोप० १।१।४-५)

तथा

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते ।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते ।
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम् ।
तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते ॥
(पा० शि० ४१-४२)

इससे यह सिद्ध होता है कि सूत्र-साहित्य में कल्पसूत्र का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होते हुए भी प्राचीनतम तथा प्राथमिक है। वैदिकवाङ्मय के प्रारंभिक भाग में यज्ञ-यागादि का विधान इतना प्रौढ़ तथा विस्तृत हो गया था कि कालान्तर में उनको क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत करने का कार्य नितान्त आवश्यक हो गया। युग की प्रचलित शैली के अनुरूप इन ग्रंथों की रचना सूत्र-शैली में ही की गई। कल्प शब्द का तात्पर्य है—'कल्पो वेदविहितानां कर्मणामानुपूर्व्येण कल्पनाशास्त्रम्।' (विष्णुमित्र)। अर्थात् वेद में विहित कर्मों का क्रमपूर्वक व्यवस्थित कल्पना करने वाला शास्त्र। जिन यज्ञों, विवाहों और उपनयनों, चूड़ाकरणादिक कर्मों का विशिष्ट प्रतिपादन वैदिक ग्रन्थों में किया गया है, उन्हीं का क्रमबद्ध वर्णन करने वाले सूत्र-ग्रन्थों का सामान्य अभिधान कल्प है। ब्राह्मण और आरण्यक ग्रन्थों के साथ साक्षात् सम्बद्ध होने के कारण भी तो ये प्राचीन हैं ही।

ब्राह्मणयुग के प्रभावानुसार वैदिक आर्यों का प्रधान धार्मिक अनुष्ठान यज्ञ ही था। किन्तु तत्कालीन वैदिक याग-विधान अति विस्तृत था, उनके नियम कठोर थे, इनका व्यावहारिक प्रयोग क्लिष्टसाध्य था तथा ये यज्ञ अतिव्यय साध्य थे। अतः इनके प्रायोगिक स्वरूप को संक्षिप्त, व्यवस्थित और व्यावहारिक बनाने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। पुनः ऋत्विजों के व्यावहारिक उपयोग के लिए प्रतिपादक ग्रन्थों की आवश्यकता प्रतीत हुई। इसी कमी की सम्पूर्त्ति के लिए प्रत्येक शाखा में कल्पसूत्रों का निर्माण किया गया।

कल्पसूत्र मुख्यतः चार प्रकार के हैं—

(१) **श्रौतसूत्र**—इनमें ब्राह्मण-ग्रन्थों में वर्णित विषय-वस्तु का प्रतिपादन तथा अग्नि द्वारा सम्पाद्यमान यागादि अनुष्ठानों का संक्षिप्त वर्णन उपलब्ध है।

(२) **गृह्यसूत्र**—इनमें गृह्याग्नि में होने वाले यज्ञों का तथा अन्नप्राशन, चूड़ाकरण, उपनयन, विवाह, श्राद्ध आदि संस्कारों का विस्तृत विवेचन किया गया है।

(३) **धर्मसूत्र**—इनमें वर्णाश्रम-धर्म के कर्त्तव्यों विशेषरूप से राजा के कर्त्तव्यों का मार्गदर्शन है। इनकी गणना मुख्य रूप से कल्पसूत्र में होती है।

(४) **शुल्बसूत्र**—इनमें वेदी के निर्माण-विधि का विशिष्ट प्रतिपादन है। इनमें आर्यों की ज्यामिति सम्बन्धी कल्पनाओं तथा गणनाओं का प्रतिपादन होने से इसका वैज्ञानिक महत्त्व है।

गृह्यसूत्र एवं धर्मसूत्र

विषय-वस्तु की प्रतिपादन-शैली एवं प्रकरणगत समानता को देखकर धर्मसूत्रों एवं गृह्यसूत्रों में अभिन्नता, एकनिष्ठता एवं समता प्रतीत होती है; किन्तु सूक्ष्म निरीक्षण और परीक्षण से यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि दोनों में पर्याप्त अन्तर है। गृह्यसूत्र गृहस्थ जीवन की परिचर्या है और धर्मसूत्र आचारसंहिता है। गृह्यसूत्रों में मनुष्य के कर्त्तव्य एवं अधिकार, उनके आचार-विचार, उनका दायित्व और निर्वाह जैसे विषय गौण हैं। ठीक इसके विपरीत धर्मसूत्रों में मनुष्य की विधि-व्यवस्था, उनकी आचारसंहिता, कर्तव्यनिष्ठा, शक्ति-संचयन, नैतिक एवं धार्मिक कृत्यों पर विधिवत् चर्चा हुई है। यद्यपि धर्मसूत्रों में भी श्राद्ध, मधुपर्क, विवाह, स्नातक, अनध्याय जैसे विषयों पर चर्चा उपलब्ध है, फिर भी उनमें गृहस्थ जीवन की चर्चा बहुत कम हुई है। क्योंकि धर्मसूत्रों की विषय-परिधि बहुत विस्तृत है। धर्मसूत्र कल्प के अविभाज्य अंग हैं। गृह्यसूत्र पाकयज्ञ तथा संस्कारों का; विशेषतः उपनयन, विवाह तथा श्राद्ध का वर्णन करते हैं। धर्मसूत्रों में भी इन विषयों का प्रतिपादन निश्चित रूप से हुआ है, किन्तु दोनों में स्पष्टतः दृष्टिगत भेद हैं। गृह्यसूत्र में अनुष्ठानों के आकार-प्रकार तथा विधान पर ही अधिक बल है, किन्तु धर्मसूत्र में इससे भिन्न आचार, कर्म, कर्त्तव्य एवं व्यवहार को महत्त्व दिया गया है। धर्मसूत्र में चतुर्वर्णों के कर्त्तव्य कर्म तथा वर्तन प्रकार के साथ-साथ राजधर्म का वर्णन मुख्य है। राजा के कर्त्तव्य, प्रजा के साथ उनके सम्बन्ध, आचार-व्यवहार के नियम, अवस्था-विशेष में प्रायश्चित्त का विधान धर्मसूत्र को महत्त्व देता है। वैवाहिक अनेक प्रकारों का वर्णन दोनों में है, किन्तु गृह्यसूत्र का मुख्य उद्देश्य केवल उसकी धार्मिक पद्धति तथा अनुष्ठान के प्रकार के विवेचन से है। धर्मसूत्र में विवाह से उत्पन्न पुत्रों के बीच सम्पत्ति के विभाजन का प्रश्न मुख्य है। दाय भाग का विचार स्त्रियों की परतन्त्रता, व्यभिचार के लिए प्रायश्चित्त, नियोग के नियम, गृहस्थों के नित्य-नैमित्तिक कर्त्तव्यों का वर्णन प्रायः सभी धर्मसूत्रों में न्यूनाधिक मात्रा में पाया जाता है। गृह्यसूत्रों और धर्मसूत्रों का यही पार्थक्य है।

गृह्यसूत्रों का क्षेत्र और विस्तार

गृह्याग्निसाध्य यज्ञों के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन हमें गृह्यसूत्रों में ही उपलब्ध होते हैं। गार्हस्थ्य जीवन से सम्बद्ध प्रायः जितने कर्म हैं, उन सभी का समावेश गृह्यसूत्रों में है। ये सूत्र स्वरूप में अल्पकाय होते हुए भी गुणों में विपुल और महनीय हैं। कुछ भागों को छोड़कर भारत के प्रायः समस्त उत्तरी खण्ड एवं दक्षिण भारत में भी इसी के आधार पर गृह्यानुष्ठान सम्पन्न होते हैं। इनके मूल में कोई न कोई स्मृति या परम्परा निहित है; अतः इन्हें

स्मार्त्त भी कहा जाता है। श्रौतसूत्रों की अपेक्षा गृह्यसूत्रों का पटल अधिक व्यापक और सर्वग्राह्य है। इसका मुख्य विषय श्रुतिप्रतिपादित महत्त्वपूर्ण गृहस्थ जीवन के संस्कारों का क्रमबद्ध वर्णन है। गृह्याग्नि की स्थापना के बाद ही विभिन्न संस्कारों का निष्पादन कैसे हो ? इसकी आकर्षक विधि का विवेचन मिलता है। हमारे पूर्वजों का लोकजीवन के विभिन्न पक्षों का आयाम जिज्ञासुओं के लिए विपुल महत्त्व रखता है। इन गृह्यसूत्रों में जहाँ एक ओर इन्द्र, वरुण, रुद्र, अग्नि, प्रजापति जैसे विराट् अधिष्ठानवाले देवों को महत्त्व प्राप्त है, वहीं उदलाकश्यप और सीता जैसी ग्राम्य देव-देवियाँ भी ससम्मान संस्मृत हैं। एक ओर जटिल, सुगम, ऊबाने वाले शास्त्रीय विधान हैं, वहीं दूसरी ओर 'ग्रामवचनं च कुर्युः' कहकर पारम्परिक ग्राम्य वृद्धाओं के वचनों को भी समादृत किया गया है।

वैदिक वाङ्मय के निरभ्राकाश में ग्रहों तथा उपग्रहों की पंक्ति में पारस्कर के गृह्यसूत्र का गृह्याग्नि ज्वाल अपनी द्युति से सभी की कान्ति को मलिन कर देता है। इसकी अभिव्यक्ति में, इसके धार्मिक विधान में वह सहजता तथा सर्वग्राह्यता है, जो शनैः-शनैः जनमानस को अपनी ओर खींच लेता है। पारस्करमुनि ने अपने युग की चेतना को अपने गृह्यसूत्र में संस्कार-सम्पन्न बना दिया है। एक ओर ये भारत के प्राचीन युग के ज्वलन्त दीपस्तम्भ हैं तो दूसरी ओर शास्त्रनिष्ठ भारतीय ब्राह्मण-धर्म तथा वर्णाश्रम-धर्म के सच्चे प्रतीक हैं।

दूसरी बात यह भी कही जा सकती है कि इसकी महत्ता केवल भारतीय जनजीवन की पृष्ठभूमि पर ही नहीं मापी जा सकती, अपितु भारोपीय परिवार के अन्य क्षेत्रों में भी ये गृह्यकर्म कमोवेश रूप में प्रचलित-प्रचारित हो सकते हैं। दोनों के समानान्तर या विभिन्न विकास की दिशा के ज्ञान के लिए भी गृह्यसूत्र ही सहायक सामग्री प्रस्तुत करते हैं। इस सन्दर्भ में पाश्चात्य चिन्तक विण्टर-नित्स का कथन द्रष्टव्य है—

The relationship of the Indo-European peoples is not limited to language, but that these peoples, related in language have also preserved common features from pre-historic times in their manners and customes.

—*Winternits : History of Indian Literature. Part Ist p. 274*

विण्टरनित्स भारोपीय क्षेत्र की परिपाटी एवं कतिपय रीति-नीतियों के समान प्रचलन से यह प्रमाणित करते हैं कि भारोपीय जनों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध केवल भाषीय क्षेत्र तक ही सीमित नहीं थे। भाषा की दृष्टि से तो ये परस्पर सम्बद्ध थे ही, इसके अतिरिक्त प्रागैतिहासिक काल की कुछ सामान्य प्रथाएँ भी परस्पर समान रूप से सुरक्षित रहीं होंगी।

'...The formes (गृह्यसूत्र) will be more deeply interesting' as disclosing that deep rooted tendendy in the heart of man to bring the chief events of human life in connection with a higher power and to give to our boys and sufferings a deeper significance and a religions sanctification.'

—*Max Mullar : History of Ancient Sanskrit Literature Second edition. page 205.*

मैक्समूलर के अनुसार गृह्यसूत्रों का अध्ययन इसलिए भी अधिक आकर्षक हैं, क्योंकि इनमें गहन मानवीय अन्तःकरण में निहित, उस प्रवृत्ति का प्रकाशन हुआ है, जो अपने जीवन की प्रमुख घटनाओं को उच्चतम शक्ति से सम्बद्ध कर देती है और हमारे आनन्द और विषाद की अनुभूतियों को गम्भीर महत्त्व देकर उन्हें धार्मिक महत्त्व प्रदान करती है।

सूत्रयुग में पठन-पाठन के क्रम में कण्ठाग्र करना आवश्यक था। अतः उस युग में सूत्र रूप में ही किसी भी सिद्धान्त का प्रतिपादन आवश्यक था। इसका उद्देश्य यह था कि कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक तथ्यों को कण्ठस्थ किया जाय। यही कारण है कि वेदाङ्ग साहित्य का निर्माण सूत्ररूप में किया गया है। वैदिक साहित्य स्वतः-प्रमाण माना जाता रहा है, परन्तु वेदाङ्ग श्रेणी के ग्रन्थों के रचयिताओं का नाम प्रायः सर्वत्र उपलब्ध है। वैदिक यज्ञों का उदात्तीकृत विधान ही इसका प्रतिपाद्य विषय है। इसके आधार पर अधिकांशतः ग्रन्थ ईसा की छठी से लेकर बारह शताब्दी तक ही लिखा गया था। इनमें द्विज के संस्कारों और अन्यान्य कर्मों का विधान है। विण्टरनित्ज का कथन है कि 'गृह्यसूत्र नृतत्त्व-विशारदों के बड़े काम की वस्तु है।' यह स्मरण रखना चाहिए कि ग्रीक और रोमन सामाजिक विधान को जानने के लिए इन विद्वानों को कितना परिश्रम करना पड़ा होगा; कितने प्रकार की विश्वस्त सामग्रियों की छानबीन करनी पड़ी होगी। यद्यपि यहाँ अत्यन्त प्रामाणिक विवरण प्राप्त है, परन्तु हम इसे देख कर भी अनदेखी कर देते हैं। ये सूत्र मानों प्राचीन 'फॉक लोर जर्नल' हैं। प्राचीन युग के सामाजिक आदर्श और परिस्थिति का अध्ययन करने की दृष्टि से सूत्र-साहित्य की महत्ता गरिमापूर्ण है। उदात्त मानवीय दृष्टिकोण का यह एक उद्घोषक है; चरित्र-निर्माण का प्रतीक है; आध्यात्मिक उन्नति का संबल है; सामान्य जगत का विराट् जगत के साथ सम्मिश्रण का सूत्र है; जीवन चेतना का यह एक रहस्य है; आत्मोद्धार के लिए यह एक प्रशस्त मार्ग है; सम्पूर्ण जीवन को कर्म-विधान की दृष्टि से प्रोद्भासित करने का एक साधन है; तथा सम्पूर्ण आर्यावर्त्त को एक संस्कार में बाँधने का अटूट सूत्र है। इस सूत्र का आयाम अधिक विस्तृत, अधिक सशक्त और पूर्ण संवेदनशील है।

श्रौत और स्मार्त कर्म

श्रौतसूत्र का मुख्य कर्म या प्रतिपाद्य विषय श्रुति-सम्मत महत्त्वपूर्ण यज्ञों का क्रमबद्ध वर्णन है। इन यज्ञों के नाम हैं—दर्श, पूर्णमास, पिण्डपितृयाग, आग्रयणेष्टि, चातुर्मास्य, निरूढपशु, सोमयाग, सत्रयज्ञ, गवापयन, वाजपेय, राजसूय, सौत्रामणी, अश्वमेध, पुरुषमेध, एकाह याग, तथा अहीन याग। अग्नि-स्थापना के बाद ही याग का विधान है। अग्निचय एवं पुनराधान का वर्णन भी श्रौत्रसूत्र का ही विषय है। श्रौतकर्मों का विषय अत्यन्त पेचीदा है, जन-सामान्य के लिए उसमें कोई आकर्षण नहीं है। फिर भी धार्मिक दृष्टि से इसका अत्यधिक महत्त्व है। श्रौतयागों का विधान यद्यपि आज विरल है, तथापि प्राचीन युग की धार्मिक रूढ़ियों, विधानों तथा धारणाओं को समझने का यह एकमात्र साधन है। श्रौतकर्मों का श्रुति के साथ साक्षात् सम्बन्ध है।

गृह्यसूत्र का प्रतिपाद्य विषय स्मार्त्तकर्म से सम्बद्ध है। यही कारण है कि कुछ लोग इसे श्रुति-सम्मत नहीं मानते हैं। इसे स्मृतिजन्य विधान कहकर उससे भिन्न इसकी स्थापना करने की चेष्टा करते हैं। परन्तु तथ्य इससे कुछ भिन्न है। श्रौतकर्म श्रुति से साक्षात् सम्बद्ध है और गृह्यकर्म परोक्षरूप से श्रुति-सम्मत है। इस सन्दर्भ में पारस्करगृह्यसूत्र के व्याख्याता कर्काचार्य का अभिमत भी द्रष्टव्य है—

'प्रत्यक्षा: हि श्रुतय: श्रौतेषु स्मार्तेषु च पुन: कर्त्तृसामान्यादनुमेया: श्रुतय:। स्मार्तानामपि हि वेदमूलत्वमुक्तम्।'

यही कारण है कि इस तरह की विसंगतियाँ उत्पन्न होती हैं। क्योंकि गृह्यसूत्रों में जहाँ पहले गर्भाधान, अन्नप्राशन, चूड़ाकरण प्रभृति संस्कारों की प्रस्थापना है, वहीं श्रौतसूत्रों में दर्शपौर्णमास यागों की प्राथमिकता है। अब प्रश्न यह उठता है कि जिसका गर्भाधानादि संस्कार ही नहीं हुआ, उसके लिए यज्ञ-यागादि अनुष्ठानों के विधान का औचित्य ही क्या है? कुछ आचार्यों के विचार से स्मृतियों का प्रामाण्य स्मृतिसाध्य है। मैसूर गवर्नमेण्ट ओरियण्टल लाइब्रेरी सीरीज में १९२० ई० में प्रकाशित गृह्यसूत्र परिभाषा, गृह्यशेष तथा पितृमेध सूत्रों के साथ संकलित है। विशेष अध्ययन के लिए उसे देखना चाहिए। स्मार्तकर्म से तात्पर्य स्मरणजन्य ही है। क्योंकि 'अष्टका: कर्त्तव्या' प्रभृति उल्लेखों से पता चलता है कि स्मरणजन्य ज्ञान की यह शृंखला अटूट है, अनादि हैं। आपस्तम्ब ने इस संदर्भ में और स्पष्ट करते हुए कहा है कि अष्टकादि अनुष्ठानों का पाठ पहले था, जो कि बाद में नष्ट हो गया, वह अनुमान्य साध्य है; अत: वह श्रुतिमूलक ही है।

अत: 'स्मरणात् स्मृति:' कहना ही उपयुक्त एवं उचित प्रतीत होता है। क्योंकि, उपर परिगणित कर्मों का अनुष्ठान गौतम, मनु, वसिष्ठ और आपस्तम्ब प्रभृति आचार्यों ने स्मरण ही तो किया है। अत: एक कर्त्ता होने के कारण

यह अनुष्ठान करना चाहिए, इसका तो अनुमान ही किया जा सकता है। अतः संक्षेप में हम यही कह सकते हैं कि यदि श्रौतकर्म नित्यकाम्य अनुष्ठान हैं, तो स्मार्तकर्म नित्यकर्म हैं।

कात्यायन-श्रौतसूत्र के प्रारम्भ में भी यह विवाद उठाया गया है और अन्त में निष्कर्षस्वरूप कहा गया है कि श्रौत के साथ स्मार्तकर्म भी श्रुति-सम्मत कर्म हैं, न कि स्मृतिजन्य। श्रौत-ग्रन्थों का मूल उद्देश्य श्रौतयागों का संक्षिप्त और सुव्यवस्थित क्रमबद्ध प्रतिपादन है। स्मार्त-ग्रन्थों का उद्देश्य श्रौतकर्मों के प्रतिपाद्य विषय को ध्यान में रखकर गृह्यसूत्रों में उपलब्ध मूल सामग्री का कहीं विस्तार और कहीं संक्षेप कर उन्हें बोधगम्य बनाकर जन-जीवन के सामने प्रस्तुत करना है। कात्यायन-श्रौतसूत्र का मूल आधार ही शतपथब्राह्मण है। इस पर कर्काचार्य का विस्तृत भाष्य इन दोनों कर्मों के गूढ़ रहस्यों को खोलने की कुंजी है। गृह्यसूत्रों में भी यत्र-तत्र विवादग्रस्त विषयों को स्पष्ट करने के लिए 'इति श्रुतेः' कहकर वेद की प्रामाणिकता ही स्पष्ट की गई है। गृह्यसूत्रों की प्रामाणिकता तब और अधिक सटीक और सशक्त हो जाती है, जब हमारा ध्यान वैदिक मंत्रों को सही ढंग से समझने में, श्रौतकर्मों को सही तरीके से पहचानने में और गृह्यसूत्रों से मिलने वाली प्रचुर सामग्री की ओर जाता है। श्रौतकर्म और गृह्यकर्म दोनों के मूल में वैदिकता है। दोनों कर्म वेदमूलक हैं। वे परस्पर एक-दूसरे के पूरक हैं। कर्म तथा साधनाजन्य संस्कारों की अभिव्यक्ति पृथक् प्रतीत होती हुई भी साम्यमूलक है; एक दूसरे की संपूरक है।

गृह्यसूत्र

सूत्र-साहित्य में गृह्यसूत्र का आयाम अत्यन्त विशद है। इनका संक्षिप्त परिचय आगे प्रस्तुत किया जा रहा है।

ऋग्वेदीय गृह्यसूत्र

(१) **आश्वलायन-गृह्यसूत्र**—आश्वलायन-गृह्यसूत्र में चार अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में अनेक खण्ड हैं। इसमें गृह्यकर्म तथा संस्कारों का रोचक वर्णन है। स्थान-स्थान पर महत्त्वपूर्ण तथ्यों का प्रतिपादन है। तृतीय अध्याय के तृतीय खण्ड में ऋषितर्पण के क्रम में कतिपय प्राचीन आचार्यों का नामोल्लेख किया गया है जो अन्यत्र दुर्लभ है। तृतीय अध्याय के द्वितीय खण्ड में वेदाध्ययन के विशेष नियमों का उल्लेख दर्शनीय है। चतुर्थ खण्ड में उपाकरण अर्थात् श्रावणीकर्म का वर्णन भी महत्त्वपूर्ण सूचनाओं से मण्डित है। इसकी लोकप्रियता और विश्रुति का परिचय इसकी टीका सम्पत्ति से मिलती है। इसे अनेक ग्रन्थकारों ने कारिकाबद्ध किया है जो 'आश्वलायनगृह्यसूत्र-कारिका' के नाम से ख्यात है।

(२) **शाङ्खायन-गृह्यसूत्र**—शाङ्खायन-गृह्यसूत्र में छः अध्याय हैं। विषय

वही हैं—संस्कारों का वर्णन तथा तत्सम्बद्ध अन्य बातों का जैसे गृहनिर्माण, गृह-प्रवेश आदि। इसके रचनाकार सुयज्ञ माने जाते हैं।

(३) **कौषीतकि-गृह्यसूत्र**—यह अपने रचयिता शाम्भव्य के नाम से भी ख्यात है। यह इधर-बीच ही मद्रास से प्रकाशित हुआ है। इसमें पाँच अध्याय हैं तथा प्रत्येक अध्याय में अनेक सूत्र हैं। ग्रन्थारम्भ विवाह-संस्कार के वर्णन से होता है। इसमें जात शिशु के आरम्भिक संस्कार के बाद उपनयन-संस्कार का वर्णन है। कृषिकर्मों तथा पितृमेध प्रभृति संस्कारों का भी वर्णन है।

ऋग्वेद के अप्रकाशित गृह्यसूत्र

यत्र-तत्र सन्दर्भ-ग्रन्थों में शौनकगृह्य का भी उल्लेख मिलता है। कहीं-कहीं 'शौनकाश्वलायनौ' का भी उल्लेख मिलता है। इससे यह सिद्ध होता है कि शौनकगृह्यसूत्र का भी अस्तित्व है।

(१) **शौनक-गृह्यसूत्र**—डॉ० टी० आर० चिन्तामणि को इस गृह्यसूत्र का कुछ अंश उपलब्ध हुआ है। बर्नेल के अनुसार षड्गुरुशिष्य ने अपनी 'अभ्युदयप्रदा' में शौनकगृह्यसूत्र के उद्धरण दिये हैं। भवत्रात ने कौषीतकि-गृह्य पर रचे गये अपने भाष्य में शौनकीयगृह्य का उल्लेख किया है। ऋग्वेद के कुछ और अनुपलब्ध गृह्यसूत्र भी उल्लेखनीय हैं।

(२) **भारवीय-गृह्यसूत्र।**
(३) **शाकल्य-गृह्यसूत्र।**
(४) **पैङ्गिरस-गृह्यसूत्र।**
(५) **पाराशर-गृह्यसूत्र।**

सामवेदीय गृह्यसूत्र

(१) **कौथुमशाखीय गोभिलगृह्यसूत्र**—गोभिलगृह्यसूत्र का प्रकाशन कई स्थानों से किया गया है। क्नाउएर (१८८५-८६ ई०); बिब्लि ई० १८७१-'७९, ई० तथा सत्यव्रत सामाश्रमी १९०६ ई०। इसका अंग्रेजी अनुवाद 'सेक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट' सीरीज के ३०वें खण्ड में डॉ० ओल्डेनवर्ग ने किया है। सामवेद के तीनों गृह्यसूत्रों में गोभिलगृह्यसूत्र अति प्रख्यात एवं प्रचलित कौथुम-शाखा से सम्बद्ध होने के कारण अत्यन्त लोकप्रिय है। सम्पूर्ण ग्रन्थ ४ प्रपाठकों में विभक्त है। प्रत्येक प्रपाठक में कई खण्ड है। कुल मिलाकर ३९ खण्ड हैं। प्रथम प्रपाठक में अनुष्ठानों की सामान्य विधियाँ वर्णित हैं, दूसरे प्रपाठक में संस्कारों का विधान है। यशस्कामकर्म, पुरुषाधिपत्यकर्म जैसे कुछ ऐसे कर्मों का इसमें वर्णन है, जो अन्य गृह्यसूत्रों में उपलब्ध नहीं है। इनके अतिरिक्त पिण्डपितृ-यज्ञ का वर्णन भी इसकी विशेषता है। इसमें सामसंहिता के अनेक मन्त्र भी प्रतीक रूप में उद्धृत किये किये हैं। इसका हिन्दी अनुवाद से युक्त एक संस्करण

१९३४ ई० में ठाकुर उदयनारायण सिंह ने मुजफ्फरपुर (बिहार) से प्रकाशित कराया था ।

(२) खादिरगृह्यसूत्र—सामवेद के राणायणीय शाखा से सम्बद्ध खादिर-गृह्यसूत्र मुख्यतः गोभिलगृह्यसूत्र के ऊपर सर्वतोभावेन आधारित है । उसके आदेश तथा नियम यहाँ संक्षिप्त रूप में दिये गये हैं । फलतः हम निश्चयपूर्वक यह कह सकते हैं कि गोभिलगृह्यसूत्र का ही यह गुटका संस्करण है ।

(३) जैमिनीयगृह्यसूत्र—यह ग्रन्थ दो खण्डों से विभक्त है । प्रथम खण्ड में २४ कण्डिकाएँ हैं और द्वितीय खण्ड में ९ कण्डिकाएँ हैं । श्रीनिवासाध्वरी ने इस पर 'सुबोधिनी' नामक टीका की है । इस टीका के कतिपय महत्त्वपूर्ण उद्धरण ही मूल ग्रन्थ के साथ डॉ० कैलेण्ड ने पंजाब संस्कृत सीरीज, लाहौर से प्रकाशित किया है । इस ग्रन्थ में जैमिनी शाखा के अनेक तथ्य उपलब्ध हैं । पुरुषसूक्त की केवल सात ऋचाओं का ही उल्लेख है । यह व्यवस्था इनकी सामशाखा के अनुरूप ही है ।

(४) कौथुमगृह्यसूत्र—एशियाटिक सोसायटी, बंगाल से इसका प्रकाशन हुआ है । इसका पाठ बहुत भ्रष्ट है । फलतः आलोचकों की दृष्टि में यह ग्रन्थ सम्भवतः किसी लुप्त पद्धति का ही भ्रष्ट अंश है ।

सामवेद के अप्रकाशित गृह्यसूत्र

(१) गौतमगृह्यसूत्र तथा (२) छान्दोग्यगृह्यसूत्र ।

शुक्लयजुर्वेदीय गृह्यसूत्र

(१) पारस्करगृह्यसूत्र—शुक्लयजुर्वेद का यह एक प्रमुख गृह्यसूत्र है । हिल ब्राण्ड्ट् के अनुसार पारस्करगृह्यसूत्र वाजसनेयगृह्यसूत्र के नाम से विख्यात रहा है । यह कातीयगृह्यसूत्र के नाम से भी ख्यात रहा है । शुक्लयजुर्वेद की माध्यन्दिनशाखा से इसमें अधिकांश मन्त्र और वचन उद्धृत किये गये हैं । परम्परा इसे परिष्कृत मानती है, अतः इसे पारस्करगृह्यसूत्र भी कहते हैं । इसमें तीन काण्ड एवं ५१ (१९+१७+१५) कण्डिकाएँ है । इसमें वर्णित विषय-वस्तु का विवेचन यथावसर आगे करेंगे ।

(२) वैजवापगृह्यसूत्र—शुक्लयजुर्वेद के एक अन्य गृह्यसूत्र का भी पता चला है, जिसके रचयिता वैजवाप हैं । चरणव्यूह शुक्लयजुर्वेद की १५ शाखाओं में वैजवाप को अन्यतम मानता है । यह एक अनुपलब्ध गृह्यसूत्र माना जाता है । इस गृह्यसूत्र का उद्धरण अनेक प्राचीन तथा मध्यकालिक धार्मिक निबन्धों में उपलब्ध होता है । यथा—'एवं च वैजवापेनाचार्येण सूचितम्—न सावित्रीमाह इति क्तः ।'

कृष्णयजुर्वेदीय गृह्यसूत्र

(१) बौधायनगृह्यसूत्र—यह गृह्यसूत्र बौधायन-कल्पसूत्र का एक विशिष्ट

अंश है। मैसूर गवर्नमेण्ट ओरियण्टल लाइब्रेरी सीरीज में सन् १९२० ई० में प्रकाशित यह गृह्यसूत्र परिभाषा, गृह्यशेष तथा पितृमेधसूत्रों के साथ समन्वित है। इसमें चार प्रश्न हैं। दूसरी पाण्डुलिपि में दश प्रश्न अर्थात् अध्याय उपलब्ध हैं। इससे इसमें अनेक परिवर्धन और परिवर्तनों के अभी भी संकेत मिलते हैं।

(२) **भारद्वाजगृह्यसूत्र**—यह भारद्वाज-कल्पसूत्र का अंश है। इसमें तीन प्रश्न (अध्याय) हैं। इसका प्रकाशन लाइडेन के डॉ० सालोमन्स ने किया है। इसके विवाह-प्रकरण में प्रचुर मात्रा में आधुनिकता का समावेश है।

(३) **आपस्तम्बगृह्यसूत्र**—आपस्तम्बकल्पसूत्र का २७वाँ प्रश्न यही गृह्यसूत्र है, जिसमें तीन प्रश्न हैं। यह गृह्य मन्त्रपाठ के गृह्यों का निर्देश करता है। यह गृह्यसूत्र आठ पटलों में विभक्त है। प्रत्येक पटल के भीतर 'खण्ड' हैं जो संख्या में २३ हैं। खण्डों के अन्तर्गत सूत्रों की स्थिति है। फलतः समस्त ग्रन्थ सूत्रों में विभक्त है।

(४) **हिरण्यकेशिगृह्यसूत्र**—इसे सत्याषाढगृह्यसूत्र भी कहते हैं। हिरण्यकेशिकल्पसूत्र का यह १९ तथा २० प्रश्नरूप है। गृह्य अनुष्ठानों के मन्त्र इसमें विशद रूप में दिये गये हैं। इसमें प्रयुक्त अनेक शब्द अपाणिनीय हैं। इस पर मातृदत्त की प्रौढ व्याख्या है। डॉ० क्रिस्ते ने १८८९ ई० में वियना से प्रकाशित किया था। इसका अंग्रेजी अनुवाद 'सेक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट' में डॉ० ओल्डेनवर्ग ने किया है।

(५) **वैखानसगृह्यसूत्र**—तैत्तरीय शाखा से सम्बद्ध यह गृह्यसूत्र अवान्तरकालीन माना जाता है। अनुष्ठानों में प्रयोजनीय मन्त्रों के केवल प्रतीक मात्र का इसमें उल्लेख हुआ है। इन सभी मन्त्रों का एक स्वतन्त्र संकलन 'वैखानसीय मन्त्रसंहिता' में किया गया है। डॉ० कैलेण्ड ने इसका अंग्रेजी अनुवाद भी किया है।

(६) **अग्निवेश्यगृह्यसूत्र**—इस ग्रन्थ के रचयिता अग्निवेश नामक वैदिक आचार्य हैं। इन्होंने तैत्तिरीयों की बाधूल शाखा के अन्तर्गत 'अग्निवेश' उपशाखा का प्रणयन किया है। अन्य गृह्यसूत्रों की अपेक्षा इसका वर्ण्य-विषय तथा रचना-कौशल नितान्त भिन्न है। इसमें वर्णित नारायणबलि, यतिसंस्कार, संन्यास-विधि, वानप्रस्थ-विधि आदि के ऊपर अवान्तरकालीन धार्मिक संस्कारों का प्रभाव स्पष्ट रूप में परिलक्षित होता है। सामान्य गृह्यसूत्रों से इसकी प्रस्तुति भिन्न है। यह त्रिवेन्द्रम् से प्रकाशित है।

(७) **वराहगृह्यसूत्र**—मैत्रायणी शाखा के अन्तर्गत वाराह उपशाखा का उल्लेख चरणव्यूह में किया गया है। फलतः यह गृह्यसूत्र मैत्रायणीसंहिता के मन्त्रों का उल्लेख करता है। इसके अधिकांश सूत्र मानवगृह्य तथा काठकगृह्य के समान ही हैं। गृह्योपयोगी विषय-वस्तु के अभाव में यह अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है।

(८) **काठकगृह्यसूत्र**—इस गृह्यसूत्र का नाम लौगाक्षिगृह्यसूत्र भी है। हेमाद्रि तथा अन्य निबन्धकारों ने अपने निबन्धों में इसी नाम से उद्धृत किया है। इसके दो प्रकार के विभाग मिलते है। एक विभाग के अनुसार प्रारम्भ से लेकर अन्त तक इसमें ७३ कण्डिकाएँ हैं। दूसरे विभाग के अनुसार इसमें ५ बड़े-बड़े खण्ड या अध्याय हैं। पाँच खण्डों में विभाजन के कारण इसे पंचाध्यायी भी कहा जाता है। यह गृह्यपञ्चिका नाम से भी ख्यात है। इस पर ब्राह्मणबल एवं देवपाल की व्याख्या भी उपलब्ध है।

इन गृह्यसूत्रों के अतिरिक्त कुछ अन्य के सम्बन्ध में संकेत मात्र ही मिलते हैं; जैसे—

(क) **शाण्डिल्यगृह्यसूत्र**—आपस्तम्ब के टीकाकार रुद्रदत्त ने इसका उल्लेख किया है।

(ख) **माविलगृह्यसूत्र**—संस्काररत्नमाला में पठित।

(ग) **मैत्रेयगृह्यसूत्र**—संस्काररत्नमाला में इसका एक सूत्र उद्धृत है।

अथर्ववेदीय कौशिकसूत्र

कौशिकगृह्यसूत्र अथर्ववेद का एकमात्र गृह्यसूत्र है। यह चौदह अध्यायों में विभक्त है। इस पर हारिल और केशव की व्याख्याएँ उपलब्ध हैं। यह ग्रन्थ प्राचीन भारतीय जादू विद्या की जानकारी देती है। इस विद्या की अनुपम सामग्री इस ग्रन्थ में संकलित है। वस्तु-संकलन की दृष्टि से यह सामग्री अन्यत्र दुर्लभ है। इसी एक ग्रन्थ की सहायता से हम अथर्ववेद के नाना अनुष्ठानों के विधि-विधान भलीभाँति जान सकते हैं। अथर्ववेद के रहस्य का उन्मीलन केवल इस ग्रन्थ के अनुशीलन से ही हो सकता है। इसकी उपादेयता का मूल रहस्य तो यह है ही। वैद्यकशास्त्र की औषधों के लिए तो एक अक्षय निधि है।

पारस्करगृह्यसूत्र : एक दृष्टि

शुक्लयजुर्वेद का गृह्यसूत्र 'पारस्करगृह्यसूत्र' के नाम से विख्यात है। यह शुक्लयजुर्वेद की दोनों शाखाओं का प्रतिनिधित्व करता है। सम्पूर्ण ग्रन्थ तीन काण्डों में विभक्त है। पुनः प्रत्येक काण्ड अनेक कण्डिकाओं में विभक्त है। कण्डिकाओं की संख्याएँ भिन्न-भिन्न हैं। प्रथमकाण्ड की १९ कण्डिकाओं में आवसथ्याग्नि का आधान, विवाह तथा गर्भधारण से आरम्भ कर अन्नप्राशन तक का विधान वर्णित है। द्वितीयकाण्ड में १७ कण्डिकाएँ है, जिनमें चूड़ाकरण, उपनयन, समावर्त्तन, पंचमहायज्ञ, श्रवणाकर्म और सीतायज्ञ का विवेचन है। तृतीयकाण्ड में १५ कण्डिकाएँ हैं। इनमें श्राद्ध के बाद अवकीर्णिप्रायश्चित्त आदि विषयों का प्रतिपादन है। इस पर पाँच भाष्यकारों की व्याख्याएँ इसके अर्थगौरव को प्रदर्शित करती हैं। पाँचों भाष्यों से संवलित पारस्करगृह्यसूत्र का एक विशद संस्करण १९१७ ई० में गुजराती प्रेस बम्बई से प्रकाशित हुआ

है। कातीयश्राद्धसूत्र का श्राद्धकाशिका के साथ एक विशद संस्करण सम्वत् १९५० में काशी से प्रकाशित हुआ है। १९७१ ई० में बम्बई से गृह्य के साथ इनकी तीनों प्रमुख व्याख्याएँ भी प्रकाशित हैं।

सूत्रकार का सर्वत्र यही प्रयास रहा है कि एक विषय को एक ही कण्डिका में समाप्त कर दिया जाय। किन्तु इस प्रयास का सर्वत्र निर्वाह नहीं हो सका है। उपनयन और विवाह जैसे बृहत्कर्मों का निरूपण एक से अधिक कण्डिकाओं का स्थान घेर लेता है, वहीं कहीं-कहीं एक कण्डिका में एक से अधिक कर्मों का निरूपण हुआ है। पारस्कर ने अपनी शाखा के मन्त्रों का प्रतीकशः उल्लेख किया है, किन्तु वही जब दूसरी शाखा के मन्त्रों का अवसर आता है तो वे उसके सम्पूर्ण मन्त्र का उल्लेख करने में कोताही नहीं करते। जहाँ तक सूत्र-शैली का प्रश्न है, आचार्य ने आवश्यकतानुसार संक्षिप्त और विशद दोनों ही शैली का प्रयोग किया है। विवेचित कर्मों का सामान्य नाम पाकयज्ञ है। ये पाकयज्ञ चार प्रकार के हैं—हुत, आहुत, प्रहुत और प्राशित। सूत्रों की भाषा सर्वत्र सरल, प्रांजल और स्फीत है। आचार्य का दृष्टिकोण सभी विधानों में उदार, पवित्र और सराहनीय है।

काण्डगत-वर्ण्य विषय-वस्तु

(१) **प्रथम काण्ड**—प्रथम काण्ड की प्रथम कण्डिका में यज्ञभूमि-शोधन, होमपात्र तथा होम का विधान है। द्वितीय कण्डिका में अग्न्याधानकाल, अरणिमन्थन से अग्नि की उत्पत्ति एवं ब्राह्मण-भोजन का विधान है। तृतीय कण्डिका में आचार्यपूजन, ऋत्विक्पूजन, मधुपर्क आदि विषयों का वर्णन है। चतुर्थ कण्डिका में पाकयज्ञ, वस्त्र-परिधान, कन्यादान का विधान है। पञ्चम कण्डिका में आघारणविधि, जयाहोम और अभ्यातान होमविधि का वर्णन है। षष्ठ कण्डिका में लाजाहोम के साथ साङ्गुष्ठ-पाणिग्रहण वर्णित है। सप्तम कण्डिका में शिलारोहण, उत्तम गाथाओं का कीर्त्तन तथा प्रदक्षिणा का विधान है। अष्टम कण्डिका में सप्तपदी, सूर्यदर्शन या ध्रुवदर्शन, सिन्दूरदान आदि विधानों का वर्णन है। नवम कण्डिका में गर्भकामना एवं नारी-कर्त्तव्य का वर्णन है। दशम कण्डिका में प्रयाण के समय रथ की धुरी टूट जाने पर प्रायश्चित्त का विधान है। एकादश कण्डिका में स्थालीपाक तथा भोज्य द्रव्य की निर्माण-विधि का वर्णन है। द्वादश कण्डिका में दर्शपौर्णमास याग तथा वैश्वदेव यज्ञ या बलिवैश्वदेव का विधान है। इसके बाद पितृऋण प्रभृति वर्णन है। त्रयोदश कण्डिका में गर्भाधानविधि एवं यज्ञविधि वर्णित है। चतुर्दश कण्डिका में पुंसवन-यज्ञविधि वर्णित है। पञ्चदश कण्डिका में सीमन्तोन्नयन संस्कार-विधि है। षोडशकण्डिका में प्रसव-विधि तथा जातकर्म संस्कार का वर्णन है। सप्तदश कण्डिका में नामकरण तथा निष्क्रमण-संस्कारों का सविस्तर वर्णन है। अष्टादश कण्डिका में परदेश से

लौटकर आने के बाद यज्ञशाला में प्रवेश, तत्पश्चात् पुत्र के सिर सूँघने का विधान है। एकोनविंशति कण्डिका में अन्नप्राशन-विधि एवं मांस-भक्षण के विषय में चर्चा है।

(२) द्वितीय काण्ड— प्रथम कण्डिका में चूड़ाकरण एवं केशान्त-संस्कार का विधान है। द्वितीय कण्डिका में उपनयन-विधि और सूर्यदर्शन का विधान है। तृतीय कण्डिका में ब्रह्मचारियों के लिए उपदेश, उनका कर्त्तव्य-निर्धारण, गायत्रीमंत्र का उपदेश वर्णित है। चतुर्थ कण्डिका में नित्यहोम-विधि का वर्णन है। पंचम कण्डिका में भिक्षाचरण, मेखला एवं दण्ड-धारण, स्नातकत्व और व्रात्यों के प्रायश्चित्त का विधान है। षष्ठ कण्डिका में स्नातकत्व का समय और गुरुपूजा का विधान है। सप्तम कण्डिका में ब्रह्मचारियों के लिए कर्त्तव्याऽकर्त्तव्य का निर्धारण है। अष्टम कण्डिका में शूद्रान्न भक्षण का निषेध और प्रकाशशून्य स्थान में भोजन के निषेध का निरूपण है। नवम कण्डिका में पञ्चमहायज्ञों का निरूपण है। दशम कण्डिका में उपाकर्म और तिलहोम का विधान है। एकादश कण्डिका में वेदपाठी के लिए अवकाश का विधान है। द्वादश कण्डिका में वेद-पाठ कब समाप्त करना चाहिए, इसका विधान है। त्रयोदश कण्डिका में हल जोतने का दिन निर्धारित किया गया है। चतुर्दश कण्डिका में साँपों को घर से बाहर निकालने की विधि का वर्णन है। पञ्चदश कण्डिका में इन्द्रयज्ञ का विधान है। षोडश कण्डिका में दही मिले घी से होम कर देवराज इन्द्र के प्रति कृतिज्ञता-ज्ञापन की विधि बतलाई गई है। सप्तदश कण्डिका में सीतायज्ञ आदि का विधान है।

(३) तृतीय काण्ड—प्रथम कण्डिका में आहिताग्निजन्य नवान्न-भोजन की विधि का वर्णन है। द्वितीय कण्डिका में आग्रहायण पूर्णिमा के दिन कर्त्तव्य कर्म का विधान है। तृतीय कण्डिका में अवटका नामक श्राद्ध का विधान तथा उसका वर्णन प्रकार भी वर्णित है। चतुर्थ कण्डिका में नवनिर्मित भवन में प्रवेश की विधि वर्णित है। पञ्चम कण्डिका में मटके या घड़े में पानी भरकर रखने की विधि का वर्णन है। षष्ठ कण्डिका में शिरोरोग के निवारण की विधि वर्णित है। सप्तम कण्डिका में नौकरों को वशवर्ती बनाने का उपाय वर्णित है। अष्टम कण्डिका में शूलगव यज्ञ के द्वारा अन्नोत्पादन वृद्धि का विधान किया गया है। नवम कण्डिका में वृषोत्सर्ग विधि का वर्णन है। दशम कण्डिका में अशौच विधान का वर्णन है। एकादश कण्डिका में पशुयाग का विधान वर्णित है। द्वादश कण्डिका में अवकीर्णी-व्रतभंग के प्रायश्चित्त का विधान प्रस्तुत है। त्रयोदश कण्डिका में सभाप्रवेश-विधि निरूपित है। चतुर्दश कण्डिका में रथा-रोहण के विधान का वर्णन है। पञ्चदश कण्डिका में हस्त्यारोहण-कर्म का विधान वर्णित है।

काण्ड, कण्डिका एवं गृह्यसूत्र

काण्ड—कण्+ड, दीर्घः=काण्डः या काण्डम्, इसका कोषगत अर्थ है, किसी ग्रंथ का अनुभाग, अंश या खण्ड ।

कण्डिका—कंड्+ण्वुल्+टाप्=कण्डिका=छोटा अनुभाग, जहाँ प्रकरणों का परस्पर भेद दिलाया जाय, उसे कण्डिका कहते हैं ।

गृह्य—ग्रह्+क्यप्, गृह्य शब्द मूलतः गृहस्थवाची है—

'गृहाय गृहस्थाश्रममास्थाय हितं गृह्यं तच्च तत् सूत्रं गृह्यसूत्रम् ।'

इस प्रकार गृह्यसूत्र गृहस्थों के उपयुक्त कर्मों का संक्षेप में विधान वाचक है । खादिरगृह्यसूत्र में इसका उल्लेख निम्न रूप में मिलता है—

'यस्मिन्नग्नौ पाणिं गृह्णीयात् स गृह्यः ।' (१।५।१)

गृह्य शब्द के उपासन और आवसथ्य ये पर्यायवाची शब्द हैं। गृह्याग्नि का ही दूसरा नाम औपासन या आवसथ्य भी है, जिसका विचार पारस्कर-गृह्यसूत्रकार ने—'गृह्ये स्थालीपाकानां कर्म' (१।१।१) कहकर किया है । सामान्यतः इसका अर्थ यह हुआ कि अग्निहोत्र की आग को स्थापित रखना प्रत्येक ब्राह्मण का विहित कर्म है । उस कर्म का जो शास्त्र विधान करे, ब्राह्मणों के संस्कारों का उल्लेख करे तथा उसके गृहस्थ जीवन को संयमित एवं संतुलित रखे, वह गृह्यसूत्र है ।

पारस्करगृह्यसूत्रोक्त-संस्कार

सम्+कृञ्+घञ् से निष्पन्न संस्कार शब्द के अनेक अर्थ हैं । इसका प्रयोग संस्कृति, प्रशिक्षण, शिक्षण, संस्कृति, सौजन्य, पूर्णता,- व्याकरण जन्य शुद्धि, संस्करण, परिष्करण, शोभा, अलङ्करण, आभूषण, प्रभाव, स्वरूप, क्रिया, छाप आदि अर्थों में होता है । दार्शनिक दृष्टि से इसका अर्थ कुछ और ही है । यथा—

१. 'प्रोक्षणादिजन्यसंस्कारो यज्ञाङ्गपुरोडाशेषु' ।

—वाचस्पत्यम्, भाग ५, पृ० ५१८८

२. 'स्नानाचमनादिजन्याः संस्कारा देहे उत्पद्यमानानि तदभिधानानि जीवे कल्प्यन्ते' । —वही

३. संस्कारव्यवहाराऽसाधारणं कारणं संस्कारः । संस्कारस्त्रिविधो वेगो भावनास्थितिस्थापकश्च' । —तर्कभाषा, पृ० ४८३ (चौखम्बा संस्करण)

४. 'आत्मशरीरान्यतरनिष्ठो विहितक्रियाजन्योऽतिशयविशेषः संस्कारः' ।

इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि संस्कार चाहे यज्ञाङ्गभूत पुरोडाश की शुद्धि हो या भावों को व्यक्त करने की आत्मव्यञ्जक शक्ति हो, अथवा शारीरिक क्रियाओं का मिथ्या आरोप हो—यह एक आत्मशुद्धि है । ज्ञान जहाँ ज्ञेय से मुक्त है, वहीं यह एक आत्मशुद्धि है; और यह शुद्धता-पवित्रता ही आत्म-

संस्कार है; चेतना जहाँ निर्विषय है, वहीं जो अनुभूति है, वही आत्म-संस्कार है। मानव-जीवन के इन संस्कारों में न तो किसी ज्ञाता का कुछ कर्म है और न कुछ ज्ञेय ही; यह परिष्कार अभूतपूर्व है। शब्दों में इसे व्यक्त करना असंभव है। संस्कार के सम्बन्ध में जो कुछ कहा जायेगा वह अधूरा होगा। फिर भी इन संस्कारों के सम्बन्ध में धर्मशास्त्र जितना मुखर है, उतना अन्य किसी के सम्बन्ध में नहीं। यह शब्द अनिर्वचनीय तथा शब्दातीत है। वह एक संकेत है जिसे पकड़ने में भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए। मलिनता मिटते ही संस्कार स्वतः प्राप्त होता है। मन की मलिनता जहाँ मिटती है, वहीं संस्कार जागता है, जहाँ विषयरिक्त है, वहीं संस्कार स्वप्रतिष्ठ है। यही कारण है कि पारस्कर ने इन संस्कारों का पाकयज्ञ में अन्तर्भाव कर दिया है। पाकयज्ञ को इन्होंने चार कोटियों में विभक्त किया है—हुत, अहुत, प्रहुत और प्राशित। तथाकथित सभी संस्कारों को पारस्कर ने इनमें सन्निहित कर लिया है। संस्कार जीवन के विभिन्न अवसरों को महत्त्व और पवित्रता प्रदान करते हैं। जीवन के विकास का प्रत्येक चरण केवल शारीरिक क्रिया ही नहीं है, इसका सम्बन्ध मनुष्य की बुद्धि, भावना और आत्मिक अभिव्यक्ति से है, जिसके प्रति मनुष्य को जागरूक रहना चाहिए। इन्हीं विश्वासों और विचारो में समाज की नींव है और यहीं से उसको पोषण मिलता है। सामाजिक विनय, शक्ति और स्वतंत्रता सभी का स्रोत इन्हीं में है। इस विषय पर विशेष जानकारी के लिए डॉ० राजबली पाण्डेय द्वारा रचित 'हिन्दू-संस्कार' पठनीय है।

पारस्कर ने संस्कार-विधान की दृष्टि से मध्य मार्ग ही अपनाया है। मनु की तरह न तो ये षोडश संस्कार के पृष्ठपोषक हैं और न ही आश्वलायन की भाँति ११ संस्कारों के स्रष्टा। वैखानस की तरह १८ संस्कारों के विधान-जाल से भी इन्होंने अपने आप को मुक्त रखा है। इन्होंने अपने गृह्यसूत्र में केवल ११ संस्कारों का ही वर्णन किया है। इनमें इन्होंने विवाह को आरम्भ बिन्दु माना है।

पारस्कराचार्य के अनुसार त्रयोदश संस्कार निम्न हैं—१. विवाह, २. गर्भाधान, ३. पुंसवन, ४. सीमन्तोन्नयन, ५. जातकर्म, ६. नामकरण, ७. निष्क्रमण, ८. अन्नप्राशन, ९. चूड़ाकरण १०. उपनयन, ११. केशान्त, १२. समावर्तन तथा १३. अन्त्येष्टि।

(१) विवाह-संस्कार

विवाह मानव-जीवन का एक आवश्यक एवं अपरिहार्य संस्कार है। समाज-निर्माण की यह एक आधारशिला है। वैवाहिक जीवन के बिना समाज की कल्पना भी नहीं की जा सकती है, क्योंकि, समाज व्यक्तियों के गुणनफल के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वह हमारे वैवाहिक अन्तःसम्बन्धों का ही विस्तार है। व्यक्ति ही फैलकर समाज बन जाता है। पारस्कर ने विवाह के

प्रकार, असगोत्र, प्रतिलोम, वैवाहिक उम्र, कुल-परीक्षा या वर-वधू की योग्यता की कहीं चर्चा नहीं की है। उन्होंने अन्तर्जातीय विवाह का समर्थन अवश्य किया है। किन्तु वर्णानुपूर्व्येण अनुलोम विवाह के वे पक्षधर रहे हैं। बाल-विवाह के वे विरोधी हैं। एक मंत्र के अनुसार पाँच वर्ष तक की कन्या सोम को, पाँच से दस तक गन्धर्व अर्थात् सूर्य को, तत्पश्चात् पन्द्रह वर्ष की वय तक अग्नि को प्राप्त होती है। इसके बाद ही उस कन्या का कोई पुरुष ही पति हो सकता है। एक जगह उन्होंने कहा है कि कोई दृढ़ पुरुष कन्या को उठाकर पूर्वदिशा या उत्तरदिशा में पूर्वकल्पित वस्त्राच्छादित घर में लालवृषभ चर्म पर बैठाता है, यथा—'तं दृढपुरुषं उन्मथ्य' इत्यादि (का० १, कं० ८)। वैवाहिक विधि की भी उन्होंने अनेक चर्चाएँ की हैं और अन्त में उन्होंने कहा है कि ग्राम्य-वृद्धाएँ जैसा कहें उसी तरह करना चाहिए। इससे स्पष्ट हो जाता है कि स्थानीय लोक-रीतियों का पालन भी उनका अभीष्ट रहा है।

(२) गर्भाधान-संस्कार

पत्नी केवल कामोपभोग के लिए नहीं, अपितु लौकिक-पारलौकिक जीवन की सहधर्मिणी एवं सहकर्मिणी होती है। जैसे कोई रथ दो चक्कों के सहयोग से ही गतिशील होता है, उसी तरह इस सामाजिक रथ के पति और पत्नी दो चक्के हैं। इन्हीं के सहारे परिवार से लेकर सम्पूर्ण विश्व तक का संचालन होता है। सन्तानोत्पादन गृहस्थ जीवन का मूलाधार है। सन्तानोत्पादनजन्य बोध की जो किरण प्रत्येक व्यक्ति के भीतर कामरूप में अवस्थित है, उसमें और उसके सहारे इस सन्तानोत्पादन प्रक्रिया को गति मिलती है। जैसे-जैसे उसके भीतर इस प्रक्रिया का विवेकजन्य ज्ञान गतिशील होता है, वैसे-वैसे सन्तानोत्पादनजन्य बोध के आयाम उद्‌घाटित होते हैं और व्यक्ति कामुकताजन्य जड़ता और यांत्रिकता से ऊपर उठ जाता है। इस बोध के प्रगाढ़ होते ही वह अपने स्वरूप से परिचित हो जाता है। उसकी कामुकताजन्य चंचलता विसर्जित होने लगती है और उसमें कुछ घनापन और एकाग्रता केन्द्रित होने लगती है। इसी क्रिया का परिणाम यह गर्भाधान-संस्कार है। पारस्कर के अनुसार प्रथम बार विवाह के चौथे दिन, रात्रि के पिछले प्रहर में गर्भाधान करना चाहिए। इसके लिए उन्होंने पद्धति में अनेक प्रक्रियाओं का उल्लेख किया है। यह गर्भाधान दो शरीरों के साथ ही दो आत्माओं और दो हृदयों का भी मिलन है। पारस्करगृह्यसूत्र के मंत्रों से पता चलता है कि गर्भाधान कोई यांत्रिक प्रक्रिया नहीं है। इसमें प्राणों के साथ प्राण, हड्डियों के साथ हड्डियाँ, मांस के साथ मांस और त्वचा के साथ त्वचा भी एकाकार हो जाती है। यद्यपि गर्भाधान का मूल उद्देश्य सन्तानोत्पादन है, फिर भी इसमें कामसुख की उपेक्षा भी नहीं की जाती है। पत्नी यदि गर्भाधान में असमर्थ हो तो उसके लिए भी पारस्कर ने अनेक उपाय और उपचार भी बतलाए हैं।

(३) पुंसवन-संस्कार

प्राय: ऐसा देखा या सुना जाता है कि संसार में पुत्र को जन्म देने वाली माँ को कुछ अधिक महत्त्व दिया जाता है। क्योंकि लौकिक एवं पारलौकिक जीवन का आधार पुत्र होता है। सन्तान कोटि में पुत्री का भी महत्त्व है, परन्तु वह दुहिता है। अत: प्रत्येक व्यक्ति गर्भवती माँ से पुत्रोत्पादन की कामना रखता है। गर्भाधान से पूर्व सहवास तो भविष्यनिधि की एक प्रक्रिया है। इस संदर्भ में काम एक शक्ति है, किन्तु कामुकता विकृति है। विषयानन्द तो ब्रह्मानन्द का ही सहोदर है। अत: उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती; उसे केवल कोयला ही नहीं कहा जा सकता है, वह तो पुत्रोत्पादन रूप हीरे का पूर्व रूप है। पुत्रोत्पादन के लिए ही वह संस्तुत्य है। इसी आशावादी दृष्टिकोण का यह पुंसवन-संस्कार एक प्रतीक माना गया है। शौनक ने वीरमित्रोदय के संस्कार-प्रकाश (भाग १ पृष्ठ १६६ में) कहा है—'पुमान् प्रसूयते येन कर्मणा तत् पुंसवनमीरितम्'। अर्थात् जिसके अनुष्ठान गर्भगत सन्तान पुत्र के रूप में प्राप्त हो, उसे ही 'पुंसवन' संस्कार कहते हैं। पारस्कर के अनुसार यह संस्कार गर्भगत संन्तान के स्फुरण से पहले अर्थात् गर्भ के दूसरे या तीसरे महीने में होना चाहिए। यास्क के मतानुसार गर्भस्थ भ्रूण सातवें महीने में स्पन्दन करने लगता है। इस संस्कार के लिए पारस्कर ने शुभ नक्षत्र, दिन और तिथि का भी निर्देश किया है। साथ ही वट वृक्ष की जटाओं का उपयोग अत्यन्त वैज्ञानिक ढंग से किया है। आयुर्वेदीय चिकित्सा पद्धति का भी पारस्कर की प्रक्रिया को समर्थन प्राप्त है। पुंसवन प्रक्रिया के लिए इस पद्धति का भी अवलोकन करना चाहिए।

(४) सीमन्तोन्नयन-संस्कार

सीमन्त का अर्थ है—माँग; इसमें पुत्रोत्पादन की दृष्टि से गर्भिणी स्त्री के केशों को सजाया-सँवारा जाता है। पारस्कर के अनुसार इसका अनुष्ठान प्रथम गर्भ के छठे या आठवें महीने में पुरुष नक्षत्र में पुत्र-कामना हेतु किया जाता है। यद्यपि आज के युग में बेटे-बेटियाँ बिना बुलाये मेहमान हैं। बच्चे पैदा होना बिल्कुल आकस्मिक है। इसके लिए कोई किसी संस्कार की आवश्यकता महसूस नहीं करता। आज के लोग सन्तान नहीं चाहते। हाँ, सन्तान नहीं होने की स्थिति में अवश्य चाहते हैं; इसलिए नहीं कि उन्हें पुत्र प्रिय है, बल्कि उन्हें अपनी सम्पत्ति से मोह है कि कल-दिन इसका मालिक कौन होगा ? यह प्रश्न उठता है, उनके सामने। किन्तु ऋषि-मुनियों की दृष्टि में पुत्र-जन्मोत्सव एक महत्त्वपूर्ण विषय है। अत: उन्होंने इसके लिए अनेक संस्कारों का विधान किया है। 'सीमान्तोन्नयन' गर्भिणी स्त्री को अमङ्गलकारी प्रभावों से मुक्त रखने के लिए ही विहित है। इस सन्दर्भ में आश्वलायन की निम्न उक्ति भी द्रष्टव्य है—

'पत्न्याः प्रथमजं गर्भमत्तुकामाः सुदुर्भगाः ।
आयान्ति काश्चिद्राक्षस्यो रुधिराशनतत्पराः ।।
तासां निरसनार्थाय श्रियमावाहयेत् पतिः ।
सीमन्तकरणी लक्ष्मीस्तामावहति मन्त्रतः ।।'

इस अमंगलकारिणी अदृश्य शक्तियों से रक्षा के निमित्त भी इस सीमन्तोन्नयन संस्कार का महत्त्व बढ़ जाता है। गर्भिणी का गर्भावस्था में संरक्षण एवं पुत्रोत्पादन ही इसका महत्त्वपूर्ण लक्ष्य है। सीमन्तोन्नयन की प्रक्रिया मूल ग्रन्थ में वर्णित है। विशेष जानकारी के लिए मूलग्रन्थ का अध्ययय अपेक्षित है।

(५) जातकर्म-संस्कार

डॉ० राजबली पाण्डेय ने भारतीय और यूनानी जातकर्मों का तुलनात्मक अध्ययन कर यह कहा है—'आदिकालीन मनुष्य के लिए शिशु का जन्म एक प्रभावकारी एवं मर्मस्पर्शी दृश्य था।'

वस्तुतः यह एक मर्मस्पर्शी दृश्य है ही। पति और पत्नी इसी दिन गाढ़ मैत्रीभाव में अनुबद्ध हो जाते हैं। पुत्रोत्पादन के दिन से ही पति-पत्नी एक-दूसरे के सच्चे साथी बन जाते हैं। जीवन के ऊर्ध्वंगमन में और काम की ऊर्जा को रूपान्तिरित करने में ये नवजात शिशु एक माध्यम बन जाते हैं। कारण स्पष्ट है—किसी नारी के लिए पति एक क्षण को मिलता है और सन्तान नौ महीने में एकत्रित होती है। इसीलिए माँ का अपनी सन्तान से गहरा सम्बन्ध होता है। सन्तान नौ महीने तक माँ की साँस से साँस लेती है, माँ के हृदय से धड़कती है, उसे माँ के खून से खून मिलता और माँ के प्राण से प्राण मिलते हैं। इस अवधि में वस्तुतः उसका अपना कोई अस्तित्व ही नहीं होता। वह माँ का एक अंश होता है। अतः कोई स्त्री माँ बने बिना पूरी तरह से तृप्त नहीं हो पाती। कोई पति कभी उतनी गहरी प्रतिबद्धता उसे नहीं दे पाता जितना अपनी सन्तान उसे दे पाती है। माँ बनने के बाद ही किसी नारी का व्यक्तित्व निखरता है। नारी का सौन्दर्य उसके मातृत्व पर ही निर्भर है। दाम्पत्य जीवन की सार्थकता, सामाजिक प्रतिबद्धता, पारिवारिक परिवेश—सभी कुछ आज भी इसी पर निर्भर करता है। अतः जातकर्म-संस्कार का हमारे जीवन पर गहरा प्रभाव है।

पारस्कर ने जातकर्म को 'सोष्यन्तीकर्म' भी कहा है। इससे ऐसा लगता है पारस्कर की दृष्टि में प्रसव-शूल के समय से ही जातकर्म प्रारम्भ हो जाता है। इसी प्रसववेदना से शीघ्र मुक्ति दिलाने के लिए अनेक आभिचारिक क्रियाएँ की जाती हैं, देवताओं की प्रार्थना होती है, [illegible] उल्लेख मन्त्रों के साथ पारस्कर ने किया है। जच्चा-बच्चा की प्रसवकाल[illegible] असहाय स्थिति के लिए गृह्यसूत्र में अनेक विधि-विधान हैं। शिशुजन्म के अनन्तर मेधाजनन

और आयुष्य कर्मों का सम्पादन हो जाता है। नाल कटने बाद घी और मधु प्राशन का विधान है। इसमें अनेक वैदिक क्रियाएँ सम्मिलित हैं। पारस्कर ने इसका सविस्तर वर्णन किया है। मेधाजनन कृत्य का अनुष्ठान प्रायः शिशु के बौद्धिक विकास के लिए निश्चित किया गया है। जातकर्म-संस्कार का सम्पूर्ण विधान सरल एवं सहज रीति में गृह्यसूत्र में ही दर्शनीय है।

(६) नामकरण-संस्कार

'नामाखिलस्य व्यवहारहेतुः शुभावहं कर्मसु भाग्यहेतुः।
नाम्नैव कीर्तिं लभते मनुष्यस्ततः प्रशस्तं खलु नामकर्म ॥'

—वीरमित्रोदय, संस्कारप्रकाश (भा० १, पृ० २४१)

सांसारिक सम्पूर्ण व्यवहार का कारण यह नाम ही है। यह कल्याणप्रद कर्मों में भाग्य का साधक है, निमित्त है। नाम से ही मनुष्य यशस्वी है, अतः नामकरण-संस्कार अत्यन्त आवश्यक है। यह नामकरण-संस्कार पाश्चात्य जगत् में 'Baptism : The act of baptiring' के नाम से विख्यात है। प्रायः सभी देशों तथा सभी सम्प्रदायों में यह संस्कार किसी न किसी रूप में विद्यमान है।

जागत्तिक जीवन में परिचय-क्रम में वस्तु की तरह व्यक्ति का नाम भी आवश्यक है। हमारे नाम कैसे हों? इसके लिए हमारे पूर्वजों ने कुछ नियम बना दिये हैं। पारस्कर के अनुसार शिशु का नामकरण जन्म के दसवें दिन ही ही करना चाहिए। जब शिशु सूतिकागृह से बाहर निकल आये और अशौचकाल समाप्त हो जाय तो ब्राह्मण-भोजनोपरान्त नामकरण की प्रक्रिया होनी चाहिए। नाम दो या चार अक्षरों का होना चाहिए। नाम कृदन्त होना चाहिए, तद्धितान्त नहीं। नाम के प्रारम्भ में घोषवर्ण होना चाहिए। नाद की दृष्टि से जिन व्यञ्जन वर्णों के उच्चारण में स्वरतन्त्रियाँ परस्पर झंकृत होती हैं, उसे घोषवर्ण कहते हैं, जैसे प्रत्येक वर्ग का तीसरा, चौथा और पाँचवाँ वर्ण, सभी स्वरवर्ण एवं य र ल व और ह घोषवर्ण हैं। बीच में अन्तःस्थ अर्थात् य र ल व में से कोई एक वर्ण हो ओर अन्तिम वर्ण दीर्घ हो। बालिका का नाम आकारान्त, तद्धितान्त और विषम संख्यक वर्णों वाला होना चाहिए।

सुनने में श्रवण-सुखद एवं उच्चारण सुलभ होना चाहिए। नाम ऐसा हो जिसे सुनते ही लिङ्ग-भेद स्पष्ट हो जाये। नामकरण-योजना में बालक एवं बालिकाओं के प्राकृतिक गुणों की स्पष्ट अभिव्यञ्जना होनी चाहिए। नाम ऐसा हो जो यश, वैभव, वैदुष्य और प्रतिभा का परिचायक हो। किसी का भी नाम उसकी सामाजिक स्थिति का द्योतक होता है। मानसिक विकास के बाद किसी भी व्यक्ति का ध्यान अपने नाम की ओर जाता है। उस स्थिति में उसका नाम कुण्ठा या प्रशंसा का प्रतीक बन जाता है। अतः नामकरण की योजना में पूरी सावधानी अपेक्षित है।

(७) निष्क्रमण-संस्कार

डॉ० राजबली पाण्डेय ने 'हिन्दू-संस्कार' (पृ० ११३) में कहा है—'सम्पूर्ण संस्कार का महत्त्व शिशु की दैहिक आवश्यकता और उसके मन पर सृष्टि की असीमित महत्ता के अङ्कन में निहित है। संस्कार का व्यावहारिक अर्थ केवल यही है कि एक निश्चित समय के पश्चात् बालक को घर से बाहर उन्मुक्त वातावरण में लाना चाहिए और यह अभ्यास निरन्तर प्रचलित रहना चाहिए। प्रस्तुत संस्कार शिशु के उदीयमान मन पर यह भी अङ्कित करता था कि यह विश्वेश्वर की अपरिमित सृष्टि है और उसका विधिपूर्वक आदर करना चाहिए।'

पारस्कर ने इसे 'निष्क्रमणिका' कहा है। जन्म के चौथे महीने में पिता शिशु को इस संस्कार के लिए आवासगृह के एक सीमित क्षेत्र से बाहर निकाले। उसे वाह्य जगत् से परिचित कराने से पूर्व 'तच्चक्षुरिति०' मंत्र के साथ सर्वप्रथम सूर्यदर्शन कराये।

निश्चय ही इस संस्कार के पीछे एक ज्वलन्त भावना निहित है। इस अवस्था के बच्चे जिन्हें अभी समाज, शिक्षा और सभ्यता ने विकृत नहीं किया है, आशान्वित हैं। इनकी आँखों में आशा की दिव्य ज्योति, जिज्ञासा की सबल उत्सुकता और श्रद्धा की सफल दीपशिखा प्रज्वलित होती रहती हैं। नदियाँ सागर की ओर दौड़ती हैं; उनके प्राणों में आशा का संचार दिखलाई पड़ता है। आग की लपटें अपने केन्द्र सूर्य की ओर ही उठती हैं। इन छोटे-छोटे बच्चों की आँखों में जो आशा के दीप जलते हैं, उन्हें सूर्य-दर्शन के माध्यम से केन्द्राभिमुख जागतिक जीवन में प्रवेश होने का प्रथम द्वार खोला जाता है। मूल ग्रन्थ में कुछ और विधि-विधान भी द्रष्टव्य हैं।

(८) अन्नप्राशन-संस्कार

संस्कार शब्दातीत हैं। व्यवहार जहाँ निर्विचार है, निर्विकल्प है, वहीं जो अनुभूति है, प्रायः वही हमारे जीवन का संस्कार है। ये संस्कार हमारे जीवन के आनन्द की, उसके आलोक की, उसे सँवारने की सूचना देना चाहते हैं; फिर चाहे ये संकेत कितने ही अधूरे अथवा कितने ही असफल हों, परन्तु संकेत हैं, इसे झुठलाया नहीं जा सकता। शिशु जन्मकाल से ही विकासोन्मुख होता है। मन-बुद्धि से लेकर शरीर-पर्यन्त वह विकासशील रहता है। चिकित्साशास्त्र के अनुसार भी पाँच से छः महीने के बाद शिशु के शरीर को ठोस आहार की आवश्यकता होती है। उसके शरीर की इस आवश्यकता की पूर्ति अब केवल दूध से ही नहीं होती, उसे अब अन्न की आवश्यकता प्रतीत होती है। सुश्रुत के अनुसार छठे महीने में शिशु को माँ के स्तन से अलग हटा देना चाहिए और उसे अन्न पर निर्भर होने की आदत डालनी चाहिए—

'षण्मासं चैनमन्नं प्राशयेल्लघु हितञ्च'।

—सुश्रुतसंहिता, शारीरस्थान (१०।६४)

आचार्य पारस्कर ने इसी दृष्टि से छठे महीने में 'अन्नप्राशन' संस्कार की योजना की है। सर्वप्रथम स्थालीपाक पकाकर अग्नि में घी की आहुतियाँ डाल कर 'देवीं वाजमजयन्त०' तथा 'वाजोनो अद्य' इन दो मंत्रों को पढ़कर घी की दो आहुतियाँ डालनी चाहिए। संश्रव-प्राशन के बाद सभी प्रकार के रसों एवं अन्नों को मिलाकर पिता शिशु को चुपचाप या 'हन्त' शब्द का उच्चारण करते हुए खिलाये। यदि पिता चाहे कि पुत्र धाराप्रवाह बोलने वाला वक्ता पुरुष हो तो उसे भारद्वाज पक्षी का मांस और अन्न-धनजन्य समृद्धि की कामना से कपिञ्जल पक्षी का मांस खिलाये। वेगवत्ता होने के लिए मछली और लम्बी आयु के लिए कृकषा (तीतर) का मांस खिलाये। ब्रह्मतेज के लिए आटी (शरारि पक्षी) का मांस खिलाना चाहिए। सभी प्रकार के अभ्युदय के लिए सभी प्रकार के मांसों को मिलाकर खिलाना चाहिए। ब्राह्मण-भोजनोपरान्त यह संस्कार सम्पन्न हो जाता है।

(९) चूड़ाकरण-संस्कार

मानवीय चित्त में अनन्त शक्तियाँ हैं और आज तक उनका जितना विकास हुआ है, उससे बहुत ज्यादा विकास की प्रसुप्त संभावनाएँ हैं। ये किसी मान्य संस्कारों के प्रभाव में ही प्रस्फुटित होते हैं। यह संस्कार किसी परलोक के लिए नहीं, प्रत्युत् इसी जगत् के लिए है। यदि यह वर्तमान जीवन सार्थक हो तो किसी अन्य जीवन की चिन्ता अनावश्यक है। इसके सार्थक न होने पर ही परलोक की चिन्ता घेरती है। जो इस जीवन को सार्थक रूप देने में सफल हो जाता है, वह अनायास ही समस्त भावी जीवनों को सुदृढ़ और शुभ आधार देने में समर्थ हो जाता है। इन संस्कारों का सम्बन्ध परलोक से नहीं है, परलोक तो इस लोक का ही परिणाम है। स्वास्थ्य, सौन्दर्य, स्वच्छता और शक्ति-संवर्धन के लिए चूड़ाकरण-संस्कार की आवश्यकता होती है। नख और बाल का छेदन हर्ष, लाघव, सौभाग्य और नित्य उत्साह की वृद्धि के लिए परमावश्यक है।

इसका समर्थन महर्षि चरक ने इस प्रकार किया है—

'पौष्टिकं वृष्यमायुष्यं शुचिरूपं विराजनम्।
केशश्मश्रुनखादीनां कर्तनं सम्प्रसाधनम्'॥ —चरकसंहिता

अर्थात् केश, दाढ़ी और नखों को काटने से अनेक लाभ हैं। सर्वप्रथम प्रसाधन की पौष्टिकता होती है, शुचिता और सौन्दर्य की वृद्धि होती है, आयु लम्बी होती है तथा बल की वृद्धि होती है।

महर्षि सुश्रुत ने भी इसका समर्थन किया है—

'पापोपशमनं केशनखरोमापमार्जनम् ।
हर्षलाघवसौभाग्यकरमुत्साहवर्धनम्' ॥

—सुश्रुतसंहिता, चिकित्सास्थान (२४।७२)

पारस्कर ने चूड़ाकरण-संस्कार के महत्त्व को ध्यान में रखकर इसके लिए उचित समय निर्धारित किया है। उनके अनुसार यह संस्कार जन्म से एक वर्ष पूरा होने पर या तीसरे वर्ष की समाप्ति के पूर्व हो जाना चाहिए। यदि किसी कारणवश उक्त अवधि में यह कार्य सम्पन्न न हो सके तो सुविधानुसार जब भी चाहें यह कृत्य अवश्य सम्पन्न करें। पद्धतियों में इसके कुछ पूर्वकृत्य भी हैं। पारस्कर ने ब्राह्मण-भोजन से ही इस संस्कार का समारम्भ किया है। शिशु को पहले माता स्नान करा दे, फिर उसे एक बार धुले वस्त्र पहनाकर गोद में ले ले। यज्ञाग्नि के पश्चिम में वह शिशु को गोद में लेकर बैठ जाय और पिता उसे पकड़ते हुए घी की आहुतियाँ डाले। इसके बाद पारस्कर ने गृह्यसूत्र में स्पष्ट और प्राञ्जल भाषा में चूड़ाकरण-संस्कार की विधि बतलाई गई है; जो कि मूल ग्रन्थ में द्रष्टव्य है।

चूड़ाकरण संस्कार में शिखा-संरक्षण होता है। चूड़ा का अर्थ शिखा है और करण शब्द विधेयात्मक है न कि निषेधात्मक। हिन्दू बालकों का शिखा-संरक्षण कर्म केवल धार्मिक कृत्य ही न होकर वैज्ञानिक तथ्य से भी अनुप्राणित है। सुश्रुत ने इसके सम्बन्ध में स्पष्ट बतलाया है कि शिर के भीतर ऊपर की ओर शिरा तथा सन्धि का सन्निपात है। वही रोमावर्त में शरीराधिपति का निवास है। शरीर में यह अङ्ग अत्यन्त मार्मिक है। इसमें चोट लगने से तत्काल मृत्यु की सम्भावना है। अतः इस अङ्ग के संरक्षणार्थ भी शिखा का संरक्षण आवश्यक है; यथा—'मस्तकाभ्यन्तरोपरिष्टात् शिरासम्बन्धिसन्निपातो रोमावर्तोऽधिपतिस्तत्रापि सद्योमरणम्।'

धार्मिक दृष्टि से भी शिखाहीन व्यक्ति को किसी धार्मिक कृत्य का कोई फल नहीं मिलता। यथा—

'सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च।
विशिखो व्युपवीतश्च यत्करोति न तस्य तत् ॥'

'कृञ् कर्तने' धातुजन्य अर्थ की दृष्टि से इसका अर्थ कुछ लोग शिखाकर्तन भी करते हैं। जो भी कुछ हो चिकित्सा, व्यवहार और धर्म की दृष्टि से भी चूड़ाकरण-संस्कार का अपना एक विशिष्ट महत्त्व है।

(१०) उपनयन-संस्कार

उपनयन शब्द का अर्थ है—'उप' अर्थात् समीप और 'नयन' का अर्थ है ले जाना अर्थात् समीप ले जाना। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि किसको किसके पास

ले जाना ? संभवत: इस शब्द से पारस्कराचार्य का प्रयोजन बटु को गुरु के पास विद्याध्ययन के लिए ले जाना है। छात्र-जीवन में प्रवेश के पूर्व का यह संस्कार है। शिक्षा स्वयं एक संस्कार है। शिक्षा मन की आत्मा में जो अन्तर्निहित है, उसे अभिव्यक्त करने का एक माध्यम है। जीवन को सच्चे अर्थ में जीवन बनाना इस कला की सार्थकता है। जीवन-शिक्षा का अर्थ मात्र आजीविका नहीं है। किन्तु, आज यह अज्ञानतावश साधन ही साध्य बन गया है। शिक्षा जब समाप्त होगी तो आजीविका ही नहीं जीवन को भी सिखाये तभी शिक्षा की सार्थकता है। यहाँ जीवन को सिखाने का तात्पर्य है, आत्मा को सिखाना। ऐसे ज्ञान का क्या मूल्य जिसके केन्द्र पर स्वकीय ज्ञान न हो। स्वयं में यदि अन्धेरा हो, तो सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त प्रकाश का भी हम क्या करेंगे ? इसी तथ्य को उजागर करने में इस उपनयन-संस्कार का महत्त्व है। इस संस्कार की सामाजिक, सांस्कृतिक एवं शैक्षिक पृष्ठभूमि के विषय में डॉ० राजबली पाण्डेय ने अपने 'हिन्दूसंस्कार' नामक ग्रन्थ में (पृष्ठ १४३-१४४) बिलकुल स्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत की है; उनके अनुसार—'प्रकृत संस्कार का उदय समुदाय की नागरिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए हुआ। जनसाधारण जाति के महत्त्व को समझकर सामुदायिक जीवन को किसी भी मूल्य पर सुरक्षित रखना चाहता है। इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए जाति के नव विकसित सुमनों को अनुशासित किया जाता है, जिससे वे सभ्यता तथा संस्कृति की रक्षा का भार वहन करने योग्य हो सके। सांस्कृतिक क्षमता के आधार पर ही कोई भी व्यक्ति समाज की सदस्यता प्राप्त कर सकता और पूर्ण अधिकारों तथा विशेष सुविधाओं का दावा कर सकता था। उपनयन-संस्कार एक प्रकार से हिन्दुओं के विशाल साहित्य भण्डार के ज्ञान का प्रवेशपत्र था। समाज में भी प्रवेश का यही साधन था, क्योंकि इसके विना कोई भी व्यक्ति आर्य कन्या से विवाह नहीं कर सकता था। इस प्रकार हिन्दुओं की आदर्श जीवन योजना एवं व्यापक शिक्षा समाज का अनिवार्य लक्षण और चिह्न मानी जाती थी।'

आज के जीवन में इस संस्कार का क्या महत्त्व होगा ? कहना संभव नहीं है। क्योंकि जहाँ शान्ति एवं आनन्द न हो, वहाँ जीवन भी क्या होगा ? आनन्दरिक्त, अर्थशून्य जीवन को जीवन कहा भी कैसे जा सकता है ? यह तो एक मूर्च्छा, बेहोशी और पीड़ाओं की लम्बी कतार है। जीवन को केवल वे ही उपलब्ध होते हैं, जो स्वयं में और सभी के भीतर परमात्मा का अनुभव कर लेते हैं। इसके अभाव में तो हम केवल शरीरमात्र हैं और शरीर जड़ है, जीवन नहीं। जो स्वयं को शरीरमात्र ही जानता है, वह जीवित होकर भी जीवन को नहीं जानता है। जन्म ले लेना एक बात है और जीवन को प्राप्त कर

लेने का सौभाग्य बहुत कम मनुष्यों को उपलब्ध हो पाता है। ये संस्कार हमारे लिए ऐसे ही जीवन-शिक्षा की एक कड़ी हैं।

मुनि पारस्कर ने इस संस्कार के लिए उम्र की सीमा निर्धारित की है। जन्म अथवा गर्भ से आठवें वर्ष में ब्राह्मण बटु का उपनयन तथा ग्यारहवें वर्ष में क्षत्रिय का और बारहवें वर्ष में वैश्यों का उपनयन-संस्कार निर्धारित किया गया है। मनु ने भी इसी पक्ष का समर्थन किया है—

'गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः'॥

—मनुस्मृति (२।३६)

एनशियेण्ट इण्डियन एजुकेशन (पृ० २९) में 'केई' महाशय ने इसे मात्र ब्राह्मणों की कपोल कल्पना और दम्भ का परिणाम माना है। इस सन्दर्भ में मनुस्मृति (२।३६) पर मेधातिथि-भाष्य भी अवलोकनीय है—

'ब्राह्मणादिवर्णसम्बन्धिनां छन्दसां पाद्याक्षरसङ्ख्यैरुपनयनस्य विधिः'।

अर्थात् इस भेद का आधार सावित्री मंत्र की अक्षर संख्या है। यह ब्राह्मणों के लिए ८, क्षत्रियों के लिए ११ और वैश्यों के लिए १२ अक्षरों की होती है। ऐसा लगता है कि इसी सावित्री मन्त्र के आधार पर उपनयन की आयु-सीमा निर्धारित की गई है। ऐसी स्थिति में केई के कथन का कोई आधार स्पष्ट नहीं हो पाता। ठीक इसके विपरीत 'हिन्दू-संस्कार' (पृ० १५३) में डॉ० राजबली पाण्डेय का अभिमत कितना सटीक एवं सारगर्भित है—'अति प्राचीनकाल में ब्राह्मण पिता ब्राह्मण ब्रह्मचारियों का आचार्य भी होता था। अतः छोटी अवस्था में उनका उपनयन किया जाना असुविधाजनक नहीं था, क्योंकि उन्हें शिक्षा प्राप्ति के लिए घर नहीं त्यागना पड़ता था। क्षत्रिय और वैश्यों की स्थिति इससे भिन्न थी, उन्हें शिक्षा के लिए अपने माता-पिता से अलग होना पड़ता था। अतः बहुत छोटी अवस्था में माता-पिता से पृथक् होने पर बालकों को कष्ट होना स्वाभाविक था। इसी कारण संस्कार की उच्चतम आयु के लिए बहुत कुछ माता-पिता की वात्सल्य अनुभूति ही उत्तरदायी थी।'

पारस्कर ने यज्ञोपवीत-संस्कार की अन्तिम सीमा भी निर्धारित कर दी है। उनके अनुसार ब्राह्मण के लिए १६, क्षत्रिय के लिए २२ और वैश्यों के लिए २४ वर्ष की उम्र तक ही यह संस्कार होना चाहिए। मनु का भी यही सिद्धान्त है—

'आषोडशाद् ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते।
आद्वाविंशात् क्षत्रबन्धोराचतुर्विंशतेर्विशः'॥

—मनुस्मृति (२।३७)

उम्र की यह सीमा पार हो जाने पर व्यक्ति व्रात्य हो जाता है। वह

किसी सामाजिक अनुष्ठान का अधिकारी नहीं रह जाता, किन्तु यदि वह उपनीत होना चाहे तो पारस्कर ने उसे उदार भाव से स्वीकार भी किया है। ऐसे लोगों को वेदाध्ययन प्रारम्भ करने से पूर्व व्रात्य-स्तोम यज्ञ का अनुष्ठान अवश्य कर लेना चाहिए।

यज्ञोपवीत की प्रतीकात्मकता पर विचार करते हुए डॉ० पाण्डेय ने कहा है—'उपवीत को ब्राह्मण कुमारी कातती है और ब्राह्मण द्वारा उसमें ग्रन्थि दी जाती है। उपवीत धारण करने वाले व्यक्ति के पूर्वजों की संख्या के अनुसार ग्रन्थियाँ दी जाती हैं। उपवीत की रचना प्रतीकात्मक अर्थ से परिपूर्ण है। इसकी लम्बाई एक मनुष्य की चार अँगुलियों की चौड़ाई की ९६ गुनी होती है जो उसकी ऊँचाई के बराबर है। चार अँगुलियाँ चार अवस्थाओं—जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय की प्रतीक है। उपवीत के प्रत्येक सूत्र के तीन धागे भी प्रतीकात्मक हैं। वे सत्त्व, राजस् तथा तामस् का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिनसे सम्पूर्ण विश्व विकसित हुआ है। इसमें इस बात का ध्यान रखा जाता था कि सूत्र का दोहरा भाग ऊपर की ओर रहे। इसका प्रयोजन मनुष्य में सत्त्वगुण की प्रधानता बनाये रखना था। ये तीन सूत्र उसके धारण करने वाले को यह स्मरण कराते हैं कि उसे ऋषिऋण, पितृऋण तथा देवऋण से उऋण होना है। तीनों सूत्र एक ग्रंथि द्वारा परस्पर बाँध दिये जाते हैं, जो ब्रह्मग्रन्थि कहलाती है तथा जो ब्रह्मा, विष्णु और शिव की प्रतीक है। इसके अतिरिक्त कुल-विशेष के विविध प्रवरों को सूचित करने के लिए अतिरिक्त ग्रंथियाँ भी दी जाती हैं'।

—हिन्दूसंस्कार (पृ० १७०)

पारस्करगृह्यसूत्र में उपनयन-संस्कार के सभी कृत्य, ब्रह्मचारी के नियम प्रभृति का सविस्तर वर्णन है। इस विषय पर मूल ग्रन्थ का अवलोकन करना चाहिए।

(११) केशान्त-संस्कार

केशान्त से मुनि पारस्कर का तात्पर्य प्रायः प्रथम बार दाढ़ी-मूँछ कटवाने से है। 'सुमुखं केशान्ते' का तात्पर्य भी यही है। कल तक के इतिहास को, धर्मशास्त्रों को, पुराणों को हम विश्वास काल कह सकते हैं। परन्तु वर्तमानकाल तो विवेककाल ही है। विश्वास से विवेक में आरोहण ही इस युग की सबसे बड़ी विशेषता है। शास्त्रों के प्रति श्रद्धा बदली नहीं अपितु शून्य हो गई है। श्रद्धा-शून्य तथा विश्वास-शून्य चेतना का जन्म हुआ है। विश्वास बदल जाय तो कोई मौलिक भेद नहीं पड़ता, किन्तु श्रद्धा का तो अपना विशेष महत्त्व है। शास्त्रानुदेश के प्रति किसी का विश्वास हो या न हो, किन्तु दाढ़ी-मूँछ कटवाना कौन नहीं चाहेगा। फर्क केवल इतना ही है कि मुनि पारस्कर ने इसे कुछ नियमों में आबद्ध कर दिया है। गंभीरता से सोंचने पर इसका रहस्य भी

सामने आ जाता है। पहली बार दाढ़ी-मूँछ कटवाने पर आचार्य ने गोदान की व्यवस्था की है। इसीलिए अन्य सूत्रकारों ने इसे 'गोदान' की भी संज्ञा दी है। केशान्त-संस्कार के बाद एक वर्ष, १२ दिन, ६ दिन या कम से कम तीन दिन तक ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए।

(१२) समावर्तन-संस्कार

विधिवत् वेदाध्ययन समाप्त कर जब ब्रह्मचारी गुरु की आज्ञा लेकर स्नान करता है, तब उसे स्नातक कहते हैं। इसीलिए पारस्कर ने समावर्तन के लिए स्नान शब्द का प्रयोग किया है। ब्रह्मचर्याश्रम की अवधि कम से कम ४८ वर्ष तक मानी गई है। वर्णाश्रम-व्यवस्था प्राचीन भारत की एक सुदृढ़ नींव थी, जिस पर हमारी सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था सुनियोजित थी। इस ४८ वर्ष की अवधि में चारों वेदों का अध्ययन प्रायः समाप्त हो जाता था। यद्यपि किसी एक वेद का अध्ययन समाप्त कर लेने पर भी ब्रह्मचारी गुरु के आदेश से अध्ययन समाप्त कर स्नानोपरांत अन्य आश्रम में प्रवेश पा सकता था। गदाधर ने अपने भाष्य में एक स्थान पर कहा है—'दीर्घसत्रं वा एष उपैति यो ब्रह्मचर्यमुपैति' तात्पर्य यह कि ब्रह्मचर्यव्रत का पालन भी एक दीर्घ यज्ञ ही होता था। इसीलिए सत्रान्त में स्नान आवश्यक माना गया है।

पारस्कर ने तीन प्रकार के स्नातकों का उल्लेख किया है—विद्यास्नातक, व्रतस्नातक और विद्याव्रतस्नातक। नाम से ही तीनों का अर्थ स्पष्ट है। ऐसे ब्रह्मचारी जो केवल विद्या-प्राप्ति के प्रयत्नशील होते थे, किन्तु व्रत का निर्वाह नहीं कर पाते थे, वे विद्यास्नातक कहलाते थे; ऐसे छात्र जिन्हें विद्या तो सर्वाङ्गीण रूप से प्राप्त नहीं हो पाती थी, किन्तु कठोरतापूर्वक व्रत का पालन करते थे, उन्हें व्रतस्नातक कहा जाता था और ऐसे व्यक्ति जो इस आश्रम में निष्ठापूर्वक व्रत का पालन करते हुए स्वयं को आत्यन्तिक सत्ता से सम्बन्ध स्थापित कर विद्या और ज्ञान का आलोक फैलाते थे और दोनों ही कसौटियों पर खरे उतरते थे, उन्हें सर्वश्रेष्ठ स्नातक कहा जाता था; वे ही विद्याव्रतस्नातक कहलाते थे। इसका विधि-विधान द्वितीय काण्ड की ७वीं-८वीं कण्डिका में देखना चाहिए।

(१३) अन्त्येष्टि-संस्कार

मृत्यु जीवन का अनिवार्य अङ्ग है। इसलिए आचार्य ने अन्त्येष्टि क्रिया से सम्बद्ध अनेक विधि-विधानों का सविस्तर वर्णन तृतीय कांण्ड की दशम कण्डिका में प्रस्तुत किया है। शव-संरक्षणजन्य व्यवस्था के विभिन्न स्तरों का जहाँ आचार्य ने वर्णन किया है, वहीं मृतक के परिजनों को भी विस्मृत नहीं किया है। उन्हें कैसे सान्त्वना देनी चाहिए, यहाँ से लेकर अन्तिम संस्कार समाप्त कर किस प्रकार घर लौटना चाहिए, शवयात्रा में कैसे लोग सम्मिलित हों,

अन्त्येष्टि के बाद लौट कर घर पर क्या-क्या करना चाहिए—इत्यादि का सविस्तार वर्णन किया गया है। ये सभी विषय मूल ग्रन्थ में द्रष्टव्य हैं।

पारस्करगृह्यसूत्र के रचयिता

पारस्करगृह्यसूत्र के रचयिता के सम्बन्ध में आलोचकों के बीच अनेक मत-मतान्तर हैं। इस गृह्यसूत्र में पूर्व प्रयुक्त 'कातीय' शब्द इस भ्रान्ति का एक कारण है। 'Sacred Books of the East' Vol. 29, Page 264 में ओल्डनवर्ग ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि यह कात्यायनश्रौतसूत्र का परिशिष्ट मात्र है। किन्तु परम्परा प्रकृत गृह्यसूत्र के रचयिता पारस्कर मुनि को ही मानती है। कतिपय भारतीय वैदिक विद्वानों की मान्यता है कि ये पारस्कर महर्षि कात्यायन के शिष्य थे। कुछ का कहना है कि ये कात्यायन के भांजे थे। कुछ अन्य आलोचकों का कहना है कि कात्यायन का ही दूसरा नाम पारस्कर है। किन्तु, इस मन्तव्य के पीछे कोई ठोस आधार नहीं मिलता है। पौर्वापर्य की दृष्टि से इतना अवश्य कहा जा सकता है कि श्रौतसूत्र का निर्माण गृह्यसूत्र के पूर्व अवश्य हुआ है। श्रौतसूत्र के निर्माता महर्षि कात्यायन हैं और गृह्यसूत्र के निर्माता महर्षि पारस्कर हैं।

इस वितण्डावाद को बल देने वाला यहाँ यह सूत्र भी विचारणीय है—'स पूर्वं चोदितत्वात् सन्देहः'। यहाँ सूत्रगत पूर्व शब्द ने भ्रान्ति उत्पन्न कर दी है। यहाँ यदि पूर्व शब्द का तात्पर्य श्रौतसूत्रकार से है तो संभवतः पूर्व श्रौतसूत्रकार कात्यायन और गृह्यसूत्रकार पारस्कर दोनों एक ही व्यक्ति हों। अथवा यदि महर्षि कात्यायन ने केवल श्रौतसूत्र लिखा है तो बाद में उन्हें गृह्यसूत्र भी लिखना चाहिए था। परन्तु ऐसा कोई कठोर नियम नहीं है या प्रतिबद्धता भी प्रतीत नहीं होती कि जिसने श्रौतसूत्र की रचना की है, उसे गृह्यसूत्र की भी रचना करनी चाहिए। क्योंकि सामवेद के द्राह्यायण-लाटयायन ने केवल श्रौतसूत्र की ही रचना की है, गृह्यसूत्र की नहीं। अतः पूर्वोक्त सूत्र में निर्दिष्ट पूर्व शब्द भिन्न ऋषि का ही द्योतक प्रतीत होता है।

कुछ आलोचकों ने तो पारस्कर नामक किसी व्यक्ति के अस्तित्व पर ही प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया है। इस पक्ष की सम्पुष्टि में अष्टाध्यायी के **'पारस्कर-प्रभृतीनि च संज्ञायाम्'** (६।१।१५७) इस सूत्र में यह नाम व्यक्तिवाचक संज्ञा के रूप में स्वीकार्य नहीं है। तैत्तरीयसंहिता की भूमिका (पृष्ठ सी० एल० २७) में प्रो० कीथ ने इस सूत्र के उद्धरण-क्रम में प्रायः पारस्कर-गृह्यसूत्र के रचयिता की ओर संकेत किया है। कुछ आलोचकों में 'ऋक् तंत्र' और महाभाष्य का उद्धरण देते हुए प्रो० कीथ के मत का खण्डन करते हुए पारस्कर का अर्थ 'पहाड़' या देश-विशेष सिद्ध किया है। काशिकावृत्ति ने भी इसी पक्ष की सम्पुष्टि की है। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने अपनी 'पाणिनि-कालीन भारतवर्ष' नामक पुस्तक (पृ० ६६,) में यह सिद्ध किया है कि

पारस्कर: सिन्ध का पूर्वीय जिला थर है। कच्छ का 'इरिणपारन्न' प्रदेश उत्तर का समस्त भूभाग पारस्कर देश था। डॉ० हरिदत्त शास्त्री के अनुसार भाष्यकार का कथन है—'पारस्करो देश:'। अत: पारस्कर शब्द देशवाची है। अत: पतञ्जलि के समय में यह कोई देश बन गया होगा। पारस्कर शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए ज्ञानेन्द्र सरस्वती ने अपनी 'तत्त्वबोधिनी' टीका में 'पारे करोति' यह विग्रह बतलाया है। शास्त्री जी ने इसका अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा है—'जिन महर्षि ने मानव-जीवन को भवसागर से पार ले जाने के यज्ञादि उपायों को बतलाया, वह महर्षि पारस्कर कहलाए। क्योंकि उत्तर भारत में जन्म से मरण तक की सम्पूर्ण क्रियाएँ इसी गृह्यसूत्र के अनुसार होती हैं।'

डॉ० ओमप्रकाश पाण्डेय ने अपने पारस्करगृह्यसूत्र की भूमिका में अनेक तर्क और प्रमाणों से सिद्ध किया है कि यह गृह्यसूत्र पारस्कर मुनि कृत ही है। यथा—'पूर्ववर्ती या समकालीन होने पर भी पारस्करगृह्यसूत्र तब तक इतना लोकप्रिय या महत्त्वपूर्ण नहीं हुआ होगा कि पाणिनि, पतञ्जलि या काशिकाकार उसके रचयिता को कोई विशिष्ट पुरुष समझकर उसके साथ सामान्येतर व्यवहार प्रदर्शित करते। अब यह बात प्रमाणित हो जाने पर कि पाणिनि के जाने-अनजाने ही पारस्कर नामक किसी व्यक्ति विशेष की सत्ता हो सकती है, पाणिनिसूत्र से उस व्यक्ति का अस्तित्व निषिद्ध नहीं सिद्ध होता, परम्परा पर दृष्टिपात करना भी आवश्यक है।'

आगे उन्होंने और स्पष्ट किया है—'पारस्करगृह्यसूत्र पर अनेक भाष्य प्राप्त होते हैं। इन भाष्यों के मूल में कर्मकाण्ड एवं तद्विषयक ऐतिहासिक परम्परा अवश्य रही होगी, क्योंकि आज भले ही स्टेन्सलर, ओल्डेनबर्ग या हमारे जैसे लोग जो व्यवसाय से पुरोहित नहीं हैं, इस पर व्याख्या रचें। किन्तु, प्राचीन भाष्यकारों ने अवश्य अपने सम्प्रदाय और शाखानुसार गुरुमुख से गृह्यसूत्रान्तर्गत सामग्री का सैद्धान्तिक और व्यावहारिक अध्ययन अनुभव करके ही व्याख्या रची होगी।'

इन अनेक विचारों और गृह्यसूत्र के भाष्यकारों की निम्नलिखित उक्तियों—

(१) पारस्करकृतस्मार्त्तसूत्रव्याख्यायाम्—कर्काचार्य:।
(२) पारस्करकृते गृह्यसूत्रे—हरिहर:।
(३) पारस्करस्य गृह्यस्य—विश्वनाथ:।

—पर विचार करने के बाद हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि निश्चय ही प्रकृत गृह्यसूत्र के रचयिता मुनि पारस्कर ही हैं।

पारस्कर का देश और काल

पारस्कर मुनि उत्तर भारत के ही किसी क्षेत्र विशेष के निवासी प्रतीत

होते हैं। क्योंकि यह गृह्यसूत्र एक ऐसा निर्देशक ग्रन्थ हैं, जिसके अनुसार आज भी सम्पूर्ण उत्तर भारत में जन्म से मृत्यु-पर्यन्त सभी संस्कार निर्भर करते हैं।

ईसा से दो शताब्दी पूर्व से ही भारतीय समाज एक निश्चित समाज में ढलने लग गया था। ईसा की छठीं शताब्दी पूर्व जो सामाजिक स्वतंत्रता थी वह धीरे-धीरे संयत होने लग गई थी। ऐसे सामाजिक, नैतिक तथा धार्मिक मापदण्डों की रचना होने लगी, जो समाज को एक ढांचे में ढाल सके। प्रत्येक वर्ण तथा आश्रम के निश्चित कर्त्तव्य, विवाहादि के निश्चित सम्बन्ध, सामाजिक दृष्टिकोण तथा नैतिक आन्दोलन का श्रेय गृह्य-साहित्य को ही दिया जा सकता है। इस सन्दर्भ में पारस्करगृह्यसूत्र एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। प्रायः भारत के सम्पूर्ण उत्तरीय खण्ड तथा दक्षिण के भी अनेक प्रान्तों में हमारे संस्कार एवं गृह्यानुष्ठान सम्पन्न होते हैं। इसमें वर्णित जातक, विवाह, उपनयन तथा श्राद्धादि संस्कारों में जिन प्रथाओं का उल्लेख है, उनका प्रचार-प्रसार बंगाल से लेकर सिन्ध और पंजाब तक तथा दक्षिण के कुछ खण्डों तक आज भी प्रचलित हैं। या यों कहें कि पारस्करगृह्यसूत्र सम्पूर्ण उत्तर भारत में पूर्व से पश्चिम तक जन-जीवन में व्याप्त है। इससे यह सिद्ध होता है कि पारस्करमुनि निश्चित रूप से भारत के उत्तरी भूखण्ड के निवासी थे। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के मत से पारस्कर एक स्थानवाची संज्ञा है। सम्भवतः सिन्ध का पूर्वी जिला 'थर' पारस्कर है। कच्छ के हरिणपारन्न प्रदेश के समस्त भूभाग को पारस्कर कहा जाता था और सम्भवतः इसी भूखण्ड के निवासी पारस्कर मुनि थे।

कुछ पाश्चात्य पण्डितों ने प्रयासपूर्वक इन सूत्रकारों का समय निर्धारण करने की चेष्टा की है। यद्यपि यह कार्य अत्यन्त जटिल रहा है, फिर भी इस दिशा में सर्वप्रथम मैक्समूलर ने चन्द्रगुप्त मौर्य के काल को आधार मानकर सूत्रयुग का निर्धारण ६०० ई० पूर्व से लेकर २०० ई० पूर्व के बीच स्थिर किया है। इस काल के प्रमुख सूत्रकार कात्यायन को उन्होंने चन्द्रगुप्त मौर्य का पूर्ववर्ती एवं बुद्ध से परवर्ती सिद्ध किया है। इन्हीं की भाषा में पारस्करगृह्य-सूत्र का रचनाकाल म० म० काणे ने अपने धर्मशास्त्र के इतिहास (पृ० १४) में ६०० ई० पूर्व से ३०० ई० पूर्व के बीच निर्धारित किया है। ज्योतिष शास्त्रीय तथ्यों के आधार पर स्व० वा० गंगाधर शास्त्री ने गृह्यसूत्रों का रचनाकाल १४०० से ५०० विक्रम पूर्व माना है। समुपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर जर्मन विद्वान् याकोबी ने गृह्यसूत्र में उल्लिखित ध्रुवदर्शन एवं उपाकर्म विधान को आधार मानकर पारस्करगृह्यसूत्र का रचनाकाल २०० ई० पूर्व के आसपास निर्धारित किया है।

पारस्करगृह्यसूत्र के भाष्यकार

पारस्करगृह्यसूत्र के अनेक भाष्यकार मिलते हैं। पारस्करगृह्यसूत्र की

लोकप्रियता का यह एक प्रबल प्रमाण है कि इसके परवर्ती काल में अनेक भाष्यों, व्याख्याओं और टीकाओं की रचना हुई है। इसके अतिरिक्त अनेक वृत्तियों, पद्धतियों और गृह्यकृत्यों की रचना की गई है। पारस्करगृह्यसूत्र पर उपलब्ध साहित्य की सूची निम्नरूपेण है—

१. अमृतव्याख्या—नन्दपण्डित (१५५० ई० से पूर्व)।
२. अर्थभास्कर—राघवेन्द्रारण्य के शिष्य–भास्कर।
३. प्रकाश—रचयिता–वेदमिश्र, आत्मज–शिवरूप दीक्षित, प्रयुक्त–मुरारिमिश्र
४. संस्कारगणपति—प्रयागभट्ट के पौत्र रामकृष्णरचित;
५. सज्जनवल्लभ भाष्य—जयरामकृत (१२०० ई० से १४०० ई० के बीच)।
६. कर्कभाष्य—कर्काचार्यकृत।
७. गदाधरभाष्य—वामन के पुत्र गदाधरकृत।
८. भर्तृयज्ञ—टीका।
९. परिशिष्ट कण्डिका पर कामदेव का भाष्य।
१०. पारस्करगृह्यमन्त्रों पर टीका—मुरारि मिश्र।
११. पारस्करगृह्यसूत्र-टीका—वागीश्वरी दत्त।
१२. पारस्करगृह्यसूत्र-टीका—वासुदेव दीक्षित।
१३. पारस्करगृह्यसूत्र-भाष्य—विश्वनाथ।
१४. पारस्करगृह्यसूत्र-टीका—हरिशर्मा।
१५. पारस्करगृह्यसूत्र-टीका एवं भाष्य—हरिहर।
१६. पारस्करगृह्यसूत्र-पद्धति—कामदेव।
१७. पारस्करगृह्यसूत्र-पद्धति—भास्कर।
१८. पारस्करगृह्यसूत्र-पद्धति—वासुदेव।
१९. पारस्करश्राद्धसूत्र-वृत्यर्थ—उदयशंकर।
२०. पारस्करगृह्यकारिका—रेणुकाचार्य (१२६६ ई०)।

पारस्करगृह्यसूत्र पर किये गये ये सभी कार्य अपने आप में विशिष्टता रखते हैं। परन्तु इनमें से कर्क, जयराम, हरिहर, गदाधर एवं विश्वनाथ के भाष्य अत्यन्त विशद एवं अनुकरणीय हैं। अतः इन पाँचों का संक्षिप्त परिचय आगे प्रस्तुत किया जाता है।

(१) कर्काचार्य

पारस्करगृह्यसूत्र के भाष्यकारों में कर्काचार्य को एक महत्त्वपूर्ण एवं मान्य स्थान प्राप्त है। इन्होंने कात्यायन के श्रौतसूत्र एवं पारस्कर के गृह्यसूत्र इन दोनों पर भाष्य की रचना की है। हेमाद्रि ने अपने काल-निर्णय में इनका समय १३वीं शती का अन्तिम चरण निश्चित किया है। इन्होंने अपने ग्रन्थ 'आपस्तम्ब-ध्वनितार्थकारिका' में दो-तीन स्थलों पर कर्काचार्य को उद्धृत किया है।

इन्होंने अपने श्राद्धनिर्णय में कर्क-मत का खण्डन भी किया है। इससे यह प्रमाणित होता है कि हेमाद्रि १२५० ई० एवं त्रिकाण्डमण्डन १२वीं शती के मध्य से निश्चित ही प्राचीनतर हैं। कर्क ने सिंही नामक 'औषधि' के पर्याय-वाची के रूप में 'रिंगणिका' (जिसे हिन्दी में 'रिंगनी' कहते हैं) शब्द का उल्लेख किया है। इनका भाष्य स्वल्पाक्षर होते हुए भी सारगर्भित है।

(२) जयराम

जयराम मेवाड़ के निवासी थे। इनके पिता का नाम बलभद्र था। इनके पितामह आचार्य अपर नामक दामोदर थे। ये भारद्वाज गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके भाष्य का नाम 'सज्जनवल्लभ' है। मन्त्रों की व्याख्या इस भाष्य की प्रमुख विशेषता है। इन्होंने सप्रयास पाठ का निर्धारण किया है। साथ ही गृह्यसूत्र में उद्धृत मन्त्रों की व्याख्या अत्यन्त प्रामाणिकता के साथ की है।

(३) हरिहर

हरिहर ने अपनी टीका में विज्ञानेश्वर के मत को उद्धृत किया है। फलतः विज्ञानेश्वर का समय निश्चित होने के कारण हरिहर का समय ११५० ई० के पूर्व का सिद्ध होता है। श्रीदत्त ने आचारादर्श (१६वीं शती) में, हेमाद्रि (१२५० ई०) ने श्राद्धप्रकरण में इनके मत को निर्दिष्ट किया है। अतः इनका समय १२०० ई० के आस-पास का है। ये कन्नौज जनपद के निवासी थे। पारस्करगृह्यसूत्र पर इनकी व्याख्या सर्वाधिक लोकप्रिय रही है। इसमें गृह्यकर्मकाण्ड का सविस्तर वर्णन है। धर्मशास्त्र से इनका गहनतम परिचय है। टीका के मंगलाचरण में वासुदेव नामक किसी आचार्य का इन्होंने अत्यन्त समादरपूर्वक स्मरण किया है।

(४) गदाधर

गदाधर ने अपने भाष्य में कई प्राचीन एवं प्रमुख आचार्यों के मतों का उल्लेख किया है। मनु, याज्ञवल्क्य, हारीत, आपस्तम्ब, व्यास, मिताक्षरा, पराशर, मदनरत्न, वृद्धशातातप, स्मृत्यर्थसार, मदनपारिजात, वसिष्ठ, प्रयोग-पारिजात तथा हेमाद्रि की जहाँ कहीं अवसर मिला है, चर्चा की है। जैसे—'अत्र हरिहरमिश्रैरबुध्वैव पाण्डित्यं कृतिमस्ति।' गदाधर की अभिरुचि ज्योतिष सम्बन्धी विषयों की ओर अधिक है। उनके पिता का नाम वामन दीक्षित था। इन्हें 'त्रिरग्निचिद् सम्राड् स्थपति महायाज्ञिक' की उपाधि से विभूषित किया गया है। हेमाद्रि ने इनके सम्बन्ध में जो उद्धरण प्रस्तुत किया है, उससे इनका समय १२५० ई० के आस-पास का सिद्ध होता है। अथवा इनकी समय सीमा १४वीं सदी के आस-पास भी निर्धारित की जा सकती है। पारस्करगृह्यसूत्र के तृतीय काण्ड पर इनका भाष्य उपलब्ध नहीं है।

(५) विश्वनाथ

ये नन्दपुर के काश्यप गोत्रीय नागर ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम नरसिंह एवं माता का नाम गंगा देवी था। इनकी टीका का नाम 'गृह्यसूत्र-प्रकाशिका' है, जो सम्प्रति खण्डित रूप में उपलब्ध होती है। इसके अन्तिम पाँच काण्डों की टीका ग्रन्थकार के पितृव्य अनन्त के प्रपौत्र लक्ष्मीधर ने १६३५ ई० में लिखी। ये स्तम्भ तीर्थ (खम्भात, गुजरात) से आकर काशी में रहने लगे थे। इन्होंने काशी में ही इस व्याख्या की रचना पूर्ण की। इनका समय १६वीं शती का उत्तरार्द्ध है।

पारस्करगृह्यसूत्र में चिन्तन के आयाम

आज हम अपनी संस्कृति में नहीं अपितु एक विकृति में श्वास ले रहे हैं। मनुष्य के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और सार्थक वस्तु मनुष्य के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। आज मनुष्य पदार्थ की अनन्त शक्ति से परिचित है; मात्र परिचित ही नहीं विजेता भी है। परन्तु मनुष्य के भीतर छिपी अनन्त और रहस्यमय शक्ति का उसे कुछ भी ज्ञान नहीं है। वह मात्र पदार्थाणु से परिचित है, आत्माणु को वह भूल गया है। आज के मनुष्य की यही विडम्बना है। पदार्थाणु ने मनुष्य को शक्ति तो दी है, परन्तु उसकी शान्ति छीन ली है। अशान्त और अप्रबुद्ध हाथों में आई हुई शक्ति से ही यह सारा उपद्रव है। शक्ति सदा शुभ नहीं होती, वह तो शुभ हाथों में ही शुभ होती है। शक्तिसम्पन्न शान्ति ही जीवन का लक्ष्य होना चाहिए।

आज मनुष्य जो कर रहा है, वह मनुष्य कर नहीं रहा है, उससे करवाया जा रहा है। उसके कर्म सचेतन और सजग नहीं हैं। वे कर्म न होकर मात्र प्रतिक्रियाएँ होती हैं। मनुष्य प्रेम करता है, क्रोध करता है, उससे वासनाएँ प्रवाहित होती हैं। परन्तु ये सभी उसके कर्म नहीं, अचेतन और यांत्रिक प्रवाह हैं। मनुष्य यह सब करता नहीं है, अपितु उससे होते हैं। इस स्थिति में मनुष्य एक अवसर है, जिसके माध्यम से प्रकृति अपने कार्य करती है। वह तो केवल एक उपकरण मात्र है। उसकी अपनी कोई 'सत्ता' नहीं है। वह सचेतन जीवन नहीं, केवल अचेतन यांत्रिक स्वरूप है। इस यांत्रिकता से ऊपर उठने पर वास्तविक जीवन प्रारम्भ होता है और इस जड़ता से ऊपर उठने का सन्देश यह पारस्करगृह्यसूत्र अपने विभिन्न संस्कारों के माध्यम से देता है।

आशावादी दृष्टिकोण

आशा का आकर्षण ही मनुष्यों को अज्ञात की यात्रा पर ले जाता है। आशा ही उसकी वह प्रेरणा है जो मनुष्य की प्रसुप्त शक्तियों को जगाती है और उसकी निष्क्रिय चेतना को सक्रिय बनाती है। आशा की भावदशा आस्तिकता

है। आशा ही समस्त जीवन के आरोहण का मूल उत्स और प्राण है। यह एक शाश्वत नियम है कि जो ऊपर नहीं उठता, वह नीचे गिर जाता है। जो आगे नहीं बढ़ता वह पीछे ढकेल दिया जाता है। आशा सूर्यमुखी का फूल है, जो सदैव ऊपर सूर्य की ओर देखती है और उसे देखकर खिलती है। गृह्यसूत्र की एक-एक पंक्ति में प्रत्यक्ष, वर्द्धिष्णु, उत्साहपूर्ण आशान्वित जीवनदृष्टि का प्रतिपादन हुआ है। गृह्यसूत्र में जिस किसी कर्म के लिए प्रयुक्त जो भी मन्त्र हैं, उन मन्त्रों के अर्थ पर यदि ध्यान दिया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उन मन्त्रों में सम्पन्नता, श्रेष्ठ सन्तति तथा दीर्घायु के लिए प्रार्थना की गई है। एक ओर शत्रु-पराजय तो दूसरी ओर राष्ट्र की स्थिरता की कामना है। पुत्र-पौत्रों, नौकर-चाकरों और शिष्यों की कामना व्यक्त हुई है। वस्त्रों, वर्त्तनों, सोने और चाँदी की कामना व्यक्त हुई है। सुस्वादु भोजन और मनोरमा पत्नी की चाह स्पष्ट है। पौष्टिक आहार के साथ सुरक्षा, लम्बी जिन्दगी, यश, गौरव, सफलता शक्ति और सौन्दर्य की आकांक्षाएँ अभिव्यक्त हुई हैं। गृह्यसूत्र के प्रत्येक कर्म में चाहे वह मेधाजनन हो या उपनयन, विवाह हो या समावर्त्तन—सभी कर्मों में ये आशावादी दृष्टिकोण स्पष्ट परिलक्षित हैं। इस सन्दर्भ में वी० एम० आप्टे का मूलकथन दर्शनीय है—

If anybody has a suspicion that there was a distate for the pleasures of life (ofcourse, legitimate) or a tendency to retirement from the turmoil of life or absence of ambition–in short 'वैराग्य'–he should to a description (in the Gihya Sutra) of the Kamya ceremonies or rites prescribed with various ends in view e. g. to bring about increase of cattle, horses and elephants, holy lustre, property on earth, riches, averting of accidental death and misfortune, glory, happiness, a hundred cart-load of gold, a large family, a long life, acquisition of villages, non-exhaustion of the means of livelihood, prosperity in trade rulership etc.

—*'Social and Religious Life in the Grihya Sutra by V. M. Apte, page 263.*

पारस्करगृह्यसूत्र का जीवनदर्शन

मनुष्य का जीवन स्वयं एक रहस्य के घेरे में लिपटा हुआ है। सच्चा जीवन वही प्राप्त कर सकता है, जो स्वयं के और सर्व के भीतर परमात्मा का अनुभव कर लेता है। इसके अभाव में मनुष्य केवल शरीर मात्र है; और शरीर जड़ है, जीवन नहीं। स्वयं को जो शरीर मात्र ही जानता है, वह जीवित

होकर भी जीवनकला को नहीं जान पाता। आत्म-अज्ञान दुःख है और आत्मज्ञान हो तो मनुष्य का जीवन आलोकमय बन जाता है और वह दिव्य हो जाता है। आत्मज्ञान के अभाव में उसका पथ अन्धकारपूर्ण हो जाता है और वह पशुओं से भी बदतर होता है। शरीर के अतिरिक्त और शरीर का अतिक्रमण करता हुआ अपने भीतर जो किसी भी सत्य का अनुभव नहीं कर पाता है, उसका जीवन पशु-जीवन के ऊपर नहीं उठ सकता। शरीर रूपी मिट्टी के घेरे के ऊपर उठती हुई जीवन-ज्योति का जब उसे अनुभव होने लगता है, तभी उर्ध्वगमन प्रारम्भ होता है। इसके पूर्व जो प्रकृति परिवर्तित होती थी, वही उसके बाद परमात्मा में परिणत हो जाती है। अन्तस् से ही तो हमारा आचरण बनता है। आचरण में हम उसी को बाँटते हैं, जिसे भीतर पाते हैं। अन्तस् ही अन्ततः आचरण है। जो हमारे भीतर है वही हमारे अन्तः सम्बधों में बाहर परिव्याप्त हो जाता है। प्रत्येक व्यक्ति प्रतिक्षण अपने आपको ही बाहर उलीच रहा है। विचार, वाणी तथा व्यवहार में व्यक्ति स्वयं को बाहर निकालता रहता है। पारस्करगृह्यसूत्र के समस्त अनुष्ठान इसी प्रेरणाप्रद तथ्य के ज्ञापक हैं। डॉ० राजबली पाण्डेय के शब्दों में—"युगों के निरीक्षणजन्य अनुभव के माध्यम से भारतीयों ने यह निष्कर्ष निकाला था कि जीवन भी संसार की अन्य कलाओं के समान ही एक कला है। इसके लिए संस्कार तथा परिष्कार अपेक्षित थे। उत्पन्न तथा अपने आप में सीमित मनुष्य केवल पंचतत्त्वों का एक पिण्ड, असभ्य और पाशविक तथा अपने अन्य सहयोगियों (पशुओं) से नाममात्र के लिए भिन्न था। उसके जीवन के लिए सावधानी, रक्षा तथा विकास की उतनी ही आवश्यकता थी जितनी की उद्यान में एक पौधे के लिए और पशुसंघ में एक पशु के लिए। प्राचीन काल में ऋषियों ने अपने ज्ञान तथा बुद्धि के द्वारा वन्य पशुता को संस्कृत मानवता में परिणत करने का प्रयास किया"।

व्यावहारिकता

सहज स्फुरित स्वभाव रूप व्यवहार के अभाव में जो नैतिक जीवन होता है वह दिव्यता की ओर ले जाने में असमर्थ है, क्योंकि वस्तुतः वह सत्य नहीं है। व्यवहारशून्य वृत्ति का आधार किसी न किसी रूप में भय या प्रलोभन पर आधारित होता है। फिर वह भय या प्रलोभन लौकिक हो या पारलौकिक; वह सौदे में हो सकता है लेकिन सत्य में नहीं। व्यावहारिक जीवन बेशर्त जीवन है, जिसमें पाने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। वह आनन्द और प्रेम से स्फुटित जीवन की सहचर्या है। सच्चे व्यवहार की उपलब्धि व्यावहारिकता में ही सम्भव है, उससे बाहर नहीं। जैसे सूर्य का प्रकाश स्फुटित होता है, उसी तरह हमारे व्यवहार से पवित्रता और पुण्य प्रवाहित होने चाहिए। हमारे जीवन में उत्साह के साथ ही समानान्तर यथार्थपरक

व्यावहारिकता तथा संवेदना की लहर हममें सदैव प्रस्तुत है। मान लिया जाय कि हम कहीं यात्रा करते हैं और दुर्भाग्यवश कोई दुर्घटना होती है, तो ऐसे अवसर के लिए गृह्यसूत्र में अग्निहोत्र का विधान किया गया है। निश्चय ही ये अग्निहोत्र कामनापरक हैं। किसी अप्रिय दुर्घटना की सम्भावना से हम मुकर नहीं सकते, इसलिए उससे बचाव के लिए यथासाध्य सतर्कता बरतने का भी उल्लेख है। इसी तरह मित्रों, शिष्यों और सेवकों को विश्वस्त बनाये रखने के लिए व्यावहारिक प्रक्रिया का उल्लेख मिलता है। किसी के क्रोध की शान्ति के लिए गृह्यसूत्र में जो विधान दिया गया है, उससे हमें यह पता चलता है कि उस युग में भी मित्रों का विश्वासघात और सेवकों की कृतघ्नता अप्रत्याशित या अनपेक्षित नहीं थी। इन्हें अनुकूल बनाने के लिए वे किसी न किसी तरह का अनुष्ठान करते थे। इस सन्दर्भ में गृह्यसूत्र में जितने विधि-विधान दिये गये हैं उनसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि जीवन की सम्भाव्य कठिनाईयों से ये ऋषिगण परिचित थे और इनके निराकरण हेतु वे अधिक उदारवादी या आदर्शवादी न होकर यथार्थपरक दृष्टि रखते थे।

भोगवाद का अभाव

आज का मनुष्य अपनी सात्त्विक प्रफुल्लता का अनुभव नहीं कर पाता, जो कि उसका जन्मसिद्ध अधिकार है। आज उसके प्राण तमस् के भार से बोझिल हैं। मानव का वह विकास जो हो सकता था, उस विकास के अभाव का यह परिणाम है। वह क्या होने की क्षमता लेकर पैदा होता है और क्या होकर समाप्त हो जाता है। जिसकी अन्तरात्मा दिव्यता की ऊँचाईयाँ छूती, उसे पशुता की घाटियों में भटकता देखकर ऐसा लगता है कि जैसे किसी फूलों के पौधे में फूल न लगकर पत्थर लग गये हों और जैसे दीपक से प्रकाश की जगह अन्धकार निकलता हो। लेकिन मनुष्य में शुभ और अशुभ दोनों भाव छिपे हैं। विष और अमृत दोनों ही उसके भीतर हैं। पशु और परमात्मा दोनों का उसके अन्दर वास है। एक ओर उसका भोगवाद है तो दूसरी ओर संयम। गृह्यसूत्र इसी भोगवाद के विपरीत संयमित जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में गहरी अभिरुचि और प्रशंसा का भाव भरता है। सादा जीवन और उच्च विचार गृह्यसूत्र का आदर्श है।

आत्मसंयम, सत्य, आस्था और उदारता का जीवन

प्रज्ञा कैसे उपलब्ध हो? यह गृह्यसूत्र का प्रमुख विचारणीय तथ्य है। मनुष्य का चित्त सतत विषय-प्रवाह से भरा है। कोई न कोई ज्ञेय मानव-ज्ञान को घेरे रहता है। इस ज्ञेय से ज्ञान को मुक्त करना है। आत्मा हमेशा आनन्द ही नहीं अपितु पूर्ण आनन्द चाहती है। जहाँ चाह है वहाँ दुःख है, क्योंकि वहाँ अभाव है। आनन्द मोक्ष है और मुक्ति आनन्द है। व्रत, संस्कार और अनुष्ठान ऐसे ही जीवन का सन्देश देते हैं। ये संस्कार केवल विद्यार्थी जीवन के

लिए ही नहीं हैं, प्रत्युत एक सुसंस्कृत व्यक्ति के रूप में मान्य स्नातक के जीवन को अनुशासित करते हैं। जीवन का प्रत्येक श्वास-प्रश्वास यदि आत्मसंयम से परिपूरित हो तो संसार में रहकर भी वह असांसारिक है। मानव-जीवन के प्रत्येक कार्य को धार्मिक अनुष्ठान का रूप देकर गृह्यसूत्र में अध्यात्मीकरण कर दिया गया है। सत्य और आस्था, आत्मसंयम, उत्सर्ग, उदारता और आध्यात्मिकता को संयम के एक सूत्र में बाँधकर व्यक्ति को व्यक्ति बनाया जाता था 'अश्मा भव' 'परशुर्भव' यह कह कर पत्थर से कठोर और फरसे से तीव्र व्यक्तित्व का निर्माण करना इस युग का, इस गृह्यसूत्र का मूल्यवान् संदेश है। गृह्यसूत्र के सभी संस्कार बौद्धधर्म के दुःखवाद के ठीक विपरीत आनन्दवाद के उत्प्रेरक हैं। वस्तुतः हमारा भीतरी जीवन सत्य और असत्य, विष और अमृत, पशु और मानव के संघर्ष से सन्तप्त है। उदात्त जीवन के लिए प्रशस्त परिवेश की आवश्यकता होती है। ये गृह्यसूत्र उसी जीवन की ओर, आस्था के उसी आयाम की ओर उत्प्रेरित करते हैं तथा संयमित आत्मबल देते हैं, जिससे हमारा मन ऊर्ध्वगामी होता है। जीवन को सत्य और पवित्रता के आयाम, संयम की सुस्थिरता तथा मानव जीवन के उत्कृष्ट रहस्य तक पहुँचाने का परम कल्याणकारी श्रेय इन गृह्यसूत्रों को ही है। निश्चय ही जो ऊर्ध्वगमन का प्रयास नहीं करता है उसका अधःपतन अवश्यम्भावी होता है; ऊपर उठना कठिन है, नीचे उतरना आसान है। आत्मसंयम की प्रबल प्रेरणा देकर ये गृह्यसूत्र हमें ऊर्ध्वगामी बनाते हैं। कठोर आत्मसंयम, पवित्र व्रत, धार्मिक अनुष्ठान तथा अन्य गृह्यकर्म हमें इस वात का संकेत देते हैं कि मनुष्य अन्य प्राणियों से सर्वथा भिन्न है।

सामाजिक जीवन

सूत्रकाल में समाज पितृमूलक था। पिता प्रत्येक घर का नेता तथा पुरस्कर्त्ता था। पुत्र-पुत्री, वधू तथा स्त्री सभी उसी की छत्रच्छाया में समय बिताते थे। उपनयन-संस्कार के वाद गुरु के पास जाकर वेदाध्ययन की प्रथा थी। समाज का प्रत्येक व्यक्ति पुत्र की उत्पत्ति के लिए देवताओं से प्रार्थना करता था। सूत्रकाल में वर्णाश्रम व्यवस्था प्रचलित थी। इस काल में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों की स्थिति वंशानुगत ही मानी गई है। ऋषि सन्तान ही पुरोहित का काम करते थे तथा क्षत्रिय ही राजकाज का निर्वाह करते थे। नाम वंशानुगत हो गया था। वैश्य कृषिकर्म कर वाणिज्य का सम्पादन किया करते थे। सूत्रकाल में वर्णव्यवस्था उन विशिष्टताओं से मण्डित हो चुकी थी, जिसका विस्तार पिछले युग में हुआ।

विवाह-प्रथा

सूत्रयुग का विवाह एक सुव्यवस्थित प्रथा के रूप में ही दृष्टिगोचर

होता है। 'वर्णानुपूर्व्येर्णे' अन्तर्जाति विवाह प्रचलित था। अभ्रातृका कन्या का विवाह बहुशः नहीं होता था, क्योंकि उसका पुत्र अपने पिता की सम्पत्ति का अधिकारी न होकर मातामह की सम्पत्ति का अधिकारी होता था। माता-पिता की इच्छा पर ही कन्या का विवाह निर्भर था। विवाह सर्वथा युवक तथा युवती का हुआ करता था। बाल-विवाह का कहीं भी संकेत नहीं मिलता है।

नारी की महिमा

सूत्रयुग में नारी का गृहस्थी में बड़ा महत्त्व था। दुहिता के रूप में तथा पत्नी या माता के रूप में वह सर्वथा सम्मान भाजन थी। 'जायैवास्तम्' अर्थात् जाया ही घर है तथा 'गृहिणी गृहमुच्यते' की भावना सूत्रयुग में प्रौढ़ता को प्राप्त कर चुकी थी। स्त्री सहधर्मिणी थीं, उसी के संग में धार्मिक कृत्यों का अनुष्ठान सम्पन्न होता था। सूत्रकालीन ऋषि पत्नी के गुणों, पतिप्रेम तथा दैनिक परिचर्या के गीत गाते कभी नहीं थकते थे। स्त्री का प्रेम अपने पति के लिए आदर्श था। वह समरसता की प्रतिमूर्ति मानी जाती थी। समस्त गृह्यकर्म की वह स्वामिनी थी। वह गृहलक्ष्मी थी जिसकी सम्मति महनीय अवसरों पर सदा ली जाती थी। कन्याओं को सुयोग्य वधू के रूप में परिणत करने के लिए उदार शिक्षा का प्रवन्ध था। सूत्रकालीन नारियों में नैतिकता पूर्णरूपेण विद्यमान थी। शोभनीय आचरण तथा सदाचार के लिए सूत्रकालीन नारी सर्वत्र प्रसिद्ध थी। बाल-विवाह का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। सोलह साल की उम्र प्राप्त करने पर ही कन्याएँ विवाह योग्य होती थीं। पत्नी रहित व्यक्ति यज्ञ का अधिकारी नहीं होता था। उस समय अमर्यादित आचरण करने वाला कोई पुरुष नहीं था।

निष्कर्ष यह कि नारी के उदात्त चरित्र, नैतिक आदर्श, शिक्षण-योग्यता और सामाजिक सहयोग की दृष्टि से सूत्रयुग अपने पूर्ववर्त्ती संहिता युग से विशेष दूर नहीं था। पूर्ववर्त्ती युगों का आदर्श नारी-जीवन में उसी प्रकार काम्य तथा कमनीय था। सूत्र-साहित्य में नारी अपनी प्रौढ़ता, तत्त्वचिन्ता, वावदूकता तथा उदात्त चरित्र के लिए भारतीय समाज के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगी।

भोजन

सूत्रकालीन भारतीयों का भोजन सीधा-सादा, स्वास्थ्यवर्धक तथा सात्त्विक होता था। जिसमें दूध और घी की प्रचुरता होती थी। पारस्करगृह्यसूत्र के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि भारतीयों का सबसे प्राचीन भोजन जौ की रोटी और भात था। इसका उल्लेख अनेक स्थानों पर उपलब्ध होता है। आज भी हम तर्पण या धार्मिक कृत्य आदि जो भी करते हैं, उसके साथ जौ तथा धान का प्रयोग यही सिद्ध करता है। आर्यों के आदिम भोज्य पदार्थ होने के

कारण ही इनमें हमारी पुण्य भावना अक्षुण्ण बनी हुई है। भात के भी अनेक प्रकार थे। दूध के साथ पका हुआ चावल अत्यन्त स्वादिष्ट भोजन माना जाता था तथा समय-समय पर यज्ञों में विशिष्ट देवताओं को अर्पित किया जाता था। आजकल की खीर इसी सूत्रकालीन 'क्षीरोदन' की प्रतिनिधि है। मूंग की खिचड़ी वैदिक आर्यों को भी हितकर और रुचिकर प्रतीत होती थी। सूत्रकाल में दूध, घी और दही की प्रचुरता थी। हर घर में गायें पाली जाती थीं। अग्निहोत्र के लिए प्रत्येक ऋषि के दरवाजे पर गायें होती थीं। उस समय दूध को सोमरस में मिलाकर पीने का प्रचलन था।

मांस-भोजन

सूत्रकालीन आर्य कतिपय जानवरों के मांस को पकाकर खाते थे। यह प्रथा वैदिक काल से ही संचरित थी। छाग, भेड़ तथा अनेक तरह के पक्षियों को मार कर आर्यगण उनके मांस खाते थे। इस गृह्यसूत्र में गोमांस को भी नहीं छोड़ा गया है। फल, दूध और अन्न के साथ मांस भी उनके प्रमुख आहार थे।

यातायात के साधन

उस युग में यातायात का प्रधान साधन रथ था। इस युग में संचरण, क्रीड़ा तथा युद्ध के लिए इसे ही नियुक्त किया जाता था। इस युग में लोगों को रथ की निर्माण-विधि का उत्तम ज्ञान था। दोनों पहियों को जोड़नेवाला डण्डा 'अरलु' नामक लकड़ी का बनता था। रथ तथा जुए को जोड़ने वाला डण्डा भी लकड़ी का बनता था, जिसे 'इषादण्ड' कहा जाता था। यह यदि यात्रा काल में टूट जाता था तो अशुभ माना जाता था। उसके लिए भी शान्तिविधान था। इसके अतिरिक्त दो तरह की अन्य गाड़ियों का प्रयोग किया जाता था, जिसमें एक भारवाही तथा दूसरा मनुष्यवाही हुआ करती थी। इस युग में जलयान का भी उल्लेख मिलता है।

आर्थिक जीवन

सूत्रकालीन आर्य उस अवस्था को पार कर चुके थे, जिसमें मनुष्य अपनी भूख मिटाने के लिए मात्र फल-मूल पर निर्भर रहा करता था अथवा पशुओं का शिकार करता था। सूत्रकालीन लोग एक सुव्यवस्थित समाज में सुसंगठित हो गये थे। खानाबदोश की जिन्दगी मिट गयी थी। उनकी जीविका का प्रधान साधन खेती और पशुपालन था। खेत दो तरह के होते थे—उपजाऊ तथा परती। खेतों के स्वामित्व के विषय में कोई विशेष चर्चा नहीं है। खेत को हलों से जोतकर उस समय भी बीज बोने योग्य बनाया जाता था। उस युग में हल

का सामान्य नाम 'लाँगल' या 'सीर' था। जिसके अगले नुकीले भाग को 'फाल' या 'फार' कहते थे। उस समय खेत उपजाऊ होते थे।

बोने का समय

अनाज बोने की विभिन्न ऋतुओं का विशिष्ट वर्णन पारस्करगृह्यसूत्र में में किया गया है। इसको देखने से बीज बोने का समय आजकल के समान ही जान पड़ता है। जौ हेमन्त में बोया जाता था और ग्रीष्म काल में पकता था। फसल साल में दो बार बोई जाती थी। बोते समय और फसल कटते समय ब्राह्मण-भोजन की व्यवस्था थी।

ब्राह्मण-भोजन

पारस्कर ने प्रत्येक कर्म के आरम्भ तथा अन्त में ब्राह्मण-भोजन का विधान किया है। सम्पूर्ण गृह्यसूत्र में गिने-चुने कुछ ही ऐसे कर्म हैं, जिनमें ब्राह्मण भोजन का विधान नहीं है। प्रायः प्रत्येक कण्डिका के अन्त में 'ततः ब्राह्मण-भोजनम्' कहा गया है। स्वभावत इन्हें देखकर, पढ़कर जनसामान्य के मन में ब्राह्मणों के प्रति अतिरिक्त पक्षपात का आभास मिलता है। इस सन्दर्भ में वी० एम० आप्टे ने कहा है—'A point of interest is that the feasting of learned brahmans calling forth their blessings (ब्राह्मणभोजनम्) is universally laid down as the concluding feature of every sacrament.'

—*Social and Religious Life in the Grihya Sutras. page 8.*

बात ऐसी कुछ नहीं है। वैदिकोत्तर साहित्य में ब्राह्मणों की महत्ता-सूचक अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं। ग्रन्थ-विस्तार के भय से यहाँ उनका उल्लेख करना उचित नहीं। इस सन्दर्भ में अधिक कुछ कहने की अपेक्षा यहाँ महामहोपाध्याय 'काणे' का विचार उद्धृत करना उचित जान पड़ता है—"ऐसी बात नहीं है कि ब्राह्मणों ने जानबूझ कर अपनी महत्ता बढ़ाने के लिए तथा अन्य वर्णों से श्रेष्ठ होने के लिए धर्मशास्त्रों एवं अन्य साहित्यिक ग्रन्थों में अपनी स्तुतियाँ कर डाली हैं। क्योंकि जब तक उन्हें अन्य वर्गों द्वारा सम्मान न प्राप्त होता और वह शताब्दियों तक अक्षुण्ण न बना होता तब तक उन्हें इतनी महत्ता नहीं प्राप्त हो सकती थी। ब्राह्मणों को सैनिक बल नहीं प्राप्त था कि वे जो चाहते करते या कराते। यह तो उनकी जीवनचर्या ही थी, जो उन्हें इतनी महत्ता प्रदान कर सकी। ब्राह्मण ही आर्य साहित्य के विशाल समुद्र को भरने वाले एवं अक्षुण्ण रखने वाले थे। युगों से जो संस्कृति प्रवाहित होती रही, उसके संरक्षक ब्राह्मण ही तो थे। यह मानी हुई बात है कि सभी ब्राह्मण एक-से नहीं थे, किन्तु अधिकांश ऐसे थे जिन पर आर्य जाति की सम्पूर्ण संस्कृति की भार रखा जा सका और उन्होंने उसका विकास, संरक्षण एवं संवर्धन करने में अपनी

ओर से कुछ भी कसर नहीं उठा रखी। इसी से आर्य-जाति ब्राह्मणों के समक्ष सदैव नतमस्तक रही है।" इससे स्पष्ट है ब्राह्मणों ने त्याग और तपस्या के माध्यम से समाज के एक सुव्यवस्थित स्वरूप का निर्माण किया। साहित्य और संस्कृति के लिए अपने आपको समर्पित किया। उसकी इन विशिष्टताओं ने ही उसे महत्ता दी। उसके जीवन-यापन के कोई आधार नहीं थे। वह वेद पढ़ता एवं पढ़ाता था; पौरोहित्य कर्म करता था; निष्कलंक और पवित्र व्यक्ति से दान भी ग्रहण करता था; यही उसकी जीविका का साधन था। जो कुछ भी उसे सामान्य रूप से प्राप्त होता था, उससे ही अपना योग-क्षेम वहन करता था और अपनी सम्पूर्ण शक्ति साहित्य और संस्कृति की रचना में लगा देता था, यही ब्राह्मण की विशिष्टता थी। महापोध्याय काणे के ही शब्दों में—"शिक्षण कार्य से बहुत थोड़े धन की उपलब्धि हो सकती थी। आज की भाँति प्राचीन काल में राजकीय विद्यालय नहीं थे, जहाँ पर वेतन सम्बन्धी स्थिरता प्राप्त होती। उस समय 'कापीराईट' का विधान भी नहीं था, जिससे अध्यापकगण पाठ्यक्रम की पुस्तकों से धन कमा सकते। ब्राह्मणों का कोई संघ भी नहीं था जैसा कि 'ऐंग्लीकन' चर्च में पाया जाता है और जहाँ आर्कविशप एवं अन्य पवित्र पुरुषों का क्रम पाया जाता है। प्राचीन भारत में इच्छा पत्र (विल) की भी व्यवस्था नहीं थी कि जिससे बहुत से धनिकों की सम्पत्ति प्राप्त होती। पौरोहित्य के कार्य से कुछ विशेष मिलने की गुंजाइश नहीं थी। श्राद्ध के समय अधिक ब्राह्मणों को निमन्त्रित करने का विधान भी नहीं था।"

उक्त तथ्यों के आधार पर हम यह दृढ़ता से कह सकते हैं कि ब्राह्मणों के भरण-पोषण का कोई उपयुक्त साधन उपलब्ध नहीं था। उनका सम्पूर्ण श्रम समाज के मानसिक स्तर को ऊपर उठाने में लगा था, साथ ही अनुत्पादक था। ऐसी परिस्थिति में यदि वह ब्राह्मण-भोजन के माध्यम से ही योग-क्षेम वहन कर पाता था तो कोई अत्युक्ति नहीं थी।

अपनी बात

पारस्करगृह्यसूत्र जैसे महत्त्वपूर्ण और विशिष्ट ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद करना एक दुरूह और कठिन कार्य है, फिर भी प्राञ्जल और स्फीत हिन्दी में इस गृह्यसूत्र की व्याख्या लिखने का मैंने दुस्साहस किया है। सूत्रार्थ के विषय में प्राचीन काल से अति मतभेद रहा है। सूत्र-संकलन की दृष्टि से भी हर जगह पाठभेद दिखलायी पड़ता है, ऐसी स्थिति में पण्डित मुकुलमणि मिश्र द्वारा संकलित पारस्करगृह्यसूत्र का सूत्रपाठ लिया है। कुछ विवादास्पद स्थल पर स्वविवेक से काम लिया है। किन्तु ऐसे स्थलों पर मल्लिनाथ की यह प्रतिज्ञा मेरी आँखों के सामने नाचती रही है—'इहान्वयमुखेनैव सर्वं व्याख्यायते मया। नामूलं लिख्यते किञ्चित् नानपेक्षितमुच्यते'॥ अतः मैंने सर्वत्र सावधानी बरतने की चेष्टा की है। किन्तु शीघ्रता, प्रमाद, अज्ञान या वार्धक्य दोष के कारण

यदि कुछ त्रुटियाँ रह गयी हों तो तत्त्वाभिनिविष्ट विद्वानों की सम्मति का समादर करूँगा। मैंने व्याख्या लिखते समय अनेक तरह के संस्करणों का समाहरण किया है। काफी सोच-समझ कर उचित पाठ और उसका विवरण प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। अनेक ग्रन्थकारों के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों से मैंने सहायता ली है। ज्ञात-अज्ञात कुछ ऐसे लेखकों का मैं आभार प्रकट करता हूँ, जिनकी ज्ञानगरिमा से लाभान्वित और अनुप्रेरित होकर मैंने इस व्याख्या कार्य का सम्पादन किया है। यह उत्तर भारत का अत्यन्त लोकप्रिय गृह्यसूत्र है। इसके निर्देश पर प्रायः इस क्षेत्र का पौरोहित्य कर्म निर्भर करता है।

संस्कार और अन्य गृह्यकर्मों को समझाने तथा भूमिका भाग के प्रणयन में पद्मभूषण आचार्य वलदेव उपाध्याय रचित 'वैदिक साहित्य और संस्कृति'; डॉ० रामगोपाल रचित 'इण्डिया ऑफ वैदिक कल्पसूत्र'; म० म० काणे रचित 'हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र'; डॉ० राजवली पाण्डेय कृत 'हिन्दू संस्कार'; वी० एम० आण्टे कृत 'सोसल एण्ड रिलिजस लाइफ ऑफ द गृह्यसूत्र' तथा डॉ० ओमप्रकाश पाण्डेय कृत पारस्करगृह्यसूत्रम् नामक ग्रन्थों से मैंने भरपूर सहायता ली है। इन महान् मनीषियों के प्रति मैं अपनी हार्दिक श्रद्धा समर्पित करता हूँ। प्रस्तुत व्याख्या में गुजराती प्रिंटिग प्रेस, उत्कल प्रिंटिग प्रेस तथा वाराणसी संस्कृत सिरीज एवम् दिल्ली के संस्करण तथा वाराणसी से पूर्व प्रकाशित अन्य संस्करणों का मैंने उपयोग किया है। इस पाण्डुलिपि की तैयारी में एस० के० कॉलेज, लोहण्डा, सिकन्दरा के व्याख्याता अनुसंधित्सु अपने प्रिय शिष्य श्री विजयराघव मिश्र का योगदान मैं नहीं भूल सकता। ये अपने शोधप्रबन्ध की तैयारी के क्रम में मुझसे मिलते रहे हैं और मैंने इनका शोधकार्य बीच में ही रोककर पाण्डुलिपि तैयार करने के क्रम में इन्हें जोत दिया। मैं 'डिक्टेशन' देता रहा और ये उसे लिपिबद्ध करते रहे। केवल इन्हें नहीं यथावसर अंग्रेजी प्रतिष्ठा के छात्र अपने कनिष्ठ पुत्र भवेशकुमार मिश्र और पौत्री शुभांशुबाला को भी इस कार्य में लगाता रहा हूँ। मैं इन सभी को हृदय से आशीर्वाद देता हूँ, जिन्होंने पाण्डुलिपि तैयार करने में मुझे सहयोग दिया है। साथ ही मेघोल विद्यालय के प्रधानाध्यापक अपने संबंधी श्री वीरेन्द्र ठाकुर को भी मैं नहीं भूल सकता, जिनकी अनवरत प्रेरणा और प्रोत्साहन से इस दुरूह कार्य को सम्पादित कर सका। इनके अतिरिक्त ज्ञात-अज्ञात जिन लेखकों की कृति का मैंने सहारा लिया है तथा जिन मित्रों का प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सहयोग मिला है, उन सभी के प्रति मैं निष्ठापूर्वक आभार प्रकट करता हूँ।

इस सन्दर्भ में चौखम्बा सुरभारती, वाराणसी के प्रकाशक बन्धुओं को भी मैं धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता। मेरी सभी रचनाओं को आकर्षक ढंग से यथावसर उन्होंनें प्रकाशित करने की चेष्टा की है। सुरभारती प्रकाशन

के प्रकाशक बन्धुओं ने संस्कृत साहित्य के ग्रन्थ-रत्नों के समुद्धरण का व्रत ले रखा है। भारत के अनेक विद्वान् इस संस्थान की समुन्नति के लिए अहर्निश प्रयत्नशील हैं। राम की सेवा में गिलहरी के योगदान की तरह मेरा यह योगदान भी उस महान प्रयत्न की एक कड़ी है। भौतिकता की समृद्धि में आकण्ठ डूबी आँखों को भारतीय संस्कृति के प्रति उदासीन दृष्टि को अनुकूल बनाने में यदि यह रचना कुछ सहयोगी हो सकी, तो मैं अपना श्रम सफल समझूंगा।

सरस्वतीसदन
प्रोफेसर्स कोलनी, बेगूसराय
दि० १'९-५-९१ ई०

विदुषामनुचर
जगदीशचन्द्र मिश्र

सम्पादकीय

चारों वेद भारतीय वाङ्मय की अमूल्यनिधि हैं। ये अपने सुप्रसिद्ध निम्नलिखित छः अंगों द्वारा पूर्ण होते हैं—१. शिक्षा, २. कल्प, ३. व्याकरण, ४. निरुक्त, ५. छन्द और ६. ज्योतिष। ध्यान रहे शरीरधारी के लिए जिस प्रकार उसके सभी अंग महत्त्वपूर्ण होते हैं, ठीक वही स्थिति वेदों की समृद्धि के लिए तथा उनके सम्यक् ज्ञान के लिए उनके उक्त अंगों की भी होती है, समस्त गृह्यसूत्रों का अन्तर्भाव द्वितीय वेदांग 'कल्प' में हो जाता है। वेदविहित कर्मों की यथाविधि कल्पना ही 'कल्प' का विषय है, इसी को 'कल्पसूत्र' भी कहते हैं। इसके दो भेद हैं—१. श्रौतसूत्र तथा २. स्मार्तसूत्र। श्रौतसूत्रों का विषय है, वेदोक्त यज्ञों की विधि का प्रकाशन और स्मार्तसूत्र धर्मशास्त्र का सांकेतिक निर्देशन करते हैं।

चारों वेदों के कल्पसूत्रों में गृह्यसूत्रों का द्वितीय 'स्थान' सुरक्षित है। इनका विस्तृत विवेचन विद्वान् टीकाकार डॉ० जगदीशचन्द्र मिश्र की भूमिका में देखें। श्रौत्रसूत्रों में दर्श-पौर्णमास आदि यागों की प्राथमिकता मिलती है और गृह्यसूत्रों में गर्भाधान से लेकर श्राद्ध तक के विषय वर्णित हैं।

पारस्करगृह्यसूत्र—यह शुक्लयजुर्वेद का प्रमुख गृह्यसूत्र है। इसे वाजसनेयगृह्यसूत्र तथा कातीयगृह्यसूत्र भी कहते हैं। इसमें शुक्लयजुर्वेद की माध्यन्दिनशाखा से अधिकांश मन्त्र उद्धृत किये गये हैं। यह सम्पूर्ण ग्रन्थ तीन काण्डों में विभक्त है। यह गृह्यसूत्र माध्यदिनशाखीयों के धार्मिक कृत्यों का नियामक सूत्रग्रन्थ है। यद्यपि इस ग्रन्थ पर प्राचीन आचार्यों के अनेक भाष्य उपलब्ध होते हैं, प्रस्तुत ग्रन्थ की श्रीवृद्धि करने के लिए उनमें से सुप्रसिद्ध एवं प्राचीन 'हरिहर' तथा 'गदाधर के' भाष्य दिये गये हैं। विषय को स्पष्ट करने की सदिच्छा से 'विमला' हिन्दी व्याख्या भी दे दी गयी है। व्याख्याकार के महनीय प्रयास से ऋषि, छन्द, देवता के साथ ही साथ सम्पूर्ण मन्त्रों का सन्निवेश भी इसमें यथास्थान कर दिया है। पारस्कराचार्य ने इस गृह्यसूत्र में विवाह से अन्त्येष्टि पर्यन्त तेरह संस्कारों का वर्णन किया।

पारस्करगृह्यसूत्र का यह सुपरिष्कृत एवं परिमार्जित संस्करण विद्वानों, धर्मशास्त्रियों, कर्मकाण्डियों एवं संस्कारों के रहस्यों को जानने के इच्छुक सामाजिकों के करकमलों में समर्पित करते हुए हमें अपार हर्ष हो रहा है, कि हिन्दी व्याख्या से युक्त इस प्रकार का सर्वांगपूर्ण एवं शुद्ध संस्करण अन्यत्र अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है, एतदर्थ चौखम्भा सुरभारती परिवार साधुवाद का पात्र है।

डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी

पारस्करगृह्यसूत्र के कुछ पारिभाषिक शब्द एवं उनकी व्याख्या

आवसथ्याधानम्—आवसथ + ष्य = आवसथ्य—घर में विद्यमान अग्निहोत्र की पवित्र अग्नि, यज्ञ में प्रयुक्त होनेवाली पञ्चाग्नियों में से एक। उस अग्नि का आधान अर्थात् (आ+धा+ल्युट्) स्थापित करना। इस शब्द का तात्पर्य घर की उस औपासनाग्नि से है जिसे श्रोत्रिय ब्राह्मण अपने होमकुण्ड में सतत प्रज्वलित रखते हैं।

उपयमनकुश—उपयमन (उप+यम्+ल्युट्)—उपयमनकुश का तात्पर्य उस कुश से है जो वैवाहिक यज्ञाग्नि में प्रयोग में लाये जाते हैं। मूलतः सात कुशों को एक साथ मिलाकर इसका प्रयोग किया जाता है। यह एक यज्ञ निष्पन्न कुश होता है।

प्रणीतापात्र—प्रणीता (प्र+नी+क्त+टाप्)—यह याज्ञिक अनुष्ठानों में प्रयुक्त होनेवाले पवित्र जल रखने के पात्र को कहा जाता है।

प्रोक्षणी—यज्ञ में प्रयुक्त होने वाले पुण्य जल छिड़कने या अभिमंत्रण के लिए प्रयुक्त पात्र विशेष का नाम। कभी-कभी यह शब्द 'पवित्र जल से पूरित कलश' के लिए भी प्रयुक्त होता है। इसे प्रोक्षणी पात्र भी कहा जाता है।

स्रुवा—स्रु+क+स्त्रियां टाप्—यज्ञ में आहुति देने के लिए काष्ठ निर्मित हस्ताकार चम्मच। किसी भी याज्ञिक अनुष्ठान में होम कर्म में इसकी नितान्त आवश्यकता होती है।

स्थालीपाक—स्थाली शब्द का अर्थ है—पकाने का बर्तन या मिट्टी की हाँड़ी और सामाजिक स्थालीपाक शब्द का अर्थ है—एक धार्मिक कृत्य, जिसका अनुष्ठान प्रत्येक हिन्दू के घर में होता है। इसका सन्दर्भगत अर्थ है—आज्याधिश्रयण, पुरोडाश निर्माण धाना तथा सत्तू प्रभृति।

नित्यहोम—सूर्योदय के पहले और सूर्यास्त के बाद प्रति दिन घर में जो नैष्ठिक ब्राह्मण दही, अरवा चावल या अक्षत से होम करते हैं, वह नित्यहोम कहलाता है।

नैमित्तिक होम—किसी कार्य विशेष से सेनाग्नि या आवसथ्याग्नि में जो होम किया जाता है, उसे ही नैमित्तिक होम कहते हैं।

कुशण्डिका—२५ अंगुलि का मण्डल बनाकर वहाँ की धूलि झाड़कर, गोबर और पानी से उस स्थान को लीपकर, स्रुवमूल से या किसी काठ के टुकड़े से तीन रेखाएँ खींचकर, उन रेखाओं से उठी धूलि को उठा ले। फिर उस स्थान

पर पानी छिट कर, कांसे या ताम्बे के बरतन में आग लेकर वेदी के बीच में अग्निस्थापना करे। वेदी से दाहिने ब्रह्मा के लिए कुशासन बिछा दे। फिर प्रणीता पात्र में पवित्र जल भर दे। उसे स्थापित कर पवित्र अग्नि के चारों ओर कुश फैला दे। इसके बाद पवित्र नामक कुशों को दो खण्डों में विभक्त कर अर्थात् तीन पवित्र कुशों से दो तरुण कुशों पर आगे से एक बित्ता छोड़कर उसके टुकड़ों को प्रोक्षणी पात्र के जल से सींचकर प्रोक्षणी पात्र का संस्कार कर, अनुष्ठानोपयोगी वस्तुओं को जल से सींचकर, आज्यस्थाली में घी डाल-कर उसे प्रज्वलित आग पर रखकर, उसके चारों ओर जलती हुई लकड़ी को घुमाकर, घी पिघलाने के बाद कुशों को फैला दे। यही याज्ञिक विधि कुशण्डिका है।

विषयानुक्रमणिका

प्रथमकाण्डम्

द्वितीयकाण्डम्

तृतीयकाण्डम्

परिशिष्टानि

॥ श्रीः ॥

पारस्करगृह्यसूत्रम्

'हरिहर'-'गदाधर'-भाष्यद्वयोपेतं 'विमला'-हिन्दीव्याख्यासहितञ्च

प्रथमकाण्डम्

प्रथमा कण्डिका

अथातो गृह्यस्थालीपाकानां कर्म ॥ १।१।१ ॥

* हरिहरभाष्यम् *

इष्टापूर्तक्रियासिद्धिहेतुं यज्ञभुजां मुखम् ।
अग्निं त्रयीवचःसारं वन्दे वागधिदैवतम् ॥ १ ॥
पारस्करकृते गृह्यसूत्रे व्याख्यानपूर्विकाम् ।
प्रयोगपद्धतिं कुर्वे वासुदेवादिसम्मताम् ॥ २ ॥

'अथातो गृह्यस्थालीपाकानां कर्म' अथ श्रौतकर्मविधानानन्तरम्, यतः श्रौतानि कर्माणि विहितानि स्मार्तानि तु विधेयानि अतो हेतोर्गृह्ये आवसथ्येऽग्नौ ये स्थालीपाकाः गृह्यस्थालीपाकाः तेषां गृह्यस्थालीपाकानां कर्म क्रियाऽनुष्ठानमिति यावत् । वक्ष्यत इति सूत्रशेषः ॥ १।१।१ ॥

* गदाधरभाष्यम् *

आविर्भूतश्चतुर्द्धा यः कपिभिः परिवारितः ।
हतवान् राक्षसानीकं रामं दाशरथिं भजे ॥ १ ॥
स्वाभिप्रायेण हि मया न कश्चिदिह लिख्यते ।
किन्तु वाचनिकं सर्वमतो ग्राह्यश्च निर्भयैः ॥ २ ॥

अथातोऽधिकार इत्यादिना श्रौतानि कर्माण्युक्तानि तदनन्तरं स्मार्तानि विधीयन्ते । तत्रैतत्प्रथमं सूत्रम्—'अथातो गृह्यस्थालीपाकानाङ्कर्म' उच्यत इति सूत्रशेषः । श्रौतानन्तर्यप्रज्ञप्त्यर्थोऽयमथशब्दः । आनन्तर्यप्रज्ञापनन्तु अथातोऽधिकार इत्यादि यत्साधारणन्तस्य प्रवृत्त्यर्थम् । श्रौतानामुपनिबन्धनम्पूर्वमिति प्रोच्येत्य गृह्यानुपतिष्ठते पूर्वंवदि-

त्येतत्सूत्रप्रवृत्त्या ज्ञायते। अत इति हेतुः। यतः श्रौतान्युक्तानि स्मार्तान्येवावशिष्यन्तेऽतस्तान्युच्यन्ते। ननु पूर्वं गर्भाधानादीनामनुष्ठानात्पूर्वमनुष्ठानक्रमेण स्मार्तान्येव वक्तव्यानीति चेत् मैवम्। श्रौतेषु हि प्रत्यक्षपठिताः श्रुतयः स्मार्तेषु च पुनः कर्तृसामान्यादनुमेयाः श्रुतयः। स्मार्तानामपि हि वेदमूलत्वमुक्तं भट्टैः। तस्मात्प्रत्यक्षश्रुतित्वाच्छ्रौतानामेव पूर्वमभिधानम्। स्मरणादेव स्मृतीनां प्रामाण्यमिति कर्कोपाध्यायैरुपन्यस्तम्। गृह्यः शालाग्निः तत्र ये स्थालीपाकास्ते गृह्यस्थालीपाकाः तेषां गृह्यस्थालीपाकानां कर्म क्रियेति। स्थालीपाकशब्द आज्यपुरोडाशाद्युपलक्षणार्थः। कथं ज्ञायते, येन स्थालीपाकमुपक्रम्याज्यमुपसंहरति निरूप्याज्यमित्यादि। एवमाज्यग्रहणमपि चर्वाद्युपलक्षणार्थं यतः सर्वसाधारणमेवेदं कर्म नह्यस्य कर्मणः कुतश्चित्प्रकृतेः कस्याश्चिद्विकृतावतिदेशोऽस्ति। यत्प्रधानविधिरङ्गविध्यन्वितः पठ्यते सा प्रकृतिः। यथा दर्शपूर्णमासौ। यत्प्रधानविधिरङ्गविधिरहितः पठ्यते सा विकृतिः। यथा सौर्यः। न च दर्शपूर्णमासविधौ प्रयाजविधेरिव एतत्कर्मविधेः कस्मिंश्चित्प्रधानविधौ शेषभावोऽस्ति यतः सर्वाण्येव कर्माणि प्रकृत्य धर्मविधानम्॥ १।१।१॥

* विमला *

सिद्धिः संस्कार-संयुक्तामिष्टापूर्त्तक्रियान्विताम्।
शब्दब्रह्मस्वरूपाञ्च वन्दे वागधिदेवताम्॥ १॥
नत्वा श्रीजगदीशञ्च जगदीशेन धीमता।
पारस्करोक्तसूत्राणां व्याख्येयं तन्यते मुदा॥ २॥

अनुवाद—वेदविहित कर्मों का विधान श्रौतसूत्र में हो चुका है, इसके बाद अब क्रमप्राप्त स्मृति पर आधारित अथवा धर्मशास्त्रविहित कर्मों का विधान करना चाहिए। अतः अग्निहोत्र की आग में पकाये गये एक धार्मिक कृत्य, जिसका अनुष्ठान गृहस्थ करते हैं—इस प्रकार किये जाने वाले कर्मों का निरूपण करते हैं।

व्याख्या—अथातो—अथ शब्द मंगलसूचक है, किसी रचना के प्रारम्भ में इसका प्रयोग होता है, जिसका अर्थ 'इसके बाद' 'अब' यहाँ होता है। संस्कृत भाषा में यह शब्द बड़ा ही पवित्र माना जाता है, क्योंकि यह शब्द सर्वप्रथम ब्रह्मा के कण्ठ से निःसृत माना जाता है—'ओङ्कारश्चाथ शब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा। कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तेन माङ्गलिकावुभौ'॥ इसका शांकरभाष्य भी द्रष्टव्य है—'अर्थान्तरप्रयुक्तम् अथशब्दं श्रुत्या मङ्गलमाचरति'—शाङ्खा० गृ० सू० (१।१), आश्व० गृ० सू० (१।१।१) से इसकी तुलना की जा सकती है।

पाश्चात्य विद्वानों ने पारस्करगृह्यसूत्र के जर्मन अनुवाद में स्टेञ्जलर ने 'अथातः' का अर्थ 'Nanalso' लिखा है। किन्तु उनके इस अर्थ से ओल्डेनवर्ग सहमत नहीं हैं। उनकी दृष्टि में आगे के किसी सन्दर्भ की सूचना 'अतः' शब्द से नहीं मिलती है। अतः श्रौतसूत्रों का प्रारंभ 'अथातोऽधिकारः' से ही होता है, जो स्वतः कल्पसूत्र साहित्य का प्रथम खण्ड ही माना जाता है। किन्तु ओल्डेनवर्ग का यह विचार

भारतीय प्राचीन कर्कादि भाष्यकारों के विचार से सामञ्जस्य स्थापित नहीं कर पाता है। अतः यह मत उचित प्रतीत नहीं होता।

गृह्य—यहाँ गृह्य से उस गृह्याग्नि का तात्पर्य है, जिसे अग्निहोत्र की आग कहते हैं, जिसको स्थापित किये रखना प्रत्येक ब्राह्मण का विहित कर्म है। ग्रह् धातु से क्यप् प्रत्यय लगने पर गृह्य शब्द का निर्माण हुआ है। यहाँ गृह्याग्नि से तीन प्रकार की आग का बोध होता है—आवसथ्याग्नि, शालाग्नि एवं औपासनाग्नि।

स्थालीपाकः—स्थाली शब्द का अर्थ है—पकाने का बर्त्तन अर्थात् मिट्टी की हाँडी; सामासिक स्थालीपाक शब्द का अर्थ है—एक धार्मिक कृत्य, जिसका अनुष्ठान प्रत्येक हिन्दू के घर में होता है। इसका संदर्भगत अर्थ है—आज्याधिश्रयण, पुरोडाश-निर्माण, धाना तथा सत्तू प्रभृति।

परिसमुह्योपलिप्योल्लिख्योद्धृत्याभ्युक्ष्याऽग्निमुपसमाधाय, दक्षिणतो ब्रह्मासनमास्तीर्य प्रणीय परिस्तीर्यार्थवदासाद्य, पवित्रे कृत्वा प्रोक्षणीः संस्कृत्यार्थवत् प्रोक्ष्य निरुपाज्यमधिश्रित्य पर्यग्नि कुर्यात् ॥ १।१।२ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—तत्रादावाधानादिसर्वकर्मणां साधारणो विधिः प्रथमकण्डिकयोच्यते। तत्र गृह्येष्वावसथ्याधानादिषु सर्वकर्मसु यजमान एव कर्ता नान्य ऋत्विक् तस्यानुक्तत्वात्। अथ यजमानः सुस्नातः सुप्रक्षालितपाणिपादः स्वाचान्तः कर्मस्थानमागत्य वारणादियज्ञियवृक्षोद्भवासने प्रागग्रानुदगग्रान्वा त्रीन्कुशान्दत्त्वा प्राङ्मुख उपविश्य वाग्यतः शुद्धायां भूमौ सप्तविंशत्यङ्गुलं मण्डलं परिलिख्य तत्र। 'परिसमुह्य' त्रिभिर्दर्भैः पांसूनपसार्य 'उपलिप्य' गोमयोदकेन त्रिः। 'उल्लिख्य' त्रिः खादिरेण हस्तमात्रेण खड्गाकृतिना स्फ्येन प्रागग्रा उदक्संस्थाः स्थण्डिलपरिमाणमस्तिस्रो रेखाः कृत्वा। 'उद्धृत्य' अनामिकाङ्गुष्ठाभ्यां यथोल्लिखिताभ्यो लेखाभ्यः पांसूनुद्धृत्य। 'अभ्युक्ष्य' मणिकाद्भिरभ्युक्ष्याभिषिच्य। 'अग्निमुपसमाधाय' कर्मसाधनभूतं लौकिकं स्मार्तं श्रौतं वाऽग्निम् आत्माभिमुखं स्थापयित्वा। 'दक्षिणतो ब्रह्मासनमास्तीर्य' तस्याग्नेर्दक्षिणस्यां दिशि ब्रह्मणे आसनं वारणादियज्ञियदारुनिर्मितं पीठमास्तीर्य कुशैः स्तीर्त्वा तत्र वारणाभरणाभ्यां पूर्वसम्पादितं कर्मसु तत्त्वज्ञं ब्रह्माणं तदभावे पञ्चाशत्कुशनिर्मितम् अग्नेरुत्तरतः प्राङ्मुखमासीनं स्वयमुदङ्मुख आसीनोऽनुलेपनपुष्पमाल्यवस्त्रालङ्कारादिभिः सम्पूज्य अमुककर्महिं करिष्ये तत्र मे त्वममुकगोत्रामुकप्रवरामुकशर्मन् ब्राह्मण त्वं ब्रह्मा भवेति वृत्वा भवामीत्युक्तवन्तमुपवेश्य। 'प्रणीय' अप इति शेषः। तद्यथा अग्नेरुत्तरतः प्रागग्रं कुशैरासनद्वयङ्कल्पयित्वा वारणं द्वादशाङ्गुलदीर्घं चतुरङ्गुलविस्तारं चतुरङ्गुलखातं चमसं सव्यहस्ते कृत्वा दक्षिणहस्तोद्धृतपात्रस्थोदकेन पूरयित्वा पश्चिमासने निधायालभ्य पूर्वासने स्थापयित्वा। 'परिस्तीर्य' अग्निम्, बर्हिर्मुष्टिमादाय ईशानादिप्रागग्रैर्बर्हिर्भिरुदक्संस्थमग्नेः परिस्तरणं कृत्वा। 'अर्थवदासाद्य' यावद्भिः पदार्थैरर्थः प्रयोजनं तावतः पदार्थान् द्वन्द्वं प्राक्संस्थान् उदगग्रानग्नेरुत्तरतः पश्चाद्वा आसाद्य। तद्यथा पवित्रच्छेदनानि त्रीणि कुशतरुणानि पवित्रे साग्रे अनन्तर्गर्भे द्वे कुशतरुणे, प्रोक्षणीपात्रं

वारणं द्वादशाङ्गुलदीर्घं करतलमितखातं पद्मपत्राकृति कमलमुकुलाकृति वा, आज्यस्थाली तैजसी मृन्मयी वा द्वादशाङ्गुलविशाला प्रादेशोच्चा, तथैव चरुस्थाली, सम्मार्गकुशास्त्रयः, उपयमनकुशास्त्रिप्रभृतयः, समिधस्तिस्रः पालाश्यः प्रादेशमात्र्यः, स्रुवः खादिरो हस्तमात्रः अङ्गुष्ठपर्वमात्रखातपरिणाहवर्तुलपुष्करः। आज्यं गव्यम्। चरुश्चेद्व्रीहितण्डुलाः, षट्पञ्चाशदधिकमुष्टिशतद्वयपरिमितं पराध्यँ बहुभोक्तृपुरुषाहारपरिमितमपराध्यँ तण्डुलाद्यन्नं, पूर्णपात्रं दक्षिणा वरो वा यथाशक्ति हिरण्यादिद्रव्यम्। 'पवित्रे कृत्वा' प्रथमं त्रिभिः कुशतरुणैरग्रतः प्रादेशमात्रं विहाय द्वे कुशतरुणे प्रच्छिद्य। 'प्रोक्षणीः संस्कृत्य' प्रोक्षणीपात्रं प्रणीतासन्निधौ निधाय तत्र पात्रान्तरेण हस्तेन वा प्रणीतोदकमासिच्य पवित्राभ्यामुत्पूय पवित्रे प्रोक्षणीषु निधाय दक्षिणेन हस्तेन प्रोक्षणीपात्रमुत्थाप्य सव्ये कृत्वा तदुदकं दक्षिणेनोच्छाल्य प्रणीतोदकेन प्रोक्ष्य। 'अर्थवत्प्रोक्ष्य' अर्थवन्ति प्रयोजनवन्ति आज्यस्थाल्यादीनि पूर्णपात्रपर्यन्तानि प्रोक्षणीभिरद्भिरासादनक्रमेणैकैकशः प्रोक्ष्य असञ्चरे प्रणीताग्न्योरन्तराले प्रोक्षणीपात्रन्निधाय। 'निरूप्याज्यम्' आसादितमाज्यमाज्यस्थाल्यां पश्चादग्नेर्निहितायाम्प्रक्षिप्य, चरुश्चेच्चरुस्थाल्याम्प्रणीतोदकमासिच्य आसादितांस्तण्डुलान्प्रक्षिप्य। 'अधिश्रित्य' तत्राज्यं ब्रह्माधिश्रयति तदुत्तरतः स्वयं चरुमेवं युगपदग्नावारोप्य। 'पर्यग्नि कुर्यात्' ज्वलदुल्मुकं प्रदक्षिणमाज्यचर्वोः समन्ताद् भ्रामयेत् अर्द्धशृते चरौ ॥ १।२।२ ॥

(**गदाधरभाष्यम्**)—सर्वसाधारणं कर्माह 'परि० धाय' दर्भैः परिसमुह्य गोमयेनोपलिप्य वज्रेणोल्लिख्यानामिकाङ्गुष्ठेनोद्धृत्योदकेनाभ्युक्ष्य तस्मिन्नग्निं स्थापयेत्। त्रिरुल्लेखनं त्रिरुद्धरणमिति हरिहरः। परिसमूहनादि पञ्चापि त्रिस्त्रिरित्यन्ये। कर्कोपाध्यायैरपि 'विपर्यस्य पित्र्येषु सकृद्दक्षिणा च' इत्येतत्सूत्रव्याख्यानावसरे यदभ्यस्तं रूपं दैवे स्मर्यते तत्पित्र्ये सकृत्कर्तव्यम्। यथा परिसमुह्योपलिप्योल्लेखनमिति लेखनेनैव तावद्दर्शितम्, दैवे परिसमूहनादि त्रिस्त्रिः पित्र्ये सकृत्सकृत् इति। एते पञ्च भूसंस्कारा इति भर्तृयज्ञभाष्ये। अग्न्यर्था इति कर्कोपाध्यायाः। तेन यत्र यत्राग्नेः स्थापनं तत्र तत्रैते कर्तव्याः, अतः श्रौताग्निस्थापनेऽपि कर्तव्याः। न चैतेषां स्थालीपाकविधावन्तर्भावः। येन एष एव विधिर्यत्र क्वचिद्धोम इत्यभिहितेऽपि पुनरभिधीयते—उद्धृतावोक्षितेऽग्निमुपसमाधायेति। नूनमनेनाप्रवृत्तिः। अग्निसाध्यानि स्मार्तानि सर्वाण्यावसथ्याग्नौ कार्याणि। तथा च स्मृतिः—कर्म स्मार्तं विवाहाग्नौ कुर्वीत प्रत्यहं गृही। दायकालाहृते वापि श्रौतं वैतानिकाग्निषु ॥ इति। तस्मिन्गृह्याणीत्यापस्तम्बस्मरणाच्च। गृहाय हितं गृह्यं गृहशब्दश्च दम्पत्योर्वर्तते तस्मिन्नित्यावसथ्ये। अतश्च यत्किञ्चिद्दम्पत्योर्हितं कर्म शान्तिकपौष्टिकव्रताङ्गहोमादिकं स्मार्तं तत्सर्वमावसथ्येऽग्नौ भवतीति। अत एवाह कात्यायनः—न स्वेऽग्नावन्यहोमः स्यान्मुक्त्वैकां समिदाहुतिम्। स्वगर्भसत्क्रियार्थाश्च यावन्नासौ प्रजायते ॥ अग्निस्तु नामधेयादौ होमे सर्वत्र लौकिकः। नहि पित्रा समानीतः पुत्रस्य भवति क्वचित् ॥ अतश्च सीमन्तोन्नयनमपि स्मार्ताग्नावेव कार्यमिति देवभाष्ये परिभाषायाम्। स्फ्येनोल्लेखनमिति गर्गहरिहरौ। काष्ठेन कुशमूलेन वेति केचित्। अत्रैतद्विचार्यते—किमावसथ्याधानादिषु वक्ष्यमाणेषु सर्वकर्मसु

अध्वर्योः कर्तृत्वम् उत यजमानस्येति। अध्वर्युः कर्मसु वेदयोगादिति परिभाषणात्, पूर्णपात्रो दक्षिणा वरो वेति दक्षिणाम्नानादध्वर्योः कर्तृत्वमिति चेत् उच्यते—न स्मार्तेषु कर्मसु अध्वर्योः कर्तृत्वं वेदयोगाभावात्। समाख्यया हि अध्वर्योः कर्मसु योगः, समाख्या हि वेदयोगात् न च स्मार्ते वेदयोगोऽस्ति नहि ज्ञायते अमुकवेदोक्तं स्मार्तमिति। तथा च श्रुतिः—सहोवाच यद्युक्तोभूरिति चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा गार्हपत्ये जुहवथ, यदि यजुष्टो भुव इति चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वाऽऽग्नीध्रीये जुहवथान्वाहार्यपचने वा हविर्यज्ञे, यदि सामतः स्वरिति चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वाऽऽहवनीये जुहवथ, यद्यु अविज्ञातमसत्सर्वाण्यनुद्रुत्याहवनीये जुहवथेति। अविज्ञातं स्मार्तं यन्न ज्ञायते किमार्ग्वेदिकं किं याजुर्वेदिकं किं वा सामवेदिकमिति। नापि दक्षिणान्यथानुपपत्त्यान्यस्य कर्तृत्वम्। अस्ति ह्यत्रान्योऽपि ब्रह्माख्यः कृताकृतावेक्षकत्वेन कर्ता तदर्थः परिक्रयोऽयमिति दक्षिणार्थापत्तिः। तस्मात्स्वस्यैव कर्तृत्वम्। 'दक्षिणतो ब्रह्मासनमास्तीर्य' स्थापितस्याग्नेर्दक्षिणस्यां दिशि ब्रह्मण उपवेशनार्थं दर्भान्निधाय ब्रह्मोपवेशनं कुर्यात्। ननु दक्षिणतो ब्रह्मयजमानयोरासने इति परिभाषातो दक्षिणत आसनं प्राप्तं किमर्थं पुनर्दक्षिणग्रहणम्। सत्यं पुनर्दक्षिणग्रहणं यजमानस्य तत्रासनं मा भूदित्येतदर्थमित्यदोषः। एवं च यजमानासनं वचनाभावे सर्वत्राग्नेरुत्तरतः स्यात्, उत्तरत उपचार इति परिभाषणात्। तत्र पुनर्वचनं यथा पश्चादग्नेस्तेजनीङ्कटं वा दक्षिणपादेन प्रवृत्त्योपविशतीति तत्र तत्रैवोपवेशनम्। यद्वा दर्शपूर्णमासविषया परिभाषेयं वेदिस्पृगिति सूत्रे तस्माद्दक्षिणं वेद्यन्तमधिस्पृश्येवासीतेति श्रुतौ चोक्तत्वात्। तेनात्राप्राप्तिर्वेद्यभावाद्दक्षिणग्रहणमपूर्वविधानार्थम्। अतोऽपि यजमानोपवेशनमुत्तरत एव। अत्र चास्तरणमात्रोपदेशात्, चतुर्थीकर्मणि दक्षिणतो ब्रह्माणमुपवेश्येत्युपवेशनविधानाच्च न ब्रह्मोपवेशनम्। मैवम्। अदृष्टार्थप्रसङ्गात्। नह्यदृष्टार्थं कश्चिदासनप्रकल्पनं कुर्यात् ब्रह्मासनव्यपदेशानुपपत्तेश्च तस्माद् ब्रह्मोपवेशनार्थमेवास्तरणम्। यच्च चतुर्थीकर्मण्युपवेशनमुक्तं तदुदपात्रस्थापनावसरविधानार्थम्। तस्माद् ब्रह्मोपवेशनं भवत्येव। यदा ब्रह्मा न भवति तदा कौशः कार्य इति हरिहरः, तन्मूलं छन्दोगगृह्येऽस्ति। 'प्रणीय' प्रणयनञ्चापां सर्वार्थं प्रदेशान्तरे दृष्टन्तद्वदत्रापि कार्यम्। 'परिस्तीर्य' अग्नेर्दर्भैः प्रदक्षिणम्परिस्तरणं कृत्वा। 'अर्थवदासाद्य' अर्थः प्रयोजनम् अग्नेरुत्तरतः पश्चाद्वा द्वन्द्वम्प्रयोजनवताम्पात्राणामासादनङ्कार्यंक्रमेण मुख्यक्रमानुग्रहात्, पश्चाच्चेत्प्राक्संस्थानामुदगग्राणां प्रागग्राणां वा आसादनम्। उत्तरत उदक्संस्थानां प्रागग्राणामुदगग्राणां वाऽऽसादनं कारिकायाम्—पश्चादुत्तरतो वा स्यात्पात्रासादनमग्नितः। उत्तरे चेदुदक्संस्थं प्राक्संस्थं पश्चिमे भवेत्॥ एतच्च विपुलस्थानसम्भवे। असम्भवे तु कात्यायनेनोक्तम्—प्राञ्चम्प्राञ्चमुदगग्नेरुदगग्रं समीपत। इति देवयाज्ञिकाः। 'पवित्रे कृत्वा' कौशे समे अप्रक्षीणाग्रे प्रादेशमात्रे अनन्तर्गर्भे कुशैश्छिन्द्यादित्यर्थः। 'प्रोक्षणीः संस्कृत्य' प्रादेशमात्रे वारणे पात्रे प्रणीतोदकमासिच्य पवित्राभ्यामुत्पूय सव्यहस्ते तत्पात्रं कृत्वा दक्षिणेनोर्ध्वनयनं कृत्वा प्रणीतोदकेन तत्प्रोक्षणं कुर्यात् ततस्तस्मिन्पवित्रनिधानम्। 'अर्थवत्प्रोक्ष्य' तज्जलेन यथासादितानाम्पात्राणां प्रत्येकम्प्रोक्षणम्। 'निरूप्याज्यम्' औपयिकासादिताज्यस्य स्थाल्यां प्रक्षेपः।

चरुश्चेदत्र तण्डुलानां स्वस्थाल्यामावापः। 'अधिश्रित्य' तदाज्यमग्नौ स्थापयेत् चरुश्चेदत्रावसरे आज्यादुत्तरतोऽग्नावधिश्रयणम्। 'पर्यग्नि कुर्यात्' अग्नेरुल्मुकं गृहीत्वा आज्यस्य परितो भ्रामयेत् चरुश्चेत्तमपि पर्यग्नि कुर्यात्, उपलक्षणार्थत्वा-दाज्यस्य ॥ १।१।२ ॥

प्रसङ्ग—होम के लिए किसी वेदी में जो अग्नि स्थापित की जाती है, उसी विधि का यहाँ सामान्य निरूपण है। होमकर्त्ता स्नान कर अच्छी तरह हाथ-पैर धोकर, यज्ञीय पवित्र आसन पर पूर्वाभिमुख होकर बैठ जाय। पुनः २७ अंगुली का मण्डल बना ले। फिर उसे तीन कुशों से—

अनुवाद—धूलि झाड़कर, गोबर और पानी से उस स्थान को लीप कर, स्रुवमूल से या किसी काठ के टुकड़े से तीन रेखाएँ खींचकर, उन रेखाओं से उठी धूलि को उठा ले। फिर उस स्थान पर पानी छींटकर, कांसे या तांबे के वर्तन में आग लेकर वेदी के बीच में अग्नि-स्थापन करें। वेदी से दाहिने ब्रह्मा के लिए पवित्र आसन बिछा दें। फिर प्रणीता नामक यज्ञीय काष्ठपात्र को बाँयें हाथ में रखकर उसे पवित्र जल से भर दें। फिर उस स्थापित अग्नि के चारों ओर कुश फैला दें। फिर यज्ञोप-योगी वस्तुओं को इकट्ठा कर लें। उसके बाद पवित्र नामक कुशों को दो खण्डों में विभक्त कर अर्थात् तीन पवित्र कुशों से दो तरुण कुशों पर आगे से एक बित्ता छोड़-कर उसके टुकड़ों को प्रोक्षणीपात्र के जल से सींचकर प्रोक्षणीपात्र का संस्कार कर, अनुष्ठानोपयोगी वस्तुओं को जल से सींचकर, आज्यस्थाली में घी डालकर उसे प्रज्व-लित आग पर रखकर, उसके चारों ओर जलती लकड़ी को घुमा कर घी को पिघला दें।

व्याख्या—ऐसे इस प्रथम कण्डिका में कुल मिलाकर २४ ल्यबन्त शब्दों का प्रयोग किया गया है। आचार्य कुलमणि मिश्र ने इस सूत्र के पाँच समूहनादि शब्द के व्याख्या-क्रम में कहा है कि ये पाँच ल्यबन्त दैवकर्म में तीन-तीन तथा एक-एक पितृ-कर्मजन्य संस्कार हैं। किन्तु भर्तृयज्ञ ने इन्हें पाँच भू-संस्कार माना है तथा कर्काचार्य ने इन्हें पाँच अग्नि-संस्कार माना है। इस सन्दर्भ में जयराम, हरिहर, गदाधर तथा विश्वनाथ भी कर्काचार्य से सहमत हैं।

परिसमूह्यादि परि और सम पूर्वक वह धातु का ही प्रयोग है। कर्क और जयराम ने इसे 'ऊह' धातु मानकर 'परिसमूह' का प्रयोग किया है। यज्ञोपयोगी पदार्थ से यहाँ निम्नलिखित वस्तु-समूह का बोध होता है। तीन सम्पूर्ण कुशाएँ, दो तरुण कुश, प्रोक्षणीपात्र—(प्र + उक्ष् + ल्युट् + ङीप्) अग्नि-स्थापन के क्रम में बहुधा प्रयुक्त होने वाला यह शब्द 'पवित्र जल से पूरित कलश' के अर्थ में है। आज्यस्थाली—आज्यते—आ + अञ्ज् + क्यप्; स्थाली—स्थाल + ङीष्, आज्यस्थाली = पिघले हुए घी को रखने के लिए मिट्टी का बर्त्तन, चरुस्थाली = देवताओं तथा पितरों की सेवा में अर्पित करने के लिए चावलों को पकाने का बर्त्तन। सम्मार्जनकुशा—सम् + मृज् + ल्युट् = वेदी की भूमि को झाड़ने के लिए कुश, उपनयनकुशा = यज्ञीय

कार्य में प्रयुक्त होने वाले कुशों का संग्रह, समिधाएँ—होम की आग को प्रज्ज्वलित करने की लकड़ियाँ, स्मृत्यर्थसार के अनुसार ये लकड़ियाँ—पलाश, खैर, पीपल, शमी, गूलर आदि की होती हैं। ये लकड़ियाँ एक-एक बित्ते अर्थात् १२ अंगुलियों की सूखी या गीली, पकी और बराबर से कटी हुई होनी चाहिए, घुन लगी लकड़ियों का होम में प्रयोग सर्वथा वर्जित है। उपयमनकुशा=अग्नि को यज्ञीय भूमि में स्थापित करने वाले कुश, स्रुवा=लकड़ी का बना यज्ञ का चम्मच, जिससे होमाग्नि में आहुतियाँ दी जाती है। गाय का घी, चावल से भरे मिट्टी के बर्त्तन, दक्षिणा एवं गौ। प्रोक्षण-कर्म—ऊपर उठे हुए हाथों से किये जाते हैं तथा अभ्युक्षण-कर्म—नीचे झुके हाथों से सम्पादित होते हैं। यथा—

'उत्तानेन तु हस्तेन प्रोक्षणं समुदाहृतम्।
तिरश्चावीक्षणं कुर्यान्नीचैरभ्युक्षणं कृतम्॥'

ब्रह्मा—यज्ञीय कार्य सम्पादन के निमित्त कर्मकाण्ड में नैष्ठिक पवित्र ब्राह्मण को ब्रह्मा कहा जाता है। सभी कर्मों में निष्णात ब्रह्मा का यदि अभाव हो तो पचास कुशों से निर्मित ब्रह्मा का ही वरण कर लेना चाहिए।

प्रोक्षणीः संस्कृत्य—प्रणीता के जल को प्रोक्षणीपात्र में तीन बार डालें, फिर प्रणीता के जल से प्रोक्षणीपात्र का मार्जन करें, इसके बाद वेदी के मध्य में अग्नि-स्थापन करें। प्रोक्षणी-संस्कार के क्रम में पहले प्रोक्षणीपात्र को प्रणीतापात्र के पास रखकर प्रणीता का पवित्र जल उस पर छिड़ककर तथा इकट्ठा किये गये यज्ञीय सभी द्रव्यों पर जल छिड़ककर, यज्ञाग्नि और प्रणीतापात्र के बीच में प्रोक्षणीपात्र को रख दें। जल-सिंचन के पूर्व दाहिने हाथ से प्रोक्षणीपात्र को बाँयें हाथ में रखकर ही जल छिड़कना चाहिए। जल-सिंचन के क्रम में—प्रणीता के जल को प्रोक्षणीपात्र में तीन बार डालें, पुनः प्रणीता के जल से प्रोक्षणीपात्र का छिड़काव करें। पुनः घी को देखें, यज्ञाग्नि के पीछे रखे घी को आज्यस्थाली में डालकर आग पर घी को पिघलाने के लिए रखकर पर्यग्नि करें अर्थात् जलती हुई समिधा की लकड़ी को चरुपात्र, आज्यस्थाली के चारों ओर घुमाकर घी पिघला लें।

स्रुवं प्रतप्य सम्मृज्याऽभ्युक्ष्य पुनः प्रतप्य निदध्यात्॥ १।१।३॥

(हरिहरभाष्यम्)—स्रुवं प्रतप्य, दक्षिणेन हस्तेन स्रुवमादाय प्राञ्चमधोमुखमग्नौ तापयित्वा। सव्ये पाणौ कृत्वा दक्षिणेन सम्मार्गाग्रैर्मूलतोऽग्रपर्यन्तम् 'सम्मृज्य' मूलैरग्रमारभ्य अधस्तान्मूलपर्यन्तम्। 'अभ्युक्ष्य' प्रणीतोदकेनाभिषिच्य। 'पुनः प्रतप्य निदध्यात्' पुनः पूर्ववत्प्रतप्य दक्षिणतो निदध्यात्॥ १।१।३॥

(गदाधरभाष्यम्)—'स्रुवं प्रतप्य सम्मृज्याभ्युक्ष्य पुनः प्रतप्य निदध्यात्' अग्नौ स्रुवं तापयित्वा दर्भैः सम्मृज्य प्रणीतोदकेनाभ्युक्ष्य पुनस्तापयित्वा निदध्यात् स्रुवस्यायं संस्कारो होमार्थः। एवञ्च दृष्टार्थता तत्संस्कारस्य। अतः संस्कारविस्मरणे प्रायश्चित्त-पूर्वकं प्रागन्त्यहोमात्कार्यः। ऊर्ध्वन्तु प्रायश्चित्तमात्रम्। प्रोक्षण्युदकेनाभ्युक्षणमिति गर्गः॥ १।१।३॥

अनुवाद—अधोमुख स्रुवा को होमाग्नि में तपाकर मूल भाग से अन्त तक सम्मार्जन कुश से उसे झाड़कर, प्रणीता के जल से उसे अभिसिंचित कर, पहले की ही तरह उसे आग पर फिर से तपाकर वेदी की दाहिनी ओर रख दें।

व्याख्या—पूर्व वर्णित स्रुवा को आग में तपाकर अधोमुख सामने के भाग को आगे की ओर मुड़े हुए अंश को होमाग्नि में तपाकर, उसे बाँयें हाथ में लें। पुनः दाहिने हाथ से सम्मार्जन कुश से सम्पूर्ण स्रुवा को झाड़-पोंछ दें। फिर उस पर प्रणीता का जल छिड़क दें, फिर पूर्ववर्णित क्रम से उसे आग में तपाकर यज्ञाग्नि की दाहिनी ओर रख दें।

आज्यमुद्वास्योत्पूयावेक्ष्य प्रोक्षणीश्च पूर्ववदुपयमनान् कुशानादाय समिधोऽभ्याधाय पर्य्युक्ष्य जुहुयात् ॥ १।१।४ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'आज्यमुद्वास्य' आज्यमुत्थाप्य चरोः पूर्वेण नीत्वाऽग्नेरुत्तरतः स्थापयित्वा चरुमुत्थाप्य आज्यस्य पश्चिमतो नीत्वा आज्यस्योत्तरतः स्थापयित्वा आज्यमग्नेः पश्चादानीय चरुश्चानीय आज्यस्योत्तरतो निधाय, एवं त्रिचतुरादीन्यन्यान्यपि हवींष्युद्वासयेत्। अधिश्रृतानाम्पूर्वेणोद्वासितानाम्पश्चिमतो हविष उद्वास्यानयनमिति याज्ञिकसम्प्रदायात्। 'उत्पूय' ऊर्ध्वं पूर्ववत् पवित्राभ्याम्। 'अवेक्ष्य' अवलोक्याज्यं तस्मादपद्रव्यनिरसनम्। 'प्रोक्षणीश्च पूर्ववत्' पवित्राभ्यामुत्पूय पूर्ववत्। 'उपयमनान् कुशानादाय' दक्षिणपाणिना गृहीत्वा सव्ये निधाय। 'समिधोऽभ्याधाय' तिष्ठन्समिधः प्रक्षिप्य। 'पर्युक्ष्य जुहुयात्' प्रोक्षण्युदकेन सर्वेण सपवित्रेण दक्षिणचुलुकेन गृहीतेन अग्निमीशानादि उदगपवर्गम्परिषिच्य जुहुयात् आघारादीन्। संस्रवधारणार्थं पात्रं प्रणीताग्न्योर्मध्ये निदध्यात् ॥ १।१।४ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'आज्यमुद्वास्योत्पूयावेक्ष्य' अग्नेः सकाशादाज्यमुत्तरत उद्वास्य पवित्राभ्यामुत्पूय तदाज्यमवलोक्य। चरुश्चेदाज्योद्वासनोत्तरं तस्योद्वासनम्। तच्चैवम् अग्नेः सकाशादाज्यं गृहीत्वा चरोः पूर्वेण नीत्वा अग्नेरुत्तरतो निधानम्। ततश्चरुमादायाज्यं पश्चिमतो नीत्वा आज्यादुत्तरतो निधानं, हविषाञ्च यथापूर्वमित्युक्तेः। 'प्रोक्षणीश्च पूर्ववत्' पूर्ववदिति पवित्राभ्याम्प्रोक्षणीरुत्पूय तास्वेव पवित्रनिधानम्। चशब्दादाज्यमपि पूर्ववदेव अतः पवित्राभ्यां स्यात्। प्रोक्षणीसंस्कारोऽयम्पर्युक्षणार्थः। 'उप० यात्' उपयमनान्कुशान् गृहीत्वा उपतिष्ठन् तिस्रः समिधोऽग्नावभ्याधाय प्रक्षिप्य प्रोक्षण्युदकेनाग्निम्प्रदक्षिणम्परिषिच्य स्रुवेण वक्ष्यमाणं होमं कुर्यात्। तिष्ठन् समिधः सर्वत्रेत्युक्तेरत्र तिष्ठता समिदाधानम्। समिल्लक्षणञ्च स्मृत्यर्थसारे—पलाशखदिराश्वत्थशम्युदुम्बरजा समित्। अपामार्गार्कदूर्वाश्च कुशाश्चेत्यपरे विदुः ॥ सत्वचः समिधः कार्या ऋजुश्लक्ष्णाः समास्तथा। शस्ता दशाङ्गुलास्तास्तु द्वादशाङ्गुलिकास्तु वा ॥ आर्द्राः पक्वाः समच्छेदास्तर्जन्यङ्गुलिवर्तुलाः। अपाटिताश्चाद्विशाखाः कृमिदोषविवर्जिताः। ईदृशा होमयेत्प्राज्ञः प्राप्नोति विपुलां श्रियम् ॥ इति। यद्वा—समित्पवित्रं वेदश्च त्रयः प्रादेशसम्मिताः। इध्मस्तु द्विगुणः कार्यस्त्रिगुणः परिधिः स्मृतः ॥ १।१।४ ॥

अनुवाद—घृतपात्र को आग पर से उतार कर पवित्र कर अर्थात् अनामिका एवं अंगूठे से पकड़े गये पवित्रों से तीन बार पवित्र कर यह देख लें कि उस घी में कोई अपद्रव्य तो नहीं है और अगर है तो उसे निकाल दें। फिर पहले की ही तरह प्रोक्षणीपात्रं के जल का भी निरीक्षण तथा परिशोधन कर लें। फिर उपयमन नामक कुश को दाँयें हाथ से उठाकर बाँयें हाथ में लेकर, आग में समिधाएँ डालकर, जल छिड़ककर हवन करें।

व्याख्या—आज्य शब्द का यहाँ अर्थ है—होम के लिए रखा गया गाय का घी, उद्वास्य=बाहर निकालकर, अर्थात् आग पर रक्खे घी को बाहर निकालकर, उत्पूय=उत्+पू+ल्यप्=मार्जन या शोधन करना, पवित्र नामक दो कुशाओं से घी का परिशोधन कर; अवेक्ष्य=अव्+ईक्ष्+क्त्वा+ल्यप्=अच्छी तरह उस घृत को देखकर, प्रोक्षणीश्च पूर्ववत्=प्रोक्षणीपात्र में रखें पवित्र जल का भी घी की तरह ही ठीक से देख-भालकर, उपयमनान्=उप+यम्+ल्युट्=अग्नि के पास स्थापित, कुशान् आदाय=कुशों को दाँयें हाथ से उठाकर बाँयें हाथ में लें। समिधोऽभ्याधाय= घी लगी लकड़ियों को खड़े होकर कुण्ड में डालकर, पर्य्युक्ष्य=(परि+उक्ष्+ल्यप्) बिना किसी मंत्रोच्चारण के चारों ओर चुपचाप जल के छींटें देना, अर्थात् जल को वेदी के चारों ओर ईशान से उत्तर तक दक्षिणावर्त्त गिराकर आगे बतलायी जाने वाली विधि से, जुहुयात्=होम करना चाहिए।

एष एव विधिर्यत्र क्वचिद्धोमः ॥ १।१।५ ॥

(**हरिहरभाष्यम्**)—'एष एव विधिर्यत्र क्वचिद्धोमः' एषः परिसमूहनादिपर्युक्षणपर्यन्तो विधिरेव न मन्त्राः क्वचित् यत्र क्वचन लौकिके स्मार्ते वाऽग्नौ होममात्रं तत्र वेदितव्यः ॥ १।१।५ ॥

(**गदाधरभाष्यम्**)—'एष एव विधिर्यत्र कचिद्धोमः' यत्र क्वचिद्धोमः शान्तिकपौष्टिकादिष्वपि एष एव विधिः स्यात्। एवकारो मन्त्रप्रतिषेधार्थः। गृह्याग्निव्यतिरेकेणापि यथायं विधिः स्यादित्येवमर्थः क्वचिच्छब्दः। यथा दावाग्निमुपसमाधाय घृताक्तानि कुशेध्मानि जुहुयादित्यादौ ॥ १।१।५॥

अनुवाद—जहाँ कहीं भी हवन होगा यही विधि अपनाई जायेगी।

व्याख्या—एष एव=परिसमूहन से पर्युक्षण पर्यन्त होम की सामान्य यही विधि है। यत्र क्वचिद् होमः=जहाँ कहीं भी होम किया जाता है। विधि शब्द के आगे यहाँ एव शब्द का प्रयोग है, जिसका तात्पर्य मंत्रोच्चार के बिना ही विधि का सम्पादन करना है। 'यत्र क्वचित्' से तात्पर्य होम-विधि से ही है, अर्थात् जहाँ कहीं भी लौकिक कर्म में, स्मार्त्त या अग्नि कर्म में होम का विधान है, उसकी विधि यही होगी।

प्रथमकाण्ड में प्रथमकण्डिका समाप्त।

द्वितीया कण्डिका

आवसथ्याधानं दारकाले ॥ १।२।१ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'आवसथ्याधानन्दारकाले' आवसथ्याग्निना साध्यानि कर्माणि व्याख्यातुं प्रतिज्ञातानि प्रथमसूत्रे सूत्रकृता पारस्करेण यतोऽतस्तस्याधानविधिं व्याख्यातुमुपक्रमते। आवसथ्यस्य गृह्यस्य अग्नेराधानमावसथ्याधानम्। तद्दारकाले विवाहकाले चतुर्थीकर्मानन्तरं कुर्यात् प्राक् चतुर्थीकर्मणः पत्न्या भार्यात्वस्यानुपपत्तेः सभार्यस्य च आधानेऽधिकारः। वैवाहिकोऽग्निरेवौपासनाग्निरित्याश्वलायनादीनाम्पक्षः। ते हि विवाहहोममेव दाराग्न्योः संस्कारकं मन्यन्ते अस्माकन्तु आवसथ्याधानन्दारकाल इत्यारभ्याग्निसंस्कारस्य पारस्कराचार्येण पृथगभिधानात् तत्संस्कारसंस्कृतोऽग्निरौपासनः।१।२।१।

(गदाधरभाष्यम्)—आवसथ्याधानं दारकाले। आवसथं गृहं तत्रस्थोऽग्निरावसथ्य इत्युच्यते तस्याधानं स्थापनमात्मसात्करणमात्मनिष्ठफलसाधनकर्मानुष्ठानसम्पादकसंस्कारविशिष्टत्वेन सम्पादनमिति यावत् तद्दारकाले भवति दारकालशब्देन पाणिग्रहणं स्त्रिया उच्यते चतुर्थ्युत्तरकालन्दारकाल इति सम्प्रदायः। पित्रा प्रत्तामादाय निष्क्रामतीत्येष दारकाल इति भर्तृयज्ञभाष्ये ॥ १।२।१ ॥

प्रसंग—आचार्य पारस्कर ने प्रथम कण्डिका में आवसथ्याधान के द्वारा निष्पाद्य कर्मों की व्याख्या करने की प्रतिज्ञा की है।

अनुवाद—गृह्याग्नि की स्थापना विवाह के समय करनी चाहिए।

व्याख्या—आवसथ्यः=(आ+वस्+अथच्+ष्यञ्) वह (अग्निहोत्र की) पवित्र आग, जो घर में रखी जाती है। आधानम्=(आ+धा+ल्युट्) यज्ञाग्नि को स्थापित करना (अग्न्याधान), 'पुनर्दारक्रियां कुर्यात् पुनराधानमेव च'— मनुस्मृति (५।१६८)। दारः=(दृ+घञ्) पत्नी, काले=पाणिग्रहण समय में।

आवसथः=गृहम्, तत्र भवः आवसथ्यः=गृहशाला की अग्नि, तस्य आधानम्= उसकी स्थापना, दारकाले=विवाह के समय, अर्थात् चतुर्थी कर्म के बाद ही गृह्याग्नि की स्थापना का विधान है। क्योंकि चतुर्थी कर्म के पूर्व पत्नी भार्या नहीं बनती है और सभार्य व्यक्ति ही अग्न्याधान करने का अधिकारी है।

इस सन्दर्भ में आश्वलायन प्रभृति कतिपय आचार्यों का मत है कि वैवाहिक अग्नि ही औपासनाग्नि है। इनके विचार में विवाह काल में स्थापित वेदी वाले विवाह-होम को ही पत्नी और होम का सस्कर्त्ता मानते हैं। किन्तु हरिहर का कहना है कि पारस्कर ने 'आवसथ्याधानं दारकाले' के द्वारा अग्नि-संस्कार का अलग ही विधान किया है। अतएव इस संस्कार के द्वारा सुसंस्कृत अग्नि ही औपासनाग्नि है।

दायाद्यकाल एकेषाम् ॥ १।२।२ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'दायाद्यकाल एकेषाम्' एकेषामाचार्याणाम्मते दायाद्यकाले

भ्रातॄणाम् पितृधनविभागकाले। अविभक्ते हि पित्र्ये धने सर्वेषाम्भ्रातॄणां स्वत्वस्य साधारणत्वेन विनियोगानर्हत्वात् धनविनियोगसाध्यं हि आवसथ्यादिकर्मानुष्ठानम्। अतो भ्रातृमतां विभक्तानामाधानेऽधिकार इति तेषामभिप्रायः। अभ्रातृकस्य दारकाले एवं व्यवस्थितो विकल्पः। एवङ्कृतविवाहस्य विभक्तधनस्य च आधाने अधिकारमभिधाय इदानीमाहरणपक्षे आधानमाह ॥ १।२।२ ॥

(**गदाधरभाष्यम्**)—'दायाद्यकाल एकेषाम्' एकेषामाचार्याणां मते दायाद्यकाले अग्न्याधानं भवति। पैतृकद्रव्यस्य भ्रातृभिः सह रिक्थविभागकालो दायाद्यकालः, तस्मिन्काले स्वेन द्रव्येण कर्मानुष्ठानसमर्थो भवति साधारणद्रव्यस्य परित्यागासामर्थ्यादनधिकार एव, अतो व्यवस्था भ्रातृमतो दायाद्यकाले अभ्रातृकस्य दारकाले। अविभक्तस्यापि विवाहकालेऽपि आधानाधिकार इति मदनपारिजाते। आश्वलायनादीनां वैवाहिकोऽग्निरेवौपासनाग्निर्दिष्टः। अत्र साङ्ख्यायनगृह्ये तु अभिसमावर्त्स्यमानो यत्रान्त्यां समिधमभ्यादध्यात्तमग्निमिन्धीत वैवाह्यं वा दायाद्यकाल एके प्रेते वा गृहपतौ स्वयं ज्यायान्वैशाख्याममावास्यायामन्यस्यां वा कामतो नक्षत्र एक इति। अत्र छन्दोगगृह्ये विशेषः—भूर्भुवः स्वरिति अभिमुखमग्निं प्रणयन्ति प्रेते वा गृहपतौ परमेष्टिकरणं, तथा तिथिनक्षत्रसमवाये दर्शे वा पौर्णमासे वाऽग्निसमाधानं कुर्वीतेति। तत्र कारिकायां विशेषः—अपि वैवाहिको येन न गृहीतः प्रमादतः। पितर्युपरते तेन ग्रहीतव्यः प्रयत्नतः ॥ कृतदारो न तिष्ठेच्च क्षणमप्यग्निना विना। तिष्ठन् भवेद् द्विजो व्रात्यस्तथा च पतितो भवेत् ॥ पितृपाकोपजीवी स्यात् भ्रातृपाकोपजीवकः। ज्ञानाध्ययननिष्ठो वा न दुष्येताग्निना विना ॥ यथा सन्ध्या यथा स्नानं वेदस्याध्ययनं यथा। तथैवोपासनं प्रोक्तन्न स्थितिस्तद्वियोगतः ॥ योऽग्निं स्मार्तमनादृत्य कर्म स्नानजपादिकम्। होमान्समाचरेद्विप्रो न स पुण्येन युज्यते ॥ यो दद्यात्काञ्चनं मेरुं पृथिवीं च ससागराम्। तत्सायंप्रातर्होमस्य तुल्यं भवति वा नवा ॥ योऽगृहीत्वा विवाहाग्निं गृहस्थ इति मन्यते। अन्नं तस्य न भोक्तव्यं वृथापाको हि स स्मृतः ॥ वृथापाकस्य भुञ्जानः प्रायश्चित्तं समाचरेत्। प्राणायामत्रयं कृत्वा घृतं प्राश्य विशुध्यति ॥ तथा—कालद्वयेऽपि चेद्येन नाधात्तं तु कृतं पुरा। स कृत्वाऽन्यतमं कृच्छ्रमग्निमध्याहरेत्ततः ॥ एतदाधानं गृहपतौ मृते एकादशाहे द्वादशाहे वा कार्यं तदुक्तं रेणुकदीक्षितैः—एतद्गृहपतौ प्रेते कुर्यादेकादशेऽहनि। प्रागेवैकादशश्राद्धाद् वृद्धिश्राद्धविवर्जितम् ॥ एवं ज्येष्ठः समादध्यात्कनीयांश्च विवर्जयेत्। एकादशेऽह्नि कुर्वन्ति द्वादशे वा विचक्षणाः ॥ नाधिकारे प्रकुर्वीत मले वास्तंगते गुरौ। तथाह लल्लः—आधानपुनराधाने न कुर्यात् सिंहगे रवौ। कालातिक्रमे तु प्रायश्चित्तमुक्तम्। यावन्त्यब्दान्यतीतानि निरग्नेर्विप्रजन्मनः। तावन्ति कृच्छ्राणि चरेद्धौम्यं दद्याद्यथाविधि ॥ कृतदारो गृहे ज्येष्ठो यो नादध्यादुपासनम्। चान्द्रायणं चरेद्वर्षं प्रतिमासमहोऽपि वा ॥ इति।

कालप्रसङ्गान्मुहूर्तविचारोऽप्यत्र क्रियते। तत्र कारिकायाम्—माघादिपञ्चमासेषु श्रावणे चाश्विनेऽथ वा। कुर्यान्मृगोत्तमाङ्गे वा आधानं शुक्लपक्षतः ॥ मृगोत्तमाङ्गो मार्गशीर्षः। हस्तद्वये विशाखासु कृत्तिकादित्रये तथा। पुनर्वसुद्वये तद्वद्रेवतीषूत्तरासु च ॥ भौमार्कवर्जिते वारे नाधिमासे क्षये तथा। चन्द्रेऽनुकूले पूर्वाह्णे रिक्ताविष्टिविवर्जिते ॥

चतुर्थीनवमीचतुर्दश्यो रिक्ताः। सर्वैधृतिश्च व्यतीपातनामा सर्वोऽप्यनिष्टः परिघस्य चार्द्धम्। विष्कम्भे घटिकास्तिस्रो नव व्याघातवज्रयोः। गण्डातिगण्डयोः षट् च शूले पञ्च न शोभनाः॥ महेश्वरः—चूडाकर्मनृपाभिषेकनिलयाग्न्याधानपाणिग्रहान् देवस्थापनमौञ्जिबन्धनविधीन् कुर्यान्न याम्यायने। देवेज्यास्फुजितोस्तथाऽस्तमितयोर्बाल्ये च वार्द्धे तयोः केतावभ्युदिते तथा ग्रहणतो यावत्तिथिश्चाष्टमी॥ देवेज्यो गुरुः। आस्फुजिच्छुक्रः। केतुनिर्घातभूकम्पविद्युत्स्तनितदर्शने। आधानं नहि कर्तव्यं सुधिया शुभमिच्छता॥ पश्चिमायां दिशि सितो बालः स्याद्दश वासरान्। वृद्धः पञ्च दिनान्यैन्द्रयां त्रिदिनं पक्षमेव च॥ शिशुवृद्धौ जीवसितावुभयत्राप्युदीरितौ। अन्यैः पञ्चदशाहानि दशान्यैः सप्त चापरैः॥ उपरागनिवृत्तौ च यावत्स्याद्दिनसप्तकम्। अग्न्याधेयं विवाहादि मङ्गलं न समाचरेत्॥

रत्नमालायाम्—राशौ विलग्नेऽम्बुचरे घटे वा तदंशके वाऽप्यथवा शशाङ्के। आधानकालो द्विजपुङ्गवानां जातोऽपि निर्वाणमुपैति वह्निः। विलग्नं लग्नपर्यायः। अम्बुचरे कर्के मीने मकरोत्तरार्द्धे च। मेषकर्कटतुलामकराश्च चरलग्नानि। घटे कुम्भलग्ने। तदंशके चरांशे कुम्भांशे च। शशाङ्के चन्द्रे चरराशिस्थिते कुम्भराशिस्थिते तदंशस्थिते चेत्यर्थः। त्रिकोणकेन्द्रोपचयेषु सूर्ये बृहस्पतौ शीतकरे कुजे च। शेषग्रहेषूपचयस्थितेषु धूमध्वजोत्पादनमामनन्ति॥ त्रिकोणं नवपञ्चकम्, लग्नसप्तमदशमचतुर्थं च केन्द्रम्। तृतीयषष्ठदशमैकादशमुपचयः। कुजो मङ्गलः। चन्द्रे पत्नी मृत्युगे मृत्युमेति क्षिप्रं वह्न्याधायकः क्ष्मासुते च। भानोः सूनौ देवपूज्ये रवौ वा रोगैर्जुष्टो दुःखितः स्याद् द्विजेन्द्रः॥ नो कुर्याद्धुतभुक्परिग्रहमिनक्ष्मापुत्रजीवेन्दुभिर्नीचस्थैर्विजितै रिपोर्भवनगैरस्तङ्गतैर्वा द्विजः। चापस्थे तनुगे गुरौ क्रियगते सप्ताम्बरस्थे कुजे शीतांशौ त्रिषडायगे दिनकरे वा स्यात्तदा दीक्षितः॥ पापग्रहेषु धनगेषु धनेन हीनः सौम्यग्रहेषु धनवान् उडुपेऽन्नदः स्यात्। लग्नस्थिते च सबुधार्कजभार्गवेन्दावुत्पादितोऽग्निरचिरात्खलु नाशमेति॥ चापस्थे धनूराशिस्थिते। तनुगे लग्नस्थे क्रियगते मेषराशिस्थिते। अम्बरस्थे दशमस्थे। आयगे एकादशस्थे। कन्यायां मिथुने च मङ्गलः शत्रुगृहस्थः। कन्यामिथुनतुलावृषेषु बृहस्पतिः शत्रुगृहस्थः रविमङ्गलशनैश्चराः पापग्रहाः क्षीणचन्द्रश्च। धनगेषु द्वितीयस्थेषु। अथाधिकारी निरूप्यते—ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रं हित्वाऽनुलोमजाः। अधिकुर्वन्ति गार्ह्येषु सह भर्त्रा स्त्रियस्तथा॥ मासोऽर्द्धं स्त्रीप्रसूर्या स्यात्पुत्रसूर्दिनविंशतेः। रजस्युपरते स्नानं दिनादूर्ध्वं रजस्वला॥ नाधिकारोऽस्ति सर्वेषां सूतके मृतकेऽपि च। तथैव पतितानां च तथा दोषयुजामपि॥ अग्न्याधानेऽधिकारोऽस्ति रथकारस्य चोत्तरे। माहिष्येण करण्यां तु रथकारः प्रजायते॥ वैश्यायां क्षत्रियाज्जातो माहिष्यो मुनिभिः स्मृतः। जाता वैश्येन शूद्रायां करणीत्यभिधीयते॥ वेदाध्ययनसम्पन्नाः प्रयोगेन श्रुतेन च। अधिकुर्वन्ति सर्वत्र यद्वाऽर्थश्रवणं विना॥ यद्वाऽध्ययनवेदार्थविज्ञानरहितोऽपि सन्। नाधिकारी क्रियाशून्यो भर्तृयज्ञादिशासनात्॥ द्रविडस्त्वन्यथा प्राह सर्वशून्येऽप्यधिक्रियाम्। श्रद्धावांश्चेद्भवेत्कर्ता नेदृक् सर्वानुसम्मतम्॥ भार्याः सन्तीह यावत्यस्ताभिः सर्वाभिरन्वितः। यद्वा सवर्णया ज्येष्ठभार्ययैव समन्वितः॥ व्यभिचार-

वती पापा रोगिणी द्वेषिणी च या। आधाने सा परित्याज्या नवा त्याज्या मतान्तरात् ॥ तुल्याधिकार उभयोर्यज्ञपार्श्वे निरूपणात्। अतस्त्वन्यतराभावे नाधिकारोऽस्ति कुत्रचित् ॥ अथानधिकारिणः—आवसथ्यं विवाहं च प्रयोगे प्रथमे स्थितः। न कुर्याज्जनके ज्येष्ठे सोदरे चाप्रकुर्वति ॥ क्षेत्रजादावनीजाने विद्यमानेऽपि सोदरे। नाधिकारविघातोऽस्ति भिन्नोदर्येऽपि चौरसे ॥ पङ्ग्वन्धमूकबधिरपतितोन्माददूषणे। संन्यस्ते छिन्नकर्णादौ यद्वा षण्ढादिदूषणे ॥ जनके सोदरे ज्येष्ठे कुर्यादेवेतरः क्रियाम्। ज्येष्ठे श्रद्धाविहीने च सत्याधेयं तदाज्ञया ॥ पितृसत्त्वेऽप्यनुज्ञातो नादधीत कदाचन। जीवत्पितरि चादध्यादाहिताग्निः स वै यदि ॥ तथैव भ्रातरि ज्येष्ठे यजेच्चैव विवाहयेत्। अनाहिताग्नौ पितरि योऽग्न्याधानं करोति हि ॥ अरण्योरग्निमारोप्य तमाधाप्यादधीत सः। उद्वाहं चाग्निसंयोगं कुरुते योऽग्रजे स्थिते ॥ परिवेत्ता स विज्ञेयः परिवित्तिस्तु पूर्वजः। परिवित्तिः परीवेत्ता नरकं गच्छतो ध्रुवम् ॥ अपि चीर्णप्रायश्चित्तौ पादोनफलभागिनौ। पितृव्यक्षत्रियोत्पन्नः परनारीसुतोऽपि वा ॥ दत्तकादयः परनारीसुताः। विवाहे चाग्निसंयोगे न दोषः परिदेवने। देशान्तरस्थक्लीबैकवृषणानसहोदरान् ॥ वेश्यानिष्ठांश्च पतितान् शूद्रतुल्यातिरोगिणः ॥ जडमूकान्धबधिरकुब्जवामनखञ्जकान्। अतिवृद्धानभार्यांश्च कृषिसक्तान्नृपस्य च ॥ धनवृद्धिप्रसक्तांश्च कामतोऽकारिणस्तथा। कुटिलोन्मादरोगांश्च परिविन्दन्न दुष्यति ॥ गीतवादित्रनिरतान्नर्तकान्पारदारिकान्। वशिकान् गारुडांश्चैव परिविन्दन्न दुष्यति ॥ योगशास्त्राभियुक्ते च द्विजे प्रव्रजिते तथा। नास्तिके चाग्निसंयोगे न दोषः परिवेदने ॥ पिता पितामहो यस्य अग्रजो वाऽप्यनग्निमान्। इज्यातपोऽग्निसंयोगे न दोषः परिवेदने ॥ परिवेदनवाक्ये ये श्रूयन्ते दोषसंयुताः। तेषामप्यधिकारोऽस्ति प्रायश्चित्तादनन्तरम् ॥ पिता पितामहो वापि नास्तिको वाप्यनाश्रमी। यस्य दोषोऽस्ति नैवेह तस्याधाने कदाचन ॥ अग्रजे सति निर्दुष्टे यवीयानग्निमान् भवेत्। प्रतिपर्वं भवेत्तस्य ब्रह्महत्या न संशयः ॥ नाग्नयः परिविन्दन्ति न वेदा न तपांसि च। न च श्राद्धं कनिष्ठस्य विरूपा या च कन्यका ॥ ज्येष्ठो भ्राता यदा तिष्ठेदाधानं नैव चाश्रयेत्। अनुज्ञातस्तु कुर्वीत शङ्खस्य वचनं यथा ॥ ज्येष्ठभ्रात्रा त्वनुज्ञातः कुर्यादग्निपरिग्रहम्। अनुज्ञातोऽपि सन्पित्रा नादध्यान्मनुरब्रवीत् ॥ धनवार्धुषिकं राजसेवकं कर्षकं तथा। प्रोषितं च प्रतीक्षेत वर्षत्रयमपि त्वरन् ॥ प्रोषितश्चेत्त्रिवर्षं स्यात् त्र्यब्दादूर्ध्वं समाचरेत्। आगते तु पुनस्तस्मिन्पादकृच्छ्रद्वयं चरेत् ॥ देशान्तरस्थो न ज्येष्ठो ज्ञायेताहितवानिति। कनीयानधिकारी चेदादधीताविचारयन्। द्वादशैव तु वर्षाणि ज्यायान् धर्मार्थयोगतः। न्याय्यः प्रतीक्षितो भ्राता श्रूयमाणः पुनः पुनः ॥ प्रोषितस्तु यदा ज्येष्ठो ज्ञायेतानाहितानलः। षड्वत्सरान् प्रतीक्षेत आदधीतानुजस्तथा ॥ पितरि प्रेतभार्ये वा देशान्तरगतेऽपि सन्। अधिकारविघातो हि न पुत्रस्योपजायते ॥ सोदराणां च सर्वेषां परिवेत्ता कथं भवेत्। दारैस्तु परिविद्यन्ते नाग्निहोत्रेण नेज्यया' ॥ इति ॥ १।२।२ ॥

प्रसङ्ग—अग्नि-स्थापन के लिए समय का प्रासंगिक विकल्प बतलाया गया है।

अनुवाद—कुछ आचार्यों का मत है कि भाइयों के बीच पैतृक सम्पत्ति के विभाजन के समय ही यह अग्न्याधान करना चाहिए।

व्याख्या—कुछ आचार्यों के विचार से यह 'अग्न्याधान' भाइयों के बीच पिता की मृत्यु के बाद दाय-विभाजन के समय ही होना चाहिए। अतः भ्रातृहीन व्यक्ति विवाहोपरान्त तथा कई भाईवाले पैतृक सम्पत्ति के बटवारे के समय ही अग्न्याधान करें। यह कर्काचार्य और जयराम की निष्कर्षात्मक व्यवस्था है। क्योंकि भर्तृयज्ञ-भाष्य के अनुसार—'पिता प्रत्तामादाय निष्क्रामति' (पा० गृ० सू० १।४।१५)। इस तरह अग्न्याधानकाल के सन्दर्भ में दो परस्पर विरोधी मतों के बीच सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयास कर्क और जयराम का इस प्रकार है—'अभ्रातृकस्य दारकाले भ्रातृमतो दायाद्यकाले।'

वैश्यस्य बहुपशोर्गृहादग्निमाहृत्य ॥ १।२।३ ॥

(**हरिहरभाष्यम्**)—वैश्यस्य बहुपशोर्गृहादग्निमाहृत्य ॥ १।२।३ ॥

(**गदाधरभाष्यम्**)—अग्न्याहरणार्थं योनिमाह—'वैश्यस्य···इति श्रुतेः' पशुभिः समृद्धस्य वैश्यस्य गृहादग्निं हुतोच्छिष्टमसंस्कृतं वा आनीयाधानं कुर्यात्। एके अरणिप्रदानम् अरण्युपादानकमिच्छन्ति। अयमर्थः—प्रशब्दोऽत्र उपशब्दार्थे, अरणीप्रदानमुपादानकारणमुत्पत्तिस्थानं यस्याग्नेः सोऽरणिप्रदानस्तमग्निमादधीतेति मन्यन्ते अतो विकल्पः। अत्र साङ्ख्यायनगृह्ये बहुपशुविट्कुलाम्बरीषबहुयाजिनामन्यतमं तस्मादग्निमिन्धीतेति। छन्दोगगृह्ये वैश्यकुलाद्वाऽम्बरीषाद्वाऽग्निमाहृत्याभ्यादध्यादपि वा बहुयाजिन एवाऽऽगाराद् ब्राह्मणस्य वा राजन्यस्य वा वैश्यस्य वाऽपि वा अन्यं मथित्वाऽभ्यादध्यात्पुण्यस्त्वेवानर्धुको भवतीति यथा कामयेत तथा कुर्यान्त्स एवास्य गृह्योऽग्निर्भवति इति। तथा गृह्यान्तरं छन्दोगभाष्ये—ब्राह्मणकुलात्तु ब्रह्मवर्चसकामोऽग्निमाहृत्यादधीत राजन्यादोजोवीर्यकामो वैश्यात्पशुकामोऽम्बरीषात् धनधान्यकाम आरणेयमुरुपुण्यकोशकाम इति। पुनराधाने अग्न्यनुगमने च आधाने या योनिरङ्गीकृता सैव भवति। तथा च छन्दोगभाष्ये—शाखान्तरगृह्यम् पूर्ववानुगतेऽग्नौ योनिः पुनराधेये चेति। वैश्यगृहाग्न्यभावे—शाखान्तरोक्ताया योनेरग्न्याहरणमिति हरिहरः। अस्मत्सूत्रोपरि तु वैश्यगृहादग्न्याहरणं वाऽरण्योरिति युक्तं न तु वैश्याभावे गृह्यान्तरोक्ताया योनेराहरणं, गृह्यान्तरयोन्यपेक्षया वरं विकल्पेन स्वगृह्योक्ता योनिर्ग्राह्येति नमो हरिहरमिश्रेभ्यः। यस्मिन्पक्षे वैश्यगृहादग्न्याहरणं तस्मिन्पक्षे यावज्जीवं वैश्यसन्निधौ निवासः, शान्तेऽग्नौ वैश्यकुलादाहृत्य सर्वप्रायश्चित्तं कृत्वा तेनैव विधिना यावज्जीवं वर्तयेदिति गर्गपद्धतौ ॥ १।२।३ ॥

प्रसङ्ग—अग्नि-स्थापन के लिए कहाँ से आग का आहरण करना चाहिए, इसका उल्लेख है।

अनुवाद—अत्यन्त धनसम्पन्न वैश्य के घर से आग लाकर चातुष्प्राश्य पाक की तरह अग्निस्थापन करना चाहिए।

व्याख्या—बहुपशोः=अत्यधिक पशुओं से समृद्ध, वैश्यस्य=वैश्य के, गृहात्=घर से, अग्निम्=आग, आहृत्य=लाकर, पूर्वलिखित विधि से अग्निस्थापन करे।

इस सन्दर्भ में गोभिल प्रभृति कतिपय आचार्यों का कहना है कि यदि वैश्य के घर की आग उपलब्ध न हो तो बाजे-गाजे के साथ वेदमंत्रोच्चार करते हुए भड़भूजे अथवा बहुयाजी ब्राह्मणों के घर से भी आग लाई जा सकती है। इसके बाद पाँच भूमि संस्कारों से सुसंस्कृत यज्ञीय भूमण्डप में उस आग को रखकर, ब्रह्मा-वरण तथा ब्राह्मण-भोजन के बाद यथाविहित कर्म प्रारम्भ करना चाहिए।

चातुष्प्राश्यपचनवत् सर्वम् ॥ १।२।४ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—चातुष्प्राश्यपचनवत्सर्वम्। तत्रावसथ्याधानङ्करिष्यन् उक्तकालातिक्रमाभावे ज्योतिःशास्त्रे अग्न्याधानार्थोपदिष्टमासतिथिनक्षत्रवारादिके काले प्रातः सुस्नातः सुप्रक्षालितपाणिपादः स्वाचान्तः सपत्नीकः गोमयोपलिप्ते शुचौ देशे स्वासने उपविश्य अद्येहेत्यादिदेशकालौ स्मृत्वा आवसथ्याग्निमहमाधास्य इति सङ्कल्पं विधाय मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकं श्राद्धं यथोक्तं कुर्यात्। कालातिक्रमे तु—'यावन्त्यब्दान्यतीतानि निरग्नेर्विप्रजन्मनः। तावन्ति कृच्छ्राणि चरेद्धौम्यं दद्याद्यथाविधि' ॥ इति वचनात् अतिक्रान्तसंवत्सरसङ्ख्यया प्राजापत्यरूपम्प्रायश्चित्तम्मुख्यविधिना चरित्वा तदशक्तौ प्रतिप्राजापत्यङ्गान्दत्त्वा तदलाभे तन्मूल्यं निष्कमेकमर्द्धन्तदर्द्धं वा द्वादशब्राह्मणभोजनमयुतगायत्रीजपं वा गायत्र्या तिलाज्यसहस्रहोमं वा शक्त्यपेक्षयाऽन्यतमं विधाय हौम्यं सायम्प्रातर्होमद्रव्यं प्रत्यहमाहुतिचतुष्टयपर्याप्तमतिक्रान्तदिवसान् गणयित्वा ब्राह्मणेभ्यो दद्यात्। तत्रावसथ्यप्रशंसावाक्यं गृह्यकाण्डे—'नावसथ्यात्परो धर्म्मो नावसथ्यात्परन्तपः। नावसथ्यात्परं दानन्नावसथ्यात्परं धनम् ॥ नावसथ्यात्परं श्रेयो नावसथ्यात्परं यशः। नावसथ्यात्परा सिद्धिर्नावसथ्यात्परा गतिः ॥ नावसथ्यात्परं स्थानं नावसथ्यात्परं व्रतम्'। इत्यावश्यकत्वान्नित्यम्, तस्मादकरणे प्रत्यवायात् तत्क्षयार्थं प्रायश्चित्तमुचितम्। तत्र वाक्यम्—आवसथ्याधानमुख्यकालातिक्रान्तैतावद्वर्षनिरग्नित्वजनितदुरितक्षयाय एतावन्ति प्राजापत्यव्रतानि चरिष्ये। तदशक्तौ प्राजापत्यप्रत्याम्नायत्वेन प्रतिप्राजापत्यमेकैकां गां ब्राह्मणेभ्योऽहं सम्प्रददे। एवमन्येषु गोमूल्यदाननिष्कतदर्द्धार्द्धद्वादशब्राह्मणभोजनायुतगायत्रीजपगायत्र्या तिलाहुतिसहस्ररूपेषु वाक्यमूहनीयम्। ततः स्वशाखाध्यायिनं कर्मसु तत्त्वज्ञं ब्राह्मणं गन्धपुष्पमाल्यवस्त्रालङ्कारादिभिरभ्यर्च्यामुकगोत्रममुकशर्माणममुकवेदममुकशाखाध्यायिनमावसथ्याधानं करिष्यन् कृताकृतावेक्षकत्वेन ब्रह्माणमेभिश्चन्दनपुष्पाक्षतवस्त्रालङ्कारैस्त्वामहं वृणे, वृतोऽस्मीति तेन वाच्यम्। केचिद् ब्रह्माणं मधुपर्केणार्चयन्ति ऋत्विक्त्वाविशेषात्। ततः पत्न्या सहाहते वाससी परिधाय अग्न्याधानदेशे स्थण्डिलमुपलिप्य पञ्च भूःसंस्कारान्कृत्वा तं देशमहतवाससा पिधाय ब्रह्मणा सह समृदं स्थालीमादाय ब्राह्मणैः परिवृतो वेदघोषमङ्गलगीतवाद्यादिभिर्जनितोत्साहो 'वैश्यस्य' तृतीयवर्णस्य 'बहुपशोः' पशुभिः समृद्धस्य तदलाभे गोभिलादिसूत्रवचनाद् भ्राष्ट्रगृहात् अम्बरीषाद् बहुयाजिनो ब्राह्मणस्य गृहात् वा बह्वन्नपाकात् ब्राह्मणस्य महानसाद्वा स्थाल्यामग्निं गृहीत्वा तथैव गृहमागत्य परिसमूहनादिपञ्चभूसंस्कारसंस्कृते स्थण्डिले प्राङ्मुख उपविश्यात्माभिमुखमग्निं निदध्यात्। ततो ब्रह्मोप-

वेशनादि ब्राह्मणभोजनान्तं वक्ष्यमाणं कर्म कुर्यात् । चातुष्प्राश्यपचनवत्सर्वमिति सूत्रकृता पूर्वपक्ष उपन्यस्तो न तु सम्मत इति कर्कोपाध्यायो भाष्ये निरूपितवान् ।।१।२।४।।

(गदाधरभाष्यम्)—'चातुष्प्राश्यपचनवत्सर्वमिति' । चातुष्प्राश्यपचनं यस्मिन् कर्मणि विद्यते तदिहापि सर्वं भवति, कुतः पञ्चमहायज्ञा इति श्रुतेः, पञ्चमहायज्ञानां श्रुतौ पाठस्तत्साधनभूतोऽयमग्निरतस्तद्वदिहापि सर्वं भवतीति पूर्वः पक्षः । सिद्धान्तस्तु उत्सूत्रः । चातुष्प्राश्यपचनवतीतिकर्तव्यता न भवतीति । यत्कारणम्, उपदेशातिदेशयोरन्यतरेण धर्माणां प्रवृत्तिः नात्रोपदेशो न चातिदेशः तस्मान्नैव चातुष्प्राश्यपचनवतीतिकर्तव्यता प्रवर्तते । ननु तर्हि किमर्थमिदमुक्तम्—आधानसामान्याद्वा श्रौतानां पञ्चमहायज्ञानां साधनभूतत्वाद्वा श्रौताऽऽधानधर्माः स्युरिति बुद्धिः स्यात्तां निराकर्तुमिदमुक्तमित्यदोषः । गृह्यान्तरे चानयैव भ्रान्त्या श्रौताधानेतिकर्तव्यता उक्ताऽस्ति तां निवारयितुमिह सूत्रकृता पूर्वपक्षः कृतः ।। १।२।४ ।।

अनुवाद—श्रौतकर्म-साधनभूत आग में चार याज्ञिकों के भोजन योग्य पाक की तरह सभी कर्म यहाँ भी करना चाहिए ।

व्याख्या—'चातुष्प्राश्यम्=चत्वारः याज्ञिकाः प्राश्नन्ति=भक्षयन्ति यस्मिन् कर्मणि तत् चातुष्प्राश्यम्' अर्थात् चार याज्ञिकों के भोजन योग्य कर्म को 'चातुष्प्राश्यम्' कहा जाता है । तदर्थं यत् पचनम्=इसके लिए जो पाक-क्रिया है, उसे ही चातुष्प्राश्यपचन कहते हैं । तद्वत् सर्वम्=उसी की तरह सभी कृत्य करने चाहिए । इस पर कर्काचार्य का कहना है कि पारस्कर ने पूर्वपक्ष के रूप में इसे उपन्यस्त किया है, यह उनका सिद्धान्त नहीं है । श्रौताधान में चातुष्प्राश्यपचन देखा जाता है । इसी तरह यहाँ भी अग्निमात्र का उपाधान कर आधान करना चाहिए । यह मत भी एकदेशीय ही है ।

अरणिप्रदानमेके ।। १।२।५ ।।

(हरिहरभाष्यम्)—अधुनाऽऽरणेयपक्षमाह—अरणिप्रदानमेके । एके आचार्याः अरणिप्रदानं प्रशब्द उपशब्दस्यार्थे अरणिप्रदानमुपादानं कारणम् उत्पत्तिस्थानं यस्याग्नेः सोऽरणिप्रदानस्तमरणिप्रदानमग्निमादधीतेति मन्यन्ते ।। १।२।५ ।।

(गदाधरभाष्यम्)—अरणिलक्षणं चोक्तं यज्ञपार्श्वसङ्ग्रहकारिकायाम्—अश्वत्थो यः शमीगर्भः प्रशस्तोर्वीसमुद्भवः । तस्य या प्राङ्मुखी शाखा उदीची चोर्ध्वगाऽपि वा ।। १ ।। अरणिस्तन्मयी ज्ञेया तन्मय्येवोत्तरारणिः । सारवद्दारवं चात्र मोविली च प्रशस्यते ।। २ ।। संसक्तमूलो यः शम्याः स शमीगर्भ उच्यते । अलाभे त्वशमीगर्भादाहरेदविलम्बितः ।। ३ ।। चतुर्विंशाङ्गुला दीर्घा विस्तारेण षडङ्गुला । चतुरङ्गुलमुत्सेधा अरणिर्याज्ञिकैः स्मृता ।। ४ ।। मूलादष्टाङ्गुलं त्यक्त्वा अग्राच्च द्वादशाङ्गुलम् । अन्तरं देवयोनिः स्यात्तत्र मथ्यो हुताशनः ।। ५ ।। मूर्धाक्षिकर्णवक्त्राणि कन्धरा चापि पञ्चमी । अङ्गुष्ठमात्राण्येतानि द्व्यङ्गुष्ठं वक्ष उच्यते ।।६।। अङ्गुष्ठमात्रं हृदयमङ्गुष्ठमुदरं तथा । एकाङ्गुष्ठा कटिर्ज्ञेया द्वौ बस्तिद्वौ च गुह्यके ।। ७ ।। ऊरू जङ्घे च पादौ च चतुस्त्र्येकैर्यथाक्रमम् । अरण्यवयवा ह्येते याज्ञिकैः परिकीर्तिताः ।। ८ ।। यत्तद्

गुह्यमिति प्रोक्तं देवयोनिः स उच्यते। तस्यां यो जायते वह्निः स कल्याणकृदुच्यते ॥ ९ ॥ प्रथमे मन्थने ह्येष नियमो नेतरेषु च। अष्टाङ्गुलः प्रमन्थः स्याच्चात्र स्याद् द्वादशाङ्गुलम् ॥ १० ॥ ओविली द्वादशैव स्यादेतन्मन्थनयन्त्रकम्। गोबालैः शणसम्मिश्रैस्त्रिवृद्वृत्तमनंशुकम् ॥ ११ ॥ व्यामप्रमाणं नेत्रं स्यात्तेन मथ्यो हुताशनः। चात्रबुध्ने प्रमन्थाग्रं गाढं कृत्वा विचक्षणः ॥ १२ ॥ बहुदिने मन्थनेन प्रमन्थनाशे तत्रैवोक्तम्—उत्तराया अभावाद्धि ग्राह्यो मन्थोऽधरारणेः ॥ १३ ॥ व्याख्यातं कैश्चिदेवं तन्निर्मूलत्वादुपेक्ष्यते। मानप्रकारो यज्ञपार्श्वे—शिरश्चक्षुः कर्णमास्यं प्रथमेंऽशे प्रकीर्तितम् ॥ १४ ॥ द्वितीये कन्धरा वक्षो तृतीये ह्युदरं स्मृतम्। चतुर्थे चैव योनिः स्यादूरुद्वन्द्वं च पञ्चमे ॥ १५ ॥ षष्ठे जङ्घे तथा पादौ पूर्णा चारणिरङ्गतः। यदि मन्थेच्छिरस्यग्निं शिरोरोगैः प्रमीयते ॥ १६ ॥ यजमानस्तथा कण्ठे ह्यंसे चैव विशेषतः। मन्थेद्यो यजमानस्तु पक्षहीनो भवेद् ध्रुवम् ॥ १७ ॥ यो मन्थत्युदरे कर्ता क्षुधया म्रियते तु सः। देवयोन्यां तु यो मन्थेद् देवसिद्धिः प्रजायते ॥ १८ ॥ मन्थेदूरुद्वये यस्तु राक्षसं कर्म तस्य तत्। जङ्घायां यातुधानेभ्यः पादयोः स्यात्पिशाचके ॥ १९ ॥ प्रथमे मन्थने ज्ञेयं द्वितीयादौ न शोधयेत्। अष्टाऽङ्गुलः प्रमन्थः स्याद्दीर्घो द्व्यङ्गुलविस्तृतः ॥ २० ॥ उत्सेधो द्व्यङ्गुलस्तस्य त्वैशानपूर्वं उर्ध्वगः। एवमष्टादश प्रोक्ताः प्रमन्था ह्युत्तरारणेः ॥ २१ ॥ पादौ तस्याः स्मृतं मूलमग्रस्तु शिर उच्यते। अध्वर्युः प्राङ्मुखो मन्थेत् प्रत्यग्दिक्चरणा हि सा ॥ २२ ॥ ओविली यजमानेन धृत्वा गाढं च मन्थयेत्। मथ्नीयात्प्रथमं पत्नी यद्वा कश्चिद् दृढो द्विजः ॥ २३ ॥ मूलादष्टाङ्गुलं त्यक्त्वा अग्राच्च द्वादशाङ्गुलम्। अन्तरा देवयोनिः स्यात्तत्र मथ्यो हुताशनः ॥ २४ ॥ मूलादङ्गुलमुत्सृज्य अग्रात्सार्द्धाङ्गुलं तथा। योनिमध्ये पुनर्मानं कृत्वा मथ्यो हुताशनः ॥ २५ ॥ नान्यवृक्षेण मथ्नीयान्न कुर्याद्योनिसङ्करम्। क्लेदिता स्फाटिता चैव सुषिरा ग्रन्थिमस्तका ॥ २६ ॥ चतुर्विधाऽरणिस्त्याज्या श्रेयस्कामैर्द्विजातिभिः। क्लेदिता हरते पुत्रान् स्फाटिता शोकमावहेत् ॥ २७ ॥ ग्रन्थिमूर्द्धा हरेत्पत्नीं सुषिरा पतिमारिणी ॥ इति श्रौतस्मार्ताधानेऽरणिलक्षणम्। इतरेषु च संस्कारेष्वरणिर्द्वादशाङ्गुला। मूलात्त्रिभागजननिस्तदर्धेनोत्तरारणिः ॥ वक्ष्ये जातारणेः पक्षं कुमाराग्नेः प्रसिद्धये। निर्माय यन्त्रविहितं पिता संस्थाप्य यत्नतः ॥ जाते कुमारे मथ्नीयादग्निं यथाविधि स्वयम्। आयुष्यहोमान् जुहुयात्तस्मिन्नग्नौ समाहितः ॥ तत्रान्नप्राशनं चौलं मौञ्जीबन्धनमेव च। व्रतादेशश्च कर्तव्यस्तस्मिन्गोदानिकाः क्रियाः ॥ १।२।५ ॥

प्रसङ्ग—आरणेय अग्नि में ही यज्ञ करने का विधान है, यही प्रसंग उल्लिखित किया जा रहा है।

अनुवाद—यज्ञ की आग उत्पन्न करने के लिए अरणि का प्रदान अर्थात् उपादान किया जाय, ऐसा किसी आचार्य का मत है।

व्याख्या—शमी की लकड़ी का टुकड़ा, जिसके घर्षण से यज्ञ के अवसर पर आग उत्पन्न की जाती है, उसे 'अरणि' कहते हैं। शमी के पेड़ पर स्वतः उत्पन्न पीपल की वह डाल, जो पूरब की ओर फैली हो; अग्नि-मन्थन के लिए उसी की लकड़ी से

'अरणि' बनाई जाती है। यह अरणि २४ अंगुल लम्बी, छः अंगुल चौड़ी और चार अंगुल मोटी होनी चाहिए। जड़ की ओर आठ अंगुल तथा आगे की ओर बारह अंगुल के भाग को छोड़कर बीच के चार अंगुल में ही अग्नि का निवास होता है, क्योंकि इसे ही देवयोनि कहा गया है। अतः इसी तरह की लकड़ी के घर्षण से अग्नि उत्पन्न करनी चाहिए। प्रथम घर्षण के बाद इस नियम को शिथिल किया जा सकता है। अरणि-मन्थन के क्रम में यह कहा गया है कि सर्वप्रथम यज्ञ करने वाले यजमान की पत्नी को अरणिमन्थन करना चाहिए, तत्पश्चात् किसी बलिष्ठ ब्राह्मण को। अरणि के चार अवयव माने गये हैं—उत्तरारणि, आविली, नेत्र और रस्सी। आविली और नेत्र की सहायता से उत्तरारणि को अधरारणि पर रगड़कर आग प्रज्वलित की जाती है।

प्रदानम्—यहाँ 'प्र' शब्द 'उप' उपसर्ग के अर्थ में प्रयुक्त है। इसलिए प्रदान का अर्थ यहाँ उपादानकारण अर्थात् उत्पत्ति-स्थान माना गया है।

पञ्चमहायज्ञा इति श्रुतेः ॥ १।२।६ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'पञ्चमहायज्ञा इति श्रुतेः' पञ्चमहायज्ञानां श्रौतत्वात् आरणेयेऽग्नावनुष्ठानं युक्तमित्यभिप्रायः। ततो ब्रह्मोपवेशनादि आज्यभागान्तं कर्म कृत्वा ॥ १।२।६ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—कुर्याद्वैवाहिको होमो वह्नौ तस्मिन्समाहितः। शालाग्निकर्म तत्रैव कुर्यात्पक्ति च नैत्यकीम् ॥ नित्यहोमं पञ्चयज्ञान् कुर्यात्तस्मिन्ननाहितः। स्मार्तं-संस्थादिकं यच्च तत्सर्वं तत्र गद्यते ॥ इति। जातारणिपक्षस्तु युगान्तरे भवति न कलौ। प्रजार्थं तु द्विजाग्र्याणां प्रजारणिपरिग्रहः ॥ इति कलिवर्ज्यत्वात्। दानवाचनान्वारम्भ ण्वरवरणव्रतप्रमाणेषु यजमानं प्रतीयादिति परिभाषितत्वात् यजमानाङ्गुलादिमानं ग्राह्यम्। अङ्गुष्ठाङ्गुलमानं तु यत्र यत्रोपदिश्यते। तत्र तत्र बृहत्पर्वग्रन्थिभिर्मिनुयात्-सदा ॥ इति छन्दोगपरिशिष्टम्। बृहत्पर्वाणि मध्यपर्वाणि तन्मूलग्रन्थयो यत्राङ्गुष्ठनोदना तत्राङ्गुष्ठस्याङ्गुलिनोदनायामङ्गुलीनाम्। छन्दोगानां स्वपरिशिष्टोक्तत्वादङ्गुष्ठैररणि-मानम्। वाजिनां तु यज्ञपार्श्वादङ्गुलैरिति। सूत्रोक्तपक्षस्तु यजमानेनोर्ध्वबाहुप्रपदो-च्छ्रितेन समस्थितेन वेति। पञ्चारत्निर्दशवितस्तिर्विंशशतिशताङ्गुलः पुरुष इति सूत्रात्तु पुरुषस्य पञ्चमोंऽशोऽरत्निस्तच्चतुर्विंशोऽङ्गुलमिति रामवाजपेयिभिराधानप्रकरणे उक्तम्। अथात्र पात्रलक्षणमुच्यते। तत्र यज्ञपार्श्वसङ्ग्रहकारिकायाम्—खादिरः स्फ्या-कृतिर्वज्रोऽरत्निमात्रः प्रशस्यते। आसनं ब्रह्मणः कार्यं वारणं वा विकङ्कतम् ॥ हस्तमात्रं चतुःस्रक्ति मूलदण्डसमन्वितम्। द्विषडङ्गुलसङ्ख्याको मूलदण्डो विकङ्कतः ॥ प्रस्थमात्रो-दकग्राही प्रणीताचमसो भवेत्। वैकङ्कतं पाणिमात्रं प्रोक्षणीपात्रमुच्यते ॥ हंसमुखप्रसेकं च त्वग्बिलं चतुरङ्गुलम्। आज्यस्थाली तु कर्तव्या तैजसद्रव्यसम्भवा ॥ माहेयी वापि कर्तव्या नित्यं सर्वाग्निकर्मसु। आज्यस्थाल्याः प्रमाणं तद्यथाकामं तु कारयेत् ॥ मृन्मय्यौ-दुम्बरी वापि चरुस्थाली प्रशस्यते। तिर्यगूर्ध्वं समिन्मात्रदृढा नातिबृहन्मुखी ॥ कुलाल-चक्रघटितमासुरं मृन्मयं स्मृतम्। तदेव हस्तघटितं स्थाल्यादि खलु दैविकम् ॥ यज्ञ-

वास्तुनि मुष्टौ च स्तम्बे दर्भवटौ तथा । दर्भसङ्ख्या न विहिता विष्टरास्तरणेषु च ॥ अङ्गुष्ठपर्ववृत्तश्चारत्निमात्रः स्रुवो भवेत् । पुष्कराद्धं भवेत्खातं पिण्डकार्द्धं स्रुचस्तथा ॥ पिण्डकार्द्धं मुष्टयर्द्धमित्यर्थः । यावताऽन्नेन भोक्तुस्तु तृप्तिः पूर्णैव जायते । तं वरार्थमतः कुर्यात्पूर्णपात्रमिति स्थितिः ॥ यवैर्वा व्रीहिभिः पूर्णं भवेत्तत्पूर्णपात्रकम् । वरोऽभिलषितं द्रव्यं सारभूतं तदुच्यते ॥ अष्टमुष्टि भवेत् किञ्चित् किञ्चिदष्टौ च पुष्कलम् । पुष्कलानि च चत्वारि पूर्णपात्रं विधीयते ॥ इत्याधानपात्राणि ।

अन्यान्यप्यत्रैव लिख्यन्ते—शूर्पं त्वरत्निमात्रं स्यादैषिकं वैणवं तु वा । लम्बं त्वरत्निमात्रं स्यादुपला च दृषत्तथा ॥ विस्तारो दृषदः प्रोक्तो द्वादशाङ्गुलसङ्ख्यया । पालाशं जानुमात्रं स्यात्पृथुबुध्नमुलूखलम् ॥ अर्द्धखातं बृहद्वक्रं मध्ये रास्नासमन्वितम् । खादिरं मुसलं प्रोक्तमरत्नित्रयसम्मितम् ॥ प्रादेशमात्रं विज्ञेयं मेक्षणं तु विकङ्कतम् । वृत्तमङ्गुष्ठपर्वाग्रमवदानक्रियाक्षमम् ॥ ईदृश्येव भवेद्दर्वी विशेषस्तामहं ब्रुवे । वारण्यरत्निमात्रा स्यात्तुर्यांशाधिकपुष्करा ॥ हस्ताकारा च पृथ्वग्रा अग्रे सर्पफणाकृतिः । आकर्षफलकं हस्तमात्रं स्याद्धनुराकृतिः ॥ अग्रे सर्पफणाकारं खादिरं वा विकङ्कतम् । कङ्कतानि त्रिदन्तीनि वारणानि भवन्ति हि ॥ वारण्यरत्निमात्रा स्यादभ्रिः शासं दशाङ्गुलम् । द्वात्रिंशदङ्गुला शम्या वारणीत्यभिधीयते ॥ श्रपर्णान्परिधीन् कुर्याद् बाहुमात्रानपुष्करान् । श्रीपर्ण्यौ हस्तमात्रे च श्रपण्यौ शूलमेव च ॥ तच्छूलं यस्य कस्यापि यज्ञियस्य तरोर्भवेद् । लौही वा मृन्मयी वा स्यात्पशूखा च यथार्थतः ॥ लौही ताम्रमयी वापि कुर्याच्चैव यथार्थतः । पात्राणि वारणान्यत्र यानि प्रोक्तान्यसम्भवे ॥ वैकङ्कतानि कार्याणि सूत्रान्तरमतादपि । अभावे मुख्यवृक्षस्य यज्ञियस्य तरोरिह ॥ यत्किञ्चित्पात्रजातन्तदिति भास्करसम्मतिः । अश्वत्थस्यारणी ग्राह्या नान्यस्मादेव वृक्षतः ॥ एवं सर्वेषु शास्त्रेषु दृष्टा सूत्रान्तरेष्वपि । 'अग्न्याधेयदे······भवतन्न इत्यष्टौ' श्रौतस्याग्न्याधेयस्य देवताः अग्निः पवमानोऽग्निः पावकोऽग्निः शुचिरदितिश्चेति । आभ्यः स्थालीपाकमोदनमुक्तप्रकारेण श्रपयित्वा आज्यभागौ हुत्वा त्वन्नो अग्न इत्याद्यष्टभिराज्येनाहुतयो होतव्याः । अत्र चरुर्व्रीहीणां भवति ॥ १।२।६ ॥

अनुवाद—श्रुति अर्थात् वेद के कथनानुसार पाँच महायज्ञ करना चाहिए ।

व्याख्या—चातुष्प्राश्य नामक पचनाग्नि में किये गये यज्ञ की तरह ही पञ्चमहायज्ञ भी करने चाहिए । यह वाक्यार्थ है, सिद्धान्तपक्ष कोई नहीं । क्योंकि यह न तो उपदेश वाक्य है और न अतिदेश वाक्य ही ।

अग्न्याधेयदेवताभ्यः स्थालीपाकꣳश्रपयित्वाऽऽज्यभागाविष्ट्वाऽऽज्याहुतीर्जुहोति ॥ १।२।७ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अग्न्याधेयदेवताभ्यः स्थालीपाकꣳ···इत्यष्टौ' अग्न्याधेयस्य श्रौतस्य देवताः अग्निः पवमानोऽग्निः पावकोऽग्निः शुचिरदितिश्च अग्न्याधेयदेवताः ताभ्यः स्थालीपाकं चरुं श्रपयित्वा यथाविधि पक्त्वा आज्यभागौ आग्नेयसौम्यौ आघारपूर्वकौ हुत्वा आज्येन आहुतयो होतव्याः आज्याहुतयस्ता आज्याहुतीर्जुहोति ॥१।२।७॥

(गदाधरभाष्यम्)—कामादीजानोऽन्यत्रापि व्रीहियवयोरेवान्यतरꣳ स्थालीपाकꣳ श्रपयेत् । न पूर्वचोदितत्वात्सन्देहोऽसम्भवाद्विनिवृत्तिरिति सीतायज्ञे वक्ष्यमाणन्यायात् । अयमर्थः सूत्रस्य—कामादिच्छया अन्यत्र पक्षादिषु यागं कुर्वन् व्रीहियवयोरन्यतरं चरुं श्रपयेत्, नैवात्र सन्देहः, कुतः ? व्रीहीन्यवान्वा हविषीति पूर्वं चोदितत्वादुक्तत्वात् । यावस्य चरोरसम्भवात् विनिवृत्तिः पूर्वचोदितस्य व्रीहीन्यवान्वेत्यस्य । अनवस्त्रावितान्तरोष्मपक्वे ईषदसिद्धे तण्डुलपाके चरुशब्दप्रसिद्धेः । आग्रयणेष्टौ व्रीहीणां यवानां चेति सूत्रणाच्च । व्रीहीन्यवान्वा हविषीति परिभाषणादग्रपाकस्येत्येतावत्युक्तेऽपि व्रीहीणां यवानामग्रपाकस्येति सिध्यति, किमर्थं व्रीहीणां यवानामिति ग्रहणम् ? उच्यते—वैश्वदेवश्चरुर्विहितः सोऽपि यावो यथा स्यादिति यवानामित्युक्तं व्रीहिग्रहणं तु यवानामेवेति नियमो मा भूदिति । अतः सर्वत्र व्रीहीणामेव चरुः कार्यं इति गम्यते श्रपयित्वेति ग्रहणं सिद्धचरोरुपादाननिवृत्त्यर्थम् ।। १।२।७ ।।

अनुवाद—अग्नि में आधेय देवताओं के लिए पतीली प्रभृति में चरु पकाकर अर्थात् चावल पकाकर आज्यभाग नामक आहुतियों को देकर तत्पश्चात् घी की आहुतियाँ दें ।

व्याख्या—अग्न्याधेय निम्नलिखित चार देवता है—१. पवमान, २. पावक, ३. शुचि, ४. अदिति ।

आहुतियाँ निम्न प्रकार से दे—

'ॐ प्रजापतये स्वाहा, इदं प्रजापतये न मम' । इसका मन ही मन उच्चारण करे । तत्पश्चात्—'ॐ इन्द्राय स्वाहा, इदमिन्द्राय न मम । ॐ अग्नये स्वाहा, इदमग्नये न मम । ॐ सोमाय स्वाहा, इदं सोमाय न मम' । इस तरह आज्यभाग की आहुति से हवन कर स्रुवा में लगे हुतशेष घी को प्रोक्षणीपात्र में डाल दे ।

ॐ 'त्वन्नोऽअग्ने' 'सत्वन्नोऽअग्न' 'इमम्मे वरुण' 'तत्त्वायामि' 'ये ते शतम्' 'अयाश्चाग्न' 'उदुत्तमम्' 'भवतन्न' इत्यष्टौ ।। १।२।८ ।।

(हरिहरभाष्यम्)—त्वन्नो अग्न इत्यादिभिर्भवतन्न इत्यष्टौ ताभिरष्टभिर्ऋग्भिः प्रत्यृचमष्टौ । ननु अग्न्याधेयदेवताभ्यो हुत्वा जुहोति इति वक्ष्यति तत्किमर्थमत्राग्न्याधेयदेवताभ्य इत्युक्तम्, बह्वीनां देवतानां देवतात्वज्ञापनायेति चेत्, ननु बहुत्वमस्त्येव कुत इयं शङ्का पवमानादिविशेषणविशिष्टस्याग्नेरेकत्वात् । अग्नेरेका अदितिर्द्वितीयेति द्वे एवाग्न्याधेयदेवते इति द्वयोरेव देवतात्वं मा भूदिति । पुनर्ग्रहणात् बह्वीनामेव देवतात्वं, विशिष्टस्य देवतान्तरत्वमिति इन्द्रमहेन्द्राधिकरणे जैमिनीयैर्निर्णीतत्वात् । आज्यभागाविष्ट्वेति किमर्थम्पुनर्वचनम् आधारादीनां चतुर्दशानां क्रमेण पठिष्यमाणत्वात्, उच्यते । आज्याहुतीनां किं स्थानमिति संशये आज्याहुतिस्थानविधानार्थम्, अष्टग्रहणं तु मन्त्रप्रतीकसंशयनिवृत्त्यर्थम् । 'पुरस्तादेवमुपरिष्टात्स्थालीपाकस्याग्न्याधेयदेवताभ्यो हुत्वा जुहोति' पुरस्तात् पूर्वं, कस्य अग्न्याधेयदेवताहोमस्याष्टौ जुहोति यथा ।।१।२।८।।

(गदाधरभाष्यम्)—आधारावाज्यभागावित्यनेन प्राप्तत्वात् पुनराज्यभागग्रहणं

अष्टाज्याहुतीनामवसरविधानार्थम्, अष्टाविति ग्रहणं मन्त्रप्रतीकसंशयनिराकरणार्थम् । यद्यष्टसङ्ख्याग्रहणं न क्रियते तर्हि त्वन्नो अग्ने नयेति द्वितीया शङ्क्येत तथा सत्वन्नो अग्ने सहस्राक्षेति । त्वन्नो अग्न इति प्रथमा, सत्वन्नो अग्न इति द्वितीया, इमं मे वरुणेति तृतीया, तत्त्वायामि इति च०, ये ते शतमिति पं०, अयाश्चाग्न इति ष०, उदुत्तममिति स०, भवतन्न इत्यष्ट० । 'पुरस्ता'''जुहोति' अग्न्याधेयदेवताभ्य इत्यवाच्यम् । अग्न्याधेय-देवताभ्यो हुत्वेति वक्ष्यमाणत्वात् । वाच्यं वा अग्न्याधेये हि विकल्पेन द्वयोरपि देवता-त्वमस्ति तयोर्देवतात्वं मा भूत् । किन्तु बहुत्वविशिष्टानामत्र देवतात्वं यथा स्यादित्य-दोषः । स्थालीपाकस्येत्यवयवषष्ठी । पुरस्तात्स्थालीपाकस्य स्थालीपाकात्पूर्वमष्टर्चं-होमः ॥ १।२।८ ॥

अनुवाद—'त्वन्नो अग्न' इत्यादि आठ मन्त्रों के ये प्रतीक मात्र हैं । सम्पूर्ण मन्त्र नीचे दिये जा रहे हैं—

(१) ॐ त्वं नो अग्ने वरुणस्य विद्वान् देवस्य हेडो अवयासिसीष्ठाः ।
यजिष्ठो वह्नितमः शोशुचानो विश्वा द्वेषांᳬसि प्रमुमुग्ध्यस्मत् ॥

स्वाहा, इदमग्निवरुणाभ्यां न मम । (यजु० २१।३)

मन्त्रार्थ—(ऋषि वामदेव; त्रिष्टुप् छन्द; अग्नि और वरुण देवता ।) हे अग्नि-देव ! आप सब कुछ जानते हैं, यज्ञादि सम्पूर्ण कर्मों के प्रधान हैं । आप हविष्-वाहक और कान्तिमान् हैं । आप की कृपा से वरुण देव मुझ पर प्रसन्न हों । आप हमारे सम्पूर्ण दुर्भाग्य को हमसे दूर कर दो ।

(२) ॐ स त्वं नो अग्नेऽवमो भवोती नेदिष्ठो अस्या उषसो व्युष्टौ ।
अवयक्ष्व नो वरुणᳬ रराणो वीहि मृडीकᳬ सुहवो न एधि ॥

स्वाहा, इदमग्निवरुणाभ्यां न मम । (यजु० २१।४)

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव ! हमें सम्पन्न बनाने के लिए आप अपने समग्र रक्षा-साधनों के साथ इस प्रभातवेला में हमारे पास आकर हमारी रक्षा करें । हमारी आहुति हमारे राजा वरुण के पास पहुँचाकर उन्हें सन्तुष्ट करें । हम अपने सुखकारी हवि का भोजन करने के लिए आपका आवाहन करते हैं ।

(३) ॐ इमं मे वरुण श्रुधी हवमद्या च मृडय । त्वामवस्युराचके ॥

स्वाहा, इदं वरुणाय न मम । (यजु० २१।१)

मन्त्रार्थ—(ऋषि शुनःशेप; गायत्री छन्द; वरुण देवता ।) हे वरुणदेव ! हम आत्मरक्षा हेतु आपका आवाहन करते हैं । आप हमारी बातें सुनें तथा हमें हर तरह की सुख-सुविधा प्रदान करें ।

(४) ॐ तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदाशास्ते यजमानो हविर्भिः ।
अहेडमानो वरुणेह बोध्युरुशᳬस मा न आयुः प्रमोषीः ॥

स्वाहा, इदं वरुणाय न मम । (यजु० २१।२)

मन्त्रार्थ—(ऋषि शुनःशेप; त्रिष्टुप् छन्द; वरुण देवता।) हे वरुणदेव ! मैं आपकी स्तुति करते हुए आपसे उस फल की याचना करता हूँ, जिसकी अभिलाषा प्रत्येक हविष्यदाता यजमान करता है। आप हमें धन तथा पुत्र दें।

(५) ॐ ये ते शतं वरुण ये सहस्रं यज्ञियाः पाशा वितता महान्तः।
तेभिर्नो अद्य सवितोऽतविष्णुर्विश्वे मुञ्चन्तु मरुतः स्वर्काः॥

स्वाहा, इदं वरुणाय सवित्रे, विष्णवे विश्वेभ्यो देवेभ्यो मरुद्भ्यः स्वर्केभ्यश्च न मम।

मन्त्रार्थ—(ऋषि वामदेव; जगती छन्द; वरुण देवता।) हे वरुणदेव ! आपके पास शस्त्र की तरह प्रयुक्त होने वाले असंख्य यज्ञों से उत्पन्न पाश हैं, जो विस्तृत और अपरिहार्य हैं। हम सभी उनमें जकड़े हैं। सर्वपूज्य सूर्य, भगवान् विष्णु एवं मरुद्गण हमें वरुणदेव के उन बन्धनों से मुक्त करें।

(६) ॐ अयाश्चाग्नेस्यनभिशस्तिपाश्च सत्यमित्वमया असि।
अयानो यज्ञं वहास्य यानो धेहि भेषजम्॥

स्वाहा, इदं अग्नये अयसे न मम।

मन्त्रार्थ—(ऋषि वामदेव; त्रिष्टुप् छन्द; अग्नि देवता।) हे अग्निदेव ! आपका निवास भीतर-बाहर सभी जगह समान रूप से है। अनभिशस्त लोगों को आत्मसात् कर उन्हें आप पवित्र बना देते हैं। प्रायश्चित्त अनुष्ठान के द्वारा उनके कर्मपालक हैं। यह भी सच है कि आप शुभ-प्रणेता हैं। यही कारण है कि आप हमारे पवित्र हृदय में रहकर हमारे यज्ञ का वहन करते हैं। आप हमें औषधि प्रदान करें।

(७) ॐ उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय।
अथा व्वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम॥

स्वाहा, इदं वरुणाय न मम। (यजु० १२।१२)

मन्त्रार्थ—(ऋषि शुनःशेप; त्रिष्टुप् छन्द; वरुण देवता।) हे वरुणदेव ! आप सभी प्राणियों को बन्धनों और संतापों से मुक्त करने वाले हैं। हमारे मस्तिष्क और कण्ठ प्रभृति उत्तमाङ्गों तथा कमर आदि निम्न अवयवों में पड़े अपने बन्धनों से हमें छुटकारा दीजिए, जिससे आपराधिक मनोवृत्ति से मुक्त होकर हम अपने अनुष्ठानों को सम्पादित कर सकें। हे अदितिनन्दन वरुण ! आप हमें दैन्यरहित अखण्ड ऐश्वर्य पाने का अधिकारी बना दें।

(८) ॐ भवतन्नः समनसौ सचेतसावरेपसौ।
मा यज्ञꣳहिꣳसिष्टं म्मा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य नः॥

स्वाहा, इदं जातवेदोभ्यां न मम। (यजु० ५।३)

मन्त्रार्थ—(ऋषि प्रजापति; पंक्ति छन्द; जातवेदस् देवता।) हे जातवेदस् ! आप दोनों के मन एक हैं, चेतना एक है। हमारे प्रयोजनों की सिद्धि के लिए, हमसे

अपराध होने पर भी आप हम पर क्रोध न करें, हमारे यज्ञों को नष्ट न करें। यजमानों का वध न करें, हमारे यज्ञों को विनष्ट न करें। आप हमारे लिए मंगलमय हों।

इस तरह पूर्वोक्त आठ मन्त्रों से घी की आठ आहुतियाँ दें, फिर चरु-होम करें।

पुरस्तादेवमुपरिष्टात् स्थालीपाकस्याग्न्याधेयदेवताभ्यो हुत्वा जुहोति ॥ १।२।९ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'एवमुपरिष्टात्' एवं तथा त्वन्नो अग्न इत्यादिना क्रमेण उपरिष्टादूर्ध्वं जुहोत्यष्टौ किं कृत्वा हुत्वा काभ्यः अग्न्याधेयदेवताभ्यः पूर्वोक्ताभ्यः कस्य स्थालीपाकस्य चरोः स्थालीपाकस्येत्यवयवलक्षणा षष्ठी ॥ १।२।९ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—अग्न्याधेयदेवताभ्यो हुत्वा एवमुपरिष्टादष्टर्चं-होमः ॥ १।२।९ ॥

अनुवाद—इसी प्रकार अग्न्याधेय देवताओं के लिए चरु अर्थात् सिद्धान्न की आहुतियाँ देकर, बाद में भी पूर्वोक्त 'त्वन्नो अग्ने' आदि आठ मन्त्रों से घी की आहुतियाँ देनी चाहिए।

व्याख्या—कुछ आचार्यों के मत से निम्नलिखित चार मन्त्रों से चार आहुतियाँ दें—(१) ॐ अग्नये पवमानाय स्वाहा, इदमग्नये पवमानाय न मम। (२) ॐ अग्नये पवमानाय स्वाहा, इदमग्नये पवमानाय न मम। (३) ॐ अग्नये शुचये स्वाहा, इदमग्नये शुचये न मम। (४) ॐ अदित्यै स्वाहा इदमदित्यै न मम।

स्विष्टकृते च ॥ १।२।१० ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'स्विष्टकृते च' स्विष्टकृते चाग्नयेऽष्टर्चहोमान्ते स्थाली-पाकस्य हुत्वा चशब्दात् ॥ १।२।१० ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'स्विष्टकृते चायास्यग्नेर्वषट्कृतं यत्कर्मणात्यरीरिचं देवा-गातुविद इति ॥ १।२।१० ॥

अनुवाद—इसके बाद स्विष्टकृत मन्त्र से आहुति दें।

व्याख्या—'ॐ यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचं यद्वान्यूनमिहाकरम् अग्निष्ट्वस्विष्टकृद्वि-द्यात्तत्सर्वं स्विष्टं सुहुतहुतं करोतु मे। अग्नये स्विष्टकृते सुहुतहुते सर्वकामानां समर्ध-यित्रे सर्वान्नः, कामान् समर्धय स्वाहा, इदमग्नये स्विष्टकृते प्रायश्चित्ताहुतीनाम्' इस मन्त्र से चरु की एक आहुति दें। यहाँ च शब्द चरु के लिए ही प्रयुक्त है।

अयास्यग्नेर्वषट्कृतं यत् कर्मणात्यरीरिचं देवागातुविद इति ।१।२।११।

(हरिहरभाष्यम्)—'अयास्यग्नेर्वषट्कृतं यत्कर्मणात्यरीरिचं देवा गातुविद इति' अयास्यग्नेर्वषट्कृतमित्यनेन मन्त्रेणाज्याहुतिं जुहोति। ननु स्विष्टकृते इति किमर्थमुक्तं प्राङ्महाव्याहृतिभ्यः स्विष्टकृदन्यच्चेदाज्याद्धविरिति वक्ष्यमाणत्वादत्र चान्यस्य हविषः

सद्भावात् प्राङ्महाव्याहृतिभ्यः प्राप्तत्वात्स्विष्टकृद्धोमस्य। उच्यते—अयास्यग्नेरिति आज्याहुतेर्महाव्याहृतिभ्यः पूर्वं प्राप्त्यर्थम् ॥ १।२।११ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—उपरितनान्ते अष्टर्चहोमान्तस्थालीपाकस्याग्नये स्विष्टकृते स्वाहेति आहुतिं जुहोति। चशब्दादाज्येन अयास्यग्न इति मन्त्रेणाहुतिं जुहुयात्। स्विष्टकृद्धोमस्य प्राप्तत्वात् पुनर्ग्रहणमयास्यग्न इति होमस्यावसरविधानार्थम्। मन्त्रस्यायमर्थः—हे देवागातुविदो यज्ञवेत्तारो देवाः! अग्नेः सम्बन्धि यद्वषट्कृतं हुतं यत् येन कर्मणा यजनविधिना कृत्वा अहमत्यरीरिचमधिकं कृतवानस्मीति तेन कर्मणा प्रसन्नानां भवतां प्रसादात्तदयासि अनश्वरमव्याहतमस्तु ॥ १।२।११ ॥

अनुवाद—'अयास्याग्ने' इत्यादि मन्त्र से अन्त में घी की आहुति दे।

मन्त्रार्थ—(गौतम ऋषि; गायत्री छन्द; गातुविद देवता।) हे यज्ञ के जानकार देवगण! अग्निदेव के लिए 'वषट्कार' करके मैं यज्ञानुष्ठान का अधिकारी बना हूँ। हमारे यज्ञ से प्रसन्न होकर आप हम पर सदैव कृपालु बने रहें।

व्याख्या—इसके वाद 'ॐ भूः स्वाहा, इदमग्नये न मम; ॐ भुवः स्वाहा, इदं वायवे न मम; ॐ स्वः स्वाहा, इदं सूर्याय न मम'—इन तीन आहुतियों को देकर यज्ञकर्त्ता निज स्वत्व का त्याग करे तथा 'त्वन्नो अग्ने, स त्वन्नो, अयाश्चाग्ने, ये ते शतम्, उदुत्तमम्' इन पांच मन्त्रों की ही आहुतियाँ पहले की तरह दे तथा 'ॐ प्रजापतये स्वाहा, इदं प्रजापतये न मम, इति मनसा'। इस प्रकार नौ आहुतियाँ दे। इसका उल्लेख प्रथम कण्डिका में है।

बर्हिर्हुत्वा प्राश्नाति ॥ १।२।१२ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'बर्हिर्हुत्वा प्राश्नाति' बर्हिः परिस्तरणार्थम् अग्नौ प्रक्षिप्य प्राश्नाति भक्षयति। अत्र प्राशनोपदेशसामर्थ्यात् प्राश्यमाकाङ्क्षितम्, तत्किं हुतशेषः अन्यद्वा किञ्चित्, उच्यते—पाकयज्ञेष्ववत्तस्यासर्वहोमो हुत्वा शेषप्राशनमिति कात्यायनोक्तेः स्रुवेणावत्तस्य होमद्रव्यस्य सर्वस्य होमनिषेधात् हुतशेषस्य च प्राशनविधानात् सर्वासामाहुतीनां होमद्रव्यं स्रुवेऽवशेषितं संस्रवत्वेन प्रसिद्धं पात्रान्तरे प्रक्षिप्यते तत्प्राश्यमिति। ननु अकृते वैश्वदेवे त्वित्यादिवचनाद्वैश्वदेवात्प्राक् स्थालीपाकानुष्ठानं प्राप्तं तत्र संस्रवप्राशनं विहितं तत्कृत्वा कथं माध्याह्निके वैश्वदेवादिकर्मण्यधिकार इति चेत् उच्यते—शेषप्राशनस्य कर्माङ्गत्वेन विधानात् अप्राशने च कर्मणो वैगुण्यात् नोत्तरकर्माधिकारनिवृत्तिः। बर्हिर्होमश्च विधानसामर्थ्यादग्न्याधान एव भवति नान्येषु कर्मसु ॥ १।२।१२ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'बर्हिर्हुत्वा प्राश्नाति' परिस्तरणबर्हिर्हस्तेनैव हुत्वा पात्रान्तरस्थापितहोमशेषद्रव्यं भक्षयति। प्राशनस्य प्राप्तत्वात्। बर्हिर्होमोत्तरकालविधानार्थं ग्रहणम्। शेषरक्षणं भक्षणं च श्रौतसूत्रे उक्तमस्ति। पाकयज्ञेष्ववत्तस्यासर्वहोमो हुत्वा शेषप्राशनमिति। अस्यार्थः पाकशब्देन च स्मार्तहोमा उच्यन्ते। तत्र होमार्थं यदवत्तं गृहीतं तस्य असर्वहोमः कर्तव्यः स्रुवादिभिर्यद्गृहीतं तद्धुत्वा किञ्चित्परिशेष्य पात्रान्तरे

स्थापनमित्यर्थः। सर्वंहोमान्हुत्वा पात्रान्तरस्थापितसर्वशेषाणां प्राशनम्। बर्हिर्होमश्चात्रैव वचनान्नान्यकर्मसु। बर्हिर्होमे प्रजापतिर्देवता अनिरुक्तत्वात्। तथा च लिङ्गम् अनिरुक्तो वै प्रजापतिरिति। आज्यं द्रव्यमनादेशे जुहोतिषु विधीयते। मन्त्रस्य देवतायाश्च प्रजापतिरिति स्थितिरिति छन्दोगपरिशिष्टे कात्यायनोक्तेश्च ॥ १।२।१२ ॥

अनुवाद—वेदी के चारों ओर बिछे हुए कुशों का हवन कर प्रोक्षणीपात्र में डाले गये घी का भक्षण करे।

व्याख्या—घृत-भक्षण के बाद पूर्णपात्र ब्राह्मण को दे दे।

ततो ब्राह्मणभोजनम् ॥ १।२।१३ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'ततो ब्राह्मणभोजनम्' ततः समाप्ते कर्मणि ब्राह्मणभोजनं दद्यात्। ब्राह्मणभोजनमित्यत्र एकस्मै द्वाभ्यां बहुभ्यो वा भोजनं ब्राह्मणभोजनमिति समासस्य तुल्यत्वात् एकस्मिन्नपि ब्राह्मणे भोजिते अर्थस्यानुष्ठितत्वात् एकस्यैव भोजनमिति युक्तम् इति सूत्रार्थः ॥ १।२।१३ ॥

अथ पद्धतिः—तत्रावसथ्याधानङ्करिष्यन् उक्तकालातिक्रमाभावे अग्न्याधानार्थोपदिष्टमासतिथिवारनक्षत्रादिके काले प्रातः सुस्नातः सुप्रक्षालितपाणिपादः स्वाचान्तः सपत्नीको गोमयोपलिप्ते शुचौ देशे स्वासन उपविश्य अद्येहेत्यादिदेशकालौ स्मृत्वा आवसथ्याग्निमहमाधास्य इति सङ्कल्पं विधाय मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकं श्राद्धं यथोक्तं कुर्यात्। कालातिक्रमे तु—'यावन्त्यब्दान्यतीतानि निरग्नेर्विप्रजन्मनः। तावन्ति कृच्छ्राणि चरेद्धौम्यं दद्याद्यथाविधि' ॥ इति वचनादतिक्रान्तसंवत्सरसङ्ख्यप्राजापत्यरूपं प्रायश्चित्तं मुख्यविधिना चरित्वा तदशक्तौ प्रतिप्राजापत्यं गां दत्त्वा तदलाभे तन्मूल्यं निष्कमेकमर्द्धं तदर्द्धं वा द्वादशब्राह्मणभोजनं वा अयुतगायत्रीजपं वा गायत्र्या तिलाज्यसहस्रहोमं वा शक्त्यपेक्षयाऽन्यतमं विधाय हौम्यं सायम्प्रातर्होमद्रव्यं प्रत्यहमाहुतिचतुष्टयपर्याप्तम् अतिक्रान्तदिवसान् गणयित्वा ब्राह्मणेभ्यो दद्यात्। अथ वाक्यम्—आवसथ्याधानमुख्यकालातिक्रान्तैतावद्वर्षनिरग्नित्वजनितदुरितक्षयाय एतावन्ति प्राजापत्यव्रतानि चरिष्ये तदशक्तौ प्राजापत्यप्रत्याम्नायत्वेन प्रतिप्राजापत्यमेकैकां गां ब्राह्मणेभ्योऽहं सम्प्रददे एवमन्येष्वपि वाक्येषूहनीयम्।

तद्यथा आवसथ्याधानमुख्यकालातिक्रान्तैतावद्वर्षनिरग्नित्वजनितदुरितक्षयाय प्राजापत्यप्रत्याम्नायत्वेन प्रतिप्राजापत्यमेतावतीनां गवां मूल्यमिदमेतावत्सुवर्णं ब्राह्मणेभ्योऽहं सम्प्रददे तद्वत्प्राजापत्यप्रत्याम्नायत्वेनैतावतो ब्राह्मणान् भोजयिष्ये। आवसथ्याधानमुख्यकालातिक्रान्तैतावद्वर्षनिरग्नित्वजनितदुरितक्षयाय एतावत्प्राजापत्यप्रत्याम्नायत्वेन गायत्र्या एतावन्त्ययुतानि जपिष्ये। तद्वदेतावन्ति तिलाहुतिसहस्राणि होष्यामीति। एवं कृतप्रायश्चित्तो होमद्रव्यं दद्यात्। तद्यथा आवसथ्याधानमुख्यकालातिक्रान्तैतावद्दिनसम्बन्धिसायम्प्रातर्होमद्रव्यमेतावत्परिमाणं दधितण्डुलयवानामन्यतमं ब्राह्मणेभ्योऽहं सम्प्रददे तन्मूल्यं द्रव्यमेतावत्परिमाणं वा। हौम्यं दद्यादिति वचनात्—इतरपक्षाद्यादिकर्मद्रव्यदाननिवृत्तिः। छन्दर्षिस्मरणम्। इषेत्वादि खं ब्रह्मान्तम्। ततः स्वशाखाध्यायिनं कर्मसु

तत्त्वज्ञं ब्राह्मणं गन्धपुष्पमाल्यवस्त्रालङ्कारादिभिरभ्यर्च्य अमुकगोत्रममुकशर्माणममुकवेदममुकशाखाध्यायिनमावसथ्याधानं करिष्यन् कृताकृतावेक्षकत्वेन ब्रह्माणमेभिश्चन्दनपुष्पाक्षतवस्त्रालङ्कारैस्त्वामहं वृणे वृतोऽस्मीति तेन वाच्यम् । केचिद् ब्रह्माणं मधुपर्केणार्चयन्ति ऋत्विक्त्वाविशेषात् ।

ततः पत्न्या सहाहते वाससी परिधाय अग्न्याधानदेशे स्थण्डिलमुपलिप्य पञ्चभूसंस्कारान् कृत्वा तं देशं वस्त्रेण पिधाय ब्रह्मणा सह समृदं स्थालीमादाय ब्राह्मणैः परिवृतो वेदघोषमङ्गलगीतवाद्यादिभिर्जनितोत्साहो वैश्यस्य बहुपशोर्गृहात्सूत्रान्तरमतेन अम्बरीषाद् बहुयाजिनो ब्राह्मणस्य गृहाद्वा बह्वन्नपाकाद् ब्राह्मणमहानसाद्वा स्थाल्यामग्निं गृहीत्वा तथैव गृहमागत्य परिसमूहनादिपञ्चभूसंस्कारसंस्कृते स्थण्डिले प्राङ्मुख उपविश्य आत्माभिमुखमग्निं निदध्यात् इत्याहरणपक्षे । आरणेयपक्षे तु गृह्याग्न्याधानजातेच्छो यजमानः पुण्येऽहनि—अश्वत्थो यः शमीगर्भः प्रशस्तोर्वीसमुद्भवः । तस्य या प्राङ्मुखी शाखा उदीची चोर्ध्वगापि वा ॥ १ ॥ अरणिस्तन्मयी ज्ञेया तन्मध्ये चोत्तरारणिः । सारवद्दारवश्चात्र मोविली च प्रशस्यते ॥ २ ॥ संसक्तमूलो यः शम्याः स शमीगर्भ उच्यते । अलाभे त्वशमीगर्भादाहरेदविलम्बितः ॥ ३ ॥ (आहरेत्तु शमीगर्भाद्धरेदेवाविलम्बितः । ?) चतुर्विंशाङ्गुला दीर्घा विस्तारेण षडङ्गुला । चतुरङ्गुलमुत्सेधा अरणिर्याज्ञिकैः स्मृता ॥ ४ ॥ मूलादष्टाङ्गुलं त्यक्त्वा अग्राच्च द्वादशाङ्गुलम् । अन्तरं देवयोनिः स्यात्तत्र मथ्यो हुताशनः ॥ ५॥ मूर्द्धाक्षिकर्णवक्त्राणि कन्धरा चापि पञ्चमी । अङ्गुष्ठमात्राण्येतानि द्व्यङ्गुष्ठं वक्ष उच्यते ॥ ६ ॥ अङ्गुष्ठमात्रं हृदयं त्र्यङ्गुष्ठमुदरं तथा । एकाङ्गुष्ठा कटिर्ज्ञेया द्वौ बस्तिर्द्वौ च गुह्यकम् ॥ ७ ॥ ऊरू जङ्घे च पादौ च चतुस्त्र्येकैर्यथाक्रमम् । अरण्यवयवा ह्येते याज्ञिकैः परिकीर्त्तिताः ॥ ८ ॥ यत्तद् गुह्यमिति प्रोक्तं देवयोनिः स उच्यते । तस्यां यो जायते वह्निः स कल्याणकृदुच्यते ॥ ९ ॥ प्रथमे मन्थने ह्येष नियमो नोत्तरेषु च । अष्टाङ्गुलः प्रमन्थः स्याच्चात्र स्याद् द्वादशाङ्गुलम् ॥ १० ॥ ओविली द्वादशैव स्यादेतन्मन्थनयन्त्रकम् । गोवालैः शणसम्मिश्रैस्त्रिवृद्वृत्तमनंशुकम् ॥ ११ ॥ व्यामप्रमाणं नेत्रं स्यात्तेन मथ्यो हुताशनः । चात्र बुघ्ने प्रमन्थाग्रं गाढं कृत्वा विचक्षणः ॥ १२ ॥

इत्युक्तलक्षणमरण्यादिकं सम्पाद्य उक्तकाले माघादिपञ्चमासानामन्यतमे मासे कृत्तिकारोहिणीमृगशिरःफल्गुनीद्वयहस्तानामृक्षाणामन्यतमर्क्षान्वितायां शुभतिथौ चन्द्रशुद्धौ गृह्याग्निमादधीत । मुख्यकालातिक्रमे तु एतावान्विशेषः । उक्तविधिना कृतप्रायश्चित्तो दत्तहोम्यद्रव्यः स्नानादिपूर्वकं सङ्कल्पादिमातृपूजाभ्युदयिकश्राद्धब्रह्मवरणाहतवासःपरिधानादि कृत्वा शालायां यजमान उपविशति । तस्य दक्षिणाङ्गे पत्नी । अथ ब्रह्मा अरणी आदाय अधरारणिं पत्न्यै उत्तरारणिं यजमानाय दद्यात् । तौ चावसथ्याग्निसाधनभूते इमे अरणी आवाभ्यां परिगृहीते तत्रेयमधरा इयमुत्तरा इदं चात्रम् इयमोविली इमानि स्रुवादीनि पात्राणि परिगृहीतानि इति परिगृह्णीतः । ततोऽग्न्याधानदेशे शङ्कुं द्वादशाङ्गुलं खादिरं चतुरङ्गुलमस्तकं निखाय तत्र रज्जुपाशं क्षिप्त्वा आमुच्य सार्द्धत्रयोदशाङ्गुलरज्जुं शङ्क्वन्तराले संवेष्टय प्रदक्षिणपरिभ्रामणेन परिलिख्य तत्र

परिसमूहनादिपञ्चभूसंस्कारान्कृत्वा आच्छाद्य मन्थनमारभेत । तद्यथा प्राग्ग्रीवमुत्तरलोम-कृष्णाजिनमास्तीर्य तत्रोदगग्राममधरारणिं निधाय तत्पूर्वत उत्तरारणिं च अधरारण्यां उक्तलक्षणमन्थनप्रदेशे प्रमन्थमूलं निधाय चात्राग्रे चोविलीमुदगग्रां च नेत्रेण चात्रं त्रिर्वेष्टयित्वा गाढं धृत्वा पश्चिमाभिमुखोपविष्टया पत्न्या मन्थयेत् यावदग्नेरुत्पत्तिः । पत्न्या मन्थनासामर्थ्ये अन्ये ब्राह्मणाः शुचयो मन्थयन्ति । एवं यजमानासामर्थ्ये अन्यो यन्त्रन्धारयति ।

ततः जातमग्निं मृन्मये पात्रे शुष्कगोमयपिण्डचूर्णोपरि निहिततूले सपुरीषं परि-क्षिप्य सन्धुक्ष्य प्रज्वाल्य पूर्वसंस्कृते देशे आदध्यात् । तत्र ब्रह्मोपवेशनादि देवताभिधान-पर्युक्षणान्तं कृत्वा स्रुवमादाय दक्षिणं जान्वाच्य ब्रह्मणान्वारब्धः प्रजापतये स्वाहेति मनसा ध्यायन् प्राञ्चमूर्ध्वमृजुं सन्ततमाज्येन अग्नेरुत्तरप्रदेशे पूर्वाघारमाघारयति इदं प्रजापतय इति त्यागं कृत्वा हुतशेषं पात्रान्तरे प्रक्षिपेत् । तथैवेन्द्राय स्वाहेति अग्नेर्दक्षिण-प्रदेशे उत्तराघारमिदमिन्द्रायेति त्यागं विधाय, अग्नये स्वाहेति अग्नेरुत्तरार्द्धपूर्वार्द्धे आग्नेयमाज्यभागं हुत्वा इदमग्नय इति द्रव्यं त्यक्त्वा, तथैव सोमाय स्वाहेति दक्षिणार्द्ध-पूर्वार्द्धे सौम्यमाज्यभागं हुत्वा इदं सोमायेति स्वत्वं त्यजेत् । समिद्धतमे वाग्निप्रदेशे आघाराद्याः सर्वाहुतीर्जुहुयात् । अथाष्टर्चंहोमः नान्वारम्भः । त्वन्नो अग्ने, सत्वन्नो अग्ने, इमम्मे वरुण, तत्त्वायामि, ये ते शतम्, अयाश्चाग्न, उदुत्तमं, भवतन्न इत्येताभिरष्टभि-र्ऋग्भिः प्रत्यृचमेकैकामष्टाज्याहुतीर्हुत्वा यथादैवतं स्वत्वत्यागं च कृत्वा स्थालीपाकस्य जुहुयात् । तद्यथा त्वन्नो अग्न इति वामदेवऋषिः त्रिष्टुप्छन्दोऽग्नीवरुणौ देवते प्राय-श्चित्तहोमे विनियोगः । सत्वमिति पूर्ववत् । इमं म इति शुनःशेपऋषिः गायत्रीछन्दः वरुणो देवता, तत्त्वायामीति शुनःशेपऋषिः त्रिष्टुप्छन्दः वरुणो देवता, ये ते शतमिति शुनःशेपऋषिः जगतीछन्दः वरुणः सविता विष्णुर्विश्वेदेवा मरुतः स्वर्का देवताः, प्राय-श्चित्तहोमे विनियोगः । अयाश्चाग्न इति प्रजापतिर्ऋषिः विराट् छन्दः अग्निर्देवता प्रायश्चित्तहोमे विनियोगः । उदुत्तममिति शुनःशेपऋषिः त्रिष्टुप् छन्दः वरुणो देवता, विष्णुक्रमेषु पाशोन्मोचने विनियोगः । भवतन्न इति मन्त्रस्य प्रजापतिर्ऋषिः पङ्क्ति-च्छन्दः जातवेदसौ देवते अग्निप्रासने विनियोगः । त्वन्नो अग्न इत्यादि प्रमुमुग्ध्यस्म-त्स्वाहा इदमग्नीवरुणाभ्यां न मम । सत्वन्नो अग्ने० सुहवो न एधि स्वाहा इदमग्नी-वरुणाभ्यां न० । इमम्मेवरुण० चके स्वाहा इदं वरुणाय न० । तत्त्वा यामि० प्रमोषीः स्वाहा इदं वरुणाय न० । ये ते शतं वरुण ये सहस्रं यज्ञियाः पाशा वितता महान्तः । तेभिर्नोऽद्य सवितोत विष्णुर्विश्वे मुञ्चन्तु मरुतः स्वर्काः स्वाहा इदं वरुणाय सवित्रे विष्णवे विश्वेभ्यो देवेभ्यो मरुद्भ्यः स्वर्केभ्यः, केचिदिदं वरुणायेति । अयाश्चाग्नेस्यन-भिशस्तिपाश्चसत्यमित्त्वमया असि । अयानोयज्ञं वहास्ययानो धेहि भेषजꣳ स्वाहा इद-मग्नये अयसे न० । उदुत्तमं० अदितये स्याम स्वाहा इदं वरुणाय० । भवतन्नः० शिवौ भवतमद्यनः स्वाहा इदं जातवेदोभ्याम्, केचिदिदमग्निभ्यामिति । अथ स्थालीपाकेन चतस्रोऽन्याधेयदेवताः । अग्नये पवमानाय स्वाहा इदमग्नये पवमानाय० । अग्नये

पावकाय स्वाहा इदमग्नये पावकाय० । अग्नये शुचये स्वाहा इदमग्नये शुचये न मम । अदित्यै स्वाहा इदमदित्यै० । इत्यग्न्याधेयदेवताभ्यः ।

ततः पूर्ववदाज्येनाष्टर्चंहोमः । ततो ब्रह्मान्वारब्ध उत्तरार्द्धात् स्रुवेण चरुमादाय अग्नये स्विष्टकृते स्वाहेति अग्नेरुत्तरार्द्धे जुहुयात् इदमग्नये स्विष्टकृते० । अथानन्वारब्ध आज्येन अयास्यग्नेर्वषट्कृतं यत्कर्मणात्यरीरिचं देवा गातुविदः० स्वाहा इदं देवेभ्यो गातुविद्भ्यः, इति स्वत्वं त्यक्त्वा । अथ ब्रह्मान्वारब्धः—ॐ भूर्भुवः स्वरिति क्रमेण प्रजापतिर्ऋषिर्गायत्री छन्दोऽग्निर्देवता प्रजापतिर्ऋषिरुष्णिक्छन्दो वायुर्देवता प्रजापतिर्ऋषिरनुष्टुप् छन्दः सूर्यो देवता व्याहृतिहोमे विनियोगः । ॐ भूः स्वाहा इदमग्नये । ॐ भुवः स्वाहा इदं वायवे । ॐ स्वः स्वाहा इदं सूर्याय । इदं भूर्वा इदं भुव इति वा इदं स्वरिति वा । त्वन्नो अग्ने, सत्वन्नो अग्ने, अयाश्चाग्ने, ये ते शतं, उदुत्तमं पञ्च मन्त्राः प्रजापत्यन्ता नवाहुतीर्हुत्वा बर्हिर्होमं च कृत्वा संस्रवम्प्राश्याचम्य पवित्राभ्यां मुखं मार्जयित्वा पवित्रे अग्नौ प्रक्षिप्य प्रणीता अग्नेः पश्चिमतो निनीय आसादितपूर्णपात्रवरयोरन्यतरस्य ब्रह्मणे दक्षिणात्वेन दानं कृत्वा एकब्राह्मणभोजनदानम् । तथा स्मृत्यन्तरोक्तत्रयोविंशतिब्राह्मणभोजनम् ।

अत्र मार्जनं पवित्रप्रतिपत्तिः बर्हिर्होमः प्रणीताविमोक इत्येते चत्वारः पदार्थाः भाष्यकारमते गृह्यकर्मसु न भवन्ति वचनाभावात् आवसथ्याधाने तु बर्हिर्होमो वचनाद्भवति इत्यावसथ्याधानम् । ततो मणिकाधानपञ्चमहायज्ञसायम्प्रातर्होमनिमित्तञ्च श्राद्धचतुष्कं तद्दिने एव कार्यम् । अथ पुनराधाननिमित्तानि लिख्यन्ते ।

तत्र कृतावसथ्याधानौ पत्नीयजमानौ अग्निं परित्यज्य यदि ग्रामसीमामतीत्य वसेयातामेकां रात्रिं तत्र प्रातः गृहमागत्याग्निम्मथित्वोक्तविधिना ब्रह्मोपवेशनादि ब्राह्मणभोजनान्तमाधानं कुर्यात् । तत्र होमलोपे तु एकतन्त्रेण सायम्प्रातर्होमं कुर्यात् । बहुहोमलोपेऽप्येवम् । अथ यदि कृताधानो यजमानः प्रजार्थी कामार्थी चोद्वहेत्तत्र अन्ये अरणी सम्पाद्य प्रातर्होमं विधाय दिवा विवाहं कृत्वा आचतुर्थीकर्मणो होमं त्यक्त्वा तदन्ते अतिक्रान्तहोमद्रव्यं दत्त्वा पञ्चमेऽहनि पुनराधानं यथोक्तमित्येकः पक्षः । प्रातर्होमं कृत्वा दिवा विवाहं सम्पाद्य सद्यः चतुर्थीकर्म च कृत्वा तद्दिन एवावसथ्याधानमिति द्वितीयः पक्षः । अत्र पक्षद्वयेऽपि पूर्वारण्योः स्फोटितयोरावसथ्ये दहनम् । अन्यारण्योराधानं, पात्राणि तान्येव । यत्तु छन्दोगपरिशिष्टे—सदारो यः पुनर्दारान् कथञ्चित् कारणान्तरात् । य इच्छेदग्निमान् कर्तुं क्व होमोऽस्य विधीयते ॥ स्वेऽग्नावेव भवेद्धोमो लौकिके न कदाचन । नह्याहिताग्नेः स्वं कर्म लौकिकेऽग्नौ विधीयते ॥ इति पुनराधानाभावप्रतिपादनं तच्छन्दोगविषयम् । अनेकपत्नीकस्यैकस्याः पत्न्या मरणे अरणिपात्रैः सहावसथ्येन तां दाहयित्वाऽऽशौचान्ते पुनराधानम् । एकपत्नीकस्य तु पत्नीमरणे कृतविवाहस्य चतुर्थीकर्मानन्तरं पुनराधानम् । अग्नावुपशान्ते होमकालद्वयातिक्रमे गृहपतौ प्रोषिते प्रमादात् पत्न्या ग्रामान्तरवासे तथा गृहस्थिते यजमाने पत्न्याः प्रवासे प्राग्घोमकालादनागमने पुनराधानम् ।

केचित्तु ज्येष्ठायामग्निसन्निधौ तिष्ठन्त्यामन्यासाम्पतिसहितानां केवलानां वा कार्यवशाद् ग्रामान्तरस्थितौ, पत्यौ वा अग्निसन्निधौ तिष्ठति सर्वासाम्पत्नीनाङ्ग्रामान्तरगमने नाग्निनाश इत्याहुः। तथा पत्न्याः अग्निं विना समुद्रगानाद्यतिक्रमे, भर्तृरहितायाश्चाग्निना सहितायाः भयं विना सीमातिक्रमे, कर्मार्थाहरणादन्यत्र शकटं विना शम्यापरासादूर्ध्वं हरणे, त्रिरुच्छ्वसतः प्रत्यक्षाग्निहरणे, मथ्यमानस्य दृष्टस्याग्नेर्मन्थनयन्त्रोत्थापनादूर्ध्वंन्नाशे, संवत्सरमेकं यजमानस्य होमाकरणे, प्राजापत्यब्रह्मकूर्चयोरन्यतरप्रायश्चित्ताचरणादूर्ध्वंम्पत्न्याश्च पादकृच्छ्राचरणात्पुनर्विवाहवदाधानम्। उदके नाग्न्युपशमने शिक्येनाग्न्युद्वाहने प्रत्यक्षस्यारणिसमारूढस्य वा अग्नेः एकनामधेयशतयोजनगामिनदीयोजनाधिकगामिनदीसन्तरणे (?) वा सर्वत्र सीमातिक्रमणे आद्यन्तसीमातिक्रमणेवापत्नीयजमानयोरन्वारम्भाभावे सूकरगर्दभकाकश्रृगालश्वकुक्कुटमर्कटशूद्रान्त्यजमहापातकिशवसूतिकारजस्वलारेतोमूत्रपुरीषमेदोऽश्रुश्लेष्मशोणितपूयास्थिमांसमज्जासुराप्रभृतिभिरमेध्यैः प्रत्यक्षस्यारणिसमारोपितस्य वाऽग्नेः स्पर्शे त्रीन्पक्षान्निरन्तरं पक्षहोमकरणे पुनराधानम्।

तथाऽग्नेरपहरणे प्रादुष्करणादूर्ध्वं पूर्वं वा शान्तेऽग्नौ मन्थने प्रारब्धेऽग्निजन्माभावे लौकिकाग्निब्राह्मणदक्षिणहस्ताऽजादक्षिणकर्णकुशस्तम्बजलानामन्यतमेऽग्निस्थानेऽप्रकल्पिते सूर्यास्तमये उदये वा जाते पुनराधानम्। अग्निनाशभ्रान्त्या अग्निं मन्थयित्वा पूर्वाग्निं दृष्ट्वा मथितमग्निम् अयन्ते योनिरिति मन्त्रेणारण्योः समारोप्य पूर्वेऽग्नौ होमादिकं विदध्यात्। यदा तु लौकिकाग्न्याद्यन्यतमन्निधाय होमं कृत्वा मन्थने प्रारब्धे आ द्वितीयहोमकालात्तृतीयाद्वा अग्नेर्जन्माभावस्तदा पुनराधानम्। आरोपिताग्न्योररण्योर्नाशे एकस्या वा पुनराधानम् असमारोपितयोस्तु एकतरविनाशे द्वितीयां छित्वा मन्थनम्। नष्टायाः प्रतिपत्तिरावसथ्ये दाहः। यदा पुनर्जन्तुभक्षणेन मन्थनेन वा मन्थनायोग्ये भवतस्तदाऽन्ये अरणी गृहीत्वा दर्शपक्षादिकर्म निर्वर्त्य जीर्णमरणिद्वयं शकलीकृत्य तस्मिन्नग्नौ प्रज्वाल्य दक्षिणहस्तेन नूतनामुत्तरारणिं सव्यहस्तेनाधरारणिं गृहीत्वा दीप्तेऽग्नौ धारयन् उद्बुध्यस्वाग्ने प्रविश स्वयोनिमन्यां देवयज्यां वोढवे जातवेदः। अरण्या अरणिमनुसङ्क्रमस्व जीर्णां तनुमजीर्णया निर्णुदस्व। अयं ते योनिर्ऋत्विय इत्येतौ मन्त्रौ जपित्वा मन्थनयन्त्रन्निधायाग्निम्मन्थयित्वा भूसंस्कारपूर्वकं स्थाने निधाय पूर्णाहुतिवदाज्यं संस्कृत्यानादिष्टहोमं कुर्यात्। 'अथ पक्षहोमविधिः'—

तत्र यजमानस्य आमयादिनिमित्ते रोगार्तावध्वगमने राष्ट्रभ्रंशे धनाभावे गुरुगृहवासे अन्यास्वपि भयाद्यापत्सु होमानां समासो भवति। तद्यथा प्रतिपदि सायङ्काले आहुतिपरिमाणं होमद्रव्यं चतुर्दशकृत्व एकस्मिन् पात्रे कृत्वा अग्नये स्वाहेति हुत्वा पुनस्तथैव चतुर्दशकृत्वो होमद्रव्यं गृहीत्वा प्रजापतये स्वाहेति जुहुयात्। एवमेव होमद्रव्यं चतुर्दशकृत्वः एकपात्रे निधाय सूर्याय स्वाहेति प्रातर्हुत्वा पुनस्तथैव चतुर्दशकृत्वो होमद्रव्यं गृहीत्वा प्रजापतये स्वाहेति जुहुयात्। ततो दक्षिणेन पाणिना प्रागग्रामुत्तरामरणिं गृहीत्वा सव्येनाधरारणिमग्नेरुपरि धारयन् अयं ते योनिरिति मन्त्रेणाग्निं समारोप्यारणी धारयेत्। अथ पौर्णमास्याममावास्यायां वा प्राप्तायां प्रातररण्योरग्निं

निर्मथ्य कुण्डे निधायावसरप्राप्तं वैश्वदेवादिकं कर्म विधाय सायङ्काले सायंहोमं प्रातः-काले प्रातर्होमं हुत्वा पक्षादिहोमं कुर्यात् । एतावताऽपि कालेन यद्यापन्न निवर्तते तदा उक्तविधिना पुनः पक्षहोमान् कुर्यात् । तृतीये पक्षे तु आपदनुवृत्तावपि न पक्षहोमविधिः, किन्तु कृच्छ्रेणापि पृथगेव सायंप्रातर्होमान् विदध्यात् । ततोऽप्यापदनुवृत्तौ पुनरुक्त-विधिना पक्षे पक्षे होमसमासं कुर्यात् न तु तृतीये पक्षे । एवं यदैवापन्निमित्तं तदादि औपवसथ्याहात्प्रातर्होमपर्यन्तानां होमानां समासं कुर्यात् न पक्षान्तरगतानां समासं कुर्यात् ।

कण्ठश्रुतिपक्षे तु न पक्षद्वयमेव पक्षहोमनियमः अपि तु आपदनुवृत्तौ यावदापन्नि-वृत्तिस्तावत्प्रतिपक्षमुक्तप्रकारेण निरन्तरं पक्षहोमान् समस्येदित्येकः प्रकारः, प्रकारान्तरं तु सायंकाले समिदाधानपर्युक्षणानन्तरमाहुतिपरिमाणं होमद्रव्यम् अग्नये स्वाहेति हुत्वा पुनस्तथैव सूर्याय स्वाहेति हुत्वा आहुतिद्वयपर्याप्तं होमद्रव्यमादाय प्रजापतये स्वाहेति सकृज्जुहुयात् इति सायंप्रातस्तनयोर्होमयोः समासं यावदापदमाचरेत् । यदा तु आपदो गुरुत्वं भवति तदा सायंहोमैरेव अनेन विधानेन प्रातर्होमानां समासं कुर्यात् । एवं पक्ष-होमसमासे कृते यद्यन्तराले आपन्निवृत्तिस्तदा प्रत्यहं सायम्प्रातर्होमान् हुतानपि जुहु-यान्नवेति कठा आमनन्ति । एते च होमसमासाः सायमुपक्रमाः प्रातरपवर्गा इत्युत्सर्गाः ।

आपद्विशेषे तु प्रातरुपक्रमाः सायमपवर्गाः पूर्वाह्णापराह्णादिकालानपेक्षा अपि बोद्धव्याः, यतः तत्रापत्कालपुरस्कारेणैव होमसमासोपक्रमो युज्यते । अपराह्णे पिण्ड-पितृयज्ञः । पिण्डपितृयज्ञपद्धतिर्लिख्यते—अमावास्यायामपराह्णे श्राद्धपाकाद्वैश्वदेवं पात्र-निर्णेजनान्तं विधाय प्राचीनावीती नीवीं बद्ध्वा दक्षिणाभिमुखोऽग्निसन्निधावुपविश्याद्य पिण्डपितृयज्ञेनाहं यक्ष्ये । तत्राग्निं कव्यवाहनं, सोमं पितृमन्तम्, अमुकगोत्रान् यजमान-पितृपितामहप्रपितामहान् अमुकामुकशर्मणः व्रीहिमयैः पिण्डैः यक्ष्य इति प्रतिज्ञाय, आग्नेयादिदक्षिणान्तं दक्षिणाग्रैः कुशैरग्निं परिस्तीर्य पात्राणि सादयेत् पश्चादग्नेर्दक्षिण-संस्थानि । तत्र कृष्णाजिनं स्रुचमुलूखलं मुसलं शूर्पम् उदकं चरुस्थाली आज्यं मेक्षणं स्फ्यम् उदकपात्रं सकृदाच्छिन्नदर्भान् तण्डुलादिद्रव्यं सूत्राणि चेति । पञ्चाशद्वर्षाधिकवयसि यजमाने सूत्रस्थाने यजमानवक्षःस्थलोमानि ।

स्रुचोऽभावे पक्षे कृष्णाजिनं चरुस्थाली उलूखलं शूर्पं मुसलं उदकम् आज्यं मेक्षण-मित्यादित्रयोदश । ततोऽग्निमपरेणापूर्णां स्रुचं व्रीहीन् गृहीत्वोत्तरतोऽग्नेः कृष्णाजिन-मास्तीर्य तत्रोलूखलं निधाय व्रीहीनुलूखले निक्षिप्य मुसलमादाय तिष्ठन् दक्षिणामुख-स्त्रिःकृत्वोऽवहन्यात् यावद्बहुव्रीहयो वितुषा भवन्ति । ततः शूर्पेण निष्पूय पुनरुलूखले निक्षिप्य सकृत्फलीकृत्य पुनः शूर्पे कृत्वा निष्पूय सोदकायां चरुस्थाल्यां तण्डुलानोप्या-ग्नावधिश्रित्याप्रदक्षिणं मेक्षणेन चालयित्वेषच्छृतं चरुं श्रपयेत् श्रृतमासादितेन घृतेना-भिघार्य दक्षिणत उद्वास्य पूर्वेणाग्निमुत्तरत आनीय स्थापयेत् ततः सव्यं जान्वाच्य मेक्षणेन चरुमादायाग्नये कव्यवाहनाय स्वाहेत्येकामाहुतिं हुत्वा इदमग्नये कव्यवाह-नायेति त्यागं विधाय पुनर्मेक्षणेन चरुमादाय सोमाय पितृमते स्वाहेति हुत्वा इदꣳ सोमाय पितृमत इति त्यागं विधाय मेक्षणमग्नौ प्रास्याग्नेर्दक्षिणतः पश्चाद्वा दक्षिणा-

भिमुख उपविश्य सव्यं जान्वाच्योपलिप्य स्फ्येनापहता असुरारक्षाꣳसि वेदिषद इति दक्षिणायतां लेखामुल्लिख्योदकमुपस्पृश्य ये रूपाणीत्युल्मुकं रेखाग्रे निधाय पुनरुदकमुपस्पृश्योदपात्रमादाय पितृतीर्थेन लेखायाममुकगोत्रास्मत्पितरमुकशर्मन् अवनेनिक्ष्वेत्येवं पितामहप्रपितामहयोरवनेजनं दत्त्वोपमूलꣳ सकृदाच्छिन्नानि दक्षिणाग्राणि लेखायामास्तीर्य तत्रावनेजनक्रमेणामुकगोत्रास्मत्पितरमुकशर्मन् एतत्तेऽन्नं स्वधा नम इति पिण्डं दत्त्वा इदं पित्रे इति त्यागं विधायैवं पितामहप्रपितामहाभ्यां प्रत्येकं पिण्डं दत्त्वाऽत्रपितर इत्यर्द्धर्चं जपित्वा पराङावृत्य वायुं धार्यात्तमना उदङ्मुख आसित्वा तेनैवावृत्यामी मदन्तेत्यर्द्धर्चं जपित्वा पूर्ववदवनेज्य नीवीं विस्रंस्य नमो व इति प्रतिमन्त्रमञ्जलिं करोति गृहान्न इत्याशिषं प्रार्थ्यैतद्व इति प्रतिपिण्डं सूत्राणि दत्त्वोर्जमिति पिण्डेष्वपो निषिच्य पिण्डानुत्थाप्य स्थाल्यामवधायावजिघ्रति सकृदाच्छिन्नान्यग्नौ प्रास्योल्मुकं प्रक्षिप्योदकं स्पृष्ट्वाऽऽचम्य पिण्डान्वाहार्यकं श्राद्धमारभेदिति पिण्डपितृयज्ञः ।

क्षुत्तृट्क्रोधत्वरायुक्तो हीनमन्त्रो जुहोति यः । अप्रवृद्धे सधूमे वा सोऽन्धः स्यादन्यजन्मनि ।। स्वल्पे रूक्षे सस्फुलिङ्गे वामावर्ते भयानके । आर्द्रकाष्ठैश्च सम्पूर्णे फूत्कारवति पावके ।। कृष्णार्चिषि सुदुर्गन्धे तथा लिहति मेदिनीम् । आहुतीर्जुहुयाद्यस्तु तस्य नाशो भवेद् ध्रुवम् । इदं ब्रह्मपुराणे । इति द्वितीया कण्डिका ।। २ ।।

(**गदाधरभाष्यम्**)—ततो ब्राह्मणभोजनम् । तत इति सूत्रादेवं ज्ञायते मध्ये मार्जनं पवित्रप्रतिपत्तिः प्रणीताविमोको दक्षिणादानं च कृत्वा ब्राह्मणभोजनम् । एकद्विबहुषु समासस्य तुल्यत्वादेकस्मिन्नपि चरितार्थत्वादेकस्यैव भोजनमिति । यत्र बहूनां भोजनं तत्र स्वयमेवोपदिशति यथा संस्थिते कर्मणि ब्राह्मणान्भोजयेदिति तथा सर्वासां पयसि पायसꣳ श्रपयित्वा ब्राह्मणान्भोजयेदिति । अत्र स्मृत्यन्तरोक्तत्रयोविंशतिब्राह्मणभोजनमिति हरिहरपद्धतौ । चतुस्त्रिंशद्भोजनमिति रेणुकदीक्षिताः । यज्ञपार्श्वे विशेषः—गर्भाधानादिसंस्कारे ब्राह्मणान्भोजयेद्दश । शतं विवाहसंस्कारे पञ्चाशन्मेखलाविधौ ।। आवसथ्ये त्रयस्त्रिंशच्छ्रौताधाने शतात्परम् । अष्टकं भोजयेद्भक्त्या तत्तत्संस्कारसिद्धये ।। सहस्रं भोजयेत्सोमे ब्राह्मणानां शतं पशौ । चातुर्मास्ये तु चत्वारि शतानि पञ्च सुराग्रहे ।। अयुतं वाजपेये च ह्यश्वमेधे चतुर्गुणम् । आग्रयणे प्रायश्चित्ते ब्राह्मणान् दशपञ्च च ।। इति अत्रैवं व्यवस्था । यत्र ततो ब्राह्मणभोजनमिति सूत्रमस्ति तत्रैकं पूर्वं भोजयित्वा यज्ञपार्श्वोक्तं ब्राह्मणभोजनम् । यत्र विवाहादौ सूत्रं नास्ति तत्र कर्मान्ते परिशिष्टोक्तमेव भोजनम् ।। १।२।१३ ।।

'अथावसथ्याधाने पदार्थक्रमः'—तच्च चतुर्थ्युत्तरकालेऽभ्रातृमतः भ्रातृमतस्तु धनविभागकाले । गृहपतौ प्रेते एकादशेऽहनि प्रागेवैकादशश्राद्धाद् द्वादशेऽहनि वा मातृपूजाऽऽभ्युदयिकरहितं ज्येष्ठः कुर्यात् । कालातिक्रमे तु प्रायश्चित्तं कृत्वा माघादिपञ्चमासेषु श्रावणे आश्विने वा कार्यम् । तत्र पूर्वं वपनं कृत्वा अतिक्रान्तसंवत्सरसङ्ख्यया प्राजापत्यरूपं प्रायश्चित्तं मुख्यविधिना चरेत् । तदशक्तौ प्रतिप्राजापत्यं गां दद्यात् । तदभावे तन्मूल्यं निष्कमेकमर्धं तदर्धं वा दद्यात् । तदभावे प्रतिप्राजापत्यं द्वादशब्राह्मण-

भोजनम् अयुतगायत्रीजपं गायत्र्या तिलाज्यसहस्रहोमं वा शक्त्यपेक्षया कुर्यात् । तत्रैवं सङ्कल्पः—आधानाकरणजनितदोषनाशार्थं वर्षसङ्ख्याकान्कृच्छ्रानहमाचरिष्ये । अथवा प्राजापत्यप्रत्याम्नायत्वेन प्रतिप्राजापत्यमेकैकां गां ब्राह्मणेभ्योऽहं सम्प्रददे । अथवा एतावतीनां गवां मूल्यमिदं सम्प्रददे । ब्राह्मणान्वा भोजयिष्ये । एवमग्रेऽपि सङ्कल्पः ।

ततः सायंप्रातर्होमद्रव्यं प्रत्यहमाहुतिचतुष्टयपरिमितमतिक्रान्तदिवसान् गणयित्वा ब्राह्मणेभ्यो दद्यात् । तन्मानं च कारिकायाम्—षष्टिप्रस्थमितं धान्यं त्रिप्रस्थप्रमितं घृतमिति संवत्सरस्योक्तम् । प्रसृतिद्वितयं मानं प्रस्थं मानचतुष्टयमिति च । तत्र सङ्कल्पः—होमाकरणजनितप्रत्यवायपरिहारार्थमेतावद्वार्षिकं दधियवतण्डुलानामन्यतमं ब्राह्मणेभ्योऽहं सम्प्रददे । तन्मूल्यं वा दद्यात् ।

इतरपक्षाद्यादिकर्मद्रव्यदाननिवृत्तिः, हौम्यं दद्यादिति वचनादिति रामवाजपेयिनः हरिहरश्च । गङ्गाधरस्तु सायंप्रातर्होमपक्षादिकर्मपिण्डपितृयज्ञाद्यनुसन्धानार्थं साधनभूतं होमद्रव्यमिति लिखितवान् । ततो यथोक्ते काले पूर्वाह्णे वैश्वदेवं कृत्वा गणपतिं पूजयित्वा पुण्याहवाचनं कुर्यात् । तद्यदत्र कर्तव्यं तदुच्यते व्यासः—सम्पूज्य गन्धमाल्याद्यैर्ब्राह्मणान् स्वस्ति वाचयेत् । धर्मकर्मणि माङ्गल्ये सङ्ग्रामेऽद्भुतदर्शने ॥

गृह्यपरिशिष्टे—अथ स्वस्तिवाचनमृद्धिपूर्तेषु । ऋद्धिर्विवाहान्ता अपत्यसंस्काराः, प्रतिष्ठोद्यापने पूर्तं, तत्कर्मणश्चाद्यन्तयोः कुर्यादिति । आश्वलायनस्मृतिः—वैदिके तान्त्रिके चादौ ततः पुण्याह इष्यते । शौनकः पुण्याहवाचनविधिं वक्ष्यामोऽथ यथाविधि । प्रयोक्तुः कर्मणामादावन्ते चोदयसिद्धये ॥ इति । तच्च कर्मप्रयोगान्तर्गतमिति केचित्, वहवस्तु प्रयोगबहिर्भूतमिति । आद्यपक्षे कर्मप्रयोगसङ्कल्पं कृत्वा कार्यम् । द्वितीये तु तत्कृत्वा कर्मसङ्कल्पः ।

अथ प्रयोगः—हेमाद्रौ दानखण्डे बह्वृचगृह्यपरिशिष्टत्वेनोक्तः सकलसाधारणशिष्टाचारप्राप्तश्च पुण्याहवाचनप्रयोगः । कृतमङ्गलस्नानः स्वलङ्कृतः कृताचमनः प्राङ्मुखो यजमानो वस्त्राच्छादिते पीठे उपविश्य पत्नीं च स्वदक्षिणतः प्राङ्मुखीमुपवेश्य संस्कार्यं च तथैवोपवेश्य ॐ सुमुखश्चैकदन्तश्चेत्यादि शुक्लाम्बरधरं देवं० अभीप्सितार्थं० सर्वमङ्गलमाङ्गल्ये० सर्वदा सर्वकार्येषु० सर्वेषु कालेषु समस्तदेशेषु० तदेव लग्नम्० यत्र योगेश्वरः कृष्णो० सर्वेष्वारब्धकार्येषु० इति श्लोकान् पठित्वा ॐ लक्ष्मीनारायणाभ्यां नमः, उमामहेश्वराभ्यां नमः, शचीपुरन्दराभ्यां नमः, मातापितृभ्यां नमः, इष्टदेवताभ्यो नमः, कुलदेवताभ्यो नमः, सर्वेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो नमः । आचमनप्राणायामौ कृत्वा देशकालौ सङ्कीर्त्य अमुकफलसिद्ध्यर्थं श्वोऽद्य वाऽमुककर्माहं करिष्ये । तदङ्गतयाऽऽदौ पुण्याहवाचनादि करिष्ये इति सङ्कल्पयेत् । यदा तु प्रयोगाद् वहिर्भूतं पुण्याहवाचनाद्यङ्गं तदाऽमुकफलसिद्ध्यर्थममुककर्म कर्तुमङ्गभूतमादौ पुण्याहवाचनादि करिष्ये इति प्रत्येकं सङ्कल्पः ।

प्रधानसङ्कल्पस्तु सर्वं कृत्वा तद्दिने श्वो वा कार्यः । ततः कर्ता स्वपुरतः महीद्यौः पृथिवीचन इति भूमिं स्पृष्ट्वा ओषधयः समिति तण्डुलपुञ्जं कृत्वा आजिघ्रकलशमिति पुञ्जोपरि सलक्षणं धातुमयं मृन्मयं वा कलशं निधाय इमं मे वरुणेति तीर्थजलेन

पूरयित्वा गन्धद्वारामिति गन्धं कलशे प्रक्षिप्य चन्दनादिना तमनुलिप्य या ओषधीरिति सर्वौषधीः ओषधयः समिति यवान् काण्डात्काण्डादिति दूर्वाः अश्वत्थेव इति पञ्च-पल्लवान् स्योनापृथिवीति पञ्च सप्त वा मृदः या फलिनीरिति फलं परिवाजपतिरिति पञ्चरत्नानि हिरण्यगर्भ इति हिरण्यं युवासुवासा इति वस्त्रेण रक्तसूत्रेण च वेष्टयेत् पूर्णादर्वीति धान्यपूर्णं फलसहितं पात्रमुपरि निदध्यात् तत्त्वायामीति कलशे वरुणमावा-हयेत् चन्दनादिना पूजयेच्च। ततः कलशे देवता आवाहयेत्—कलशस्य मुखे विष्णुः कण्ठे रुद्रः समाश्रितः। मूले तस्य स्थितो ब्रह्मा मध्ये मातृगणाः स्मृताः॥ कुक्षौ तु सागराः सप्त सप्तद्वीपा वसुन्धरा। ऋग्वेदोऽथ यजुर्वेदः सामवेदो ह्यथर्वणः॥ अङ्गैश्च सहिताः सर्वे कलशं तु समाश्रिताः। अत्र गायत्री सावित्री शान्तिः पुष्टिकरी तथा॥ आयान्तु मम शान्त्यर्थं दुरितक्षयकारकाः। सर्वे समुद्राः सरितस्तीर्थानि जलदा नदाः॥ आयान्तु मम शान्त्यर्थं दुरितक्षयकारकाः॥ इति। ततः कलशप्रार्थना—देवदानवसंवादे मथ्यमाने महोदधौ। उत्पन्नोऽसि तदा कुम्भ विधृतो विष्णुना स्वयम्॥ त्वत्तोये सर्वे-तीर्थानि देवाः सर्वे त्वयि स्थिताः। त्वयि तिष्ठन्ति भूतानि त्वयि प्राणाः प्रतिष्ठिताः॥ शिवः स्वयं त्वमेवासि विष्णुस्त्वं च प्रजापतिः। आदित्या वसवो रुद्रा विश्वेदेवाः सपैतृकाः॥ त्वयि तिष्ठन्ति सर्वेऽपि यतः कामफलप्रदः। त्वत्प्रसादादिमं यज्ञं कर्तुमीहे जलोद्भव॥ सान्निध्यं कुरु देवेश प्रसन्नो भव सर्वदा। अवनिकृतजानुमण्डलः कमलमुकुल-सदृशमञ्जलिं शिरस्याधाय दक्षिणेन पाणिना सुवर्णपूर्णकलशं धारयित्वा आशिषः प्रार्थयेत्।

प्रार्थनामाह—एताः सत्या आशिषः सन्तु दीर्घानागानद्योगिरयस्त्रीणि विष्णुपदानि च। तेनायुः प्रमाणेन पुण्यं पुण्याहं दीर्घमायुरस्तु। शिवा आपः सन्तु सौमनस्यमस्तु अक्षतं चारिष्टं चास्तु गन्धाः पान्तु सुमङ्गल्यं चास्तु अक्षताः पान्त्वायुष्यमस्तु पुष्पाणि पान्तु सौश्रियमस्तु ताम्बूलानि पान्त्वैश्वर्यमस्तु दक्षिणाः पान्तु बहुदेयं चास्तु दीर्घमायुः शान्तिः पुष्टिस्तुष्टिः श्रीर्यशोविद्याविनयो वित्तं बहुपुत्रं चायुष्यं चास्तु। अत्र सर्वत्र ब्राह्मणैरस्त्विति प्रत्युत्तरं देयम्। यत्कृत्वा सर्ववेदयज्ञक्रियाकरणकर्मारम्भाः शुभाः शोभनाः प्रवर्तन्ते तमहमोङ्कारमादिं कृत्वा ऋग्यजुःसामाशीर्वचनं बह्वृषिसम्मतं संविज्ञातं भवद्भिरनुज्ञातः पुण्यं पुण्याहं वाचयिष्ये, विप्राः वाच्यतामिति वदेयुः। एवमुत्तरत्रापि यथायोगं प्रत्युत्तरम्। ततो यजमानः भद्रं कर्णेभिः० ऋ० १ द्रविणोदाद्रविण स० ऋ १ सवितापश्चातात्० ऋ० १ नवो नवो भवति० ऋक् उच्चादिवि० ऋ० १ आप उन्दन्तु जीवसे दीर्घायुत्वाय वर्चसे। यस्त्वाहृदाकीरिणामन्यमानोमर्त्यं मर्त्यो जोहवीमि जात-वेदो यशो अस्मासु धेहि प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्या। यस्मै त्वं सुकृते जातवेद उलोक-मग्ने कृणवस्योनम्। अश्विनं सपुत्रिणं वीरवन्तं गोमन्तं रयिन्नुशते स्वस्ति। व्रतनियम-तपःस्वाध्यायक्रतुशमदमदानविशिष्टानां सर्वेषां ब्राह्मणानां मनः समाधीयताम्। विप्राः समाहितमनसः स्मः। यजमानः प्रसीदन्तु भवन्तः। विप्राः प्रसन्नाः स्मः। यज० शान्ति-रस्तु पुष्टिरस्तु तुष्टिरस्तु वृद्धिरस्तु अविघ्नमस्तु आयुष्यमस्तु आरोग्यमस्तु शिवं कर्मास्तु कर्मसमृद्धिरस्तु वेदसमृद्धिरस्तु शास्त्रसमृद्धिरस्तु पुत्रसमृद्धिरस्तु धनधान्यसमृद्धिरस्तु

इष्टसम्पदस्तु अरिष्टनिरसनमस्तु यत्पापं तत्प्रतिहतमस्तु यच्छ्रेयस्तदस्तु उत्तरे कर्मण्य-विघ्नमस्तु उत्तरोत्तरमहरहरभिवृद्धिरस्तु उत्तरोत्तराः क्रियाः शुभाः शोभनाः सम्पद्य-न्ताम्, तिथिकरणमुहूर्तनक्षत्रसम्पदस्तु तिथिकरणमुहूर्तनक्षत्रग्रहलग्नाधिदेवताः प्रीयन्ताम्, तिथिकरणे मुहूर्ते सनक्षत्रे सग्रहे सदैवते प्रीयेताम्, दुर्गापाञ्चाल्यौ प्रीयेताम्, अग्निपुरोगा विश्वेदेवाः प्रीयन्ताम्, इन्द्रपुरोगा मरुद्गणाः प्रीयन्ताम्, ब्रह्मपुरोगा सर्वे वेदाः प्रीयन्ताम्, माहेश्वरीपुरोगा उमामातरः प्रीयन्ताम्, वशिष्ठपुरोगा ऋषिगणाः प्रीयन्ताम्, अरुन्धतीपुरोगा एकपत्न्यः प्रीयन्ताम्, ऋषयश्छन्दांस्याचार्यविदायज्ञाश्च प्रीयन्ताम् ब्रह्म च ब्राह्मणाश्च प्रीयन्ताम्, श्रीसरस्वत्यौ प्रीयेताम्, श्रद्धामेधे प्रीयेताम्, भगवती कात्यायनी प्रीयताम्, भगवती वृद्धिकरी प्रीयताम्, भगवन्तौ विघ्नविनायकौ प्रीयेताम् भगवान्स्वामी महासेनः सपत्नीकः ससुतः सपार्षदः सर्वस्थानगतः प्रीय०, हरिहर-हिरण्यगर्भाः प्रीयन्ताम्, सर्वा ग्रामदेवताः प्रीयन्ताम्, सर्वाः कुलदेवताः प्रीयन्ताम्, हताश्च ब्रह्मविद्विषः हताः परिपन्थिनः हताः अस्य कर्मणो विघ्नकर्तारः शत्रवः पराभवं यान्तु शाम्यन्तु घोराणि शाम्यन्तु पापानि शाम्यन्त्वीतयः शुभानि वर्द्धन्ताम्, शिवा आपः सन्तु शिवा ऋतवः सन्तु शिवा अग्नयः सन्तु शिवा आहुतयः सन्तु शिवा ओषधयः सन्तु शिवा वनस्पतयः सन्तु शिवा अतिथयः सन्तु अहोरात्रे शिवे स्याताम्, निकामे० कल्पताम् । शुक्राङ्गारकबुधवृहस्पतिशनैश्चरराहुकेतुसोमसहिता आदित्यपुरोगाः सर्वे ग्रहाः प्रीयन्ताम्, भगवान्नारायणः प्रीयताम्, भगवान्पर्जन्यः प्रीयताम्, भगवान्स्वामी महासेनः प्रीयताम्, पुण्याहकालान् वाचयिष्ये ब्राह्मणाः वाच्यताम् ।

उद्गाते० पुण्यमावद । अनया पुण्याह एव कुरुते । ब्राह्मणाः मम गृहे अस्य कर्मणः पुण्याहं भवन्तो ब्रुवन्तु । इति स्वयं मन्दस्वरेणोक्त्वा ब्राह्मणैः ओं पुण्याहमिति तथोक्ते पुनरेव मध्यमस्वरेणोक्त्वा तथैव तैरुक्ते पुनरेवमुच्चस्वरेणोक्ते तथैव तैरुक्ते । स्वस्तये० तु नः । आदित्य० ममृतꣳ स्वस्ति ब्राह्मणा इत्यादि कर्मण इत्यन्तं पूर्ववत्स्वस्ति भवन्तो ब्रुवन्तु इति त्रिः । आयुष्मते स्वस्तीति प्रतिवचनं त्रिः । ऋध्याम० काममप्राः सर्वामृद्धि प्रतितिष्ठति ब्राह्मणमित्यादि । अस्य कर्मणः ऋद्धि भवन्तो ब्रुवन्तु इति त्रिः । ओं ऋध्यतामिति त्रिः । श्रिये जातः श्रिये० मितद्रौ । श्रिय एवै० एवं वेद ब्राह्मणमित्यादि । अस्य कर्मणः श्रीरस्त्विति भवन्तो ब्रुवन्त्विति त्रिर्ब्रूयात् । अस्तु श्रीरिति विप्रास्त्रिः । ततः कर्तुर्वामतः पत्नीमुपवेश्य पात्रपातितजलेन पल्लवदूर्वादिभिरुदङ्मुखा विप्रा अभि-षिञ्चेयुस्तिष्ठन्तः । तत्र मन्त्राः—देवस्य त्वेत्यादि । सुरास्त्वामभिषिञ्चन्त्वित्यादिपौरा-णान् श्लोकानपि पठन्त्यभिषेके ततो नीराजनं कुर्यात् ।

अथाभ्युदयिकश्राद्धविधिः—तच्च गर्भाधानादिषु गर्भसंस्कारेषु जातकर्मादिष्वपत्य-संस्कारेषु अग्न्याधानादिषु श्रौतकर्मसु श्रवणाकर्मसु वापीकूपतडागारामाद्युद्यापनादिषु देवप्रतिष्ठायां वानप्रस्थाश्रमसंन्यासस्वीकारे तुलापुरुषादिमहादानादौ नवगृहप्रवेशे महा-नाम्न्यादिवेदव्रतेषु राजाभिषेके शान्तिकपौष्टिकेषु च सर्वेषु उपाकर्मोत्सर्जनयोरप्येके नवीनयोर्वाऽनयोरन्यत्राप्येवंविधे कार्यम् । इदमाभ्युदयिकश्राद्धं वक्ष्यमाणं च मातृपूजन-मेकस्यानेकसंस्कारेष्वेककर्तृकेषु युगपदुपस्थितेषु सर्वादौ सकृदेव तन्त्रेणैव कार्यं, न तु

प्रतिसंस्कारमावृत्त्या । यथा दैवादकृतजातकर्मादिकस्योपनयनकाले जातकर्माद्यनुष्ठाने देशान्तरगतस्य मृतबुद्ध्या कृतोर्ध्वदेहिकस्यागतस्य पुनर्जातकर्मादिसंस्काराणां विहितानां युगपदनुष्ठाने कर्मनाशाजलस्पृष्टादीनां प्रायश्चित्ततया पुनःसंस्काराणां युगपदनुष्ठाने वा ।

तदुक्तं ब्रह्मपुराणे—गणशः क्रियमाणानां मातृभ्यः पूजनं सकृत् । सकृदेव भवेच्छ्राद्धमादौ न पृथगादिषु ।। इति । कात्यायनः—कुड्यलग्ना वसोर्धाराः पञ्चधारा घृतेन तु । कारयेत्सप्त वा धारा नातिनीचा न चोच्छ्रिताः ।। गौरी पद्मा शची मेधा सावित्री विजया जया । देवसेना स्वधा स्वाहा मातरो लोकमातरः । धृतिः पुष्टिस्तथा तुष्टिरात्मदेवतया सह ।। इति । आत्मदेवता आत्मकुलदेवता । आयुष्याणि च शान्त्यर्थं जपेदत्र समाहितः । आयुष्याणि आनोभद्रा इत्यादीनि । ततो वृद्धिश्राद्धं नवदैवत्यं पार्वणत्रयात्मकम् । तत्र क्रममाहाश्वलायनाचार्यैः—माता पितामही चैव सम्पूज्या प्रपितामही । पित्रादयस्त्रयश्चैव मातुः पित्रादयस्त्रयः ।। एते नवार्चनीयाः स्युः पितरोऽभ्युदये द्विजैः ।। इति । यत्तु वृद्धवसिष्ठः—नान्दीमुखे विवाहे च प्रपितामहपूर्वकम् । नाम सङ्कीर्तयेद्विद्वानन्यत्र पितृपूर्वकम् ।। इति स्मृत्यर्थसारश्च—वृद्धमुख्यास्तु पितरो वृद्धिश्राद्धेषु भुञ्जते । इति तच्छाखान्तरविषयम् । कात्यायनानां तु आनुलोम्येन मात्रादिक्रमेणैव नान्दीमुखाः पितरः पितामहाः प्रपितामहा इति प्रयोगदर्शनात् । यत्तु ब्रह्मपुराणे—पिता पितामहश्चैव तथैव प्रपितामहः । त्रयो ह्यश्रुमुखा ह्येते पितरः सम्प्रकीर्तिताः ।। तेभ्यः पूर्वे त्रयो ये तु ते तु नान्दीमुखाः स्मृता । इति तत् महालयप्रकरणपठितप्रौष्ठपदपौर्णमासीनिमित्तकश्राद्धविषयं तत्प्रकरणपाठादित्येव हेमाद्र्यादय ऊचिरे । इह च नान्दीमुखसंज्ञकान् मात्रादीनुद्दिशेत् ।

विष्णुपुराणे कन्याविवाहादीननुक्रम्य—नान्दीमुखान्पितॄनाद्यै तर्पयेत् प्रयतो गृहीत्युक्तेः । ब्रह्मपुराणे च जन्माद्यनुक्रम्य—पितॄन्नान्दीमुखान्नाम तर्पयेद्विधिपूर्वकमित्युक्तेः । वृद्धपराशरेण तु देवानामपि नान्दीमुखविशेषणमुक्तम् । नान्दीमुखेभ्यो देवेभ्यः प्रदक्षिणं कुशासनमिति । वृद्धिश्राद्धे च कालः । कर्माहात्पूर्वेद्युर्मातृपार्वणं कर्माहि पितृपार्वणं कर्मोत्तराहे मातामहपार्वणमिति । अस्यासम्भवे पूर्वेद्युरेव पूर्वाह्णे मातृकं मध्याह्ने पैतृकमपराह्णे मातामहानाम् । अस्याप्यसम्भवे आह वृद्धमनुः—अलाभे श्राद्धकालानां नान्दीश्राद्धत्रयं बुधः । पूर्वेद्युरेव कुर्वीत पूर्वाह्णे मातृपूर्वकम् ।। इति । इदं च महत्सु कर्मसु । अल्पेषु तु कर्माह एव श्राद्धम् । पुत्रजन्मनि तु दिने वा रात्रौ वा भुक्तवतोपवासिना वा पुत्रजन्मानन्तरमेव कार्यम् ।

अत्र सङ्कल्पादौ विशेषः सङ्ग्रहे—शुभाय प्रथमान्तेन न स सङ्कल्पमाचरेत् । न षष्ठ्या यदि वा कुर्यान्महान्दोषोऽभिजायते ।। अनस्मद्वृद्धशब्दानामरूपाणामगोत्रिणाम् । अनाम्नामतिलाद्यैश्च नान्दीश्राद्धं च सव्यवत् ।। आश्वलायनकारिकायाम्—सम्बन्धनामरूपाणि वर्जयेदत्र कर्मणि । इदं तु शाखान्तरविषयम् । अत्र सत्यवसू विश्वेदेवौ तत्स्थाने द्वौ विप्रौ । मात्रादीनां च प्रत्येकं द्वौ द्वौ एवं विंशतिर्ब्राह्मणाः । यद्वा मात्रादीनां त्रयाणां द्वौ द्वौ एवमष्टौ । अत्र नापसव्यं तिलस्थाने यवा एव स्वधास्थाने स्वाहाशब्दः सव्य-

जानुनिपाताभावः सर्वं प्राङ्मुख एव कुर्यात् । प्रदक्षिणमुपचार ऋजुदर्भैः क्रियेत्यादयो विशेषा ग्रन्थान्तरतो ज्ञेयाः । पिण्डदाने कुलदेशाऽऽचारतो व्यवस्था । भविष्यत्पुराणे— पिण्डनिर्वपणं कुर्यान्न वा कुर्यान्नराधिप । वृद्धिश्राद्धे महाबाहो कुलधर्मानवेक्ष्य तु ।। पिण्डदानपक्षे विशेषो वसिष्ठेनोक्तः—दधिकर्कन्धुमिश्रांश्च पिण्डान् दद्याद्यथाक्रमम् । कर्कन्धुर्बदरीफलम् । एकैकस्मै पिण्डद्वयं देयम् । एकन्नाम्नाऽपरन्तूष्णीं दद्यात्पिण्डद्वयं बुधः ।। इति चतुर्विंशतिमतात् । अन्ये च बहवो विशेषा ग्रन्थान्तरतो ज्ञेयाः । दाक्षिणात्यानां गुर्जराणां च विस्तृतवृद्धिश्राद्धाभावान्नेहोच्यते ।

अथाभ्युदयिके कर्तृ निर्णयः सायणीये—नान्दीश्राद्धं पिता कुर्यादाद्ये पाणिग्रहे पुनः । अत ऊर्ध्वं प्रकुर्वीत स्वयमेव तु नान्दिकम् ।। द्वितीयपाणिग्रहादौ वर एव कुर्यादित्यर्थः । कात्यायनः—स्वपितृभ्यः पिता दद्यात्सुतसंस्कारकर्मसु । पिण्डानोद्वाहनात्तेषां तस्याभावे तु तत्क्रमात् ।। तेषां सुतानामुद्वाहनात्प्रथमविवाहपर्यन्तं पिता स्वपितृभ्यः पिण्डास्तदुपलक्षितं वृद्धिश्राद्धं कुर्यात्, तस्य पितुरभावे तु तस्य संस्कार्यस्य पितॄणां यः क्रमस्तेन क्रमेण पितृव्याचार्यमातुलादिः श्राद्धं दद्यात् न च स्वपितृभ्यः इति हेमाद्रिणा व्याख्यातम् । जीवत्पितृकस्तु पितृमात्रादिभ्यो वृद्धिश्राद्धं कुर्यात्—वृद्धौ तीर्थे च संन्यस्ते ताते च पतिते सति । येभ्य एव पिता दद्यात्तेभ्यो दद्यात्स्वयं सुतः ।। एतत्साग्निकविषयकमित्येके । विष्णुः—पितरि जीवति यः श्राद्धं कुर्यात्स येषां पिता कुर्यात्तेभ्य एव तत्कुर्यात्पितरि पितामहे च येषां पितामहः । पितरि पितामहे प्रपितामहे च नैव दद्यादिति । अथाश्वलायनगृह्यपरिशिष्टे तु—जीवत्पिता सुतसंस्कारेषु मातृमातामहयोः कुर्यात्, तस्यां जीवत्यां मातामहस्यैव कुर्यादिति ।

अथास्य शिष्टप्रचाराचारपरिगृहीतः सङ्कल्पविधिना प्रयोगः । उपनयनादिमहत्सु कर्मसु पूर्वेद्युर्जातकर्माद्यल्पेषु तदहरेव नान्दीश्राद्धं कुर्यात् । तत्रादौ कर्ता कृतमाङ्गलिकस्नानो धौतवासाः कृतस्वस्त्ययनो नान्दीश्राद्धपूर्वाङ्गं मातृकापूजनं कुर्यात् । पूजाप्रकारस्तु पूजोपकरणान्युपकल्प्य प्राङ्मुख उपविश्य कुशयवजलान्यादाय अद्येहेत्यादि अमुककर्माङ्गतया गणपतिगौर्यादिचतुर्दशमातृकापूजनमहं करिष्ये इति सङ्कल्प्य । अक्षतैः ॐ भूर्भुवः स्वः गणपते इहागच्छ इह तिष्ठ । ॐ भूर्भुवः स्व गौरि इहागच्छ इह तिष्ठ । एवं पद्मे शचि मेधे सावित्रि विजये जये देवसेने स्वधे स्वाहे धृते तुष्टे पुष्टे आत्मकुलदेवते इति प्रत्येकमावाह्य ततो मनो जूतिरिति प्रतिष्ठाप्य ॐ गणपतये नम इति प्रणवादिनमोऽन्तचतुर्थ्यन्तस्वस्वनाममन्त्रेण पञ्चदशापि षोडशोपचारैः पूजयेत् । मातॄणां गणदेवतात्वपक्षे तु—गणपति गौरी पद्मा शची मेधा सावित्री विजया जया देवसेना स्वधा स्वाहा धृतिः तुष्टिः पुष्टिरात्मकुलदेवता इहागच्छत इह तिष्ठतेति आवाह्य प्रतिष्ठाप्य ॐ गणपत्यादिभ्यो नम इति पूर्ववदुपचारैः पूजयेत् । ततः पञ्च सप्त वा नातिनीचा न चोच्छ्रिताः कुड्यादिषु वसोः पवित्रमसीति घृतधारा उत्तरसंस्थाः कुर्यात् । ततो वसोर्द्धारादेवताभ्यो नम इति पञ्चोपचारैः पूजां कुर्यात् । वसोर्द्धाराकरणञ्च कातीयानामेव नान्येषाम् । तत आयुष्यमन्त्रजपः आयुष्यं वर्चस्यं॰ द्युमाम् ।। १ ।। न तद्रक्षा॰ सि॰ मायुः ।। २ ।। यदावध्नन्दा॰ यथासम् ।। ३ ।। इत्यादि आयुष्यमन्त्रजपः ।

अथ नान्दीश्राद्धं, तच्च त्रिविधं—विवाहादिनित्यनैमित्तिकं (?), पुत्रजन्माद्यनियतनिमित्तम् अग्न्याधानादिनिमित्तं चेति। तत्र विवाहादिनिमित्तं प्रातः कार्यम्। तदाह शातातपः—प्रातर्वृद्धिनिमित्तकमिति। अत्र प्रातःशब्दः सार्द्धप्रहरात्मककालवचनः। तदाह गार्ग्यः—ललाटसम्मिते भानौ प्रथमः प्रहरः स्मृतः। स एव सार्द्धसंयुक्तः प्रातरित्यभिधीयते॥ अग्न्याधाननिमित्तं त्वपराह्णे कार्यम्। तदाह गालवः—पार्वणं चापराह्णे तु वृद्धिश्राद्धं तथाग्निकमिति। अग्न्याधाननिमित्तं वृद्धिश्राद्धमपराह्णे कुर्यादित्यर्थः। पुत्रजन्मादौ निमित्तानन्तरमेव तत्कार्यम्। निर्णयामृतेऽप्येवम्। कर्ता उक्तकाले सुस्नातः सुप्रक्षालितकरचरणः स्वाचान्तः सुस्नातानाचान्तानष्टौ ब्राह्मणानाहूय बहिरुपक्लृप्ते गोमयोपलिप्ते मण्डले स्वागतं वः सुस्वागतमिति प्रत्येकं प्रश्नोत्तरपूर्वकं प्रागग्रकुशोत्तरेष्वासनेषु प्राङ्मुखान् दक्षिणोपक्रमान् उदगपवर्गान् उपवेश्य स्वयमुदङ्मुख उपविश्य आद्ययोर्विप्रयोर्जानुनी स्पृशन् प्राग्वद्देशकालौ सङ्कीर्त्य अमुककर्मनिमित्ताभ्युदयिकश्राद्धाख्ये कर्मणि नान्दीमुखास्मन्मात्रादित्रय—नान्दीमुखास्मत्पित्रादित्रय—नान्दीमुखास्मन्मातामहादित्रयसम्बन्धि—सत्यवसुसंज्ञकविश्वेदेवकृत्ये भवन्तौ मया निमन्त्रिताविति ताम्बूलादिदानपूर्वकं निमन्त्रयेत्। निमन्त्रितौ स्वः इति प्रतिवचनम्।

पुनस्ताम्बूलादिकमादाय तदुत्तरयोर्जानुनी स्पृशन् अद्येहामुकगोत्राणां नान्दीमुखास्मन्मातृपितामहीप्रपितामहीनाममुकदेवीनामद्येहकर्तव्यामुककर्मनिमित्ताभ्युदयिकश्राद्धे भवन्तौ मया निमन्त्रितौ इति ताम्बूलादिदानपूर्वकं निमन्त्रयेत् निमन्त्रितौ स्व इति प्रतिवचनम्। पुनस्ताम्बूलादिकमादाय तदुत्तरयोर्विप्रयोर्जानुनी स्पृशन् अद्येहामुकगोत्राणां नान्दीमुखास्मत्पितृपितामहप्रपितामहानाममुकामुकशर्मणामद्यकर्तव्यामुककर्मनिमित्ताभ्युदयिकश्राद्धे भवन्तौ मया निमन्त्रिताविति ताम्बूलादिदानपूर्वकं निमन्त्रयेत् निमन्त्रितौ स्व इति प्रतिवचनम्। पुनस्ताम्बूलादिकमादायाद्येहामुकगोत्राणां नान्दीमुखास्मन्मातामहप्रमातामहवृद्धप्रमातामहानाम् अमुकामुकशर्मणामद्यकर्तव्यामुककर्मनिमित्ताभ्युदयिकश्राद्धे भवन्तौ मया निमन्त्रिताविति ताम्बूलादिदानपूर्वकं निमन्त्रयेत् निमन्त्रितौ स्व इति प्रतिवचनम्। अक्रोधनैः शौ० कारिणेति सर्वत्र नियमान् श्रावयेत्।

ततो देवद्विजपूर्वकं चरणप्रक्षालनं विधाय अद्येह नान्दीमुखास्मन्मात्रादित्रयनान्दीमुखास्मत्पित्रादित्रयनान्दीमुखास्मन्मातामहादित्रयसम्बन्धि सत्यवसुसंज्ञका विश्वेदेवा एतत्पादार्घ्यं वो नम इति गन्धाक्षतादियुक्तं पादार्घ्यन्दत्वा अद्येहामुकगोत्रा नान्दीमुखास्मन्मातृपितामहीप्रपितामह्योऽमुकामुकदेव्य एतत्पादार्घ्यं वो नम इति मातृवर्गत्रयब्राह्मणचरणयोर्दत्वा अद्येहामुकगोत्रा नान्दीमुखास्मत्पितृपितामहप्रपितामहा अमुकामुकशर्माण एतत्पादार्घ्यं वो नम इति पित्रादिवर्गब्राह्मणचरणयोर्दत्वा अद्येहामुकगोत्रा नान्दीमुखास्मन्मातामहप्रमातामहवृद्धप्रमातामहा अमुकामुकशर्माण एतत्पादार्घ्यं वो नम इति मातामहवर्गब्राह्मणचरणयोरर्घ्यं दद्यात्। ततो ब्राह्मणानाचामय्य स्वयमप्याचम्य श्राद्धदेशे प्रथमकल्पितेष्वासनेषु इदमासनमास्यतामिति प्रयोगेणोदगपवर्गं प्राङ्मुखान्देवपूर्वं द्विजानुपवेश्य स्वयमुदङ्मुख उपविश्य कर्मसौकर्यार्थं कर्मपात्रं जलेनापूर्य दूर्वादधियवकुशांस्तत्र निक्षिप्य प्राणायामत्रयपूर्वकं विष्णुस्मरणं कृत्वा कर्मपात्रजलेनोपकरणानि

प्रोक्ष्य दूर्वाकुशयवजलानि दक्षिणकरेणादाय पूर्ववद्देशकालकीर्तनान्ते अमुककर्मनिमित्ता-भ्युदयिकश्राद्धाख्ये कर्मणि अमुकगोत्राः नान्दीमुखास्मन्मातृपितामहीप्रपितामह्योऽमुका-मुकदेव्योऽमुकगोत्रा नान्दीमुखास्मत्पितृपितामहप्रपितामहा अमुकामुकशर्माणः अमुक-गोत्रा नान्दीमुखा अस्मन्मातामहप्रमातामहवृद्धप्रमातामहाः अमुकामुकशर्माणः प्रधान-देवताः सत्यवसुसंज्ञका विश्वेदेवा अङ्गदेवताः यथोक्तलक्षणं हविः ब्राह्मण आहवनी-यार्थे । अमुकगोत्राणां नान्दीमुखास्मन्मातृपितामहीप्रपितामहीनाममुकामुकदेवी-नाममुकगोत्राणां नान्दीमुखास्मत्पितृपितामहप्रपितामहानाममुकामुकशर्मणाममुक-गोत्राणां नान्दीमुखास्मन्मातामहप्रमातामहवृद्धप्रमातामहानाममुकामुकशर्मणाममुक-कर्मनिमित्तं सत्यवसुसंज्ञकविश्वेदेवपूर्वकं साङ्कल्पिकमाभ्युदयिकं श्राद्धं भवदनुज्ञयाऽहं करिष्ये इति सङ्कल्पः । कुरुष्वेति प्रतिवचनम् ।

ततः सप्रणवव्याहृतिपूर्विकाया गायत्र्यास्त्रिर्जपः विष्णुस्मरणम् । मात्रादित्रयपित्रा-दित्रयमातामहादित्रयश्राद्धसम्बन्धिनः सत्यवसुसंज्ञका विश्वेदेवा इदमासनं वो नम इति प्रागग्रऋजुकुशत्रयं सयवजलं दक्षिणतः आसनोपरि दत्त्वा, अमुकगोत्राः नान्दीमुख्यो-ऽस्मन्मातृपितामहीप्रपितामह्योऽमुकामुकदेव्यः इदमासनं वो नम इति मातृवर्गविप्रद्वया-सनोपरि विभज्य दत्त्वा, अमुकगोत्राः नान्दीमुखास्मत्पितृपितामहप्रपितामहा अमुकामुक-शर्माणः इदमासनं वो नम इति पितृवर्गब्राह्मणद्वयासनोपरि दत्त्वा, पित्रादिपदस्थाने मातामहादिपदप्रक्षेपेण तदीयब्राह्मणद्वयासनोपर्यासनं दद्यात् । ततः प्रत्यासनं दीपस्था-पनम् । ततो द्वितीयब्राह्मणहस्ते प्रथमब्राह्मणहस्तं दत्त्वा तत्र जलदानपूर्वकं गन्धादि दत्त्वा कुशयवजलान्यादाय मात्रादिपित्रादिमातामहादित्रयसम्बन्धि सत्यवसुसंज्ञका विश्वे-देवा इमानि गन्धपुष्पधूपदीपवासोऽलङ्करणताम्बूलानि वो नमः । अमुकगोत्राः नान्दी-मुख्यः अस्मन्मातृपितामहीप्रपितामह्योऽमुकामुकदेव्यः इमानि गन्ध० ताम्बूलानि वो नमः । अमुकगोत्राः नान्दीमुखास्मत्पितृपितामहप्रपितामहाः अमुकामुकशर्माणः इमानि गन्ध० ताम्बूलानि वो नमः । अमुकगोत्रा नान्दीमुखास्मन्मातामहप्रमातामहवृद्धप्रमाता-महा अमुकामुकशर्माण इमानि गन्ध० ताम्बूलानि वो नमः ।

अन्नपरिवेषणम् । पात्रमालभ्य पृथिवी ते० जुहोमि स्वाहेति जपित्वाऽङ्गुष्ठमन्नेऽव-गाह्य इदमन्नमिमा आप इदमाज्यं हविरित्युक्त्वा मात्रादित्रयपित्रादित्रयमातामहादि-त्रयसम्बन्धिनः सत्यवसुसंज्ञका विश्वेदेवा इदमन्नं घृताद्युपस्करसहितं परिविष्टं परिवेष्य-माणं च द्विजेभ्यस्तृप्तिपर्यन्तममृतरूपं वो नम इत्युत्सृजेत् । एवमेव मात्रादिपात्रद्वयमा-लभ्यामुकगोत्रा नान्दीमुख्योऽस्मन्मातृपितामहीप्रपितामह्योऽमुकामुकदेव्य इदमन्नं घृता-द्युपस्करसहितममृतरूपं वो नमः । एवमेव पित्रादिपात्रयोर्मातामहादिपात्रयोरपि सङ्कल्पं कुर्यात् । ततोऽश्नत्सु पित्र्यमन्त्रवर्जं जपः । तृप्तान् ज्ञात्वाऽन्नं विकीर्य सकृत्सकृदपो दत्त्वा पूर्ववद् गायत्रीं जपित्वा मधुमतीर्मधुमध्विति च । सम्पन्नमिति पृष्ट्वा सुसम्पन्नमिति तैरुक्ते शेषमन्नं किं क्रियतामिति पृष्ट्वा इष्टैः सह भुज्यतामिति तैरुक्ते ब्राह्मणा-नाचामयेत् । सुप्रोक्षितमस्तु शिवा आपः सन्तु सौमनस्यमस्तु अक्षतं चारिष्टं चास्तु नान्दीमुख्यो मातरः प्रीयन्ताम् । नान्दीमुख्यः पि० न्ताम् । नान्दीमुख्यः प्र० न्ताम् ।

नान्दीमुखाः पितरः प्रीयन्ताम् । नान्दी० पितामहाः प्रीयन्ताम् । नान्दी० प्रपि० न्ताम् । नान्दी० मातामहाः प्रीयन्ताम् । नान्दी० प्रमा० प्रीयन्ताम् । नान्दी० वृद्धप्रमा० प्री० । इति क्षीरयवजलानि दद्यात् । ततः प्राञ्जलिराशीः प्रार्थयेत्—अघोराः पितरः सन्तु सन्त्विति ब्राह्मणाः । गोत्रन्नो वर्द्धतामिति यजमानः वर्द्धतामिति ते । दातारो नोऽभिवर्द्धन्तामभिवर्धन्तामिति ते । वेदाः सतन्तिरेव च अभिवर्द्धतामिति क्रमेणोत्तरे । श्रद्धा च नो मा व्यगमत् । मागात् । बहुदेयं च नोऽस्तु अस्तु इति प्रतिवचनम् ।

ततो मात्रादित्रयपित्रादित्रयमातामहादित्रयश्राद्धसम्बन्धिवैश्वदेविकश्राद्धप्रतिष्ठार्थम-मुकशर्मभ्यां भवद्भ्यामियं द्राक्षामलकार्द्रमूलकादिरूपा विष्णुदैवता दक्षिणा मया दत्ता इति देवब्राह्मणाभ्यां दक्षिणां दत्त्वाऽमुकगोत्राणां नान्दीमुखीनां मातृपितामहीप्रपितामही-नाममुकामुकदेवीनां कृतैतदाभ्युदयिकश्राद्धप्रतिष्ठार्थममुकगो० दत्तेति मात्रादिब्राह्मणाभ्यां दक्षिणां दत्त्वा अमुकगोत्राणां नान्दीमुखानां पितृ० नाम अमुकामुकशर्मणां कृतैतदाभ्यु-दयि० दत्तेति पित्रादि० दत्त्वा पित्रादिपदस्थाने मातामहादिपदप्रक्षेपेण मातामहादि-ब्राह्मणाभ्यां दक्षिणां दद्यात् । ततो विश्वेदेवाः प्रीयन्तामित्युक्त्वा देवद्विजाभ्यां विश्वे-देवाः प्रीयन्तामिति प्रत्युत्तरे दत्ते स्वस्तिं भवन्तो ब्रुवन्त्विति सर्वान्प्रत्युक्त्वा स्वस्तीति तैरुक्ते ब्राह्मणान्प्रणिपत्य प्रसाद्य वाजेवाजेवतेति मात्रादिवर्गत्रयद्विजपूर्वकं देवद्विजौ विसृज्य आमावाजस्येति विप्राननुव्रज्य प्रदक्षिणीकृत्याचामेत् । ततो मातृकादि विसर्जयेत् ।

जीवन्मातृकस्य न मातृपार्वणम् । जीवन्मातामहस्य न मातामहपार्वणम् । द्वारलोपात् जीवत्पितृकस्तु येभ्यः पिता दद्यात्तेभ्यो दद्यादित्युक्तमेव । यदा तु पक्वान्नासम्भवस्तदा आमश्राद्धविधिना आमान्नेन कर्तव्यम् । आमान्नस्याप्यलाभे हिरण्येन कर्तव्यम् । ततः पत्नीयजमानयोरहतवस्त्रपरिधानम् । ततः सपत्नीकः प्राङ्मुख उपविश्याद्येहेत्यादिदेश-कालौ स्मृत्वा स्मार्ताग्निमहमाधास्ये इति सङ्कल्पं कुर्यात् । आभ्युदयिकश्राद्धात्पूर्वं सङ्कल्प इति हरिहरः श्राद्धोत्तरमिति रेणुकः । वैकल्पिकावधारणम् । मन्थनाग्निः उत्तरतः पात्रासादनम्, द्वे पवित्रे घृतस्थाली मृन्मयी चरुस्थाली औदुम्बरी पालाश्यः समिधः प्राश्चा-वाघारौ कोणयोराज्यभागौ दक्षिणा पूर्णपात्रम् इत्यवधारणम् । हरिहरमते ब्रह्मवरणमर-णिप्रदानं च । तत्रैवं ब्रह्मा अरणी आदायाधरारणिं पत्न्यै उत्तरारणिं यजमानाय प्रय-च्छति । तौ चावसथ्याग्निसाधनभूते इमे अरणी आवाभ्यां परिगृहीते इति परिगृह्णीतः । अरणिप्रदानं स्मार्ते निर्मूलत्वादुपेक्षणीयम् । प्रदानाभावेऽपि धारणं भवत्येव, 'अधरा-रणिं पत्नी बिभृयादुत्तरां पतिः' इति यज्ञपार्श्वपरिशिष्टात् । उक्तप्रकारेणारणिमानम्, अरणिपूजनम् । ततो यवोनचतुर्दशाङ्गुलमानेन मेखलायुक्तवृत्तखरकरणमग्नेः, सभ्याव-सथ्ययोर्गार्हपत्यवत्कुण्डमिति निगमपरिशिष्टात् । यज्ञपार्श्वेऽपि वृत्तमेव कुण्डमुक्तम् । मेखला द्वादशाङ्गुलोच्चा कार्या । ततः खरे परिसमूहनमुपलेपनमुल्लेखनमुद्धरणमभ्यु-क्षणमरणिपक्षेऽग्निमन्थनम् । तत्र यजमानः प्राङ्मुख ओविलीं धारयति प्रत्यङ्मुखी पत्नी मन्थनं करोति । पत्नीबहुत्वे सर्वाभिर्मन्थनमिति रेणुकः । पत्न्या मन्थनाशक्तौ ब्राह्मणेन केनचिन्मन्थनं कार्यम् । काष्ठैरग्नेः प्रज्वालनं खरे निधानम् । अथवा वैश्यगृहादग्निमा-

हुत्याग्नेः खरे स्थापनम् । ऋष्यादिस्मरणमत्रेति रेणुकगङ्गाधरहरिहराः । तद्विचारणीयम् ।

कर्मकाले प्रतिमन्त्रं स्मरणमुत पूर्वमेव स्मरणं कृत्वा कर्मारम्भः, एतान्यविदित्वा योऽधीतेऽनुब्रूते यजते याजयते तस्य ब्रह्म निर्वीर्यं यातयामं भवतीति सर्वानुक्रमण्यामुक्तत्वात्तत्तत्पदार्थज्ञानमात्रमपेक्षितं न तु कर्मकालोच्चारणं यथा अर्थज्ञानम् । अस्मिन्नावसथ्याधाने त्वं ब्रह्मा भवेति ब्रह्मणो व्यपदेशः, दक्षिणतो ब्रह्मासनमास्तीर्य तत्र ब्रह्मोपवेशनम् । अग्नेरुत्तरतः प्रणीताप्रणयनं, परिस्तरणं पात्रासादनं, त्रीणि पवित्रच्छेदनानि, पवित्रे द्वे, प्रोक्षणीपात्रं वारणम्, वैकङ्कतमिति रेणुकः । आज्यस्थाली, चरुस्थाली, सम्मार्गकुशाः, उपयमनकुशाः, समिधस्तिस्रः प्रादेशमात्र्यः, खादिरः स्रुवः, आज्यं, व्रीहितण्डुलाः, दक्षिणा पूर्णपात्रो वरो वा । पवित्रे कृत्वा प्रोक्षणीसंस्कारः, प्रत्येकं पात्रप्रोक्षणं प्रणीताग्न्योर्मध्ये प्रोक्षणीनिधानम्, आज्यनिर्वापः, चरुपात्रे प्रणीतोदकमासिच्य तण्डुलप्रक्षेपः । चर्वाज्ययोस्सहाधिश्रयणमिति पद्धतिकारः । दक्षिणत आज्यस्य । ब्रह्मणः उत्तरतश्चरोः स्वस्य । पर्यग्निकरणमुभयोः स्वस्यैव, स्रुवप्रतपनम्, सम्मार्गकुशैः सम्मार्जनम्, प्रणीतोदकेनाभ्युक्षणम्, पुनः प्रतपनम्, आज्योद्वासनम्, चरोरुद्वासनम्, आज्योत्पवनम्, अवेक्षणम्, अपद्रव्यनिरसनम्, प्रोक्षण्युत्पवनम्, उपयमनादानम्, तिष्ठतः समिधः प्रक्षेपः, प्रोक्षण्युदकेन पर्युक्षणम्, प्रणीतासु पवित्रकरणम्, अग्नेरुत्तरतः प्राङ्मुख उपविश्य दक्षिणं जान्वाच्य ब्रह्मणाऽन्वारब्धः स्रुवेण होमः । मनसा पूर्वाघारः । ॐ प्रजापतये स्वाहा इदं प्रजापतये न ममेति त्यागान्तेऽग्नौ द्रव्यप्रक्षेपः । सर्वत्र त्यागान्ते द्रव्यप्रक्षेपः । ॐ इन्द्राय स्वाहा इदमिन्द्राय न मम । ॐ अग्नये स्वाहा इदमग्नये न मम । ॐ सोमाय स्वाहा इदं सो० । ततोऽष्टर्चहोमः—सर्वत्र होममन्त्रेषु अनाम्नातोऽपि स्वाहाकारः कार्यः । सर्वत्र मन्त्रवत्सु जुहोत्युपदेशादित्युक्तत्वात् । ॐ त्वन्नो अग्ने० प्रमुमुग्ध्यस्मत्स्वाहा इदमग्नीवरुणाभ्याम्, ॐ सत्वन्नो० एधि स्वाहा इदमग्नीवरुणाभ्याम्, ॐ इमं मे० चक्रे० इदं वरुणाय, ॐ तत्त्वा मोषीः० इदं वरुणाय, ॐ ये ते शतं० स्वर्काः० इदं वरुणाय सवित्रे विष्णवे विश्वेभ्यो देवेभ्यो मरुद्भ्यः स्वर्केभ्यश्चेति त्याग इति पद्धतिकाराः । वस्तुतस्तु देवेभ्य इति पदं विहायैव त्यागः । ॐ अयाश्चाग्ने० भेषजं७० इदमग्नये न०, ॐ उदुत्तमं स्याम० इदं वरुणाय०, ॐ भवतन्नः०, मद्य नः० इदं जातवेदोभ्याम्० इदमग्निभ्यामिति वा त्यागः ।

ततः स्थालीपाकहोमः—ॐ अग्नये पवमानाय स्वाहा, ॐ अग्नये पावकाय स्वाहा, ॐ अग्नये शुचये स्वाहा, ॐ अदित्यै स्वाहा । सुगमास्त्यागाः । ततः पुनरष्टर्चहोमः—ततश्चरुशेषादग्नये स्विष्टकृते स्वाहा इदमग्नये स्विष्टकृते० । आज्येन अयास्यग्ने० विदः स्वाहा इदं देवेभ्यो गातुविद्भ्यः । भूः स्वाहा इदमग्नये०, भुवः स्वाहा इदं वायवे०, स्वः स्वाहा इदं सूर्याय०, अथवा इदं भूः इदं भुवः इदं स्वः इति त्यागा इति वासुदेवभट्टाः । त्वन्नो अग्ने०, सत्वन्नो अग्ने०, अयाश्चाग्ने०, ये ते शतम्०, उदुत्तमम्०, त्यागाश्चोक्ताः । प्रजापतये स्वाहा इदं प्रजापतये० । बर्हिर्होमः स्वाहेति, इदं प्रजापतये न ममेति त्यागः । ततोऽवत्तशेषप्राशनं, पवित्राभ्यां मार्जनं, पवित्रयोरग्नौ प्रक्षेपः, यदत्र विलिप्तं

तन्नेद्बहिर्धाग्नेरसदिति लिङ्गात् पवित्रयोरुत्पवने लिप्तत्वात्। ब्रह्मणो दक्षिणादानं, प्रणीतानिनयनमेकब्राह्मणभोजनम्। ततः स्मृत्यन्तरोक्तब्राह्मणभोजनम्। अत्र मणिकाधानमिति हरिहररेणुकदीक्षितौ।

तत्रायं क्रमः—मातृपूर्वमाभ्युदयिकमभ्र्यादानं देवस्यत्वेति। इदमहमिति अवटपरिलेखः, उत्तरपूर्वस्यां खननं पांसूद्वापः प्राच्याम्। अवटे कुशास्तरणमक्षतारिष्टकानां चावापः। हरिद्रादीनां च। मणिकस्य मानं समुद्रोऽसि शम्भूरित्यन्तेन। आपोरेवतीः क्षयथाहिवस्वः क्रतुं च भद्रं बिभृथामृतं च। रायश्चस्थस्वपत्यस्य पत्नीः सरस्वतीतद्गृणते वयोधाः आपोहिष्ठेति तिसृभिश्चोदकासेकः। ततो ब्राह्मणभोजनम्। आधाने पदार्थापचारे नैमित्तिकहोमस्याभावः अग्न्यभावात्। नन्वस्ति मन्थनादूर्ध्वमग्निस्तत्र होमः स्यादिति चेन्मैवम्। आवसथ्यशब्दो हि संस्कारनिमित्तो, न जातिनिमित्तो न योगनिमित्तो वा। संस्कारेषु सत्सु शब्दप्रयोगदर्शनात्। अतश्च ये पदार्था दृष्टार्था अदृष्टार्थाश्च पठितास्ते सर्वे आवसथ्याधानशब्दवाच्याः। एवं सति संस्कारैकदेशाभावेऽप्यनावसथ्यता। अतः सकलकर्मसमुदायावृत्तिरिति सम्प्रदायः। तथा च कारिकायाम्—अग्न्याधेयस्य मध्ये च विलिष्टं किञ्चिदाप्यते। प्रायश्चित्तन्न विद्येत आधानावृत्तिरिष्यते॥ तत्राग्निमन्थनादूर्ध्वं विलिष्टे मन्थनादितः। आवर्तत इदं कर्म पूर्वं च नान्दिकं विना॥ इति। अत्र वदामः—कश्चित्संस्कारोऽङ्गवान्भवति। यथाऽऽज्याहुतिहोमे आज्याधिश्रयणाद्यङ्गम्। चर्वाहुतौ चरुसंस्काराः पर्यग्निकरणादयः। यस्यैवाङ्गिनोऽङ्गापचारस्तस्यैवावृत्तिर्युक्तरूपा न सकलस्याधानस्येति। न तु प्रायश्चित्तमिति कर्कोपाध्यायाः। युक्तरूपं चैतत्। इत्यावसथ्याधानम्।

आधानमध्ये यदा पत्नी रजस्वला तदा विशेषः कारिकायाम्—अर्वाक् पूर्णप्रदानाच्चेदाधाने स्त्री रजस्वला। तच्छुद्धौ पुनराधानं मातृपूजनपूर्वकम्॥ स्यातां ते अरणी तत्र योनिः सैवोत्तरा तथा। आधानानन्तरं चेत्स्याद्रजोयुक्ता कथञ्चन॥ मणिकादि न कर्तव्यमृषिदेवोऽब्रवीदिदम्। आधानग्रहणादूर्ध्वं न स्यात्तत्रैव सूतकम्॥ मणिकादि न कर्तव्यं कुर्यादेकादशेऽहनि। बौधायनमतादेवं भारद्वाजमतादपि॥ अत्र प्रायश्चित्तं देवभाष्ये—'पत्न्यां रजस्वलायां सूतिकायां वा प्रारब्धं कर्म क्रियत एवेति गदाधरः। तथा त्रिकाण्डमण्डनः—रजोदोषे समुत्पन्ने सूतके मृतकेऽपि वा। नित्यं नैमित्तिकं कुर्यात्काम्यं कर्म न किञ्चन॥ आधानं पुनराधानं पशुः सौत्रामणी तथा। चातुर्मास्यानि सोमश्च तथैवाग्रयणक्रिया॥ अकाम्यत्वेऽपि नैतेषां सूतकादावनुष्ठितिः॥ प्रक्रान्तेष्वपि चैतेषु सूतकादिसमुद्भवे। कर्तव्यान्येव ह्येतानि वारितान्यप्यशेषतः॥ इति। अतः प्रारब्धस्य सूतकरजोदोषादावप्यनुष्ठानमेव युक्तम्, न शुद्धिप्रतीक्षणम्। कारिकाकारमते तु आधानं न भवतीत्युक्तमेव पूर्वम्।

अथ पुनराधाननिमित्तानि लिख्यन्ते—अग्नावनुगते यस्य होमकालद्वयं व्रजेत्। उभयोर्विप्रवासे वा लौकिकोऽग्निर्विधीयते॥ १॥ अनो विना समारूढमूर्ध्वं शम्यापरासनात्। हृतोऽग्निर्लौकिको ज्ञेयः श्रुतौ सर्वत्र दर्शनात्॥ २॥ कुरुक्षेत्रादितीर्थानां गमने देशविप्लवे। समारोपं विनैवाग्नीन्नोद्वहेद्युर्विपश्चितः॥ आरोप्याग्नीनरण्योः

स्वानुदवस्येत्सहाग्निभिः ॥ ३ ॥ दृष्टोऽग्निर्यदि नश्येत मथ्यमानो हुताशनः । ग्रामात् सीमान्तरं गच्छेत्प्रत्यक्षो हव्यवाहनः ॥ अहुतो वत्सरं तिष्ठेदुदकेन शमं गतः । शिक्येनोद्वाहयेदग्नीन्पुनराधानमर्हति ॥ अग्निहोत्रेण रहितः पन्थानं शतयोजनम् । आहिताग्निः प्रयायाच्चेदग्निहोत्रं विनश्यति ॥ ४ ॥ अब्दं स्वयमजुह्वन्यो हावयेदृत्विगादिना । तस्य स्यात्पुनराधेयं पवित्रेष्टिरथापि वा ॥ ५ ॥ विहायाग्निं सभार्यश्चेत्सीमामुल्लङ्घ्य गच्छति । होमकालात्यये तस्य पुनराधानमिष्यते ॥ ५ ॥ अरण्योः क्षयनाशाग्निदाहेष्वग्निं समाहितः । पालयेदुपशान्तेऽस्मिन्पुनराधानमिष्यते ॥ ७ ॥ ज्येष्ठा चेद् बहुभार्यस्य ह्यतिचारेण गच्छति । पुनराधानमत्रैक इच्छन्ति न तु सूरयः ॥ ८ ॥ दाहयित्वाऽग्निभिर्भार्यां सदृशीं पूर्वसंस्थिताम् । पात्रैश्चाथाग्निमादध्यात्कृतदारोऽविलम्बतः ॥ ९ ॥ दाहयित्वाऽग्निहोत्रेण स्त्रियं वृत्तवतीं पतिः । आहरेद्विधिवद्दारानग्नींश्चैवाविलम्बयन् ॥ १० ॥ जीवन्त्यामपि ज्येष्ठायां द्वितीयपरिणये कृते उत्सर्गेष्टयाऽग्नीनुत्सृज्यान्यया सह पुनरादध्यादिति स्मृतिचन्द्रिकायाम् । भार्यायां विद्यमानायां द्वितीयामुद्वहेद्यदि । तदा वैवाहिकं कर्म कुर्यादावसथ्येऽग्निमान् ॥ ११ ॥ उपघातः क्रियालोप उपेक्षा च प्रमादतः । चतुर्विधमिदं प्रोक्तं पुनराधानकारणम् ॥ १२ ॥ प्रसिद्धः कर्मणां लोप उपघातोऽन्त्यजादिना । उपेक्षणं प्रवासादि प्रमादोऽग्नेरधारणम् ॥ १३ ॥ स्पृष्टोऽग्निर्यदि चाण्डालैरुदक्यादिभिरेव वा । उपघातेषु सर्वेषु पुनस्त्वेति समिन्धनम् ॥ यजमानश्च पत्नी च उभौ प्रवसितौ यदा । आहोमान्न निवर्तेत पुनराधानमर्हति ॥ १४ ॥ यदोभावप्यतिक्रम्य सीमां प्रत्यागतौ पुनः । होमकालमतिक्रम्य तदा नश्यन्ति वह्नयः ॥ १५ ॥ विनाऽग्निभिर्यदा पत्नी नदीमम्बुधिगामिनीम् । अतिक्रामेत्तदाग्नीनां विनाशः स्यादिति श्रुतिः ॥ १६ ॥ पत्न्यन्तरेऽथवा पत्यौ हुताशनसमीपगे । तदा पत्नी यथाकाममतिक्रामेन्नदीमपि ॥ १७ ॥ पत्नी सीमामतिक्रान्ता यजमानो गृहे यदि । आ होमाद्यदि नागच्छेत्पुनराधानमर्हति ॥ १८ ॥ एकाकिनी यदा पत्नी वह्निमादाय गच्छति । तत्र नाशोऽपरे त्वाहुर्भयाद्याते न दुष्यति ॥ १९ ॥ रजोदोषे समुत्पन्ने सूतके मृतकेऽपि वा । प्रवसन्नग्निमान्विप्रः पुनराधानमर्हति ॥ २० ॥ बह्वीनामथवैकस्यामुदक्यायां तु न व्रजेत् । एकादशे चतुर्थेऽह्नि गन्तुमिच्छेन्निमित्ततः ॥ २१ ॥ त्रयीं मुक्त्वा तु यो लोभात् प्रवसेत्पर्वसन्धिषु । करोति पुनराधानं प्रायश्चित्तमृणादृते ॥ २२ ॥ नाग्निकार्यस्य वेलायां प्रवसेन्न च पर्वणि । न विना च निमित्तेन क्रीडाद्यर्थं तु न व्रजेत् ॥ २३ ॥ नदीसन्तरणेऽग्नीनां सीमातिक्रमणे तथा । सर्वत्राद्यन्तसीम्नोर्वा स्वामिस्पृष्टाः स्युरग्नयः ॥ २४ ॥ प्रत्यक्षमरणिद्वारं चान्यथाऽग्निविनाशनम् । आत्मारम्भणपक्षे तु नान्वारम्भणमिष्यते ॥ २५ ॥ तत्र नान्वारभेदग्निं पुनराधिरुदाहृता । न क्वाप्यारम्भणं किञ्चिल्लौगाक्ष्यादिनिबन्धनात् ॥ २६ ॥ उदक्या चेद्भवेत्पत्नी प्रसूता प्रवसत्यपि । अन्वारम्भविकल्पत्वात्पुनराधिर्न तन्मतात् ॥ २७ ॥ ज्येष्ठान्वारभते वह्निं बहुनार्यस्य नेतराः । न रुच्यैकाकिनी पत्नी प्रयायादग्निभिः सह ॥ २८ ॥ राष्ट्रभ्रंशादिसम्प्राप्तावुचितं यानमीदृशम् । अन्यथा प्रवसन्त्यां हि वह्नयो लौकिकाः खलु ॥ २९ ॥ राष्ट्रभ्रंशादिगमने प्राप्ते देशे मनस्वतीम् । जुहुयाच्चतुरात्तेन स्मार्तेऽग्नौ सर्वमीरितम् ॥ ३० ॥ सायंप्रातर्हुते

सर्वमेव स्याद् गमनेऽन्वहम्। यस्त्वग्न्याधेयमात्मार्थं कृतवान्मृतभार्यकः ॥ ३१ ॥ पत्नीविरहितो वह्नीन्यथाकामं स निर्हरेत्। होमद्वयात्यये दर्शपूर्णमासात्यये तथा। पुनरेवाग्निमादध्यादिति भार्गवशासनम् ॥ ३२ ॥ बहुधा विहृतो ह्यग्निरावसथ्यात् कथञ्चन। यावदेकोऽपि तिष्ठेत तावदन्यो न मथ्यते ॥ ३३ ॥ वैश्वदेवात्तथा होमात् प्राग्ज्ञेयं नैव मन्थनम्। एकेनान्तरितो वह्निरावसथ्यस्तु मथ्यते ॥ ३४ ॥ आवसथ्यात्तु कर्मार्थे योऽग्निरुद्ध्रियते क्वचित्। पूर्वेण योजयित्वा तं तस्मिन्होमो विधीयते ॥ ३५ ॥ चतुर्विंशतिमते—प्रातर्होमं तु निर्वृत्य समुद्धृत्य हुताशनात्। शेषं महानसे कृत्वा तत्र पाकं समाचरेत् ॥ ३६ ॥ ततोऽस्मिन् वैश्वदेवादिकर्म कुर्यादतन्द्रितः। बह्वृचकारिकायाम् ॥ ३७ ॥ नित्यपाकाय शालाग्नेरेकदेशस्य कार्यतः। पाकार्थमुल्मुकं हृत्वा तत्र पक्त्वा महानसे ॥ ३८ ॥ वैश्वदेवोऽन्यगारे स्यात्पाकार्थोऽग्निश्च लौकिकः। भूरिपाको भवेद्यत्र श्राद्धादावुत्सवेषु च ॥ ३९ ॥ कृते च वैश्वदेवेऽथ लौकिको नैव कार्यतः। होमेनान्तरितं केचिदाहुः सर्वत्र लौकिकम् ॥ ४० ॥ न तत्समञ्जसं तेषामुपयद्धोमदर्शनात्। समासं चोल्मुकस्याहुरग्न्यगारे महानसात्। पाकान्ते वैश्वदेवात्प्राक् चैतदप्युपपद्यते ॥ ४१ ॥ आहृते ह्युल्मुके पाकः शामित्रे दृश्यते पशौ। वचनादाहुतिः सा तु लौकिकस्त्वपवर्गतः ॥ ४२ ॥ दीपको धूपकश्चैव तापार्थं यश्च नीयते। सर्वे ते लौकिका ज्ञेयास्तावन्मात्रापवर्गतः ॥ ४३ ॥ पंचनाग्नौ पचेदन्नं सूतके मृतकेऽपि वा। अपक्त्वा तु वसेद्रात्रीं पुनराधानमर्हति ॥ ४४ ॥ अरण्योर्दग्धयोर्वाऽपि नष्टयोः क्षीणयोस्तथा। आहृत्यान्ये समारोप्य पुनस्तत्रैव निर्मथेत् ॥ ४५ ॥ अरण्योरल्पमप्यङ्गं यावत्तिष्ठति पूर्वयोः। न तावत्पुनराधानमन्यारण्योर्विधीयते ॥ ४६ ॥ पूर्वैव योनिः पूर्वावृत् पुनराधानकर्मणि ॥ ४७ ॥ एकाकिनी यदा पत्नी कदाचिद् ग्राममाव्रजेत्। होमकालेऽभिसम्प्राप्ता न सा दोषेण युज्यते ॥ ४८ ॥ अथ तत्रैव निवसेद् ग्रामं गत्वा प्रमादतः। लौकिकोऽग्निः स विज्ञेय इत्येषा नैगमी श्रुतिः ॥ ४९ ॥ भार्यायां प्रोषितायां चेदुदेत्यर्कोऽस्तमेति वा। तत्र स्यात्पुनराधेयमन्ये त्वाहुरिहान्यथा ॥ ५० ॥ पत्न्याः प्रवासविषये पुनराधिरुदाहृतः। वाक्यैर्मनीषिभिः प्रोक्तैरेकभार्यस्य सेव्यते ॥ ५१ ॥ बहुभार्यस्य ज्येष्ठा चेत्प्रवसेत्पुनराहितिः। ज्येष्ठा चेदग्निसंयुक्ता गच्छन्त्यन्या यथारुचि ॥ ५२ ॥ यजमानेन सहिता यद्वा ता एव केवलाः। एकस्यामप्यतिष्ठन्त्यामग्निहोत्रसमीपतः ॥ ५३ ॥ पतिस्तिष्ठति चेदग्निनाशो नेत्यपरे जगुः। यदा सीमामतिक्रम्य रात्रौ तत्रैव वत्स्यति ॥ ५४ ॥ अगृहस्य प्रयाणं यत्प्रवास उच्यते बुधैः। यत्तु नारायणेनोक्तं ग्रामाच्चाग्निसमन्वितात्। गत्वा ग्रामान्तरे वासः प्रवासोऽप्ययमीदृशः ॥ ५५ ॥ ग्रामान्तरे नगर्यां वा पल्लयां वाऽन्यत्र वा क्वचित्। सीमामतीत्य चेद्रात्रौ वासः प्रवसनं स्मृतम् ॥ ५६ ॥ प्रवसेद्धनसम्पत्त्यै न तीर्थाय कदाचन। इति कूर्मपुराणोक्तं तथा बोधायनेन च ॥ ५७ ॥ सहाग्निर्वा सपत्नीको गच्छेत्तीर्थानि मानवः। पुराणवचनात्साग्नेः प्रवासोऽस्तीति केचन ॥ ५८ ॥ न कुर्युरग्न्युपस्थानं प्रवत्स्यन्त्योऽपि योषितः। त्यागाच्च प्रोषिताः कुर्युरश्नन्त्येव सधर्मकम् ॥ ५९ ॥ आगतोपस्थितिं चापि स्त्रीणां नेच्छन्ति सूरयः। सगृहस्य प्रयाणं यत्तत्पत्यग्निसमन्वितम् ॥ ६० ॥ क्लिष्टश्चेत्स तु वृत्त्यर्थमनसा

सह गच्छति । अनस्यारोपयेदग्नींस्तत्पात्राण्यपि तत्र च ॥ ६१ ॥ स्वाङ्गेन वा नयेदग्निं कात्यायनमतादपि । नयेद् वा ब्राह्मणस्त्वन्यो यो याज्येन समन्वितः ॥ ६२ ॥ प्रत्यक्षेण नयन्नग्निमुच्छ्वसेच्चेद्विनश्यति । यदि वाऽनुच्छ्वसन्नीत्वा निधायोच्छ्वस्य तं पुनः ॥ ६३ ॥ हरेदनुच्छ्वसन्नेव नश्येत् त्रिर्हरणेऽनलः । शकटेनापि दूरं वा हरेदेवं यथारुचि ॥ ६४ ॥ स्वाङ्गेनैवाथ वा शम्यापरासात्प्राङ्नयेच्छ्वसन् । कर्मार्थं हरणेऽग्नीनां नानुच्छ्वासादि चोद्यते ॥ ६५ ॥ कात्यायनमतात्केचिच्छ्वसन्तोऽप्यतिदूरतः । प्रत्यक्षेण नयन्त्यग्नीन् शकटेन विनापि तु ॥ ६६ ॥ आधानावसरे जाते यद्याधातुरुपद्रवः । अवृद्धिर्नाम सा प्रोक्ता तत्र स्यात्पुनराहितिः ॥ ६७ ॥ उद्वातेऽग्नौ विहारात्प्राङ्मंथ्यमानेऽप्यजन्मनि । लोकाग्न्यादावनिक्षिप्तेऽभ्युदयेऽस्तमयेऽपि वा ॥ ६८ ॥ विनष्टहेतुनाऽनेन जातवेदा विनश्यति । विहारोत्तरकालं वा नष्टौ पूर्वापरानलौ ॥ ६९ ॥ शेषं पूर्वोदितं सर्वं तत्राप्यग्निर्विनश्यति । कालाल्पत्वे त्वनिर्मंथ्य लोकाग्न्यादौ क्षिपेद्यदि ॥ ७० ॥ उदयास्तमयात्पूर्वं कर्कोऽत्रानाशमिच्छति । लोकाग्न्यादावलब्धेऽपि पुरार्कास्तमयोदयात् ॥ ७१ ॥ मन्थनारम्भमात्रेण नाशो वृद्धेर्निवारितः । उभयोर्नाशविज्ञानादूर्ध्वमर्कोऽस्तमेति चेत् ॥ ७२ ॥ कर्कोऽग्निनाशमाचष्टे पश्चाज्ज्ञातेऽपि नेच्छति । एकयोनित्वपक्षेऽपि सर्वाग्न्यनुगमो यदि ॥ ७३ ॥ उदयास्तमये तत्र नाशमेकेन तूभयोः । अथ चेदुभयोर्घातेऽभ्युदयास्तमयात्पुरा ॥ ७४ ॥ परोऽग्निरेको जातश्चेत्तावताऽपि न नश्यति । तदनुत्पत्तिमात्रेण स्यादग्न्याधिर्न पूर्वयोः ॥ ७५ ॥ मन्त्रं विना समारूढोऽरण्योरात्मनि वा यदि । तत्र ज्वलनशान्तौ स्यादसमारूढशान्तिवत् ॥ ७६ ॥ आरूढोऽपि यथाशास्त्रमवरूढो न शास्त्रतः । तृतीये होमकालेऽथ सम्प्राप्ते पुनराहितिः ॥ ७७ ॥ यदा तु लौकिकाग्न्यादिर्निधाय हवनं तदा । हुतेऽपि लौकिकाग्न्यादौ मथ्यमानोऽप्यनन्तरम् ॥७८॥ द्वितीयाद्वा तृतीयाद्वा होमकालात्पुरा यदि । अग्निर्न जायते तत्र पुनराधेयमाचरेत् ॥ ७९ ॥ हुतेषु पक्षहोमेषु पक्षत्रयमनन्तरम् । कर्तव्यं पुनराधेयं मथ्यमानो हुताशनः ॥ ८० ॥ दृष्टमात्रोऽनुगच्छेच्चेत्तत्र तस्य विनाशनम् । शतशोऽनुगमे चान्ये पुनर्निर्मंथ्य जप्यते ॥ ८१ ॥ नष्टे मथितमात्रे वा समारोपयजुर्जपेत् । पुनर्निर्मंथ्य जप्तव्यं यजुस्तूपावरोहणम् ॥ ८२ ॥ जलेन हेतुना वह्निरुपशान्तो यदा भवेत् । कर्तव्यं पुनराधेयं यज्ञपार्श्वे' निरूपितम् ॥ ८३ ॥ तदेव पुनराधेयमग्नावनुगते सति । असमाधाय चेत्स्वामी सीमामुल्लङ्घ्य गच्छति ॥ ८४ ॥ श्वशूकररासभकाकशृगालैः कुक्कुटमर्कटशूद्रैः । अन्त्यजपातकिभिः कुणपैर्वा सूतिकयापि रजस्वलया वा ॥ ८५ ॥ रेतोमूत्रपुरीषैर्वा पूयाश्रुश्लेष्मशोणितैः । दुष्टास्थिमांसमज्जाभिरन्यैर्वापि जुगुप्सितैः ॥ ८६ ॥ आरोपितारणिस्पर्शे कृतेऽग्नौ स्पर्शनेऽपि वा । आत्मारूढेषु मज्जेद्वा वदेद्वा पतितादिभिः ॥ ८७ ॥ अथवा योषितं गच्छेदनृतौ काममोहितः । वदन्त्येषु निमित्तेषु केचिदग्निविनाशनम् ॥ ८८ ॥ तत्रारणिगते वह्नौ नष्टे स्यात्पुनराहितिः । इतरेषु निमित्तेष्वग्न्याधेयं परिचक्षते ॥ ८९ ॥ यद्वा सर्वोपघातेषु पुनस्त्वेति समिन्धनम् । द्रव्यस्थाग्न्युपघातेषु द्रव्यशुद्धिः समिन्धने ॥ ९० ॥ समिन्धनं पुनस्त्वादित्यारुद्रा वसव इति मन्त्रेण समिद्धस्याप्यग्नेः पुनरिन्धनप्रक्षेपेण प्रदीप्ततरकरणम् ॥ ९१ ॥ आरोपितारणी चोभे एका

वा यदि नश्यति । तत्राग्न्याधेयमिच्छन्ति पुनराधेयमेव वा ॥ ९२ ॥ इत्यनारोपितारण्योः क्षये ग्राह्ये नवे पुनः । तदलाभे यदोद्वापादत्र स्यात्पुनराहितिः ॥ ९३ ॥ शूद्रोदक्यान्त्यकाकैश्च पतितामेध्यरासभैः । अनारूढारणिस्पर्शे ते विहायान्ययोर्ग्रहः ॥ ९४ ॥ भवतन्नः समेत्यप्सु मज्जयेद् दूषितारणी । एकारण्येव दुष्टा चेत्तामेवाप्सु निमज्जयेत् ॥ ९५ ॥ तत्रान्यारणिलाभात्प्रागुद्वाते पुनराहितिः । काष्ठशुद्धया विशोध्ये वा त्यजेद्दोषेऽतिसन्तते ॥ ९६ ॥ नष्टायामरणौ यावदग्निस्तिष्ठति वेश्मनि । तावद्धोमादिकं कृत्वा तन्नाशे पुनराहरेत् ॥ ९७ ॥ प्रागादित्योदयाद्धोमं सङ्कल्प्य न जुहोति चेत् । अग्न्याधिः पुनराधिर्वा नोभयं स्वाम्यसन्निधौ ॥ ९८ ॥ नाशापहारावग्नीनां यद्वाऽऽरूढारणेर्यदा । कुर्याच्च पुनराधेयमिति बौधायनोऽब्रवीत् ॥ ९९ ॥ अत्रैतेषु निमित्तेषु नष्टानां पुनराहितिः । स्थितानुत्सृज्य चान्येषु पुनराधेयमिष्यते ॥ १०० ॥ अग्निहोत्रं च नित्येष्टिः पितृयज्ञ इति त्रयम् । कर्तव्यं प्रोषिते पत्यौ नान्यत्स्वामिक्रियान्वितम् ॥ १०१ ॥ नैमित्तिकास्तु जातेष्टिर्गृहदाहेष्टिपूर्विकाः । स्वाम्यागमनपर्यन्तमुत्कृष्टव्या ह्यशेषतः । अग्न्याधेयादिकं प्राप्तमुभयानुगमादिना । स्वाम्यागमनपर्यन्तमुत्कृष्टव्यमसंशयम् ॥ १०२ ॥ मथित्वा पावकं सर्वंप्रायश्चित्तं विधाय च । मित्रायेत्यादिभिर्हुत्वा द्वादशानुगमाहुतीः ॥ १०३ ॥ अग्निहोत्रं यथाकालं नित्येष्टिं च समाचरेत् । आस्वाम्यागमनात्तिष्ठेदागत्याथादधीत सः ॥ १०४ ॥ एवं केशवसिद्धान्तात्प्रोषितस्याग्निषु क्रियाः । अवश्यम्भाविनीरुक्त्वाऽधुना वक्ष्ये मतान्तरम् ॥ १०५ ॥ काम्याः क्रिया न कर्तव्याः स्वामिनि प्रोषिते सति । नित्यनैमित्तिकीः कुर्यात्प्रवसत्यपि भर्तरि ॥ १०६ ॥ तत्रापि नैव कर्तव्याः क्रियाः सोत्तरवेदिकाः । आधानपुनराधाने न स्तः पत्यौ प्रवासिनि ॥ १०७ ॥ उभयानुगमादौ तु प्राप्तेऽग्नाधेयतः पुरा । न किञ्चिदग्निहोत्रादि कर्तव्यमिति दर्शने ॥ १०८ ॥ रजोदोषे समुत्पन्ने सूतके मृतकेऽपि वा । नित्यनैमित्तिके कुर्यात्काम्यं कर्म न किञ्चन ॥ १०९ ॥ आधानं पुनराधानं पशुः सौत्रामणी तथा । चातुर्मास्यानि सोमश्च तथैवाग्रयणक्रिया ॥ ११० ॥ अकामत्वेऽपि नैतेषां सूतकादावनुष्ठितिः । प्रक्रान्तेष्वपि चैतेषु सूतकादिसमुद्भवे ॥ १११ ॥ कर्तव्यान्येव चैतानि वारितान्यप्यशेषतः । जातोऽपि वा विना भस्मस्पर्शं जातजपं विना ॥ ११२ ॥ प्रायश्चित्तं विना काष्ठमन्थने चोदितं विना । लौकिकः स्यादतो लुप्तादारभ्यावर्तयेत्पुनः ॥ ११३ ॥ यदि नावर्तयेद्वह्नौ तादृश्येव जुहोति च । हूयमानेऽपि लुप्येत होमकालाष्टकात्परम् ॥ ११४ ॥ भस्मस्पर्शं विनाप्येके लौकिकत्वं न मन्यते । होमाष्टकाधिके लुप्ते धृतोऽप्यग्निर्विनश्यति ॥११५॥ अतोऽल्पहोमलोपेऽपि यद्युद्वापो विनश्यति । आधानपुनराधाने विकल्पेनात्र चोदिते ॥ ११६ ॥ लुप्ते होमद्वये प्राह लौगाक्षिरनलाहितिम् । ज्वलत्स्वग्निषु कर्तव्या तन्तुमत्येव केवला ॥ ११७ ॥ आपद्याग्निषु दीप्यत्सु मासार्धं चेन्न हूयते । सर्वहोमानतिक्रान्तान्पक्षान्ते पक्षहोमवत् ॥ ११८ ॥ समस्य जुहुयात्पश्चादिष्टिस्तन्तुमती भवेत् । न तत्र पुनराधेयमिति कौषीतकिश्रुतेः ॥ ११९ ॥ वत्सरं वत्सरार्द्धं वा होमलोपे मतान्तरम् । आपत्काले न नश्यन्ति दीप्यन्ते चेद्धुताशनाः ॥ १२० ॥ पञ्च कार्याः पुरोडाशा होमे लुप्तेऽर्द्धवत्सरम् । पथिकृत्प्रथमो ज्ञेयः पावकः शुचिरेव च ॥ १२१ ॥ व्रतपति-

स्तन्तुमांश्चाग्नेर्देवतागुणाः क्रमात् । सप्त कुर्यात्पुरोडाशान्होमे लुप्ते तु वत्सरम् ॥१२२॥ पवमानः पावकश्च शुचिः पथिकृदित्यपि । वैश्वानरो व्रतपतिस्तन्तुमानिति सप्तमः ॥ १२३ ॥ विशेषतोऽग्निरेव स्याद्देवताऽत्र यथाक्रमम् । एकारम्भपरार्द्धान्तविच्छेदेष्व-विशेषतः ॥ १२४ ॥ मनस्वतीं व्रतयुतां नाधानमनले सति । इयमापत्सु घोरासु मिलि-तासूपयोक्ष्यते ॥ १२५ ॥ द्वादशाहाहुतिच्छेदे कुर्युरन्ये मनस्वतीम् । अरण्योः क्षयना-शाग्निदाहेष्वग्निं समाहितः ॥ १२६ ॥ पालयेदुपशान्तेऽस्मिन्पुनराधानमिष्यते । एका-रण्यां विनष्टायामस्ति चेदितराऽरणिः ॥ १२७ ॥ तां छित्वा मन्थनं प्रोक्तं भाष्ये बौधायनीयके । अरणी मथनाशक्ते जन्तुभिर्मंथनेन वा ॥ १२८ ॥ स्यातां चेदरणी नूत्ने ग्राह्ये शास्त्रोक्तलक्षणे । श्वोभूतेऽनुष्ठिते दर्शे तस्मिञ्जीर्णारणिद्वयम् ॥ १२९ ॥ शक-लीकृत्य पाश्चात्ये वह्नौ निक्षिप्य दीपयेत् । ततो दक्षिणहस्तेन नूतनामुत्तरारणिम् ॥ १३० ॥ गृहीत्वा सव्यहस्तेन गृह्णीयादधरारणिम् । ते उभे अरणी तत्र दीप्तेऽग्नौ धारयन् जपेत् ॥ १३१ ॥ उद्बुध्यस्वाग्न इत्येतदयन्ते योनिरित्यपि । उद्बुध्यस्वाग्ने प्रविशस्व योनिमन्यां देवयज्यायै वोढवे जातवेदः । अरण्योररणिमनुसङ्क्रमस्व जीर्णां तनुमजीर्णया निर्णुदस्वेति प्रथमो मन्त्रः । मन्थनस्यावृतासम्यङ्मथित्वाऽग्निं विहृत्य च ॥१३२॥ विलाप्योत्पूयदर्भाभ्यां स्रुच्यादाय चतुर्घृतम् । जुहोत्याहवनीयेऽग्नौ मनस्वत्या घृतं तथा ॥ १३३ ॥ इष्टिं तन्तुमतीं कुर्याच्छरावं दक्षिणां ददेत् । वृत्तं प्रादेशमात्रं तु शरावं निगमोदितम् ॥ १३४ ॥ इत्यनारोपितारण्योः क्षये ग्राह्ये नवे पुनः । तदलाभे यदोद्वापेत्तदा स्यात्पुनराहितिः ॥ १३५ ॥ कामे निमित्तयोगे वा पुनराधेयमिष्यते । निमित्तेषु यथायोगमाधानमपि वा भवेत् ॥ १३६ ॥ तत्र येषु निमित्तेषु शृङ्गग्राहिकया विधिः । तत्रैव पुनराधेयमन्यथाऽऽधानमिष्यते ॥ १३७ ॥ अन्यत्राप्यपरे प्राहुः पुनराधि-विकल्पतः । यद्वित्तं जीवनायालं क्षुद्रं चास्यैकवत्सरम् ॥ १३८ ॥ तन्नाशे पुत्रमर्त्यानां ज्ञातीनामवरोधने । अङ्गनाशेऽङ्गनानाशे पुनराधानमिष्यते ॥ १३९ ॥ ज्यानिः सर्वस्व-हानिः स्यात्स्पष्टं माध्यन्दिनिश्रुतेः । पुण्यान्यन्यानि कुर्वीत श्रद्दधानो विमत्सरः ॥ १४० ॥ न त्वल्पदक्षिणैर्यज्ञैर्यजेतेह कथञ्चन । इन्द्रियाणि यशः स्वर्गमायुः कीर्तिं प्रजां पशून् ॥ १४१ ॥ हन्त्यल्पेन धनेनैव विप्रोऽनल्पधनो यजन् । इति पुनराधानपुनराधे-ययोर्निमित्तानि ।

अथ पुनराधाने पदार्थक्रमः—तत्र प्रमादात् त्रिरात्रमग्नित्यागे प्राणायामशतं, विंशतिरात्रे एकदिनोपवासः, मासद्वये त्रिरात्रमुपवासः, अब्दे प्राजापत्यकृच्छ्रः, एवं त्यागानुसारेण प्रायश्चित्तं कृत्वा पुनराधानम् । आलस्यादिना बुद्धिपूर्वकमग्नित्यागे तत्तत्कालानुसारेणैन्दवादि प्रायश्चित्तम् । द्वादशाहपर्यन्तं त्रिरात्रमुपवासः, मासपर्यन्तं द्वादशरात्रमुपवासः, अब्दपर्यन्तं मासं पयोव्रतं, द्विवर्षपर्यन्तं चान्द्रायणं, त्र्यब्दपर्यन्तं चान्द्रायणं सोमायनं च । तदूर्ध्वमब्दकृच्छ्रं धनिनो गोदानं चेति प्रयोगपारिजाते । स्मृत्यर्थसारे तु—द्वादशाहातिक्रमे त्र्यहमुपवासः, मासातिक्रमे द्वादशाहमुपवासः, संवत्सरातिक्रमे मासमुपवासः, पयोभक्षणं वेति विशेषः । एवं कालविलम्बे सङ्कल्पपूर्वकं

प्रायश्चित्तं कृत्वा पुनराधानम्। यत्र तु येन केनचिन्निमित्तेनाग्निनाशः कालविलम्बश्च नास्ति, तत्र प्रायश्चित्तमकृत्वैव पुनराधानम्।

नित्यक्रियां विधाय देशकालौ सङ्कीर्त्य—एतावन्तं कालमावसथ्याग्निविच्छेदजनितप्रत्यवायपरिहारार्थमेतावत्प्रायश्चित्तममुकप्रत्याम्नायत्वेनाहं करिष्य इति सङ्कल्पः। लुप्तानां होमानां तण्डुलादिद्रव्यं ब्राह्मणाय सम्प्रददे इति हौम्यं दद्यात्। सायंप्रातर्होमानां तथा दर्शपूर्णमासस्थालीपाकानां सम्पत्तिपर्याप्तं व्रीह्यादिद्रव्यमाज्यं च दद्यादिति प्रयोगरत्ने। ततः शुचौ काले शुचिराचान्तः प्राणानायम्य देशकालौ स्मृत्वा विच्छिन्नावसथ्यस्य पुनराधानं करिष्य इति सङ्कल्पः। नान्दीश्राद्धाभावः। खरे पञ्चभूसंस्कारादिब्राह्मणतर्पणान्तमाधानवत्सर्वं कार्यम्। अथ सभार्यस्य प्रवासप्रसक्तावग्निसमारोपविधिः। प्रातर्होमानन्तरमरणिद्वयमयन्ते योनिरिति मन्त्रेणावसथ्ये प्रतपतीत्यरणिपक्षे समारोपः। आहरणपक्षे तु—अयन्तेयोनिरिति मन्त्रेणाश्वत्थसमिधमावसथ्ये प्रतपति। अथवा याते अग्ने यज्ञिया तनूस्तयेह्यारोहात्मानमवच्छावसूनि कृण्वन्नस्मेन्नर्यापुरूणियज्ञोभूत्वायज्ञमासीद स्वां योनिं जातवेदो भुव आजायमानः सक्षय एहीति मन्त्रेण पाणी प्रतप्यात्मनि समारोपयेत्। तत्र प्रादुष्करणकाले अरणीसमारोपे अरणी निर्मथ्य प्रत्यवरोहजातवेदः पुनस्त्वं देवेभ्यो हव्यं वह नः प्रजानन्। प्रजां पुष्टिं रयिमस्मासु धेह्यथा भव यजमानाय शंय्योः। इत्यनेन खरेऽग्निस्थापनम्।

अश्वत्थसमित्समारोपणे वैश्यादिगृहादग्निमाहृत्य खरे पञ्चाग्न्यर्थान्संस्कारान्कृत्वाऽग्निं स्थापयित्वा प्रत्यवरोहेति मन्त्रेण तां समिधमग्नौ निदध्यात्। आत्मसमारोपपक्षे सर्वदाऽस्पृश्यस्पर्शनं जले निमज्जनं स्नानं स्त्रीगमनं चाकुर्वन्मूत्रपुरीषोत्सर्गे शौचमकृत्वा चिरकालमतिष्ठंश्च होमकाले आत्मसमारूढमग्निमुच्छ्वासरूपेण प्रत्यवरोहेति मन्त्रेण लौकिकाग्नौ निदध्यात्। एवं यथाधिकारमग्निं प्रतिष्ठाप्य होमं कुर्यात्। इदं समारोपणं द्वादशरात्रपर्यन्तमेव कुर्यादिति प्रयोगरत्ने। कातीयानां त्वरणिसमारोपः श्रौते दृष्टः तद्वत्स्मार्तेऽपि कार्यं उक्तत्वादिति शिष्टाः। समित्समारोपणेऽपि अयं ते योनिरिति मन्त्रेण समारोप्य प्रादुष्करणकाले लौकिकमग्निं संस्थाप्य तत्र तूष्णीं समिधमादध्यादिति वृद्धाः। वस्तुतस्तु कातीयानामपि समित्समारोपः शाखान्तरोक्त एव भवति। स्वशाखायां समित्समारोपस्यानुक्तत्वात्।

अनुवाद—कर्म समाप्ति के बाद यथाशक्ति एक या अनेक ब्राह्मणों को भोजन करायें।

आवसथ्याधान पद्धति

सर्वप्रथम यजमान स्नानादि क्रिया से पवित्र होकर एक बार का प्रक्षालित वस्त्र पहनकर अभिलषित अग्नि की स्थापना के लिए संकल्प करे। तदनन्तर मातृका-पूजा पूर्वक आभ्युदयिक श्राद्ध करें। इसके बाद स्वशाखाध्यायी कर्मकाण्डनिष्णात विद्वान् ब्राह्मण को पुष्पवस्त्राभरण देकर ब्रह्मा के रूप में उनका वरण कर उनकी स्वीकृति ले ले। कुछ आचार्यों के मत में ब्रह्मा ऋत्विक् होता है, अतः उन्हें मधुपर्क भी प्रदान करना चाहिए। पुनः सपत्नीक यजमान पञ्चभूसंस्कार कर दे। संस्कृत एवं परिष्कृत

भूमि को वस्त्र से ढँककर, उच्च स्वर से वेदमन्त्रों का उद्घोष करते हुए ब्रह्मा एवं अन्य ब्राह्मणों के साथ उपयुक्त स्थान से आग ले आये। अथवा ऊपरवर्णित विधि से अरणि-मन्थन से आग को प्रकट करे। यदि यजमान अरणिमन्थन में असमर्थ हो तो कोई बलवान् ब्राह्मण यह कार्य करे। मन्थन क्रिया से प्रकट हुई आग को मिट्टी के बर्तन में सूखे गोबर के कण्डों के चूरे या रूई पर डालकर प्रज्ज्वलित करें। प्रज्ज्वलित आग को पूर्व संस्कृत स्थान पर रखकर ब्रह्मा के बैठने से लेकर पर्युंक्षान्त पर्यन्त कर्म करे। हुतशेष स्रुवा में लगे घी को एक बर्त्तन में डालता जाये। आहुति डालते समय मन्त्र के अन्त में 'इदं अमुकदेवाय इदं न मम' कहे। प्रजापत्यन्त नौ आहुतियाँ घी में डालकर बर्हिहोम करे। संस्रवप्राशन कर आचमन कर ले। प्रणीतापात्र को होमाग्नि के पश्चिम में रख दे। ब्रह्मा या अन्य ब्राह्मणों को दक्षिणा देकर एक या अनेक ब्राह्मणों को भोजन करायें।

प्रथमकाण्ड में द्वितीय कण्डिका समाप्त।

तृतीया कण्डिका

षडर्घ्या भवन्ति—आचार्य ऋत्विग्वैवाह्यो राजा प्रियः स्नातक इति ॥ १।३।१ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'षडर्घ्या भवन्ति'। षट् पुरुषा अर्घ्या भवन्ति अर्घार्हा भवन्तीति शेषः। के ते ? 'आचार्य········स्नातक' इति। आचार्य उपनयनपूर्वकं वेदाध्यापकः। ऋत्विक् श्रौतस्मार्तादिकर्मार्थं वृतो ब्रह्मादिः। वैवाह्यो वरः। राजा अभिषेकादिगुणवान् प्रजापालनेऽधिकृतः क्षत्रियः। प्रियः उत्कृष्टजातिः समानजातिर्वा सखा। स्नातकः ब्रह्मचर्यात्समावृतः आचार्यस्याघ्यों नान्यस्य। तथा च मनुः—'तं प्रतीतं स्वधर्मेण ब्रह्मदायहरं पितुः। स्रग्विणं तल्प आसीनमर्चयेत् प्रथमं गवा ॥' इति ॥ १।३।१ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—आवसथ्याधानं दारकाल इत्युक्तं दारग्रहणं कथं क्रियते ? तदुच्यते। तत्र वरस्यार्घदानं स्मयते तत्प्रसङ्गेन यावन्तोऽर्घ्यास्ते कथ्यन्ते—'षडर्घ्या भवन्ति' अर्ह पूजायामिति धातोर्भावे घञ् प्रत्ययः। न्यङ्क्वादित्वात्कुत्वं ततो 'दण्डादिभ्यो यदि'ति यत्प्रत्ययः। अर्घमर्हन्तीत्यर्घ्याः। षट् पुरुषा अर्घार्हा भवन्तीत्यर्थः। तानाह—'आचार्य······स्नातक इति' उपनयनपूर्वकं कृत्स्नवेदाध्यापयिता आचार्यः। ऋत्विक् यो दक्षिणापरिक्रीतः कर्माणि करोति, वैवाह्यो जामाता, राजा दण्डपूर्वकं परिपालन-कर्ता, प्रियो_य इष्ट उत्कृष्टजातिः समानजातिर्वा, स्नातको ब्रह्मचर्यात्समावृत्तस्तत्र चार्हणमाचार्यकर्तृकं स्मृतम्। 'तं प्रतीतं स्वधर्मेण ब्रह्मदायहरं पितुः। स्रग्विणं तल्प आसीनमर्चयेत्प्रथमं गवा' ॥ इति। पूर्वसूत्रे षट्ग्रहणं प्रियस्नातकयोः पृथक्त्वज्ञाप-नार्थम् ॥ १।३।१ ॥

प्रसङ्ग—आवसथ्याधान वैवाहिक कर्म के पहले करना चाहिए। अतः वैवाहिक विधि का वर्णन यहाँ प्रसङ्ग सापेक्ष्य है। विवाह कर्म में अर्घ्य प्रदान किया जाता है। उसी अर्घ्य प्रसङ्ग का यह प्रथम सूत्र है।

अनुवाद—छः पुरुष मधुपर्कपान के लिए योग्य होते हैं—आचार्य, ऋत्विक्, वैवाह्य (जामाता), राजा, स्नातक और अपने प्रियजन अर्थात् इन छः पुरुषों को अर्घ देकर उनका सत्कार करना चाहिए।

व्याख्या—यही विधि मधुपर्कान्त अन्य योगादिकों में भी कर्त्तव्य है।

आचार्य—उपनीत छात्रों को वेद पढाने वाले गुरु आचार्य होते हैं। ऋत्विक्—वेद और स्मृति द्वारा प्रतिपादित कर्म के सम्पादनार्थ विधिपूर्वक वरण किये गये नैष्ठिक ब्राह्मण ही ऋत्विक् होते हैं। वैवाह्यः—भारतीय विपश्चितों के द्वारा ये वैवाह्य 'वर' होते हैं। किन्तु ओल्डेनवर्ग ने 'वैवाह्य' का अर्थ 'श्वसुर' किया है। शां० गृ० सू० (२।१५।१) पर उनकी टिप्पणी है—

'This sutra presupposes the श्रौतसूत्र (4.21.1). Here the fourth person mentioned is श्वसुर; while in the गृह्य text the expression वैवाह्य is used. It is difficult not to believe that both words are used in the same sense, and accordingly Narayan says श्वसुर' ।

—(Second Books of East Grathamala : Grihyasutra part)

भारतीय वैवाहिक परम्परा में वर को ही अर्घ दिया जाता है न कि श्वसुर को, अतः प्रयोगसिद्ध इस व्यवहार को किसी भी स्थिति में नकारा नहीं जा सकता है। प्राचीन भाष्यकारों ने भी 'वैवाह्य' का अर्थ जामाता ही किया है। जहाँ तक नारायण-भाष्य का प्रश्न है—नारायण श्रौतसूत्र के भाष्यकार हैं, न कि गृह्यसूत्र के। श्रौतसूत्र का कार्यक्षेत्र गृह्यसूत्र के कार्यक्षेत्र से भिन्न माना गया है। अतः श्रौतसूत्र में विधि-व्यवस्था के क्रम में भले ही इसका अर्थ कुछ और हो, परन्तु गृह्यसूत्र में यह अर्थ ग्राह्य नहीं है।

प्रतिसंवत्सरानर्हयेयुः ॥ १।३।२ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—इत्येते 'प्रतिसंवत्सरानर्हयेयुः'। प्रतिसंवत्सरमागतानेताना-चार्यादीनर्घेण पूजयेयुर्नार्वाक् ॥ १।३।२ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'प्रतिसंवत्सरानर्हयेयुः'। प्रतिसंवत्सरं गृहे आगतानाचार्या-दीनर्घेणार्चयेयुः न संवत्सरादर्वाक्। प्रतिसंवत्सरानर्हयेयुरित्यविशेषेणोक्तत्वादृत्विजोऽपि संवत्सरान्तेऽर्हयितव्या इति प्राप्ते आह—॥ १।३।२ ॥

अनुवाद—वर्ष में एक बार घर आने पर ऊपर उल्लिखित समादरणीयों को अर्घ प्रदान कर इनका सम्मान करना चाहिए।

व्याख्या—व्याकरण की दृष्टि से 'प्रतिसंवत्सरम्' की जगह 'अतिसंवत्सरम्' का प्रयोग उचित प्रतीत होता है। अर्थ की दृष्टि से 'संवत्सरम् अतीत्य आगतान्' अर्थात् एक वर्ष बीत जाने के बाद आने पर ही इन्हें अर्घ प्रदान करने का विधान है। संवत्सर के बीच में आने पर 'अर्घदान' प्रदाता की इच्छा पर निर्भर करता है। धर्मशास्त्रीय विधि-व्यवस्था पर नहीं। यहाँ अति के अर्थ में ही प्रति शब्द का उपादान है।

यक्ष्माणास्त्वृत्विजः ॥ १।३।३ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'यक्ष्यमाणास्त्वृत्विजः'। यक्ष्यमाणाः यज्ञं करिष्यन्तो यजमानाः 'ऋत्विजः' याजकान् तु पुनः अर्हयेयुरित्यनुषङ्गः, न प्रतिसंवत्सर-नियमः ॥ १।३।३ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'यक्ष्यमाणास्त्वृत्विजः'। ऋत्विजस्तु यक्ष्यमाणा यागकाल एव पूजनीयाः न ततोऽन्यत्र। इदं सूत्रं हरिहरेणान्यथा व्याख्यातम्। यज्ञं करिष्यन्तो यजमानाः ऋत्विजो याजकानिति। पूजनीया उक्ताः कालश्च ॥ १।३।३ ॥

अनुवाद—यज्ञ सम्पन्न करने वाले यजमान ऋत्विज् को (कभी भी) अर्घ दे।

व्याख्या—वर्ष के अन्त में आने पर अर्घदान का विधान किया जा चुका है,

लेकिन उसी वर्ष में आदि या मध्य में भी यज्ञ के लिए ऋत्विक् आये, तब उनका सत्कार अर्घदान से किया जा सकता है। इसीलिए यहाँ अलग सूत्र की रचना की गई है।

आसनमाहार्याह—साधु भवानास्तामर्चयिष्यामो भवन्तमिति ॥१।३।४॥

(हरिहरभाष्यम्)—कथमर्हयेयुरित्यपेक्षायामाह—'आसन······भवन्तमिति'। आसनं वारणादिदारुमयं पीठादि आहार्य अनुचरैरानाय्य आह ब्रवीति अर्चकः किमिति एवं कथं भवान्पूज्यः साधु सुखं यथा भवति तथा आस्तां तिष्ठतु। अर्चयिष्यामः पूजयिष्यामो भवन्तमर्चनीयं यावत्। अर्चयिष्याम इति बहुवचनं भार्यापुत्रादिसर्वगृह्यापेक्षम्। तथा च श्रुतिः—यत्र वा अर्हन्नागच्छति सर्वगृह्या इव वै तत्र चेष्टयन्तीति ॥ १।३।४ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—इदानीमर्हणप्रकारमाह—'आसनमा·········भवन्तमिति'। अर्घ्यायासनं पीठादि आसनमाहरेति प्रैषपूर्वकमनुचरद्वाराऽऽनाय्य साधु भवानित्यर्घयिता अर्घ्यं प्रति वदति अर्घ्यं प्रत्यर्घ्येषणमेतत् ॥ १।३।४ ॥

प्रसङ्ग—सत्कार कैसे करना चाहिए, इसी विधि का वर्णन यहाँ किया गया है।

अनुवाद—(वन्धु-बान्धव या सेवकों द्वारा) आसन मँगवाकर, आतिथेय अर्चनीयं व्यक्ति से कहे—आप निःसंकोच भाव से बैठ जाएँ, हम आपकी पूजा करेंगे।

व्याख्या—'अर्चयिष्यामः' में बहुवचन का निर्देश यह प्रमाणित करता है, कि यजमान केवल स्वयं ही नहीं, प्रत्युत घर के अन्य परिजनों के साथ पूजा करेंगे।

आहरन्ति विष्टरं पाद्यं पादार्थमुदकमर्घमाचमनीयं मधुपर्कं दधिमधुघृतमपिहितं काᳬस्ये काᳬस्येन ॥ १।३।५ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'आहरन्ति·········काᳬस्येन'। आहरन्ति आनयन्ति यजमानपुरुषाः विष्टरादिमधुपर्कपर्यन्ताभ्यर्हणोपकरणानि। तत्र विष्टरं पञ्चविंशतिदर्भतरुणमयं कूर्चम्। पञ्चविंशतिदर्भाणां वेण्यग्रे ग्रन्थिभूषिता। विष्टरे सर्वयज्ञेषु लक्षणं परिकीर्तितम् ॥ १ ॥ विष्टरास्त्रिवृतो दर्भकूर्चदा इति। पाद्यं पद्भ्यामाक्रमणीयमुक्तलक्षणं द्वितीयं विष्टरम्। पादार्थमुदकं पादप्रक्षालनार्थं ताम्रादिपात्रस्थं जलं सुखोष्णम्। अर्घं गन्धपुष्पाक्षतकुशतिलशुभ्रसर्षपदधिदूर्वान्वितं सुवर्णादिपात्रस्थमुदकम्। आचमनीयम् आचमनार्थं कमण्डलुसम्भृतं जलम्। मधुपर्कं कांस्यपात्रस्थं दधिमधुघृतं कांस्यपात्रेणाच्छादितम् ॥ १।३।५ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'आहरन्ति······काᳬस्येन'। बहुवचनादर्घयितुः पुरुषाः विष्टरादीनि आहरन्ति। तत्र विष्टरस्त्रिवृदरत्निमात्रः कौशो रज्जुविशेष इति भर्तृयज्ञः। प्रादेशमात्रं त्रिवृतं कौशं वा काशनिर्मितमिति रेणुकः। पञ्चविंशतिदर्भतरुणमयं कूर्चमिति हरिहरः। पञ्चाशद्भिर्भवेद् ब्रह्मा तदर्धेन तु विष्टर इति परिशिष्टात्। पादयोरन्यमिति वचना(दन्यत्र ? दत्र)द्वयोराहरणमिति भर्तृयज्ञः। पाद्यं पादयोरधस्तान्नि-

धानार्थं विष्टरम् । भर्तृयज्ञमते तु—पादप्रक्षालनार्थमुदकं पद्यशब्देन पादार्थमुदकं सुखोष्णम् । अर्घशब्देनोदपात्रमेवोच्यते । तद्वैक उदपात्रमुपनिनयन्ति यथा राज्ञ आगता-योदकमाहरेदेवं तदिति लिङ्गाद् उदकगन्धपुष्पाण्यक्षतबदराणीति भर्तृयज्ञः । गन्धपुष्पा-क्षतकुशतिलशुभ्रसर्षपदूर्वादध्यन्वितं सुवर्णादिपात्रस्थमुदकमिति हरिहरः । आचमनीय-माचमनार्थमुदकमेव । दधिमधुघृतमेकस्मिन्कांस्यपात्रे कृतमपरेण कांस्यपात्रेणापिहितं मधुपर्कशब्देनोच्यते । मधुपर्के दध्यलाभे पयो जलं वा प्रतिनिधिः । मध्वलाभे घृतं गुडो वेत्याश्वलायनः ॥ १।३।५ ॥

प्रसङ्ग—पूर्वनिर्दिष्ट ।

अनुवाद – याजक के सेवक विष्टर अर्थात् मुट्ठीभर कुश की घास, पाद्य अर्थात् पैर रखने के लिए कुशासन, पैर धोने के लिए ताम्बे के बर्तन में सुखोष्ण जल, अर्घ अर्थात् सोने के बर्तन में गन्ध, पुष्प, चावल, कुश, तिल, सफेद सरसों, दही, दूर्वायुक्त जल, आचमन के लिए शीतोष्ण जल, मधुपर्क अर्थात् कांसे के बर्तन में रखा हुआ दही, मधु तथा घी, जो कांसे के बर्तन से ही ढँका हो, लायें ।

व्याख्या—आहरन्ति=अर्थात् लाते हैं । यज्ञ करने वाले व्यक्ति पूजा के सभी उपकरण जुटा लें । जैसे विष्टर अर्थात् पच्चीस तरुण कुशों का समूह । इसका लक्षण इस प्रकार है—

'पञ्चविंशतिदर्भाणां वेण्यग्रे ग्रन्थिभूषिता ।
विष्टरे सर्वयज्ञेषु लक्षणं परिकीर्तितम्' ॥

पाद्यम्—'पद्भ्यां हितम्' इस विग्रह के अनुसार यह शब्द दूसरे विष्टर के लिए प्रयुक्त हुआ है । यदि पद धातु का अर्थ गत्यर्थक माना जाय तो 'पाद्यम्' अर्थ सुलभ हो सकता है । 'पादार्थम्' का अर्थ पैर धोने के लिए जल । आचमनीयम्—आचमन के लिए कमण्डलु या पवित्र पात्र का जल । मधुपर्क—दही, घी और शहद मिलाकर मधु-पर्क बनाया जाता है । मधुपर्क कांसे के बर्तन में कांसे के बर्तन से ढँक कर लाना चाहिए ।

अन्यस्त्रिस्त्रिः प्राह विष्टरादीनि ॥ १।३।६ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अन्यस्त्रिस्त्रिः प्राह विष्टरादीनि' । अन्यः अर्चकादपरः विष्टरो विष्टरो विष्टरः इत्येवमेकैकं त्रिस्त्रिः त्रींस्त्रीन्वारान् ब्रूयात् । विष्टरादीनि विष्टरप्रभृतीन्पाद्यपादार्थोदकार्घाचमनीयमधुपर्कान् ॥ १।३।६ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'अन्यस्त्रिस्त्रिः प्राह विष्टरादीनि' । अर्घयितुर्व्यतिरिक्तोऽन्यो विष्टरादीनि द्रव्याणि त्रिस्त्रिर्वारत्रयं वदति विष्टरो विष्टरो विष्टरः प्रतिगृह्यता-मित्येवम् ॥ १।३।६ ॥

अनुवाद—पूज्य और पूजक से भिन्न कोई अन्य व्यक्ति विष्टरादि वस्तुओं का तीन-तीन बार जैसे—'विष्टरो विष्टरो विष्टरः' इस प्रकार नामोच्चार करे ।

व्याख्या—हरिहर प्रभृति भाष्यकारों ने 'अन्यः' का अर्थ यजमान से भिन्न व्यक्ति

किया है। त्रिः का अर्थ है—'विष्टरो विष्टरो विष्टरः प्रतिगृह्यताम्'। इसी तरह—'अर्घोऽर्घोऽर्घः प्रतिगृह्यताम्, मधुपर्को मधुपर्को मधुपर्कः प्रतिगृह्यताम्' तीन-तीन बार प्रत्येक शब्द का उच्चारण करें।

विष्टरं प्रतिगृह्णाति ॥ १।३।७ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'विष्टरं प्रतिगृह्णाति'। प्रत्यङ्मुखेन यजमानेन तिष्ठता दत्तमासनात् पश्चिमे प्राङ्मुखस्तिष्ठन्नर्घ्यः पूर्वोक्तलक्षणं विष्टरं तूष्णीं पाणिभ्यामुदगग्रमादत्ते ॥ १।३।७ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'विष्टरं प्रतिगृह्णाति'। ततोऽर्घ्योऽर्घयितुः सकाशाद्विष्टरं तूष्णीमेव प्रतिगृह्य तं विष्टरमासने निधाय ॥ १।३।७ ॥

अनुवाद—विष्टर को वर आदि ग्रहण करें।

वर्ष्मोऽस्मि समानानामुद्यतामिव सूर्यः। इमं तमभितिष्ठामि यो मा कश्चाभिदासति ॥ इत्येनमभ्युपविशति ॥ १।३।८ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'वर्ष्मोऽस्मि········भ्युपविशति'। वर्ष्मोऽस्मीति मन्त्रान्ते एनं विष्टरमुदगग्रमासने निधायाभ्युपविशति ॥ १।३।८ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—वर्ष्मोऽस्मीति मन्त्रेणोपविशति। ग्रहणोपवेशनयोर्मध्ये पठितोऽपि मन्त्र इमं तमभितिष्ठामीति लिङ्गादुपवेशने विनियुज्यते। पाणिभ्यां विष्टरप्रतिग्रह इति हरिहरः। तदतीव मन्दं प्रमाणाभावात्। मन्त्रस्यायमर्थः—अर्घ्य आत्मानं स्तौति अर्घ्यत्वाय। कुलज्ञानाचारवपुर्वयोगुणैरहं समानानां सजातीयानां मध्ये वर्ष्मः श्रेष्ठः ज्येष्ठः अस्मि भवामि, उद्यतामुदयं प्रकाशं कुर्वतां ग्रहनक्षत्रादीनां मध्ये सूर्य इव। किञ्च इमं विष्टरं तं पुरुषमुद्दिश्य विष्टरवत् बद्धमभिलक्ष्यीकृत्य तिष्ठामि अधः कृत्वोपर्युपविशामि। यः कश्चन मा मामभिदासति उपक्षीणं कर्तुमिच्छति। दसु उपक्षये ॥ १।३।८ ॥

अनुवाद—'वर्ष्मोऽस्मि' इत्यादि मंत्र को पढ़ते हुए वेदी के अभिमुख होकर बैठे।

मंत्रार्थ—(अथर्वण ऋषि; अनुष्टुप् छन्द; विष्टर देवता।) मैं अपने सजातीयों के बीच में उसी प्रकार से श्रेष्ठ बनूं, जैसे उदीयमान नक्षत्रादि के बीच सूर्य श्रेष्ठ है। इस आसन पर मैं उन्हें पराजित कर बैठता हूँ, जो मुझे हीन बनाने की कामना मन में सँजोये हैं।

पादयोरन्यं विष्टर आसीनाय ॥ १।३।९ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'पादयोरन्यं विष्टर आसीनाय'। विष्टरे आसीनायार्घ्यायान्यं विष्टरं यजमानः पूर्ववद्ददाति स च तं पूर्ववत्प्रतिगृह्य प्रक्षालितयोः पादयोरधस्ताद्वर्ष्मोऽस्मीत्यनेन मन्त्रेण निदधाति ॥ १।३।९ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'पादयोरन्यं विष्टर आसीनाय' । विष्टरे आसीनायोपविष्टा-याघ्र्याय पादयोरधस्तान्निधानार्थमन्यं विष्टरं ददाति । एतच्च पादप्रक्षालनोत्तरं द्रष्टव्यम् । तथा सति दृष्टार्थता स्यात् । प्रक्षाल्य हि पादौ विष्टरे क्रियेते इति । तेनात्रार्थेन पाठबाधः । तदुक्तं विरोधेऽर्थस्तत्परत्वादिति ॥ १।३।९ ॥

अनुवाद—विष्टर पर बैठे हुए पुरुष को पैर रखने के लिए दूसरा विष्टर दें ।

व्याख्या—ओल्डेनवर्ग ने खादिरगृह्यसूत्र-गत 'विष्टरमास्तीर्य' के आधार पर 'पादयोरन्यं विष्टर आसीनाय' का अनुवाद 'With the feet ("he threads) on the other bundle of grass' किया है; यह भी अनुपयुक्त प्रतीत होता है । क्योंकि विष्टर का अर्थ 'घास का गठ्ठर' नहीं होता है । यह एक यज्ञीय पारिभाषिक शब्द है । इसके अनेक लक्षण एवं कतिपय परिभाषाएँ दी गई हैं, जिसके सम्बन्ध में ये पाश्चात्य विद्वान् अनभिज्ञ हैं । इस सम्बन्ध में निम्नलिखित लक्षण द्रष्टव्य है—

पञ्चाशता भवेद् ब्रह्मा तदर्धेन तु विष्टरः ।
ऊर्ध्वकेशो भवेद् ब्रह्मा लम्बकेशस्तु विष्टरः ॥'

अथवा—'दक्षिणावर्त्तब्रह्मा च वामावर्त्तस्तु विष्टरः' ।

अथवा—'पञ्चविंशतिदर्भाणां वेण्यग्रे ग्रन्थिभूषिता ।
विष्टरे सर्वयज्ञेषु लक्षणं परिकीर्त्तितम्' ॥

विष्टर का निर्माण पच्चीस कुशों से होता है, इसे वामावर्त्त होना चाहिए ।

गृह्यपरिशिष्ट के अनुसार मधुपर्क—

'वरस्य या भवेच्छाखा तच्छाखा गृह्यचोदिता ।
मधुपर्कः प्रदातव्यो ह्यन्यशाखेऽपि दातरि' ॥

जिस शाखा का वर हो, उसी शाखा के गृह्यसूत्र में बतलाई गई विधि से उसे मधुपर्क देना चाहिए—भले ही दाता की शाखा कोई भी हो ।

किन्तु याज्ञिक-परम्परा इस सिद्धान्त से भिन्न है, इस परम्परा के अनुसार कर्म जिस शाखा के अनुसार हो रहा हो, उसी शाखा की पद्धति से मधुपर्क दिया जाना चाहिए । मधुपर्क में जूठे का विचार नहीं होता—

'मधुपर्के च सोमे च अप्सु प्राणाहुतीषु च ।
नोच्छिष्टस्तु भवेद्विप्रो यथाऽत्रेर्वचनं तथा' ॥

मधुपर्क प्रायः घी, दही और मधु को मिलाकर बनाया जाता है । गदाधर के मतानुसार दही के अभाव में दूध या पानी मिलाकर भी मधुपर्क तैयार किया जा सकता है । आश्वलायन के अनुसार मधु के अभाव में गुड़ या घी मिलाकर भी काम चलाया जा सकता है ।

सव्यं पादं प्रक्षाल्य दक्षिणं प्रक्षालयति ॥ १।३।१० ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'सव्यं पादं······प्रक्षालयति' । ततोऽन्येन पाद्यमिति त्रिरुक्ते

यजमानार्पितं पाद्योदकमादाय वामं चरणं प्रक्षाल्य इतरं प्रक्षालयति क्षत्रिया-दिरर्घ्यः ।। १।३।१० ।।

(गदाधरभाष्यम्)—'सव्यं पादं······प्रक्षालयति'। ततः पाद्यं प्रतिगृह्य विराजो-दोहोऽसीति मन्त्रेण सव्यं पादं प्रक्षाल्य दक्षिणं प्रक्षालयति क्षत्रियादिरर्घ्यश्चेत् ।।१।३।१०।।

अनुवाद—बाँया पैर धोकर ही दाहिना पैर धोयें।

व्याख्या—ब्राह्मण-भिन्न क्षत्रियादि वर दूसरों के द्वारा पाद्य शब्द का तीन बार उच्चारण करने पर यजमान के द्वारा प्रदत्त पाद्य से पहले बाँया पैर धो लेने के बाद ही दाहिना पैर धोये।

ब्राह्मणश्चेद्दक्षिणं प्रथमम् ।। १।३।११ ।।

(हरिहरभाष्यम्)—यदि ब्राह्मणोऽर्घ्यः स्यात्तदा प्रथमं दक्षिणं प्रक्षाल्य वामं प्रक्षालयति ।। १।३।११ ।।

(गदाधरभाष्यम्)—ब्राह्मणोऽर्घ्यः स्यात्तदा दक्षिणं पादं प्रथमं प्रक्षाल्य ततः सव्यं प्रक्षालयति ।। १।३।११ ।।

अनुवाद—यदि वर ब्राह्मण हो तो पहले दाहिना पैर धोये।

व्याख्या—पाद्य ग्रहण करने वाला यदि ब्राह्मण हो तो दाहिना पैर धोते समय निम्नलिखित मंत्र पढ़कर पैर धोयें।

विराजो दोहोऽसि विराजो दोहमशीय मयि पाद्यायै विराजो दोह इति ।। १।३।१२ ।।

(हरिहरभाष्यम्)—'विराजो·········दोह इति'। विराजो दोहोऽसीत्यावृत्तेन मन्त्रेण ।। १।३।१२ ।।

(गदाधरभाष्यम्)—मन्त्रार्थः—प्राणधारणादिगुणैः सकलसौहित्येन विविधतया राजत इति विराडन्नं तस्य विराजो दोहः परिणामसारो रसः स त्वमसि भवसि। हे उदक ! तं त्वां विराजो दोहमशीय अश्नुवै व्याप्नुयाम्। किञ्च मयि विषये या पाद्या पादयोः साध्वी सपर्या तस्यै तदर्थं विराजो दोहः मन्त्रसंस्कृतं जलं भवेति शेषः ।।१।३।१२।

अनुवाद—(ऋषि प्रजापति; यजुष् छन्द; जल देवता।) हे जलाभिमानी देव ! तुम जिस अन्नरस या विशिष्ट दीप्ति से परिपूर्ण हो, वह मुझमें भी व्याप्त करो। अपनी पद-परिचर्या के निमित्त मैं अभिमन्त्रित जल का प्रयोग करता हूँ।

अर्घ्यं प्रतिगृह्णाति—आपः स्थः युष्माभिः सर्वान् कामानवाप्नवानि इति ।। १।३।१३ ।।

(हरिहरभाष्यम्)—'अर्घं प्रतिगृह्णाति'। ततोऽर्घ इत्येतत्त्रिरुक्ते यजमानदत्त-मर्घम्—'आपः स्थ····· ···वानीति'। आपः स्थ युष्माभिरित्यनेन मन्त्रेण प्रति-गृह्णाति ।। १।३।१३ ।।

(गदाधरभाष्यम्)—'अर्घ्यं प्रति······वाप्नवानीति'। अर्घ्यः समर्पितमर्घं प्रति-

गृह्णात्यापःस्थ युष्माभिरिति मन्त्रेण । मन्त्रार्थः—हे आपः ! यूयमापः स्थ आप्तिहेतवो भवथ । युष्माभिः कृत्वा सर्वान्कामानभीष्टार्थान् अवाप्नवानि लभेयम् ।। १।३।१३ ।।

अनुवाद—'आपः स्थ······' इत्यादि मंत्र पढ़कर (पूजक वरादि) यजमान द्वारा दिये गये अर्घजल को ग्रहण करता है ।

मंत्रार्थ—(ऋषि प्रजापति; जलदेवता; यजुष् छन्द ।) हे जलाभिमानी देवता ! आप स्थिर हो जायें, ताकि आपकी दया से मैं अपने सम्पूर्ण मनोरथों की पूर्ति कर सकूं ।

निनयन्नभिमन्त्रयते—समुद्रं वः प्रहिणोमि स्वां योनिमभिगच्छत । अरिष्टा अस्माकं वीरा मा परासेचिमत्पयः । इति ।। १।३।१४ ।।

(हरिहरभाष्यम्)—'निनयन्नभि···त्पय इति' । प्रतिगृहीतमर्घं शिरसाऽभिवन्द्य निनयन् भूमौ प्रवाहयन् अभिमन्त्रयते समुद्रं व इति मन्त्रेण ।। १।३।१४ ।।

(गदाधरभाष्यम्)—'निनयन्न······मत्पय इति' तमर्घं भूमौ निनयन्प्रापयन्नभिमन्त्रयते समुद्रं व इति मन्त्रेण न तु मन्त्रान्ते । अर्घं शिरसाऽभिवन्द्य प्रागुदग्वा निनयनमिति वासुदेवः । मन्त्रार्थः—हे आपः ! वो युष्मान् समुद्रं प्रहिणोमि, गमयामि । अतः स्वां योनिं स्वकारणभूतं समुद्रं अभिलक्ष्यीकृत्य गच्छत व्रजत । किञ्च युष्मत्प्रसादाच्चास्माकं वीराः पुत्रा भ्रातरः अरिष्टा अनुपहताः सन्तु । मत् मत्तः पयः अर्घादिमङ्गलं जलं मापरासेचि अपगतं मास्तु सदैवाहमर्घ्यो भवानीत्यर्थः ।। १।३।१४ ।।

अनुवाद—(उस अभिमंत्रित जल को पढ़कर धरती पर) प्रवाहित करते हुए 'समुद्रं वः प्रहिणोमि···' इत्यादि मंत्र पढ़े ।

मंत्रार्थ—(ऋषि अथर्वण; अनुष्टुप् छन्द; जल देवता ।) हे जलाभिमानी देव ! आपने हमारी अभिलाषाएँ पूरी कर दी हैं, अतः अब हम आपको आपके जन्मस्थान सागर में पुनः प्रतिष्ठित करते हैं । अब आप वहाँ बिलकुल निश्चित होकर जायें । आपकी कृपा से हमारे सभी बेटे, पोते और सगे-सम्बन्धी सुखी तथा सदैव स्वस्थ रहें । हमें कभी पानी की कमी न हो, सदैव हम ऐसे ही समादरणीय बने रहें ।

आचामति—आमागन्यशसा सꣳसृज वर्चसा । तं मा कुरु प्रियं प्रजानामधिपतिं पशूनामरिष्टिं तनूनाम् । इति ।। १।३।१५ ।।

(हरिहरभाष्यम्)—'आचाम···न्तनूनामिति' । तत आचमनीयमिति त्रिरन्योक्ते यजमानदत्तमाचमनीयं प्रतिगृह्य—आमागन्यशसेत्यनेन मन्त्रेणाचामति सकृत्प्राश्नाति जलम् । ततः स्मार्तमाचमनं करोति एवं सर्वत्र ।। १।३।१५ ।।

(गदाधरभाष्यम्)—'आचाम······न्तनूनामिति' । ततो दत्तमाचमनीयं प्रतिगृह्य—आमागन्नित्याचामति सकृद्भक्षयति । ततः स्मार्ताचमनम् । मन्त्रार्थः—हे वरुण जलेश ! तमेवंरूपेण त्वामाश्रितं मा मां यशसा सहभावं सामीप्यं वा अगन् आगमय ।

आङुपसर्गः अगन्निति क्रियापदेन सम्बध्यते। तथा वर्चसा ब्रह्मवर्चसेन संसृज संसृष्टं कुरु। किञ्च प्रजानां पुत्रपौत्रादीनां प्रियं पशूनां गवाश्वादीनामधिपतिं स्वामिनं च तथा तनूनां देहावयवानां शरीराणां वा अरिष्टिमहिंसकं कुरु। हिंसाऽत्र—अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च लङ्घनात्। आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्रान् जिघांसतीत्यादिदर्शिता ॥१।३।१५॥

अनुवाद—'आमागन् यशसा' इत्यादि मंत्र का उच्चारण करता हुआ (वर यजमान द्वारा दिये गये आचमन योग्य जल से) आचमन करे।

मंत्रार्थ—(ऋषि परमेष्ठी; बृहती छन्द; वरुण देवता। हे वरुणदेव ! मैं आपका आश्रित हूँ। मुझे आप यशस्वी बनायें, ब्रह्मवर्चस्वी बनायें। आपकी कृपा से मैं समाज में लोकप्रिय और पशुधन का स्वामी बनूँ, मेरे शारीरिक अवयव सर्वथा स्वस्थ बने रहें।

मित्रस्य त्वा इति मधुपर्कं प्रतीक्षते ॥ १।३।१६ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'मित्रस्य त्वेति मधुपर्कं प्रतीक्षते'। ततो मधुपर्क इति त्रिरन्येनोक्ते यजमानहस्तगतमुद्घाटितं मधुपर्कं मित्रस्य त्वेति मन्त्रेणार्घ्यः प्रतीक्षते पश्यति ॥ १।३।१६ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'मित्रस्य त्वेति मधुपर्कं प्रतीक्षते'। ततोऽर्घ्योऽर्घयितुर्हस्तस्थित-मुद्घाटितं मधुपर्कं मित्रस्य त्वेति प्राशित्रमन्त्रेण प्रतीक्षते पश्यतीत्यर्थः ॥ १।३।१६ ॥

अनुवाद—'मित्रस्य त्वा' इत्यादि मंत्र का उच्चारण करता हुआ वर आदि यजमान-प्रदत्त मधुपर्क (दधि, मधु, घृत) को देखे।

मंत्रार्थ—हे मधुपर्क ! मैं तुम्हें सूर्य की दृष्टि से देखता हूँ। अर्थात् सूर्य की परम कृपा से ही मैं तुम्हें देखता हूँ।

विशेष—शुक्लयजुर्वेदसंहिता में यह मंत्र अनुपलब्ध है। आचार्य विश्वनाथ ने भी इस कथन की पुष्टि की है। कात्यायनश्रौतसूत्र (२।२।१२) में यह प्राशित्र प्रतीक्षण के अभ्यन्तर विनियुक्त है। वहीं से यहाँ संगृहीत है।

देवस्य त्वेति प्रतिगृह्णाति ॥ १।३।१७ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'देवस्य त्वेति प्रतिगृह्णाति'। देवस्य त्वेति मन्त्रेण यजमानदत्तं मधुपर्कं दक्षिणहस्तेन प्रतिगृह्णाति ॥ १।३।१७ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'देवस्य त्वेति प्रतिगृह्णाति'। ततो देवस्य त्वेति प्राशित्रप्रति-ग्रहणमन्त्रेण मधुपर्कं प्रतिगृह्णाति ॥ १।३।१७ ॥

अनुवाद—'देवस्य त्वा···' इस सम्पूर्ण मंत्र का उच्चारण करते हुए वर मधुपर्क ग्रहण करे।

(मंत्र)—**देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णोर्हस्ताभ्यां प्रतिगृह्णामि।**
(पा० गृ० सू० १।३)

मंत्रार्थ—(ऋषि प्रजापति; छन्द गायत्री; देवता सूर्य।) हे मधुपर्क के अधिष्ठाता

देव ! मैं तुम्हें ऐश्वर्य के निमित्त सूर्य की आज्ञा, अश्विनीकुमारों की बाहुओं तथा पूषन् के हाथों से ग्रहण करता हूँ।

सव्ये पाणौ कृत्वा दक्षिणस्यानामिकया त्रिः प्रयौति। 'नमः श्यावास्यायान्नशने यत्त आविद्धं तत्ते निष्कृन्तामि' इति ॥ १।३।१८ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'सव्ये पाणौ········निष्कृन्तामीति'। तं मधुपर्कं वामहस्ते निधाय दक्षिणस्य पाणेरनामिकाङ्गुल्या त्रिवारमालोडयति नमः श्यावास्येति मन्त्रेण ॥ १।३।१८ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'सव्ये पाणौ···निष्कृन्तामीति'। तं मधुपर्कं सव्यहस्ते कृत्वा दक्षिणस्य हस्तस्यानामिकयाऽङ्गुल्या प्रदक्षिणं त्रिरालोडयति नमः श्यावास्यायानिति मन्त्रेण। अत्र सव्यहस्तस्थितस्यैव दक्षिणस्यानामिकया त्रिरालोडनं यथा स्यादित्येतदर्थं दक्षिणग्रहणम्। मन्त्रार्थः—हे अग्ने ! ते तुभ्यं नमः। किं भूताय श्यावास्याय कपिशमुखाय। ते तव अन्नशने अन्नाशने अद्यत इत्यन्नं तस्याशने अदनीये मधुपर्के। ह्रस्वश्छान्दसः। यद्द्रव्यमाविद्धं संश्लिष्टमनदनीयं तं निष्कृन्तामि निरस्यामि ॥ १।३।१८ ॥

अनुवाद—'नमः श्यावेति' मंत्र को पढ़ते हुए बाँयें हाथ में मधुपर्क लेकर दाहिने हाथ की अनामिका अँगुली से उसका आलोडन करे।

मन्त्रार्थ—(ऋषि प्रजापति; यजुष् छन्द; देवता सविता-निरुक्षण।) हे कपिश वर्ण मुखवाले अग्निदेव ! सर्वप्रथम मैं आपको प्रणाम करता हूँ, पुनः आपके भोज्य पदार्थ में जो कुछ दूषित द्रव्य मिल गया है, उसे निकाल देता हूँ।

अनामिकाङ्गुष्ठेन च त्रिर्निरुक्षयति ॥ १।३।१९ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अनामिकाङ्गुष्ठेन च त्रिर्निरुक्षयति।' अनामिका च अङ्गुष्ठश्च अनयोः समाहार अनामिकाङ्गुष्ठं, तेन त्रिवारं निरुक्षयति पात्राद् बहिर्निर्गमयति चकारात्प्रतिसंयवनं निरुक्षणम् ॥ १।३।१९ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'अनामिकाङ्गुष्ठेन च त्रिर्निरुक्षयति'। अनामिका चाङ्गुष्ठश्चेत्यनामिकाङ्गुष्ठं तेनानामिकाङ्गुष्ठेन वारत्रयं निरुक्षयति मधुपर्कैकदेश पात्राद् बहिः प्रक्षिपति। चशब्दात्प्रतिसंयवनं निरुक्षणम्। एवं च निरुक्षणव्यवधानात्प्रतिसंयवनं मन्त्रावृत्तिः ॥ १।३।१९ ॥

अनुवाद—अनामिका अंगुलि और अंगूठे से मधुपर्क का अनुपयुक्त अंश तीन बार बाहर निकाल दे।

विशेष—वसु, रुद्र और आदित्य के उद्देश्य से तीन बार निरीक्षण करे।

तस्य त्रिः प्राश्नाति। यन्मधुनो मधव्यम् परमꣳ रूपमन्नाद्यम्। तेनाहं मधुनो मधव्येन परमेण रूपेणान्नाद्येन परमो मधव्योऽन्नादोऽसानीति ॥१।३।२०॥

(हरिहरभाष्यम्)—'तस्य त्रिः···न्नादोऽसानीति'। तस्य मधुपर्कस्यैकदेशमादाय

यन्मधुनो मधव्यमित्यादिना मन्त्रेण सकृत्प्राश्य पुनरनेनैव मन्त्रेण उच्छिष्ट एव द्वितीयं प्राश्य तथैव तृतीयं प्राश्नाति ॥ १।३।२० ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'तस्य त्रिः''''''सानीति' । तस्येत्यवयवलक्षणा षष्ठी । तस्य मधुपर्कस्य त्रिः प्राश्नीयाद्यन्मधुनो मधव्यमिति अनेन मन्त्रेण प्राशनत्रयेऽपि हविर्ग्रहण-न्यायेन मन्त्रावृत्तिः । उच्छिष्टस्यैव मन्त्रोच्चारणम् । एवं हि स्मरन्ति—ताम्बूलेक्षुफले चैव भुक्तस्नेहानुलेपने । मधुपर्के च सोमे च नोच्छिष्टं मनुरब्रवीत् ॥ इति । मन्त्रार्थः—हे देवाः ! मधुनो मकरन्दस्य यन्मधव्यं मधुनि साधु परममुत्कृष्टं रूपयति प्रकाशयति देह-सङ्घातमिति रूपम् । अन्नाद्यं व्रीह्यादिवत्प्राणधारकमन्नोपादानकं च तेन सर्वरूपोपपन्नेन रसेनोक्तविशेषणविशिष्टेनाहं परमः सर्वेभ्यो गुणाधिकः मधव्यो मधुपर्कार्हः अन्नादः सदन्नभोक्ता च असानि भवानि ॥ १।३।२० ॥

अनुवाद—फिर उसे 'यन्मधुनो''' इत्यादि मंत्र पढ़कर तीन बार चाटे ।

मंत्रार्थ—(ऋषि कुत्स; छन्द जगती; देवता मधुपर्क ।) हे देवता ! फूलों के रस का जो मधुयुक्त, उत्कृष्ट, सामान्य भोजन रस मधु है, उसी रुचिकर, सुस्वादु प्राणधारक रस से मैं सर्वाधिक सुन्दर भोजन का भोक्ता बनूँ ।

मधुमतीभिर्वा प्रत्यृचम् ॥ १।३।२१ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'मधुमतीभिर्वा प्रत्यृचम्' । मधुव्वाता इति तिसृभिर्ऋग्भिः प्रत्यृचं प्रतिमन्त्रं वा पूर्ववत्त्रिः प्राश्नाति ॥ १।३।२१ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'मधुमतीभिर्वा प्रत्यृचम्' । वा विकल्पेन मधुव्वाता ऋतायते इत्येताभिर्ऋग्भिः प्रत्यृचं प्राश्नाति । ततश्चैवम्—मधुव्वाता इति प्रथमम् । मधुनक्त मिति द्वितीयम् । मधुमान्न इति तृतीयम् ॥ १।३।२१ ॥

अनुवाद—अथवा मधुपर्कप्राशन के समय 'मधुमतीभिः' निम्नलिखित तीन ऋचाओं का क्रमशः पाठ करते हुए तीन वार प्राशन करे ।

(१) मधुव्वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः । माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः ।

(य० सं० १३।२७

मन्त्रार्थ—(ऋषि गौतम; छन्द गायत्री; देवता विश्वेदेव ।) मधुमय हवा बहे नदियों में मीठा जल प्रवाहित हो, हमारे लिए वनस्पति मधुमय हों ।

(२) मधुनक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवꣳ रजः मधुद्यौरस्तु नः पिता ।

(य० सं० १३।२८

मन्त्रार्थ—(ऋषि गौतम; छन्द गायत्री; देवता विश्वेदेव ।) रात और प्रभ वेला मधुमय हो, धरती सरस हो, पिता की तरह परिपालक आकाश भी मधुम हो जाये ।

(३) मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँऽअस्तु सूर्यः । माध्वीर्गावो भवन्तु नः ।

(य० सं० १३।२९

मन्त्रार्थ—(ऋषि गौतम; छन्द गायत्री; देवता विश्वेदेव ।) औषधियों

स्वामी सोम हमारे लिए रसवान् हो, सूर्य संताप रहित और आनन्दकर हो, गायें हमें मीठा-मीठा दूध दें।

पुत्रायान्तेवासिने वोत्तरत आसीनायोच्छिष्टं दद्यात् ॥ १।३।२२ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'पुत्राया······दद्यात्'। मधुपर्कस्य शेषप्रतिपत्तिमाह—पुत्राय सूनवे अन्तेवासिने उपनयनप्रभृतिविद्यार्थित्वेन आचार्यकुलवासिने शिष्याय वा, कथम्भूताय उत्तरत आसीनाय उच्छिष्टं प्राशितशेषं मधुपर्कं प्रयच्छेत् ॥ १।३।२२ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'पुत्राया······दद्यात्'। अवशिष्टं मधुपर्कस्य उच्छिष्टं पुत्राय अन्तेवासिने शिष्याय वोत्तरत उपविष्टाय दद्यात् ॥ १।३।२२ ॥

अनुवाद—उत्तर की ओर बैठे हुए अपने पुत्र अथवा शिष्य को मधुपर्क का शेष अंश दे दे।

सर्वं वा प्राश्नीयात् ॥ १।३।२३ ॥
प्राग्वासञ्चरे निनयेत् ॥ १।३।२४ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—अथवा सर्वं भक्षयेत् ॥ यद्वा प्राक् पूर्वस्यां दिशि असञ्चरे जनसञ्चारवर्जितदेशे त्यजेत्। अत्र पूर्वपूर्वासम्भवे उत्तरोत्तरां प्रतिपत्तिं कुर्यात् ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'सर्वं वा प्राश्नीयात्' अथवा सर्वं स्वयं प्राश्नाति ॥ 'प्राग्वाऽसञ्चरे निनयेत्' प्राक् प्राच्यां यत्र जना न सञ्चरन्ति तस्मिन्नसञ्चरे मधुपर्कशेषं प्रक्षिपेत् ॥ १।३।२३-२४ ॥

अनुवाद—या स्वयं ही सारा मधुपर्क खा जाय। अथवा उसे जनसंचारशून्य पूर्व-दिशा में फेंक दे।

व्याख्या—यह एक व्यवस्थित विकल्प है। गुरु अपने शिष्य को अवशिष्ट मधु-पर्क दे दे। पिता अपने प्रिय पुत्र को दे दे। वर और स्नातक सम्पूर्ण मधुपर्क का स्वयं भक्षण करे। किन्तु व्यवहार में यह अवशिष्ट मधुपर्क नाई या सेवक उठा लेता है।

आचम्य प्राणान् सम्मृशति। वाङ्म आस्ये अस्तु, नसोर्मे प्राणोऽस्तु, अक्ष्णोर्मे चक्षुरस्तु, कर्णयोर्मे श्रोत्रमस्तु, बाह्वोर्बलमूर्वोरोजोऽरिष्टानि मेऽङ्गानि तनूस्तन्वा मे सहेति ॥ १।३।२५ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'आचम्य······सहेति'। आचम्य प्राणान्सम्मृशति वाङ्म इत्यादिभिर्मन्त्रैः। तद्यथा—आचमनं सकृन्मन्त्रेण। ततस्त्रिराचम्य एवं सर्वत्र स्मार्तमाचमनं कृत्वा प्राणानिन्द्रियाणि सम्मृशति सजलमालभते। तद्यथा—वाङ्म आस्येऽस्त्विति मुखं, कराग्रेण नसोर्मे प्राणोऽस्त्विति तर्जन्यङ्गुष्ठाभ्यां युगपद्दक्षिणादिनासारन्ध्रे, अक्ष्णोर्मे चक्षुरस्त्विति अनामिकाङ्गुष्ठाभ्यां युगपच्चक्षुषी, कर्णयोर्मे श्रोत्रमस्त्विति मन्त्रावृत्त्या दक्षिणोत्तरौ कर्णौ, बाह्वोर्मे बलमस्त्विति कर्णवद्बाहू, उर्वोर्मे ओजोऽस्त्विति युगपद्धस्ते-

नोरू, अरिष्टानि मेऽङ्गानि तनूस्तन्वा मे सह सन्त्विति शिरःप्रभृतीनि पादान्तानि सर्वाण्यङ्गान्युभाभ्यां हस्ताभ्यामालभते ॥ १।३।२५ ॥

(**गदाधरभाष्यम्**)—'आचम्य······मे सहेति'। आचम्य वाङ्म आस्य इत्येतैर्मन्त्रैः प्रतिमन्त्रं यथालिङ्गं प्राणायतनानि सम्मृशति हस्तेन स्पृशति। सर्वत्र साकाङ्क्षत्वादस्त्वित्यध्याहारः। अरिष्टानि मेऽङ्गानि तनूरित्यत्र तु सन्त्वित्यध्याहारः। मे पदस्य सर्वत्रानुषङ्गः। नन्वध्याहारानुषङ्गयोः को विशेषः ? उच्यते—अनुषङ्गः श्रुतपदानयनम्। अध्याहारः अश्रुतपदस्य लौलिकस्यानयनं वाक्यनैराकाङ्क्ष्यार्थम्। प्रयोजनं चाध्याहृतपदस्य संहितावत्प्रयोगो न भवति। सावसानं प्रयोग इत्यर्थः। अयमर्थः कर्कोपाध्यायैरपि पशुसमञ्जनप्रकरणे प्रदर्शितः। अत्रैवं वाङ्म आस्ये अस्त्विति मुखम्। नसोर्मे प्राणोऽस्त्विति नासिकाछिद्रद्वयं युगपत्। अक्ष्णोर्मे चक्षुरस्त्वित्यक्षिद्वयं युगपत्। कर्णयोर्मे श्रोत्रमस्त्विति दक्षिणं कर्णमभिमृश्य ततो वाममनेनैव मन्त्रेण। बाह्वोर्मे बलमस्त्विति दक्षिणं बाहुं ततो वाममनेनैव मन्त्रेण। ऊर्वोर्मे ओजोऽस्त्वित्यूरुद्वयं युगपदेव। अरिष्टानि० सहसन्त्विति शिरःप्रभृति सर्वाङ्गानां युगपत्। हरिहरेण प्राणायतनस्पर्शः सजलहस्तेन कर्तव्य इत्युक्तं तदतीव मन्दम्। नह्यत्र सूत्रे जलग्रहणमस्ति। सर्वाङ्गालम्भे उभाभ्यां हस्ताभ्यामालम्भ उक्तः सोऽपि न युक्तः। आचम्येति ग्रहणमाचान्तोदकायेति वक्ष्यमाणत्वादनाचान्तस्यैव प्राणायतनसम्मर्शनं मा भूदित्येतदर्थम्। मन्त्रार्थः—मे मम वागिन्द्रियमास्येऽस्तु। नसोर्नासिकयोः प्राणः प्राणवायुः। अक्ष्णोर्नेत्रगोलकयोरिति यावत् चक्षुश्चक्षुरिन्द्रियम्। श्रोत्रं श्रवणेन्द्रियम्। बलं शक्तिः। ओजस्तेजः। मे मम तनूः देहः। तन्वा देहस्याङ्गानि च सह युगपत् अरिष्टानि अनुपहतानि सन्तु ॥ १।३।२१ ॥

अनुवाद—आचमन करके जल सहित इन्द्रियों का स्पर्श करे। इन्द्रिय-स्पर्श करने के लिए 'वाङ्म आस्ये···' इत्यादि मन्त्र है। इन्हें अङ्गन्यास भी कहते हैं।

इस मन्त्र से निम्न प्रकार अङ्गन्यास करें—'वाङ्म आस्ये अस्तु' पानी सहित कराग्र से मुँह का स्पर्श करे। 'नसोर्मे प्राणोऽस्तु' तर्जनी और अँगूठा से एक साथ दोनों नासापुटों का स्पर्श करे। 'अक्ष्णोर्मे चक्षुरस्तु' यह पढ़कर दायें-बायें कान का स्पर्श करे। 'बाह्वोर्मे बलमस्तु' यह पढ़कर दोनों बाहों का स्पर्श करे। 'ऊर्वोर्मे ओजोऽस्तु' इससे दोनों जाँघों का स्पर्श करें। इसके बाद का अंश पढ़कर शिर से पैर तक के सभी अंगों का स्पर्श करें।

आचान्तोदकाय शासमादाय गौरिति त्रिः प्राह ॥ १।३।२६ ॥

(**हरिहरभाष्यम्**)—'आचान्तो······प्राह'। आचान्तमुदकं येन स आचान्तोदकस्तस्मै अर्घ्याय शासं खड्गं गृहीत्वा यजमानः गौर्गौर्गौरालभ्यतामिति प्राह ब्रवीति ॥ १।३।२६ ॥

(**गदाधरभाष्यम्**)—'आचान्तो······प्राह'। आचान्तमुदकं येनासौ आचान्तोदकः तदर्थं शासमसिमादाय गामानीय गौरित्यर्घयिता त्रिः प्राह। आलभ्यतामित्यध्याहारः। आचान्तोदकग्रहणात्पुनराचमनमिति केचित्। आचान्तोदकायेति तादर्थ्ये चतुर्थी। शासादानस्य तादर्थ्यं तु तदर्थंपश्वालम्भनद्वारकम् ॥ १।३।२६ ॥

अनुवाद—आचमन किये अतिथि के प्रति आतिथेय तीन बार तलवार हाथ मे लेकर गौः शब्द का उच्चारण करे। यथा—गौर्गौर्गौः। इति।

प्रत्याह—'माता रुद्राणां दुहिता वसूनाꣳस्वसाऽदित्यानाममृतस्य नाभिः। प्रनुवोचञ्चिकितुषे जनाय मागामनागामदितिं वधिष्ट। मम चामुष्य च पाप्मानꣳ हनोमीति यद्यालभेत ॥ १।३।२७ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—ततोऽर्घ्यः प्रत्याह—'माता रुद्रा······लभेत'। ततोऽर्घ्यः, माता रुद्राणामित्यादि वधिष्टेत्यन्तं मन्त्रं पठित्वा मम चामुकशर्मणो यजमानस्य च पाम्पानं हनोमीति पठति यदि गामालभेत पाप्मानं हनोमीति प्रयोगः ॥ १।३।२७ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'प्रत्याह······यद्यालभेत'। अर्घ्यो यजमानं प्रत्याह मातेत्यमुं मन्त्रम्। यदि गामालभेत तदा मम चामुष्य च पाप्मानꣳ हनोमीति तदन्ते प्रयोगः। अत्रामुष्यशब्दमुद्धृत्यार्घयितुर्नामग्रहणं कार्यम्। मन्त्रार्थः—अमृतस्य क्षीरस्य नाभिराश्रयः नु वितर्के, छन्दसि व्यवहिताश्चेत्युक्तेरुपसर्गस्य वोचमित्यत्रान्वयः। प्रवोचं ब्रवीमि चिकितुषे चेतनावते जनाय यूयं इमां गां मा वधिष्ट मा घ्नत किन्तु गोपशुं विधातुं घ्नतेति तात्पर्यार्थः। किम्भूतामनागामनपराधाम्। अदितिं देवमातरं पयोदानात्। अहं ममामुष्याघयितुश्च पाप्मानं गोस्थाने हनोमि हन्मीति ॥ १।३।२७ ॥

अनुवाद—प्रत्युत्तर में वह पूज्य पुरुष 'माता रुद्राणाम्···' इत्यादि मंत्र पढ़कर गौ का आलम्भन करता हुआ कहे—मैं अपने और आतिथेय दोनों के पापों को नष्ट कर रहा हूँ।

मंत्रार्थ—रुद्रों की माता, वसुओं की बेटी, आदित्यों की बहन, यह गौ अमृतकल्प दूध का आश्रय है, इसे मैं कहता हूँ। चैतन्य मानव के लिए देवताओं की माँ के स्वरूप इस निरपराध गौ को मत मारो।

टिप्पणी—रुद्र एकादश हैं—हेमाद्रि में योगी याज्ञवल्क्य का कथन है—

'अजैकपादहिर्बुध्नो विरूपाक्षोऽथ रैवतः।
हरश्च बहुरूपश्च त्र्यम्बकश्च सुरेश्वरः॥
सावित्रश्च जयन्तश्च पिनाकी चापराजितः।
एते रुद्राः समाख्याता एकादश सुरोत्तमाः' ॥

अष्टवसु—

'धरो ध्रुवस्तथा सोम आपश्चैवाऽनलोऽनलः।
प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टौ प्रकीर्त्तिताः' ॥ —मिताक्षरा २।१०२

द्वादशादित्य—

'इन्द्रो धाता भगः पूषा मित्रोऽथ वरुणो यमः।
अत्रिर्विवस्वांस्त्वष्टा च सविता विष्णुरेव च।
एते वै द्वादशादित्या देवानां प्रवराः मताः' ॥

—हेमाद्रौ योगियाज्ञवल्क्यः।

गवालम्भन—उक्त मंत्र में 'यथालभेत्' का अर्थ बड़ा ही संदिग्ध एवं विवादास्पद है। पारस्करगृह्यसूत्र के सुप्रसिद्ध व्याख्याता हरिहर, गदाधर, कर्क, जयराम, विश्वनाथ प्रभृति आचार्यों में से किसी ने भी 'आलम्भन' शब्द की व्याख्या नहीं की है। बी० एस० आप्टे के शब्दकोष में इस शब्द के अनेक अर्थ दिये गये हैं। यथा (आ + लभ् + घञ् + मुम् च पक्षे ल्युट्)—पकड़ना, कब्जा करना, स्पर्श करना, फाड़ना, मार डालना (विशेषतः यज्ञ में पशुबलि देना)।

याज्ञिक प्रसंगानुसार 'गवालम्भन' का अर्थ स्पष्टतः गोबलि ही उपयुक्त प्रतीत होता है। पद्धतिकारों को भी इस समस्या का सामना करना पड़ा है। 'संस्कारदीपक' में इसकी अर्थच्छवि इस रूप में दर्शनीय है—"अन्त्य एव पक्षो ग्राह्य इति पद्धतिकृद्भिस्तदनुसारेणैव प्रयोगो लिखितः। अत एव गोसम्मुखीकरणकाले सूत्रोपदिष्टमपि खड्गधिनं 'गौर्गौर्गौरि'ति वाक्यशेषत्वेन भाष्यादलिखितमपि 'आलभ्यताम्' इति वाक्यं पद्धतिकारैरुपेक्षितम्—अर्थलोपेन तद् बाधात्।"

इस सन्दर्भ में हरिहर का भी विचार द्रष्टव्य है—'यद्यप्येवं मधुपर्के गवालम्भ आचार्येणोक्तः तथाप्यस्वर्ग्यत्वाल्लोकविद्विष्टत्वाच्च कलौ न विधेयः।'

याज्ञवल्क्य प्रभृति अन्य स्मृतिकारों ने भी इसका विरोध किया है। पराशरस्मृति का इस सन्दर्भ में कथन भी द्रष्टव्य है—

'यज्ञाधामं गवालम्भं संन्यासं पलपैतृकम्।
देवराच्च सुतोत्पत्तिं कलौ पञ्च विवर्जयेत्॥'

उपर्युक्त मंत्र में प्रयुक्त 'आलम्भन' शब्द भी तो गो-बलि का निषेध ही करता है। 'विधि' की अपेक्षा उक्त मंत्र में गोरक्षा का महत्त्व ही तो प्रख्यापित हुआ है।

सम्पूर्ण प्रकरण पर विचार करने से हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि 'गवालम्भन' की निन्दा पारस्कर के समय में प्रारम्भ हो चुकी थी। यही कारण है कि इस गृह्यसूत्र का २६वाँ सूत्र अपूर्ण है। इस सूत्र में 'गौः आलभ्यताम्' का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। 'आलभ्यताम्' शब्द का प्रयोग तो है ही नहीं। २७वें सूत्र के अन्त में यह शब्द अवश्य प्रयुक्त है। परन्तु उससे पूर्व यदि शब्द का प्रयोग सम्पूर्ण प्रकरण को ही अव्यवस्थित बना देता है। पारस्कर मुनि की आवाज यहाँ उतनी बुलन्द नहीं है जितनी अन्य प्रसंगों में अन्य विधिवेत्ताओं की होती है। स्पष्ट रूप से यहाँ उन्होंने किसी भी पक्ष का समर्थन नहीं किया है।

२९वें सूत्र का अर्थ वर्णितार्थ से भिन्न ही होता है 'ऐसा नहीं'—अर्थात् विवाह और यज्ञ में प्रयुक्त अर्घ मांस रहित नहीं समांस ही होना चाहिए। संस्कार-दीपककार तथा रामदत्त आदि कुछ पद्धतिकारों के अनुसार 'गौः' शब्द का तीन बार उच्चारण नाई को करना चाहिए, जैसा कि गोभिलगृह्यसूत्र में कहा गया है—'आचान्तोदकाय नापितस्त्रिर्ब्रूयात्।' यद्यपि पारस्कर ने इसका उल्लेख नहीं किया है, तथापि अपनी शाखा के विरुद्ध न होने के कारण इसे मान लेने में कोई दोष नहीं है—

'यन्नाम्नातं स्वशाखायां पारक्यमविरोधि यत् ।
विद्वद्भिस्तदनुष्ठेयमग्निहोत्रादि कर्मसु ॥'

अथ यद्युत्सिसृक्षेन्मम चामुष्य च पाप्मा हतꣳ उत्सृजत तृणान्यत्त्विति ब्रूयात् ॥ १।३।२८ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अथ यद्यु······ब्रूयात् ।' अथ यद्युत्सिसृक्षेत् अथवा अर्घ्यो यदि गामुत्स्रष्टुमिच्छेत्तदा मम चामुकशर्मणो यजमानस्य न पाप्मा हतः ॐ उत्सृजत तृणान्यत्त्विति ब्रूयात् । ओमित्यन्तमुपांशु पठित्वा उ यत्त्विति ब्रूयादित्यन्तमुच्चैः पठेत् ॥ १।३।२८ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'अथ यद्युत्सि······ब्रूयात् .र्घ्यो गामुत्स्रष्टुमिच्छेत्तदैवं प्रयोगः । मातारुद्राणामित्युक्त्वा मम चामुष्य च पाप्मा हतः ॐ उत्सृजत तृणान्यत्तु । अत्राप्यमुष्यस्थाने अर्घयितुर्नामग्रहणम् । ॐ उत्सृजत तृणान्यत्त्विति उच्चैर्ब्रूयात् शेषमुपांशु । एवं गवालम्भस्य सर्वत्र विकल्पे प्राप्ते क्वचिन्नियममाह—॥ १।३।२८ ॥

अनुवाद—और यदि उस गाय को स्वच्छन्द विचरण हेतु छोड़ना चाहे तो कहे—और आतिथेय के सारे पाप विनष्ट हो गये, अब यह गौ छोड़ दी गयी है । अब यह अपनी इच्छानुसार घूमकर घास खाये ।

न त्वेवामाꣳस सोऽर्घः स्यात् ॥ १।३।२९ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'न त्वेवामाꣳस सोऽर्घः स्यात्' । तु शब्दः पक्षव्यावृत्तौ । अर्घः अमांसः पश्वालम्भवर्जितो नैव भवेत् । अत्र यद्यालभेत यद्युत्सिसृक्षेदित्यनेन सूत्रेण गवालम्भस्य विकल्पं विधाय न त्वेवामाꣳस इत्यनेन गवालम्भनमर्घमात्रे नियमेन विधत्ते । तथा च सति द्वयोः स्मृत्योर्विरोधेन अप्रामाण्ये प्राप्ते व्यवस्थामाह ॥ १।३।२९ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'न त्वेवा······स्यात्' । यज्ञविवाहयोरमांसोऽर्घो न भवति ॥ १।३।२९ ॥

अनुवाद—ऊपर गवालम्भ सम्बन्धी वितंडावाद को देखकर पारस्कर पुनः कहते हैं—'अर्घ तो मांसरहित नहीं हो सकता ।'

अधियज्ञमधिविवाहं कुरुतेत्येव ब्रूयात् ॥ १।३।३० ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अधियज्ञं······ब्रूयात्' । अधियज्ञं यज्ञे अधिविवाहं विवाहे कुरुत विदधत गवालम्भं पाप्मानं हनोमीत्यस्यान्ते इत्येवं वदेत् । अन्यत्र पाप्मा हत इति पाप्मानं हनोमीति वा विकल्पः (नान्यत्र ?) इति भावः ॥ १।३।३० ॥

(गदाधरभाष्यम्)—यज्ञमधिकृत्य विवाहमधिकृत्य कुरुतेत्येवं प्रयोगः । अतश्चालम्भनियमो यज्ञविवाहयोः । गौरालम्भश्च कलिवर्जिते काले भवति—'यज्ञाधानं गवालम्भं संन्यासं पलपैतृकम् । देवराच्च सुतोत्पत्तिः कलौ पञ्च विवर्जयेत्' ॥ इति पराशरस्मृतेः । अतश्च गवालम्भस्य कलौ निषिद्धत्वादुत्सर्गस्य च यज्ञविवाहयोरप्राप्तत्वाद् गौरित्युच्चारणादि यज्ञविवाहयोः कलौ न प्रवर्तते । यज्ञविवाहयोरन्यत्र तूत्सर्गपक्ष एव कलौ । कलौ गोपशोर्निषेधात्तत्स्थाने अजालम्भः पायसं वेति जयरामः । परिगतसंवत्सरा अर्घ्या भवन्तीत्युक्तं तदपवादमाह—॥ १।३।३० ॥

अनुवाद—अतः यज्ञ और विवाह में तो गवालम्भन का विधान करना चाहिए।

टिप्पणी—यहाँ कुछ आचार्यों के मत में इस वाक्य में 'तु' का प्रयोग निषेधार्थक है। तीन निषेधों के कारण यहाँ मांस का निषेध ही अपेक्षित है। याज्ञवल्क्य मुनि ने तो इसे स्पष्ट शब्दों में लोकविरुद्ध कहकर इसका निषेध किया है—'अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं धर्ममप्याचरेन्न तु' (१।१५६)। हरिहर तथा गदाधर भाष्य के अनुसार मांस प्रयोग का निषेध ही आचार के अनुकूल है।

यद्यप्यसकृत् संवत्सरस्य सोमेन यजेत कृतार्घ्या एवैनं याजयेयुर्नाकृतार्घ्या इति श्रुतेः ॥ १।३।३१ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—यद्यप्येवं मधुपर्के गवालम्भ आचार्येणोक्तः तथापि अस्वर्ग्यत्वाल्लोकविद्विष्टत्वाच्च कलौ न विधेयः। अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं धर्ममप्याचरेन्न त्विति याज्ञवल्क्यादिस्मृतिषु निषेधदर्शनात्। 'यद्यप्यस······र्नाकृतार्घ्या इति श्रुतेः।' यद्यप्यसकृत्संवत्सरस्य संवत्सरे असकृत्पुनः पुनः सोमेन ज्योतिष्टोमादिना यजेत तदा तदापि एनं सोमयाजिनं कृतोऽर्घो येषां ते कृतार्घ्या एव सन्तः याजयेयुर्यज्ञं कारयेयुर्नाकृतार्घ्या याजयेयुरिति श्रुतिवचनात्। सोमेन यजेतेत्यनेन सोमयागार्थमेव वृता ऋत्विजः अर्घ्या इति गम्यते न योगान्तरार्थम् ॥ १।३।३१ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'यद्यप्यस······इति श्रुतेः'। यद्यपि संवत्सरस्य मध्ये असकृत्पुनः पुनः सोमेन यजेत तथाप्येनं यजमानं कृतार्घ्या एव ऋत्विजो याजयेयुः नाकृतार्घ्याः कुतः श्रुतेः। एतत्सूत्रादेवं ज्ञायते सोमयागार्थमेव वृता ऋत्विजोऽर्घ्या नेतरयागार्थमिति। यक्ष्यमाणास्त्वृत्विज इत्यनेनैव गतार्थत्वात्सोमेन यक्ष्यमाणा एवार्घ्या इति नियमविधानार्थं पृथगारम्भः। ननु वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेतेत्येकस्मिन्संवत्सरे एक एव सोमयागः प्राप्तस्तत्कथमुच्यते असकृत्संवत्सरस्य सोमेन यजेतेति। सत्यम्, उच्यते—यद्यपि नित्यः सोमयागः सकृदेवानुष्ठातव्यस्तथापि कामनायां चोदितायां पुनः पुनरनुष्ठानं सम्भवत्येव द्वादशाहादीनाम्। यद्वा नित्यो वाजपेयस्तस्यानुष्ठाने तदङ्गभूतानां परियज्ञानामनुष्ठानं भवति। तस्मात्साधूक्तमसकृत्संवत्सरस्य सोमेन यजेतेति। वरशाखया मधुपर्कदानं गृह्यपरिशिष्टे—'वरस्य या भवेच्छाखा तच्छाखा गृह्यचोदितः। मधुपर्कः प्रदातव्यो नान्यशाखेऽपि दातरि' ॥ इति। अत्र ऋत्विगाद्युपलक्षणार्थं वरदातृशब्दो। तदुक्तम्—अर्च्यशाखया मधुपर्क इति। याज्ञिकास्तु अर्च्यस्य यच्छाखीयं कर्म तच्छाखीयो मधुपर्क इति वदन्ति। तथा जगन्नाथकारिकायाम्—तत्तद् गृह्योक्तविधिना विष्टराद्यर्हणं तत इति। सर्वत्र यजमानशाखयैव मधुपर्क इति जयन्तः, तत्तु कैरपि नादृतम् ॥ १।३।३१ ॥

अनुवाद—वर्ष में अनेक बार जब-जब सोमयाग करे, तो उसके ऋत्विजों को अर्घ्य प्रदान करना चाहिए, क्योंकि श्रुति का कथन है कि अर्घ्य प्राप्त किये ऋत्विज ही यजमान को यज्ञ करायें।

प्रथमकाण्ड में तृतीय कण्डिका समाप्त।

चतुर्थी कण्डिका

चत्वारः पाकयज्ञाः—हुतोऽहुतः प्रहुतः प्राशित इति ॥ १।४।१ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'चत्वारः पाकयज्ञाः' । पच्यते श्रप्यते ओदनादिकमस्मिन्निति पाको गृह्याग्निस्तस्मिन्पाके नान्यत्रेति भावः । पाके यज्ञाः पाकयज्ञाः । यतः—वैवाहिकेऽग्नौ कुर्वीत गार्ह्यं कर्म यथाविधि । पञ्चयज्ञविधानं च पक्तिं चान्वाहिकीं गृही ॥ इति मनुना दैनन्दिनपाको गृह्येऽग्नौ स्मर्यते । ते चत्वारः चतुर्विधा भवन्ति, कथम् ? 'हुतोऽहुतः प्रहुतः प्राशित इति ।' तत्र हुतो होममात्रं, यथा सायंप्रातर्होमः । अहुतः होमबलिरहितं कर्म, यथा स्रस्तरारोहणम् । प्रहुतो यत्र होमो बलिकर्म भक्षणं च, यथा पक्षादिकर्म । प्राशितो यत्र प्राशनमात्रं न होमो न बलिः, यथा सर्वासां गवां पयसि पायसश्रपणानन्तरं ब्राह्मणभोजनम् । इत्थं चतुर्विधः ॥ १।४।१ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'चत्वारः पाकयज्ञाः' इति कर्मणां नामधेयानि । चतुष्प्रकारा भवन्ति । के ते ? 'हुतो······शित इति' । हुतो होममात्रं, यथा सायंप्रातर्होमः । अहुतो यत्र न हूयते, यथा स्रस्तरारोहणम् । प्रहुतो यत्र हूयते बलिहरणं च, यथा पक्षादिः । प्राशितो यत्र प्राश्यत एव न होमो न बलिहरणं, यथा सर्वासां पयसि पायसꣳ श्रपयित्वा ब्राह्मणान्भोजयेदिति । ननूपदिश्यमाना एवैते चत्वारो भवन्ति । प्रकारकथनं प्रवृत्तिविशेषकरत्वाभावादनर्थकमिति चेत्, नानर्थकं प्रकारान्तरसूचनार्थत्वात् । चत्वारः प्रकारा उपदिष्टाः । अस्ति हि पञ्चमः प्रकारः स नोपदिष्टः तत्सूचनार्थमेवैतत्सूत्रम् । कश्चासौ ? ब्रह्मयज्ञ इति, तस्य विधेर्ब्राह्मणोपदिष्टत्वात् । एतावता तदवश्यमहरहरध्येतव्यमिति भर्तृयज्ञाः ॥ १।४।१ ॥

अनुवाद—पाकयज्ञ चार हैं—१. **हुतः**—हुत अर्थात् केवल होम; जैसे—सायं प्रातःकालीन होम । २. **अहुतः**—अहुत अर्थात् होम और बलि विहीन कर्म; जैसे—प्रस्तरारोहण । ३. **प्रहुतः**—अर्थात् होम और बलिहरण दोनों; जैसे—पक्षादि कर्म । ४. **प्राशितः**—अर्थात् केवल ब्राह्मणभोजनादि कर्म ।

पञ्चसु बहिःशालायां विवाहे चूडाकरण उपनयने केशान्ते सीमन्तोन्नयन । इति ॥ १।४।२ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'पञ्चसु···न्नयन इति' । पञ्चसु संस्कारकर्मसु बहिःशालायां गृहाद् बहिःशाला बहिःशाला मण्डप इति यावत् । तस्यां कर्म भवति । यथा विवाहे परिणयने चूडाकरणे क्षौरकर्मणि उपनयने मेखलाबन्धे केशान्ते गोदानकर्मणि सीमन्तोन्नयने गर्भसंस्कारे । एतेषु पञ्चसु बहिःशालायामनुष्ठानम् । अन्यत्र गृहाभ्यन्तरे मुख्यशालायामेव ॥ १।४।२ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'पञ्चसु···न्नयन इति' । विवाहादिषु पञ्चसु कर्मसु गृहाद

बहिःशालायां कर्म भवति। अन्यत्रान्तःशालायां बहिःशालायां वा भवति। विवाहे तु मण्डपो वसिष्ठेनोक्तः—षोडशारत्निकं कुर्यात् चतुर्द्वारोपशोभितम्। मण्डपं तोरणैर्युक्तं तत्र वेदिं प्रकल्पयेत्॥ अष्टहस्तं तु रचयेन्मण्डपं वा द्विषट्करम्। वेदीकरणं नारदोक्तम्—हस्तोच्छ्रितां चतुर्हस्तैश्चतुर्हस्तां समन्ततः। स्तम्भैश्चतुर्भिः सुश्लक्ष्णां वामभागे तु सद्मनः॥ समां तथा चतुर्दिक्षु सोपानैरतिशोभिताम्। प्रागुदक्प्रवणां रम्भास्तम्भहंसशुकादिभिः॥ एवंविधामारुरुक्षेन्मिथुनं साग्निवेदिकामिति। सप्तर्षिमते च—मङ्गलेषु च सर्वेषु मण्डपो गृहवामतः। कार्यः षोडशहस्तो वा ह्यूनहस्तो दशावधिः। स्तम्भैश्चतुर्भिरेवात्र वेदी मध्ये प्रतिष्ठिता॥ इति। कारिकायामपि विवाहे मण्डपवेदीकरणमुक्तम्॥ १।४।२॥

अनुवाद—विवाह, मुण्डन, यज्ञोपवीत, केशान्त तथा सीमन्तोन्नयन (बालों का विभाजन, बारह संस्कारों में एक, जिसको स्त्रियाँ गर्भाधान के चौथे, छठे या आठवें महीने में मानती हैं)—इन पाँच संस्कारों में घर के बाहर बने मण्डप में ही अग्नि की स्थापना होनी चाहिए।

टिप्पणी—'पच्यते श्रप्यते ओदनादिकमस्मिन्निति पाकः अर्थात् गृह्याग्निः'। पच्+घञ्=पाकः। गृह्याग्नि में ही हुतादि चारों यज्ञ होने का विधान है। मनु का एक कथन द्रष्टव्य है—

'वैवाहिकेऽग्नौ कुर्वीत गार्ह्यं कर्म यथाविधि।
पञ्चयज्ञविधानञ्च पक्तिं चान्वाहिकीं गृही'॥ —मनु० ३।६७

उपलिप्त उद्धतावोक्षितेऽग्निमुपसमाधाय॥ १।४।३॥

(हरिहरभाष्यम्)—'उपलि···धाय'। उपलिप्ते गोमयोदकेन उद्धते स्फ्येनोल्लिखितेनेति तिसृभी रेखाभिः अवोक्षिते उदकेनाभ्युक्षिते बहिःशालागृहयोः अन्यतरस्मिन्प्रदेशे अग्निमुपसमाधाय अग्निं लौकिकमावसथ्यं वा उपसमाधाय स्थापयित्वा। अयं च लेपनादिविधिर्नापूर्वः। अपि तु परिसमुह्येत्यादिपूर्वोक्तस्यैवानुवादः, ततश्चात्रानुक्तमपि परिसमूहनमुद्धरणं च सर्वत्र भवति, एष एव विधिर्यत्र क्वचिद्धोम इति वचनात्॥ १।४।३॥

(गदाधरभाष्यम्)—'उपलि·····धाय'। यत्राग्नेः स्थापनं तत्रोपलिप्ते उद्धते अवोक्षिते उदकेनाभ्युक्षिते देशेऽग्निस्थापनम्। अत्रानेन पञ्चाग्निसंस्कारा लक्ष्यन्ते। ननु परिसमूहनादेरुक्तत्वात्किमर्थमुपलेपनादिकमुच्यते? सत्यम्। उच्यते—यत्र क्वचिद्धोम इत्यनेनाप्राप्तिः परिसमूहनादेरन्यार्थत्वाद्यत्र यत्राग्नेः स्थापनं तत्र तत्रैते भवन्ति। तथा च लिङ्गम्—उद्धते वा अवोक्षितेऽग्निमादधातीति। एष एव विधिर्यत्र क्वचिद्धोम इत्यनेन च होमार्थमग्निस्थापने स्युः। अन्यत्र गृहान्तरेऽग्निनिधाने अग्निगमने मथित्वाऽग्निस्थापने च न स्युः। किं च एष एवेत्यनेन यत्र स्वस्थानस्थितेऽग्नौ स्थालीपाकादिकं क्रियते तत्रापि पञ्चैते स्युः, तन्मा भूदित्यनेन सूत्रेण ज्ञाप्यते। उपलिप्त उद्धतावोक्षिते देशेऽग्निमुपसमाधाय विवाहो भवतीति भर्तृयज्ञैः सूत्रं योजितम्। परिसमूहनपरिसङ्ख्या च तेषां मते॥ १।४।३॥

अनुवाद—गोबर से लिपी जगह में (प्रथम कण्डिका में वर्णित परिसमूहन) अर्थात् उपलेपनादि पाँच प्रकार के भूसंस्कारों के पश्चात् अग्निस्थापना कर (कुमार तथा कुमारी का पाणिग्रहण करना चाहिए)।

निर्मन्थ्यमेके विवाहे ॥ १।४।४ ॥

(**हरिहरभाष्यम्**)—'निर्म···वाहे'। एके आचार्याः विवाहे पाणिग्रहे निर्मन्थ्यमारणेयमग्नि वैवाहिकहोमाधिकरणमिच्छन्ति ॥ १।४।४ ॥

(**गदाधरभाष्यम्**)—'निर्मन्थ्यमेके विवाहे' विवाह इति कर्मणो नामधेयम्। एके विवाहकर्मणि निर्मन्थ्यमग्निमिच्छन्ति अन्ये लौकिकमिच्छन्ति। निर्मन्थ्योऽचिरनिर्मथितो ग्राह्यः। सर्व एव ह्यग्निर्मन्थनाज्जायते, यथा नवनीतेन भुङ्क्ते इत्युक्ते अचिरदग्धेनेति ज्ञायते। अत्र या काचिदरणिर्ग्राह्या ॥ १।४।४ ॥

अनुवाद—कुछ आचार्यों के अनुसार विवाह-संस्कार में अरणिमन्थन से प्राप्त आग लेनी चाहिए।

उदगयन आपूर्यमाणपक्षे पुण्याहे। कुमार्याः पाणिं गृह्णीयात् ॥१।४।५॥

(**हरिहरभाष्यम्**)—अथ विवाहाख्यं कर्माह—'उदग···ह्णीयात्'। उदगयने मकरादिराशिषट्कस्थिते रवौ आपूर्यमाणपक्षे शुक्लपक्षे पुण्याहे ज्योतिःशास्त्रोक्तविष्टयादिदोषरहिते कुमार्याः अनन्यपूर्विकायाः कन्यायाः। अनेन विंशतिप्रसूतायाः स्मृत्यन्तरविहितस्य पुनर्विवाहस्यानियमः इच्छा चेत्करोति। पाणिं गृह्णीयात् पाणिं हस्तं स्वगृह्योक्तविधिना गृह्णीयात् ॥ १।४।५ ॥

(**गदाधरभाष्यम्**)—'उदग·····पुण्याहे'। उदगयने उत्तरायणे आपूर्यमाणपक्षे शुक्लपक्षे पुण्याहे शोभने विष्टयादिरहितकाले दैवानि कर्माणि कुर्यात्। एवं हि श्रूयते। स यत्रोदङ्ङावर्तते देवेषु तर्हि भवतीति तस्मात्तत्र देवकर्मोचितम्। आपूर्यमाणः सोऽपि देवानामेव। तथा य एवापूर्यतेऽर्धमासः स देवाइनामिति श्रुतेः। पुण्याहोऽपि। उदगयनादीनां समुच्चयः, तेन सर्वं देवकर्मोदगयन आपूर्यमाणपक्षे पुण्याहे कार्यम्। इदं चानुक्तकालविषयं सूत्रम्। यत्र नियतः कालो यथा सायं जुहोति प्रातर्जुहोति, पौर्णमास्यां पौर्णमास्या यजेतामावास्यायाममावास्यया यजेतेत्यादौ तत्तत्काले कार्यम्। नहि शुक्लपक्षे पुण्याहादावग्निहोत्राद्यनुष्ठानमिष्टमहरहरनुष्ठातव्यत्वात्। अत उपनयनचूडाकरणादीनि उदगयनादौ कार्याणि। अन्यानि तु येषु न समुच्चयः सम्भवति तानि यथासम्भवमेतेषु कर्तव्यानि। यथा सर्पबलिरनाहिताग्न्याग्रयणमित्याादीनीति तन्त्ररत्ने। एवं पित्र्याणि दक्षिणायनेऽपराह्णे च। 'कुमार्याः पाणिं गृह्णीयात्'। कुमार्या अक्षतयोन्याः पाणिं गृह्णीयात् वक्ष्यमाणेन विधिना विवाहं कुर्यात्। विंशतिप्रसूताव्युदासार्थं कुमारीग्रहणम्। स्मर्यते हि तस्याः पुनर्विवाहः॥ १।४।५ ॥

अनुवाद—सूर्य के उत्तरायण होने पर शुक्ल पक्ष में ज्योतिषशास्त्रानुसार शुभलग्न में कुमारी कन्या का पाणिग्रहण करना चाहिए।

त्रिषु त्रिषु उत्तरादिषु ॥ १।४।६ ॥

स्वातौ मृगशिरसि रोहिण्यां वा ॥१।४।७ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—अस्मिन् अयनपक्षदिनानि नियम्य नक्षत्रनियममाह—'त्रिषु······हिण्यां वा'। उत्तरा आदिर्येषां तान्युत्तरादीनि तेषु कतिषु त्रिषु त्रिषु, तथाहि उत्तराफल्गुनी हस्तः चित्रा इति त्रीणि, उत्तराषाढा श्रवणं धनिष्ठा इति त्रीणि, तथा उत्तराभाद्रपदारेवत्यश्विन्य इति त्रीणि। स्वातौ मृगशिरसि रोहिण्यां वा। एतेषां नक्षत्राणामन्यतमे इत्यर्थः ॥ १।४।६-७ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'त्रिषु त्रिषूत्तरादिषु'। उत्तरा आदिर्येषां तान्युत्तरादीनि तेषु तेषु त्रिषु। अयमर्थः—उत्तराफल्गुन्यां हस्ते चित्रायां च। एवमुत्तराषाढायां श्रवणे धनिष्ठायां च। एवमुत्तराप्रोष्ठपदि रेवत्यामश्विन्यां च। 'स्वातौ······हिण्यां वा'। एतेषामन्यतमे वा नक्षत्रे विवाहो भवतीत्यर्थः। उदगयन आपूर्यमाणक्षे पुण्याहे इत्युक्तत्वात्कालप्रसङ्गाच्च स्मृत्यन्तरोक्तसंवत्सरादिकन्याविवाहकालोऽत्र निरूप्यते। तत्र ज्योतिर्निबन्धे—षडब्दमध्ये नोद्वाह्या कन्या वर्षद्वयं यतः। सोमो भुङ्क्ते ततस्तद्वद् गन्धर्वश्च तथाऽनलः ॥ तथा यमः—सप्तसंवत्सरादूर्ध्वं विवाहः सार्ववर्णिकः। कन्यायाः शस्यते राजन्नन्यथा धर्मगर्हितः ॥ राजमार्तण्डे—अयुग्मे दुर्भगा नारी युग्मे तु विधवा भवेत्। तस्माद् गर्भान्विते युग्मे विवाहे सा पतिव्रता ॥ मासत्रयादूर्ध्वमयुग्मवर्षे युग्मेऽपि मासत्रयमेव यावत्। विवाहशुद्धि प्रवदन्ति सन्तो वात्यादयः स्त्रीजनिजन्यमासात् (?) ॥ स्मृत्यन्तरे तु—जन्मतो गर्भाधानाद्वा पञ्चमाब्दात्परं शुभम्। कुमारीवरणं दानं मेखलाबन्धनं तथा ॥ इत्युक्तम्। सर्वसङ्ग्रहवाक्यानि कारिकायाम्—अष्टवर्षा भवेद् गौरी नववर्षा तु रोहिणी। दशवर्षा भवेत्कन्या अत ऊर्ध्वं रजस्वला ॥ दशमे नग्निका वा स्याद् द्वादशे वृषली स्मृता। अपरा वृषली ज्ञेया कुमारी या रजस्वला ॥ प्राप्ते तु द्वादशे वर्षे यः कन्यां न प्रयच्छति। मासि मासि रजस्तस्याः पिता पिबति शोणितम् ॥ एतच्च प्रायिकं ज्ञेयं न रजोदर्शनं भवेत्। स्त्रीणां कासाञ्चिद्वर्षेऽस्मिन्नाभाणि मनुनाऽपि तत् ॥ उद्वहेद् त्रिंशदब्दस्तु कन्यां द्वादशवार्षिकीम्। त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षां वा धर्मे सीदति सत्वरः ॥ एकविंशतिवर्षो वा सप्तवर्षामवाप्नुयात्। वर्षैरेकगुणां भार्यामुद्वहेत् त्रिगुणः स्वयम् ॥ त्रिंशद्वर्षो दशाब्दां च भार्यां विन्दति नग्निकाम्। तस्मादुद्वाहयेत्कन्यां यावन्नर्तुमती भवेत् ॥ प्रदानं प्रागृतोस्तस्या ऊर्ध्वं कुर्वन्स दोषभाक्। ज्येष्ठो भ्राता पिता माता दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम् ॥ त्रयस्ते नरकं यान्ति स्वयमित्यब्रवीद् यमः। यस्तां विवाहयेत्कन्यां ब्राह्मणो मदमोहितः ॥ असम्भाष्यो ह्यपाङ्क्तेयः स विप्रो वृषलीपतिः। वृषलीसङ्ग्रहीता यो ब्राह्मणो मदमोहितः ॥ सततं सूतकं तस्य ब्रह्महत्या दिने दिने। पितुर्गृहे तु या कन्या रजः पश्यत्यसंस्कृता ॥ भ्रूणहत्या पितुस्तस्याः सा कन्या वृषली स्मृता। दद्याद् गुणवते कन्यां नग्निकां ब्रह्मचारिणीम् ॥ अपि वा गुणहीनाय नोपरुन्ध्याद्रजस्वलामिति। अथ मासाः। व्यासः—माघफाल्गुनवैशाखे यद्यूढा मार्गशीर्षके। ज्येष्ठे चाषाढके चैव सुभगा वित्तसंयुता ॥ श्रावणेऽपि

च पौषे वा कन्यां भाद्रपदे तथा । चैत्राश्वयुक्कार्तिकेषु याति वैधव्यतां लघु ।। नारदः— माघफाल्गुनवैशाखज्येष्ठमासाः शुभावहाः । कार्तिको मार्गशीर्षश्च मध्यमौ निन्दिताः परे ।। पौषेऽपि कुर्यान्मकरस्थितेऽर्के चैत्रे भवेन्मेषगतो यदा स्यात् । प्रशस्तमाषाढकृतं विवाहं वदन्ति गर्गा मिथुने स्थितेऽर्के ।। मार्गे मासि तथा ज्येष्ठे क्षौरं परिणयं व्रतम् । ज्येष्ठपुत्र-दुहित्रोस्तु यत्नेन परिवर्जयेत् ।। कृत्तिकास्थं रविं त्यक्त्वा ज्येष्ठपुत्रस्य कारयेत् । उत्सवा-दिषु कार्येषु दिनानि दश वर्जयेत् ।। तथा रत्नकोशे—जन्मर्क्षे जन्मदिवसे जन्ममासे शुभं त्यजेत् । ज्येष्ठे मास्याद्यगर्भस्य शुभं कार्यं स्त्रिया अपि ।। राजमार्तण्डे—जातं दिनं दूषयते वसिष्ठो ह्यष्टौ च गर्गो नियतं दशात्रिः । जातस्य पक्षं किल भागुरिश्च शेषाः प्रशस्ताः खलु जन्ममासि ।। जन्ममासे तिथौ भे च विपरीतदले सति । कार्यं मङ्गलमित्याहुर्गर्ग-भार्गवशौनकाः ।। जन्ममासे निषेधेऽपि दिनानि दश वर्जयेत् । आरभ्य जन्मदिवसाच्छुभाः स्युस्तिथयोऽपरे ।। पराशरस्मृतौ विशेषः—अज्येष्ठा कन्यका यत्र ज्येष्ठपुत्रो वरो यदि । व्यत्ययोर्वा तयोस्तत्र ज्येष्ठो मासः शुभप्रदः ।। ज्येष्ठस्य ज्येष्ठकन्याया विवाहो न प्रशस्यते । तयोरन्यतरे ज्येष्ठे ज्येष्ठो मासः प्रशस्यते ।। तथा—द्वौ ज्येष्ठौ मध्यमौ प्रोक्तावेकज्येष्ठं शुभावहम् । ज्येष्ठत्रयं न कुर्वीत विवाहे सर्वसम्मतम् ।। यत्तु सार्वकाल-मेके विवाह इति वदन्ति तत्प्रौढायां कन्यायां वेदितव्यम् । तथा च राजमार्तण्डे—राहुग्रस्ते तथा युद्धे पितॄणां प्राणसंशये । अतिप्रौढा च या कन्या चन्द्रलग्नबलेन तु ।। यद्वा तदासुरादि विवाहविषयम् । तथा च गृह्यपरिशिष्टम्—धर्म्येषु विवाहेषु कालपरीक्षणं नाधर्म्येष्विति ।

अथ गुर्वादिबलम् । तत्र गर्गः—स्त्रीणां गुरुबलं श्रेष्ठं पुरुषाणां रवेर्बलम् । तयो-श्चन्द्रबलं श्रेष्ठमिति गर्गेण भाषितम् ।। देवलः—नष्टात्मजा धनवती विधवा कुशीला पुत्रान्विता हृतधवा सुभगा विपुत्रा । स्वामिप्रिया विगतपुत्रधवा धनाढ्या वन्ध्या भवेत्सुरगुरौ क्रमशोऽभिजन्म ।। गर्गः—जन्मत्रिदशमारिस्थः पूजया शुभदो गुरुः । विवाहेऽथ चतुर्थाष्टद्वादशस्थो मृतिप्रदः ।। अस्यापवादः—सर्वत्रापि शुभं दद्याद् द्वाद-शाब्दात्परं गुरुः । पञ्चषष्ठाब्दयोरेव शुभगोचरता मता ।। सप्तमात्पञ्चवर्षेषु स्वोच्चस्वर्क्ष-गतो यदि । अशुभोऽपि शुभं दद्याच्छुभदर्क्षेषु किं पुनः ।। रजस्वलायां कन्याया गुरुशुद्धिं न चिन्तयेत् । अष्टमेऽपि प्रकर्तव्यो विवाहस्त्रिगुणार्चनात् ।। अर्कगुर्वोर्बलं गौर्या रोहिण्य-र्कबला स्मृता । कन्या चन्द्रबला प्रोक्ता वृषली लग्नतो बला ।। अष्टवर्षा भवेद् गौरी नव-वर्षा च रोहिणी । दशवर्षा भवेत्कन्या अत ऊर्ध्वं रजस्वला ।। बृहस्पतिः—झषचापकुली-रस्थो जीवोऽप्यशुभगोचरः । अतिशोभनतां दद्याद्विवाहोपनयादिषु ।। शौनकः—गुर्वा-दित्ये व्यतीपाते वक्रातीचारगे गुरौ । नष्टे शशिनि शुक्रे वा बाले वृद्धेऽथवा गुरौ ।। पौषे चैत्रेऽथ वर्षासु शरद्यधिकमासके । केतूद्गमे निरंशेऽर्के सिंहस्थेऽमरमन्त्रिणि ।। विवाहव्रतयात्रादि पुनर्हर्म्यगृहादिकम् । क्षौरं विद्योपविद्यां च यत्नतः परिवर्जयेत् ।। तथा—सिंहस्थं मकरस्थं च गुरुं यत्नेन वर्जयेत् । लल्लः—अतिचारगतो जीवस्तं राशिं नैति चेत्पुनः । लुप्तसंवत्सरो ज्ञेयः सर्वकर्मबहिष्कृतः ।। सिंहस्थगुरोरपवादो वसिष्ठे-नोक्तः—विवाहो दक्षिणे कूले गौतम्या नेतरत्र तु । भागीरथ्युत्तरे कूले गौतम्या दक्षिणे

तथा ।। विवाहो व्रतबन्धश्च सिंहस्थेज्ये न दुष्यति । पराशरोऽपि—गोदाभागीरथीमध्ये नोद्वाहः सिंहगे गुरौ । मघास्थे सर्वदेशेषु तथा मीनगते रवौ ।। सर्वत्र गुरुबलालाभे शौनकोक्ता शान्तिः कार्या, सा चास्माभिः प्रयोगे लेखनीया । अतिचारगे गुरौ तु वसिष्ठः—अतिचारगते जीवे वर्जयेत्तदनन्तरम् । विवाहादिषु कार्येषु अष्टाविंशतिवासरान् ।। रत्नमालायाम्—एकपञ्चनवयुग्मषड्दशत्रीणिसप्तचतुरष्टलाभदः । द्वादशाजवृषभादिराशितो घातचन्द्र इति कीर्तितो बुधैः ।। नारदः—भूबाणनवहस्ताश्च रसो दिग्वह्निशैलजाः । वेदा वसुशिवादित्या घातचन्द्रा यथाक्रमम् ।। यात्रायां शुभकार्येषु घातचन्द्रं विवर्जयेत् । विवाहे सर्वमाङ्गल्ये चौलादौ व्रतबन्धने ।। घातचन्द्रो नैव चिन्त्य इति पाराशरोऽब्रवीत् । ज्योतिर्निबन्धेऽप्युक्तम्—विवाहचौलव्रतबन्धयज्ञे महाभिषेके च तथैव राज्ञाम् । सीमन्तयात्रासु तथैव जाते नो चिन्तनीयः खलु घातचन्द्रः ।। अकालवृष्टौ नारदः—अकालजा भवेयुश्चेद् विद्युन्नीहारवृष्टयः प्रत्यर्कपरिवेषेन्द्रचापाभ्रध्वनयो यदि ।। दोषाय मङ्गले नूनमदोषायैव कालजाः । अकालवृष्टिस्वरूप च लल्लेनोक्तम्—पौषादिचतुरो मासान् प्रोक्ता वृष्टिरकालजेति । निर्घाते क्षितिचलने ग्रहयुद्धे राहुदर्शने चैव । आपञ्चदिनात्कन्या परिणीता नाशमुपयाति ।। उल्कापातेन्द्रचापप्रबलघनरजोधूमनिर्घातविद्युद्वृष्टिप्रत्यर्कदोषादिषु सकलबुधैस्त्याज्यमेवैकरात्रम् । दुःस्वप्ने दुर्निमित्ते ह्यशुभतरदशे दुर्मनोद्भ्रान्तबुद्धौ चौले मौञ्जीनिबन्धे परिणयनविधौ सर्वदा त्याज्यमेव ।। ज्योतिःप्रकाशे—अर्वाक् षोडशनाडयः सङ्क्रान्तेः पुण्यदाः परतः । उपनयनव्रतयात्रापरिणयनादौ विवर्ज्यास्ताः ।। गर्गः—दिग्दाहे दिनमेकं च ग्रहे सप्त दिनानि तु । भूकम्पे च समुत्पन्ने त्र्यहमेव तु वर्जयेत् ।। उल्कापाते त्रिदिवसं धूमे पञ्च दिनानि च । वज्रपाते चैकदिनं वर्जयेत्सर्वकर्मसु ।। दर्शनादर्शनाद्राहुकेत्वोः सप्तदिनं त्यजेत् । यावत्केतूदगमस्तावदशुभः समयो भवेत् ।। अद्भुतसागरेऽस्यापवादः—अथ यदि दिवसत्रयमध्ये मृदुपानीयं यदा भवति । उत्पातदोषशमनं तदैव शं प्राहुराचार्याः ।। सम्बन्धतत्त्वे च—भूकम्पादेर्न दोषोऽस्ति वृद्धिश्राद्धे कृते सति ।

अथ प्रतिकूलादिः । मेधातिथिः—वधूवरार्थं घटिते सुनिश्चिते वरस्य गेहेऽप्यथ कन्यकायाः । मृत्युर्यदि स्यान्मनुजस्य कस्यचित्तदा न कार्यं खलु मङ्गलं बुधैः ।। मङ्गलं विवाहः । तथा गर्गः—कृते तु निश्चये पश्चान्मृत्युर्भवति कस्यचित् । तदा न मङ्गलं कुर्यात्कृते वैधव्यमाप्नुयात् ।। स्मृतिचन्द्रिकायाम्—कृते वाङ्नियमे पश्चान्मृत्युर्मर्त्यस्य गोत्रिणः । तदा न मङ्गलं कार्यं नारीवैधव्यदं ध्रुवम् ।। भृगुः—वाग्दानानन्तरं यत्र कुलयोः कस्यचिन्मृतिः । तदोद्वाहो नैव कार्यः स्ववंशक्षयदो यतः ।। शौनकः—वरवध्वोः पिता माता पितृव्यश्च सहोदरः । एतेषां प्रतिकूलं हि महाविघ्नप्रदं भवेत् ।। पिता पितामहश्चैव माता चैव पितामही । पितृव्यः स्त्री सुतो भ्राता भगिनी चाविवाहिता ।। एभिरत्र विपन्नैश्च प्रतिकूलं बुधैः स्मृतम् । अन्यैरपि विपन्नैस्तु केचिदूचुर्न तद्भवेत् ।। सङ्कटे मेधातिथिराह—वाग्दानानन्तरं यत्र कुलयोः कस्यचिन्मृतिः । तदा संवत्सरादूर्ध्वं विवाहः शुभदो भवेत् ।। स्मृतिरत्नावल्याम्—पितुरब्दमशौचं स्यात्तदर्धं मातुरेव च । मासत्रयं तु भार्यायास्तदर्धं भ्रातृपुत्रयोः ।। अन्येषां तु सपिण्डानामाशौचं मासमीरितम् । तदन्ते

शान्तिकं कृत्वा ततो लग्नं विधीयते ।। ज्योतिःप्रकाशे—प्रतिकूलेऽपि कर्तव्यो विवाहो मासतः परः । शान्ति विधाय गां दत्त्वा वाग्दानादि चरेत्पुनः ।। शान्तिरत्ने विनायकशान्तिः । तथा च मेधातिथिः—सङ्कटे समनुप्राप्ते याज्ञवल्क्येन योगिना । शान्तिरुक्ता गणेशस्य कृत्वा तां शुभमाचरेत् ।। स्मृत्यन्तरे—प्रतिकूले न कर्तव्यो गच्छेद्यावदृतुत्रयम् । प्रतिकूलेऽपि कर्तव्यमित्याहुर्बहुविप्लवे ।। प्रतिकूले सपिण्डस्य मासमेकं विवर्जयेत् । ज्योतिःसागरेऽपि—दुर्भिक्षे राष्ट्रभङ्गे च पित्रोर्वा प्राणसंशये । प्रौढायामपि कन्यायां नानुकूल्यं प्रतीक्ष्यते ।। मेधातिथिः—पुरुषत्रयपर्यन्तं प्रतिकूलं स्वगोत्रिणाम् । प्रवेशनिर्गमस्तद्वत्तथा मुण्डनमण्डने ।। प्रेतकर्माण्यनिर्वर्त्य चरेन्नाभ्युदयक्रियाम् । आचतुर्थं ततः पुंसि पञ्चमे शुभदं भवेत् ।। मासिकविषये शाट्यायनिः—प्रेतश्राद्धानि सर्वाणि सपिण्डीकरणं तथा । अपकृष्यापि कुर्वीत कर्तुं नान्दीमुखं द्विजः ।। वृद्धयभावे अपकर्षे दोषमाहोशनाः । वृद्धिश्राद्धविहीनस्तु प्रेतश्राद्धानि यश्चरेत् । स श्राद्धी नरके घोरे पितृभिः सह मज्जति ।। इति । स्मृत्यन्तरे—सपिण्डीकरणादर्वागपकृष्य कृतान्यपि । पुनरप्यपकृष्यन्ते वृद्धयुत्तरनिषेधनात् ।। विवाहदिनादारभ्य चतुर्थीपर्यन्तं मध्ये श्राद्धदिनं दर्शदिनं च नायाति तादृशः कालो ग्राह्यः । तदुक्तं ज्योतिर्निबन्धे—विवाहमारभ्य चतुर्थिमध्ये श्राद्धंदिनं दर्शदिनं यदि स्यात् । वैधव्यमाप्नोति तदाशु कन्या जीवेत्पतिश्चेदनपत्यता स्यात् ।। तथा—विवाहमध्ये यदि चेत्क्षयाहस्तत्र स्वमुख्याः (?) पितरो न यान्ति । वृत्ते विवाहे परतस्तु कुर्याच्छ्राद्धं स्वधाभिर्न तु दूषयेत्तम् ।। श्रुतावपि—ये वै भद्रं दूषयन्ति स्वधाभिरिति ।। १।४।६-७ ।।

अनुवाद—उत्तरा से प्रारम्भ तीन-तीन नक्षत्रों में (अर्थात्—१. उत्तराफाल्गुनी, हस्त, चित्रा; २. उत्तराषाढा, श्रवण, धनिष्ठा तथा ३. उत्तराभाद्रपदा, रेवती और अश्विनी नक्षत्र पाणिग्रहण के लिए शुभ हैं ।) अथवा—स्वाती, मृगशिरा और रोहिणी नक्षत्र में विवाह करे ।

तिस्रो ब्राह्मणस्य वर्णानुपूर्व्येण ।। १।४।८ ।।

(हरिहरभाष्यम्)—कुमार्याः पाणिं गृह्णीयादिति सामान्येनोक्तं तत्र विशेषमाह—'तिस्रो······पूर्व्येण' । ब्राह्मणस्य द्विजाग्र्यस्य वर्णानुपूर्व्येण वर्णक्रमेणतिस्रो ब्राह्मणीक्षत्रियावैश्या विवाह्या भवन्ति ।। १।४।८ ।।

(गदाधरभाष्यम्)—'तिस्रो······पूर्व्येण' । ब्राह्मणस्य वर्णानुपूर्व्येण वर्णक्रमेण ब्राह्मणी क्षत्रिया वैश्येति तिस्रो भार्या भवन्ति । वर्णानुपूर्व्यग्रहणात् न व्युत्क्रमेण विवाहः । प्रथमा ब्राह्मणी । तत इतरे वर्णक्रमेण ।। १।४।८ ।।

अनुवाद—ब्राह्मण वर्णानुक्रम से ब्राह्मणी, क्षत्रिया एवं वैश्य कन्या से विवाह कर सकते हैं ।

द्वे राजन्यस्य ।।१।४।९ ।।

(हरिहरभाष्यम्)—द्वे क्षत्रियावैश्ये राजन्यस्य विवाह्ये भवतः ।। १।४।९ ।।

(गदाधरभाष्यम्)—'द्वे राजन्यस्य'। वर्णानुपूर्व्येण क्षत्रिया वैश्या चेति राजन्यस्य भार्ये भवतः ॥ १।४।९ ॥

अनुवाद—क्षत्रिय उसी क्रम से दो कन्याओं अर्थात् क्षत्रिय एवं वैश्य कन्या से विवाह कर सकते हैं।

एका वैश्यस्य ॥ १।४।१० ॥

(हरिहरभाष्यम्)—एका वैश्यैव वैश्यस्य विवाह्या भवति। वर्णानुपूर्व्यग्रहणात् व्युत्क्रमो निषिद्धः ॥ १।४।१० ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'एका वैश्यस्य'। सवर्णा एका वैश्यस्य भार्या भवति ॥ १।४।१० ॥

अनुवाद—पूर्वोक्त क्रम में ही वैश्य केवल स्वजाति की कन्या से ही विवाह कर सकते हैं।

सर्वेषांꣳशूद्रामप्येके मन्त्रवर्जम् ॥ १।४।११ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'सर्वे···वर्जम्'। सर्वेषां ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्रामप्येके विवाह्यां मन्यन्ते तत्र विशेषः। मन्त्रवर्जं मन्त्ररहितं यथा भवति तथा। अत्र द्विजातीनामपि शूद्रापरिणयने आचार्येण मन्त्रवत्क्रियानिषेधात्। अतः शूद्रस्य शूद्रापरिणयने मन्त्रवत्क्रिया नास्ति किन्तु मन्त्ररहितं क्रियामात्रमिति गम्यते। ततश्च शूद्रस्य शूद्रापरिणयने मन्त्रवद्धोमादि कर्म कुर्वन्ति तदशास्त्रीयम्। एके न मन्यन्ते शूद्राविवाहम्, कुतः ? शूद्रायाः धर्मकार्येष्वनधिकारात्। कुतो नाधिकार इति चेत्, रामा रमणायोपेयते न धर्माय कृष्णजातीयेति निरुक्तकारयास्काचार्यवचनात्। अतो रमणार्थं शूद्रापरिणयनं पक्षे। एवं सति षण्मासदीक्षाद्यनन्तरमग्निं चित्वा प्रथमं न रामामुपेयादिति निषेध उपपद्यते प्राप्तं हि प्रतिषेधस्य विषयः, यदि रामोढा न स्यात्तदा अग्निचितः कथं तत्प्रथमगमनं प्रतिषिध्येत ? तस्माच्छूद्रापरिणयनमुपभोगार्थमिच्छया कुर्वतो न शास्त्रातिक्रमः धर्मप्रजारत्यर्थो हि विवाहः। प्रासङ्गिकमभिधायेदानीं प्रकृतमाह—तत्र पुण्येऽहनि ॥ १।४।११ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—सर्वेषाꣳ······वर्जम्'। सर्वेषां ब्राह्मणादीनां शूद्रामप्येके भार्यामिच्छन्ति, तस्यास्तु मन्त्रवर्जं विवाहकर्म भवति। एके पुनः शूद्रापरिणयनं नेच्छन्ति। न शूद्राया धर्मकार्येष्वधिकार इति। तथा च यास्कः—रामा रमणाय विन्दते न धर्मायेति। अतः शूद्रापरिणयनं नेच्छन्ति रमणार्थमेव ॥ १।४।११॥

अनुवाद—कुछ आचार्य शूद्रकन्या को भी मंत्रोच्चार के विना ही विवाह करने योग्य मानते हैं।

अथैनां वासः परिधापयति—जरां गच्छ परिधित्स्व वासो भवाकृष्टीनामभिशस्तिपावा। शतं च जीव शरदः सुवर्चा रयिं च पुत्राननुसंव्ययस्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वास इति ॥ १।४।१२ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अथैनां·········वास इति'। अथाग्निस्थापनानन्तरमेनां

कुमारीं वासः अहतं सदशं वस्त्रं परिधापयति परिहितं कारयति वरो जरां गच्छेति मन्त्रं पठित्वा। कुमारी च स्वयं परिधत्ते ॥ १।४।१२ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'अथैनां······त्स्ववासः'। अथ वरो जरां गच्छेति मन्त्रेणैनां वधूं वासः परिधापयति। भर्तृयज्ञमते तु आचार्यकर्तृकं परिधापनम्। अत्राचारादहतं वासो ग्राह्यम्। अहतलक्षणं कश्यपेनोक्तम्—अहतं यन्त्रनिर्मुक्तं वासः प्रोक्तं स्वयंभुवा। शस्तं तन्मङ्गले नूनं तावत्कालं न सर्वदा॥ इति। मन्त्रार्थः—हे कन्ये! त्वं जरां निर्दुष्टवृद्धत्वं मया सह गच्छ प्राप्नुहि वासश्च मया सम्पादितं परिधेहि। आकृष्यन्ति कामादिभिरित्याकृष्टयो मनुष्याः तेषां मध्ये अभिशस्तिरभिशापः, शसु प्रमादे, तस्मात्पातीत्यभिशस्तिपावा भव। शतं च शरदो वर्षाणि जीव प्राणिहि। सुवर्चा तेजस्विनी रयिं च धनं पुत्रांश्च अनु पश्चात् संव्ययस्व। अतिसुसंवृणीष्व उत्पाद्य राशिं कुरु। हे आयुष्मति! इदं वासः परिधत्स्वेत्यनुवादः। मन्त्र एवात्र कारितार्थे॥ १।४।१२॥

अनुवाद—'जरां गच्छ···' इत्यादि मंत्रोच्चारण करते हुए वर कन्या को वस्त्र दे (कन्या नाइन की सहायता से स्वयं वस्त्र धारण करे)।

मंत्रार्थ—(ऋषि प्रजापति, त्रिष्टुप् छन्द, तन्तुदेवियाँ।) हे आयुष्मति! संसार में कामासक्त पुरुषों के लिए तुम अभिशाप बनो; मेरे साथ सौ साल तक जीओ; मेरे साथ ही वृद्धावस्था को प्राप्त करो; तेज, धन और पुत्रों को उत्पन्न करो। हे चिरञ्जीविनि! इस वस्त्र को धारण करो।

अथोत्तरीयम्—या अकृन्तन्नवयं या अतन्वत। याश्च देवीस्तन्तूनभितो ततन्थ, तास्त्वा देवीर्जरसे संव्ययस्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वास इति॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अथोत्तरी···धत्स्व वास इति'। अथोत्तरीयं वस्त्रपरिधानानन्तरमुत्तरीयं वासः परिधापयति वरो या अकृन्तन्निति मन्त्रमुक्त्वा अत्र परिधापयतीति णिजन्तस्य कारितार्थत्वात्परिधत्स्व वास इति मन्त्रस्यापि तदर्थत्वात्परिधापयिताऽन्य इत्यवगम्यते, स किं वरः अध्वर्युर्वा? इति संशयः। तत्राध्वर्युः कर्मसु वेदयोगादिति परिभाषाबलात् अध्वर्युः परिधापयितेति चेत्तन्न, स्मार्तेषु कर्मसु अध्वर्योः कर्तृत्वयोगाभावात्। समाख्यया हि अध्वर्योः कर्मसु योगः समाख्या च वेदयोगात्, न च स्मृतिर्वेदः स्मरणादेव स्मृतीनां प्रामाण्यान्न पुनर्वेदमूलत्वेन। अतः समाख्याया अभावात्स्वयंकर्तृत्वं पाकयज्ञेषु, अतो वर एव परिधापयिता। ननु पूर्णपात्रो दक्षिणा वरो वेति पाकयज्ञेषु परिक्रयार्था दक्षिणा श्रूयते सा च दक्षिणा परिक्रेतव्याभावे नोपपद्यते। अतस्तदन्यथानुपपत्त्या अन्यस्य कर्तृत्वं कल्प्यताम्। नैतदेवम्। अन्यस्य ब्राह्मणः परिक्रेतव्यस्य कर्तुर्विद्यमानत्वात् परिक्रयार्थदक्षिणाश्रवणस्योपपत्तेः। किञ्च वचनाभावे परः परस्य कर्म कर्तुं न प्रवर्तते नात्र वचनमस्ति पाकयज्ञेषु स्वतोऽन्यकर्तृत्वविधायकम्। श्रौतवत्समाख्यापि नास्ति। ननु स्मृतीनां वेदमूलत्वात् यद्वेदमूलं स्मार्तं कर्म तद्वेदसमाख्यया अन्यस्य कर्तृत्वं कल्प्यताम्। मैवम्। यतः स्मृतयोऽनिश्चितवेदमूलाः, अतो न ज्ञायते किं वेदमूलमिदं कर्म, यद्वेदसमाख्यया अन्यः कर्ता कल्प्यते? मन्त्रलिङ्गविरोधोऽपि

परकर्तृत्वे, कथं—सा मामनुव्रता भव, प्रजापतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्, अमोहमस्मीत्यादि सा नः पूषाशिवतमेत्यादयो वैवाहिकमन्त्राः आत्मलिङ्गास्ते च परकर्तृत्वे विरुद्धयन्ते तस्मात्पाकयज्ञेषु स्वयं यजमानस्यैव कर्तृत्वमिति सिद्धम् । अत्र वरोऽपि वाससी परिधत्ते परिधास्यै यशसामेति मन्त्राभ्याम् ॥ १।४।१३ ॥

(**गदाधरभाष्यम्**)—'अथोत्त······वासः' । या अकृन्तन्नित्यनेन मन्त्रेणोत्तरीयं परिधापयति वर एव तदप्यहतमेव । अत्रापि कारितार्थे मन्त्रः । मन्त्रार्थः—या देवीः देव्यः इदं वासः अकृन्तन् कर्तितवत्यः या अवयन् वीतवत्यः । वेञ् तन्तुसन्ताने । ओतवत्य इत्यर्थः । यास्तन्तून् सूत्राणि अतन्वत प्रोतवत्यः तिर्यक् तन्तुसन्ताने ओतवत्य इत्यर्थः । चकाराद्या ओतान्प्रोतांश्च तन्तूनभित उभयपार्श्वयोरपि ततन्थ तेनुः तुरीवेमादिव्यापारेण ग्रथितवत्यः । ताः तत्तत्सामर्थ्यदात्र्यो देव्यः स्वकार्यरूपवदिदं वासः त्वा त्वां जरसे दीर्घकालनिर्दुष्टजीवनाय संव्ययस्व परिधापयन्तु । पुरुषादिव्यत्ययश्छान्दसः अतो हेतोः आयुष्मति इदम् एतादृशं वासः परिधत्स्व उत्तरीयत्वे वृणीष्व ॥१।४।१३॥

अनुवाद—इसके बाद 'या अकृन्त···' इत्यादि मंत्रों का उच्चारण करते हुए वर वधू को उत्तरीय अर्थात् ओढ़नी प्रदान करे ।

मंत्रार्थ—(ऋषि प्रजापति, गायत्री छन्द, वस्त्रविधातृ देवियाँ ।) जिन देवियों ने इस वस्त्र के सूत को काटा, जिन्होंने बुना, जिन्होंने इसे फैलाया, जिन्होंने आड़े-बेड़े तन्तुओं से इसे गूँथा, वे सभी देवियाँ तुम्हें निर्मल निर्दुष्ट जीवन व्यतीत करने के लिए वस्त्र धारण करायें ।

अथैनौ समञ्जयति—समञ्जन्तु विश्वेदेवाः समापो हृदयानि नौ । सम्मातरिश्वा सन्धाता समुदेष्ट्री दधातु नौ, इति ॥ १।४।१४ ॥

(**हरिहरभाष्यम्**)—'अथैनौ······नाविति' । अथ वस्त्रपरिधानानन्तरं परस्परं समञ्जेथामिति प्रैषेण कन्यापिता एनौ वधूवरौ समञ्जयति सम्मुखौ वरकुमार्यौ करोति । अत्र विशेषमाह ऋष्यशृङ्गः—'वरगोत्रं समुच्चार्य प्रपितामहपूर्वकम् । नाम सङ्कीर्तयेद्विद्वान् कन्यायाश्चैवमेव हि' । तत्र वरः—समञ्जन्तु विश्वेदेवा इत्यादिकं मन्त्रं कन्यासम्मुखीभूतः पठति । अत्र कन्यादानप्रयोगो लिख्यते, उत्तरत्र पित्रा प्रत्तामिति सूत्रस्मरणात् । तद्यथा—अमुकगोत्रस्यामुकप्रवरस्यामुकशर्मणः प्रपौत्राय अमुकगोत्रस्यामुकप्रवरस्यामुकशर्मणः पौत्राय अमुकगोत्रस्यामुकप्रवरस्यामुकशर्मणः पुत्राय इति वरपक्षे अमुकगोत्रस्यामुकप्रवरस्यामुकशर्मणः प्रपौत्रीम्, अमुकगोत्रस्यामुकप्रवरस्यामुकशर्मणः पौत्रीम्, अमुकगोत्रस्यामुकप्रवरस्यामुकशर्मणः पुत्रीम्, इति कन्यापक्षे । एवमेव पुनर्वारद्वयमुच्चार्यामुकगोत्रायामुकप्रवरायामुकशर्मणे ब्राह्मणाय इति ब्राह्मणवरपक्षे । इतरवरपक्षे वर्मणे अमुकगोत्रगुप्ताय अमुकदासायेति विशेषः । अमुकगोत्राममुकप्रवराममुकनाम्नीमिमां कन्यां प्रजापतिदैवतां यथाशक्त्यलङ्कृतां पुराणोक्तकन्यादानफलकामो भार्यात्वेन तुभ्यमहं सम्प्रददे इति सकुशेन जलेन कन्याहस्तं वरस्य हस्ते दद्यात् । वरश्च—द्यौस्त्वा ददातु पृथिवी त्वा प्रतिगृह्णात्विति मन्त्रेण प्रतिगृह्णी-

यात् । ततः कोऽदादिति कामस्तुतिं पठेत् । ततः कन्यापिता कृतैतत्कन्यादानप्रतिष्ठासिद्धयर्थं सुवर्णं गोमिथुनं च दक्षिणां दद्यात् । अत्राचारादन्यदपि यौतकत्वेन सुवर्णरजतताम्रगोमहिष्यश्वग्रामादि कन्यापिता यथासम्भवं ददाति अन्येऽपि बान्धवादयो यथासम्भवं यौतकं प्रयच्छन्ति । केचन यौतकं होमान्ते प्रयच्छन्ति । अत्र देशाचारतो व्यवस्था ॥ १।४।१४ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'अथैनौ·······धातु नौ' । कन्यापिता परस्परं समञ्जेथामिति अध्येषणेनैनौ वधूवरौ समञ्जयति । समञ्जनं नाम सम्मुखीकरणं, परस्परं गात्रविश्लेप इति भर्तृयज्ञः । परस्परानुलेपनमिति केचित् । सत्यपि कारितत्वे वरस्यैव मन्त्रो मन्त्रलिङ्गात् । कारयितृत्वं च सन्निधानात् कन्यापितुः, सन्निहितो ह्यसौ प्रदातृत्वात् । उभयोर्मन्त्रपाठ इति भर्तृयज्ञः । मन्त्रार्थः—हे कन्यके ! नौ आवयोः हृदयानि मनांसि तन्निष्ठव्यापारान् सङ्कल्पविकल्पात्मकान् विश्वेदेवाः आपश्च समञ्जन्तु गुणातिशयाधानेन संस्कुर्वन्तु । तथा सम्यग्भूतो मातरिश्वा अनुकूलो वायुः तथा अनुकूलः प्रजापतिः देष्ट्री धर्मोपदेष्ट्री देवता आवयोर्हृदयानि सन्दधातु । उ अप्यर्थे ॥ १।४।१४ ॥

अनुवाद—इसके बाद कन्या का पिता वर-कन्या दोनों को 'परस्परं समञ्जेथाम्' इत्यादि पढ़कर सम्मुखीकरण कराये अर्थात् वर कन्या को एवं कन्या वर को आमनेसामने देखे । फिर वर 'समञ्जन्तु···इत्यादि' मंत्र पढ़े ।

मंत्रार्थ—(ऋपि अथर्व, अनुष्टुप् छन्द, लिङ्गोक्त देवता ।) हे कन्ये ! हम दोनों के हृदय को, संकल्प को अच्छे ढंग से विश्वदेव, जलदेव, मातरिश्वा, प्रजापति और धर्मादि की उपदेशिका वाणी सुसंस्कृत करें, सुस्थिर करें ।

कन्यादान-विधि—

'वरगोत्रं समुच्चार्य प्रपितामहपूर्वकम् ।
नाम सङ्कीर्त्तयेत् विद्वान् कन्यायाश्चैवमेव हि ॥'

पित्रा प्रत्तामादाय गृहीत्वा निष्क्रामेति—
यदैषि मनसा दूरं दिशोऽनु पवमानो वा ।
हिरण्यपर्णो वैकर्णः स त्वा मन्मनसां करोत्वित्यसौ इति ॥ १।४।१५ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'पित्रा·····त्यसाविति' । पित्रा जनकेन प्रत्तां सङ्कल्प्य दत्तामादाय प्रतिग्रहविधिना प्रतिगृह्य गृहीत्वा हस्ते धृत्वा निष्क्रामति गृहमध्यात् मण्डपाद्वा । अग्निसमीपं गन्तुम् ॥ यदैषि मनसेत्यादिना मन्त्रेण करोत्वमुकदेवि इत्यन्तेन । अत्र पित्रेत्युपलक्षणं–पिता पितामहो भ्राता सकुल्यो जननी तथा । कन्याप्रदः पूर्वनाशे प्रकृतिस्थः परः परः ॥ इति याज्ञवल्क्येन अन्येषामपि कन्यादाने अधिकारस्मरणात् ॥१।४।१५॥

(गदाधरभाष्यम्)—'पित्रा प्रत्ता·····त्यसाविति' । समञ्जनोत्तरं कन्यायाः । पित्रा दत्तां कन्यामादाय वरः प्रतिग्रहविधिना प्रतिगृह्य वस्त्रान्ते गृहीत्वा यदैषि मनसा दूरमित्यनेन मन्त्रेण निष्क्रामति गृहमध्याद बहिःशालायां स्थापितमग्निं प्रति गच्छति । असावित्यत्र सम्बुद्धयन्तं कन्यानामग्रहणम् । अत्र कर्कभाष्यम्—आदाय गृहीत्वेति चोभयं

न वक्तव्यम् । उच्यते च तत्किमर्थमप्रतिग्रहस्यापि प्रतिग्रहविधिना दानं यथा स्यादिति । अयमर्थः—अप्रतिग्रहस्यापि कन्याद्रव्यस्य प्रतिग्रहविधिना आदानं प्रतिग्रहो यथा स्यादित्येतदर्थमुभयग्रहणम् । ननु कन्यां दद्यात्कन्यां प्रतिगृह्णीयेति स्मरणात् कथमप्रतिग्रहयोग्यं कन्याद्रव्यमित्युच्यते ? सत्यम् । उच्यते—स्वत्वत्यागपूर्वकं हि परस्वत्वापादनं दानम् । न च कन्या कथञ्चिदप्यस्वकन्या कर्तुं शक्यते नापि परस्य कन्या भवति विवाहोत्तरमपि ममेयं कन्येत्यभिधानादत्र गौणो ददातिः । यत्तु स्मृतिषु पुत्रदानं चोद्यते तत्रापि गौणो ददातिः । पितुरिव परस्यापि पिण्डदानं रिक्थभाक्त्वं च भवतीत्यर्थः । षष्ठाध्यायस्य सप्तमे पादे श्राद्धाधिकरणे अयमर्थस्तन्त्ररत्ने । यद्वा—अप्रतिग्रहयोग्यस्य प्रतिग्रहविधानतः । क्षत्रियादेर्यथादानं स्यादादायेति सूत्रितम् ।। इति रेणुः । मन्त्रार्थः—हे कन्यके ! यत् एषि गच्छसि मनसा चित्तेन दूरं दूरदेशं दिशः ककुभः अनुलक्ष्यीकृत्य पवमान इव वायुवत् चित्तस्य वायुवच्चञ्चलत्वात् । ततः पवमानो वायुः हिरण्यपर्णः सुवर्णपक्षः विकर्णापत्यं गरुत्मान् त्वा त्वां मन्मनसां मद्गतचित्तां करोतु । ममायत्तां मय्यनुरागिणीं विदधातु । दातृक्रममाह याज्ञवल्क्यः—पिता पितामहो भ्राता सकुल्यो जननी तथा । कन्याप्रदः पूर्वनाशे प्रकृतिस्थः परः परः ।। अप्रयच्छन्समाप्नोति भ्रूणहत्यामृतावृतौ । गम्यं त्वभावे दातॄणां कन्या कुर्यात्स्वयंवरम् ।। इति । सकुल्यः प्रत्यासत्तिक्रमेणादौ पितृकुलस्थस्तदभावे मातामहकुलस्थः सर्वाभावे जननी इति प्रयोगरत्ने । प्रकृतिस्थ उन्माददोषरहितः । गम्यं गमनार्हं लावण्यादिगुणयुक्तम् । नारदोऽपि—पिता दद्यात्स्वयं कन्यां भ्राता वाऽनुमते पितुः । मातामहो मातुलश्च सकुल्यो बान्धवास्तथा ।। माता त्वभावे सर्वेषां प्रकृतौ यदि वर्तते । तस्यामप्रकृतिस्थायां कन्यां दद्युः स्वजातयः ।। तदा तु नैव कश्चित्स्यात्कन्या राजानमाव्रजेत् । अत्र प्रकृतिस्थग्रहणादप्रकृतिस्थेन यत्कृतं तदकृतमेव । तथा चापरार्के नारदवचनम्—स्वतन्त्रो यदि तत्त्वार्थं कुर्यादप्रकृतिं गतः । तदप्यकृतमेव स्यादस्वातन्त्र्यस्य हेतुतः ।। इति । यदि तु सप्तपदीविवाहहोमादि प्रधानं जातं तदाऽङ्गवैकल्येऽपि नावृत्तिर्विवाहस्येति दाक्षिणात्यगौडग्रन्थेषु । विवाहश्च कन्यास्वीकारोऽन्यदङ्गमिति स्मृत्यर्थसारे ।। १।४।१५ ।।

अनुवाद—दानविधि से ही पिता कन्यादान करे, पिता के द्वारा प्रदत्त कन्या को दानविधि से ही ग्रहण कर अग्नि के समीप जाने के लिए 'यदैषि···' इत्यादि मंत्र का उच्चारण करते हुए वर कन्या के साथ मण्डप से बाहर निकले ।

मंत्रार्थ—(अथर्वा ऋषि, अनुष्टुप् छन्द, पवमान देवता ।) हे कन्ये ! तुम्हारा मन जो पितृगृह से दूर, बहुत दूर पूर्वादि दिशाओं में वायु के समान चंचल हो जाता है, उसे वे वायुदेव केवल मुझ में केन्द्रित करें, जो सोने की पाँखों वाले विकर्णपुत्र गरुड़ की तरह हैं ।

अथनौ समीक्षयति—

अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्च्चाः ।
वीरसूर्देवकामा स्योनाशन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ।
सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः ।

**तृतीयोऽग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः ।
सोमोऽददद् गन्धर्वाय गन्धर्वोऽददग्नये ।
रयिं च पुत्राँश्चादादग्निर्मह्यमथो इमाम् ॥
सा नः पूषा शिवतमामैरय सा न ऊरू उशती विहर ।
यस्यामुशन्तः प्रहराम शेपं यस्यामु कामा बहवो निविष्टया । इति ॥**

(हरिहरभाष्यम्)—'अथैनौ समीक्षयति' । अथ निष्क्रमणानन्तरमेनौ वधूवरौ परस्परं समीक्षेथामिति प्रैषेण कन्यापिता समीक्षयति समीक्षणं कारयति । तत्र समीक्षमाणो वरः । 'अघोर···निविष्टया इति' । अघोरचक्षुरित्यादीन् निविष्टया इत्यन्तान् मन्त्रान् पठति वरः ॥ १।४।१६ ॥

गदाधरभाष्यम्—'अथैनौ······निविष्टया इति' । अथ निष्क्रमणोत्तरं कारितोपदेशात् कन्यापिता परस्परं समञ्जेथामित्यध्येषणेन समीक्षणं कारयति । ततस्तौ वधूवरौ परस्परसमीक्षणं कुरुतः । लिङ्गाद्वरः समीक्षमाणां कन्यां समीक्षमाण अघोरचक्षुरित्येतांश्चतुरो मन्त्रान्पठति । मन्त्रार्थः—हे कन्ये ! त्वम् अघोरचक्षुः सौम्यदृष्टिरपापदृष्टिर्वा एधि भव । तथा अपतिघ्नी अकार्यकरणेन पत्यर्थघातिनी तथा मा भव । तथा पशुभ्यः पशुवदाश्रितेभ्यः शिवा हितैषिणी च भव सुमनाः प्रसन्नचित्ता सुवर्चाः सुप्रभावयुक्ता वीरसूः सत्पुत्रजननी देवकामा देवानग्न्यादीन् कामयते स्योना सुखवती नोऽस्माकं शं सुखहेतुः द्विपदे मनुष्यवर्गाय चतुष्पदे पशुवर्गाय शं सुखहेतुर्भव ॥ १ ॥ हे कन्ये ! ते त्वां सोमश्चन्द्रः ते तव प्रथम आद्यः पतिः विविदे जन्मदिने लब्धवान् । विद्लृ लाभे । ततः सार्द्धवर्षद्वयानन्तरं गन्धर्वः सूर्यो विविदे उत्तरः तद्वद् द्वितीयोऽयं पतिः । ततोऽग्निरपि तावता कालेन विविदे । अतोऽयं तव तृतीयः पतिः । यथाऽऽहुः—पूर्वं स्त्रियः स्युर्भुक्ताश्च सोमगन्धर्ववह्निभिरिति । तथा ते तव तुरीयश्चतुर्थः मनुष्यजः मानुषः अहमेवेत्यर्थः ॥ २ ॥ किमिदानीं चतुर्णामपीयं पत्नी नेत्याह । सोमश्चन्द्रस्त्रिंशन्मासान्भुक्त्वा गन्धर्वः सूर्यस्तस्मै अददद्ददौ सोऽपि तावत्कालं भुक्त्वा अग्नयेऽददत् स चाग्निर्मह्यमिमामदात् दत्तवान् । न केवलमिमां किन्तु पुत्रान् सुतान् रयिं धनं च । चकाराद्धर्मादि च, अदादिति सम्बन्धः । या सर्वलोकसाक्षिणी पूषा देवता सा इमां शिवतमां कल्याणगुणशीलां कृत्वा नोऽस्मान्प्रति ऐरय ईरयतु । आटो दर्शनं विभक्तेरदर्शनं च छान्दसम् । अस्मास्वनुरक्तां करोत्वित्यर्थः । सा चास्मत्तः सुखं पुत्रांश्च कामयमाना ऊरू सक्थिनी जानुनोरूर्ध्वभागदण्डौ विहरतात् विवृणोतु प्रसारयत्वित्यर्थः । मध्यमपुरुषश्छान्दसः । प्रयोजनमाह—यस्यां स्त्रीयोनौ उशन्तः सुखमिच्छन्तः शेपं शिश्नं प्रहराम प्रवेशयाम वयम्, यस्यां कन्यायाम् उ एवार्थे । यस्यामेव बहवः कामाः धर्मपुत्ररतिसुखरूपाः सन्तु वा । किमर्थम् ? निविष्टचै अग्निहोत्राद्युपासनयाऽन्तःकरणशुद्धिद्वारा सायुज्यमुक्तये ॥ १।४।१६ ॥

अनुवाद—निकलने के बाद वर-वधू को कन्या के पिता परस्पर भलीभाँति निरीक्षण कराता है । वर 'अघोरचक्षुः' इत्यादि मंत्र का पाठ करता है ।

मंत्रार्थ—(ऋषि प्रजापति, द्वितीय मंत्र अनुष्टुप् तथा शेष त्रिष्टुप्, कुमारी देवता।) हे कन्ये ! तुम्हारी दृष्टि सौम्य हो, तुम पतिघातिनी मत बनो, पशुओं के लिए तुम कल्याणमयी बनो, आश्रितों के लिए हितैषिणी बनो, सदैव प्रसन्नचित्त रहो, तेजोमयी बनो, तुम वीर पुत्रों को जन्म दो, देवताओं की प्रिय बनो, पशु एवं मनुष्य दोनों के लिए समान रूप से सुखकर और कल्याणकारिणी बनो ॥ १ ॥

हे कन्ये ! सर्वप्रथम जन्मदिन पर ही तुम्हें चन्द्रमा ने प्राप्त किया, तदनन्तर ढाई साल की उम्र में गन्धर्वों ने तुम्हें प्राप्त किया, उसी समय अग्निदेव तुम्हारे तीसरे पति हुए और अब मनुष्य योनि में उत्पन्न मैं तुम्हारा चौथा पति हूँ ॥ २ ॥

चन्द्रमा ने तुम्हें गन्धर्वों को दिया, गन्धर्वों ने अग्नि को और अग्नि ने धन और पुत्रों की संभावना के साथ तुम्हें मुझे सौंपा है ॥ ३ ॥

सुख और धन की मुझसे. कामना करती हुई तुम अपनी दोनों जांघे फैलाओ, उसमें हम सायुज्य मुक्ति हेतु पुत्र एवं रतिजन्य आनन्द की चाह से अपने शिश्न को प्रविष्ट करायें, इसके लिए पूषा देवता हमें प्रेरित करें ॥ ४ ॥

टिप्पणी—पारस्कर के 'सर्वेषां शूद्रामप्येके' के सन्दर्भ में यास्क का कहना है—'रामा रमणायोपेयते न धर्माय कृष्णजातीया' इति। इसी प्रकार 'अथैनां वासः परिधापयति'—पारस्कर के इस सिद्धान्त पर हरिहर ने प्रश्न उठाया है कि कन्या को वर वस्त्र पहनाये या अध्वर्यु ? इसका निर्णय यह है कि स्मार्त कर्मों में अध्वर्यु की आवश्यकता ही नहीं होती ? वर स्वयं नाइन की मदद से यह कार्य करें। इसी सन्दर्भ में यह भी ज्ञातव्य है कि पारस्कर द्वारा निर्धारित वैवाहिक विधि पक्ष, नक्षत्र के शुभावह होने के बावजूद ज्येष्ठ पुत्र एवं पुत्रियों का विवाह मार्गशीर्ष एवं ज्येष्ठ महीने में होना अशुभ है, अतः इसे प्रयासपूर्वक रोकना चाहिए—

'मार्गशीर्षे तथा ज्येष्ठे क्षौरं परिणयं व्रतम्।
ज्येष्ठपुत्रदुहित्रोश्च यत्नतः परिवर्जयेत्' ॥

व्यवहार में भी लोग इसे तीन ज्येष्ठ साथ नहीं होना चाहिए, यह कहकर इसे रोकते हैं।

प्रथमकाण्ड में चतुर्थ कण्डिका समाप्त।

पञ्चमी कण्डिका

प्रदक्षिणमग्निं पर्याणीयैके ।। १।५।१ ।।

(हरिहरभाष्यम्)—'प्रदक्षि······णीयैके' । एके आचार्या अग्नेः प्रदक्षिणं कारयित्वा वासःपरिधानं समञ्जनं समीक्षणं च मन्यन्ते, एके न मन्यन्ते ततो विकल्पः ।। १।५।१ ।।

(गदाधरभाष्यम्)—'प्रदक्षिण······णीयैके' । एके आचार्या अग्नेः प्रदक्षिणं कारयित्वा कन्यायाः वासःपरिधानादि कर्तव्यमिति वदन्ति । अपरे तु समीक्षणान्ते अग्नेः प्रदक्षिणकरणं वदन्ति अतश्च विकल्पः ।। १।५।१ ।।

अनुवाद—कुछ आचार्यों के विचार से अग्नि की प्रदक्षिणा के वाद कन्या को नवीन वस्त्र पहनाकर वर का साक्षात्कार एवं वर-वधू को एक-दूसरे का भलीभाँति निरीक्षण कराया जाय । (अन्य आचार्य इस विचार से सहमत नहीं है । ये परस्पर निरीक्षण के पश्चात् ही अग्नि-प्रदक्षिणा के पक्षधर हैं ।)

पश्चादग्नेस्तेजनीं कटं वा दक्षिणपादेन प्रवृत्त्योपविशति ।। १।५।२ ।।

(हरिहरभाष्यम्)—'पश्चाद···त्योपविशति' । समीक्षणानन्तरमग्निं प्रदक्षिणीकृत्याग्नेः पश्चिमतः प्राङ्मुख उपविशति दक्षिणतो वरस्य वधूः । किं कृत्वा दक्षिणपादेन तेजनीं तृणपूलिकां कटं वा तृणमयं स्रस्तरं प्रवृत्य प्रक्रम्य उल्लङ्घ्येत्यर्थः । दक्षिणपादेनोल्लङ्घयन् चलन् चलित्वा उभयोः संस्कार्यत्वात्सवधूकः ।। १।५।२ ।।

(गदाधरभाष्यम्)—'पश्चाद·····विशति' । ततो वरोऽग्नेः पश्चात्स्थापितां तेजनीं कटं वा दक्षिणपादेन प्रवृत्य आक्रम्य उल्लङ्घ्याग्नेः पश्चादुपविशति । तेजनी तृणपूलिकोच्यते, कटः प्रसिद्धः । अत्र पश्चादुपवेशनं वचनात्, वचनाभावे तु सर्वत्रोत्तरत उपचारो यज्ञ इत्यनेन उपवेशनम् । स्मृत्यन्तराद्वरस्य दक्षिणतः कन्या उपविशति । तेजनीं कटमिति द्वितीयानिर्देशादेतयोः संस्कारः । ननूपयुक्तमुपयोक्ष्यमाणं वा द्रव्यं संस्कार्यं न चानयोरन्यतर उपयुक्तमुपयोक्ष्यमाणं वा भवति, ततश्च कथं संस्कारः ? सत्यम् । यद्यप्यत्र शब्देनोपयोगो नोक्तस्तथाप्यासने द्रव्याकाङ्क्षत्वादेतस्य च प्रयोजनाकाङ्क्षत्वादेवं कल्प्यते उपवेशनार्थोऽयं संस्कार इति, तेन तेजन्युपरि कटस्योपरि वोपवेशनम्, एवं च दृष्टार्थतालाभः । आक्रमणं च तया सह कर्तव्यमिति भर्तृयज्ञहरिहरौ ।। १।५।२ ।।

अनुवाद—पारस्कर के मतानुसार वर-वधू का परस्पर ठीक से एक-दूसरे को देख लेने के पश्चात् अग्नि की प्रदक्षिणा करके वेदी से पश्चिम पूर्व की ओर मुँह करके वर बैठे और वर की दाहिनी ओर वधू दाहिने पैर से सरकण्डे के मोढ़े अथवा चटाई को लाँघ कर बैठे ।

अन्वारब्ध आघारावाज्यभागौ महाव्याहृतयः सर्वंप्रायश्चित्तं प्राजापत्यꣳस्विष्टकृच्च ॥ १।५।३ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अन्वार'''ष्टकृच्च'। अत्र वैवाहिकहोमप्रसङ्गेन सर्वकर्मसाधारणीं परिभाषां करोत्याचार्यः। तद्यथा ब्रह्मणा दक्षिणबाहौ दक्षिणहस्तेन अन्वारब्धे कर्तरि आघारसंज्ञके आज्याहुती यथा मनसा प्रजापतये स्वाहा इदं प्रजापतये मनसा त्यागमपि, इन्द्राय स्वाहा इदमिन्द्राय। आज्यभागौ आज्यभागसंज्ञकौ होमौ, यथा अग्नये स्वाहा इदमग्नये सोमाय स्वाहा इदं सोमाय। महाव्याहृतयः भूराद्यास्तिस्रः, यथा ॐ भूः स्वाहा इदमग्न० इदं भूरिति वा त्यागः। तथैव ॐ भुवः स्वाहा इदं वाय० इदं भुव इति वा। ॐ स्वः स्वाहा इदं सूर्याय इदं स्वरिति वा। सर्वप्रायश्चित्तसंज्ञकाः पञ्चाहुतयः। यथा त्वन्नो अग्न इत्यादि प्रमुमुग्ध्यस्मत्स्वाहा। सत्वन्नो अग्ने० सुहवो न एधि स्वाहा इदमग्नीवरुणाभ्यां०। द्वाभ्यां त्यागः। अयाश्चाग्नेस्यनभिशस्तिपाश्च सत्यमित्वमया असि। अयानोयज्ञं वहास्ययानोधेहि भेषजꣳ स्वाहा इदमग्नये अयसे०। ये ते शतं वरुण ये सहस्रं यज्ञियाः पाशा वितता महान्तः। तेभिर्नो अद्य सवितोऽत-विष्णुर्विश्वे मुञ्चन्तु मरुतः स्वर्काः स्वाहा इदं वरुणाय सवित्रे विष्णवे विश्वेभ्यो देवेभ्यो मरुद्भ्यः स्वर्केभ्यश्च न मम। उदुत्तममित्यादि अदितये स्याम स्वाहा इदं वरुणाय०। प्राजापत्यं प्रजापतिदेवताको होमः, यथा प्रजापतये स्वाहा इदं प्रजापतये०। स्विष्टकृच्च स्विष्टकृद्धोमः, यथा अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा इदमग्नये स्विष्टकृ०। चकारः सर्वसमुच्चयार्थः ॥ १।५।३ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'अन्वार''''''''ष्टकृच्च'। आघारौ आज्यभागौ च विधीयेते। आघारः पूर्वं उत्तरश्च तत्र तूष्णीं पूर्वः। हरिहरेण प्रजापतये स्वाहेति पूर्वाघारो दर्शितः, तदतीवाशुद्धम्। नह्यत्र मन्त्रोऽस्ति दर्शपूर्णमासयोः परिभाषातः प्राप्तः स्वाहाकारोऽपि प्रतिषिध्यते। न स्वाहेति च नानिरुक्तꣳ हि मनो निरुक्तꣳ ह्येतद्यस्तूष्णीमिति। ननु आघारादिपृष्ठभावेन वेद्यादिकं कुतो नायाति ? उच्यते—गृह्यस्थालीपाकानां कर्मेत्युपक्रम्य एष एव विधिर्यत्र क्वचिद्धोम इत्यनेनैवं ज्ञायते—यावन्तोऽत्र पदार्था उक्तास्तावन्त एव भवन्ति नान्ये। उत्तराघारे प्रतिनिगद्य होमत्वं नह्यत्र मन्त्रोऽस्ति। एवमाज्यभागयोरपि। महाव्याहृतयो महाव्याहृतिका मन्त्रास्त्रयः, भूर्भुवःस्वस्तिस्रो महाव्याहृतय इत्युक्तत्वात्। सर्वप्रायश्चित्तं च त्वन्नो अग्न इत्यादि-मन्त्रैः पञ्चाहुतयो हूयन्ते तासां संज्ञा। प्राजापत्यं प्रजापतिदेवताको होमः। स्विष्टकृत्स्विष्टकृद्धोमः। यजमानो ब्रह्मणा अन्वारब्ध आघारादिस्विष्टकृदन्तं करोति अन्वारम्भश्च कुशेन निगमपरिशिष्टात् ॥ १।५।३ ॥

अनुवाद—ब्रह्मा से संस्पृष्ट होकर वैवाहिक होम में प्रजापति और इन्द्र की दो आधार आहुतियाँ, अग्नि और सोम की दो आज्याहुतियाँ, तीन महाव्याहृति सम्बन्धी आहुतियाँ, सर्वप्रायश्चित निमित्त पाँच आहुतियाँ, प्रजापति के लिए एक और स्विष्टकृत् अग्नि के लिए एक आहुति दे।

टिप्पणी—१. ॐ प्रजापतये स्वाहा, इदं प्रजापतये, ॐ इन्द्राय स्वाहा इदमिन्द्राय—ये दो आधार आहुतियाँ हैं।

२. ॐ अग्नये स्वाहा, इदमग्नये, ॐ सोमाय स्वाहा, इदं सोमाय—ये दो आज्य आहुतियाँ हैं।

३. ॐ भूः स्वाहा, इदमग्नये, ॐ भुवः स्वाहा इदं वायवे, ॐ स्वः स्वाहा इदं सूर्याय—ये तीन महाव्याहृति आहुतियाँ हैं।

४. त्वन्नो अग्ने, स त्वन्नो अग्ने, अयाश्चाग्ने, ये ते शतम्, उदुत्तमम्—इत्यादि मंत्रों से दी जाने वाली ये पाँच सर्वप्रायश्चित्त आहुतियाँ हैं।

५. ॐ प्रजापतये स्वाहा, इदं प्रजापतये इति मनसा—यह प्राजापत्याहुति है।

६. ॐ यदस्यकर्मणो० इत्यादि—यह स्विष्टकृदाहुति है।

इस प्रकार कुल मिलाकर ये चौदह आहुतियाँ हैं।

एतन्नित्यꣳ सर्वत्र ॥ १।५।४ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'एतन्नित्यꣳ सर्वत्र'। एतदाधारादिस्विष्टकृदवसानं सर्वत्र सर्वेषु होमात्मकेषु कर्मसु नित्यं, यत्र होमाभावस्तत्र नास्ति। यथा स्रस्तरारोहण-लाङ्गलयोजनपायसब्राह्मणभोजनेषु। अन्ते विहितस्य स्विष्टकृद्धोमस्य कर्मविशेषे स्थानान्तरमाह ॥ १।५।४ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'एतन्नित्यꣳ सर्वत्र'। एतदाधारादिस्विष्टकृदन्तं कर्म यत्र यत्र होमः तत्र तत्र सर्वत्र भवति। यत्र पुनर्होम एव नास्ति; यथा स्रस्तरारोहणे लाङ्गलयोजने च; तत्रैतन्न भवति ॥ १।५।४ ॥

अनुवाद—पूर्वोक्त चौदह आहुतियाँ नित्य हैं, जो सभी यज्ञों में दी जाती हैं।

प्राङ्महाव्याहृतिभ्यः स्विष्टकृदन्यच्चेदाज्याद्धविः ॥ १।५।५ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'प्राङ्महा······ज्याद्धविः'। महाव्याहृतिभ्यः प्राक् पूर्वं स्विष्टकृद्धोमो भवति चेद्यदि आज्यात्सकाशादन्यदपि चरुप्रभृति हविर्भवति। केवलाज्ययागे सर्वाहुतिशेषे भवति ॥ १।५।५ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'प्राङ्महा······ज्याद्धविः'। चेद्यदि आज्यद्रव्यादन्यद् द्रव्यं चर्वादिकमपि भवति तदा महाव्याहृतिहोमात्प्राक् पूर्वं स्विष्टकृद्धोमो भवति चर्वादिद्रव्यशेषादेव। केवलाज्यहोमे तु सर्वहोमान्ते आज्येनैव स्विष्टकृत् ॥ १।५।५ ॥

अनुवाद—यदि घी की जगह चरु आदि की आहुति देनी हो तो स्विष्टकृत् आहुति महाव्याहृति आहुतियों से पहले दी जाय।

सर्वप्रायश्चित्तं प्राजापत्यान्तरमेतदावापस्थानं विवाहे ॥ १।५।६ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'सर्वप्रा······वाहे'। सर्वप्रायश्चित्तं त्वन्नो अग्न इत्यारभ्य उदुत्तममित्यन्तमाहुतिपञ्चकम्। प्राजापत्यः प्राजापत्याहुतिः सर्वप्रायश्चित्तं च प्राजापत्यश्च सर्वप्रायश्चित्तप्राजापत्यौ, तयोरन्तरं सर्वप्रायश्चित्तप्राजापत्यान्तरम्, एतदावाप-

स्थानं कस्मिन्कर्मणि विवाहे। आवापस्थानम् आवापश्चान्यत्र विहितस्य होमजपादेः कर्मणः कर्मान्तरे प्रक्षेपः। आवापस्य आगन्तुकत्वेन अन्ते निवेशो युक्तः न्यायात् तन्निवृत्त्यर्थं तमेवाह ॥ १।५।६ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'सर्वप्रा······विवाहे'। सर्वप्रायश्चित्तं च त्वन्नो अग्न इत्यादिमन्त्रैः पञ्च होमाः प्राजापत्यं प्रजापतिदेवताको होमः एतयोरन्तरं मध्यं सर्वप्रायश्चित्तप्राजापत्यान्तरमेतद्विवाहे विवाहकर्मणि आवापस्थानं वक्ष्यमाणानां राष्ट्रभृदादीनामनुष्ठानकाल इत्यर्थः ॥ १।५।६ ॥

अनुवाद—विवाह में (राष्ट्रभृत् प्रभृति) अन्य आहुतियों का स्थापन करना हो तो सर्वप्रायश्चित्ताहुति और प्राजापत्याहुति के बीच में ही करना चाहिए।

राष्ट्रभृत इच्छञ्जयाभ्यातानांश्च जानन् ॥ १।५।७ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'राष्ट्रभृत इच्छन्'। विवाहे वैवाहिके होमकर्मणि राष्ट्रभृतः राष्ट्रभृत्संज्ञकाः आहुतीः आवपेदित्यध्याहारः। 'जयाभ्यातानांश्च' जयाश्च अभ्यातानाश्च जयाभ्यातानाः, तान् जयाभ्यातानांश्च आवपेत्। किं कुर्वन् इच्छन् राष्ट्रभृज्जयाभ्यातानानां होमफलं कामयन् ॥ १।५।७ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'राष्ट्रभृत इच्छन्'। अस्मिन् विवाहकर्मणि इच्छन्निच्छया राष्ट्रभृत्संज्ञका होमाः स्युः। ऋताषाडृतधामाग्निर्गन्धर्व इत्यादिभिर्मन्त्रैराग्निका द्वादश होमा राष्ट्रभृतः। 'जयाभ्या·········वचनात्'। जयाश्च अभ्यातानाश्च जयाभ्यातानाः तान् जयाभ्यातानान् जानन् इच्छञ्जुहोति अतश्च विकल्पः। चशब्दो राष्ट्रभृद्भिः सन्नियोगार्थः ॥ १।५।७ ॥

अनुवाद—वैवाहिक होम में राष्ट्रभृत्संज्ञक १२ आहुतियाँ, जया नामक १३ आहुतियाँ और अभ्यातान नामक आहुतियाँ भी दी जाय।

येन कर्मणेर्त्सेदिति वचनात् ॥ १।५।८ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—किं प्रमाणमिति चेत् 'जानन्येन·······वचनात्'। येन कर्मणा अस्मिन्कर्मणि ओप्य तेन यत्फलं भवतीति जानन् विदन् तत्कर्मफलमिच्छंस्तस्मिन् कर्मणि तत्कर्म आवपेदिति वचनात् श्रुतेरित्यर्थः। तत्र राष्ट्रभृतो यथा—ऋताषाड् ऋतधामाग्निर्गन्धर्व इत्यादिका द्वादश मन्त्रा राष्ट्रभृत्संज्ञकाः ॥ १।५।८ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—इच्छया जुहोतीति कुत इति चेत् 'येन कर्मणेर्त्सेदिति वचनात्' येन कर्मणा ऋद्धिमिच्छेत्तत्र जयाञ्जुहोतीति वचनं भवति। अतश्चान्यत्रापि ऋद्धिमिच्छता जयाहोमः कार्य इति ज्ञायते। जैमिनिस्तु जयादीनामनारभ्याधीतानां येन कर्मणेर्त्सेत्तत्र जयाञ्जुहुयादित्यादिभिर्वाक्यैरेव सामान्यतो लौकिकवैदिककर्माङ्गत्वे प्राप्ते जयादयस्तु वैदिकास्तेन यत्राहवनीयोऽस्ति तत्रैते स्युरिति सिद्धान्तितवान्।

अनुवाद—क्रियमाण कर्म के द्वारा यदि फलप्राप्ति की कामना हो तो जया प्रभृति होम करना चाहिए।

टिप्पणी—राष्ट्रभृत् आहुतियों के १२ मंत्र शुक्लयजुर्वेद (अध्याय १८, मन्त्र ३८ से ४३ तक) से उद्धृत हैं। ये १२ मन्त्र निम्नलिखित हैं—

१. ॐ ऋताषाड्तधामाऽग्निर्गन्धर्वः स न इदं ब्रह्मक्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट्। इदमृतासाहे ऋतधाम्नेऽग्नये गन्धर्वाय न मम ।। १ ।।

२. ॐ ऋताषाड्तधामाग्निर्गन्धर्वस्तस्यौषधयोऽप्सरसो मुदो नाम ताभ्यः स्वाहा। इदमोषधीभ्योऽप्सरोभ्यो मुद्भ्यो न मम ।। २ ।।

३. ॐ सꣳहितो विश्वसामा सूर्यो गन्धर्वः स न इदं ब्रह्मक्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट्। इदं सꣳहिताय विश्वसाम्ने सूर्याय गन्धर्वाय न मम ।। ३ ।।

४. ॐ सꣳहितो विश्वसामा सूर्यो गन्धर्वस्तस्य मरीचयोऽप्सरस आयुवो नाम ताभ्यः स्वाहा। इदं मरीचिभ्योऽप्सरोभ्य आयुभ्यो न मम ।। ४ ।।

५. ॐ सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः स न इदं ब्रह्मक्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट्। इदं सुषुम्णाय सूर्यरश्मये चन्द्रमसे गन्धर्वाय न मम ।। ६ ।।

६. ॐ सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वस्तस्य नक्षत्राण्यप्सरसो भेकुरयो नाम ताभ्यः स्वाहा। इदं नक्षत्रेभ्योऽप्सरोभ्य भेकुरिभ्यो न मम ।। ५ ।।

७. ॐ इषिरो विश्वव्यचा वातो गन्धर्वः स न इदं ब्रह्मक्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट्। इदमिषिराय विश्वव्यचसे वाताय गन्धर्वाय न मम ।। ७ ।।

८. ॐ इषिरो विश्वव्यचा वातो गन्धर्वस्तस्यापोऽप्सरस ऊर्जो नाम ताभ्यः स्वाहा। इदमद्भ्योऽप्सरोभ्य ऊर्भ्यो न मम ।। ८ ।।

९. ॐ भुज्युः सुपर्णो यज्ञो गन्धर्वः स न इदं ब्रह्मक्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट्। इदं भुज्यवे सुपर्णाय यज्ञाय गन्धर्वाय न मम ।। ९ ।।

१०. ॐ भुज्युः सुपर्णो यज्ञो गन्धर्वस्तस्य दक्षिणा अप्सरसस्तावा नाम ताभ्यः स्वाहा। इदं दक्षिणाभ्योऽप्सरोभ्यस्तावाभ्यो न मम ।। १० ।।

११. ॐ प्रजापतिर्विश्वकर्मा मनो गन्धर्वः स न इदं ब्रह्मक्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट्। इदं प्रजापतये विश्वकर्मणे मनसे गन्धर्वाय न मम ।। ११ ।।

१२. ॐ प्रजापतिर्विश्वकर्मा मनोगन्धर्वस्तस्य ऋक्सामान्यप्सरस एष्टयो नाम ताभ्यः स्वाहा। इदं ऋक्सामभ्योऽप्सरोभ्य एष्टिभ्यो न मम ।। १२ ।।

चित्तञ्च चित्तिश्चाकूतं चाकूतिश्च विज्ञातं च विज्ञातिश्च मनश्च शक्वरीश्च दर्शश्च पौर्णमासं च बृहच्च रथन्तरञ्च।

प्रजापतिर्जयानिन्द्राय वृष्णे प्रायच्छदुग्रः पृतना जयेषु। तस्मै विशः समनमन्त सर्वाः स उग्रः स इहव्यो बभूव स्वाहा इति ।। १।५।९ ।।

(हरिहरभाष्यम्)—'चित्तं च'''बभूव स्वाहा'। चित्तं चेत्येवमादीनां पदानां चतुर्थ्यन्तानां केचिदिच्छन्ति तदसाम्प्रतम्। कुतः ? नह्येतानि देवतापदानि किन्तु मन्त्रा एवैते, मन्त्राश्च यथाऽम्नाता एव प्रयुज्यन्ते ।। १।५।९ ।।

(गदाधरभाष्यम्)—'जयाहोमानां मन्त्रानाह—'चितञ्च......बभूव स्वाहेति' । मन्त्रार्थः—चित्तं चेति प्रजापतिर्यथेन्द्राय जयान् प्रायच्छत् तथा चित्तादि च मह्यमपि प्रयच्छत्विति क्रियां विपरिणम्योत्तरत्र सम्बन्धः। तस्मै च सुहुतमस्तु। तत्र चित्तं ज्ञानाधारं हृदयं चित्तिस्तत्रत्या चेतना। आकूतं चाभिमतमाकूतिश्चाभिमानः। यद्वा चित्तं ज्ञानेन्द्रियं जातावेकवचनम्, चित्तिस्तद्देवता, आकूतं कर्मेन्द्रियम्, आकूतिस्तद्देवता, विज्ञातं शिल्पादिज्ञानमपरोक्षं विज्ञातिस्तद्देवता, मनः प्रसिद्धं शक्वरीः शक्वर्यस्तच्छक्तयः, दर्शपौर्णमासौ तद्देवते, वृहद्रथन्तरे सामनी तद्देवते वा। सर्वत्र प्रथममन्त्रोक्तवाक्यार्थः सम्बध्यते। प्रजापतिः परमेश्वरः, जयन्ति शत्रूनिति जयाः तान् जयान्मन्त्रानिन्द्राय प्रायच्छत् ददौ, किमर्थम्? वृष्णे अभिमतार्थवर्षणाय इन्द्रविशेषणं वा। ततः स इन्द्रः पृतनाजयेषु असुरसेनाविजयाख्यकर्मसु उग्रः प्रचण्डो बभूव। किञ्च ततस्तस्मै इन्द्राय विशः प्रजाः समनमन्त सम्यङ् नेमुः। स इ इश्चार्थे स चेन्द्रः हव्यः हवनीयः इज्यः बभूव स्वाहा तस्मै सुहुतमस्तु। तथा च तैत्तिरीया श्रुतिः—'देवासुराः संयता आसन् स इन्द्रः प्रजापतिमुपाधावत्स तस्मा एताञ्जयान्प्रायच्छत्तानजुहोत्ततो देवा असुरानजयंस्तज्जयानां जयात्वमिति'। अत्र प्रजापतिर्जयानित्येकेनापि जयालिङ्गेन छत्रिन्यायेन त्रयोदशमन्त्रा जया इत्युच्यन्ते। इमानि शाखान्तरोपदिष्टानि देवतापदानि एषां प्रयोगकाले सम्प्रदानलक्षणेन सम्प्रयोगश्चित्ताय स्वाहेत्यादीति भर्तृयज्ञः नेति कर्कादयः। न चेमानि देवतापदानि, किं तर्हि? मन्त्राश्चैते ते च यथाऽऽम्नाता एव प्रयोक्तव्याः॥ १।५।९॥

मन्त्रार्थ—(ऋषि परमेष्ठी, छन्द त्रिष्टुप्, लिङ्गोक्त देवता।) जैसे प्रजापति ने देवराज इन्द्र को विजयी बनाया था, उसी प्रकार हृदय, चेतना, कर्मेन्द्रिय, उनमें अधिष्ठित देवता, शिल्पादि ज्ञान, अपरोक्ष ज्ञान, मन, मानसिक शक्तियाँ, दर्श, पौर्णमास तथा वृहत् और रथन्तर साम मुझे विजयी बनने की प्रवृत्ति प्रदान करें।

प्रजापति ने इच्छित फल पाने के लिए इन्द्र को जया 'नामक' यह मंत्र प्रदान किया। इसे पाकर 'सेना-विजय' नामक कर्म में इन्द्र अत्यन्त शक्तिशाली बन गये। विजयी देवराज को प्रजा ने प्रणाम किया, उन्होंने इन्हें अपना नेता बनाया, उसी दिन से इन्द्र अजेय और पराक्रमी बन गये, यज्ञांश के अधिकारी बने।

टिप्पणी—इस विषय पर तैत्तिरीय ब्राह्मण में एक कथा है—'स इन्द्रः प्रजापतिमुपाधावत्स तस्मा एताञ्जयान्प्रायच्छत् ताम् अजुहोत्। ततो देवा असुरानजयन्त यदजयँस्तज्जयानां जयात्वम्'।

जया होम में कुछ आचार्यों के विचार से इस मन्त्र के चित्तं आदि पदों को चतुर्थ्यन्त कर देना चाहिए। किन्तु हरिहर ने अपने भाष्य में इस मत का खण्डन करते हुए अपना विचार इस प्रकार व्यक्त किया है कि ये देवताओं के नाम नहीं हैं, ये तो मन्त्र हैं। मन्त्र में किसी प्रकार का व्यतिक्रम या परिवर्तन अपेक्षित नहीं है। फिर भी विश्वनाथ ने अपनी प्रयोग-पद्धति में निम्नलिखित परिवर्त्तन किया है—

चित्तं च स्वाहा इदं चित्ताय, चित्तिश्च स्वाहा इदं चित्यै, आकूतं च स्वाहा इदमाकूताय, आकूतिश्च स्वाहा इदमाकूत्यै, विज्ञातं च स्वाहा इदं विज्ञाताय, विज्ञातिश्च स्वाहा इदं विज्ञातये, मनश्च स्वाहा इदं मनसे, शक्वरीश्च स्वाहा इदं शक्वरीभ्यः, दर्शश्च स्वाहा इदं दर्शाय, पौर्णमासं च स्वाहा इदं पौर्णमासाय, बृहच्च स्वाहा इदं बृहते, रथन्तरं च स्वाहा इदं रथन्तराय।

ये चित्तादि १३ मन्त्र जया संज्ञक हैं।

'अग्निर्भूतानामधिपतिः स मावत्विन्द्रो ज्येष्ठानां, यमः पृथिव्या, वायुरन्तरिक्षस्य, सूर्य्यो दिवश्चन्द्रमा नक्षत्राणां, बृहस्पतिर्ब्रह्मणो मित्रः सत्यानां, वरुणोऽपाᳬं, समुद्रः स्रोत्यानामन्नᳬं साम्राज्यानामधिपति, तन्मावतु, सोम ओषधीनाᳬं, सविता प्रसवानाᳬं, रुद्रः पशूनां, त्वष्टा रूपाणां, विष्णुः पर्वतानां, मरुतो गणानामधिपतयस्ते मावन्तु पितरः पितामहाः परेऽवरे ततास्ततामहाः। इह मावन्त्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳬं स्वाहेति सर्वत्रानुषजति ॥ १।५।१० ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अग्निर्भूता.........वहूत्याᳬं स्वाहेति। अभ्यातानसंज्ञका ह्येते अष्टादश मन्त्राः। 'सर्वत्रानुषजति' अग्निर्भूतानामित्यादिषु पितरः पितामहा इत्यन्तेष्वष्टादशसु मन्त्रेषु प्रतिमन्त्रं यथालिङ्गं यथावचनं समावत्वित्यादि देवहूत्याᳬं स्वाहेत्यन्तं वाक्यैकदेशमनुषजति संयुनक्ति ॥ १।५।१० ॥

(गदाधरभाष्यम्)—अभ्यातानसंज्ञकान्मन्त्रानाह—'अग्निर्भू... ... ...हूत्याᳬं स्वाहा'। मन्त्रार्थः—अग्निः प्रजापतिः भूतानां स्थावरादीनामधिपतिः ईशः स मा मामवतु पातु, क्व? अस्मिन्ब्रह्मणि अस्मिन्ब्रह्मकर्मणि होमादौ, पुनरस्मिन्क्षत्रे क्षत्रकर्मणि प्रजापालनादौ, पुनरस्यामाशिषि ब्राह्मणैः सम्पादितेष्टाशंसने पुत्रादिसुखकामनायां वा, कुत्र? अस्यां कन्यायां, किम्भूतायां? पुरोधायां पुरःस्थितायामस्मिन्कर्मणि विवाहे अस्यां देवहूत्यां देवताह्वाने देवतोद्देशेन होमे वा स्वाहा सुहुतमस्तु। अयं च वाक्यार्थं उपरिष्टादपि सप्तदशसु सम्बध्यते, शेषं स्पष्टम्। एतेऽष्टादश मन्त्रा अभ्यातानाः। अग्निर्भूतानामित्यादि—सुगन्नुपन्थामित्यन्ता द्वाविंशतिरभ्यातानाः इति कर्ककारिकाकारौ। 'इति सर्वत्रानुषजति'। एतेषु मन्त्रेषु प्रतिमन्त्रं यथालिङ्गं यथावचनं समावत्वित्यादि देवहूत्यां स्वाहेत्यन्तं वाक्यैकदेशमनुवक्तव्यम्। तच्चास्माभिः प्रयोगलेखने प्रदर्शयितव्यम् ॥ १।५।१० ॥

मन्त्रार्थ—(ऋषि प्रजापति, छन्द पंक्ति, देवता लिङ्गोक्त।) जीवों के स्वामी अग्निदेव, सुरपति इन्द्र, पृथ्वीपालक, अंतरिक्ष-स्वामी वायु, द्युलोकपति सूर्य, नक्षत्राधिपति चन्द्र, वेदों के अधिष्ठाता बृहस्पति, सत्य के पालक मित्र, जलपति वरुण, नदीपति समुद्र, साम्राज्य-संचालक अन्न, वनस्पतियों के अधिष्ठाता सोम,

प्रेरक वस्तुओं में प्रधान सविता देवता, पशुपति रुद्र, शिल्प और वास्तु प्रमुख त्वष्टा, पर्वतपति विष्णु, गणपति मरुत् तथा पिता-पितामह और अन्य पूर्वज गण इस ब्रह्मकर्म, प्रजापालन रूप क्षत्रिय-कर्म में हमारी रक्षा करें; हमारे सामने बैठी इस कन्या को अपने आशीर्वाद से कृतार्थ करें। इन देवताओं के आह्वान से इस यज्ञ की प्रत्येक आहुति सुहुत हो।

टिप्पणी—ऊपर लिखित अभ्यातान आहुतियों के १८ मन्त्रों में से प्रत्येक में यथालिङ्ग और वचन 'समावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा;' जोड़ दिया जायेगा। इस तरह अभ्यातान-संज्ञक १८ मन्त्रों की आज्याहुति निम्नलिखित हैं—

(१) ॐ अग्निर्भूतानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा। इदमग्नये भूतानामधिपतये न मम ॥ १ ॥

(२) ॐ इन्द्रो ज्येष्ठानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा। इदमिन्द्राय ज्येष्ठानामधिपतये न मम ॥ २ ॥

(३) ॐ यमः पृथिव्या अधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा। इदं यमाय पृथिव्या अधिपतये न मम ॥ ३ ॥

(४) ॐ वायुरन्तरिक्षस्याधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन्० देवहूत्याꣳ स्वाहा। इदं वायवे अन्तरिक्षस्याधिपतये न मम ॥ ४ ॥

(५) ॐ सूर्यो दिवोऽधिपतिः स मावत्वस्मिन्० देवहूत्याꣳ स्वाहा। इदं सूर्याय दिवोऽधिपतये न मम ॥ ५ ॥

(६) ॐ चन्द्रमा नक्षत्राणामधिपतिः स मावत्वस्मिन्० देवहूत्याꣳ स्वाहा। इदं चन्द्रमसे नक्षत्राणामधिपतये न मम ॥ ६ ॥

(७) ॐ बृहस्पतिर्ब्रह्मणोऽधिपतिः स मावत्वस्मिन्० देवहूत्याꣳ स्वाहा। इदं बृहस्पतये ब्रह्मणोऽधिपतये न मम ॥ ७ ॥

(८) ॐ मित्रः सत्यानामधिपतिः स मावत्वस्मिन्० देवहूत्याꣳ स्वाहा। इदं मित्राय सत्यानामधिपतये न मम ॥ ८ ॥

(९) ॐ वरुणोऽपामधिपतिः स मावत्वस्मिन्० देवहूत्याꣳ स्वाहा। इदं वरुणायापामधिपतये न मम ॥ ९ ॥

(१०) ॐ समुद्रः स्रोत्यानामधिपतिः स मावत्वस्मिन्० देवहूत्याꣳ स्वाहा। इदं समुद्राय स्रोत्यानामधिपतये न मम ॥ १० ॥

(११) ॐ अन्नꣳ साम्राज्यानामधिपतिः स मावत्वस्मिन्० देवहूत्याꣳ स्वाहा। इदमन्नाय साम्राज्यानामधिपतये न मम ॥ ११ ॥

(१२) ॐ सोम ओषधीनामधिपतिः स मावत्वस्मिन्० देवहूत्याꣳ स्वाहा। इदं सोमायौषधीनामधिपतये न मम ॥ १२ ॥

(१३) ॐ सविता प्रसवानामधिपतिः स मावत्वस्मिन० देवहूत्याꣳ स्वाहा। इदं सवित्रे प्रसवानामधिपतये न मम ॥ १३ ॥

(१४) ॐ रुद्रः पशूनामधिपतिः स मावत्वस्मिन्० देवहूत्याꣳ स्वाहा। इदं रुद्राय पशूनामधिपतये न मम ॥ १४ ॥

(१५) ॐ त्वष्टा रूपाणामधिपतिः स मावत्वस्मिन्० देवहूत्याꣳ स्वाहा। इदं त्वष्ट्रे रूपानामधिपतये न मम ॥ १५ ॥

(१६) ॐ विष्णुः पर्वतानामधिपतिः स मावत्वस्मिन्० देवहूत्याꣳ स्वाहा। इदं विष्णवे पर्वतानामधिपतये न मम ॥ १६ ॥

(१७) ॐ मरुतो गणानामधिपतयस्ते मावन्त्वस्मिन्० देवहूत्याꣳ स्वाहा। इदं मरुद्भ्यो गणानामधिपतिभ्यो न मम ॥ १७ ॥

(१८) ॐ पितरः पितामहाः परेऽवरे ततास्ततामहाः। इह मावन्त्वस्मिन्० देवहूत्याꣳ स्वाहा। इदं पितृभ्यः पितामहेभ्यः परेभ्योऽवरेभ्यस्ततेभ्यस्ततामहेभ्यो न मम ॥ १८ ॥

अग्निरैतु प्रथमो देवतानाꣳ सोऽस्यै प्रजां मुञ्चतु मृत्युपाशात्।
तदयꣳराजा वरुणोऽनुमन्यतां यथेयꣳ स्त्री पौत्रमघन्नरोदात् स्वाहा।
इमामग्निस्त्रायतां गार्हपत्यः प्रजामस्यै नयतु दीर्घमायुः।
अशून्योपस्था जीवतामस्तु माता पौत्रमानन्दमभिविबुध्यतामियꣳ स्वाहा।
स्वस्ति नो अग्ने दिव आपृथिव्या विश्वानि धेह्ययथा यजत्र।
यदस्यां महि दिवि जातं प्रशस्तं तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रꣳ स्वाहा।
सुगन्नु पन्थां प्रदिशन्न एहि ज्योतिष्मध्ये ह्यजरन्न आयुः।
अपैतु मृत्युरमृतन्न आगाद्वैवस्वतो नो अभयं कृणोतु स्वाहा इति ॥१।५।११॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अग्निरैत्वित्यादि परंमृत्यविति चैके प्राशनान्ते'। अग्निरैत्वित्यादिकाः परंमृत्यवित्यन्ताः पञ्च मन्त्राः ॥ १।५।११ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'अग्नि···यं कृणोतु स्वाहेति'। अग्निरैतु प्रथम इत्यादि चतुर्भिर्मन्त्रैश्चतस्र आज्याहुतीर्जुहोति। अग्निरैतु प्रथम इति प्रथमा, इमामग्निरिति द्वितीया, स्वस्ति न इति तृतीया, सुगन्नुपन्थामिति चतुर्थी। मन्त्रार्थः—अग्निः ऐतु आगच्छतु, किम्भूतः ? देवतानां यज्ञभुजां प्रथमः आद्यः प्रधानत्वात्। स चाग्निः असौ अस्याः कन्याया प्रजां भाविपुत्रादिरूपां मुञ्चतु मोचयतु, कुतः ? मृत्युपाशात्। यद्वा मृत्युपाशात् अग्निः अस्यै कन्यायै प्रजां मुञ्चतु ददातु, तच्च प्रजामोचनं राजा वरुणोऽनुमन्यताम् अनुजानातु। यथा येनानुज्ञानेन प्रकारेण वा इयं कन्या पौत्रं पुत्रभवम् अघं दुःखं नरोदात् शोकं प्राप्य न रोदिष्यति कदाचिदपि अपत्यवियोगो मा भवतु इत्यर्थः ॥ १ ॥ इमां कन्यां गार्हपत्योऽग्निस्त्रायतां रक्षतु गार्हपत्याभिधो भाव्यग्निः पालयतु। इमां पत्नी-

मग्निहोत्रिणीं कृत्वा रक्षतु। अस्यै अस्याः प्रजां दीर्घमायुः निर्दुष्टबहुकालजीवनं नयतु प्रापयतु। इयं च अशून्योपस्था सफलप्रसवा अवन्ध्यतयेति यावत्। यद्वा नित्यं भर्तृसङ्गतोत्सङ्गा अस्तु भवतु जीवतामेव दीर्घायुषां माता चास्तु जीवपुत्रा भवत्वित्यर्थः। किञ्च पौत्रं पुत्रसम्बन्धजमानन्दं सुखम् अभि अधिगम्य आभिमुख्येन सर्वभावेन वा प्राप्य विविधं बुध्यतां जानातु सर्वज्ञाऽस्त्वित्यर्थः। यद्वा पौत्रमानन्दं विशिष्टतया बुध्यतां निद्रासुखापेक्षां त्यक्त्वा जागर्त्विति ॥ २ ॥ हे अग्ने! यजन्त त्रायत इति यजत्रः हे यजत्र! यस्मात्त्वं सर्वप्रत्यक् अतो नोऽस्माकं विश्वानि सर्वाणि कर्माणि अयथा अन्यथा कृतानि कर्माणि स्वस्ति सम्पूर्णानि यथा स्यात्तथा धेहि अनुकूलानि कृत्वा स्थापय। किं च दिव आ स्वर्गं लोकमभिव्याप्य आ पृथिव्याः पृथिवीमभिव्याप्य च यत् महि महिमा तमस्मासु धेहि स्थापय। किञ्च अस्यां पृथिव्यां जातं यद् द्रविणं वसु चित्रं नानारूपं स्वर्णरत्नादिभेदेन प्रशस्तं प्रशस्यं श्रेष्ठं यच्च दिवि स्वर्गे जातं तदप्यस्मासु धेहि ॥ ३ ॥ हे अग्ने! नोऽस्मान् एहि आगच्छ अस्मद्गृहानागत्य नोऽस्माकं सुगं सुखगम्यं पन्थां पन्थानमर्चिरादिमार्गं प्रदिशन् उपदिशन् सम्पादयन्निति यावत्। आयुर्निर्दुष्टं जीवनं धेहि देहि। किम्भूतम्? अजरं जरारोगादिपराभवरहितमजरमित्यग्निविशेषणं वा विभक्तिव्यत्ययेन। पुनः किम्भूतं? ज्योतिष्मत्प्रकाशकं तत्प्रतिबन्धको मृत्युरपि नोऽस्माकं भवत्प्रसादादपैतु अपगच्छतु। अमृतमानन्दं च नोऽस्मान् आगच्छतु वैवस्वतो यमश्च नोऽस्माकमभयं त्वत्सम्बन्धेन पापाभावाद् दुःखहेतुभयाभावं कृणोतु ॥ १।५।११ ॥

मन्त्रार्थ—(ऋषि प्रजापति, छन्द त्रिष्टुप्, देवता अग्नि-वरुण।) यज्ञभाग के अधिकारी देवताओं में सर्वश्रेष्ठ अग्निदेव यहाँ आकर इस वधू की भावी सन्तानों को मृत्युपाश से मुक्ति दिलायें। राजा वरुण भी इस बन्धनमुक्ति को अपना अनुमोदन दें, जिससे यह वधू भविष्य में सन्ततिजन्य दुःख से कभी न रोए।

(ऋषि और छन्द पूर्वोक्त, देवता अग्नि।) अग्निदेव इस वधू की सन्तानों को दीर्घायु करें। इस वधू का गर्भाधान कभी व्यर्थ न जाए। यह पुत्र और पौत्र सम्बन्धी सम्पूर्ण आनन्द को प्राप्त करे।

(ऋषि और छन्द पूर्वोक्त, देवता अग्नि।) यजमान के रक्षक हे अग्निदेव! धरती पर जो भी मेरे प्रतिकूल हो, उसे अनुकूल कर मेरे लिए कल्याण का मार्ग प्रशस्त करो। स्वर्ग और भूलोक में व्याप्त गरिमा से मुझे लाभान्वित करो। धरती और स्वर्ग में जो अनेक प्रकार के धन हैं, उन्हें भी मुझे दो।

(ऋषि और छन्द पूर्वोक्त, देवता अग्नि) हमारी राह को सुगम बनाते हुए यहाँ आकर हे अग्निदेव! उसे ऊर्जस्कर एवं प्रकाशक वृद्धावस्थारहित आयु को सम्पुष्ट करो। आपके आशीर्वाद से हम से मृत्यु दूर हो और यम हम लोगों को अभयदान दें।

परं मृत्यविति चैके प्राशनान्ते ॥ १।५।१२ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'परं मृत्यविति च जुहुयात्। एके आचार्याः परं मृत्यवित्येतामाहुतिं प्राशनान्ते संस्रवप्राशनान्ते जुहुयादितीच्छन्ति। उदकस्पर्शः ॥ १।५।१२ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'परं मृत्यविति च'। चकारादाहुतिं जुहोति परं मृत्यवित्यनेन मन्त्रेण। मन्त्रस्य पित्र्यत्वादुदकस्पर्शः। 'एके प्राशनान्ते', एके आचार्या संस्रवप्राशनान्ते इमामाहुतिमिच्छन्ति, तस्मिन्पक्षे परं मृत्यविति होमान्ते पुनरेतस्य संस्रवप्राशनम् ॥ १।५।१२ ॥

अनुवाद—प्राशन के अन्त में 'परं मृत्यो' इत्यादि मंत्र से आहुति देनी चाहिए, ऐसा कुछ आचार्यों का मत है।

(मन्त्र)—**परं मृत्योऽअनुपरेहि पन्थां यस्तेऽअन्य इतरो देवयानात्।**

टिप्पणी—इसे कुछ आचार्य अन्तःपराहुति भी कहते हैं। इस मन्त्र की आहुति के समय अग्निदेव और वधू के बीच वस्त्र का व्यवधान कर देते हैं।

प्रथमकाण्ड में पञ्चम कण्डिका समाप्त।

षष्ठी कण्डिका

लाजाहोम

कुमार्या भ्राता शमीपलाशमिश्राँल्लाजानञ्जलिनाञ्जलावावपति ॥१।६।१॥

(हरिहरभाष्यम्)—'कुमार्या ·····वपति'। कुमार्याः कन्यायाः भ्राता शमीपलाशमिश्रान् शमीपत्रयुक्तान् लाजान् भ्रष्टानि धान्यानि अञ्जलिना कृत्वा वध्वा अञ्जलौ आवपति निक्षिपति ॥ १।६।१ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'कुमार्या······वपति'। कुमार्याः कन्याया वध्वा भ्राता शमीपत्रैर्मिश्रितान् लाजानञ्जलिना कन्यायाः अञ्जलौ आवपति प्रक्षिपति लाजशब्देन भ्रष्टव्रीहय उच्यन्ते ॥ १।६।१ ॥

अनुवाद—कन्या का भाई शमीपत्र मिला हुआ धान का लावा अपनी अंजलि से बहन की अंजलि में डाले।

तां जुहोति सꣳहतेन तिष्ठति—
अर्यमणं देवं कन्याऽग्निमयक्षत।
स नो अर्यमा देवः प्रेतो मुञ्चन्तु मा पतेः स्वाहा ॥
इयं नार्युपब्रूते लाजानावपन्तिका।
आयुष्मानस्तु मे पतिरेधन्तां ज्ञातयो मम स्वाहा ॥
इमां लाजानावपाम्यग्नौ समृद्धिकरणं तव।
मम तुभ्यं च संवननं तदग्निरनुमन्यतामियꣳ स्वाहा ॥ इति ॥१।६।२॥

(हरिहरभाष्यम्)—तान् जुहोति सा च अञ्जलिस्थान् लाजान् संहतेन मिलितेनाञ्जलिना जुहोति विवाहाग्नौ प्रक्षिपति तिष्ठती ऊर्ध्वा। 'अर्यमणं····· स्वाहेति'। अर्यमणं देवमिति प्रथमम्, इयन्नार्युपब्रूत इति द्वितीयम्, इमाँल्लाजानावपामीति तृतीयम् ॥ १।६।२ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'ताञ्जुहोति······स्वाहेति'। ततः कुमारी तिष्ठती ऊर्ध्वा ताँल्लाजान् स्वाञ्जलौ स्थितान् सꣳहतेन अविरलाङ्गुलिना अर्यमणमित्यादित्रिभिर्मन्त्रैर्जुहोति। अविच्छिन्दत्यञ्जलिं स्रुचेव जुहुयादित्याश्वलायनः। तत्रैकैकेन मन्त्रेण प्रक्षिप्तलाजानां तृतीयांशं तृतीयांशं जुहोति। एवं च होमत्रयं भवति। अत्र कारिकाकारः—'तिष्ठन्त्यस्तिष्ठता पत्या गृहीताञ्जलिनैव सा। अञ्जलिस्थांस्त्रिधा सर्वान् प्राङ्मुखी प्रतिमन्त्रतः ॥ प्राजापत्येन तीर्थेन दैवेनैवेति बह्वृचाः। अन्यो भ्रातुरभावे स्याद् बान्धवो जातिरेव च' ॥ इति। भ्राता भ्रातृस्थानो वेत्याश्वलायनगृह्ये। 'भ्रातृस्थाने पितृव्यस्य मातुलस्य च यः सुतः। मातृष्वसुः सुतस्तद्वत्सुतस्तद्वत्पितृष्वसुः' ॥ इति बह्वृचकारिकायाम्। द्रव्यत्यागे तु वरस्य कर्तृत्वं प्रधानꣳ स्वामी फलयोगादित्युक्त-

त्वात् । मन्त्रार्थः—कन्याः पूर्वाः प्रथममर्यमणं सूर्यं देवं कान्तम् अग्निमग्निस्वरूपं वर-लाभाय अयक्षत अयजन् । लिङि छान्दसं रूपम् । स चार्यमा देवस्ताभिरिष्टो यतोऽतो नोऽस्मान्=इदानीं परिणीयमानाः कन्याः, इतः पितृकुलात् प्रमुञ्चतु प्रमोचयतु, मा पतेः पत्युः कुलात्सहचरित्वाद्वा मा प्रमोचयतु । यद्वा वरो ब्रूते—कन्याः यम् अर्यमणमग्नि-रूपेणायजन् सोऽर्यमा देवः पतेः पत्युर्मत्तः सकाशादिमां नो प्रमुञ्चतु मा प्रमोचयतु इत अस्याः कन्यायाः सकाशान्मा मां नो प्रमुञ्चतु । अत्रेदं मन्त्रत्रयं कन्यैव वरपाठिता पठति । इयं नारी वधूः उप पत्युःसमीपे ब्रूते । किं कुर्वती ? लाजान् भ्रष्टव्रीहीन् आव-पन्तिका अग्नौ विभागशः प्रक्षिपन्ती, स्वार्थे कः । किं ब्रूते ? तदाह—मे मम पतिरायुष्मान् सकलदीर्घायुरस्तु भवतु । मम ज्ञातयः एधन्तां वर्द्धन्तामिति । किं च हे पते ! इमानग्नौ आवपामि प्रक्षिपामि । किम्भूतान् ? तव समृद्धिकरणं समृद्धिहेतवे अतो मम कन्यायाः तुभ्यं च तव च भर्तुः मलोपश्छादसः, संवननं वशीकरणमन्योन्यमनुरागः तदयमग्नि-रर्यमा अनुमन्यतामनुमोदनं कुरुताम् । इयं च स्वाहा तत्पत्नी अनुमन्यताम् ॥१।६।२ ॥

अनुवाद—उन लाजाओं को खड़ी होकर मिली हुई अंजली से 'अर्यमणम्' इत्यादि तीन मंत्रों से तीन वार वधू हवन करे ।

मन्त्रार्थ—(ऋषि अथर्वा, छन्द अनुष्टुप्, देवता अग्नि ।) वधू ने अत्यन्त तेजस्वी अग्नि की तरह श्रेष्ठ वर पाने की इच्छा से पहले जिस अर्यमा नामक देवता भगवान् सूर्य की उपासना की थी, यज्ञ किया था, वे भगवान् सूर्य उसे पितृकुल से मुक्त करें, न कि पतिकुल से ।

लाजाहोम करती हुई यह विवाहिता कन्या कहती है—मेरे पति दीर्घायु हों और मेरे कुटुम्बीजन समृद्ध हों ।

वधू वर से कहती है—मैं धान के इन लावाओं को अपनी और तुम्हारी समुन्नति के लिए, समृद्धि के लिए, इस होमाग्नि में डालती हूँ । अग्निदेवता हमारे परस्पर अनुराग का अनुमोदन करें ।

टिप्पणी—१. स्मृति के वचनानुसार लाजाहोम वधू को अञ्जलि के वामभाग से ही करना चाहिए । इस प्रकार लाजा होम की तीन विधियाँ बतलाई गई हैं—अंगुलियों के अग्रभाग से, अञ्जलि के बीच से, अञ्जलि के बाँयें भाग से । यहाँ वधू अञ्जलि के वामपार्श्व से ही हवन करेगी । क्योंकि नारी का वामभाग ही देवभाग कहलाता है—

'अङ्गुल्यग्रे न होतव्यं तथैवाञ्जलिभेदतः ।
अञ्जलेर्वामपार्श्वेन लाजाहोमो विधीयते ॥
वामभागस्तु नारीणां देवभाग इति स्मृतः' ।

२. जिस कन्या को अपना सोदर भाई नहीं है तो ऐसी स्थिति में उसके चचेरे, ममेरे, मौसेरे या फुफेरे भाई से भी काम चल सकता है । यदि ये भी न हों तो जाति-बान्धव भी उपयोग में आ सकते हैं—

'भ्रातृस्थाने पितृव्यस्य, मातुलस्य च यः सुतः।
मातृस्वसुः सुतस्तद्वत् सुतस्तद्वत् पितृष्वसुः।
अन्यो भ्रातुरभावे स्याद् बान्धवो जातिरेव च' ॥

३. गोभिलगृह्यसूत्र के अनुसार लाजाहोम के समय वधू के हाथ में वर का हाथ भी होना चाहिए।

ओल्डेनबर्ग ने शां० गृ० सू० (१।१३।१५) का सन्दर्भ देकर भाई की जगह पिता का विकल्प भी दिया है, जो युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता।

अथास्यै दक्षिणꣳहस्तं गृह्णाति साङ्गुष्ठम्—

'गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः। भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः।

अमोहमस्मि सा त्वꣳ सा त्वमस्यमोऽहम्। सामाहमस्मि ऋक् त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वम्।

तावेहि विवाहावहै सह रेतो दधावहै, प्रजां प्रजनयावहै, पुत्रान् विद्यान्वहै बहून्। ते सन्तु जरदष्टयः सम्प्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यमानौ। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतमिति ॥ १।६।३ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अथास्यै······शतमिति'। अथ लाजाहोमानन्तरम् अस्यै अस्याः कुमार्या दक्षिणं हस्तं गृह्णाति स्वदक्षिणहस्तेन आदत्ते। कीदृशं हस्तं साङ्गुष्ठं अङ्गुष्ठेन सहितं गृभ्णामि ते सौभगत्वायेत्यादि शृणुयाम शरदः शतमित्यन्तं मन्त्रं पठति वरः ॥ १।६।३ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'अथास्यै·····शतमिति'। अस्यै इति चतुर्थी षष्ठ्यर्थे, अस्याः कुमार्याः दक्षिणं साङ्गुष्ठमङ्गुष्ठसहितं हस्तं गृह्णाति वरः स्वहस्तेनादत्ते गृभ्णामि ते इति मन्त्रेण। अथशब्दोऽत्र स्वस्थाने तिष्ठता कर्तव्यमिति द्योतनार्थः। मन्त्रार्थः—हे कन्ये ! ते तव हस्तं करं गृभ्णामि गृह्णामि। 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' इति भत्वम्। यथा येन गृहीतहस्तेन मया पत्या भर्त्रा सह जरदष्टिः जरच्छरीरा बहुवर्षायुष्मती आसः भवसीत्यर्थे निपातः। ग्रहणमेव तावत्कृत्यं (?) तत्राह—भगादयस्त्रयो देवास्त्वा त्वां मह्यमदुः दत्तवन्तः। किमर्थम् ? गार्हपत्याय गृहस्वामिनीत्वाय भाविगार्हपत्यं सेवितुं वा। किं च सौभगत्वाय सुभगानां समूहः सौभगं तस्य भावः सौभगत्वं तस्मै तदर्थम्, निरतिशयानन्दावाप्तय इत्यर्थः। किम्भूताम् ? त्वां पुरन्धिः पुरधिं द्वितीयार्थे प्रथमा। श्रेष्ठा सुरूपवती वा। तथा च श्रुतिः—पुरन्धिर्योषिति योषित्येवरूपं दधातीति। हे कन्ये ! यत्र अमो विष्णुरुद्रब्रह्माऽहमस्मि अमति सर्वत्र गच्छति सर्वं जानाति वेति, न मिनोति हिनस्तीति वा अमः तथा सौति सुवति सूते वा विश्वमिति सा लक्ष्मीस्त्वमसि। किञ्च सा देवीत्रयीरूपा त्वमसि अमो देवत्रयरूपोऽहमस्मि। किञ्च अहं सामास्मि त्वं ऋगसि अहं द्यौरस्मि त्वं पृथिव्यसि तावेवावां वित्रहावहै विवाहं करवावहै। सह संयुक्तौ भूत्वा रेतः पुत्रदेहरूपं दधावहै धारयाव। ततः प्रजां स्त्रीरूपां सन्ततिं प्रजनयावहै

उत्पादयाव। पुत्रान् पुत्रपौत्रादीन् बहून् विन्द्यावहै लभावहै। ते च पुत्रा जरदष्टयः शतायुषः सन्तु। आवामपि सम्प्रियौ सम्यक् प्रीतौ परस्परप्रेमशालिनौ रोचिष्णू सुदीप्तौ शोभमानौ वा सुमनस्यमानौ शोभनमनोवृत्तिं कुर्वाणौ सुमनसो भावः सौमनस्यं तत्कुर्वाणावित्यर्थः। सन्त्विति क्रियां विपरिणमय्य योज्यम्। इन्द्रियपाटवमाशास्ते वयं च पुत्रादिसहिताः शतं शरदो वत्सरान्पश्येम रूपग्रहणसमर्थाः स्याम। तथा शतं शरदो जीवेम निरुपद्रवं प्राणान्धारयाम। तथैव शरदः शतं शृणुयाम निर्दुष्टं शब्दग्रहणसमर्थमस्माकं श्रवणेन्द्रियं भवत्वित्यर्थः ॥ १।६।३ ॥

अनुवाद—इसके बाद वधू के दाहिने हाथ को अंगूठे के साथ पकड़े और 'गृभ्णामि' इत्यादि मंत्र पढ़े।

मन्त्रार्थ—(ऋषि याज्ञवल्क्य, छन्द त्रिष्टुप्, देवता लिङ्गोक्त।) हे कन्ये! सौभाग्यकामना से मैं तुम्हारा यह दाहिना हाथ पकड़ता हूँ। मेरे साथ ही तुम भी दीर्घायु बनो। भग, अर्यमा और सविता देवताओं ने मुझे सर्वोत्कृष्ट और सर्वाधिक सुन्दर समझकर तुम्हें गार्हस्थ्य जीवन का आनन्द लेने के लिए सौंपा है।

(ऋषि भरद्वाज, छन्द उष्णिक्, देवता विष्णु।) हे कन्ये! मैं विष्णु हूँ, तुम लक्ष्मी हो; मैं त्रिदेव स्वरूप हूँ और तुम देवीरूपा हो; मैं साम हूँ और तुम ऋचा; मैं आकाश हूँ और तुम धरती।

(ऋषि अथर्वा-प्रजापति, छन्द अनुष्टुप्-यजुष्, देवता विष्णु।) आओ, हम दोनों परिणयसूत्र में बँधें, एक साथ वीर्य धारण करें, संतान उत्पन्न करें, हमें बहुसंख्यक पुत्र हों। हमारी वे सन्तानें दीर्घायु हों और हम दोनों एक-दूसरे के प्रति अनुरक्त हों, हम दोनों दीप्तिमय एवं एक-दूसरे के प्रति संतुष्ट रहें। हम सौ साल तक एक-दूसरे को देखते-सुनते हुए जीवित रहें।

प्रथमकाण्ड में षष्ठ कण्डिका समाप्त।

सप्तमी कण्डिका

शिलारोहणम्

अथैनामश्मानमारोहयत्युत्तरतोऽग्नेर्दक्षिणपादेन—
आरोहेममश्मानमश्मेव त्वᳬ स्थिरा भव।
अभितिष्ठ पृतन्यतोऽवबाधस्व पृतनायत ॥ इति ॥ १।७।१ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अथैनाम·······तनायत इति'। अथ पाणिग्रहणानन्तरमेनां वधूमश्मानं दृषदमुत्तरतोऽग्नेर्ध्रियमाणं दक्षिणपादेन कृत्वा आरोहयति आरोहेममित्यादिपृतनायत इति मन्त्रेण ॥ १।७।१ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'अथैना······नायत इति'। अथ धृतकर एव वर एनां वधूमुत्तरतोऽग्नेः स्थापितमश्मानं पाषाणं दक्षिणपादेन कृत्वा आरोहयत्यारोहेममश्मानमित्यनेन मन्त्रेण मन्त्र एव कारितार्थे। वासुदेवेन कुमार्या दक्षिणपादं हस्तेन गृहीत्वा अश्मानमुपरि वरः करोतीत्युक्तं, कारिकायाम्—'गत्वोभावुत्तरेणाग्निं तस्याः सव्येतरं करम्। सव्येनादाय हस्तेन वधूपादं तु दक्षिणम् ॥ शिलामारोहयेत्प्रागायतां दक्षिणपाणिना'। इति। मन्त्रपाठश्च वरस्य न कुमार्याः। मन्त्रार्थः—हे कन्ये ! इमं पुरोवर्तिनमश्मानं प्रस्तरमारोह आक्रम अधितिष्ठेति यावत्। आरोहणेन संस्कृता त्वमश्मेव पाषाणवत् स्थिरा दृढा भव। किञ्च अभि अधिकृत्य आक्रम तिष्ठ, कान् ? पृतनां सङ्ग्राममिच्छन्ति पृतन्यन्ति त एव पृतन्यतः तान् पृतन्यतः कलहकारिण इत्यर्थः। ततश्च पृतनाभिः सेनाभिर्यंतन्त इति पृतनायतः तान्पृतनायतः अव अवाचीनान्कृत्वा बाधस्व भग्नोद्यमान्कुरु ॥ १।७।१ ॥

अनुवाद—विवाह के बाद वर 'आरोहेममश्मानम्' इत्यादि मंत्र पढ़ते हुए वधू को अग्नि के उत्तर में रखे हुए पत्थर पर दाहिना पैर रखने को कहे।

मन्त्रार्थ—(ऋषि अथर्वा, छन्द अनुष्टुप्, वधू देवता।) हे वधू ! आगे रखे इस पत्थर पर पैर रखकर तुम चढ़ो, हमारे घर में चट्टान की तरह तुम सदैव सुदृढ़ बनी रहो। हम पर जो भी आक्रमण करे, उसके सारे प्रयासों को तुम विफल बनाती रहो।

गाथागानम्

अथ गाथां गायति—
सरस्वति प्रेदमव सुभगे वाजिनीवती।
यां त्वा विश्वस्य भूतस्य प्रजायामस्याग्रतः ॥
यस्यां भूतᳬ समभवद् यस्यां विश्वमिदं जगत्।
तामद्य गाथां गास्यामि ता स्त्रीणामुत्तमं यश इति ॥ १।७।२ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अथ गाथां गायति' । अथ अश्मारोहणानन्तरं गाथां गायति । तां गाथामाह—'सरस्वति······यश इति' । इमं मन्त्रं पठति गाथागाने ॥ १।७।२ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'अथ गाथां······यश इति' । अथ कन्याया दक्षिणपादे अश्मनि निहित एव वरः सरस्वतिप्रेदमवेति इमां गाथां गायति । मन्त्रार्थः—हे सरस्वति वाग्देवते ! सुभगे कल्याणि वाजिनीवती वाजः अन्नं तदस्ति अस्यामिति वाजिनीवती अन्नवती, यद्वा वाजाः पक्षाः सन्त्यस्या इति वाजिनी हंसी, तद्वतीदं युग्मं कर्म च प्राव प्रकृष्टतया अव रक्ष । त्वा त्वामस्य विश्वस्य भूतस्य जातस्य पृथिव्यादेर्वा प्रजायां प्रकृष्टां जनित्रीमाहुः, किम्भूतामग्रतः प्रथमां, तदेव प्रपञ्चयति—यस्यां प्रकृतिरूपायां त्वयीदं सर्वं विश्वं तथाभूतं पृथिव्यादि सर्वं जगत् अस्तं गच्छत् आस प्रलये लीनमित्यर्थः । पुनः सृष्ट्यादौ च यस्याः सकाशात्समभवत् जातं तस्याः सरस्वत्याः सम्बन्धिनीं तां गाथां गुणप्रभावस्तुतिप्रकाशिकामद्य गास्यामि या श्रुता सती स्त्रीणामुत्तमं श्रेष्ठं यशः कीर्तिं ददाति ॥ १।७।२ ॥

अनुवाद—इसके बाद गाथा गाये—

मन्त्रार्थ—(ऋषि विश्वावसु, छन्द अनुष्टुप्, देवता सरस्वती ।) हे देवि सरस्वति ! तुम अन्नवती हो, कल्याणमयी हो, इन दोनों कर्म की रक्षा करो । वह गाथा मैं गा रहा हूँ, जिसमें तुम्हें सम्पूर्ण जीवों की जननी कहा गया है । प्रकृति रूप में तुम्हीं आदिमाता हो । यह सारी दुनियाँ तुम्हीं में लीन हो जाती है । मैं वही गाथा गा रहा हूँ, जिसमें तुम्हारे नारी रूप में विविध यशस्वी कर्मों का वर्णन है ।

अथ परिक्रामतः—

तुभ्यमग्रे पर्यवहन्सूर्यां वहतु ना सह ।
पुनः पतिभ्यो जायां दाग्ने प्रजया सह । इति ॥ १।७।३ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अथ परिक्रा······सहेति' । अथ गाथायां समाप्तायामग्निं प्रादक्षिण्येन परिक्रामतो वधूवरौ, तत्र मन्त्रः—'तुभ्यमग्रे पर्यवहन्नि'त्यादिकस्य प्रजया सहेत्यन्तस्य मन्त्रस्य वरपठितस्यान्ते । अत्र हस्तग्रहणादिपरिक्रमणान्तेषु कर्मसु वर एव मन्त्रान्पठति ॥ १।७।३ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'अथ परिक्रा······सहेति' । अथ धृतकरावेव वरवध्वौ अग्नेः परिक्रमणं कुरुतस्तुभ्यमग्र इत्यनेन मन्त्रेण । मन्त्रश्च लिङ्गाद्वरस्यैव । मन्त्रार्थः—हे अग्ने ! तुभ्यं तदर्थमेव सोमादयः अग्रे पूर्वं जन्मदिनादारभ्य पर्यवहन् परिगृहीतवन्तः ततः सूर्यां सूर्यसम्बन्धिनीं भार्यामिमां भवान्वहतु । किम्भूतः ? ना पुरुषः परमपुरुषार्थहेतुरित्यर्थः । तां जायां जायात्वेन पुनः पश्चात्स्वभोगानन्तरं प्रजया पुत्रैः सह मह्यं दाः देहि । सन्धिरार्षः ॥ १।७।३ ॥

अनुवाद—वर-वधू अग्नि की परिक्रमा करते हुए यह मंत्र पढ़ें—

मन्त्रार्थ —(ऋषि अर्यमा, छन्द अनुष्टुप्, देवता अग्नि ।) हे अग्निदेव ! तुम्हारे लिए ही साम प्रभृति देवताओं ने जन्म से लेकर अब तक इस कन्या का पाणिग्रहण किया है। अब सूर्य की सम्बन्धिनी इस भार्या का भार आप ग्रहण करें, स्वयं इसे भोगें, तदनन्तर सन्तानसुख के लिए आप इसे मुझको दें।

एवं द्विरपरं लाजादि ॥ १।७।४ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'एवं द्विरपरँल्लाजादि'। एवमुक्तप्रकारेण द्विः वारद्वयमपरं पुनरपि लाजादि कुमार्या भ्रातेत्यारभ्य परिक्रमणान्तं कर्म भवति ॥ १।७।४ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—एवमनेन प्रकारेण 'द्विरपरं लाजादि'। कुमार्या भ्रातेत्याद्यारभ्य परिक्रमणान्तं यावत्कर्मोक्तं तावद् द्विः वारद्वयमपरं पुनर्भवति ॥ १।७।४ ॥

अनुवाद—इसी तरह दो बार और लाजाहोम, पाणिग्रहण, अश्मारोहण, गाथागान और अग्नि की प्रदक्षिणा करे।

चतुर्थꣳशूर्पकुष्ठया सर्वाँल्लाजानावपति भगाय स्वाहेति ॥ १।७।५ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'चतुर्थꣳ···स्वाहेति'। ततस्तृतीयपरिक्रमणानन्तरं कुमार्या भ्राता शूर्पकुष्ठया शूर्पस्य कोणेन सर्वान् यावच्छूर्पेऽवशिष्टान् लाजान् कुमार्या अञ्जलौ आवपति निक्षिपति। तान् लाजान् तिष्ठती कुमारी भगाय स्वाहेति मन्त्रेण चतुर्थं जुहोति। ततः समाचारात्तूष्णीं चतुर्थं परिक्रमणं वधूवरौ कुरुतः नेतरथावृत्तिम् इतरथावृत्तेः कारणस्य व्यवायस्याभावात्। ब्रह्माग्न्योरन्तरागमनं हि इतरथावृत्तिकारणं, कुत इति चेत् 'हविःपात्रस्वाम्यृत्विजां पूर्वं पूर्वमन्तरमृत्विजां च यथापूर्वम्' इति परिभाषासूत्रात्। तेन परिक्रमणं कुर्वन्तौ वधूवरौ ब्रह्माग्न्योर्मध्ये न गच्छेताम् ॥ १।७।५ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'चतुर्थꣳ···स्वाहेति'। तृतीयप्रक्रमे समाप्ते चतुर्थलाजाहोमं जुहुयात्। तत्रायं विशेषः—कुमार्या भ्राता शूर्पकुष्ठया शूर्पकोणेन शूर्पे अवशिष्टान् सर्वाँल्लाजान् कुमार्या अञ्जलावावपति तान्कुमारी भगाय स्वाहेत्यनेन मन्त्रेण जुहोति। अत्र हरिहरमिश्रैरबुद्ध्वैव पाण्डित्यं कृतमस्ति, तत्र तेषां ग्रन्थः—ततः समाचारात्तूष्णीं चतुर्थं परिक्रमणं वधूवरौ कुरुतः नेतरथावृत्तिम्, इतरथावृत्तेः कारणस्य व्यवायस्याभावात्। ब्रह्माग्न्योरन्तरागमनं हीतरथावृत्तिकारणं कुत इति चेत्। हविष्पात्रस्वाम्यृत्विजा पूर्वं पूर्वमन्तरमृत्विजां च यथापूर्वमिति परिभाषासूत्रात् तेन परिक्रमणं कुर्वन्तौ वधूवरौ ब्रह्माग्न्योर्मध्ये न गच्छेताम् इति। सर्वोऽप्ययं ग्रन्थस्तावदशुद्धः। नहीतरथावृत्तिकारणं व्यवायः, किं तर्हि वचनादप्रदक्षिणावर्तनं कृत्वा प्रदक्षिणावर्तनं वा कृत्वा इतरथावृत्तिः कार्या? तथा च परिभाषासूत्रम्—विवृत्यावृत्यवेतरथावृत्तिरिति। अयमर्थः—विवृत्याप्रदक्षिणमावर्तनं कृत्वा आवृत्य प्रदक्षिणमावर्तनं कृत्वा इतरथावृत्तिः प्रत्यावृत्तिः कर्तव्या। यत्र शास्वतः प्रदक्षिणावृत्तिः कृता तत्र तदानीमेवाप्रदक्षिणावृत्तिरविहिताऽपि सर्वत्र कर्तव्या, यत्र चाप्रदक्षिणावृत्तिः कृता तत्र तदानीमेव प्रदक्षिणावृत्तिरविहिताऽपि सर्वत्र कर्तव्या, (यत्र चाप्रदक्षिणावृत्तिः कृता तत्र प्रदक्षिणावृत्तिः) इति। ब्रह्माग्न्योर्मध्ये वधूवरौ न गच्छेतामित्येतस्य हेतूपन्यासार्थं हविष्पा-

त्रेति सूत्रं दर्शितं तदपि विपरीतं, नह्येतत्सूत्राद् ब्रह्माग्न्योर्मध्ये वधूवरौ न गच्छत इत्यायाति किन्त्वेतस्मादेव सूत्रान्मध्ये गमनम्। हविष्पात्रेत्यस्यार्थः—हविर्व्रीह्यादि पात्राणि शूर्पादीनि स्वामी कर्मजन्यफलभोक्ता यजमानः पत्नी च ऋत्विजो ब्रह्माद्याः एतेषामेकत्र समावेशे सति पूर्वं पूर्वमस्मिन्सूत्रे प्रथमं प्रथममुपदिष्टमन्तरमग्निसन्निकृष्टं भवति अर्थात्पश्चात्पश्चादुपदिष्टं तदपेक्षया बहिर्भवति हविरादीनामितस्ततो नयने ऋत्विग्यजमानानां चेतस्ततो गमनागमने कर्मार्थमुपवेशने च सर्वत्राप्ययमन्तर्बहिर्भावो ज्ञेय इत्यर्थः। ऋत्विजां ब्रह्मादीनामेकत्र समावेशने चान्तर्बहिर्भावः। ततश्च वधूवरावग्नेः प्रदक्षिणं कुर्वन्तौ अन्तरङ्गत्वात्तन्मध्य एव गच्छेतामिति। तथा च कारिकायाम्—'दम्पत्योर्गच्छतोस्तत्र ब्रह्माग्नी अन्तरा गतिः' इति ॥ १।७।५ ॥

अनुवाद—'भगाय स्वाहा' इस मंत्र का उच्चारण करते हुए वधू चौथी आहुति में सूप के कोने से धान के सभी शेष लावाओं को आग में डाल दे।

त्रिः परिणीतां प्राजापत्यꣳ हुत्वा ॥ १।७।६ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'त्रिः परि······हुत्वा'। पूर्ववदुपविश्य प्रजापतये स्वाहेति ब्रह्मान्वारब्धो हुत्वा इदं प्रजापतय इति त्यागं विधाय ॥ १।७।६ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'त्रिः परि······हुत्वा'। त्रिः परिणीतां सतीं कुमारीं प्राजापत्यं प्रजापतिदेवताकहोमं कृत्वा त्रिर्ग्रहणमितरथावृत्तिव्युदासार्थम्। उक्तं हि परिभाषायां—'विवृत्यावृत्य वेतरथावृत्तिरि'ति। अत्राचारात्तूष्णीं चतुर्थं परिक्रमणं कुरुत इति वासुदेवगङ्गाधरहरिहररेणुदीक्षिताः ॥ १।७।६ ॥

अनुवाद—तीन बार परिक्रमा कराने के बाद वधू को बिठाकर आचार्य 'प्रजापतये स्वाहा' कहकर प्रजापति को आहुति देकर पुनः दूसरा कार्य प्रारम्भ करे।

टिप्पणी—लाजा होम में प्रत्येक बार तीन-तीन मंत्रों से आहुतियाँ दी जाती हैं। साथ ही परिक्रमा भी चलती रहती है। इस प्रकार तीन बार तो मंत्रोच्चारपूर्वक तथा चौथी बार मौन परिक्रगा होती है। विवाह में पारस्कर के अनुसार सात की जगह यही चार परिक्रमाएँ होती हैं। प्रदक्षिणा के बाद वर उत्तर की ओर सात कदम आगे बढ़ता है, यही सप्तपदी का क्रम माना गया है।

इस सन्दर्भ में हरिहर के भाष्य से गदाधर असहमत हैं। हरिहर-भाष्य के समर्थकों में गंगाधर, रेणु दीक्षित और वासुदेव प्रभृति प्रमुख हैं।

'हविष्पात्रं स्वामृत्विजां पूर्वं पूर्वमनन्तरमृत्विजां च यथापूर्वमिति'। परिभाषा-सूत्र के इस वचन को आधार मानकर हरिहर का कहना है कि चुपचाप चतुर्थ परिक्रमा करते हुए 'वर-वधू' ब्रह्मा और अग्नि के बीच से न जायें।

किन्तु लाजाहोम के प्रसङ्ग में 'अग्निपरिणयन' का विधान है। यह कैसे सम्भव होगा? देवपरिक्रमा की तरह ही तीन बार अग्नि-परिक्रमा भी होती है। अग्निसामीप्य के विधान के कारण ही वर-वधू को ब्रह्मा और अग्नि के बीच से गुजरना चाहिए। यहाँ परिभाषा-सूत्र का निर्देश यह है कि हविष् अर्थात् व्रीहि आदि, पात्र—

सूप इत्यादि, स्वामी=यजमान वधू-वर तथा ब्रह्मा आदि ऋत्विक्, इनमें पूर्व-पूर्व उत्तर-उत्तर की अपेक्षा अग्नि का सामीप्य अधिक उपयुक्त है। जब हविष् अन्तरंग है तो पात्र बहिरंग, जब पात्र अन्तरंग है तो हविष् बहिरंग, जब पात्र अन्तरङ्ग है तो यजमान बहिरंग और जब यजमान अन्तरङ्ग है तो ब्रह्मा प्रभृति बहिरंग। तात्पर्य यह कि जब ब्रह्मा अन्तरङ्ग होंगे तब यजमान बहिरङ्ग। ऐसा होने पर परिभाषासूत्र का स्वतः विरोध होगा, जो यह बतलाता है कि यजमान अर्थात् वर-वधू ब्रह्मा की अपेक्षा अधिक अन्तरङ्ग है। इन्हें अग्नि का सामीप्य अधिक आवश्यक है। परिभाषासूत्र के इस आशय की अवहेलना के कारण ही हरिहर ने उलटा अर्थ किया है। इसीलिए उन पर तीव्र प्रहार करते हुए गदाधर ने कहा है—'अत्र हरिहरमिश्रैरबुध्वैव पाण्डित्यं कृतमस्ति।'

तात्पर्य यह है कि वर-वधू को ब्रह्मा के पीछे से नहीं, प्रत्युत ब्रह्मा और अग्नि के बीच से ही परिक्रमा करनी चाहिए। इसकी सम्पुष्टि प्रयोगरत्न से भी होती है। यथा—'चतुर्थपरिक्रमणवर्ज्यं ब्रह्माग्नी अन्तरागतिर्भवेदिति'।

प्रथमकाण्ड में सप्तम कण्डिका समाप्त।

अष्टमी कण्डिका

सप्तपदीक्रमः

अथैनामुदीचीं सप्त पदानि प्रक्रामयति—

एकमिषे, द्वे ऊर्जे, त्रीणि रायस्पोषाय, चत्वारि मायोभवाय, पञ्च पशुभ्यः, षड् ऋतुभ्यः, सखे सप्तपदा भव सा मामनुव्रता भव ।। १।८।१ ।।

(हरिहरभाष्यम्)—'अथैना''' '''व्रता भव' । अथ प्राजापत्यहोमानन्तरमेनां वधूमुदीचीमुदङ्मुखीं सप्तपदानि प्रक्रामयति । सप्तप्रक्रमान् दक्षिणपादेन कारयति उत्तरोत्तरं वरः । कथम्भूतां, त्रिः परिणीतां त्रीन्वारानग्नेः प्रादक्षिण्येनानीतामिति व्यवहितेन सम्बन्धः । कुतः ? पाठक्रमादर्थक्रमो बलीयानिति न्यायात् ।। १।८।१ ।।

(गदाधरभाष्यम्)—'अथैना''''''व्रता भव' । अथ वर एनां कुमारीमग्नेरुत्तरत. उदीचीमुदङ्मुखीम् एकमिष इत्येतैः सप्तमन्त्रैः सप्तपदानि प्रक्रामयति प्रक्रमणं कारयति । कारितत्वात्सप्तपदानि प्रक्रमस्वेत्यध्येषणेति । कुमार्या दक्षिणपादं गृहीत्वा अग्रे अग्रे स्थापयतीत्यन्ये ।। १।८।१ ।।

अनुवाद—प्राजापत्य होम के बाद वधू को 'एकमिषे' इत्यादि क्रमशः मन्त्रोच्चार करता हुआ वर उत्तर की ओर सात कदम चलाता है ।

मन्त्रार्थ—हे कन्ये ! तुम्हारा पहला कदम अन्न के लिए, दूसरा कदम शक्ति के लिए, तीसरा कदम धन के लिए, चौथा कदम सुख के लिए, पाँचवाँ कदम पशुधन के लिए, छठा ऋतुओं के लिए और सातवाँ मित्रता के लिए है । तुम मेरे कर्त्तव्य-पालन में सहायक सिद्ध हो ।

विष्णुस्त्वा नयत्विति सर्वत्रानुषजति ।। १।८।२ ।।

(हरिहरभाष्यम्)—एकमिष इत्यादिभिः सप्तभिर्मन्त्रैः । तद्यथा—एकमिषे विष्णुस्त्वा नयत्विति वरेणोक्ते मन्त्रे वधूरेकं पदमुदंगददाति । तथा द्वे ऊर्जे विष्णुस्त्वा-नयत्विति मन्त्रान्ते द्वितीयम् । त्रीणि रायस्पोषाय विष्णुस्त्वा नयत्वित्युक्ते तृतीयम् । चत्वारि मायोभवाय विष्णुस्त्वा नयत्वित्युक्ते चतुर्थम् । पञ्च पशुभ्यो विष्णुस्त्वा नयत्वित्युक्ते पञ्चमम् । षडृतुभ्यो विष्णुस्त्वा नयत्वित्युक्ते षष्ठम् । सखे सप्तपदा भव सा मामनुव्रता भव विष्णुस्त्वा नयत्वित्युक्ते सप्तमम् । विष्णुत्वा नयत्वित्येतावन्मन्त्रभागं सर्वत्र एकमिष इत्यादिसर्वेषु मन्त्रेषु अनुषजति सम्बध्नाति ।। १।८।२ ।।

(गदाधरभाष्यम्)—विष्णुस्त्वा नयत्विति सर्वत्र षट्सु मन्त्रेषु अनुषङ्गः न तु सप्तमे मन्त्रे, तुल्ययोगित्वात्साकाङ्क्षत्वाच्च पूर्वमन्त्राणामिति कर्काचार्यः । अन्येषां भाष्यकाराणां पद्धतिकाराणां च मते सर्वमन्त्रेष्वनुषङ्गः । मन्त्रपाठो वरस्य । अत्रैवं प्रयोगः—एकमिषे विष्णुस्त्वा नयतु । द्वे ऊर्ज्जे विष्णुस्त्वा नयतु । त्रीणि रायस्पोषाय वि० । चत्वारि मायो

भवाय वि० । पञ्च पशुभ्यो वि० । षडृतुभ्यो वि० । सप्तमे प्रक्रमे सखे सप्तपदा भव सा मामनुव्रता भवेति । प्रक्रमेषु सव्यपादस्य नातिक्रमणमिति रेणुदीक्षिताः । मन्त्रार्थः— इषे अन्नाय ऊर्ज्जे बलाय रायस्पोषाय धनपुष्ट्यै मायः सुखं तस्य भव उत्पत्तिः पश्वादिभ्यस्तत्तत्सुखाय । सखे ! इहामुत्र सा त्वं सप्तपदा भूरादिसप्तलोकप्रख्याता भव मामनुवर्तिनी च भव ॥ १।८।२ ॥

अनुवाद—'विष्णुस्त्वा नयतु' यह अंश पूर्वोक्त सातों मंत्र के साथ जोड़ा जाय ।

टिप्पणी—(१) एकमिषे विष्णुस्त्वा नयतु (पहला कदम)। इसी तरह— (२) द्वे ऊर्जे विष्णुस्त्वा नयतु । (३) त्रीणि रायष्पोषाय विष्णुस्त्वा नयतु । (४) चत्वारिमायोभवाय विष्णुस्त्वा नयतु । (५) पञ्च पशुभ्यो विष्णुस्त्वा नयतु । (६) षड्ऋतुभ्यो विष्णुस्त्वा नयतु । (७) सखे सप्तपदा भव, सा मामनुव्रता भव विष्णुस्त्वा नयतु ।

'विष्णुस्त्वा नयतु' अंश का अर्थ है—विष्णु तुम्हें इस कार्य के लिए प्रेरित करें ।

अभिषेचनम्

निष्क्रमणप्रभृत्युदककुम्भꣳस्कन्धे कृत्वा दक्षिणतोऽग्नेर्वाग्यतः स्थितो भवति ॥ १।८।३ ॥

उत्तरत एकेषाम् ॥ १।८।४ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—निष्क्रमणप्रभृत्युदकुम्भꣳस्कन्धे कृत्वा दक्षिणतोऽग्नेर्वाग्यतः स्थितो भवत्युत्तरत एकेषाम् । निष्क्रमणप्रभृति पित्रा प्रत्तामादाय गृहीत्वा निष्क्रामतीत्यादित आरभ्य कश्चित्पुरुषो जलपूर्णं कलशं स्कन्धे निधाय वधूवरयोः पृष्ठत आगत्याग्नेर्दक्षिणस्यां दिशि मौनी स्थित आस्ते केषाञ्चित्पक्षे उत्तरतः ॥ १।८।३-४ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'निष्क्रम·········भवति ।' निष्क्रमणं पित्रा प्रत्तामादाय गृहीत्वा निष्क्रामतीत्येतावदुच्यते । तदारभ्य कश्चित्पुरुषः उदकपूर्णं कुम्भं स्कन्धे गृहीत्वा विवाहाग्नेर्दक्षिणतो वाग्यतस्तूष्णीं तिष्ठेत् । एकेषामाचार्याणां मते अग्नेरुत्तरतस्तिष्ठति अतश्च विकल्पः ॥ १।८।३-४ ॥

अनुवाद—कन्यादान से लेकर जब वर वधू के साथ मण्डप से बाहर निकले, उससे पूर्व कोई व्यक्ति जल से भरे घड़े को कन्धे पर रखकर, वेदी की दाहिनी ओर चुपचाप खड़ा हो जाये । कुछ आचार्यों के अनुसार घड़े को लेकर वेदी के उत्तर की ओर खड़े हो जाये ।

तत एनां मूर्धन्यभिषिञ्चति—

आपः शिवाः शिवतमाः शान्ताः शान्ततमास्तास्ते कृण्वन्तु भेषजमिति ॥ १।८।५ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'तत एनां······भेषजमिति' । ततस्तस्मात्स्कन्धस्थितादुदकुम्भादाचारादाम्रादिपल्लवसहितेन हस्तेन जलमादायैनां वधूं मूर्द्धनि शिरस्यभिषिञ्चति वरः । आपः शिवा इत्यादिना भेषजमित्यन्तेन मन्त्रेण ॥ १।८।५ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'तत एनां......भेषजमिति'। ततस्तस्मादुदकुम्भाद्धस्तेन जलमादाय एनां वधूं मूर्धनि शिरसि वर एव आपः शिवा इत्यनेन मन्त्रेणाभिषिञ्चति। मन्त्रार्थः—या आपः शिवाः कल्याणहेतवः शिवतमाः अतिशयाभ्युदयकारिण्यः शान्ताः सुखकर्त्र्यः शान्ततमाः परमानन्ददात्र्यः ता आपस्ते तव भेषजमारोग्यं कृण्वन्तु कुर्वन्तु।

अनुवाद—उसके बाद कन्धे पर रखे कलश से आम्रपल्लव से जल लेकर 'आपः शिवा' इत्यादि मंत्र पढ़ते हुए वधू का मूर्धाभिषेक करे।

मन्त्रार्थ—परम मांगलिक एवं अत्यन्त शान्त यह जल वधू को आरोग्य प्रदान करे।

आपोहिष्ठेति च तिसृभिः ॥ १।८।६ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—पुनस्तथैवोदकमादाय आपोहिष्ठेत्यादि। आपोंजनयथाचन इत्यन्ताभिस्तिसृभिर्ऋग्भिरभिषिञ्चतीति चकारादनुषज्यते ॥ १।८।६६ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'आपो हिष्ठेति च तिसृभिः'। चशब्दात्तस्मादुदकादापो हिष्ठेति त्रिभिर्मन्त्रैरभिषेकः कार्यः ॥ १।८।६ ॥

अनुवाद—और 'आपोहिष्ठा' इत्यादि तीन ऋचाओं से भी अभिषिञ्चन करें।

टिप्पणी—'आपोहिष्ठा' इत्यादि तीन मन्त्र निम्नलिखित हैं—

(१) आपोहिष्ठामयोभुवस्तानऽऊर्जे दधातन। महेरणाय चक्षसे ॥ १ ॥

(२) यो वः शिवतमोरसस्तस्य भाजयतेहनः। उशतीरिव मातरः ॥ २ ॥

(३) तस्मा अरङ्गमामवो यस्य क्षयाय जिन्वथ। आपो जनयथा च नः ॥ ३ ॥

सूर्यदर्शनम्

अथैनाᳬ सूर्यमुदीक्षयति तच्चक्षुरिति ॥ १।८।७ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अथैनाᳬ....च्चक्षुरिति'। अथाभिषेकादुपरि सूर्यमुदीक्षस्वेति प्रैषेण सूर्यमेनां वधूं वर उदीक्षयति सूर्यनिरीक्षणं कारयतीत्यर्थः। सा च वरप्रेषिता सती तच्चक्षुरिति मन्त्रेण स्वयं पठितेन सूर्यं निरीक्षते दिवाविवाहपक्षे ॥१।८।७॥

(गदाधरभाष्यम्)—'अथैनाᳬ.........चक्षुरिति'। अथैनां वधूं वरः सूर्यमुदीक्षयति सूर्यविक्षणं कारयति उदीक्षयतीति कारितत्वात् अध्येषणा सूर्यमुदीक्षस्वेति। सा च वरेण प्रेरिता सूर्यं पश्यति तच्चक्षुरित्यनेन मन्त्रेण। दिवाविवाहपक्षे एतदिति रेणुदीक्षितहरिहरौ। अस्माभिस्तु सूर्यविक्षणान्यथाऽनुपपत्त्या अस्तमिते ध्रुवं दर्शयतीत्यत्रास्तमितग्रहणाच्च एतद्गृह्यानुसारिणां दिवैव विवाह इत्युच्यते ॥ १।८।७ ॥

अनुवाद—इसके बाद वधू को 'तच्चक्षुरित्यादि' मंत्र पढ़ते हुए सूर्यदर्शन कराये।

टिप्पणी—संभवतः पारस्कर ने दिवा-विवाह का विधान किया है। अन्यथा रात्रिकाल में सूर्यदर्शन तो सम्भव नहीं है।

हृदयालम्भनम्

अथास्यै दक्षिणाᳬसमधि हृदयमालभते—

मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु।

मम वाचमेकमना जुषस्व प्रजापतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम् इति ॥१।८।८॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अथास्यै······मालभते'। अथ सूर्येक्षणानन्तरमस्यै इति षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। अस्या वध्वाः दक्षिणां समधि दक्षिणस्य स्कन्धस्योपरि हस्तं नीत्वा तस्या हृदयमालभते वरः स्पृशति। 'मम व्रते···मह्यम्' इत्यनेन मन्त्रेण ॥ १।८।८ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'अथास्यै···मह्यमिति'। अस्या इति चतुर्थी षष्ठ्यर्थे। अस्याः वध्वाः दक्षिणांसमधि दक्षिणस्य अंसस्य स्कन्धस्य अधि उपरि हस्तं नीत्वा मम व्रते त इत्यनेन मन्त्रेण तस्या हृदयमालभते वरः। हे कन्ये ! इत्यध्याहारः। मम व्रते शास्त्रविहितनियमादौ ते तव हृदयं मनः दधामि स्थापयामि। किञ्च मम चित्तमनु मम चित्तानुकूलं ते तव चित्तमस्तु। त्वं च मम वाचं वचनम् एकमना अव्यभिचारिमनोवृत्तिर्जुषस्व हृष्टचित्ताऽऽदरेण कुरुष्व। त्वा त्वां स च एव प्रजापतिर्मह्यं मदर्थं मां प्रसादयितुमित्यर्थः, नियुनक्तु नियोजयतु ॥ १।८।८ ॥

अनुवाद—'मम व्रते' इत्यादि मन्त्र पढ़ता हुआ वर वधू के दाहिने कन्धे के ऊपर से हाथ लाकर हृदय का स्पर्श करे।

मन्त्रार्थ—(ऋषि परमेष्ठी, छन्द त्रिष्टुप्, देवता प्रजापति।) 'हे कन्ये ! शास्त्रविहित नियमों के पालन हेतु मैं तुम्हारे हृदय का स्पर्श करता हूँ। तुम्हारी चित्तवृत्तियाँ मेरे मनोनुकूल बन जायें। तुम एकनिष्ठभाव से मेरे कथनों का अनुगमन करो। प्रजापति देवता तुम्हें मेरे साथ संयुक्त करें। तुम प्रत्येक दृष्टि से मेरी सहयोगिनी बनो।

अभिमन्त्रणम्

अथैनामभिमन्त्रयते—

सुमङ्गलीरियं वधूरिमाᳬसमेत पश्यत। सौभाग्यमस्यै दत्त्वा याथास्तं विपरेतनेति ॥ १।८।९ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अथैनाम···तन' इत्यन्तं सूत्रम्। अथ हृदयालम्भनानन्तरमेनां वधूं वरोऽभिमन्त्रयते। सुमङ्गलीरित्यादिना मन्त्रेण अत्र शिष्टसमाचारात् उत्तरत आयतना हि स्त्रीति श्रुतिलिङ्गाच्च वधूं वरस्य वामभागे उपवेशयति ॥१।८।९॥

(गदाधरभाष्यम्)—'अथैना······रेतनेति'। वर एनां वधूं सुमङ्गलीरित्यनेन मन्त्रेणाभिमन्त्रयते। अत्राचाराच्चतस्रः स्त्रियो मङ्गलं कुर्वन्ति। तथा च कारिकायां—पतिपुत्रान्विता भव्याश्चतस्रः सुभगा अपि। सौभाग्यमस्यै दद्युस्ता मङ्गलाचारपूर्वकम् ॥ इति। मन्त्रार्थः—हे विवाहदेवताः ! इयं वधूः सुमङ्गलीः शोभनमङ्गलरूपा विसर्गश्छान्दसः। अत इमां कन्यां समेत सङ्गच्छत सङ्गत्य च इमां पश्यत दृष्ट्या विलोकयत। किञ्च अस्यै कन्यायै सौभाग्यं दत्त्वा अस्तं गृहं याथ यात इत्यर्थः। न विपरेत न विमुखतया पराइत अपगच्छत। पुनरपि पुत्रादिमङ्गलमाशास्य पुनरागमनाय व्रजत इत्यर्थः। यद्वा यद्यस्तं याथ तर्हि न विपरेतेति अस्तं गृहा इति श्रुतेः ॥ १।८।९ ॥

अनुवाद—हृदयस्पर्श के बाद वर वधू को 'सुमङ्गलीरियं' इत्यादि मन्त्रोच्चार करते हुए अभिमंत्रित करे। (इस मंत्र द्वारा सिन्दूर-दान का भी आचार है)।

मन्त्रार्थ—(ऋषि प्रजापति, छन्द अनुष्टुप्, देवता विवाहाधिष्ठातृ ।) ओ विवाह की अधिष्ठात्री देवियो ! यह वधू मंगलमयी है, तुम संगठित होकर समवेत रूप से इसका अवलोकन करो, इसके सौभाग्य और इसकी सन्तान को मंगलमय आशीर्वाद देकर ही तुम स्थान पर जाओ, विमुख होकर नहीं ।

तां दृढपुरुष उन्मथ्य प्राग्वोदग्वाऽनुगुप्त आगार आनडुहे रोहिते चर्मण्युपवेशयति—

इह गावो निषीदन्त्विहाश्वा इह पूरुषाः । इहो सहस्रदक्षिणो यज्ञ इह पूषा निषीदन्तु इति ॥ १।८।१० ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'तां दृढ······गाव इति' । ततस्तां वधूं दृढपुरुषः बलवान् कश्चित्पुमानुन्मथ्योत्थाप्य प्राक् पूर्वस्यां दिशि उदक् उदीच्यां वा दिशि पूर्वकल्पिते अनुगुप्ते सर्वतः परिवृते आगारे गृहे तत्र च पूर्वमास्तीर्णे आनडुहे आर्षभे रोहिते लोहितवर्णे चर्मणि अजिने प्राग्ग्रीवे उत्तरलोम्नि उपवेशयति इह गाव इत्यादिना निषीदन्त्विति । अस्य मन्त्रस्य पाठान्ते । केचन जामातैव दृढपुरुष इत्याहुः, तत्पक्षे जामातैव वधूमुत्क्षिप्य मन्त्रमुक्त्वा चर्मण्युपवेशयति । तत आगत्य यथास्थानमुपविश्य ब्रह्मणाऽन्वारब्धः स्विष्टकृद्धोमं विधाय संस्रवं प्राश्य ब्रह्मणे पूर्णपात्रवरयोरन्यतरं दक्षिणात्वेन दत्त्वा । 'आचार्याय वरं ददाति' वरः स्वकीयाचार्याय वरं ददाति । वरशब्दार्थमाह—'गौर्ब्राह्म······वैश्यस्य' । ब्राह्मणः परिणेता गां वरं ददाति । क्षत्रियश्चेद्वरस्तदा ग्रामं ददाति । वैश्यश्चेदश्वम् । 'अधिरथꣳ शतं दुहितृमते'—'यस्यास्तु न भवेद्भ्राता न विज्ञायेत वा पिता । नोपयच्छेत तां कन्यां पुत्रिकाधर्मशङ्कया' ॥ इति मनुवचनादभ्रातृमतीपरिणयनं प्रतिषिद्धं तदतिक्रम्य यदि कश्चित्तामुद्वहेत् तदा तस्याः पुत्रिकात्वदोषपरिहाराय च एकेन रथेन अधिकं गवां शतं तत्पित्रे दत्वा उद्वहेत् ॥ १।८।१० ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'तां दृढ······दन्त्विति' । ततो वरस्तां वधूमुन्मथ्य उत्क्षिप्य उत्थाप्य प्राक् प्राच्यामुदगुदीच्यां वा अनु गुप्ते आगारे परिवृते गृहे रोहिते रक्तवर्णे आनडुहे चर्मणि उपवेशयतीह गाव इत्यनेन मन्त्रेण चर्म च प्राग्ग्रीवमुत्तरलोमास्तीर्णं भवति, 'चर्माण्युत्तरलोमानि प्राग्ग्रीवाणि' इति परिभाषितत्वात् । दृढपुरुषः कश्चिद् बलवान् पुरुष इति हरिहरः । दृढपुरुषो जितेन्द्रिय इति भर्तृयज्ञः । जामातैव दृढपुरुष इति रेणुकदीक्षितगङ्गाधरौ । अस्माकमपि मते वर एव तस्य च दृढत्वं जितेन्द्रियत्वेन, अन्यथा वध्वा अनुगुप्तागारनयने मनसि उन्मादोत्पत्तेः, नह्यद्यापि भार्यात्वमुत्पन्नमिति । मन्त्रार्थः—इह कन्यानिवेशने गावः अश्वाः पुरुषाश्च निषीदन्तु वसन्तु इह पदावृत्तिः कर्तृभेदापेक्षया । किञ्च उ एवार्थे । इहैव सहस्रं गावो दक्षिणा यस्य स यज्ञः पूषा पुष्टिकरो निषीदतु पूषा वै सहस्रदक्षिणं आसेति श्रुतेः ॥१।८।१०॥

अनुवाद—तब कोई बलवान् पुरुष वधू को उठाकर पूर्व या उत्तर दिशा में पहले से बने कोहबर में, गाड़ी में जुतने वाले लाल बैल के चमड़े पर 'इह गावो निषीदन्तु' इत्यादि मन्त्र पढ़कर बिठा दे । (श्रीहरिहर मिश्र के अनुसार यह दृढपुरुष वर ही होता है ।)

मन्त्रार्थ—(ऋषि प्रजापति, छन्द अनुष्टुप्, लिङ्गोक्त देवता ।) इस आसन पर गायें, घोड़े और पुरुष बैठें । हजारों गायों की दक्षिणामण्डित पुष्टिकर यज्ञदेवता भी यहाँ बैठे ।

ग्रामवचनम्

ग्रामवचनं च कुर्युः ।। १।८।११ ।।
विवाहश्मशानयोर्ग्रामं प्राविशतादिति वचनात् ।। १।८।१२ ।।
तस्मात्तयोर्ग्रामः प्रमाणमिति श्रुतेः ।। १।८।१३ ।।

(हरिहरभाष्यम्)—'ग्रामवचनं च कुर्युः' । अत्र विवाहे ग्रामशब्दवाच्यानां स्वकुलवृद्धाना स्त्रीणां श्मशाने च वाक्यं कुर्युः अङ्कुरार्पणहरिद्राक्षतचन्दनादिधर्म-प्रतिपादकम् । कस्मात् ? 'विवाहश्मशानयोर्ग्रामं प्राविशतादि'ति वचनात्, 'तस्मात्तयो-र्ग्रामः प्रमाणमि'ति श्रुतेः विवाहे च श्मशाने च ग्रामं स्वकुलवृद्धाः स्त्रियः 'प्राविशतात्' शास्त्रातिरिक्तं कर्तव्यमाचारं पृच्छेदिति वचनात्, इति स्मृतेः । न केवलं स्मृतेः श्रुते-श्चापि । का सा श्रुतिः—'तस्मात्तयोर्ग्रामः प्रमाणमि'ति । यतः स्वकुलवृद्धाः स्त्रियः पूर्व-पुरुषानुष्ठीयमानं सदाचारं स्मरन्ति तस्मात्तयोर्विवाहश्मशानयोर्ग्रामः प्रमाणं सदाचार-बोधकमित्यर्थः ।। १।८।११-१३ ।।

(गदाधरभाष्यम्)—'ग्रामवचनं···चानयोः' । विवाहे श्मशाने च वृद्धानां स्त्रीणां वचनं वाक्यं कुर्युः, सूत्रे अनुपनिबद्धमपि वधूवरयोर्मङ्गलसूत्रं गले मालाधारण-मुभयोर्वस्त्रान्ते ग्रन्थिकरणं करग्रहणे न्यग्रोधपुटिकाधारणं वरागमने नासिकाधारणं वरहृदये दध्यादिलापनादि ताश्च यत्स्मरन्ति तदपि कर्तव्यमित्यर्थः । चशब्दाद्देशा-चारोऽपि । ग्रामशब्देन स्वकुलवृद्धा स्त्रियोऽभिधीयन्ते । ता हि पूर्वपुरुषैरनुष्ठीयमानं सदाचारं स्मरन्ति । ग्रामवचनं लोकवचनमिति भर्तृयज्ञः । वृद्धानां स्त्रीणां वचनं कार्य-मिति कुतः ? इत्यत आह—'ग्रामं······मिति श्रुतेः' । ग्रामं वृद्धानां स्त्रीणामाचारं प्राविशतादिति स्मृतिवचनात् । ननु ग्रामं प्राविशतादिति स्मृतिवचनाद्धरिद्रालापनादौ अस्तु प्रामाण्यं, यत्र तु अथैनामश्मानमारोहयतीत्येतदनन्तरं तूष्णीं वरस्य पाषाणावरोहणं कारयित्वा कुमार्या भ्राता वराङ्गुष्ठोपरि उपलं निधाय वराद्रूप्यादि गृह्णाति ताः स्मरन्ति तदप्रमाणं लोभमूलत्वेन वैसर्जनीयवस्त्रवदित्यत आह—तयोर्विवाहश्म-शानयोर्ग्रामः प्रमाणमिति श्रुतिवचनात्ताभिर्यत्स्मर्यते रूप्यग्रहणादि तदपि प्रमाणमिति प्रत्यक्षश्रुतिमूलत्वात् ।। १।८।११-१३ ।।

अनुवाद—इसके बाद ग्राम की वृद्ध स्त्रियाँ जो कहें, वह लोकाचार किया जाय, क्योंकि स्मृतियों में कहा गया है कि विवाह और अन्त्येष्टि संस्कारों में शास्त्रीय आचार के अतिरिक्त कुल की वृद्धाओं की वाणी को प्रमाण मानकर चलना चाहिए ।

दक्षिणादानम्

आचार्य्याय वरं ददाति ।। १।८।१४ ।।
गौर्ब्राह्मणस्य वरः ।। १।८।१५ ।।

ग्रामो राजन्यस्य ॥ १।८।१६ ॥
अश्वो वैश्यस्य ॥ १।८।१७ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'आचार्याय वरं ददाति'। ततो वरः आचार्याय स्वकीयाय वरं ददाति। 'गौर्ब्राह्म······वैश्यस्य'। वरशब्दार्थव्याख्यानं करोति ब्राह्मणश्चेत्परिणेता तदा गां वरं ददाति, क्षत्रियश्चेद्वरस्तदा ग्रामं वरं ददाति, वैश्यश्चेद्वरस्तदाऽश्वं वरं ददाति। एते वरा विवाहे एव प्रकरणात्। सर्वासु वरचोदनासु गवादयो वरशब्दवाच्या इति भर्तृयज्ञः ॥ १।८।१४-१७ ॥

अनुवाद—वर आचार्य को इस प्रकार दक्षिणा दे—ब्राह्मण-वर गाय-दान दे, क्षत्रिय-वर ग्राम-दान दे और वैश्य-वर अश्व-दान दे।

अधिरथꣳशतं दुहितृमते ॥ १।८।१८ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—अधिरथꣳ शतं दुहितृमते'। ददातीत्यनुवर्तते। दुहितृमाँश्च यस्य दुहितर एव न पुत्रास्तस्मै दुहितृमते रथेन अधिकं गोशतं दत्वा तस्य कन्यामुद्वहेत् प्रतिषेधत्यमूं मनुः—यस्यास्तु न भवेद् भ्राता न विज्ञायेत वा पिता। नोपयच्छेत तां कन्यां पुत्रिकाधर्मशङ्कया ॥ इति तस्याः परिक्रयाय रथाधिकं गवां शतं ददाति।

अनुवाद—केवल कन्या सन्तान वाले व्यक्ति को सौ गायें एवं एक रथ देकर उसकी कन्या से विवाह करें (क्योंकि बिना भाई की कन्या के साथ विवाह निषिद्ध माना गया है)।

ध्रुवदर्शनम्

अस्तमिते ध्रुवं दर्शयति—
ध्रुवमसि ध्रुवं त्वा पश्यामि ध्रुवैधि पोष्ये मयि। मह्यं त्वादाद् बृहस्पतिर्मया पत्या प्रजावती सञ्जीव शरदः शतम् इति ॥ १।८।१९ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अस्त······र्शयति'। दिवा विवाहश्चेत्तदा अस्तमिते सूर्ये अमुकि ध्रुवमीक्षस्वेति प्रैषेण वधूं ध्रुवं तारकाविशेषं दर्शयति। रात्रौ विवाहश्चेत् तदा वरदानानन्तरमेव। तद्यथा ध्रुवमसीत्यादि सञ्जीव शरदः शतमित्यन्तं वरेण पाठितेन मन्त्रेण वधूर्ध्रुवमीक्षते ॥ १।८।१९ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'अस्तमिते······शतमिति'। अस्तमिते सूर्ये वधूं ध्रुवसंज्ञं नक्षत्रं दर्शयति ध्रुवमसीत्यनेन मन्त्रेण। नात्र ध्रुवमीक्षस्वेत्यध्येषणा। अयमेव मन्त्रः कारितार्थे। अत्र कर्कभाष्यम्—अस्तमिते ध्रुवं दर्शयति ध्रुवमसीत्यनेन मन्त्रेण कारितार्थे चायमेव मन्त्रः पश्यामीत्यन्तर्भूतण्यर्थः। यदुक्तं भवति दर्शयामीति तदुक्तं भवति पश्यामीति। मन्त्रोऽपि चैवं व्यवस्थितः—ध्रुवैधिपोष्ये मयि मह्यं त्वादाद् बृहस्पतिर्मया पत्या प्रजावती सञ्जीव शरदः शतमिति। कुमार्यैवोच्यत इति। वध्वा मन्त्रपाठ इति भ्रान्तिमान् गङ्गाधरः। ध्रुवमीक्षस्वेति प्रैष इति हरिहरगङ्गाधरौ। मन्त्रार्थः—हे वधु! त्वं ध्रुवमसि ध्रुवा शाश्वती असि भवसि यतः त्वा त्वां ध्रुवं तारकाविशेषं

पश्यामि दर्शयामि। अत्रान्तर्भूतो णिच् ज्ञेयः। अतस्त्वमपि ध्रुवा शाश्वती पोष्या पोषणीया मत्प्रजापोष्ट्री वा एधि भव वर्द्धयेति वा। एतदर्थमेव बृहस्पतिर्ब्रह्मा त्वा त्वां मह्यमदात् दत्तवान्। अतो मया पत्या भर्त्रा सह प्रजावती पुत्रपौत्रादियुक्ता शतं शरदो वर्षाणि जीव प्राणिहि ॥ १।८।१९ ॥

अनुवाद—सूर्यास्त होने पर रात्रि-विवाह में वर-वधू को 'ध्रुवमसि' इत्यादि मंत्र पढ़ते हुए ध्रुव तारा दिखलाए। (रात्रि-विवाह में कन्यादान के बाद ध्रुव-दर्शन कराए।)

मन्त्रार्थ—(ऋषि परमेष्ठी, छन्द पंक्ति, देवता प्रजापति।) हे वधू! ध्रुवतारा की तरह हमारे घर में तुम अचल रहो। मैं तुम्हें ध्रुवतारे की तरह ही अचल-अटल देख रहा हूँ। ध्रुव की तरह अचल रहकर तुम मेरी सन्तति का पालन-पोषण करो। ब्रह्मा और प्रजापति ने इसीलिए तुम्हें मुझको सौंपा है। तुम पति, पुत्र और पोतों से युक्त होकर भरी-पूरी रहकर सौ साल तक जीओ।

सा यदि न पश्येत्पश्यामीत्येव ब्रूयात् ॥ १।८।२० ॥

(**हरिहरभाष्यम्**)—'सा यदि······ब्रूयात्'। सा वधूर्यदि ध्रुवं नेक्षेत तथापि पश्यामीत्येवं वदेत् न विपरीतम् ॥ १।८।२० ॥

(**गदाधरभाष्यम्**)—'सा यदि······ब्रूयात्'। सा कन्या यदि ध्रुवसंज्ञकं सूक्ष्मं नक्षत्रं न पश्येत्तदा पश्यामीत्येव वक्तव्यं तया, न पश्यामीति वचनं न ब्रूयात् ॥ १।८।२० ॥

अनुवाद—यदि वधू को ध्रुवतारा नहीं भी दिखलायी दे तब भी उसे कहना चाहिए कि मैं देख रही हूँ।

त्रिरात्रमक्षारालवणाशिनौ स्यातामधः शयीयाताᳬ संवत्सरं न मिथुनमुपेयातां द्वादशरात्रᳬ षड्रात्रं त्रिरात्रमन्ततः ॥ १।८।२१ ॥

(**हरिहरभाष्यम्**)—'त्रिरात्र······ताम्'। विवाहदिनमारभ्य 'त्रिरात्रं' त्रीणि अहोरात्राणि अक्षारालवणाशिनौ अक्षारं च अलवणं च अक्षारालवणं तदश्नीत इत्येवं-शीलौ अक्षारालवणाशिनौ स्यातां भवेताम्। अधः आस्तरणास्तृतायां भूमौ न खट्वायां शयीयातां स्वपेताम्। 'संवत्सरं······मन्ततः'। संवत्सरं वर्षं यावन्मिथुनम् अभिगमनं नोपेयातां नोपगच्छेताम्। अथवा द्वादशरात्रमथवा षड्रात्रं यद्वा त्रिरात्रमन्ततः संवत्सरादिपक्षाणामन्ते त्रिरात्रमित्यर्थः। संवत्सरादिविकल्पास्तु शक्त्यपेक्षया व्यवस्थिता विज्ञेयाः। संवत्सरादिपक्षाशक्तौ त्रिरात्रपक्षाश्रयणेऽपि चतुर्थीकर्मानन्तरं पश्चम्यादिरात्रावभिगमनं, चतुर्थीकर्मणः प्राक् तस्या भार्यात्वमेव न संवृत्तं विवाहैकदेशत्वाच्चतुर्थीकर्मणः ॥ १।८।२१ ॥

अथ पद्धतिः—अथ प्रकृतं विवाहकर्माह—तत्र पुण्येऽहनि मातृपूजापूर्वकं वरस्य पिता स्वपितृभ्यः पुत्रविवाहनिमित्तं नान्दीमुखं श्राद्धं विधाय वैवाह्यं पुत्रं मङ्गलतूर्यवेदघोषेण

कन्यापितृगृहमानयति कन्यापिता च मातृपूजापूर्वकं कन्याविवाहनिमित्तकं स्वपितृभ्यो नान्दीमुखं श्राद्धं विधाय मण्डपद्वारमागतं वरमभ्युत्थानादिभिः प्रतीक्ष्य मधुपर्केणार्चयेत्। तद्यथा—अर्चयिता आसनमानाय्य तस्यासनस्य पश्चात्तिष्ठन्तमर्घ्यं प्रति साधु भवानास्तामर्चयिष्यामो भवन्तमिति ब्रवीति। तत आचार्यस्तत्सम्बन्धिनः पुरुषाः विष्टरं पाद्यं पादार्थमुदकमर्घमाचमनीयं मधुपर्कं तत्समीपमानयन्ति। अथार्चयिता एकं विष्टरमादाय तिष्ठति अन्यः कश्चिद्ब्राह्मणो विष्टरो विष्टरो विष्टर इति श्रावयति। प्रतिगृह्यतामित्यर्घ्यस्य हस्तयोर्ददाति। अर्घ्यश्च, वर्ष्मोऽस्मि समानानामुद्यतामिव सूर्यः। इमं तमभितिष्ठामि यो माकश्चाभिदासतीत्यनेन मन्त्रेण विष्टरमासने निधाय तदुपर्युपविशति। ततोऽन्येन पाद्यं पाद्यं पाद्यमिति श्राविते पादार्थमुदकमर्चयिता अर्घ्याय प्रतिगृह्यतामित्युक्त्वा समर्पयति। अथार्घ्यस्तत्पात्रं भूमौ निधायाञ्जलिना जलमादाय विराजोदोहोऽसि विराजोदोहमशीय मयि पाद्यायै विराजोदोह इति मन्त्रेण ब्राह्मणो दक्षिणं पादं प्रक्षाल्य तथैव वामं प्रक्षालयति। क्षत्रियादयस्त्वन्ये सव्यं पादं प्रक्षाल्यानेनैव विधिना दक्षिणं प्रक्षालयन्ति। ततः पुनर्विष्टरो विष्टरो विष्टर इत्यन्येन श्राविते प्रतिगृह्यतामिति यजमानदत्तं विष्टरं प्रतिगृह्य वर्ष्मोऽस्मीति मन्त्रेण पादयोरधस्तान्निदधाति। ततोऽर्घोऽर्घोऽर्घ इत्यन्येन श्राविते अर्चयिता प्रतिगृह्यतामित्युक्त्वा अर्घ्यायार्घम्, आपः स्थ युष्माभिः सर्वान्कामानवाप्नवानीति मन्त्रं पठितवते प्रयच्छति। अर्घ्यश्चार्घं प्रतिगृह्य मूर्द्धापर्यन्तमानीय समुद्रं वः प्रहिणोमि स्वां योनिमभिगच्छत। अरिष्टास्माकं वीरा मापरासेचिमत्पय इत्यनेन मन्त्रेण निनयन्नभिमन्त्रयते। अथाचमनीयमाचमनीयमाचनीयमित्यन्येन श्राविते अर्चयिताऽर्घ्याय प्रतिगृह्यतामित्युक्त्वा आचमनीयं प्रयच्छति। अर्घ्यश्च प्रतिगृह्य आमागन्यशसा सꣳसृज वर्चसा तं मा कुरु प्रियं प्रजानामधिपतिं पशूनामरिष्टिं तनूनामिति मन्त्रेण सकृदाचम्य स्मार्तमाचमनं करोति। अथ मधुपर्को मधुपर्को मधुपर्क इत्यन्येनोक्ते प्रतिगृह्यतामिति यजमानेनोक्ते यजमानहस्तस्थितमुद्घाटितं मधुपर्कं मित्रस्य त्वा चक्षुषा प्रतीक्षे इति मन्त्रेण प्रतीक्ष्य देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां प्रतिगृह्णामीति मन्त्रेणाञ्जलिना प्रतिगृह्य सव्ये पाणौ निधाय दक्षिणस्य पाणेरुपकनिष्ठिकयाऽङ्गुल्या नमः श्यावास्यायान्नशने यत्त आविद्धं तत्ते निष्कृन्तामीति मन्त्रेण सकृदालोड्य पुनर्मन्त्रेणैवं द्विरालोडयति। अनामिकाङ्गुष्ठाभ्यामादाय वहिर्निक्षिप्य पुनरेवं द्विर्वारमालोडनं निरुक्षणं च करोति। ततो यन्मधुनो मधव्यं परमꣳ रूपमन्नाद्यं तेनाहं मधुनो मधव्येन परमेण रूपेणान्नाद्येन परमो मधव्योऽन्नादोऽसानीति मन्त्रेण अनामिकाङ्गुष्ठाभ्यामादाय त्रिः प्राश्नाति। मधुव्वाता ऋतायत इत्यादिभिस्तिसृभिर्ऋग्भिः प्रत्यृचं त्रिः प्राश्नाति वा। प्राशितशेषं पुत्राय शिष्याय वा दद्यात्सर्वं वा भक्षयेत्पूर्वस्यां दिशि असञ्चरे प्रदेशे वा क्षिपेत्। ततः स्मार्तेन विधिनाऽऽचम्य वाङ्म आस्येऽस्त्विति कराग्रेण मुखं स्पृशति नसोर्मे प्राणोऽस्त्विति दक्षिणवामे नासारन्ध्रे अक्ष्णोर्मे चक्षुरस्त्विति दक्षिणोत्तरे चक्षुषी कर्णयोर्मे श्रोत्रमस्त्विति दक्षिणं श्रोत्रं संस्पृश्य पुनः कर्णयोर्मे श्रोत्रमस्त्विति वाममेवं बाह्वोर्मे बलमस्त्विति दक्षिणोत्तरौ बाहू ऊर्वोर्मे ओजोऽस्त्विति युगपदूरू अरिष्टानि मेऽङ्गानि तनूस्तन्वा मे सह

सन्त्विति शिरःप्रभृतीनि पादान्तानि सर्वाण्यङ्गान्युभाभ्यां हस्ताभ्यामालभेत। एवमाचान्तोदकाय खड्गहस्तो यजमानः गौर्गौर्गौरालभ्यतामिति ब्रूयात्। ततोऽर्घ्यः, माता रुद्राणां दुहिता वसूनाꣳ स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः। प्रनुवोच चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट मम चामुकशर्मणो यजमानस्य च पाप्मानꣳ हनोमीति गवालम्भपक्षे प्रतिब्रूयात्। उत्सर्गपक्षे तु मातारुद्राणामित्यादि पाप्माहत ओमित्युपांशूक्त्वा उत्सृजत तृणान्यत्त्वित्युच्चैः प्रतिब्रूयात्। ततो वरो बहिःशालायामीशान्यां दिशि चतुर्हस्तायां सिकताच्छन्नायां वेदिकायां लौकिकं निर्मथ्य वाऽग्निं स्थापयित्वा पश्चादग्नेस्तृणपूलकं कटं वा स्थापयेत्। अथ कन्यापिता वस्त्रचतुष्टयं वराय प्रयच्छति। वरश्च तेषु मध्ये—'जरां गच्छ परिधत्स्व वासो भवाकृष्टीनामभिशस्तिपावा। शतं च जीव शरदः सुवर्चा रयिं च पुत्राननु संव्ययस्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वासः' इत्यनेन मन्त्रेण एकं कुमारीं परिधापयति, द्वितीयं—'या अकृन्तन्नवयं या अतन्वत याश्च देवीस्तन्तूनभितो ततन्थ तास्त्वादेवीर्जरसे संव्ययस्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वासः' इति मन्त्रेण। स्वयं च 'परिधास्यै यशोधास्यै दीर्घायुत्वाय जरदष्टिरस्मि। शतं च जीवामि शरदः पुरूची रायस्पोषमभिसंव्ययिष्ये' इति मन्त्रेण एकं परिधत्ते। यशसामाद्यावापृथिवी यशसेन्द्राबृहस्पती। यशोभगश्चमा विदद्यशोमाप्रतिपद्यतामिति द्वितीयम्। अथ कुमार्याः पिता एतौ परिहिताहतसदशवस्त्रौ कन्यावरौ समञ्जयति परस्परं समञ्जेथामिति प्रैषेण। ततो वरः कन्यासम्मुखीभूतः—'समञ्जन्तु विश्वेदेवाः समापो हृदयानि नौ। सम्मातरिश्वा सन्धाता समुदेष्ट्री दधातु नौ'॥ इति मन्त्रं पठति। अथ कन्यादानं करोति पित्रादिः कन्यादानाधिकारी। तत्र वाक्यम्—अमुकगोत्रस्यामुकप्रवरस्यामुकशर्मणः प्रपौत्राय अमुकगोत्रस्यामुकप्रवरस्यामुकशर्मणः पौत्राय अमुकगोत्रस्यामुकप्रवरस्यामुकशर्मणः पुत्राय इति वरपक्षे। अमुकगोत्रस्यामुकप्रवरस्यामुकशर्मणः प्रपौत्रीममुकगोत्रस्यामुकप्रवरस्यामुकशर्मणः पौत्रीम् अमुकगोत्रस्यामुकप्रवरस्यामुकशर्मणः पुत्रीमिति कन्यापक्षे। एवमेव पुनर्द्विवारमभिहिते अथ कन्यापिता कुशजलाक्षतपाणिः उदङ्मुखोपविष्टः प्राङ्मुखोपविष्टाय वराय प्रत्यङ्मुखोपविष्टां कन्याम्, अमुकगोत्रायामुकप्रवरायामुकशर्मणे ब्राह्मणाय—इति ब्राह्मणवरपक्षे, इतरवरपक्षे तु वर्मणे अमुकगुप्तायामुकदासायेति विशेषः—अमुकगोत्राममुकप्रवराममुकनाम्नीमिमां कन्यां सालङ्कारां प्रजापतिदैवतां पुराणोक्तशतगुणीकृतज्योतिष्टोमातिरात्रसमफलप्राप्तिकामः कन्यादानफलप्राप्तिकामो वा भार्यात्वेन तुभ्यमहं सम्प्रददे इत्युक्त्वा, सकुशाक्षतजलं कन्यादक्षिणहस्तं वरदक्षिणहस्ते दद्यात्। वरश्च द्यौस्त्वा ददातु पृथिवी त्वा प्रतिगृह्णात्वित्यनेन मन्त्रेण तां प्रतिगृह्णीयात्। अथ कोऽदांदिति कामस्तुतिं पठेत्। ततः कृतैतत्कन्यादानप्रतिष्ठासिद्ध्यर्थं सुवर्णं गोमिथुनं च दक्षिणां दद्यात्। अत्राऽऽचाराद् अन्यदपि यौतकत्वेन सुवर्णरजतताम्रगोमहिष्यश्वग्रामादि कन्यापिता यथासम्भवं ददाति, अन्येऽपि बान्धवादयः यथासम्भवं यौतकं प्रयच्छन्ति। केचन यौतकं होमान्ते प्रयच्छन्ति, अत्र देशाचारतो व्यवस्था। एवं पित्रा दत्तां गृहीत्वा प्रतिग्रहस्थानान्निष्क्रामति। यदैषिमनसादूरंदिशोऽनुपवमानो वा। हिरण्यपर्णोवैकर्णः सत्त्वामन्मनसाङ्करोत्वमुकि इत्यन्तेन मन्त्रेण। अथ निष्क्रमणप्रभृत्येको

जलपूर्णकलशं स्कन्धे निधायाग्नेर्दक्षिणतो वाग्यत ऊर्ध्वस्तिष्ठति उत्तरतो वा अभिषेक-पर्यन्तम्। अथैनौ वधूवरौ अग्निसमीपमागतौ कन्यापिता परस्परं समीक्षेथामिति प्रैषेण समीक्षयति। ततः प्रेषितो वरः समीक्षमाणां कन्यां समीक्षमाणः अघोरचक्षुर-पतिघ्न्येधि शिवा,पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः। वीरसूर्देवकामा स्योना शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः। तृतीयोऽग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः। सोमोऽददद्गन्धर्वाय गन्धर्वोऽददग्नये। रयिं च पुत्राँश्चादादग्निर्मह्यमथो इमाम्। सा नः पूषा शिवतमा मेरय सा न ऊरू उशती विहर। यस्यामुशन्तः प्रहराम शेपं यस्यामु कामा बहवो निविष्टचै। इत्यादिकान् चतुरो मन्त्रान्पठति। ततः प्रदक्षिण-मग्निं परीत्य पश्चादग्नेः पूर्वस्थापिततेजनीकटयोरन्यतरे दक्षिणं पादमग्रे कृत्वोपविशति वरः। तस्य दक्षिणतो वधूः। ततो ब्रह्मोपवेशनादि चरुवर्जं पर्युक्षणान्तं कुर्यात्। इयाँस्तु विशेषः—शमीपलाशमिश्रा लाजाः, अश्मा, अखण्डलोहितमानडुहं चर्म, कुमार्या भ्राता, शूर्पं, दृढपुरुषः, आचार्याय वरद्रव्यमित्येतावन्ति वस्तूनि उपकल्पयेत् न प्रोक्षेत्। ततः स्रुवमादाय दक्षिणं जान्वाच्य आघारावाज्यभागौ महाव्याहृतयः सर्वप्रायश्चित्तं ब्रह्मान्वा-रब्धो हुत्वा राष्ट्रभृज्जयाभ्यातानाग्निरैत्वित्यादिकान्परंमृत्यवित्यन्ताननन्वारब्धो जुहुयात्। प्राशनान्ते वा परंमृत्याविति। तद्यथा ॐप्रजापतये स्वाहा इदं प्रजापतये। इन्द्राय स्वाहा इदमिन्द्राय। अग्नये स्वाहा इदमग्नये। सोमाय स्वाहा इदं सोमाय। ॐभूः स्वाहा इदमग्नये। ॐभुवः स्वाहा इदं वायवे। ॐस्वः स्वाहा इदं सूर्याय। त्वन्नो अग्ने वरुणस्य विद्वान् देवस्य हेडो अवयासिसीष्ठाः। यजिष्ठो वह्नितमः शोशुचानो विश्वा द्वेषाꣳसि प्रमुमुग्ध्यस्मत्स्वाहा। इदमग्नीवरुणाभ्याम्। सत्वन्नो अग्नेवमो भवो-तीनेदिष्टो अस्या उषसो व्युष्टौ। अवयक्ष्वनो वरुणꣳरराणो वीहि मृडीकꣳसुहवो न एधि स्वाहा। इदमग्नीवरुणाभ्याम्। अयाश्चाग्नेस्यनभिशस्तिपाश्च सत्यमित्वमया असि। अयानो यज्ञं वहास्ययानो धेहि भेषजꣳ स्वाहा इदमग्नये अयसे। ये ते शतं वरुण ये सहस्रं यज्ञियाः पाशा वितता महान्तः। तेभिर्नो अद्य सवितोऽतविष्णुर्विश्वे मुञ्चन्तु मरुतः स्वर्काः स्वाहा। इदं वरुणाय सवित्रे विष्णवे विश्वेभ्यो देवेभ्यो मरुद्भ्यः स्वर्केभ्यश्च। उदुत्तमं वरुणपाशमस्मदवाधमं विमध्यमꣳ श्रथाय। अथाव्वयमादित्यव्रतेतवानागसो अदितये स्याम स्वाहा इदं वरुणाय०। ब्रह्मान्वारब्धो हुत्वा ततो राष्ट्रभृतो यथा। ऋताषाडृतधामाग्निर्गन्धर्वः स न इदं ब्रह्मक्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट्। इदमृतासाहे ऋतधाम्नेऽग्नये गन्धर्वाय न०। ऋताषाडृतधामाग्निर्गन्धर्वस्तस्यौषधयोऽप्सरसो मुदो नाम ताभ्यः स्वाहा इदमोषधिभ्योऽप्सरोभ्यो मुद्भ्यो न मम। सꣳहितो विश्वसामा सूर्यो गन्धर्वः स न इदं ब्रह्मक्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट्। इदं सꣳहिताय विश्वसाम्ने सूर्याय गन्ध-र्वाय,। सꣳहितो विश्वसामा सूर्यो गन्धर्वस्तस्य मरीचयोऽप्सरस आयुवो नाम ताभ्यः स्वाहा। इदं मरीचिभ्योऽप्सरोभ्य आयुभ्यः। सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमागन्धर्वः स न इदं ब्रह्मक्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट्। इदं सुषुम्णाय सूर्यरश्मये चन्द्रमसे गन्धर्वाय। सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमागन्धर्वस्तस्य नक्षत्राण्यप्सरसो भेकुरयो नाम ताभ्यः स्वाहा इदं नक्षत्रेभ्योऽप्सरोभ्यो भेकुरिभ्यः। इषिरो विश्वव्यचा वातो गन्धर्वः स न इदं ब्रह्मक्षत्रं पातु

तस्मै स्वाहा व्वाट्। इदमिषिराय विश्वव्यचसे वाताय गन्धर्वाय। इषिरो विश्वव्यचा वातो गन्धर्वस्तस्यापोऽप्सरस ऊर्ज्जो नाम ताभ्यः स्वाहा। इदमद्भ्योऽप्सरोभ्य ऊर्भ्यः। भुज्युः सुपर्णो यज्ञो गन्धर्वः स न इदं ब्रह्मक्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा व्वाट्। इदं भुज्यवे सुपर्णाय यज्ञाय गन्धर्वाय। भुज्युः सुपर्णो यज्ञो गन्धर्वस्तस्य दक्षिणा अप्सरस्तावा नाम ताभ्यः स्वाहा। इदं दक्षिणाभ्योऽप्सरोभ्यस्तावाभ्यः। प्रजापतिर्विश्वकर्मा मनो गन्धर्वः स न इदं ब्रह्मक्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा व्वाट्। इदं प्रजापतये विश्वकर्मणे मनसे गन्धर्वाय। प्रजापतिर्विश्वकर्मा मनो गन्धर्वस्तस्य ऋक्सामान्यप्सरस एष्टयो नाम ताभ्यः स्वाहा। इदमृक्सामभ्योऽप्सरोभ्य एष्टिभ्यः। केचित्तु अन्यथा मन्त्रप्रयोगं कुर्वन्ति तत्प्रदर्श्यते— ऋताषाडृतधामाग्निर्गन्धर्वः स न इदं ब्रह्मक्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा व्वाट् इति प्रथमः। तस्यौषधयोऽप्सरसो मुदो नाम ताभ्यः स्वाहेति द्वितीयः। एवं सर्वत्र मन्त्रेषु। अस्मिन्नपि पक्षे त्यागास्तु त एव। अथ जयाहोमः—चित्तं च स्वाहा इदं चित्ताय १ चित्तिश्च स्वाहा इदं चित्त्यै २ आकूतं च स्वाहा इदमाकूताय ३ आकूतिश्च स्वाहा इदमाकूत्यै ४ विज्ञातं च स्वाहा इदं विज्ञाताय ५ विज्ञातिश्च स्वाहा इदं विज्ञात्यै ६ मनश्च स्वाहा इदं मनसे ७ शक्वरीश्च स्वाहा इदं शक्वरीभ्यः ८ दर्शश्च स्वाहा इदं दर्शाय ९ पौर्णमासं च स्वाहा इदं पौर्णमासाय १० बृहच्च स्वाहा इदं बृहते ११ रथन्तरं च स्वाहा इदं रथन्तराय १२ चित्तं चेत्येवमादीनां पदानां चतुर्थ्यन्तानां प्रयोगं केचिदिच्छन्ति तदसाम्प्रतम्। कुतः? नह्येतानि देवतापदानि किं तु मन्त्रा एवैते, मन्त्राश्च यथाऽऽम्नाता एव प्रयुज्यन्ते। प्रजापतिर्जयानिन्द्राय वृष्णे प्रायच्छदुग्रः पृतनाजयेषु। तस्मै विशः समनमन्त सर्वाः स उग्रः स इ हव्यो बभूव स्वाहा इदम्प्रजापतये (जयानिन्द्राय ?)। अथाभ्यातानाः— अग्निर्भूतानामधिपतिः समावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन्क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन्कर्मण्यस्यां देवहूत्वाᳬस्वाहा इदमग्नये भूतानामधिपतये। इन्द्रो ज्येष्ठानामधिपतिः समावत्वित्येवमादिस्वाहाकारान्तो मन्त्रः। इदमिन्द्राय ज्येष्ठानामधिपतये। एवं समावत्वस्मिन्नित्यादिवक्ष्यमाणेषु सर्वमन्त्रेष्वनुषङ्गः। यमः पृथिव्या अधिपतिः इदं यमाय पृथिव्या अधिपतये। वायुरन्तरिक्षस्याधिपतिः। इदं वायवेऽन्तरिक्षस्याधिपतये। सूर्यो दिवोऽधिपतिः इदं सूर्याय दिवोऽधिपतये। चन्द्रमानक्षत्राणामधिपतिः इदं चन्द्रमसे नक्षत्राणामधिपतये। बृहस्पतिर्ब्रह्मणोऽधिपतिः इदं बृहस्पतये ब्रह्मणोऽधिपतये। मित्रः सत्यानामधिपतिः इदं मित्राय सत्यानामधिपतये। वरुणोऽपामधिपतिः इदं वरुणायापामधिपतये। समुद्रः स्रोत्यानामधिपतिः इदं समुद्राय स्रोत्यानामधिपतये। अन्नᳬसाम्राज्यानामधिपतिः तन्मावत्वस्मिन् इत्यादि इदमन्नाय साम्राज्यानामधिपतये। सोम ओषधीनामधिपतिः इदं सोमायौषधीनामधिपतये। सविता प्रसवानामधिपतिः इदं सवित्रे प्रसवानामधिपतये। रुद्रः पशूनामधिपतिः इदं रुद्राय पशूनामधिपतये। उदकस्पर्शनम्। त्वष्टा रूपाणामधिपतिः इदं त्वष्ट्रे रूपाणामधिपतये। विष्णुः पर्वतानामधिपतिः इदं विष्णवे पर्वतानामधिपतये। मरुतो गणानामधिपतयस्ते मावन्त्वस्मिन्। इदं मरुद्भ्यो गणानामधिपतिभ्यः। पितरः पितामहाः परेऽवरे ततास्ततामहाः इह मावन्त्वस्मिन् ब्रह्मणीत्यादिसमानम्। इदं पितृभ्यः पितामहेभ्यः परेभ्योऽवरेभ्यस्ततेभ्यस्तता-

महेभ्यः । उदकस्पर्शनम् । एते अष्टादश मन्त्रा अभ्यातानसंज्ञकाः । अग्निरैतु प्रथमो देवतानाꣳ सोऽस्यै प्रजां मुञ्चतु मृत्युपाशात् । तदयꣳ राजा वरुणोऽनुमन्यतां यथेयꣳ स्त्री पौत्रमघ्नं नरोदात्स्वाहा इदमग्नये ॥ १ ॥ इमामग्निस्त्रायतां गार्हपत्यः प्रजामस्यै नयतु दीर्घमायुः । अशून्योपस्थाजीवतामस्तु माता पौत्रमानन्दमभिविबुध्यतामियꣳ स्वाहा इदमग्नये ॥ २ ॥ स्वस्ति नो अग्ने दिव आपृथिव्या विश्वानि धेह्ययथा यजत्र । यदस्यां महि दिविजातं प्रशस्तं तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रꣳ स्वाहा इदमग्नये ॥ ३ ॥ सुगन्नुपन्थां प्रदिशन्न एहि ज्योतिष्मध्ये ह्यजरन्न आयुः । अपैतु मृत्युरमृतंम आगाद्वैवस्वतोनो अभयं कृणोतु स्वाहा इदं वैवस्वताय ॥ ४ ॥ परं मृत्यो अनुपरेहि पन्थां यस्ते अन्य इतरो देवयानात् । चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि मा नः प्रजाꣳ रीरिषो मोतवीरान्स्वाहा इदं मृत्यवे ॥ एके संस्रवप्राशनान्ते जुहुयादितीच्छन्ति । उदकस्पर्शः । कुमार्या भ्राता उपकल्पितान् शमीपलाशमिश्राँल्लाजान् शूर्पे कृतान् स्वेनाञ्जलिना गृहीत्वा कुमार्या अञ्जलावावपति ताँल्लाजान् प्राङ्मुखी तिष्ठती कुमारी सव्यहस्तसहितेन दक्षिणहस्तेनाञ्जलिना विवाहाग्नौ जुहोति । 'अर्यमणं देवं कन्या अग्निमयक्षत । स नो अर्यमा देवः प्रेतो मुञ्चतु मा पते स्वाहा' । इत्यनेन मन्त्रेण हस्तस्थितलाजानां तृतीयांशं जुहोति इदमर्यम्णे 'इयं नार्युपब्रूते लाजानावपन्तिका । आयुष्मानस्तु मे पतिरेधन्तां ज्ञातयो मम स्वाहा' इत्यनेन मन्त्रेण पुनरञ्जलिस्थितानां लाजानामर्द्धं जुहोति इदमग्नये । 'इमाँल्लाजानावपाम्यग्नौ समृद्धिकरणं तव मम तुभ्यञ्च संवननं तदग्निरनुमन्यतामियꣳ स्वाहा' इत्यनेन मन्त्रेण सर्वाँल्लाजान् जुहोति इदमग्नये । मन्त्रत्रयं कन्यैव पठति । अथ कुमार्याः साङ्गुष्ठं दक्षिणं हस्तं वरो गृह्णाति । गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथा सः । भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वाऽदुर्गार्हपत्याय देवाः । अमोऽहमस्मि सात्वꣳ सात्वमस्यमो अहम् । सामाहमस्मि ऋक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वं तावेहि विवहावहै सह रेतो दधावहै प्रजां प्रजनयावहै पुत्रान् विन्द्यावहै बहून् ते सन्तु जरदष्टयः सम्प्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यमानौ पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतमित्यन्तेन मन्त्रसन्दर्भेण । अथ कुमार्याः दक्षिणं पादं स्वदक्षिणहस्तेन गृहीत्वा आरोहेममश्मानमश्मेव त्वꣳ स्थिरा भव अभितिष्ठ पृतन्यतोऽवबाधस्व पृतनायत इत्यनेन मन्त्रेण अग्नेरुत्तरतो व्यवस्थितस्याश्मन उपरि वरः करोति । अथाश्मन्यारूढायां कुमार्यां वरो गाथां गायति—'सरस्वति प्रेदमव सुभगे वाजिनीवति । यां त्वा विश्वस्य भूतस्य प्रजायामस्याग्रतः । यस्यां भूतꣳ समभवद्यस्यां विश्वमिदं जगत् । तामद्य गाथां गास्यामि या स्त्रीणामुत्तमं यशः' इत्यन्ताम् । अथ वधूवरौ प्रदक्षिणमग्निं परिक्रामतः 'तुभ्यमग्रेपर्यवहन्सूर्यां वहतु ना सह । पुनः पतिभ्यो जायां दाग्ने प्रजया सह' इत्यन्तस्य मन्त्रस्य वरपठितस्यान्ते । एवं पुनर्वारद्वयं लाजावपनादिपरिक्रमणान्तं कर्म निर्विशेषं भवति, ततस्तृतीयपरिक्रमणानन्तरं कुमार्या भ्राता शूर्पकोणप्रदेशेन सर्वाँल्लाजान् कुमार्यञ्जलावावपति सा तिष्ठती कुमारी तान् भगाय स्वाहा इत्यनेन जुहोति इदं भगाय । ततः सदाचारात्तूष्णीं चतुर्थं परिक्रमणं कुरुतः नेतरथावृत्तिम् । अथ प्रजापतये स्वाहेति ब्रह्मान्वारब्धो हुत्वा इदं प्रजापतय इति त्यागं विधाय एनां

वधूमुदीचीं सप्तपदानि प्रक्रामयति तद्यथा एकमिषे विष्णुस्त्वा नयत्विति वरेणोक्ते मन्त्रे वधूरेकं पदमुदग्ददाति । द्वे ऊर्ज्जे विष्णुस्त्वा नयत्विति द्वितीयम् । त्रीणि रायस्पोषाय विष्णुस्त्वा नयत्वित्युक्ते तृतीयम् । चत्वारि मायोभवाय विष्णुस्त्वा नयत्विति चतुर्थम् । पञ्च पशुभ्यो विष्णुस्त्वा नयत्विति पञ्चमम् । षडृतुभ्यो विष्णुस्त्वा नयत्विति षष्ठम् । सखे सप्तपदा भव सा मामनुव्रता भव विष्णुस्त्वा नयत्विति सप्तमम् । एवं वर एकैकं मन्त्रं समुच्चार्योच्चार्य सप्तपदानि दापयत्युत्तरोत्तरं दक्षिणपादेन । अथ वरः स्कन्धकृतादुदकुम्भादुदकमादाय वधूमूर्द्धन्यभिषिञ्चति । आपः शिवाः शिवतमाः शान्ताः शान्ततमास्तास्ते कृण्वन्तु भेषजमित्यनेन मन्त्रेण । पुनस्तथैवोदकमादायाऽऽपोहिष्ठेति ऋचं पठित्वा तथैव मूर्द्धन्यभिषिञ्चति । अथ वरः सूर्यमुदीक्षस्वेति वधूं प्रेषयति, सा च प्रेषिता सती सूर्यमुदीक्षते, तच्चक्षुरित्यादि शृणुयाम शरदः शतमित्यन्तं मन्त्रं स्वयं पठित्वा । अथ वरो वध्वाः दक्षिणांसस्योपरि हस्तं दत्वा हृदयमालभते मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु । मम वाचमेकमना जुषस्व प्रजापतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यमित्यनेन मन्त्रेण । अथ हृदयालम्भनानन्तरं वरो वधूमभिमन्त्रयते 'सुमङ्गलीरियं वधूरिमाᳬं समेत पश्यत । सौभाग्यमस्यै दत्त्वा याथास्तं विपरेतन' इत्यनेन मन्त्रेण । अथात्र शिष्टाचारात् वधूं वरस्य वामभागे उपवेशयन्ति, तस्याः सीमन्ते वरेण सिन्दूरं दापयन्ति । अथाग्नेः प्रागुदग्वा पूर्वकल्पितेऽनुगुप्त आगारे उत्तरलोम्नि प्राग्ग्रीवे आनडुहे चर्मणि तां वधूं दृढपुरुष उत्थाप्योपवेशयति—इह गावो निषीदन्त्विहाश्वा इह पूरुषाः । इहो सहस्रदक्षिणो यज्ञ इह पूषा निषीदन्त्विति मन्त्रेण । यद्वा जामाता दृढपुरुषस्तस्मिन्पक्षे वर उपवेशयति वधूम् । तत आगत्य पूर्ववद्यथास्थानमुपविश्य ब्रह्मान्वारब्धो वरः अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा इदमग्नये स्विष्टकृते इति स्विष्टकृद्धोमं विधाय, संस्रवान्प्राश्य, ब्रह्मणे पूर्णपात्रवरयोरन्यतरं दत्त्वा स्वकीयाचार्याय वरं ददाति ब्राह्मणश्चेद् गाम्, क्षत्रियश्चेद् ग्रामं, वैश्यश्चेदश्वम्, अन्यच्च सुवर्णादिद्रव्यं यथाश्रद्धं यथाशक्ति ब्राह्मणेभ्यो दातुं सङ्कल्पयेत् । ग्रामवचनं च कुर्युरित्यनेन शिष्टाचारप्राप्तं तिलककरणाक्षतचन्दनमन्त्रविप्राशीर्वचनप्रतिष्ठामन्त्रपाठादिकं यथाकुलं यथादेशसमाचारं तत्र तत्र क्रियमाणमनुमन्येरन् । दिवा चेद्विवाहस्तदाऽस्तमिते ध्रुवं दर्शयति वरो वध्वाः । रात्रौ चेद्वरदानानन्तरमेव । तद्यथा ध्रुवमीक्षस्वेति प्रेषिता वधूः ध्रुवमसि ध्रुवं त्वा पश्यामि ध्रुवैधि पोष्ये मयि मह्यं त्वाऽदाद् बृहस्पतिर्मया पत्या प्रजावती सञ्जीव शरदः शतमित्यन्ते मन्त्रे वरेणोक्ते ध्रुवमीक्षते । सा वधूर्यदि ध्रुवं न पश्येत् तथापि पश्यामीत्येवं वदेत् । विवाहादारभ्य त्रिरात्रमक्षारालवणाशिनौ स्यातां जायापती । अधः खट्वारहिते भूभागे स्वास्तृते शयीयातां त्रिरात्रमेव । संवत्सरं समग्रं मिथुनं नोपेयातां, द्वादशरात्रं षड्रात्रं त्रिरात्रं चेति । एते विकल्पा मिथुनकरणशक्त्यपेक्षया । अत्र त्रिरात्रपक्षाश्रयणं चतुर्थ्युत्तरकालं, हेतुस्तु व्याख्याने विहितः । इति विवाहकर्मपद्धतिः ॥ ८ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'त्रिरात्र······स्याताम्' । लग्नदिनमारभ्य त्रिरात्रं यावद् वरवध्वौ अक्षारमलवणं चाश्नीत इत्येवंशीलौ स्याताम् । 'अधः शयीयाताम्' । अधो-

भूमौ स्वपेतां खट्वाव्युदासार्थोऽधःशब्दः नास्तरणव्युदासार्थः । 'सँवत्सरं'''मन्ततः' 'विवाहदिनमारभ्य सँवत्सरं यावत् न मिथुनमुपेयातां ब्रह्मचारिणौ स्यातां द्वादशरात्रं वा षड्रात्रं वा त्रिरात्रं वा ॥ १।८।२१ ॥

अथ विवाहे पदार्थक्रमः । तत्र तावदुपयोगितया किञ्चित्सङ्क्षेपेणोच्यते—अनाश्रमी न तिष्ठेत दिनमेकमपि द्विजः । आश्रमेण विना तिष्ठन् प्रायश्चित्ती भवेद्धि सः ॥ इति दक्षस्मृतेः, अविप्लुतब्रह्मचर्यो लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत् । 'अनन्यपूर्विकां कान्तामसपिण्डां यवीयसीम् । अरोगिणीं भ्रातृमतीमसमानार्षगोत्रजाम्' ॥ इति च याज्ञवल्क्योक्तेः, अविप्लुतब्रह्मचर्यो वाह्याभ्यन्तरलक्षणयुक्तां स्त्रियमुद्वहेत् । अत्र कुलमग्रे परीक्षेतेति गृह्यान्तरवचनादादौ सदाचारादिगुणवत्तया हीनक्रियत्वादिदोषहीनतया च परीक्ष्य कुलं तज्जोद्वाह्या । तदनु लक्षणाद्यपि परीक्ष्यम् । लक्षणानि च शुभाशुभसूचकानि । तनुलोमकेशदशनत्वगादीनि प्रत्यक्षगम्यानि बाह्यानि । तथा च मनुः—अव्यङ्गाङ्गीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम् । तनुलोमकेशदशनां मृद्वङ्गीमुद्वहेत् स्त्रियम् ॥ इति । यान्यान्तराणि तान्युक्तान्याश्वलायनगृह्ये—दुर्विज्ञेयानि लक्षणान्यष्टौ पिण्डान् कृत्वा ऋतमग्रे प्रथमं यज्ञ ऋते सत्यं प्रतिष्ठितम् । यदिदं कुमार्यभिजाता तदियमिह प्रतिपद्यतां यत्सत्यं तद्दृश्यतामिति पिण्डानभिमन्त्र्य कुमारीं ब्रूयादेषामेकं गृहाणेति क्षेत्राच्चेदुभयतःसस्याद् गृह्णीयादन्नवत्यस्याः प्रजा भविष्यतीति विद्याद्, गोष्ठात्पशुमती वेदिपुरीषाद् ब्रह्मवर्चस्विन्यविदासिनो ह्रदात्सर्वसम्पन्ना देवनात्कितवी चतुष्पथाद् द्विप्रव्राजिनीरिणादधन्या श्मशानात्पतिघ्नीति । अस्यार्थः—दुर्विज्ञेयानि लक्षणान्येवं परीक्षेत—क्षेत्रादिभ्यो मृदमादाय आहृत्य अष्टौ पिण्डान् कृत्वा ऋतमग्रे इत्यनेन मन्त्रेण मृत्पिण्डानभिमन्त्र्य कुमारीं ब्रूयात् एषां पिण्डानां मध्ये एकं पिण्डं गृहाणेति । यदेकस्मिन्वत्सरे द्विः फलति तदुभयतःसस्यं क्षेत्रं तस्मात्क्षेत्रादाहृतपिण्डं गृह्णीयाच्चेदन्नवती अस्याः प्रजा भविष्यति इति विद्यात् । एवमुत्तरत्रापि ज्ञेयम् । अपवृक्ते कर्मणि या वेदिः सा वेदिपुरीषम् । अविदासी नाम अशोष्यो ह्रदः देवनं द्यूतस्थानम् ईरिणमूषरं, विप्रव्राजिनी विविधं प्रव्रजनशीला स्वैरिणीति यावत्, पतिं हन्तीति पतिघ्नी । अत्रैवं क्रमः क्षेत्रादिभ्यो मृदाहरणं पिण्डाष्टककरणमन्यस्य ऋतमग्र इति पिण्डाभिमन्त्रणम् एषामेकं गृहाणेति प्रैषः । क्षेत्रपिण्डग्रहणे अस्याः प्रजा अन्नवती भविष्यतीति ज्ञातव्यम् । गोष्ठपिण्डाऽऽदाने पशुमती । वेदीपिण्डाऽऽदाने ब्रह्मवर्चस्विनी । ह्रदपिण्डादाने सर्वसम्पन्ना । द्यूतस्थानपिण्डाऽऽदाने द्यूतिनी । चतुष्पथपिण्डाऽऽदाने स्वैरिणी । ऊषरपिण्डाऽऽदाने धनहीना । श्मशानभूमिपिण्डादाने पतिघ्नी । अत्र प्रजास्तुतिनिन्दाद्वारेण सैव वस्तुतो निन्दिताऽनिन्दिता चेति मन्तव्यम् । उत्तरैस्तु त्रिभिर्वाक्यैः सैव निन्द्यते । अनन्यपूर्विकेत्यनेन वाग्दत्ता, मनोदत्ता, अग्निं परिगता, सप्तपदीं नीता, भुक्ता, गृहीतगर्भा, प्रसूता चेति सप्त पुनर्भ्वो व्यावर्त्यन्ते । कान्तां वोढुर्मनोनयनयोराह्लादकरीम् । असपिण्डेति सापिण्ड्यवर्जनम् । तच्चैकशरीरावयवान्वयेन भवति । एकस्य हि पितुर्मातुर्वा शरीरावयवाः पुत्रपौत्रादिषु साक्षात्परम्परया वा शुक्रशोणितादिरूपेणानुस्यूताः । यद्यपि पत्न्याः पत्या सह भ्रातृपत्नीनां च परस्परं नैतत्सम्भवति तथाप्याधारत्वेनैकशरीराव-

वान्वयोऽस्त्येव । एकस्य हि पितृशरीरस्यावयवा पुत्रद्वारा तास्वाहिता इति मिताक्षराकारमदनपारिजातादय आहुः । कथञ्चिदेकपिण्डक्रियाप्रवेशेन निर्वाप्यसापिण्ड्यं चन्द्रिकापरार्कमेधातिथिमाधवादयो वदन्ति । नन्वेवं विधातृशरीरावयवान्वयेन सापिण्ड्यातिप्रसङ्गेन एकपिण्डदानक्रियान्वयित्वेन वा गुरुशिष्यादेरपि श्राद्धदेवतात्वात् सापिण्ड्यमिति न कांप्यसपिण्डेत्यत आह याज्ञवल्क्यः—पञ्चमात्सप्तमादूर्ध्वं मातृतः पितृतस्तथेति । मातृपक्षे पञ्चमात्पितृपक्षे सप्तमादूर्ध्वं सापिण्ड्यं निवर्तेत इति शेषः । कूटस्थमारभ्यात्र गणना कार्या । तदुक्तम्—वध्वा वरस्य वा तातः कूटस्थाद्यदि सप्तमः । पञ्चमी चेत्तयोर्माता तत्सापिण्ड्यं निवर्तते ॥ इति । कूटस्थो मूलपुरुषः यतः सन्तानभेदः । यवीयसीं स्वापेक्षया वयसा वपुषा च न्यूनाम् । अरोगिणीमचिकित्स्यराजयक्ष्मादिरोगरहिताम्, भ्रातृमतीमिति पुत्रिकाकरणशङ्कानिवृत्त्यर्थम्, यत्र तु पुत्रिकाकरणाभावनिश्चयस्तामभ्रातृकामप्युद्वहेत् । असमानार्षगोत्रजाम् ऋषेरिदमार्षं, गोत्रप्रवर्तकस्य मुनेर्व्यावर्तकः प्रवर इत्यर्थः । गोत्रं वंशपरम्पराप्रसिद्धम् । स्वसमाने आर्षगोत्रे यस्य तस्माज्जाता या न भवति तां यास्कवाघूलमौनमूकानां भिन्नगोत्राणामपि भार्गववैतहव्यसावेतसेति प्रवरैक्यमस्ति तत्र विवाहो मा भूदिति असमानार्षजामित्युक्तम् । आङ्गिरसाम्बरीषयौवनाश्वेति, मान्धात्रम्बरीषयौवनाश्वेति, आङ्गिरसमान्धातृप्रवरभेदेऽपि यौवनाश्वगोत्रैक्यम् तादृशविवाहवारणायासमानगोत्रजामिति उक्तम् । तथा च गोत्रप्रवरौ पृथक् पर्युदासे निमित्तभूतौ । प्रवरैक्ये विशेषमाह बौधायनः—पञ्चानां त्रिषु सामान्यादविवाहस्त्रिषु द्वयोः । भृग्वङ्गिरोगणेष्वेव शेषेष्वेकोऽपि वारयेत् ॥ इति, विवाहमिति शेषः । इति सङ्क्षिप्तगोत्रप्रवरनिर्णयः । अथ समानार्षगोत्रजाविवाहे प्रायश्चित्तम्—परिणीय सगोत्रां तु समानप्रवरां तथा । त्यागं कुर्याद् द्विजस्तस्यास्ततश्चान्द्रायणं चरेत् ॥ त्यागश्चोपभोगस्यैव न तु तस्याः । समानप्रवरां कन्यामेकगोत्रामथापि वा । विवाहयति यो मूढस्तस्य वक्ष्यामि निष्कृतिम् ॥ उत्सृज्य तां ततो भार्यां मातृवत्परिपालयेदिति शातातपस्मृतेः । समानप्रवरस्वरूपं च बौधायनेनोक्तम्—एक एव ऋषिर्यावत्प्रवरेष्वनुवर्तते । तावत्समानगोत्रत्वमृते भृग्वङ्गिरोगणात् ॥ इति । समानगोत्रत्वं समानप्रवरत्वमित्यर्थः ।

अथ सापत्नविषये सापिण्ड्यम्—सपत्नमातामहकुलेऽप्यातिदेशिकात्सापिण्ड्याद-विवाहः । तथा च सुमन्तुः—'पितृपत्न्यः सर्वा मातरस्तद्भ्रातरो मातुलास्तद्भगिन्यो मातृष्वसारस्तद्दुहितरश्च भगिन्यस्तदपत्यानि भागिनेयानि अन्यथा सङ्करकारिण्यः स्युः' इति । अत्र यावद्वचनं वाचनिकमिति न्यायेन परिगणितेष्वेवातिदेशिकं सापिण्ड्यं न तु पञ्चमसप्तमपर्यन्तं क्वचित्तु वचनादेव विवाहनिषेधः । तथा च बह्वृचगृह्यपरिशिष्टे—'अविरुद्धसम्बन्धामुपयच्छेत्' इत्युक्त्वा स्वयमेव विरुद्धं सम्बन्धं दर्शयति, 'यथा भार्यास्वसुर्दुहिता पितृव्यपत्नीस्वसा च' इति । तथा नारदः—प्रत्युद्वाहो नैव कार्यो नैकस्मै दुहितृद्वयम् । नैवैकजन्ययोः पुंसोरेकजन्ये च कन्यके ॥ नैवं कदाचिदुद्वाहो नैकदा मुण्डनद्वयम् । अन्यच्चापि—एकजन्ये च कन्ये द्वे पुत्रयोर्नैकजन्मनोः । न पुत्रीद्वयमेकस्मै प्रदद्याद्वै कदाचन ॥ इति । अथ वरगुणाः—तत्र बुद्धिमते कन्यां प्रयच्छेदिति बह्वृचगृह्यम् ।

यमः—कुलं च शीलं च वयश्च रूपं विद्यां च वित्तं च सनाथतां च। एतान्गुणान्सप्त परीक्ष्य देया कन्या बुधैः शेषमचिन्तनीयम् ॥ याज्ञवल्क्यः—एतैरेव गुणैर्युक्तः सवर्णः श्रोत्रियो वरः। यत्नात्परीक्षितः सम्यक् युवा धीमाञ्जनप्रियः ॥ एतैः कन्यागुणैरनन्य-पूर्वकत्ववयवीयस्त्वभ्रातृमत्त्वव्यतिरिक्तैर्युक्तः। कात्यायनः—उन्मत्तः पतितः कुष्ठी षण्ढश्चैव स्वगोत्रजः। चक्षुःश्रोत्रविहीनश्च तथाऽपस्मारदूषितः ॥ वरदोषाः स्मृता ह्येते कन्यादोषाः प्रकीर्तिताः। नारदः—'परीक्ष्य पुरुषः पुंस्त्वे निजैरेवाङ्गलक्षणैः। पुमाँ-श्चेदविकल्येन स कन्यां लब्धुमर्हति ॥ सुबद्धजत्रुजान्वस्थि सुबद्धांसशिरोधरः। यस्या-विप्लवते रेतो ह्लादि मूत्रं च फेनिलम् ॥ पुमान्स्याल्लक्षणैरेभिर्विपरीतस्तु षण्ढकः ॥ अपत्यार्थं स्त्रियः सृष्टाः स्त्री क्षेत्रं बीजिनो नराः ॥ क्षेत्रं बीजवते देयं नाबीजी क्षेत्रमर्हति ॥

अथ कन्यावरयोर्बृहस्पत्यानुकूल्याभावे तदाऽऽनुकूल्याय बृहस्पतिशान्तिस्तत्र-शौनकः—कन्योद्वाहस्य काले तु आनुकूल्यं न विद्यते। ब्राह्मणस्योपनयने गुरोर्विधिरुदा-हृतः ॥ सुवर्णेन गुरुं कृत्वा पीतवस्त्रेण वेष्टयेत्। ईशान्यां धवलं कुम्भं धान्योपरि निधाय च ॥ दमनं मधुपुष्पं च पलाशं चैव सर्षपान्। मांसी गुडूच्यपामार्गविडङ्गी-शङ्खिनी वचा ॥ सहदेवी हरिक्रान्ता सर्वौषधिशतावरी। बला च सहदेवी च निशा-द्वितयमेव च ॥ कृत्वाऽऽज्यभागपर्यन्तं स्वशाखोक्तविधानतः। यथोक्तमण्डलेऽभ्यर्च्य पीतपुष्पाक्षतादिभिः ॥ देवपूजोत्तरे काले ततः कुम्भानुमन्त्रणम्। अश्वत्थसमिधश्चाज्यं पायसं सर्पिषा युतम् ॥ यवव्रीहितिलाः साज्या मन्त्रेणैव बृहस्पतेः। अष्टोत्तरशतं सर्वं होमशेषं समापयेत् ॥ पुत्रदारसमेतस्य अभिषेकं समाचरेत्। कुम्भाभिमन्त्रणोक्तैश्च समुद्रज्येष्ठमन्त्रतः ॥ प्रतिमां कुम्भवस्त्रं च आचार्याय निवेदयेत्। ब्राह्मणान्भोजयेत् पश्चाच्छुभं स्यान्नात्र संशयः ॥

अथापरिहार्यकन्यावैधव्ययोगे तूच्यते। तत्र मार्कण्डेयपुराणे—बालवैधव्ययोगे तु कुम्भेषु प्रतिमादिभिः। कृत्वा लग्नं ततः पश्चात्कन्योद्वाह्येति चापरे ॥ तत्र पुनर्भूदोषा-भाव उक्तो विधानखण्डे—स्वर्णाम्बुपिप्पलानां च प्रतिमा विष्णुरूपिणी। तया सह विवाहे तु पुनर्भूत्वं न जायते ॥ सूर्यारुणसंवादे—विवाहात्पूर्वकाले च चन्द्रताराबला-न्विते। विवाहोक्ते च मन्थन्या कुम्भेन सह चोद्वहेत् ॥ सूत्रेण वेष्टयेत्पश्चाद्दशतन्तु-विधानतः। कुङ्कुमालङ्कृतं देहं तयोरेकान्तमन्दिरे ॥ ततः कुम्भं च निस्सार्य प्रभज्य सलिलाशये। ततोऽभिषेचनं कुर्यात्पञ्चपल्लववारिभिः ॥ कुम्भप्रार्थनाऽपि तत्रैवोक्ता—वरुणाङ्गस्वरूपाय जीवनानां समाश्रय। पतिं जीवय कन्यायाश्चिरं पुत्रसुखं कुरु ॥ देहि विष्णो वरं देव कन्यां पालय दुःखतः। ततोऽलङ्कारवस्त्रादि वराय प्रतिपादयेत् ॥ इति कुम्भविवाहः। तत्रैव मूर्तिदानमप्युक्तम्। ब्राह्मणं साधुमामन्त्र्य सम्पूज्य विविधा-र्हणैः। तस्मै दद्याद्विधानेन विष्णोर्मूर्तिं चतुर्भुजाम् ॥ शुद्धवर्णसुवर्णेन वित्तशक्त्याऽथवा पुनः। निर्मितां रुचिरां शङ्खगदाचक्राब्जसंयुताम् ॥ दधानां वाससी पीते कुमुदोत्पल-मालिनीम्। सदक्षिणां च तां दद्यान्मन्त्रमेनमुदीरयेत् ॥ यन्मया प्राचि जनुषि त्यक्त्वा पतिसमागमम्। विषोपविषशस्त्राद्यैर्हतो वाऽतिविरक्तया ॥ प्राप्यमानं महाघोरं

यशःसौख्यधनापहम् । वैधव्याद्यतिदुःखौघनाशाय सुखलब्धये ।। बहुसौभाग्यलब्धौ च महाविष्णोरिमां तनुम् । सौवर्णीं निर्मितां शक्त्या तुभ्यं सम्प्रददे द्विज ।। अनघाद्याह-मस्मीति त्रिवारं प्रजपेदिति । एवमस्त्विति तस्योक्त्वं गृहीत्वा स्वगृहं विशेत् । ततो वैवाहिकं कुर्याद्विधिं दाता मृगीदृशः ।। अन्येऽप्यश्वत्थवृक्षविवाहवृक्षसेचनादयस्तत्रैव ज्ञेयाः, ग्रन्थगौरवभयान्नेहोच्यन्ते । अथ विवाहकाले कन्या ऋतुमती चेत्तत्र यज्ञपार्श्वे—विवाहे वितते तन्त्रे होमकाले उपस्थिते । कन्यामृतुमतीं दृष्ट्वा कथं कुर्वन्ति याज्ञिकाः ।। स्नापयित्वा तु तां कन्यामर्चयित्वा यथाविधि । युञ्जानामाहुतिं हुत्वा ततः कर्मणि योजयेत् ।। युञ्जानः प्रथममित्यनेनं मन्त्रेणाहुतिं हुत्वेत्यर्थः । यद्वा—विवाहहोमे प्रक्रान्ते यदि कन्या रजस्वला । त्रिरात्रं दम्पती स्यातां पृथक्शय्यासनाशनौ ।। चतुर्थेऽहनि सुस्नातौ तस्मिन्नग्नौ यथाविधि । इति । जुहुयातामिति शेषः ।

अथ विवाहे आशौचनिर्णयः । विधिवत्कृते कन्यावरणे त्रिरात्रादिव्रतसमाप्तिपर्यन्तमध्ये आशौचप्राप्तौ तदपोह्य सद्यःशौचं चन्द्रिकाकार आह । तत्र याज्ञवल्क्यः—दाने विवाहे यज्ञे च सङ्ग्रामे देशविप्लवे । आपद्यपि च कष्टायां सद्यःशौचं विधीयते ।। इति । दातुर्वरस्य कन्यायाश्च सद्यःशौचं बृहस्पतिः—विवाहोत्सवयज्ञेषु त्वन्तरामृतसूतके । पूर्वसङ्कल्पितार्थेषु न दोषः परिकीर्तितः ।। षट्त्रिंशन्मते—विवाहोत्सवयज्ञेषु त्वन्तरा मृतसूतके । परैरन्नं प्रदातव्यं भोक्तव्यं च द्विजोत्तमैः ।। व्रतयज्ञविवाहेषु श्राद्धे होमेऽर्चने जपे । प्रारब्धे सूतकं न स्यादनारब्धे तु सूतकम् ।। प्रारम्भश्च तेनैवोक्तः—प्रारम्भो वरणं यज्ञे सङ्कल्पो व्रतसत्रयोः । नान्दीमुखं विवाहादौ श्राद्धे पाकपरिक्रिया ।। इति । वरणमिति मधुपर्कपरम् । तथा च ब्राह्मे—गृहीतमधुपर्कस्य यजमानाच्च ऋत्विजः । पश्चादशौचे पतिते न भवेदिति निश्चयः ।। मधुपर्कात्पूर्वं तु भवत्येवमाशौचमिति रामाण्डारभाष्ये । शुद्धिविवेकेऽप्येचमेव । नान्दीमुखविधिश्चावश्यकत्वे अधिक उक्तः । एकविंशत्यहर्यज्ञे विवाहे दश वासराः । त्रिषट् चौलोपनयने नान्दीश्राद्धं विधीयते ।। इति । तेन एकविंशत्याद्यहरन्तःपाति यदि यज्ञादिर्भवति तथा आवश्यके यज्ञादौ पूर्वं श्राद्धं कुर्यादित्यर्थः । प्रारम्भाभावेऽपि कन्याया अधार्यत्वे विवाह इत्यर्थः । सन्निहितलग्नान्तराभावे च होमादिपूर्वकं विष्णुरनुज्ञामाह—अनारब्धविशुद्ध्यर्थं कूष्माण्डैर्जुहुयाद् घृतम् । गां दद्यात्पञ्चगव्याशी ततः शुध्यति सूतकी ।। उपकल्पितबहुसम्भारस्यापि तत्सन्निहितलग्नान्तराभावेन सम्भारधारणाशक्तौ आशौचाभावमाह विष्णुः—न देवप्रतिष्ठाविवाहयोः पूर्वसम्भृतयोरिति ।

अथ रजोदोषे निर्णयः—वधूवरान्यतरयोर्जननी चेद्रजस्वला । तस्याः शुद्धेः परं कार्यं माङ्गल्यं मनुरब्रवीत् ।। माधवीये—प्रारम्भात्प्राग्विवाहस्य माता यदि रजस्वला । निवृत्तिस्तस्य कर्तव्या सहत्वश्रुतिचोदनात् ।। प्रारम्भात्प्रागिति नान्दीश्राद्धात्प्रागिति ज्ञेयं, नान्दीश्राद्धं विवाहादावित्यादिना तस्यैव प्रारम्भोक्तेः । वृद्धमनुः—विवाहव्रतचूडासु माता यदि रजस्वला । तदा न मङ्गलं कार्यं शुद्धौ कार्यं शुभेप्सुभिः ।। इति । मेधातिथिः—चौले च व्रतबन्धे च विवाहे यज्ञकर्मणि । भार्या रजस्वला यस्य प्रायस्तस्य न शोभनम् ।। गर्गः—यस्योद्वाहादिमाङ्गल्यं माता यदि रजस्वला । तदा

न तत्प्रकर्तव्यमायुःक्षयकरं यतः ॥ बृहस्पतिः—वैधव्यं च विवाहे स्याज्जडत्वं व्रतबन्धने । चूडायां च शिशोर्मृत्युर्विघ्नं यात्राप्रवेशयोः ॥ आभ्युदयिकश्राद्धोत्तरं तु कपर्द्दिकारिकासु विशेषः—सूतिकोदक्ययोः शुद्धयै गो दद्याद्धोमपूर्वकम् । प्राप्ते कर्मणि शुद्धिः स्यादितरस्मिन्न शुद्धयति ॥ अलाभे सुमुहूर्तस्य रजोदोषे च सङ्कटे । श्रियं सम्पूज्य तत्कुर्यात्पाणिग्रहणमङ्गलम् ॥ हैमीं माषमितां पद्मां श्रीसूक्तविधिनाऽर्चयेत् । प्रत्यृचं पायसं हुत्वा अभिषेकं समाचरेत् ॥ इति ।

अथ विवाहभेदाः । मनुः—ब्राह्मो दैवस्तथा चार्षः प्राजापत्यस्तथाऽऽसुरः । गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचस्त्वष्टमो मतः ॥ चत्वारो ब्राह्मणस्याद्या राज्ञां गान्धर्वराक्षसौ । राक्षसश्चासुरो वैश्ये शूद्रे चान्त्यस्तु गर्हितः ॥ अन्त्यः पैशाचः । याज्ञवल्क्यः—ब्राह्मो विवाह आहूय दीयते शक्त्यलङ्कृता । तज्जः पुनात्युभयतः पुरुषानेकविंशतिम् ॥ यज्ञस्थऋत्विजे दैव आदायार्षस्तु गोद्वयम् । चतुर्दश प्रथमजः पुनात्युत्तरजश्च षट् ॥ इत्युक्त्वा चरतां धर्मं सह या दीयतेऽर्थिने । स कायः पावयेत्तज्जः षट् षट् वंश्यान्स-हात्मना ॥ आसुरो द्रविणादानाद् गान्धर्वः समयान्मिथः । राक्षसो युद्धहरणात्पैशाचः कन्यकाछलात् ॥ इति । गान्धर्वादिष्वपि पतिभावाय पश्चाद्धोमादि सप्तपदीपर्यन्तं कार्यम्—'गान्धर्वासुरपैशाचा विवाहो राक्षसश्च यः । पूर्वं परिग्रहस्तेषु पश्चाद्धोमो विधीयते' ॥ इति परिशिष्टात् । होमाद्यभावे वरान्तराय देया, सति तु नेति बौधायन आह—बलादपहृता कन्या मन्त्रैर्यदि न संस्कृता । अन्यस्मै विधिवद्देया यथा कन्या तथैव सा ॥ इति । बलादिति छलादेरुपलक्षणम् ॥ अथ वाग्दानोत्तरं वरमरणे विशेषः—अद्भिर्वाचा च दत्तायां म्रियेतोर्ध्वं वरो यदि । न च मन्त्रोपनीता स्यात्कुमारी पितुरेव सा ॥ देशान्तरगमने तु कात्यायनः—वरयित्वा तु यः कश्चित्प्रवसेत्पुरुषो यदा । ऋत्वा-गमांस्त्रीनतीत्य कन्यान्यं वरयेत्पतिम् ॥ याज्ञवल्क्यः—दत्तामपि हरेत्पूर्वाच्छ्रेयांश्चे-द्वर आव्रजेत् । वसिष्ठः—कुलशीलविहीनस्य षण्ढादिपतितस्य च । अपस्मारि-विधर्मस्य रोगिणां वेषधारिणाम् ॥ दत्तामपि हरेत्कन्यां सगोत्रोढां तथैव च । अथ धर्मार्थविवाहकरणे फलम् । तत्र महाभारते—ज्ञात्वा स्ववित्तसामर्थ्यादिकं चोद्वा-हयेद् द्विजम् । तेनाप्याप्नोति तत्स्थानं शिवभक्तेन यद् ध्रुवम् ॥ मातृपितृविहीनं तु संस्कारोद्वाहनादिभिः । यः स्थापयति तस्येह पुण्यसङ्ख्या न विद्यते ॥ भविष्ये—विवाहादिक्रियाकाले तत्क्रियासिद्धिकारणम् । यः प्रयच्छति. धर्मज्ञः सोऽश्वमेधफलं लभेत् ॥

अथ वाग्दानविधिः । ज्योतिःशास्त्रोक्ते शुभे काले द्वौ चत्वारोऽष्टौ वा प्रशस्त-वेषा वरपित्रादिना सहिताः शकुनदर्शनपूर्वकं कन्यागृहमेत्य कन्यापितुः प्रार्थना कार्या मत्पुत्रार्थं कन्यां प्रयच्छेति । अथ दाता भार्याद्यनुमतिं कृत्वा दास्यामीति चोच्चैर्ब्रू-यात् । ततः कन्यादाता प्राङ्मुख उपविश्याऽऽचम्य देशकालौ स्मृत्वा करिष्यमाण-विवाहाङ्गभूतं वाग्दानमहं करिष्ये, तदङ्गं गणपतिपूजनं च करिष्य इति सङ्कल्प्य गन्धादिदक्षिणान्तैर्गणपतिं पूजयित्वा स्वस्थाने वरपितरं प्राङ्मुखमुपवेश्य स्वयं च तत्प्राच्यां प्रत्यङ्मुख उपविश्य तं गन्धताम्बूलादिभिः पूजयित्वा हरिद्राखण्डपञ्चकं

दृढपूगीफलानि च गन्धाक्षतालङ्कृतानि गृहीत्वाऽमुकगोत्रोत्पन्नाममुकपुत्रीममुकनाम्नी-मिमां कन्यां ज्योतिर्विदादिष्टे मुहूर्ते दास्य इति वाचा सम्प्रददे इति चोक्त्वा—अव्यङ्गे पतिते क्लीवे दशदोषविवर्जिते । इमां कन्यां प्रदास्यामि देवाग्निद्विजसन्निधौ ।। इति पठेत् । ततो मन्त्रान्तरं पठेत्—वाचा दत्ता मया कन्या पुत्रार्थं स्वीकृता त्वया । कन्यावलोकन-विधौ निश्चितस्त्वं सुखी भव ।। वरपिता च ब्रूयात्—वाचा दत्ता त्वया कन्या पुत्रार्थं स्वीकृता मया । वरावलोकनविधौ निश्चितस्त्वं सुखी भव ।। भ्रात्रादौ स्वीकर्तरि भ्रातृ-मित्रार्थमित्याद्यूहः कार्यः । ततो वरपित्रादिर्गन्धाक्षतशुभवस्त्रादियुग्मभूषणताम्बूलपुष्पा-दिभिः कन्यां यथाचारं पूजयेत् । ततः ब्राह्मणा आशीर्मन्त्रान्पठेयुः । इति वाग्दानम् ।।

अथ मृदाहरणं ज्योतिर्निबन्धे । कर्तव्यं मङ्गलेष्वादौ मङ्गलायाङ्कुरार्पणम् । नवमे सप्तमे वाऽपि पञ्चमे दिवसेऽपि वा ।। तृतीये बीजनक्षत्रे शुभवारे शुभोदये । सम्यग्गृहाण्यलङ्कृत्य वितानध्वजतोरणैः ।। सहवादित्रनृत्याद्यैर्गत्वा प्रागुत्तरां दिशम् । तत्र मृत्तिकतां श्लक्ष्णां गृहीत्वा पुनरागतः ।। मृन्मयेष्वथवा वैणवेषु पात्रेषु योजयेत् । अनेकबीजसंयुक्तां तोयपुष्पोपशोभिताम् ।। शौनकः—आधानं गर्भसंस्कारं जातकर्म च नाम च । हित्वाऽन्यत्र विधातव्यं मङ्गलेऽङ्कुरवापनम् ।। वृहस्पतिः—आत्यन्तिकेषु कार्येषु कार्यं सद्योऽङ्कुरार्पणम् । ततो वैवाहिके शुभे मुहूर्ते वधूवरयोस्तैलहरिद्रालाप-नादि यथाऽऽचारं कार्यम् ।

अथ विवाहदिनात्पूर्वदिनकृत्यम्—तत्र पूर्वं गणपतिपूजनं, ततः पूर्वोक्तलक्षणं मण्डपं कृत्वा तत्प्रतिष्ठां कुर्यात् । तत्र पूर्वाह्णे सपत्नीकः कृताभ्यङ्गो धृतमाङ्गलिकवेषः शुभासने उपविश्याऽऽचम्य प्राणानायम्येष्टदेवतागुर्वादिनमस्कारं कृत्वा देशकालौ सङ्कीर्त्यास्या अमुकनाम्न्याः श्वः करिष्यमाणविवाहाङ्गभूतं स्वस्तिवाचनं मण्डपप्रतिष्ठां मातृपूजनं वसोर्धारापूजनमायुष्यजपं नान्दीश्राद्धं चाहं करिष्ये इति सङ्कल्पं कुर्यात् । ततो ब्राह्मणानुपवेश्य स्वस्तिवाचनं कुर्यात् ।। मण्डपप्रतिष्ठा चैवम्—दूर्वाशमीपल्लव-वकुलवृक्षपल्लवानाम्रादिप्रशस्तवृक्षपत्रवेष्टितान् सूत्रेण पञ्चधा वेष्टयेत् । आग्नेय-कोणस्थमण्डपस्तम्भोपरि नन्दिनीनामकं वेष्टितं मनोजूतिरिति स्थापयित्वा तत्र नन्दिनीं पूजयेत् । तच्चेत्थम्—आपोहिष्ठेति प्रोक्ष्य गन्धद्वारामिति गन्धाक्षतं, दधि-क्राव्ण इति दधि, काण्डात्काण्डादिति दूर्वाः पुष्पाणि समर्पयेत् । ततो नैर्ऋत्यवाय-व्येशानस्तम्भेषु मण्डपमध्योपरिभागे काष्ठे च क्रमेण नलिनीमैत्रोमापशुवर्द्धनीनामक-वेष्टितानि पूर्ववत्स्थापयित्वा पूजयेत् । ततो मातृपूजनं, वसोर्द्धारापूजनम् । आयुष्यं वर्चस्यमित्यायुष्यजपं च कुर्यात् । एषामनुष्ठानप्रकारः पूर्वोक्तो द्रष्टव्यः ।। नान्दी-श्राद्धम्—इदं चोद्वाहे पिता कुर्यात् । द्वितीयादौ वर एव । तथा च स्मृतौ—नान्दी-श्राद्धं पिता कुर्यादाद्ये पाणिग्रहे पुनः । अत ऊर्ध्वं प्रकुर्वीत स्वयमेव तु नान्दिकम् ।। मण्डनः—पित्रोस्तु जीवतोः कुर्यात्पुनः पाणिग्रहं यदा । पितुर्नान्दीमुखं श्राद्धं नोक्तं तस्य मनीषिभिः ।। इति । पितुरभावे—असंस्कृतास्तु संस्कार्या भ्रातृभिः पूर्वसंस्कृतैरिति यः कर्तृक्रमस्तेन क्रमेण ज्येष्ठभ्रात्रादिर्दद्यादिति चन्द्रिकादय आहुः । हेमाद्रिस्तु तस्य पितुरभावे यः पितृव्यमातुलादिः संस्कुर्यात्स तत्क्रमात्संस्कार्यपितृभ्यो दद्यान्न तु स्वपि-

तृप्य इति व्याचख्यौ ।, अत्र बहु वक्तव्यं विस्तरभिया नोच्यते । रेणुकारिकायाम्—उक्ते काले विवाहाङ्गं कुर्यान्नान्दीमुखं पिता । देशान्तरे विवाहश्चेत्तत्र गत्वा भवेदिदम् ॥ अत्र पदार्थक्रमोऽस्मत्कृते श्राद्धप्रयोगे आलोचनीयः । एवं वरपिता स्वगृहेऽपि सर्वं कुर्यात् । इदं च वधूपित्रा कृते नान्दीश्राद्धे कार्यम् । तदुक्तं कारिकायाम्—इत्थं वधूपिता कृत्वोद्वाहारम्भनिमित्तकम् । नान्दीश्राद्धं त्रयं कुर्यात्तस्मिन्नहनि संयतः ॥ न मण्डपादिकं कर्म वरस्य श्राद्धमन्तरेति । आचारोऽप्येवम् । ततो वरगृहे गत्वा वरवरणं कार्यम् । तत्र गणपतिं स्मृत्वा देशकालौ सङ्कीर्त्य करिष्यमाणविवाहाङ्गं वरणं करिष्य इति सङ्कल्प्य "उपवीतादिद्रव्यैस्त्वां वृणे, इति । तानि द्रव्याणि वराय दत्त्वा पादौ प्रक्षाल्य चन्दनादिभिः पूजां कुर्यात् । वरणे देयानि द्रव्याण्याह चन्द्रेश्वरः—उपवीतं फलं पुष्पं वासांसि विविधानि च । देयं वराय वरणे कन्याभ्रात्रा द्विजेन ॥ च इति । इति पूर्वदिनकृत्यम् । अगतौ सर्वमेतद्विवाहदिन एव पूर्वं सर्वं कुर्यात् ।

अथ विवाहदिनकृत्यम् । तत्र पूर्वं घटीस्थापनं कार्यम् । नारदः—षडङ्गुलमितोत्सेधं द्वादशाङ्गुलमायतम् । कुर्यात्कपालवत्ताम्रपात्रं तद्दशभिः पलैः ॥ ताम्रपात्रे जलैः पूर्णे मृत्पात्रे वाऽथ वा शुभे । मण्डलार्धोदयं वीक्ष्य रवेस्तत्र विनिक्षिपेत् ॥ तत्र मन्त्रः—मुखं त्वमसि यन्त्राणां ब्रह्मणा निर्मितं पुरा । भावाभावाय दम्पत्योः कालसाधनकारणम् ॥ इति । ततो वरः कृतनित्यक्रिय इष्टदेवतां पित्रादींश्च नमस्कृत्य तैरनुमोदितो यथाविभवमश्वादियानमारुह्य वधूगृहं गत्वा तद्द्वारदेशे प्राङ्मुखः स्थितो नीराजनपूर्णकुम्भयुक्तैः पुरन्ध्रीजनैः प्रत्युद्यातो नीराजितोऽन्तर्गृहं प्रविश्य प्राङ्मुखस्तिष्ठेत् । ततः कन्यापिता मधुपर्केण समर्चयेत् ।

अथ मधुपर्कः—तत्र वरस्य वैकल्पिकावधारणम्, यन्मधुन इति मधुपर्काशनं शेषस्य प्रागसञ्चरे निनयनम्, एतौ विकल्पौ स्मरेत् । ततः साधु भवानिति अर्चयिता अर्घ्यं प्रति वदति अर्चयेत्यर्घ्यस्य प्रतिवचनमिति वासुदेवभट्टादयः । विष्टरादीनामाहरणम्, अर्घयितुर्विष्टरादानम्, अर्घयितुर्व्यतिरिक्त अन्य अर्घ्यं सम्बोधयति विष्टरो विष्टरो विष्टरः प्रतिगृह्यतामित्यनेन । ततोऽर्घ्योऽर्घयितुः सकाशात्तूष्णीं विष्टरमादायासने निधाय वर्ष्मोऽस्मि समानानामित्युपविशति । ततः पाद्योदकदानमर्घयितुः ततोऽर्घ्यमन्यः सम्बोधयति पाद्यं पाद्यं पाद्यं प्रतिगृह्यतामिति । ततोऽर्घयितुः सकाशात्पाद्यं प्रतिगृह्य दक्षिणं पादं प्रक्षालयति विराजो दोहोऽसीति । ततोऽनेनैव मन्त्रेण वामपादप्रक्षालनम् । राजन्यवैश्ययोस्तु पूर्वं वामपादप्रक्षालनम् । अर्घयितुर्विष्टरादानम् । अन्यः प्राह विष्टरो विष्टरो विष्टरः प्रतिगृह्यतामिति । ततोऽर्घ्यो द्वितीयं विष्टरं तूष्णीं प्रतिगृह्य भूमौ निधाय वर्ष्मोऽस्मीत्यनेन तस्योपरि पादौ निदधाति । अर्घयितुरर्घादानम् । अन्यः प्राह अर्घोऽर्घोऽर्घः प्रतिगृह्यतामिति । ततोऽर्घ्य आपःस्थ युष्माभिरित्यर्घं प्रतिगृह्णाति । अर्घ्यस्तमर्घं निनयन्नभिमन्त्रयते समुद्रं व इति । ततोऽर्घयितुराचमनीयादानम् । ततोऽन्यः प्राह आचमनीयमाचमनीयमाचमनीयं प्रतिगृह्यतामिति । ततोऽर्घ्योऽर्घयितुराचमनीयं प्रतिगृह्य आमागन्यशसेति सकृदाचामति ततः स्मार्ताचमनम् । अर्घयितुर्मधुपर्कादानम् ।

अन्य आह मधुपर्को मधुपर्को मधुपर्कः प्रतिगृह्यतामिति। ततोऽर्घ्योऽर्घयितुर्हस्तस्थितं मधुपर्कं मित्रस्य त्वेत्यनेनेक्षते ततो मधुपर्कं देवस्य त्वा० भ्यां प्रतिगृह्णामीति प्रतिगृह्य सव्ये पाणौ कृत्वा दक्षिणस्यानामिकयाऽऽलोडयति नमः श्यावास्यायेति। ततो मधुपर्कैकदेशस्य अनामिकाङ्गुष्ठेन बहिः प्रक्षेपः। एवं च त्रिरालोडनं त्रिर्निरुक्षणमनामिकाङ्गुष्ठेन भवति। ततोऽर्घ्यो मधुपर्कैकदेशं यन्मधुनो मधव्यमिति प्राश्नाति पुनरनेनैव मन्त्रेण वारद्वयमुच्छिष्ट एव प्राश्नाति। उच्छिष्टदोषाभावो मनूक्तो द्रष्टव्यः। मधुमतीभिर्वा प्रत्यृचं प्राशनम्। ततोऽर्घ्यो मधुपर्कशेषं पुत्राय शिष्याय वा उत्तरत उपविष्टाय ददाति, अथवा स्वयमेव सर्वं प्राश्नाति, प्रागसञ्चरे वा निनयनम्। ततोऽर्घ्यः आचम्य प्राणान् सम्मृशेत्, तत्रैवम्—वाङ्म आस्ये अस्त्विति मुखमालभते, नसोर्मे प्राणः अस्त्विति नासिकाछिद्रद्वयं युगपत्, अक्ष्णोर्मे चक्षुरस्त्विति अक्षिद्वयं युगपत्, कर्णयोर्मे श्रोत्रमस्त्विति दक्षिणं कर्णमभिमृश्य ततो वाममनेनैव मन्त्रेण, बाह्वोर्मे बलमस्त्विति दक्षिणं बाहुं ततो वाममनेनैव मन्त्रेण, ऊर्वोर्मे ओजः अस्त्विति ऊरुद्वयं युगपदेव, अरिष्टानि मेऽङ्गानि तनूस्तन्वा मे सह सन्त्विति शिरःप्रभृतिसर्वाङ्गानां युगपत्। ततो गामानीयार्चयिता शस्त्रमादाय गौर्गौर्गौः आलभ्यतामित्यर्घ्यं प्रति वदति। ततोऽर्घ्यः प्रत्याह माता रुद्राणामित्यादि वधिष्टेत्यन्तमुक्त्वा मम चामुष्य च पाप्मानꣳ हनोमीति ब्रूयात् यद्युत्सिसृक्षेन्मम चामुष्य च पाप्मा हत ओमुत्सृजत तृणान्यत्त्विति ब्रूयात्। विहाहयज्ञयोस्तु नियमेनालम्भः। स च कलौ न भवति स्मृत्यन्तरात् आलम्भाभावे तु गौरित्युच्चारणादिकमपि न भवति। सर्वत्रालम्भाभावेऽप्युत्सर्ग एवेति कारिकायाम्—गोरालम्भनिषेधात् स्यात्सर्वत्रोत्सर्जनं कलाविति। इति मधुपर्कः॥

ततो दाता गन्धमाल्यवस्त्रयुगोपवीतयुगाभरणादिभिर्वरं यथाविभवं पूजयेत्। अथ कन्या स्नाता परिहिताहतवस्त्रा गृहान्तः सौभाग्यादिकामनया गौरीं पूजयित्वा तत्रैव गौरीं ध्यात्वा तिष्ठेत्। ततो वरो बहिःशालायां पञ्च भूसंस्कारान् कृत्वा लौकिकाग्निस्थापनं करोति। निर्मन्थ्याग्नेर्वा स्थापनम्। ततो वैकल्पिकावधारणं वरस्य। अग्नेः पश्चात्तेजन्या निधानम्, अग्नेरुत्तरतः कुम्भधृक्, उत्तरतः पात्रासादनम्, द्वे पवित्रे, मृन्मयी आज्यस्थाली, पालाश्यः समिधः, प्राञ्चावाघारौ, समिद्धतमे आज्यभागौ, वरो दक्षिणा, राष्ट्रभृद्धोमः, जयाहोमः, अभ्यातानहोमः, सुगन्नुपन्थामित्याहुत्यन्ते परं मृत्यो इत्येकाऽऽहुतिः। वध्वा आनडुहचर्मोपवेशनं प्राच्याम्। त्रिरात्रमधः शयनाद्युभयोः। इति वैकल्पिकानामवधारणम्। ततो मातुलादिः कन्यानयनं करोति, सा चागत्य प्रत्यङ्मुखी उपविशति। अत्र वधूवरयोर्मध्ये वस्त्रेणान्तर्द्धानम्। ततो वरो वधूं जरां गच्छेति मन्त्रेण वासः परिधापयति वर एवोत्तरीयं या अकृन्तन्नित्यनेन परिधापयति। ततः कन्यापितुरध्येषणं परस्परं समञ्जेथामिति अन्तः पटस्यापसारणम्। वधूवरयोः समञ्जनम्। ततः सम्मुखीकरणं समञ्जन्त्विति मन्त्रेण। अत्र वधूवरयोर्गोत्रप्रवरपूर्वकं प्रपितामहपितामहपितॄणां त्रिर्नामग्रहणं कार्यमिति वासुदेवहरिहरौ सकृदिति गङ्गाधरः।

अथ कन्यादानम्। तत्रायं क्रमः—दाता वरदक्षिणतः स्वदक्षिणदेशस्थपत्नीसहित उदङ्मुख उपविश्य बद्धशिखः शुचिराचम्य कुशपाणिः प्राणानायम्य देशकालावनुकीर्त्य

मम समस्तपितॄणां निरतिशयानन्दब्रह्मलोकावाप्त्यादिकन्यादानकल्पोक्तफलावाप्तये अनेन वरेणास्यां कन्यायामुत्पादयिष्यमाणसन्तत्या द्वादशावरान् द्वादशापरान् पुरुषांश्च पवित्रीकर्तुमात्मनश्च श्रीलक्ष्मीनारायणप्रीतये ब्राह्मविवाहविधिना कन्यादानमहं करिष्ये, इति कुशाक्षतयुतजलेन सङ्कल्प्य सपत्नीकः—कन्यां कनकसम्पन्नां कनकाभरणैर्युताम्। दास्यामि विष्णवे तुभ्यं ब्रह्मलोकजिगीषया। विश्वम्भरः सर्वभूताः साक्षिण्यः सर्वदेवताः ॥ इमां कन्यां प्रदास्यामि पितॄणां तारणाय च। इति मन्त्रौ पठित्वा स्वदक्षिणस्थभार्यादत्तपूर्वकल्पितजलधारां कन्यादक्षिणहस्तगृहीतवरदक्षिणकरे क्षिपेत्। अमुकगोत्रोऽमुकोऽहं मम समस्तेत्यादि प्रीतये इत्यन्तं पूर्ववदुच्चार्यामुकामुकप्रवरोपेतायामुकगोत्रायामुकप्रपौत्रायामुकपौत्रायामुकपुत्रायामुकस्मै श्रीधररूपिणे वरायामुकप्रवरोपेताममुकगोत्राममुकप्रपौत्रीममुकपौत्रीममुकस्य मम पुत्रीममुकनाम्नीं कन्यां श्रीरूपिणीं प्रजापतिदेवत्यां प्रजोत्पादनार्थं तुभ्यं सम्प्रददे इति वरहस्ते सकुशाक्षतजलं क्षिपेत्। प्रजापतिः प्रीयतामिति मनसा स्मरेत्। न मम वाच्यमिति प्रयोगरत्ने नेत्यपरे। वरः ॐ स्वस्तीत्युक्त्वा द्यौस्त्वेति प्रतिग्रहं करोति। ततो दाता—गौरीं कन्यामिमां विप्र यथाशक्ति विभूषिताम्। गोत्राय शर्मणे तुभ्यं दत्तां विप्र समाश्रय ॥ कन्ये ममाग्रतो भूयाः कन्ये मे देवि पार्श्वयोः। कन्ये मे पृष्ठतो भूयास्त्वद्दानान्मोक्षमाप्नुयाम् ॥ मम वंशकुले जाता पालिता वत्सराष्टकम्। तुभ्यं विप्र मया दत्ता पुत्रपौत्रप्रवर्धिनी ॥ न्यूनवयस्कायां पालितावर्षसप्तकमित्याद्यूहः कार्यः। धर्मे चार्थे च कामे च नातिचरितव्या त्वयेयम्। नातिचरामीति वरः। दाता देशकालौ स्मृत्वा कृतस्य कन्यादानस्य प्रतिष्ठासिद्ध्यर्थमिमां दक्षिणां तुभ्यमहं सम्प्रददे इति सजलं यथाशक्ति सुवर्णं दानदक्षिणात्वेन वरहस्ते दत्त्वा न ममेति वदेत्। ॐ स्वस्तीति वरः। ततो दाता जलभाजनभोजनभाजनगोमहिष्यश्वगजदासदासीभूवाहनालङ्कारादि यथाविभवं सङ्कल्पपूर्वकं वराय दद्यात्। अत्र कोऽदादिति कामस्तुतिपाठ इति हरिहरगङ्गाधरौ। वरो वधूं गृहीत्वा निष्क्रामति यदैषिमनसेति। असौ स्थाने वधूनामादेशः। निष्क्रमणप्रभृति कश्चन पुरुषो दक्षिणस्कन्धे वारिपूर्णं कलशं गृहीत्वाऽग्नेरुत्तरतो दक्षिणतो वा वाग्यतस्तिष्ठेत्। ततः परस्परं समीक्षेथामित्याह। अन्योन्यं समीक्षणम् अघोरचक्षुरिति वरकर्तृके समीक्षणे मन्त्रपाठः। दम्पत्योरग्नेः प्रदक्षिणकरणम्। अत्र वा वासःपरिधानादिकर्म। ततः पश्चादग्नेस्तेजनीं कटं वा दक्षिणपादेन प्रवृत्त्योपविशति वरः। वरदक्षिणतो वध्वा उपवेशनम्। ततो ब्रह्मोपवेशनादि चरुवर्ज्यमाज्यभागान्ते विशेषः पवित्रच्छेदनकुशादिवरान्तानामासादनम्। उपकल्पनीयानि शूर्पं शमीपलाशमिश्रा लाजाः दृषत् लोहितमानडुहं चर्म कुमार्या भ्राता आचार्याय वरद्रव्यम्। आज्यभागान्ते आज्येनैव भूः स्वाहा भुवः स्वाहा स्वः स्वाहा ॥ त्वन्नो०। स त्वन्नो०। अयाश्चाग्ने०। ये ते शतं०। उदुत्तमम्०। एतत्सर्वप्रायश्चित्तं हुत्वा राष्ट्रभृद्धोमः तत्र नान्वारम्भः। ऋताषाडृतधामाग्निर्गन्धर्वः स न इदं ब्रह्मक्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट्। इदमृतासाहे ऋतधाम्नेऽग्नये गन्धर्वाय न मम ॥ १ ॥ ऋताषाडृतधामाग्निर्गन्धर्वस्तस्यौषधयोऽप्सरसो मुदो नाम ताभ्यः स्वाहा। इदमोषधिभ्योऽप्सरोभ्यो मुद्भ्यो न मम ॥ २ ॥ सᳯहितो विश्वसामा सूर्यो गन्धर्वः स

न इदं ब्रह्मक्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् । इदं सꣳहिताय विश्वसाम्ने सूर्याय गन्धर्वाय न मम ॥ ३ ॥ सꣳहितो विश्वसामा सूर्यो गन्धर्वस्तस्य मरीचयोऽप्सरस आयुवो नाम ताभ्यः स्वाहा । इदं मरीचिभ्योऽप्सरोभ्य आयुभ्यो न मम ॥ ४ ॥ सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः स न इदं ब्रह्मक्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् । इदं सुषुम्णाय सूर्यरश्मये चन्द्रमसे गन्धर्वाय न० ॥ ५ ॥ सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वस्तस्य नक्षत्राण्यप्सरसो भेकुरयो नाम ताभ्यः स्वाहा । इदं नक्षत्रेभ्योऽप्सरोभ्यो भेकुरिभ्यो न मम ॥ ६ ॥ इषिरो विश्वव्यचा वातो गन्धर्वः स न इदं ब्रह्मक्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् । इदमिषिराय विश्वव्यचसे वाताय गन्धर्वाय न मम ॥ ७ ॥ इषिरो विश्वव्यचा वातो गन्धर्वस्तस्यापो अप्सरस ऊर्ज्जो नाम ताभ्यः स्वाहा । इदमद्भ्योऽप्सरोभ्य ऊर्ग्भ्यो न० ॥८॥ भुज्युः सुपर्णो यज्ञो गन्धर्वः स न इदं ब्रह्मक्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् । इदं भुज्यवे सुपर्णाय यज्ञाय गन्धर्वाय न मम ॥ ९ ॥ भुज्युः सुपर्णो यज्ञो गन्धर्वस्तस्य दक्षिणाप्सरसस्तावा नाम ताभ्यः स्वाहा । इदं दक्षिणाभ्योऽप्सरोभ्यस्तावाभ्यो न मम ॥ १० ॥ प्रजापतिर्विश्वकर्मा मनो गन्धर्वः स न इदं ब्रह्मक्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् । इदं प्रजापतये विश्वकर्मणे मनसे गन्धर्वा० ॥११॥ प्रजापतिर्विश्वकर्मा मनो गन्धर्वस्तस्य ऋक्सामान्यप्सरस एष्टयो नाम ताभ्यः स्वाहा इदमृक्सामभ्योऽप्सरोभ्य एष्टिभ्यो न मम ॥ १२ ॥ इति राष्ट्रभृद्धोमः । अथ जयाहोमः । चित्तं च स्वाहा इदं चित्ताय न मम । न ममेति सर्वत्र । चित्तिश्च स्वाहा इदं चित्त्यै० । आकूतं च स्वाहा इदमाकूताय० । आकूतिश्च स्वाहा इदमाकूत्यै० । विज्ञातं च स्वाहा इदं विज्ञाताय० । विज्ञातिश्च स्वाहा इदं विज्ञात्यै० । मनश्च स्वाहा इदं मनसे० । शक्वरीश्च स्वाहा इदं शक्वरीभ्यः० । दर्शश्च स्वाहा इदं दर्शाय० । पौर्णमासं च स्वाहा इदं पौर्णमासाय० । बृहच्च स्वाहा इदं बृहते० । रथन्तरं च स्वाहा इदं रथन्तराय न मम । प्रजापतिर्जयानिन्द्राय वृष्णे प्रायच्छदुग्रः पृतनाजयेषु । तस्मै विशः समनमन्त सर्वाः स उग्रः स इ हव्यो बभूव स्वाहा इदं प्रजापतये० । ॐकारस्तु सर्वत्र योज्यः । इति जयाहोमः । अथाभ्यातानहोमः । अग्निर्भूतानामधिपतिः समावत्वस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन्कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा । इदमग्नये भूतानामधिपतये न मम ॥ १ ॥ इन्द्रो ज्येष्ठानामधिपतिः समा० त्याꣳ स्वाहा । इदमिन्द्राय ज्येष्ठानामधिपतये० ॥ २ ॥ वक्ष्यमाणेषु सर्वमन्त्रेषु समावत्वित्यादि मन्त्रशेषस्यानुषङ्गः । यमः पृथिव्या अधिपतिः स० हूत्याꣳ स्वाहा । इदं यमाय पृथिव्या अधिपतये० ॥ ३ ॥ अत्रोदकालम्भ इति वासुदेवः । वायुरन्तरिक्षस्याधिपतिः स० । इदं वायवेऽन्तरिक्षस्याधिपतये० ॥४॥ सूर्यो दिवोऽधिपतिः स० । इदं सूर्याय दिवोऽधिपतये० ॥ ५ ॥ चन्द्रमा नक्षत्राणामधिपतिः स० । इदं चन्द्रमसे नक्षत्राणामधिपतये० ॥ ६ ॥ बृहस्पतिर्ब्रह्मणोऽधिपतिः स० । इदं बृहस्पतये ब्रह्मणोऽधिपतये० ॥ ७ ॥ मित्रः सत्यानामधिपतिः स० । इदं मित्राय सत्यानामधिपतये० ॥८॥ वरुणोऽपामधिपतिः स० । इदं वरुणायापामधिपतये० ॥९॥ समुद्रः स्रोत्यानामधिपतिः स० । इदं समुद्राय स्रोत्यानामधिपतये० ॥ १० ॥ अन्नꣳ साम्राज्यानामधिपतिस्तन्मावत्वस्मिन्ब्रह्मण्य० । इदमन्नाय

साम्राज्यानामधिपतये० ॥ ११ ॥ सोम ओषधीनामधिपतिः स० । इदं सोमायौषधीनामधिपतये० ॥ १२ ॥ सविता प्रसवानामधिपतिः स० । इदं सवित्रे प्रसवानामधिपतये० ॥ १३ ॥ रुद्रः पशूनामधिपतिः स० । इदं रुद्राय पशूनामधिपतये० ॥ १४ ॥ उदकस्पर्शनम् । त्वष्टा रूपाणामधिपतिः स० । इदं त्वष्ट्रे रूपाणामधिपतये० ॥ १५ ॥ विष्णुः पर्वतानामधिपतिः स० । इदं विष्णवे पर्वतानामधिपतये० ॥१६॥ मरुतो गणानामधिपतयस्ते मावन्त्वस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्नित्यादि । इदं मरुद्भ्यो गणानामधिपतिभ्यो० ॥१७॥ पितरः पितामहाः परेवरे ततास्ततामहाः इह मावन्त्वस्मिन्ब्रह्मणीत्यादि । इदं पितृभ्यः पितामहेभ्यः परेभ्योऽवरेभ्यस्ततेभ्यस्तततामहेभ्यश्च० ॥ ॥ १८ ॥ उदकोपस्पर्शः । इत्यभ्यातानहोमः ॥ अग्निरैतु प्रथमो देवतानां० रोदात्स्वाहा इदमग्नये० ॥ १ ॥ इमामग्निस्त्रायतां० इदमग्नये० ॥ २ ॥ स्वस्तिनो अग्ने० त्रꣳ स्वाहा । इदमग्ये ॥ ३ ॥ सुगन्नुपन्था० कृणोतु स्वाहा । इदं वैवस्वताय० ॥ ४ ॥ परंमृत्यो अनु० वीरान्स्वाहा । इदं मृत्यवे० । उदकोपस्पर्शः । संस्रवप्राशनान्ते वा अयं होमः । ततः कुमार्या भ्राता शमीपलाशमिश्राँल्लाजानञ्जलिनाञ्जलावावपति तान्कुमारी त्रिःकृत्वो जुहोति । अर्यमणमिति प्रथमाम् इदमग्नये न ममेति वरस्य त्यागः । इयं नार्युपब्रूते इति द्वितीयाम् इदमग्नये० । इमाँल्लाजानावपामीति तृतीयाम् इदमग्नये० । कन्यैव मन्त्रत्रयं पठति । ततो वरो गृभ्णामि ते सौभगत्वायेत्याद्यारभ्य शरदः शतमित्यन्तेन मन्त्रेण कन्याया अङ्गुष्ठसहितं दक्षिणं हस्तं गृह्णाति । अथैनामश्मानमारोहयति दक्षिणपादेनोत्तरतः स्थापितमारोहेमश्मानमिति मन्त्रेण । वरस्य मन्त्रपाठः । ततो वरः—सरस्वतीप्रेदमवेतीमां गाथां पठति । अथ वधूवरौ अग्नेः प्रदक्षिणं परिक्रामतस्तुभ्यमग्रे पर्यवहन्निति वरपठितमन्त्रेण । ततो लाजावपनादिपरिक्रमणान्तं पुनर्वारद्वयं कुर्यात् । ततस्तृतीयपरिक्रमणान्ते शूर्पकोणेन सर्वलाजानामञ्जलौ प्रक्षेपः । ततः कुमारी तान् जुहोति भगाय स्वाहेति इदं भगाय न ममेति वरः । अत्राचारात्तूष्णीं चतुर्थं परिक्रमं कुरुत इति रेणुदीक्षितादयः । ततो वर आज्येन प्रजापतये स्वाहेति इदं प्रजापतये । अथैनामुदीचीꣳ सप्तपदानि प्रक्रामयति । तत्र वरः सप्तपदानि प्रक्रमस्वेति ब्रूयात् । एकमिषे विष्णुस्त्वा नयतु इति मन्त्रं पठित्वा प्रथमम् । द्वे ऊर्जे विष्णु० द्वितीयम् । त्रीणि रायस्पोषाय वि० तृतीयम् । चत्वारि मायोभवाय वि० चतुर्थम् । पञ्च पशुभ्यो वि० पञ्चमम् । षडृतुभ्यो वि० षष्ठम् । सखे सप्तपदा भव सा मामनुव्रता भवेति सप्तमम् । ततो वरः पूर्वधृतादुदकुम्भादुदकमादाय आपः शिवेति मन्त्रेण वधूमूर्द्धन्यभिषिञ्चति । ततो वरः सूर्यमुदीक्षस्वेति वधूं प्रेरयति । सा च तच्चक्षुरित्यादि शृणुयाम शरदः शतमित्यन्तेन मन्त्रेण सूर्यमुदीक्षते । ततो वरो वध्वा दक्षिणस्कन्धोपरि हस्तं नीत्वा मम व्रते इति मन्त्रेण तस्या हृदयमालभते । ततो वरो वधूमभिमन्त्रयते सुमङ्गलीरिति । अत्राचारात्स्त्रियः सिन्दूरदानादि कुर्वन्ति । ततो वरस्तामुत्थाप्य प्राच्यामुदीच्यां वा परिवृते रोहितानडुहे उपवेशयतीह गाव इति । ततो वर आगत्य पश्चादग्नेरुपविश्याग्नये स्विष्टकृते स्वाहेति जुहोति । इदमग्नये स्विष्टकृते० । संस्रवप्राशनं, मार्जनं, पवित्रप्रतिपत्तिः, प्रणीताविमोकः, ब्रह्मणे दक्षिणादानम् । ततः स्वकीयाचार्याय गां ददाति

ब्राह्मणश्चेत् । ततोऽस्तमिते वरो ध्रुवं दर्शयति ध्रुवमसीति मन्त्रेण । सा च तूष्णीं ध्रुवं पश्यति । सा यदि ध्रुवं न पश्येत् तदा पश्यामीत्येव ब्रूयात् । ततो दम्पत्योरक्षारादिनियमाः । इति विवाहे पदार्थक्रमः ॥

अथ देवकोत्थापनं मण्डपोद्वासनविधिः । तत्र कालः—समे च दिवसे कुर्याद्देवकोत्थापनं बुधः । षष्ठं च विषमं नेष्टं मुक्त्वा पञ्चमसप्तमौ ॥ समेषु षष्ठं विषमेषु पञ्चमसप्तमातिरिक्तं दिनं नात्रेष्टमित्यर्थः । सङ्कल्पपूर्वकं सर्वा देवताः प्रत्येकं पूजयित्वोत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते इति विसर्जयेत् । मण्डपोद्वासनं यथाकुलाचारं कृत्वा द्विजाशिषो मन्त्रोक्ता गृह्णीयात् । अथ वध्वाः प्रथमगृहप्रवेशः—वधूप्रवेशः प्रथमे तृतीये शुभप्रदः पञ्चमकेऽथ वाह्नि । द्वितीयके वाऽथ चतुर्थके वा षष्ठे वियोगामयदुःखदः स्यात् ॥ लल्लः—स्वभवनपुरप्रवेशे देशानां विप्लवे तथोद्वाहे । नववध्वा गृहगमने प्रतिशुक्रविचारणा नास्ति ॥ नित्ययाने गृहे जीर्णे प्राशनान्तेषु सप्तसु । वधूप्रवेशमाङ्गल्ये न मौढ्यं गुरुशुक्रयोः ॥ ज्योतिःप्रकाशे—वामे शुक्रे नवोढायाः सुखहानिश्च दक्षिणे । धनं धान्यं च पृष्ठस्थे सर्वनाशः पुरःस्थिते ॥ नवोढायास्तु वैधव्यं यदुक्तं सम्मुखे भृगौ । तदेव विबुधैर्ज्ञेयं केवलं तद्द्विरागमे ॥ पूर्वतोऽभ्युदिते शुक्रे प्रयायाद्दक्षिणापरे । पश्चादभ्युदिते चैव यायात्पूर्वापरे दिशौ ॥ तथा भाद्रपदमासमारभ्य पूर्वादिमुख्यदिक्षु प्रतिदिशं मासत्रयं कपाटं ज्ञेयम् । चैत्रमारभ्य पूर्वाद्यष्टदिक्षु मुख्यदिशि मासद्वयं विदिक्ष्वेकमासं क्रमेण कण्टकं जानीयात् । इदं द्वयं ग्रामान्तरे नववधूगमने वर्ज्यम् । नियतकालेऽपि कदाचिन्निषेधमाह गर्गः । व्यतीपाते च सङ्क्रान्तौ ग्रहणे वैधृतावपि । श्राद्धं विना शुभं नैव प्राप्तकालेऽपि मानवः ॥ तथा—अमासङ्क्रान्तिविष्टयादौ प्राप्तकालेऽपि नाचरेदिति । विवाहात्प्रथमे पौषे आषाढे चाधिमासके । भर्तृगृहे वसेन्न स्त्री चैत्रे तातगृहे तथा ॥ इति वधूगृहगमनविधिः ।

अथ गर्गमते पदार्थक्रमे विशेषः—अग्निस्थापनादि ब्राह्मणतर्पणान्तं विवाहकर्म । प्रथममाचार्यकर्तृकमग्निस्थापनम् । ततो मधुपर्कादि । अर्चयेति वरः । विष्टरो विष्टरो विष्टरावित्यन्यः । प्रतिगृह्यतामिति दाता । प्रतिगृह्णामीति वरः । एवमग्रे सर्वत्र पाद्यादौ ज्ञेयम् । एकस्मिन्विष्टरे आसनम् । तदैव तेनैव मन्त्रेण पादयोरधस्तान्निधानं द्वितीयविष्टरस्य । प्राणसम्मर्शने नास्त्वित्यध्याहारः सर्वत्र । गोरालम्भान्ते लीढशान्तिवाचनं पुण्याहवाचनस्थाने । ततो मधुपर्कार्चनसमापनम् । ततः सदक्षिणं कन्यादानम् । ततः कौतुकागारं प्रविशति । युवतीनां मङ्गलाचारयुक्तानां प्रतिकूलभावेन प्रविशतिं । अन्यत्राभक्षपातकेभ्यः । तत आचार्यो वासः परिधापयति जराङ्गच्छेति । उत्तरीयं च । ततः समञ्जनम् । अध्येषणमाचार्यस्य । कङ्कणबन्धनं परस्परम् । दक्षिणहस्तेन पाणिं गृहीत्वा निष्क्रामति यदैषीति । कन्यानामग्रहणे आचार्यः । परस्परं समीक्षणम् । उदकुम्भं स्कन्धे कृत्वाऽवस्थेयम् । ततः प्रदक्षिणमग्निं परीत्य पश्चादग्नेस्तेजन्यां कटे दक्षिणपादं दत्त्वोपवेशनम् । ब्रह्मोपवेशनादिसर्वप्रायश्चित्तान्ते विशेषः । आसादने चरोरभावः । शूर्पे शमीपलाशमिश्रा लाजाः । दृषदुपले च । आनडुहम् । भ्राता । वरश्च । पर्युक्षणान्ते आघारादि सर्वप्रायश्चित्तान्तम् । राष्ट्रभृदादीना-

मिच्छया होमः। राष्ट्रभृद्धोमे ऋताषा० स न इदं० इति प्रथमः। तस्यौषधय इति द्वितीयः। एवमग्रेऽपि। ततो जयाहोमः। तत्र चित्ताय स्वाहेति चतुर्थ्यन्तेन प्रयोग इति श्रीअनन्तोदाक्षायणयज्ञे स्वाहाकारः सर्वत्र साकाङ्क्षत्वादिति सूत्रे। नेति गर्गः। ततोऽभ्यातानहोमः। ततोऽग्निरैत्वित्याहुतिचतुष्टयम्। परं मृत्याविति चात्र। ततः कुमार्या हस्तयोरुपस्तरणम् भ्रातुः। माता कुमारीहस्तलेपनं ददाति। लाजानामावपनमञ्जलौ। प्रत्यभिधारणम्। सव्यसंहृतेन दक्षिणेन होमः। इदमर्यम्णे इति प्रथमस्य त्यागः। द्वितीयतृतीययोरग्नये। अर्यमणमिति त्रयाणां मन्त्राणां पाठो वरस्य। पाणिग्रहणम्। अश्मानमारोहस्वेति प्रैषपूर्वकमारोहणम्। परिक्रमणम्। एवं वारद्वयं लाजादि परिक्रमणान्तम्। भगाय स्वाहेत्यनेन विग्राहं वारत्रयं होमः। तूष्णीं परिक्रमणम्। प्रजापतये होमः। सप्तपदानि। अभिषेकः। ततस्तिसृभिश्च प्रैषपूर्वकं सूर्यविक्षणम्। हृदयालम्भः। अभिमन्त्रणम्। शकटे चर्मास्तीर्णे वरः कन्यामुपवेशयति। स्विष्टकृद्धोमः। संस्रवभक्षः। परं मृत्यावित्यत्र वा होमः। मार्जनम्। पवित्रप्रतिपत्तिः। ब्रह्मणे दक्षिणादानम्। आचार्याय गोदानम्। अस्तमिते ध्रुवं दर्शयति प्रैषपूर्वकं ध्रुवमसीति वध्वाः पाठः। बर्हिर्होमः प्रणीताविमोकः। कर्मापवर्गे समिदाधानम् उत्सर्जनम् ब्रह्मणः उपयमनकुशानामग्नौ प्रक्षेपः। ब्राह्मणभोजनम्। इति गर्गमते विशेषः।

अथ पुनर्विवाहः। कृते विवाहे पश्चाङ्गशुद्धिराहित्यादिदोषश्चेत् ज्ञातः तदा ज्योतिःशास्त्रोक्तकालविशेषे पुनर्विवाहः कार्यः। तदाह नृसिंहः श्रीधरीये—पुनर्विवाहं वक्ष्यामि दम्पत्योः शुभवृद्धिदम्। लग्नेन्दुलग्नयोर्दोषे ग्रहताराादिसम्भवे॥ अन्येष्वशुभकालेषु दुष्टयोगादिसम्भवे। विवाहे चापि दम्पत्योराशौचादिसमुद्भवे॥ तस्य दोषस्य शान्त्यर्थं पुनर्वैवाह्यमिष्यते। अयनं चोत्तरं श्रेष्ठं वर्द्धयेत्तु विशेषतः॥ आषाढमार्गशीर्षौ द्वौ वर्ज्यौ शेषाः शुभावहाः। विवाहोक्तर्क्षतिथ्यन्ता राशिवारादिवर्गजाः॥ करणा योगसंज्ञा वै ग्रहगोचरयोगकाः। तस्मिन्विवाहसमये शुभदाश्च तथैव हि॥ पूर्वास्ते पूर्वरात्रे च विवाहः शुभदो भवेत्। अथ द्वितायादिविवाहविधिः। तत्राधिवेदनीया आह याज्ञवल्क्यः—सुरापी व्याधिता धूर्ता वन्ध्याऽर्थघ्न्यप्रियंवदा। स्त्रीप्रसूश्चाधिवेत्तव्या पुरुषद्वेषिणी तथा॥ अधिविन्नातु भर्तव्या महदेनोऽन्यथा भवेत्। अधिवेत्तव्या तदुपरिस्त्र्यन्तरं कर्तव्यमित्यर्थः। आपस्तम्बः—धर्मप्रजासम्पन्ने दारे नान्यां कुर्वीतेति। अधिवेदने प्रतीक्षाकालं मनुराह—वन्ध्याऽष्टमेऽधिवेत्तव्या दशमे तु मृतप्रजा। एकादशे स्त्रीजननी सद्यस्त्वप्रियवादिनी॥ स्त्र्यर्थे तु विवाहान्तरे विशेषः। एकामुत्क्रम्य कामार्थमन्यां लब्धुं य इच्छति। समर्थस्तोषयित्वाऽर्थैः पूर्वोढामपरां वहेत्॥ याज्ञवल्क्यस्तु—आज्ञासम्पादिनीं दक्षां वीरसूं प्रियवादिनीम्। त्यजन्दाप्यस्तृतीयांशमद्रव्यो भरणं स्त्रियाः॥ सधनो धनतृतीयांशमधनोऽशनाच्छादनात्मकं भरणं दाप्य इत्यर्थः। या त्वेतावताऽपरितुष्टा गृहान्निर्गच्छेत्तां प्रत्याह मनुः—अधिविन्ना तु या नारी निर्गच्छेद्रोषिता गृहात्। सा सद्यः सन्निरोद्धव्या त्याज्या वा कुलसन्निधौ॥ इति। बहुभार्यो ज्येष्ठयैव सह धर्मं सपत्नीकसाध्यं कुर्यादिति। हेमाद्रौ कात्यायनः—अग्निशिष्टादिशुश्रूषां बहुभार्यः सवर्णया। कारयेत्तद् बहुत्वं चेज्ज्येष्ठया गर्हिता न चेत्॥ इति। शिष्टशुश्रूषा आतिथ्यादिपूजा। सा च

पत्नीसम्पाद्यधर्ममात्रोपलक्षणार्था। गर्हिता धर्मायोग्यत्वापादकपातित्यादिदोषवती न चेदित्यर्थः। तादृशी चेन्न तथा। किन्त्वनेवंविधया कनिष्ठयाऽपि कारयेत्। याज्ञवल्क्यः—सत्यामन्यां सवर्णायां धर्मकार्यं न कारयेत्। सवर्णासु विधौ धर्मे ज्येष्ठया न विनेतरा॥ अन्याभसवर्णाम्। इदं चाधाने सहाधिकृतानेकभार्याविषयम्। अनधिकृतायास्तु प्रसक्त्यभाव एव। तत्रापि केवलक्रत्वर्थमाज्यावेक्षणादि यजमानौदुम्बरीसमानवदेकयैव सवर्णया ज्येष्ठया कारयेत्। पत्नीसन्नहनादि तु कर्तृसंस्कारकं सहाधिकृताभिः सवर्णाभिरित्यादि मीमांसामांसलमनसां सुज्ञानम्। द्वितीयादिविवाहेऽग्निनियममाह होमाय कात्यायनः—सदारोऽन्यान्पुनर्दारानुद्वोढुं कारणान्तरात्। यदीच्छेदग्निमान्कुर्वन्क्व होमोऽस्य विधीयते॥ स्वाग्नावेव भवेद्धोमो लौकिके न कदाचनेति। अयं च नियमः सम्भवे। ग्रामान्तरादावसम्भवे तु लौकिकाग्नौ। अत्र द्वितीयादिविवाहे जीवत्पितृकोऽपि स्वयमेव नान्दीश्राद्धं कुर्यात्। नान्दीश्राद्धं पिता कुर्यादाद्ये पाणिग्रहे पुनः। अत ऊर्ध्वं प्रकुर्वीत स्वयमेव तु नान्दिकम्॥ इति स्मृतेः। तत्र पितृवर्गं विहाय मातृमातामहवर्गयोः कुर्यात्। मातरि जीवत्यां मातामहवर्गस्यैव। तस्मिन्नपि जीवति द्वारलोपाद् वृद्धिश्राद्धलोप एव। सोऽपि साग्निकश्चेद्येभ्यः पिता दद्यात्तेभ्यः स्वयमपि दद्यात्—'येभ्य एव पिता दद्यात्तेभ्यो दद्यात्स्वयं सुतः'॥ इति वचनात्। अन्ये तु असाग्निकोऽपि पितृदेवताभ्यो दद्यान्न तु लोपः 'वृद्धौ तीर्थे च संन्यस्ते ताते च पतिते सति। येभ्य एव पिता दद्यात्तेभ्यो दद्यात्स्वयं सुतः॥' इति मैत्रायणीयपरिशिष्टादित्याहुः। द्वितीयादिविवाहे कालविशेषः सङ्ग्रहे—'प्रमदामृतिवासरादितः पुनरुद्वाहविधिर्वरस्य च। विषमे परिवत्सरे शुभो युगले चापि मृतिप्रदो भवेत्'॥ जीवन्त्यां पूर्वपत्न्यां द्वितीयादिविवाहे नायं कालनियमः॥

अथ तृतीयमानुषीविवाहस्य निषिद्धत्वात्तस्मिन्कर्तव्येऽर्कविवाहविधिः। तृतीयादिनिषेधमाह काश्यपः—तृतीयां मानुषीं नैव चतुर्थीं यः समुद्वहेत्। पुत्रपौत्रादिसम्पन्नः कुटुम्बी साग्निको वरः॥ उद्वहेद्रतिसिद्ध्यर्थं तृतीयां न कदाचन। मोहादज्ञानतो वाऽपि यदि गच्छेत्तु मानुषीम्। नश्यत्येव न सन्देहो गर्गस्य वचनं यथा॥' अन्यत्रापि—'तृतीयां यदि चोद्वाहेत्तर्हि सा विधवा भवेत्'। सङ्ग्रहे—'तृतीयां यदि चोद्वाहेत्तर्हि सा विधवा भवेत्। चतुर्थादिविवाहार्थं तृतीयार्कं समुद्वहेत्॥ आदित्यदिवसे वाऽपि हस्तर्क्षे वा शनैश्चरे। शुभे दिने वा पूर्वाह्णे कुर्यादर्कविवाहकम्'॥ देशादि ब्रह्मपुराणे दर्शितम्—'ग्रामात्प्राच्यामुदीच्यां वा सपुष्पफलसंयुतम्। परीक्ष्यार्कं ततोऽधस्तात्स्थण्डिलादि यथाविधि'॥ व्यासः—स्नात्वाऽलङ्कृतवासास्तु रक्तगन्धादिभूषितम्। सपुष्पफलशाखैकमर्कगुल्मं समाश्रयेत्॥ सल्लक्षणेन संयुक्तमर्कं संस्थाप्य यत्नतः। अर्ककन्याप्रदानार्थमाचार्यं कल्पयेत्पुरा॥ अर्कसन्निधिमागत्य तत्र स्वस्त्यादि वाचयेत्। नान्दीश्राद्धे हिरण्येन अष्टवर्गान्प्रपूजयेत्॥ पूजयेन्मधुपर्केण वरं विप्रस्य हस्ततः। यज्ञोपवीतं वस्त्रं च हस्तकर्णादिभूषणम्॥ उष्णीषगन्धमाल्यादि वरायास्मै प्रदापयेत्। स्वशाखोक्तप्रकारेण मधुपर्कं समाचरेत्॥ ब्रह्मपुराणे यथाविधीत्यस्यानन्तरं—कृत्वाऽर्कं पुरतस्तिष्ठन्प्रार्थयेत् द्विजोत्तमः। त्रिलोकवासिन् सप्ताश्व छायया सहितो रवे॥ तृतीयोद्वाहजं दोषं निवारय सुखं कुरु। तत्राध्यारोप्य देवेशं छायया सहितं रविम्॥ वस्त्रैर्माल्यैस्तथा गन्धैस्तन्मन्त्रेणैव

पूजयेत् । तन्मन्त्रेणाकृष्णेनेत्यादिना । अन्यत्रापि—श्वेतवस्त्रेण संवेष्ट्य तथा कार्पास-तन्तुभिः । गन्धपुष्पैः समभ्यर्च्याप्यब्लिङ्गैरभिषिच्य च ।। गुडौदनं तु नैवेद्यं ताम्बूलं च समर्पयेत् । अर्कं प्रदक्षिणं कुर्वन् जपेन्मन्त्रमिमं बुधः ।। मम प्रीतिकरा येयं मया सृष्टा पुरातनी । अर्कजा ब्रह्मणा सृष्टा अस्माकं परिरक्षतु ।। पुनः प्रदक्षिणां कुर्यान्मन्त्रेणानेन मन्त्रवित् । नमस्ते मङ्गले देवि नमः सवितुरात्मजे ।। त्राहि मां कृपया देवि पत्नीत्वं मे इहागता । अर्क त्वं ब्रह्मणा सृष्टः सर्वप्राणिहिताय च ।। वृक्षाणामादिभूतस्त्वं देवानां प्रीतिवर्द्धनः । तृतीयोद्वाहजं पापं मृत्युं चाशु विनाशय ।। ततश्च कन्यावरणं त्रिपुरुषं कुलमुच्चरेत् । आदित्यः सविता सूर्यः पुत्री पौत्री च नप्त्रिका ।। गोत्रं काश्यप इत्युक्तं लोके लौकिकमाचरेत् । सुमुहूर्तेऽर्कं निरीक्षेत स्वस्तिसूक्तमुदीरयन् ।। आशीर्भिः सहितः कुर्यादाचार्यप्रमुखैर्द्विजैः । अथाचार्यं समाहूय विधिना तन्मुखाच्च ताम् ।। प्रतिगृह्य ततो होमं गृह्योक्तविधिनाऽऽचरेत् । आचार्यस्य दानमन्त्रमाह व्यासः—अर्क-कन्यामिमां विप्र यथाशक्ति विभूषिताम् । गोत्राय शर्मणे तुभ्यं दत्तां विप्र समाश्रय ।। इति । अञ्जल्यक्षतकर्माणि कृत्वा कङ्कणपूर्वकम् । यावत्पञ्चावृतं सूत्रं तावदर्कं प्रदर्शयेत् ।। स्वशाखोक्तेन मन्त्रेण गायत्र्या वाऽथवा जपेत् । पञ्चीकृत्य पुनः सूत्रं स्कन्धे बध्नाति मन्त्रतः ।। बृहत्सामेति मन्त्रेण सूत्ररक्षां प्रकल्पयेत् । अर्कस्य पुरतः पश्चाद्दक्षिणोत्तरतस्तथा ।। कुम्भांश्च निक्षिपेत्पश्चादाग्नेयादिचतुष्टये । सवस्त्रं प्रतिकुम्भं च त्रिः सूत्रेणैव वेष्टयेत् ।। हरिद्रागन्धसंयुक्तं पूरयेच्छीतलं जलम् । प्रतिकुम्भं महा-विष्णुं सम्पूज्य परमेश्वरम् ।। पाद्यार्घ्यादिनिवेद्यान्तं कुर्यान्नाम्नैव मन्त्रवित् । अत्र होमप्रकारः शौनकेन प्रदर्शितः—तृतीये स्त्रीविवाहे तु सम्प्राप्ते पुरुषस्य तु । अर्क-विवाहं वक्ष्यामि शौनकोऽहं विधानतः ।। अर्कसन्निधिमागत्य तत्र स्वस्त्यादि वाचयेत् । नान्दीश्राद्धं प्रकुर्वीत स्थण्डिलं च प्रकल्पयेत् ।। अर्कमभ्यर्च्य सौर्या च गन्धपुष्पाक्षता-दिभिः । सौर्या सूर्यदेवत्यया आकृष्णेनेत्यादिकर्चा । स्वयं चालङ्कृतस्तद्वद्वस्त्रमाल्यादिभिः शुभैः ।। अर्कस्योत्तरदेशे तु समन्वारब्ध एतया । एतया कन्यया । उल्लेखनादिकं कुर्या-दाघारान्तमतः परम् ।। आज्याहुतिं च जुहुयात्सङ्गोभिरनयैकया । यस्मै त्वाकामकामा-येत्येतयर्चा ततः परम् ।। व्यस्ताभिश्च समस्ताभिस्ततश्च स्विष्टकृद्भवेत् । परिषेचन-पर्यन्तमयाश्चेत्यादिकं क्रमात् ।। प्रार्थनामन्त्रादिविशेषमाह व्यासः—पुनः प्रदक्षिणं कृत्वा मन्त्रमेतमुदीरयेत् । मया कृतमिदं कर्म स्थावरेषु जरायुणा ।। अर्कापत्यानि नो देहि तत्सर्वं क्षन्तुमर्हसि । इत्युक्त्वा शान्तिसूक्तानि जप्त्वा तं विसृजेत्पुनः ।। गोयुग्मं दक्षिणां दद्यादाचार्याय च भक्तितः । इतरेभ्योऽपि विप्रेभ्यो दक्षिणां चाभिशक्तितः ।। तत्सर्वं गुरवे दद्यादन्ते पुण्याहमाचरेत् । अत्र पञ्चमदिने कर्तव्यमुक्तं ब्रह्मपुराणे—चतुर्थे दिवसेऽतीते पूर्ववत्तां प्रपूज्य च । विसृज्य होममग्निं च विधिना मानुषीं पराम् ।। उद्वहेदन्यथा नैव पुत्रपौत्रादिवृद्धिमान् । न पशून्न च मित्राणि मङ्गलं नैव गच्छति ।। एवमेव द्विजश्रेष्ठ विधिना सम्यगुद्वहेत् । धनधान्यसमृद्धिश्च इच्छाशक्तिः परत्र च ।। इति । अत्रैवं सङ्क्षेपतः प्रयोगः—उक्ते आदित्यवारादौ उक्ते देशे यथोक्तार्कसमीपे गत्वाऽऽचम्य देशकालौ सङ्कीर्त्य मम तृतीयमानुषीविवाहजदोषाभावार्थमर्कविवाहं करिष्ये, इति

सङ्कल्प्य—आचार्यवरणस्वस्तिवाचनाद्युक्तक्रमेण कुर्यात् । अत्र होमे विशेषः—देशादि सङ्कीर्त्यार्कविवाहाङ्गभूतं होमं करिष्ये । ततोऽग्निस्थापनाद्याघारान्तं कृत्वा आज्येन षडाहुतीर्जुहुयात् । सङ्गीभिराङ्गिरसो नक्षमाणो भग इवेदर्यमणं निनाय । जनेमित्रान-दम्पतीअनक्तिवृहस्पतेवाजयाशूरिवाजौ स्वाहा । इदं बृहस्पतये न मम । यस्मै त्वाकाम-कामाय वयं सम्राडयजामहे । तमस्मभ्यं कामं दत्वाऽथेदं त्वं घृतं पिब स्वाहा । इदमग्नये न मम । भूः स्वाहा भुवः स्वाहा स्वः स्वाहा भूर्भुवः स्वः स्वाहा । त्यागा उक्ताः । ततः स्विष्टकृन्नवाहुत्यादिशेषं समापयेत्, ततः प्रदक्षिणप्रार्थनादिकर्मशेषसमापनम् । इत्यर्क-विवाहः ॥

अथैकक्रियानिर्णयः । तत्र वृद्धमनुः—एकमातृजयोरेकवत्सरे पुरुषस्त्रियोः । न समानक्रियां कुर्यान्मातृभेदे विधीयते ॥ अत एकस्य पुंसो विवाहद्वयमेकवत्सरे निषिद्धं मातृभेदाभावात् । नारदः—पुत्रोद्वाहात्परं पुत्रीविवाहो न ऋतुत्रये । न तयोर्व्रतमुद्वा-हान्मण्डनादपि मुण्डनम् ॥ वराहः—विवाहस्त्वेकजातानां षण्मासाभ्यन्तरे यदि । असं-शयं त्रिभिर्वर्षैस्तत्रैका विधवा भवेत् ॥ वसिष्ठः—न पुंविवाहोर्ध्वमृतुत्रयेऽपि विवाहकार्यं दुहितुः प्रकुर्यात् । न मण्डनाच्चापि हि मुण्डनं च गोत्रैकतायां यदि नाब्दभेदः ॥ एको-दरभ्रातृविवाहकृत्यं स्वसुर्न पाणिग्रहणं विधेयम् । षण्मासमध्ये मुनयः समूचुर्न मुण्डनं मण्डनतोऽपि कार्यम् ॥ एतदपवादोऽप्यत्रैव—ऋतुत्रयस्य मध्ये चेदन्याब्दस्य प्रवेशनम् । तदा ह्येकोदरस्यापि विवाहस्तु प्रशस्यते ॥ सारावल्याम्—फाल्गुने चैत्रमासे तु पुत्रो-द्वाहोपनायने । भेदादब्दस्य कुर्वीत नर्तुत्रयविलम्बनम् ॥ संहिताप्रदीपे—ऊर्ध्वं विवाहा-त्तनयस्य नैव कार्यो विवाहो दुहितुः समार्द्धम् । अप्राप्य कन्यां श्वशुरालयं च वधू प्रवेशयात्स्वगृहं न चादौ ॥ वसिष्ठः—द्विशोभनं त्वेकगृहेऽपि नेष्टं शुभं तु पश्चान्नवभिर्दि-नैस्तु । आवश्यकं शोभनमुत्सवो वा द्वारेऽथ वाऽऽचार्यविभेदतो वा ॥ एकोदरप्रसूतानां नाग्निकार्यत्रयं भवेत् । भिन्नोदरप्रसूतानां नेति शातातपोऽब्रवीत् ॥ ज्योतिर्निबन्धे कात्यायनः—कुले ऋतुत्रयादर्वाङ्मण्डनान्न तु मुण्डनम् । प्रवेशान्निर्गमो नेष्टो न कुर्यान्मङ्गलत्रयम् ॥ कुर्वन्ति मुनयः केचिदन्यस्मिन्वत्सरे लघु । लघु वा गुरु वा कार्यं प्राप्तं नैमित्तिकं तु यत् ॥ पुत्रोद्वाहः प्रवेशाख्यः कन्योद्वाहस्तु निर्गमः । मुण्डनं चौल-मित्युक्तं व्रतोद्वाहौ तु मङ्गलम् ॥ चौलं मुण्डनमेवोक्तं वर्जयेन्मण्डनात्परम् । मौञ्जी चोभयतः कार्या यतो मौञ्जी न मुण्डनम् ॥ अभिन्ने वत्सरेऽपि स्यात्तदहस्तं न भेदयेत् । अभेदे तु विनाशः स्यान्न कुर्यादेकमण्डपे ॥ सङ्कटे तु कर्पदिकारिकासु— उद्वाह्य पुत्रीं न पिता विदध्यात्पुत्र्यन्तरस्योद्वहनं कदाऽपि । यावच्चतुर्थं दिनमत्र पूर्वं समाप्य चान्योद्वहनं विदध्यात् ॥ काश्यपः—मौञ्जीबन्धस्ततोद्वाहः षण्मासाभ्यन्त-रेऽपि वा । पुत्र्युद्वाहं न कुर्वीत विभक्तानां न दोषकृत् ॥ गार्ग्यः—भ्रातृयुगे स्वसृयुगे भ्रातृस्वसृयुगे तथा । न कुर्यान्मङ्गलं किञ्चिदेकस्मिन्मण्डपेऽहनि ॥ ज्योतिर्विवरणे— एकोदरयोर्द्वयोरेकदिनोद्वहने भवेन्नाशः । नद्यन्तरे त्वेकदिनं केऽप्याहुः सङ्कटे च शुभम् ॥ ऊर्ध्वं विवाहाच्छुभदो नरस्य नारीविवाहो न ऋतुत्रये स्यात् । नारी-विवाहात्तदहेऽपि शस्तं नरस्य पाणिग्रहमाहुरार्याः ॥ भिन्नमातृजयोस्तु एकवासरे

विवाहमाह मेधातिथिः—पृथङ्मातृजयोः कार्यो विवाहस्त्वेकवासरे। एकस्मिन्मण्डपे कार्यः पृथग्वेदिकयोस्तथा॥ पुष्पपट्टिकयोः कार्यं दर्शनं न शिरस्थयोः। भगिनीभ्या-मुभाभ्यां च यावत्सप्तपदी भवेत्॥ यमलयोस्तु विशेषः गार्ग्यः—एकस्मिन्वासरे प्राप्ते कुर्याद्यमलजातयोः। क्षौरं चैव विवाहं च मौञ्जीबन्धनमेव च॥ तथा भट्ट-कारिकायाम्—एकस्मिन्वत्सरे चैव वासरे मण्डपे तथा। कर्तव्यं मङ्गलं स्वस्रोर्भ्रात्रोर्य-मलजातयोः॥ इति। अथ कन्यागृहे भोजननिषेधः मदनरत्ने भविष्ये—अप्रजायां तु कन्यायां न भुञ्जीत कदाचन। दौहित्रस्य मुखं दृष्ट्वा किमर्थमनुशोचति॥ अपरार्के आदित्यपुराणे—विष्णुं जामातरं मन्ये तस्य कोपं न कारयेत्। अप्रजायां तु कन्यायां नाश्नीयात्तस्य वै गृहे॥ यदि भुञ्जीत मोहाद्वा पूयाशी नरकं व्रजेत्। इति॥

अथ नान्दीश्राद्धानन्तरं धर्माः निर्णयदीपे गार्ग्यः—नान्दीश्राद्धे कृते पश्चाद्या-वन्मातृविसर्जनम्। दर्शश्राद्धं क्षयश्राद्धं स्नानं शीतोदकेन च॥ अपसव्यं स्वधाकारं नित्यश्राद्धं तथैव च। ब्रह्मयज्ञं चाध्ययनं नदीसीमातिलङ्घनम्॥ उपवासव्रतं चैव श्राद्ध-भोजनमेव च। नैव कुर्युः सपिण्डाश्च मण्डपोद्वासनावधि॥ ज्योतिषे—स्नानं सचैलं तिलमिश्रकर्म प्रेतानुयानं कलशप्रदानम्। अपूर्वतीर्थामरदर्शनं च विवर्जयेन्मङ्गलतोऽब्दमे-कम्॥ पितॄणामुद्देशेन कलशदानमित्यर्थः। मासषट्कं विवाहादौ व्रतप्रारम्भणं न च॥ जीर्णभाण्डादि न त्याज्यं गृहसम्मार्जनं तथा। ऊर्ध्वं विवाहात्पुत्रस्य तथा च व्रतबन्ध-नात्॥ आत्मनो मुण्डनं नैव वर्षं वर्षार्द्धमेव च। अभ्यङ्गे सूतके चैव विवाहे पुत्रजन्मनि॥ माङ्गल्येषु च सर्वेषु न धार्यं गोपिचन्दनम्। बृहस्पतिः—तीर्थे विवाहे यात्रायां सङ्ग्रामे देशविप्लवे। नगरग्रामदाहे च स्पृष्टास्पृष्टिर्न दुष्यति॥ योगियाज्ञवल्क्यः—न स्नाया-दुत्सवेऽतीते मङ्गलं विनिवर्त्य च। अनुव्रज्य सुहृद्बन्धूनर्चयित्वेष्टदेवताम्। ज्योतिर्नि-बन्धे—उद्वाहात्प्रथमे शुचौ यदि वसेद्भर्तुर्गृहे कन्यका हन्यात्तज्जननीं क्षये निजतनुं ज्येष्ठे पतिज्येष्ठकम्। पौषे च श्वशुरं पतिं च मलिने चैत्रे स्वपित्रालये तिष्ठन्ती पितरं निहन्ति न भयं तेषामभावे भवेत्॥ निबन्धे—विवाहात्प्रथमे पौषे आषाढे चाधि-मासके। न सा भर्तृगृहे तिष्ठेच्चैत्रे पितृगृहे तथा॥ हेमाद्रौ स्मृत्यन्तरे—विवाहव्रत-चूडासु वर्षमर्द्धं तदर्द्धकम्। पिण्डदानं मृदास्नानं न कुर्यात्तिलतर्पणम्॥ स्मृतौ—महा-लये गयाश्राद्धे मातापित्रोः क्षयेऽहनि। कृतोद्वाहोऽपि कुर्वीत पिण्डनिर्वपणं सुतः॥ इति विवाहप्रयोगः समाप्तः।

अनुवाद—विवाह के दिन से तीन दिन तक वर और वधू को कोई खारे पदार्थ या नमकीन भोजन नहीं करना चाहिए। उसे खटिया पर भी नहीं सोना चाहिए। तीन दिनों तक उसे धरती पर सोना चाहिए। कुछ आचार्यों के अनुसार वर-वधू एक वर्ष तक सहवास न करें। कुछ के मत से बारह दिन और कुछ के विचार से अन्ततः चतुर्थी कर्म तक निश्चित रूप से ब्रह्मचर्य धारण करना चाहिए।

टिप्पणी—द्वितीय मंत्र में 'पुत्रिका' शब्द का प्रयोग है। जिस कन्या के भाई न हो, उसे पुत्रिका कहा गया है। भ्रातृविहीन कन्या के साथ विवाह वर्जित है, ऐसा मनु ने कहा है—

'यस्यास्तु न भवेद् भ्राता न विज्ञायेत वा पिता।
नोपयच्छेत तां कन्यां पुत्रिकाऽधर्मशङ्कया॥'

अन्तिम सूत्र में अन्ततः शब्द का प्रयोग किया गया है। अन्ततः का अर्थ है—चतुर्थीकर्म। जब तक चतुर्थीकर्म समाप्त नहीं हो जाता, वधू भार्या नहीं हो सकती। अतः पारस्कर ने चतुर्थीकर्म तक ब्रह्मचर्य पालन करने का निर्देश दिया है। वस्तुतः इस विचार में प्रायः सभी आचार्य एकमत हैं।

प्रथमकाण्ड में अष्टम कण्डिका समाप्त।

नवमी कण्डिका

नित्यहोमविधिः

उपयमनप्रभृत्यौपासनस्य परिचरणम् ॥ १।९।१ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'उपयम····परिचरणम्' । अत्रौपासनस्यावसथ्यस्याग्नेः परिचरणमुपासनं व्याख्यास्यते कथमुपयमनप्रभृति उपयमनकुशादानमारभ्य । कोऽर्थः । उपयमनकुशानादाय समिधोऽभ्याधाय पर्युक्ष्य जुहुयादिति यावत् ॥ १।९।१ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—आवसथ्येऽग्नौ होममाह—'उपय·······चरणम्' । उपयमनकुशादानादि औपासनस्यावसथ्यस्याग्नेः परिचरणं, व्याख्यास्यत इति सूत्रशेषः । प्रभृतिग्रहणेन उपयमनान् कुशानादाय समिधोऽभ्याधाय पर्युक्ष्य जुहुयादेतावल्लभ्यते । होमश्चात्रोपदिष्टः होमेऽपि च सति परिचरणग्रहणादितिकर्तव्यता न भवति । हस्तेनैवात्र होमः इतिकर्तव्यताव्युदासात् । कथमितिकर्तव्यताव्युदास इति चेत्—उपयमनप्रभृतीत्युक्तत्वात् । पर्युक्षणं च मणिकोदकेन ॥ १।९।१ ॥

अनुवाद—विवाहित व्यक्ति प्रतिदिन उपयमन कुशाओं से कुशकण्डिकोक्त विधि से अग्नि की परिचर्या करे ।

अस्तमितानुदितयोः दध्ना तण्डुलैरक्षतैर्वा ॥ १।९।२ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—तस्य कालनियममाह—'अस्तमितानुदितयोः' । अस्तमितश्च अनुदितश्च अस्तमितानुदितौ तयोस्तथासूर्ययोः सूर्यस्यास्तमयानुदिताभ्यामुपलक्षितयोः कालयोरित्यर्थः । तत्रास्तमितलक्षणं छन्दोगपरिशिष्टे—'यावत्सम्यङ्न भाव्यन्ते नभस्यृक्षाणि सर्वतः । न च लोहितिमापैति तावत्सायं तु हूयते' ॥ अनुदितस्य द्वैविध्यम्—अनुदितः समयाध्युषितश्च । तत्रानुदितस्पष्टतारकोपलक्षितः ततः परमुदयात्प्राक् समयाध्युषितः । तथा च मनुः—उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा । सर्वथा वर्तते यज्ञ इत्यर्था वैदिकी श्रुतिः ॥ इति सम्पूर्णादित्यमण्डलदर्शनोपलक्षित उदितः । तत्र वाजसनेयिनां नियमेनानुदिते होमः । 'सूर्यो ह वा अग्निहोत्रमित्यारभ्य तस्मादुदितहोमिनां विच्छिन्नमग्निहोत्रं मन्यामहे' इत्यन्तेन श्रुतिसमाम्नायेन उदितहोमनिन्दापूर्वकमनुदितहोमस्य समर्थितत्वात् । छन्दोगानामुदितानुदितयोर्विकल्पः उदितेऽनुदिते वेति गोभिलवचनात् । आश्वलायनानां पुनरुदितहोमनियमः, तथा च तैत्तिरीयब्राह्मणम्—प्रातःप्रातरनृतं ते वदन्ति पुरोदयात् जुह्वति येऽग्निहोत्रम् । दिवाकीर्त्यमदिवाकीर्तयन्तः सूर्योज्योतिर्न तदा ज्योतिरेषामिति । अनुदिते होमे निन्दार्थवादपुरःसरं तस्मादुदिते होतव्यमिति उदिते होमविधानात् । होमद्रव्यनियममाह—'दध्ना तण्डुलैरक्षतैर्वा' [illegible] ना गव्येन तण्डुलैर्व्रीहिमयैः अक्षतैः सत्वक्कैर्यवैर्वा विकल्पेन एतेषाम् [illegible] र्थः ॥ १।९।२ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—होमकालनियममाह—'अस्तमितानुदितयोः' । अस्तमितश्चानुदितश्चास्तमितानुदितौ तयोः तत्कर्म कर्तव्यमिति शेषः । आवसथ्याधानानन्तरमस्तमिते

च सूर्ये अनुदिते च सर्वदा होमः कार्यः न सकृत्, येनैवं सूत्रकार आह—'ततोऽस्तमितेऽस्तमितेऽग्निं परिचर्य दर्व्योपघातं सक्तून् सर्पेभ्यो बलिं हरेत्' इति बलिहरणविधिपरे वाक्ये होमस्य नित्यत्वं ज्ञापयति। अस्तमितलक्षणं कात्यायनेनोक्तम्—'यावत्सम्यङ् न भाव्यन्ते नभस्यृक्षाणि सर्वतः। लोहितत्वं च नोपैति तावत्सायं तु हूयते'॥ अनुदितस्तु द्विविधः—अनुदितः समयाध्युषितश्च। तथा च मनुः—उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथेति। तत्रानुदितः स्पष्टतारकोपलक्षितः, ततः परमुदयात्प्राक् समयाध्युषितः, सम्पूर्णादित्यमण्डलदर्शनोपलक्षित उदितः। तत्रास्माकं सूत्रेऽनुदित एव परिचरणमुक्तम्। मनुवचने उदितग्रहणं शाखान्तरगृह्याभिप्रायेण। मुख्यकाले यदा होमो न भवति तदा गौणकालेऽपि कार्यः। तथा च मण्डनः—मुख्यकाले यदावश्यं कर्म कर्तुं न शक्यते। गौणकालेऽपि कर्तव्यं गौणोऽप्यत्रेदृशो भवेत्॥ गौणकालपरिमाणमपि तेनैवोक्तम्—आसायमाहुतेः कालात्कालोऽस्ति प्रातराहुतेः। प्रातराहुतिकालात्प्राक् कालः स्यात्सायमाहुतेः॥ इति। मुख्यकालातिक्रमे प्रायश्चित्तपूर्वकं गौणकालेऽनुष्ठानं गौणकालातिक्रमे तु लोप एव प्रायश्चित्तद्वयमात्रम्। एकमविज्ञातम्, सन्ध्योपासनहानौ च नित्यस्नानं विलोप्य च। होमं च नैत्यिकं शुद्धयेत् सावित्र्यष्टसहस्रकृत्॥ इति प्रजापत्युक्तं द्वितीयम्। होमे कर्तारः स्वयं स्वस्यासम्भवे पत्न्यादयः। प्रयोगरत्ने स्मृतौ—पत्नी कुमारी पुत्रो वा शिष्यो वाऽपि यथाक्रमम्। पूर्वपूर्वस्य चाभावे विदध्यादुत्तरोत्तरः॥ स्मृत्यर्थसारेऽपि—यजमानः प्रधानं स्यात्पत्नी पुत्रश्च कन्यका। ऋत्विक् शिष्यो गुरुर्भ्राता भागिनेयः सुतापतिः॥ एतैरेव हुतं यच्च तद्धुतं स्वयमेव तु। पत्नी कन्या च जुहुयाद्विना पर्युक्षणक्रियाम्॥ इति। अत्र वचनात्पत्न्यादीनां मन्त्रपाठेऽधिकारः, केवलं पर्युक्षणेऽनधिकारः। अग्निहोत्रे तु—न वा कन्या न युवती नाल्पविद्यो न बालिशः। होमे स्यादग्निहोत्रस्य नार्तो नासंस्कृतस्तथा॥ इति वचनात्पत्न्यादीनामनधिकारः। त्यागे विशेषः—सन्निधौ यजमानः स्यादुद्देशत्यागकारकः। असन्निधौ तु पत्नी स्यादुद्देशत्यागकारिका। असन्निधौ तु पत्न्याः स्यादध्वर्युस्तदनुज्ञया। उन्मादे प्रसवे चर्तौ कुर्वीतानुज्ञया विना॥ मण्डनः—त्यागं तु सर्वथा कुर्यात्तत्राप्यन्यतरस्तयोः। उभावप्यसमर्थौ चेन्नियुक्तः कश्चन त्यजेत्॥ 'दध्ना तण्डुलैरक्षतैर्वा'। गव्येन दध्ना वा व्रीहितण्डुलैर्वा अक्षतैर्यवैर्वा जुहुयादित्यर्थः। तेषामभावे शाखान्तरगृह्यपरिशिष्टोक्तानि द्रव्याणि ग्राह्याणि। तत्र प्रयोगरत्ने—पयो दधि सर्पिर्यवागूरोदनं तण्डुलाः सोमस्तैलमापो व्रीहयो यवास्तिला इति होम्यानि, तण्डुला नीवारश्यामाकयावनालानां, व्रीहिशालियवगोधूमप्रियङ्गवः स्वरूपेणापि होम्याः, तिलाः स्वरूपेणैव। शतं चतुःषष्टिर्वाऽऽहुतिर्व्रीहितुल्यानां तदर्द्धं तिलानां तदर्द्धं सर्पिस्तैलयोः। तैलं च तिलजर्तिलातसीकुसुम्भानाम्। येन प्रथमां देवतां जुहुयात्तेनैव द्वितीयां जुहुयाद्येन च सायं जुहुयात्तेनैव प्रातरिति। अत्र तेनैव प्रातरिति प्रतिनिधिवर्जम्। बृहस्पतिस्त्वाहुतिपरिमाणमाह—प्रस्थधान्यं चतुःषष्टेराहुतेः परिकीर्तितम्। तिलानां च तदर्द्धं तु तण्डुला व्रीहिभिः समाः॥ प्रस्थश्च प्रसृतिद्वितयं मानं प्रस्थं मानचतुष्टयमिति। बौधायनस्तु—व्रीहीणां यवानां वा शतमाहुतिरिष्यते। अगस्त्यः—द्रवद्रव्यस्य मानं स्याद्धारा गोकर्णदीर्घिका। सिद्धान्तशेखरे—अन्नं ग्राससमं प्रोक्तं लाजा

मुष्टिमिता मता इति'। दधिपक्षे तण्डुलपक्षे च शेषप्राशनम् अक्षतपक्षे त्वभावः, अनदनीयत्वादिति भर्तृयज्ञः ॥ १।९।१२ ॥

अनुवाद—सूर्योदय के पहले और सूर्यास्त के बाद दही, अरवा चावल अथवा अक्षत से होम करना चाहिए।

टिप्पणी—उदित और अनुदित होम के विषय में बड़ा विवाद है। यजुर्वेदीय ब्राह्मण अनुदित होम ही करते हैं। सामवेदिओं के लिए वैकल्पिक व्यवस्था है। ऋग्वेदीय ब्राह्मण उदित होम ही करते हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा गया है कि जो लोग अनुदित होम करते हैं वे सवेरे-सवेरे झूठ बोलते हैं—

'प्रातः प्रातरनृतं ते वदन्ति पुरोदयात् जुह्वति येऽग्निहोत्रम्।
दिवाकीर्त्यमदिवाकीर्तयन्तः सूर्योज्योतिर्न तदा ज्योतिरेषाम् ॥'

अग्नये स्वाहा प्रजापतये स्वाहेति सायम् ॥ १।९।१३ ॥

(**हरिहरभाष्यम्**)—'अग्नये···स्वाहेति प्रातः'। तत्र सायमग्नये स्वाहेति पूर्वाहुतिं प्रजापतये स्वाहेत्युत्तरां जुहुयात्। सर्वत्र प्रजापतियाग उपांशु स्वाहाकारः श्राव्यस्त्यागश्च। आघारे तु स्वाहान्तोऽपि मानसः ॥ १।९।१३ ॥

(**गदाधरभाष्यम्**)—'अग्नये···प्रातः'। तत्र सायंकाले अग्नये स्वाहेति पूर्वामाहुतिं जुहोति। प्रजापतये स्वाहेत्युत्तरां च जुहोति ॥ १।९।१३ ॥

अनुवाद—संध्यावेला में 'अग्नये स्वाहा' और 'प्रजापतये स्वाहा' मंत्र पढ़कर दो आहुतियाँ डालनी चाहिए।

सूर्य्याय स्वाहा प्रजापतये स्वाहेति प्रातः ॥ १।९।१४ ॥

(**हरिहरभाष्यम्**)—तथा सूर्याय स्वाहेति पूर्वां प्रजापतये स्वाहेत्युत्तरां, प्रातस्त्यागास्तु प्रयोगे वक्ष्यन्ते। ते च यजमानकर्तृकाः, कुतः ? प्रधानत्वात्। प्रधानेऽस्वामी फलयोगादिति कात्यायनवचनात्। प्रधानं हि द्रव्यस्वत्वपरित्यागः। ततश्च प्रवसता यजमानेन यथाकालं यथादैवतं शुचिना आचान्तेन प्राङ्मुखोपविष्टेन सर्वकर्मसु कर्तव्याः। तत्र सायमादिप्रातरन्तमेकं कर्म प्रचक्षते इति वचनात् सायंहोमद्रव्येणैव प्रातर्होमः कर्तव्यः। तथा येन होत्रा सायं हुतं तेनैव प्रातर्होतव्यम्। येनारम्भस्तेनैव समाप्तिरिति न्यायाच्च। तथा दधितण्डुलयवानामलाभे श्यामाकनीवारवेणुयवकन्दमूलफलजलसप्तानां पूर्वपूर्वालाभे परं परं नित्यहोमाय ग्राह्यम्। कन्दं सूरणादि, फलमाम्रादि ॥ १।९।१४ ॥

(**गदाधरभाष्यम्**)—प्रातःकाले सूर्याय स्वाहेत्यनेन मन्त्रेण पूर्वामाहुतिं हुत्वा प्रजापतये स्वाहेत्युत्तरां च जुहुयात् ॥ १।९।१४ ॥

अनुवाद—प्रभातवेला में 'सूर्याय स्वाहा' और 'प्रजापतये स्वाहा' मन्त्र पढ़कर दो आहुतियाँ डालनी चाहिए।

पुमाꣳसौ मित्रावरुणौ पुमाꣳसावश्विनावुभौ। पुमानिन्द्रश्च सूर्यश्च पुमाꣳ संवर्ततां मयि पुनः स्वाहेति पूर्वां गर्भकामा ॥ १।९।१५ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—अस्यैव कर्मणः कामसंयोगमाह—'पुमाꣳसौ······गर्भकामा'। पुमाꣳसौ मित्रावरुणावित्यादिना मन्त्रेण गर्भकामा पत्नी पूर्वामाहुतिं जुहुयात्। अत्र पूर्वां गर्भकामेत्यस्य कोऽर्थः ? किं नित्ययोर्द्वयोराहुत्योः प्रथमा पूर्वशब्देन विवक्षिता, उत ताभ्यां पूर्वा पूर्वं होतव्या अन्यैव। किन्तावत्प्राप्तम् ? अन्यैवेति, मन्त्रान्तरेण देवतान्तरहोमविधानात्, मन्त्रस्य देवतायाश्च गुणत्वेन कर्मभेदकत्वात्। किञ्च द्वयोः प्रथमायाः पूर्वत्वे विवक्षिते नित्याग्नेयस्य सौर्यस्य च होमस्य बाधः प्रसज्येत। अत्रोच्यते, सत्यं मन्त्रदेवतयोः कर्मभेदकत्वं, पूर्वां गर्भकामेतीदं काम्यं कर्म प्रकृतं तु नित्यं, काम्यं नित्यस्य बाधकं, पुरुषार्थसमासक्तं काम्यं नित्यस्य बाधकमिति न्यायात् तस्मादग्नये स्वाहा सूर्याय स्वाहेति नित्ये आहुती बाधित्वा पुमाꣳसौ मित्रावरुणावित्यादिमन्त्रविहिता पत्नीकर्तृका कर्मान्तररूपा हि काम्या आहुतिः प्रवर्तते। यथा गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेदित्यत्र काम्यं गोदोहनप्रणयनं नित्यं चमसं बाधित्वैव प्रवर्तते। अत्र कथं बाध्यबाधकभावः ? उच्यते—नित्यं तावदफलमकरणे प्रत्यवायजनकं, काम्यं तु फलवत्। तत्र फलवद्बलवत्, अफलं दुर्बलं बाधते। अत्र यदि केचित् प्रत्यवतिष्ठेरन्—अधानानुविधानानन्तरं सायंप्रातर्होमानुविधानं कर्तव्यम्, आचार्येण केन हेतुनाऽत्र कृतम् ? को दोष इति चेत् परप्रकरणाम्नातं कथं षडर्घ्या भवन्तीत्यारभ्य तामुदुह्येत्यन्तं विवाहप्रकरणं, यतः तत्र समाधीयते—सूत्रकारस्य शैलीयम्, विवाहात्प्राक् आवसथ्याधानकथनं यथा नैतच्छङ्कनीयं विवाहाग्निरेवावसथ्याग्निरिति पक्षश्चाचार्यस्याभिमतस्तेनात्र होमानुविधानं कृतमिति। विवाहाग्नेरौपासनत्वं कुतोऽवगतमिति चेत्—वैवाहिकेऽग्नौ कुर्वीत स्मार्तं कर्म यथाविधि। पञ्चयज्ञविधानं च पक्तिं चान्वाहिकीं द्विज॥ इति मनुवचनात्। कर्म स्मार्तं विवाहाग्नौ कुर्वीत प्रत्यहं गृही। दायकालादृते वाऽपि श्रौतं वैतानिकाग्निषु॥ इति याज्ञवल्क्यवचनात्, कृतविवाहस्य सभार्यस्यावसथ्याधानाधिकारः, आश्वलायनगोभिलादिगृह्यकारवचनाच्च, तस्माद् बहुसम्मतत्वाद्विवाहसमनन्तरमेव होमविधानाच्चाचार्यस्य विवाहहोमसाधनाग्निरेवौपासनः सम्मत इति। तत्रोच्यते—आश्वलायनगृह्यमतं मन्त्रादिवचनं तु यथागृह्यमाहितौपासनाग्निपरं स्वस्वशाखाधर्मप्रतिपादनपरं वाजसनेयिनां पञ्चदशशाखाश्रयिणां माध्यन्दिनकाण्वप्रभृतीनां च। पारस्कराचार्यस्य तु आवसथ्याधानप्रयोगं विवाहप्रयोगात्पृथगनुविदधतो नैष पक्षः सम्मत इति गम्यते। यदि विवाहाग्निरेवौपासनाग्निरिति सम्मतः स्यात्तदाऽऽवसथ्याधानं दारकाल इत्यादि न पृथक्प्रयोगमनुविदध्यात्, विवाहहोमेनैव आवसथ्याग्नौ सिद्धे पृथक्प्रयोगारम्भस्य वैयर्थ्यात्। तस्मादन्यस्थानपाठो न दोषः। इदं च औपासनपरिचरणं सर्वदा न सकृत्, यतः—'ततोऽस्तमितेऽस्तमितेऽग्निं परिचर्य दर्व्योपघातꣳ सक्तून् सर्वेभ्यो बलिꣳ हरेत्' इति बलिहरणविधिपरे वाक्ये परिचरणस्य नित्यत्वं ज्ञापयति। छिन्नं लूनं च पिष्टं च सान्नाय्यं मृन्मयं तथा। लोकसिद्धं गृहीतं चेन्मन्त्रा जप्याः कठाशयात्॥ छिन्नादि लोकसिद्धं चेदाद्रीयेत क्रतुं प्रति। तत्तन्मन्त्रजपं प्राह भारद्वाजः कृताकृतम्॥ छिन्ने चावहने लूने पिष्टे दुग्धे च मृन्मये। खाते च लौकिके प्राप्ते जपो नास्त्येव वाजिनाम्॥ अत्र च न मन्त्रान्ते स्वाहाकारहोमौ किन्नु आदावेव। न चोङ्कारः

प्रतिमन्त्रं किन्तु आद्य एव। यदाह—स्वाहाकुर्यान्न मन्त्रान्ते न चैव जुहुयाद्धविः । स्वाहाकारेण हुत्वाऽग्नौ पश्चान्मन्त्रं समापयेत् ।। सामगानामयम् । नोङ्कुर्याद्धोममन्त्राणां पृथगादिषु कुत्रचित् । अन्येषां चाविकृष्टानां कालेनाचमनादिना ।। अविकृष्टानामनन्तरितानां कालेन आचमनादिना वा ।।१।९।५।।

अथ प्रयोगः—आवसथ्याधानोत्तरकालं तद्दिवस एव सायंप्रातर्होमनिमित्तं मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकं श्राद्धं कृत्वा सन्ध्यावन्दनानन्तरमग्निसमीपं गत्वा पश्चादग्नेः प्राङ्मुख उपविश्य उपयमनकुशान् समिधस्तिस्रः मणिकवारि दध्यादीनामन्यतमं होमद्रव्यम् अग्नेरुत्तरतः प्राच आसाद्य उपयमनकुशानादाय तिष्ठन् समिधोऽभ्याधाय पर्युक्ष्य द्वादशपर्वपूरकेण दधितण्डुलयवानामेकतमेन द्रव्येण हस्तेनैव स्वङ्गारिणि सर्वाचिषि वह्नौ मध्यप्रदेशे देवतां ध्यायन् जुहुयात्, अग्नये स्वाहा इदमग्नये, तदुत्तरत: मनसा प्रजापतये स्वाहा, इदं प्रजापतये इति सायम् । तथैव सूर्याय स्वाहा इदं सूर्याय प्रजापतये स्वाहा इति (त्यागमिति) प्रातः । पत्नी चेद् गर्भकामा भवति तदा पुमाᳬंसौ मित्रावरुणौ पुमाᳬंसावश्विनावुभौ पुमानिन्द्रश्च सूर्यश्च पुमाᳬंसंवर्ततां मयि पुनः स्वाहेति पूर्वामाहुतिं पत्नी जुहोति, उत्तरां यजमानः । इदं मित्रावरुणाभ्यामश्विभ्यामिन्द्राय सूर्याय च । इति नित्यहोमविधिः ।।

(**गदाधरभाष्यम्**)—'पुमाᳬं...गर्भकामा' । यदि गर्भकामा पत्नी भवति तदा सायंप्रातः पूर्वामाहुतिं पत्न्येव पुमाᳬंसौ मित्रावरुणावित्यनेन मन्त्रेण जुहोति उत्तरामाहुतिं तु यजमान एव जुहोति । सर्वत्र होमे प्रतिमन्त्रं नोङ्कारः । नोङ्कुर्याद्धोममन्त्राणां पृथगादिषु कुत्रचित् । अन्येषां चाविकृष्टानां कालेनाचमनादिना ।। इति वचनात् । विकृष्टानामनन्तरितानां कालेनाचमनादिना वेति हरिहरः । मन्त्रार्थः—एतेषां देवानामेतौ युग्मौ मम आहुत्या मद्दत्तया परितुष्टौ सन्तौ मयि विषये पुंमांसं पुंल्लक्षणं गर्भं संवर्तताम् उत्पादयेतामिति ।। १।९।५ ।।

अथ पदार्थक्रमः—तत्रावसथ्याधानोत्तरकालं तस्मिन्नेवाहनि भोजनात्प्राक् यजमानो होमारम्भनिमित्तं मातृपूजनपूर्वकं नान्दीश्राद्धं कुर्यात् । ततः कृतसन्ध्यावन्दनोऽग्नेरुत्तरत उपविश्य प्राणानायम्य देशकालौ सङ्कीर्त्याग्निरूपपरमेश्वरप्रीत्यर्थम् औपासनहोमं करिष्य इति सङ्कल्प्य । वैकल्पिकं द्रव्यमवधार्योपयमनकुशानादाय सव्ये कृत्वा दक्षिणेन हस्तेन तिस्रः समिधोऽभ्याधाय मणिकोदकेन पर्युक्ष्य प्रदीप्तेऽग्नौ शतसङ्ख्यान् प्रस्थस्य चतुःषष्टितमभागमितान्वा तण्डुलानादायाङ्गुल्युत्तरपार्श्वेन समिन्मूलतो द्व्यङ्गुलप्रदेशे अग्नये स्वाहेति जुहोति । इदमग्नये न ममेति त्यागं विधाय प्रक्षिपेत् । संस्रवरक्षणम् । पुनस्तण्डुलानादाय प्रजापतये स्वाहेत्युपांशूक्त्वा ॐप्रजापतये न ममेति त्यागं विधाय प्रक्षिपेत् । संस्रवरक्षणम् । पत्नी पुमाᳬंसावित्यनेन मन्त्रेण गर्भकाम चेत्पूर्वामाहुतिं जुहोति । इदं मित्रावरुणाभ्यामविश्वभ्यामिन्द्राय सूर्याय न ममेति त्यागो यजमानस्य । संस्रवप्राशनम् । पत्नी-कर्तृकहोमशेषस्य पत्न्येव प्राशनं करोति । अत्र समास्त्वेत्युपस्थानमिति जयरामभाष्ये । इति सायंहोमः । अथ प्रातर्होमे विशेषः—उदयात्पूर्वं सायंद्रव्येणैव सूर्याय स्वाहेति पूर्वाहुतिः, प्रजापतये स्वाहेत्युत्तराहुतिः । यथादैवतं त्यागौ । गर्भकामा

चेदत्रापि पुमाꣳसाविति होमः। अत्र बिभ्राडित्यनुवाकेनोपस्थानमिति जयरामभाष्ये। इति प्रातर्होमे विशेषः। अन्यत्सर्वं सायंहोमवत्। एवमुपयमनकुशादानादि प्रत्यहमौपासनस्य परिचरणम्। अथापत्काले कर्तव्यो होमद्वयसमास-प्रयोगः—तत्र पूर्ववत्सायंकालीनाहुतिद्वयं हुत्वा किञ्चित्कालं निमील्य पुनः कुशादानादिपर्युक्षणान्तं कृत्वा श्वःकर्तव्यप्रातराहुतिद्वयमपकृष्य जुहुयादिति प्रयोगरत्ने। हरिहरमिश्रैस्तु तन्त्रेण होमो लिखितः। स चैवं—पर्युक्षणान्तं कृत्वाऽग्नये स्वाहेति हुत्वा तथैव सूर्याय स्वाहेति हुत्वा आहुतिद्वयपर्याप्तं होमद्रव्यमादाय प्रजापतये स्वाहेति सकृज्जुहुयात्। अथ गुर्वापदि पक्षहोमः—तत्र प्रतिपदि सायंकाले उपयमनादानादिपर्युक्षणान्तं कृत्वा आहुतिप्रमाणेन तण्डुलान्पात्रद्वये प्रतिपात्रं चतुर्दशवारं गृहीत्वा होमकाले प्रथमपात्रस्थानग्नये स्वाहेति जुहुयात्। ततो द्वितीयपात्रस्थान्प्रजापतये स्वाहेति जुहोति। एवं द्वितीयायां प्रातः पर्युक्षणान्तं कृत्वा पूर्ववत्पात्रद्वये तण्डुलान्कृत्वा सूर्याय स्वाहेति प्रथमपात्रस्थान् हुत्वा प्रजापतये स्वाहेति द्वितीयपात्रस्थांस्तण्डुलान् जुहुयात्। पक्षमध्ये वा आपत्तावागामिचतुर्दशीसायंकालीनहोमान्तान् शेषहोमान् सायं समस्येत्। पर्वप्रातर्होमान्तांश्च प्रातः शेषहोमान् समस्येत्। सर्वथा पर्वसायंहोमः प्रतिपत्प्रातर्होमश्च पृथगेव होतव्यौ। तत्र पूर्ववदग्निमभिरक्षेत्। अन्तरापन्निवृत्तौ तु तदारभ्य पूर्ववत्सायं-प्रातर्होमान् यथाकालं कुर्यादिति प्रयोगरत्ने। अनापदि पक्षहोमे प्रायश्चित्तमुक्तं देवयाज्ञिकपद्धतौ—अनातुरोऽप्रवासी च निश्चिन्तो निरुपद्रवः। पक्षहोमं तु यः कुर्यात्स चरेत्पतितव्रतम्। इति होमविधिः।

अनुवाद—धर्म की कामना करने वाली पत्नी पहले 'पुमाꣳसौ' इत्यादि मन्त्र से हवन करे। श्रेष्ठ पुरुष, मित्र और वरुण, दोनों अश्विनीकुमार, इन्द्र और सूर्य मेरे गर्भाशय में पुरुष रूप में संयुक्त हों।

टिप्पणी—अग्निहोत्री ब्राह्मण को स्वस्थ रहने पर स्वयं हवन करना चाहिए। अस्वस्थता की स्थिति में किसी अन्य नैष्ठिक ब्राह्मण से भी हवन करवाया जा सकता हैं, परन्तु रोका नहीं जा सकता—

> 'सन्ध्याकर्मावसाने तु स्वयं होमो विधीयते।
> स्वयं होमे फलं यत्स्यान्न तदन्येन लभ्यते॥
> होमे यत्फलमुद्दिष्टं जुह्वतः स्वयमेव तु।
> हूयमाने तदन्येन फलमर्द्धं प्रपद्यते॥'—स्मृत्यर्थसार

उसकी विधि भी वहीं बतलाई गई है—

> 'यजमानः प्रधानं स्यात् पत्नी पुत्रश्च कन्यका।
> ऋत्विक् शिष्यो गुरुर्भ्राता भागिनेयः सुतापतिः॥
> एतैरेव हुतं यत्तु तद्धुतं स्वयमेव हि।
> पत्नी कन्या च जुहुयाद्विना पर्युक्षणक्रियाम्॥'—वही

प्रथमकाण्ड में नवम कण्डिका समाप्त।

दशमी कण्डिका

नैमित्तिकहोमः

राज्ञोऽक्षभेदे नद्धविमोक्षे यानविपर्य्यासेऽन्यस्यां वा व्यापत्तौ स्त्रियाश्चोद्वहने तमेवाग्निमुपसमाधायाऽऽज्यᳪ संस्कृत्येहरतिरिति जुहोति नानामन्त्राभ्याम् ॥ १।१०।१ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—अथ नैमित्तिकमुच्यते—'राज्ञोऽक्ष······श्चोद्वहने'। राज्ञः प्रजापालनाधिकृतस्य यात्रादिप्रस्थितस्य अक्षभेदे रथावयवभङ्गे नद्धविमोक्षे नद्धस्य रथस्य विमोक्षे सन्नहनच्छेदे वा यानविपर्यासे यानस्य विपर्यासे अधोमुखादिभावे वा अन्यस्यां वा व्यापत्तौ अन्यस्मिन्वा अशुभसूचके निमित्ते स्त्रियाश्चोद्वहने उद्वाहितायाः पूर्वं पतिगृहनयने चशब्दात् रथाक्षभेदादिके निमित्ते सञ्जाते नैमित्तिकं प्रायश्चित्तरूपं कर्मोच्यते। कर्मोपपाते प्रायश्चित्तं तत्कालमिति वचनात्। निमित्तसमनन्तरमेव नैमित्तिकं कुर्यात्। तद्यथा—'तमेवा·····मन्त्राभ्याम्'। तमेवेति यदि राज्ञो निमित्तं तदा प्रास्थानिकं सेनाग्निं, यदि स्त्रियाः निमित्तं तदा वैवाहिकमग्निं पञ्च भूसंस्कारान्कृत्वा उपसमाधाय स्थापयित्वा ब्रह्मोपवेशनादि पर्युक्षणान्तां कुशकण्डिकां विधाय, एष एव विधिर्यत्र क्वचिद्धोम इत्यनेनैवाज्यसंस्कारे प्राप्ते, पुनराज्यᳪ संस्कृत्येति वचनम् आघारहोमात्प्रागेव इह रतिरित्याज्याहुतिद्वयप्राप्त्यर्थम्। ततश्च पर्युक्षणान्ते इह रतिरिति नानामन्त्राभ्यां द्वाभ्यां जुहोत्याहुतिद्वयम्। तत आघारादि। स्विष्टकृदन्ते ॥ १।१०।१ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'राज्ञोऽक्ष···मन्त्राभ्याम्'। राज्ञः प्रजापालनकर्तुर्देशान्तरे प्रस्थितस्य युद्धे वा अक्षस्य रथावयवस्य भेदे भङ्गे नद्धस्य रथस्य विमोक्षे आकस्मिकवन्धविच्छेदे वा यानविपर्यासे हयरथादिके वा अधोभावापत्तौ, अन्यस्यां वा कस्याञ्चिद्व्यापत्तौ अशुभसूचकोत्पाते स्त्रियाश्चोद्वहने स्त्रियाः वध्वाः पितृगृहाद्भर्तृगृहं प्रति प्रथमगमने चकाराद्रथाक्षभेदादिनिमित्ते नैमित्तिकमिदमुच्यते—तमेवाग्निमुपसमाधायेति। 'राज्ञश्चेन्निमित्तं तदा सेनाग्निं स्त्रियाश्चेत्तदा वैवाहिकमग्निमुपसमाधाय स्थापयित्वा आज्यं संस्कृत्य आज्यसंस्कारान्निरूप्याज्यमित्यादिना कृत्वा इह रतिरिति नानामन्त्राभ्यां जुहोति 'एष एव विधिः' इत्यनेनैवाज्यसंस्कारस्य प्राप्तत्वादत्राज्यं संस्कृत्येति ग्रहणम् इह रतिरित्याहुत्योराघारादिभ्योऽपि पूर्वकालत्वज्ञापनार्थम्। नानाग्रहणाच्च द्वे आहुती इह रतिरित्येका, उपसृजन्निति द्वितीया तत आघारादि ॥१।१०।१॥

सन्दर्भ—विवाह के वाद पहली बार पिता के घर से पति-गृह में वधू के जाने पर यान-हवनादि का ऐसे ही दूसरे अवसरों पर भी विधान करते हुए हवन-विधि का वर्णन करते हैं।

अनुवाद—यात्रा के अवसर पर राजा के रथ की धुरी टूट जाने पर, रथ का जुआ टूट जाने पर, रथ के उलट जाने पर अथवा किसी तरह की कोई अन्य आप-

त्तियाँ आने पर या प्रथम बार पितृगृह से पति के घर वधू के पहुँचने पर सेनाग्नि या आवसथ्याग्नि या प्रथम कण्डिका में वर्णित विधि से स्थापित कर घी का संस्कार करके 'इह रति' इत्यादि मंत्र पढ़ते हुए दो आहुतियाँ डाले, फिर विविध मंत्रों से दो-दो आहुतियाँ देकर हवन करे।

टिप्पणी—आहुति-क्रम—'इह रतिरिह रमध्वं इह धृतिरिह स्वधृतिः स्वाहा'. पहली आहुति। 'इदमग्नये०। उपसृजन् वरुणं मात्रे वरुणो मातरन्धयन्। रायस्पोषमस्मासु दीधरत्स्वाहा' दूसरी आहुति दे। फिर आघार से स्विष्टकृत तक १४ आहुतियाँ डाली जायेंगी।

अन्यद् यानमुपकल्प्य तत्रोपवेशयेद्राजानꣳस्त्रियं वा प्रतिक्षत्र इति यज्ञान्तेनात्वाहार्षमिति चैतया ॥ १।१०।२ ॥

(**हरिहरभाष्यम्**)—'अन्यद्या······चैतया'। अन्यद्रथादिकं यानं वाहनमुपकल्प्य संयोज्य तत्र तस्मिन् याने राजानं नृपं स्त्रियं चोद्वाहितां वधूमुपवेशयेत् आरोहयेत्। कथम्? प्रतिक्षत्रे प्रतितिष्ठामीत्यादिना प्रतितिष्ठामि यज्ञ इत्यन्तेन मन्त्रेण, आत्वाहार्षमित्येतयर्चा च ॥ १।१०।२ ॥

(**गदाधरभाष्यम्**)—'अन्यद्या······चैतया'। ततस्तद्यानं त्यक्त्वाऽन्यद्यानं वाहनं रथादिकमुपकल्प्य तत्र तस्मिन्याने वाहने राजानं स्त्रियं वा वधूमुपवेशयेत्। एवं च मन्त्राभ्यामुपवेशनम्। अत्रोपवेशयेति ण्यन्तत्वादध्येषणं याने उपविशस्वेति। तच्च राज्ञो ब्रह्मकर्तृकं वध्वा वरकर्तृकम्। अत्र परादिना पूर्वान्त इति न्यायाभावात्तेषां वाक्यमित्यनेन च प्रतिक्षत्रे प्रतितिष्ठामीत्येतदन्तमन्त्रप्राप्तौ यज्ञान्तग्रहणं वाक्यसमुच्चयविधानार्थम्, आत्वाहार्षमिति ऋक्त्वात्सम्पूर्णायाः पाठः। तेषां वाक्यमित्यत्र तच्छब्देन यजुषां परामर्शात् ततश्च यत्र ऋक्प्रतीकग्रहणं तत्र सम्पूर्णायाः पाठस्त्वन्नो अग्ने इत्यादौ ॥ १।१०।२ ॥

अनुवाद—स्विष्टकृत् आहुति के बाद दूसरी सवारी की व्यवस्था कर राजा को या वधू को 'प्रतिक्षत्रे' तथा 'आत्वाहार्षं' इत्यादि ऋचाएँ पढ़ते हुए फिर से बैठाएँ।

(१) प्रतिक्षत्रे प्रतितिष्ठामि राष्ट्रे प्रत्यश्वेषु प्रतितिष्ठामि गोषु। प्रत्यङ्गेषु प्रतितिष्ठाम्यात्मन्प्रतिप्राणेषु प्रतितिष्ठामि पुष्टे प्रतिद्यावापृथिव्योः प्रतितिष्ठामि यज्ञे।
(य० सं० २०।१०)

मंत्रार्थ—(ऋषि प्रजापति, छन्द अतिशक्वरी, देवता विश्वेदेव।) राष्ट्र के शूरवीरों के बीच मेरी प्रतिष्ठा बनी रहे। घोड़े और गायों की मेरी सम्पदाएँ बनी रहें। शारीरिक अवयव सुदृढ़ हों। मेरा आत्मबल और मेरी प्राण-शक्ति अक्षुण्ण रहे। मैं सर्वथा स्वस्थ बना रहूँ। मैं सामर्थ्य-सम्पन्न बनकर धरती और आकाश के बीच सामाजिक कल्याणकारी कार्यों में निरन्तर व्यस्त बना रहूँ।

(२) आ त्वा हार्षमन्तरभूर्ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलिः । विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधिभ्रशत् । (य० सं० १२।११)

मंत्रार्थ—(ऋषि ध्रुव, छन्द अनुष्टुप्, देवता अग्नि ।) हे अग्निदेव ! मैं तुम्हें यहाँ लाया हूँ । इस राष्ट्र के अन्तःकरण में तुम सर्वथा अटल और अविचल भाव से निवास करो । इस राष्ट्र की सारी प्रजा तुम्हें चाहती है । तुम सदैव इसके हित साधन में तत्पर रहो, ताकि यह राष्ट्र और यह जनपद कभी श्रीहीन न हो ।

धुर्य्यौ दक्षिणा ॥ १।१०।३ ॥
प्रायश्चित्तिः ॥ १।१०।४ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'धुर्यौ दक्षिणा प्रायश्चित्तिः' । धुर्यौ धुरि साधू अनड्वाहौ दक्षिणा ब्रह्मणे देया, दक्षिणाशब्दः परिक्रयार्थे द्रव्ये वर्तते, येन ऋत्विजामानतिर्भवति । इदं कर्म प्रायश्चित्तिः दुर्निमित्तसूचितदुरितापहारिणी अतः सति निमित्ते ।

(गदाधरभाष्यम्)—'धुर्यौ दक्षिणा प्रायश्चित्तिः' । अत्र धुर्यावनड्वाहौ दक्षिणा भवतीति शेषः । दक्षिणान्तरस्य निवृत्तिः दृष्टार्थत्वात् । प्रायश्चित्तिरिति चास्य कर्मणः संज्ञा ॥ १।१०।३-४ ॥

अनुवाद—धुरी में जुतने वाले दो बैल दक्षिणा के रूप में दिये जाँय । इस कर्म से दुर्निमित्त सूचक पापों का निराकरण होता है ।

ततो ब्राह्मणभोजनम् ॥ १।१०।५ ॥

(हरिहरभाष्यम्) –'ततो ब्राह्मणभोजनम्' । ततः कर्मसमाप्त्यनन्तरं ब्राह्मणस्य भोजनं कारयितव्यमिति सूत्रार्थः । अथ प्रयोगः—अक्षभेदादिनिमित्तानामेकतमे निमित्ते सञ्जाते शुचौ देशे पञ्च भूसंस्कारान्कृत्वा राज्ञः पुरोहितः सेनाग्निमुपसमाधाय वध्वा वरः वैवाहिकमग्निं ब्रह्मोपवेशनादिपर्युक्षणान्ते इह रतिरिह रमध्वमिह धृतिरिह स्वधृतिः स्वाहेति प्रथमामाहुतिं जुहुयात् । इदमग्नये० । उपसृजन् धरुणं मात्रे धरुणो मातरन्धयन् । रायस्पोषमस्मासुदीधरत्स्वाहेति द्वितीयाम् इदमग्नये० । इत्याहुतिद्वयं हुत्वा तत आघारादिस्विष्टकृदन्तं चतुर्दशाहुतिकं होमं विधाय संस्रवं प्राश्याचम्य धुर्यावनड्वाहौ ब्रह्मणे अस्य कर्मणः प्रतिष्ठार्थमेतावनड्वाहौ तुभ्यं ब्रह्मणे मया दत्तावितिप्रयोगेण दक्षिणां दत्त्वा अन्यद्यानमानीय तत्पुरोहितो राजानं वरो वधूमुपवेशयेत् प्रतिक्षत्रे प्रतितिष्ठामि राष्ट्रे, आत्वाहार्षमिति मन्त्राभ्याम् । ततो ब्राह्मणभोजनम् ॥१।१०।५॥

(गदाधरभाष्यम्)—'ततो ब्राह्मणभोजनम्' । ततः कर्मान्ते ब्राह्मणस्यैकस्य भोजनं कार्यम् कारयितव्यम् ॥ १।१०।५ ॥

अथात्र पदार्थक्रमः—तत्र निमित्ते जाते पञ्च भूसंस्कारपूर्वकमग्नेः स्थापनं, राजा सेनाग्नेः स्थापनं कुर्याद्वरश्च वैवाहिकाग्नेः स्थापनं कुर्यात् । ततो ब्रह्मोपवेशनादिपर्युक्षणान्तं कृत्वा इह रतिरिति प्रथमामाहुतिं जुहोति उपसृजन् धरुणमित्यादिदीधरत्स्वा-

हेत्यन्तेन मन्त्रेण द्वितीयामाहुतिं जुहोति इदमग्नये न ममेति द्वयोस्त्यागौ। तत आघारादिप्रणीताविमोकान्तं कृत्वा घुर्यावनड्वाहौ दत्त्वा अन्यद्यानमानीय तत्र राजानं प्रतिक्षत्रे प्रतितिष्ठामि आत्वाहार्षमिति मन्त्राभ्यामुपविशस्वेत्यध्येषणपूर्वकमुपवेशयेत्, वधूमेताभ्यामेव मन्त्राभ्यामुपविशयेत्, ततो ब्राह्मणभोजनम्। इति पदार्थक्रमः।

अनुवाद—सम्पूर्ण कर्म समाप्त करने के बाद ब्राह्मणभोजन कराना चाहिए।

टिप्पणी—कुशकण्डिका में बतलाई गई विधि से पंचभू-संस्कार यहाँ भी करना चाहिए।

प्रथमकाण्ड में दशम कण्डिका समाप्त।

एकादशी कण्डिका

चतुर्थी कर्म

चतुर्थ्यामपररात्रेऽभ्यन्तरतोऽग्निमुपसमाधाय दक्षिणतो ब्रह्माणमुपवेश्योत्तरत उदपात्रं प्रतिष्ठाप्य स्थालीपाकꣳ श्रपयित्वाऽऽज्यभागाविष्ट्वाऽऽज्याहुतीर्जुहोति ॥ १।११।१ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'चतुर्थ्याम'''जुहोति' । चतुर्थ्यां तिथौ विवाहतिथिमारभ्य अपररात्रे रात्रेः पश्चिमे यामे अभ्यन्तरतः गृहस्य मध्ये अग्निं वैवाहिकमुपसमाधाय पञ्च भूसंस्कारान्कृत्वा अग्निं स्थापयित्वा दक्षिणतो ब्रह्मासनमास्तीर्यं तत्र पूर्ववद् ब्रह्माणमुपवेश्य उत्तरत उदपात्रं प्रतिष्ठाप्य प्रणीतास्थानादुत्तरतः जलपूर्णं ताम्रादिपात्रं स्थापयित्वा अत्र ब्रह्माणमुपवेश्येति पुनर्वचनमुदपात्रप्रतिष्ठापनावसरज्ञापनार्थम् । स्थालीपाकं चरुं यथाविधि श्रपयित्वा पर्युक्षणान्ते आघारानन्तरमाज्यभागाविष्ट्वाऽऽज्याहुतीर्जुहोति ॥ १।११।१ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'चतुर्थ्यामपर.........हुतोर्जुहोति' । विवाहाद्या चतुर्थी तिथिस्तस्यामपररात्रे अन्तिमप्रहरे अभ्यन्तरतः गृहस्य मध्ये अग्निमुपसमाधाय वैवाहिकमग्निं स्थापयित्वा दक्षिणतो ब्रह्माणमुपवेश्याग्नेर्दक्षिणतो ब्रह्मण उपवेशनार्थं कुशानास्तीर्य तत्र ब्रह्माणमुपवेश्य उत्तरत उदपात्रं प्रतिष्ठाप्य अग्नेरुत्तरतः प्रणीतास्थलं त्यक्त्वोदकयुक्तं पात्रं स्थापयित्वा स्थालीपाकꣳ श्रपयित्वा स्थालीपाकं चरुं श्रपयित्वा आज्यभागाविष्ट्वाऽऽज्याहुतीर्जुहोति आज्येन अग्ने प्रायश्चित्त इत्येतैः पञ्चभिर्मन्त्रैः पञ्चाहुतीर्जुहोति । अत्रापररात्रग्रहणं पूर्वाह्णव्युदासार्थम् । चतुर्थीकर्मणो विवाहाङ्गत्वाद् बहिःशालायां मा भूदित्यभ्यन्तरग्रहणम् । अग्निमुपसमाधायेति ग्रहणमभ्यन्तरगुणविधानार्थम् । ब्रह्माणमुपवेश्येति च उदपात्रस्थापनावसरविधानायोक्तम् । चरोर्भूतोपादानं मा भूदिति श्रपयित्वेत्युच्यते । आज्यभागाविष्ट्वेति ग्रहणमाज्याहुतिकालविधानार्थम् ॥ १।११।१ ॥

अनुवाद—विवाह के चौथे दिन रात के पिछले पहर घर के भीतर वैवाहिक अग्नि की स्थापना करे । आग की दाहिनी ओर ब्रह्मा को बैठाए तथा आग के उत्तर की ओर जलपूर्ण कलश रखें, फिर चरु पकाकर अग्नि और सोम की दो आहुतियाँ डाले । पुनः 'अग्ने प्रायश्चित्ते' इत्यादि पाँच मंत्र पढ़कर घी की पाँच आहुतियाँ दे ।

अग्ने प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि, ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि, यास्यै पतिघ्नी तनूस्तामस्यै नाशय स्वाहा ॥

वायो प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि, ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि, यास्यै प्रजाघ्नी तनूस्तामस्य नाशय स्वाहा ॥

सूर्य्य प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि, ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि, यास्यै पशुघ्नी तनूस्तामस्यै नाशय स्वाहा ॥

चन्द्रप्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि, ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि, याऽस्यै गृहघ्नी तनूस्तामस्यै नाशय स्वाहा ॥

गन्धर्व प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि, ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि, यास्यै यशोघ्नी तनूस्तामस्यै नाशय स्वाहेति ॥ १।११।२ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अग्ने प्राय······नाशय स्वाहा' । आज्येन पञ्चाहुतीरेतैः स्वाहान्तैर्मन्त्रैर्जुहोति ॥ १।११।२ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—मन्त्रार्थः—हे अग्ने ! हे प्रायश्चित्ते ! सर्वदोषापाकरण यतस्त्वं देवानामिन्द्रादीनां मध्ये प्रायश्चित्तिः दोषापाकर्ताऽसि अहं च ब्राह्मणः ब्रह्मण्यः वैदिको वा भूत्वोपधावामि आराधयामि । किम्भूतोऽहम् ? नाथ उपयाच्ञायाम् आशीष्कामः ऐश्वर्यकामो वा प्रार्थयानो वा । उपधावनप्रयोजनमाह—या अस्यै षष्ठ्यर्थे चतुर्थी अस्या वध्वाः पतिघ्नी तनूस्तन्वा अवयवस्ताम् अस्यै इमामुपकर्तुं नाशय अपनय तुभ्यं स्वाहा सुहुतमस्तु समुदायवाचकोऽपि तनूशब्दोऽत्रावयववाचको ज्ञेयः । तेन यदस्याः पतिनाशक-मङ्गलक्षणं हस्तरेखादि सामुद्रिकलक्षणोक्तं तदपाकृत्य शोभनमङ्गं विधेहीति वाक्यार्थः । एवमुपर्यपि व्याख्येयम् । तनूविशेषणं देवता च भिद्यते । तद्यथा हे वायो ! पवन प्रजाघ्नी अपत्यनाशिनी एवमुत्तरत्रापि योज्यम् ॥ १।११।२ ॥

अनुवाद—सभी प्रकार के दोषों के घातक हे अग्निदेवता ! तुम देवताओं में श्रेष्ठ और दोषों के विनाशकर्त्ता हो । मैं एक कल्याणकामी ब्राह्मण तुम्हारी आराधना करता हूँ । इस वधू की देह में पति को हानि पहुँचाने वाले जो अवयव हों, उन्हें नष्ट कर दो । आपके लिए सुहुत हो ।

सभी प्रकार के दोषों के विनाशक हे वायुदेव ! देवताओं के बीच तुम श्रेष्ठ हो, दोष-विनाशक हो, मैं कल्याणकारी ब्राह्मण तुम्हारी आराधना करता हूँ । इस वधू की देह में सन्तान को हानि पहुँचाने वाले जो अवयव हों, उन्हें तुम नष्ट कर दो । मैं तुम्हारे लिए हवन करता हूँ ।

सभी प्रकार के दोषों के विनाशक हे भगवान् भास्कर ! देवताओं के बीच तुम श्रेष्ठ दोषापहारक हो । मैं कल्याणकामी ब्राह्मण तुम्हारी आराधना करता हूँ । इस वधू की देह में हमारे घर के पशुओं को हानि पहुँचाने वाले जो अवयव हों, उन्हें तुम नष्ट कर दो । तुम्हारे लिए मैं यह हवन करता हूँ ।

सभी प्रकार के दोषों के विनाशक हे चन्द्रदेव ! तुम देवताओं में श्रेष्ठ दोषों को दूर करने वाले हो । मैं कल्याणकामी ब्राह्मण तुम्हारी आराधना करता हूँ । इस वधू की देह में घर को हानि पहुँचाने वाले जो अवयव हों, उन्हें तुम नष्ट करो । तुम्हारे लिए मैं यह आहुति देता हूँ ।

सभी प्रकार के दोषों के विनाशक हे गन्धर्व ! तुम देवताओं में श्रेष्ठ दोषहर्ता हो । मैं कल्याणकामी ब्राह्मण तुम्हारी आराधना करता हूँ । इस वधू की देह में हमारे यश

को हानि पहुँचाने वाले जो अवयव हों, उन्हें नष्ट करो। तुम्हारे लिए मैं यह आहुति देता हूँ।

स्थालीपाकस्य जुहोति प्रजापतये स्वाहेति ॥ १।११।३ ॥

(**हरिहरभाष्यम्**)—'स्थाली······स्वाहेति'। स्थालीपाकस्य चरोः प्रजापतये स्वाहेत्येकामाहुतिं जुहोति ॥ १।११।३ ॥

(**गदाधरभाष्यम्**)—'स्थाली······स्वाहेति'। आज्याहुत्यनन्तरं स्थालीपाकस्य चरोः प्रजापतये स्वाहेति मन्त्रेणोपांशुपठितेनैकामाहुतिं जुहोति स्थालीपाकस्येत्यवयवलक्षणा षष्ठी ॥ १।११।३ ॥

अनुवाद—स्थालीपाक को लेकर 'प्रजापतये स्वाहा' इस मंत्र का उच्चारण करते हुए वर अग्नि में आहुति दे।

हुत्वा हुत्वैतासामाहुतीनामुदपात्रे सꣳस्रवान्समवनीय तत एनां मूर्द्धन्यभिषिञ्चति—या ते पतिघ्नी प्रजाघ्नी पशुघ्नी गृहघ्नी यशोघ्नी निन्दिता तनूर्जारघ्नीं तत एनां करोमि सा जीर्यं त्वं मया सहासाविति ॥१।११।४॥

(**हरिहरभाष्यम्**)—'हुत्वाहु······वनीय'। अग्ने प्रायश्चित्त इत्यादीनां प्राजापत्यान्तानां षण्णामाहुतीनां प्रत्येकं हुत्वा संस्रवान् हुतशेषानुदपात्रे समवनीय प्रक्षिप्य केषाञ्चिन्मते स्विष्टकृदाहुतेरपि। 'तत एनां मूर्द्धन्यभिषिञ्चति'। ततस्तस्मादुदपात्रादुदकमादाय एनां वधूं वरो मूर्धन्यभिषिञ्चति। 'याते···सहासाविति'। अभिषेचनमन्त्रोऽयं असावित्यत्र वधूनाम ॥ १।११।४ ॥

(**गदाधरभाष्यम्**)—'हुत्वा हुत्वै······सहासाविति'। एतासां षण्णामाहुतीनामेकैकामाहुतिं हुत्वा उत्तरतः प्रतिष्ठापिते उदपात्रे संस्रवान् समवनीय स्रुवलग्नाज्यचर्वंवयवान् प्रक्षिप्य ततस्तस्मात्संस्रवमिश्रमुदकं गृहीत्वा एनां वधूं मूर्द्धनि मस्तके अभिषिञ्चति या ते पतिघ्नीति मन्त्रेण। षण्णामाहुतीनामत्र संस्रवभक्षणलोपः। इतरासां तु भवत्येव हुत्वा हुत्वेति ग्रहणं सर्वाहुत्यन्ते संस्रवनिनयनं मा भूदित्येतदर्थम्। मूर्द्धाभिषेकश्चागन्तुकत्वाद्दक्षिणादानान्ते भवति। असौ स्थाने आमन्त्रणविभक्तियुक्तं वध्वा नामग्रहणं कार्यम्। मन्त्रार्थः—हे असौ कन्ये! या ते तवापत्यादिघातिनी पञ्चधा दुष्टा तनूः अत एव निन्दिता ततोऽनेनाभिषेचनेन एनां तनूं जारघ्नीम् उपपत्यादिदोषघातिनीं करोमि। सा त्वं मया पत्या भर्त्रा सह जीर्यं निर्दुष्टवृद्धत्वं गच्छ ॥ १।११।४ ।

अनुवाद—प्रत्येक आहुति देकर इन आहुतियों से बचे घी को उत्तर में रखे जलपात्र में डाल दें। उसी जल से वर वधू को अभिषिञ्चित करे तथा 'या ते' इत्यादि मंत्र का पाठ करे।

मन्त्रार्थ—हे वधू! तुम्हारी देह में जो पति को, सन्तान को, घर के पशुओं को, घर के यश को हानि पहुँचाने वाले निन्दित अवयव हैं, उनका विनाश हो। उपपत्ति जन्य भी कोई दोष हो, वह भी तुम्हारा नष्ट हो। इसके बाद तुम मेरे साथ दीर्घायु बनकर रहो।

अथैनाꣳ स्थालीपाकं प्राशयति—

प्राणैस्ते प्राणान्त्सन्दधाम्यस्थिभिरस्थीनि माꣳसैर्माꣳसानि त्वचा त्वचमिति ॥ १।११।५ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अथैनाꣳ……यति'। अथाभिषेकानन्तरमेनां वधूं स्थालीपाकं चरुशेषं प्राणैस्ते प्राणान्त्सन्दधामीत्यादिना त्वचा त्वचमित्यन्तेन मन्त्रेण वरः प्राशयति ॥ १।११।५ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'अथैनाꣳ……त्वचमिति'। अथाभिषेकानन्तरमेनां वधूं स्थालीपाकं चरुं वरः प्राशयेत् प्राणैस्ते प्राणानिति मन्त्रेण। वधूसंस्कारोऽयं न तु द्रव्यप्रतिपत्तिः, अतो द्रव्यस्य नाशदोषादावन्यद्रव्येण प्राशनं कार्यम्। तदुक्तं कारिकायाम्—'वधूसंस्कार एवायं प्रतिपत्तिरियं न तु। अतो द्रव्यविनाशादौ द्रव्येणान्येन तद्भवेत् ॥ शेषद्रव्यविनाशादौ लुप्यन्ते प्रतिपत्तयः।' अत्र स्त्रिया सह वरोऽपि समाचाराद्भोजनं करोति। स्त्रिया सह भोजनेऽपि न दोष इत्याह हेमाद्रौ प्रायश्चित्तकाण्डे गालवः—एकयानसमारोह एकपात्रे च भोजनम्। विवाहे पथि यात्रायां कृत्वा विप्रो न दोषभाक् ॥ अन्यथा दोषमाप्नोति पश्चाच्चान्द्रायणं चरेत्। मिताक्षरायामप्येवम्। मन्त्रार्थः—हे कन्ये ! मम प्राणादिभिस्ते तव प्राणादीन्सन्दधामि संयोजयामि ॥ १।११।५ ॥

अनुवाद—अभिषेक के बाद चरुहोम से बची हुई खीर को लेकर 'प्राणैस्ते' इत्यादि मंत्र पढ़ते हुए वर वधू को खीर खिलाये।

हे वधू ! मैं अपने प्राणों से तुम्हारे प्राणों को, हड्डियों से हड्डियों को, मांस से मांस को, चमड़ी से चमड़ी को एक साथ मिलाता हूँ।

तस्मादेवंविच्छ्रोत्रियस्य दारेण नोपहासमिच्छेदुत ह्येवंवित्परो भवति।

(हरिहरभाष्यम्)—'तस्मादे……भवति'। यतोऽनेन चरुशेषप्राशनकर्मणा भर्त्रा सहैक्यं प्राप्ता दारा तस्मादेवंवित्पुरुषः श्रोत्रियस्य विदुषः दारेण भार्यया सह उपहासं मैथुनं नेच्छेत् न कामयेत्, हि यस्मात् एवंविदपि श्रोत्रियः परः शत्रुर्भवति ॥१।११।६॥

(गदाधरभाष्यम्)—'तस्मादे……परो भवति'। हि यस्मादस्या एतेन प्राशनाख्यसंस्कारेण भर्त्रा सहैक्यं वृत्तं तस्माच्छ्रोत्रियस्य दारेण उपहासमभिगमनं नेच्छेत्। स चैवंविदेवंकुर्वन्परो भवति पराभवं गच्छति। यद्वा एवंविच्छ्रोत्रियस्य परः शत्रुर्भवति उत अप्यर्थे निन्दार्थवादोऽयम्। परदाराभिगमनमतो न कार्यम्। समाप्तं चतुर्थीकर्म ॥

अनुवाद—इस चरु-प्राशन के पश्चात् पत्नी पति के साथ एक हो जाती है। अतः ऐसे विद्वान् पति की पत्नी के साथ भूल से भी कोई व्यक्ति उपहास तक करने की इच्छा न करे। क्योंकि ऐसा करने पर वह उस श्रोत्रिय पति का परम शत्रु बन जाता है।

तामुद्दुह्य यथर्तुप्रवेशनम् ॥ १।११।७ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'तामुदुह्य यथर्तुप्रवेशनम्'। एवं पूर्वोक्तेन प्रकारेण तां वधू-

मुदुह्य विवाहयित्वा विवाहकर्मणा भार्यात्वं सम्पाद्य यथर्तु प्रवेशनम् ऋतुकालमृतुकालं प्रवेशनमभिगमनं, कुर्यादिति शेषः ॥ १।११।७ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—स्वभार्याऽभिगमनमाह—'तामुदुह्य यथर्तुंप्रवेशनम्'। तां वधूं पूर्वोक्तविधिना उदुह्य विवाहयित्वा यथर्तु ऋतावृतौ प्रवेशनमभिगमनं कुर्यादित्यर्थः। याज्ञवल्क्यः—षोडशर्तुनिशाः स्त्रीणां तासु युग्मासु संविशेत्। ब्रह्मचार्येव पर्वण्याद्याश्चतस्रश्च वर्जयेत् ॥ स्त्रीणां षोडशनिशा ऋतुः गर्भाधानयोग्यः कालः, तत्रोक्तविधिना गच्छन् ब्रह्मचार्येव। चतुर्दश्यष्टमी चैव अमावास्या च पूर्णिमा। चत्वार्येतानि पर्वाणि रविसङ्क्रान्तिरेव च ॥ मनुः—अमावास्याऽष्टमी चैव पौर्णमासी चतुर्दशी। ब्रह्मचारी भवेन्नित्यमप्यृतौ स्नातको द्विजः ॥ तथा—तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी तथा। त्रयोदशी च शेषाः स्युः प्रशस्ता दश रात्रयः ॥ ऋतोरेकादशीत्रयोदश्यौ न पक्षस्य। हारीतस्तु—शुद्धा भर्तुश्चतुर्थेऽह्नि स्नानेन स्त्री रजस्वला। दैवे कर्मणि पित्र्ये च पञ्चमेऽहनि शुद्ध्यति ॥ इति। ततश्चतुर्थ्यां स्त्रीगमनस्य विहितप्रतिषिद्धत्वाद्विकल्पः। स च व्यवस्थितः रजोनिवृत्तौ चतुर्थ्यां विधिः, तदनिवृत्तौ प्रतिषेधः। मनुः—रजस्युपरते साध्वी स्नानेन स्त्री रजस्वलेति। साध्वी गर्भाधानादिविहितकर्मयोग्येत्यर्थः। ज्योतिःशास्त्रे—पित्र्यं पौष्णं नैर्ऋतं चापि धिष्ण्यं त्यक्त्वेति। पित्र्यं मघा पौष्णं रेवती नैर्ऋतं मूलम्। अत्र समासु पुत्रो विषमासु कन्येति ज्ञेयम्। हेमाद्रौ शङ्खः—युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु। तत्राप्युत्तरोत्तराः प्रशस्ताः। तदाहापस्तम्बः—तत्राप्युत्तरोत्तराः प्रशस्ता इति। व्यासः—रात्रौ चतुर्थ्यां पुत्रः स्यादल्पायुर्धनवर्जितः। पञ्चम्यां पुत्रिणी नारी षष्ठ्यां पुत्रस्तु मध्यमः ॥ सप्तम्यामप्रजा योषिदष्टम्यामीश्वरः पुमान्। नवम्यां सुभगा नारी दशम्यां प्रवरः सुतः ॥ एकादश्यामधर्मा स्त्री द्वादश्यां पुरुषोत्तमः। त्रयोदश्यां सुता पापा वर्णसङ्करकारिणी ॥ धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च आत्मवेदी दृढव्रतः। प्रजायते चतुर्दश्यां पञ्चदश्यां पतिव्रता ॥ आश्रयः सर्वभूतानां षोडश्यां जायते पुमान्। तच्चैकस्यां रात्रौ सकृदेव कार्यं 'सुस्थ इन्दौ सकृत्पुत्रं लक्षण्यं जनयेत्पुमान्' इति याज्ञवल्क्योक्तेः। इदं चर्त्तौ गमनमन्यकाले प्रतिबन्धादिनाऽसम्भवे श्राद्धैकादश्यादावपि कार्यं—'ब्रह्मचार्येव पर्वण्याद्याश्चतस्रश्च वर्जयेदिति याज्ञवल्क्योक्तेः। व्याख्यातं चेदं मिताक्षरायाम्। यत्र श्राद्धादौ ब्रह्मचर्यं विहितं तत्राप्यृतौ गच्छतो न ब्रह्मचर्यस्खलनदोष इति। स्त्रीणां बहुत्वे ऋतौ यौगपद्ये च गमनक्रममाह देवलः—यौगपद्ये तु तीर्थानां विप्रादिक्रमशो व्रजेत्। रक्षणार्थमपुत्राणां ग्रहणक्रमशोऽपि वा ॥ इति। तीर्थमृतुः। विप्रादिक्रमो वर्णक्रमः ग्रहणक्रमो विवाहक्रमः। अगमने दोषमाह पराशरः—ऋतौ स्नातां तु यो भार्यां सन्निधौ नोपगच्छति। घोरायां भ्रूणहत्यायां युज्यते नात्र संशयः ॥ इति। अस्यापवादमाह मदनरत्ने—व्याधितो बन्धनस्थो वा प्रवासेष्वथ पर्वसु। ऋतुकालेऽपि नारीणां भ्रूणहत्या प्रमुच्यते ॥ वृद्धां वन्ध्यामसद्वृत्तां मृतापत्यामपुष्पिणीम्। कन्यां च बहुपुत्रां च वर्जयन्मुच्यते भयात् ॥ ऋतौ स्नानमाहापस्तम्बः—ऋतौ तु गर्भशङ्कित्वात्स्नानं मैथुनिनः स्मृतम्। अनृतौ तु यदा गच्छेच्छौचं मूत्रपुरीषवत् ॥ स्त्रीणां तु न स्नानम्—'उभावप्यशुची स्यातां दम्पती

शयनं गतौ । शयनादुत्थिता नारी शुचिः स्यादशुचिः पुमान् ॥' इति वृद्धशातातप-वचनात् । अत्र प्रसङ्गाद्रजस्वलोपयोगि किञ्चिन्निरूप्यते । तत्र स्मृत्यर्थसारे—दिवा रजःस्रावे तद्दिनमशुचित्वं स्यात् । रात्रौ रजःस्रावे सति अर्द्धरात्रादर्वाक्चेत्पूर्वदिन-मित्येकः पक्षः रात्रिं त्रिधा विभज्य पूर्वभागद्वये चेत्पूर्वदिनमित्यन्यः पक्षः । उदयात्पूर्वं चेत्पूर्वदिनमित्यपरः पक्षः । एषां पक्षाणां देशाचारतो व्यवस्था । अविज्ञाते रजःस्रावे तु दिनेषु जातेषु रजःस्रावादिकमशुचित्वं स्यात् (?) । ज्ञानात्पूर्वं च रजस्वलास्पृष्टं दुष्टमेव । रजस्वला त्रिरात्रमशुचिः स्यात् चतुर्थेऽहनि स्नाता शुद्धा भवति भर्तुः स्पृश्या दैवे पित्र्ये च कार्ये रजोनिवृत्तौ शुचिः । रजस्वला चतुर्थेऽहनि मृत्तिकादिभिः शौचं कृत्वा क्षत्रियादिस्त्री च पादपादन्यूनमृत्तिकाभिर्विधवा द्विगुणमृत्तिकाभिः शौचं कृत्वा दन्तधावनपूर्वकं सङ्गवे सचैलं स्नायात् । रजस्वलायाः स्नातायाः पुनरपि रजोदृष्टौ अष्टादशदिनादर्वागशुचित्वं नास्ति । अष्टादशे दिने रजोदृष्टावेकरात्रमशुचित्वम्, नव-दशदिने द्विरात्रम्, विंशतिदिने त्रिरात्रमेव । प्रायो विंशतिदिनादूर्ध्वं रजःस्राविणीनामेवं भवति । विंशतिदिनादर्वाक् प्रायशो रजोदर्शनवतीनामष्टादशदिनेऽपि त्रिरात्रम-शुचित्वम् । त्रयोदशदिनादूर्ध्वं प्रायो रजःस्राविणीनामेकादशदिनादर्वागशुचित्वं नास्ति । एकादशदिने रजोदृष्टौ एकदिनमशुचित्वम्, द्वादशदिने द्विरात्रम्, त्रयोदशदिने त्रिरात्र-मेव । प्रयोगपारिजातेऽप्येवम् । रोगजे तु तत्रैवोक्तम्—रोगेण यद्रजः स्त्रीणामन्वहं हि प्रवर्तते । नाशुचिस्तु भवेत्तेन यस्माद्वैकारिकं मतम् ॥ इति । तत्रापि स्वकाले अशुचि-रेव । तदुक्तम्—रोगजे वर्तमानेऽपि काले निर्याति कालजम् । तस्मादप्यप्रमत्ता स्यादन्यथा सङ्करो भवेत् ॥ रजस्वलाया रजस्वलास्पर्शे अकामतः स्नानं, कामतः उपवासः पञ्चगव्याशनं च । असवर्णासु तु ब्राह्मण्याः क्षत्रियादिस्पर्शे क्रमेण कृच्छ्रार्द्ध-पादोनकृच्छ्रकृच्छ्राः । क्षत्रियादीनां तु कृच्छ्रपाद एव । क्षत्रियादीनां हीनवर्णस्पर्शे त्रिरात्रमुपवासः एतच्च कामतः । अकामतस्तु प्राक्शुद्धेरनशनम् । अकामतश्चाण्डालादि-स्पर्शेऽप्यनशनमेव प्राक्शुद्धेः । कामतस्तु प्रथमेऽह्नि त्र्यहः, द्वितीये द्व्यहः, तृतीये एकाहः । श्वस्पर्शे तु द्व्यह एकाहो वा । भुञ्जानायाश्चाण्डालादिस्पर्शे षड्रात्रम् । उच्छिष्टयोः स्पर्शे तु कृच्छ्र इत्यादि मिताक्षरायां ज्ञेयम् । स्मृत्यर्थसारे तु—सर्वत्र बालापत्यास्पर्शे स्नाने कृते भुक्तिः पश्चादनशनप्रत्याम्नाय इति । स्नानविधिं चाह पराशरः—स्नाने नैमित्तिके प्राप्ते नारी यदि रजस्वला । पात्रान्तरिततोयेन स्नानं कृत्वा व्रतं चरेत् ॥ सिक्तगात्रा भवेदद्भिः साङ्गोपाङ्गा कथञ्चन ॥ न वस्त्रपीडनं कुर्यान्नान्यद् वासश्च धारयेत् ॥ व्रतान्याह मदनपारिजाते वसिष्ठः—सा नाञ्ज्यान्नाभ्य-ञ्ज्यान्नाप्सु स्नायादधः शयीत न दिवा सुप्यान्न रज्जुं सृजेत् न मांसमश्नीयान्न ग्रहा-न्निरीक्षेत न हस्तेन किञ्चिदाचरेदखर्वेण पात्रेण पिबेदञ्जलिना वा पात्रेण लोहिताय-सेन वेति । खर्वो वामहस्तः ॥ १॥११॥७ ॥

अनुवाद—पूर्वोक्त ढंग से विवाहकर्म संपादित कर उस वधू के साथ प्रत्येक ऋतु-काल में रमण करें ।

यथाकामी वा काममाविजनितोः सम्भवामेति वचनात् ॥ १।११।८ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'यथाकामी वा' । स्त्रियाः काममनतिक्रम्य यथाकामं तदस्यास्तीति यथाकामी वा भवेत् न ऋतुकालाभिगमननियमः । कुतः ? 'काममा…… वचनात्' । कामं स्वेच्छया आविजनितोः आप्रसवात् सम्भवाम भर्त्रा सह सङ्गता भवामेति स्त्रीणाम् इन्द्राद्वरप्रार्थनावचनात् । प्रजापतेरिति केचित् । अत्र यद्यपि यथर्तुप्रवेशनमिति सामान्येनोक्तं तथापि स्मृत्यन्तरोक्तपर्वादिनिषेधपालनं कुर्यात् । यथाह मनुः—अमावास्याऽष्टमी चैत्र पौर्णमासी चतुर्दशी । ब्रह्मचारी भवेन्नित्यमप्यृतौ स्नातको द्विजः ॥ याज्ञवल्क्योऽपि—षोडशर्तुनिशाः स्त्रीणां तासु युग्मासु संविशेत् । ब्रह्मचार्येव पर्वण्याद्याश्चतस्रश्च वर्जयेत् ॥ इत्यादि निषेधो यथाकामपक्षेऽपि समानः प्राप्तेऽभिगमने निषेधः प्रवर्तते । गर्भिण्यभिगमने निषेधस्तु काममाविजनितोः सम्भवामेति वचनाद् वाध्यते । ऋतावनभिगमने दोषमाह मनुः—ऋतुस्नातां तु यो भार्यां सन्निधौ नोपगच्छति । घोरायां ब्रह्महत्यायां युज्यते नात्र संशयः ॥ तथा च—ऋतुस्नातां तु यो भार्यां शक्तः सन्नोपगच्छति । घोरायां भ्रूणहत्यायां युज्यते नात्र संशयः ॥ तथा—लोकानन्त्यं दिवः प्राप्तिः पुत्रपौत्रप्रपौत्रकैः । यस्मात्तस्मात्स्त्रियः सेव्याः कर्तव्याश्च सुरक्षिताः ॥ इत्यादिभिः स्मृतिभिः स्त्रीरक्षाया विहितत्वात् । तासां कामातिक्रमणे व्यभिचारशङ्कासम्भवात्तद्रक्षार्थं यथाकाम्यं, तस्माद्यथाकामे तु न नियमः यथाकामी वेति विकल्पेनाभिधानात् । अनभिगमने तु प्रत्यवायस्मरणाभावाच्च । अतो लोकानन्त्यं दिवः प्राप्तिश्च ।

(गदाधरभाष्यम्)—'यथाकामी'''वचनात्' । स्त्रियाः काममनतिक्रम्य यथाकामं तदस्यास्तीति यथाकामी वा भवेत् । न नियम ऋतावेवेति, कुत एतत् ? काममाविजनितोः सम्भवामेति वचनात्, कामं स्वेच्छया आविजनितोः आप्रसवात् सम्भवाम भर्त्रा सह सङ्गता भवामेत्यर्थः । तथा तैत्तिरीयश्रुतौ—स इन्द्रः स्त्रीषंससादमुपासीदन् अस्यै ब्रह्महत्यायै तृतीयं प्रतिगृह्णीतेति ता अब्रुवन्वरं वृणामहै ऋत्वियात्प्रजा विन्दामहै काममाविजनितोः सम्भवामेति तस्मादृत्वियात्स्त्रियः प्रजा विन्दत इति । अस्यार्थः—स इन्द्रः स्त्रीणां षंससादं समूहम् उपासीदन् उपससाद षत्वं छान्दसम् अस्यै अस्याः ब्रह्महत्यायास्तृतीयांशं प्रतिगृह्णीतेति ता अब्रुवन् वरं वृणामहै ऋतुसम्बन्धिगमनम् ऋत्वियं तस्मात् आविजनम् आविजनितुः तस्मात् आविजनितोः आगर्भप्रसवकालात् सम्भवाम पुरुषेण संयुक्ता भवाम । एवं च सति विकल्पोऽयम् । तथा च स्मृतिः—ऋतावुपेयात्सर्वत्र वा प्रतिषिद्धवर्जमिति ॥ १।११।८ ॥

अनुवाद—अथवा—नारी जब रमण करने की इच्छा अभिव्यक्त करे, तब उसके साथ मैथुन करना चाहिए । क्योंकि नारियों ने देवराज इन्द्र से यह वर माँग लिया था कि जब हम चाहें, अपने पति के साथ सहवास करें ।

अथास्यै दक्षिणाꣳ समधि हृदयमालभते—यत्ते सुसीमे हृदयं दिवि चन्द्रमसि श्रितम् । वेदाहं तन्मां तद् विद्यात् पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतमिति ॥ १।११।९ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अथास्यै······शतम् इति'। अथाभिगमनान्तरमस्यै अस्या भार्याया: दक्षिणांसं दक्षिणस्कन्धमधि उपरि दक्षिणं हस्तं नीत्वा हृदयमालभते हृदयं वक्षः आलभते स्पृशति। यत्ते सुसीम इत्यादिना शृणुयाम शरदः शतमित्यनेन मन्त्रेण।

(गदाधरभाष्यम्)—'अथास्यै······शतमिति'। अथ मैथुनोत्तरं अस्या भार्याया दक्षिणांसं दक्षिणस्कन्धमधि उपरि स्वहस्तं नीत्वा तेनैव हस्तेन हृदयमालभते स्पृशति यत्ते सुसीम इति मन्त्रेण। अत्र कर्कभाष्यम्—हृदयालम्भश्चाभिगमनोत्तरकालीनः प्राक्कालीन इत्यपरे। अप्रयतत्वादिति। नैतदिति जयरामः, यतो गर्भसम्भावनायां तदुपयुज्यते। प्रयतत्वं च शौचादिनाऽपि स्यादेव। यथाऽऽह याज्ञवल्क्यः—ऋतौ तु गर्भशङ्कित्वात्स्नानं मैथुनिनः स्मृतम्। अनृतौ तु सदा गच्छञ्छौचं मूत्रपुरीषवत्॥ इति। अभिगमनानन्तरमनाचान्त एव दक्षिणांऽसमधिहृदयमालभत इति भर्तृयज्ञः। मन्त्रार्थः—शोभना सीमा मूर्ध्नि केशमध्ये पद्धतिर्यस्याः सा तस्याः सम्बोधनं हे सुसीमे! शोभनसीमन्तिनि यत्ते तव हृदयं मनः दिवि स्वर्गे वर्तमाने चन्द्रमसि श्रितं तदधीनतया स्थितम्, तदहं वेद जानीयाम्, तच्च मां विद्यात् जानातु एवं परस्परानुगुंणितहृदया-ऽपत्यादिसहिता वयं शरदः शतमित्याद्युक्तार्थम्॥ १।११।९॥

अनुवाद—मैथुन के बाद 'यत्ते सुसीमे' मंत्र पढ़कर वधू के दाहिने कन्धे के ऊपर से हाथ ले जाकर वधू के हृदय का स्पर्श करे।

मंत्रार्थ—हे सुकेशि! स्वर्ग में स्थित चन्द्रमा में जो तुम्हारा मन रमा है, उसे हम ठीक से समझें और हमारे मन को तुम ठीक से समझो। एक-दूसरे के मन को ठीक से समझते हुए हम दोनों सौ साल तक देखें, सौ साल तक जीएँ और सौ साल तक सुनें।

एवमत ऊर्ध्वम्॥ १।११।१०॥

(हरिहरभाष्यम्)—'एवमत ऊर्ध्वम्'। एवमनेनैव प्रकारेण अतोऽनन्तरमृतावृतौ प्रवेशनं यथाकामं वा। इति सूत्रव्याख्या॥ १।११।१०॥

अथ चतुर्थीकर्मप्रयोगः—अत्र विवाहाच्चतुर्थ्यामपररात्रे गृहाभ्यन्तरतः पञ्च भूसंस्कारान् कृत्वा विवाहाग्नेः स्थापनं दक्षिणतः ब्रह्मोपवेशनं प्रणीतास्थानादुत्तरतः उदपात्र-स्थापनं प्रणीताप्रणयनादि आज्यभागान्तम् आवसथ्याधानवत् कुर्यात्। आज्यभागा-नन्तरम् अग्ने प्रायश्चित्त इत्यादिभिः पञ्चभिर्मन्त्रैः पञ्चाज्याहुतीर्हुत्वा। तद्यथा—अग्ने प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि याऽस्यै पतिघ्नी तनूस्तामस्यै नाशय स्वाहा इदमग्नये०। वायो प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्राय-श्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि याऽस्यै प्रजाघ्नी तनूस्तामस्यै नाशय स्वाहा इदं वायवे०। सूर्य प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उप-धावामि याऽस्यै पशुघ्नी तनूस्तामस्यै नाशय स्वाहा इदं सूर्याय०। चन्द्र प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि याऽस्यै गृहघ्नी तनूस्ता-मस्यै नाशय स्वाहा इदं चन्द्रमसे०। गन्धर्व प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्म-

णस्त्वा नाथकाम उपधात्वामि याऽस्यै यशोघ्नी तनूस्तामस्यै नाशय स्वाहा इदं गन्धर्वाय० । ततः स्थालीपाकेन प्रजापतये स्वाहा इदं प्रजापतये इति प्राजापत्यान्तं हुत्वा । अग्ने प्रायश्चित्त इत्यादि प्राजापत्यान्तानां षडाहुतीनां संस्रवमुदपात्रे प्रक्षिपेत् । केषाञ्चिन्मते स्विष्टकृतोऽपि संस्रवं प्रक्षिपेत् । अन्यसामाहुतीनां पात्रान्तरे संस्रवान् प्रक्षिपेत् । ततोऽग्नये स्विष्टकृते स्वाहा इदमग्नये स्विष्टकृते । हुत्वा आज्येन महाव्याहृत्यादिप्राजापत्यान्ता नवाहुतीर्वा जुहोति । ततः पात्रान्तरस्थान्संस्रवान्प्राश्य पूर्णपात्रवरयोरन्यतरं ब्रह्मणे दत्त्वा उदपात्रादुदकमादाय वध्वं मूर्द्धन्यभिषिञ्चति—या ते पतिघ्नी प्रजाघ्नी पशुघ्नी गृहघ्नी यशोघ्नी निन्दिता तनूर्जारघ्नीं तत एनां करोमि सा जीर्य त्वं मया सहासावित्यृचानेन मन्त्रेण । अथ वरो वध्वं स्थालीपाकं हुतशेषं सकृत्प्राशयति प्राणैस्ते प्राणान्त्सन्दधामि अस्थिभिरस्थीनि मा॑ꣳसैर्मा॑ꣳसानि त्वचा त्वचमित्यनेन मन्त्रेण । सा च भर्त्रा मन्त्रे पठिते प्राश्नाति । अथ ऋतुकाले रजोदर्शने सञ्जाते पुण्याहे गर्भाधाननिमित्तं मातृपूजापूर्वकं स्वयमाभ्युदयिकं कृत्वा रात्रावभिगमनं कुर्यात् । अभिगमनानन्तरं वध्वा दक्षिणस्कन्धस्योपरि दक्षिणहस्तं नीत्वा हृदयं स्पृशति—'यत्ते सुसीमे हृदयं दिवि चन्द्रमसि श्रितम् । वेदाहं तन्मां तद्विद्यात्पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतम्' इत्यन्तेन मन्त्रेण । एवं श्राद्धवर्जं प्रत्यृतुकालमभिगमनं कुर्यात्, यथाकामी वा भवेत् । ऋतुकालाभिगमनं कुर्वन् ब्रह्मचर्यान्न स्खलति ।। ब्रह्मचार्येव पर्वण्याद्याश्चतस्रश्च वर्जयेत् इति याज्ञवल्क्यस्मरणात् । अनभिगमने तु दोषस्य श्रवणात्—'ऋतुस्नातां तु यो भार्यां सन्निधौ नोपगच्छति । घोरायां भ्रूणहत्यायां युज्यते नात्र संशयः ।। ऋतुस्नातां तु यो भार्यां शक्तः सन्नोपगच्छति । घोरायां भ्रूणहत्यायां युज्यते नात्र संशयः' ।। इत्यादिप्रत्यवायस्मरणाच्च ऋतुकालाभिगमने नियमः । याथाकाम्ये तु न नियमः, यथाकामी वेति विकल्पविधानात्, अतो—'लोकानन्त्यं दिवः प्राप्तिः पुत्रपौत्रप्रपौत्रकैः । यस्मात्तस्मात्स्त्रियः सेव्याः कर्तव्याश्च सुरक्षिताः' ।। इत्यादिभिः स्त्रीरक्षाया विहितत्वात् तासां कामातिक्रमणे व्यभिचारशङ्कासम्भवात्तद्रक्षार्थं याथाकाम्यम् । इति चतुर्थीकर्मपद्धतिः ।।

विष्णुपुराणे—ऋतावभिगमः शस्तः स्वपत्न्यामवनीपते । पुन्नामर्क्षे शुभे काले श्रेष्ठे युग्मासु रात्रिषु ।। नास्नातां तां स्त्रियं गच्छेन्नातुरां न रजस्वलाम् । नाप्रशस्तां न कुपितां नानिष्टां न च गुर्विणीम् ।। नादक्षिणां नान्यकामां नाकामां नान्ययोषितम् । क्षुत्क्षामां नातिभुक्तां वा स्वयं चैभिर्गुणैर्युतः ।। स्नातः स्रग्गन्धधृक् प्रीतो नाध्मातः क्षुधितोऽपि वा । सकामः सानुरागश्च व्यवायं पुरुषो व्रजेत् ।। चतुर्दश्यष्टमी चैव अमावास्याऽथ पूर्णिमा । पर्वाण्येतानि राजेन्द्र रविसङ्क्रान्तिरेव च ।। तैलस्त्रीमांससम्भोगी पर्वस्वेतेषु वै पुमान् । विण्मूत्रभोजनं नाम प्रयाति नरकं मृतः ।। इति चतुर्थीकर्मपद्धतिः ।।

(**गदाधरभाष्यम्**)—'एवमत ऊर्ध्वम्' । प्रथमतौ यथा हृदयालम्भः कृतः एवमनेन प्रकारेण अतोऽनन्तरमूर्ध्वम् ऋतावृतौ हृदयालम्भः कार्यः । हरिहरव्याख्या चैवम्—एवमनेन प्रकारेणातोऽनन्तरम् ऋतावृतौ प्रवेशनं यथाकामं वेति ।। १।११।१० ।।

अथ पदार्थक्रमः । तत्र चतुर्थ्यामपररात्रे स्नानपूर्वकं गृहाभ्यन्तरतः कर्म कार्यम् । देशकालौ स्मृत्वा विवाहाङ्गं चतुर्थीकर्म करिष्य इति सङ्कल्पः । ततो वैवाहिकमग्नि

स्थापयेत् ब्रह्मोपवेशनम् । अग्नेरुत्तरत उदपात्रनिधानम् । ततः प्रणीताप्रणयनाद्याज्य-भागान्तमाधानवत् । आज्यभागान्ते स्थाल्याज्येन पञ्चाहुतयो होतव्याः । अग्ने प्रायश्चित्त इति प्रथमा इदमग्नये न मम । वायो प्रायश्चित्ते इति द्वितीया इदं वायवे न० । सूर्य प्रायश्चित्त इति तृतीया इदं सूर्याय न० । चन्द्र इति चतुर्थी इदं चन्द्राय न० । गन्धर्व इति पञ्चमी इदं गन्धर्वाय न० । ततश्चरुं स्रुवेणादाय प्रजापतये स्वाहेति होमः इदं प्रजापतये न० । अग्न इत्यादिषण्णामाहुतीनां संस्रवाणामुदपात्रे प्रक्षेपो हुत्वाहुत्वैव अन्यासामन्यत्र । ततः स्विष्टकृदादिदक्षिणादानान्तम् । तत उदपात्रजलेन वधूमूर्ध्नि या ते पतिघ्नीत्य-भिषेकः । असौ स्थाने नामग्रहणम् । हे प्रिये इति । ततो वरः प्राणैस्त इति चरुशेषं वधूं प्राशयति सकृत् । अत्र समाचाराद् वरोऽपि कन्याहस्तेन भोजनं करोति । इति पदार्थक्रमः ।।

अथ गर्गमते विशेषः—ब्रह्मोपवेशनाद्याज्यभागान्तं पूर्ववत् । प्रत्यक्षब्रह्मण उपवेश-नम् । ग्रहणे प्रजापतये जुष्टं गृह्णामि । आज्यभागान्ते पञ्चाहुतयस्ततः स्थालीपाकेन प्रजापतये स्वाहेति । मूर्द्धन्यभिषेकः । ततः स्थालीपाकं प्राशयति प्राणैस्ते इति चतुर्भिः प्रतिमन्त्रम् । महाव्याहृत्यादिस्विष्टकृदन्तम् । आज्येन स्विष्टकृदिति गर्गपद्धतौ । प्राश-नादिपूर्णपात्रदानान्तम् इति गर्गमते क्रमः ।।

अथ गर्भाधाने पदार्थक्रमः—प्रथमप्रयोगे मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकश्राद्धम् । सङ्कल्पः—देशकालौ स्मृत्वा अस्या मम भार्यायाः प्रतिगर्भं संस्कारातिशयद्वाराऽस्यां जनिष्यमाणसर्वगर्भाणां बीजगर्भसमुद्भवैनोनिनिबर्हणद्वारा च श्रीपरमेश्वरप्रीत्यर्थं गर्भा-धानाख्यं कर्माहं करिष्य इति । ततो रात्रावभिगमनं ब्रह्मसूत्रं मूत्रपुरीषवद्धार्यम् । स्नानम् । ततो दक्षिणांसमधि हृदयमालभते यत्ते सुसीम इति । न कश्चिदत्र विशेषो गर्गमते । इति गर्भाधाने क्रमः ।।

अथ प्रथमे रजोदर्शने विशेषः—तत्र प्रथमे रजोदर्शने मासादौ दुष्टे सति गर्भा-धानस्य शान्तिपूर्वकं कर्तव्यत्वाच्छान्तिकं वक्तुं दुष्टमासाद्युच्यते—प्रथमे रजसि चैत्र-ज्येष्ठाषाढभाद्रपदकार्तिकपौषा अशुभाः । आश्विनो मध्यमः । शेषाः शुभाः । क्वचिद्वै-शाखफाल्गुनपूर्वार्द्धयोरधमत्वमुक्तम् । तिथिषु प्रतिपच्चतुर्थीषष्ठ्यष्टमीद्वादशीचतुर्दशी-पौर्णमास्यमावास्या अशुभाः शेषाः शुभाः । क्वचित्सप्तम्येकादश्यावशुभे अष्टमीद्वादश्यौ शुभे इत्युक्तम् ।। वारेषु रविभौममन्दवारा अशुभाः । अन्ये तु शुभाः । कैश्चित्सोमोऽप्य-शुभ उक्तः । नक्षत्रेषु भरण्यार्द्रापुष्याश्लेषापूर्वाज्येष्ठामूलपूर्वाषाढापूर्वाभाद्रपदारेवत्योऽ-शुभाः, चित्राविशाखाश्रवणाश्विनीमघास्वातयो मध्यमाः, अन्यानि शुभानि । कैश्चित्तु कृत्तिकापुनर्वस्वनुराधारेवत्योऽप्यशुभा उक्ताः । एवं च तासां मध्यमत्वम् एवमन्यत्रापि । योगेषु व्याघातस्याद्या नव नाड्यो गण्डातिगण्डयोः षट्षट् शूलस्य पञ्चदश परिघ-पूर्वार्द्धं वैधृतिव्यतीपाताश्चेत्यशुभाः । वज्रं मध्यमम् । अन्ये शुभाः । करणानि विष्टिं विना सर्वाणि शुभानि । अह्नि त्रेधाविभक्ते आद्यो भागः शुभः द्वितीयो मध्यमः तृतीयो दुष्टः ।। एवं रात्रौ । सूर्योदयास्तमयावप्यशुभौ । रविसङ्क्रमादधो नाडीचतुष्टयमूर्ध्वं चान्त्यं शुभम् । सङ्क्रान्त्यादिदग्धदिनेष्वशुभम् । रविचन्द्रोपरागयोरप्यशुभम् । सन्ध्योप-

प्लवशावाशौचेषु भर्तुरात्मनश्च चतुर्थाष्टमद्वादशस्थे चन्द्रे जीर्णरक्तनीलमलिनकृष्ण-वस्त्रेषु परिहितेषु न शुभम् ॥ सम्मार्जनीकाष्ठतृणाग्निशूर्पतुषशुष्काक्षतलोहपाषाणशस्त्रादि-धारिण्या एतैर्युक्ते देशे चाशुभम् । देहलीद्वाररथ्यादिपितृमातृगृहेष्वशुभम् । ऊर्ध्वं स्थिताया निद्रितायाश्चाशुभम् । शय्यादौ शुभम् । पित्रादिसखिस्वभर्तृभिर्दृष्टमशुभम् । शय्यादौ शुभमित्यादि ज्ञेयम् । दुष्टमासादौ प्रथमरजोदर्शने ताम्बूलभक्षणादिमङ्गला-चारान्न कुर्यात् । द्वितीये तु शुभे तत्र कुर्यादिति । प्रथमे दुष्टरजोदर्शने द्वितीयं प्रतीक्ष्य तस्मिन्नप्यशुभे वक्ष्यमाणां विस्तरेण शान्ति कुर्यादिति केचित् । प्रथम एव यथाशक्ति शान्ति चरेदित्यपरे । अत्रैकस्मिन्नप्यशुभे वक्ष्यमाणा शान्तिः कार्या ॥ द्वित्राद्यशुभसन्नि-पाते तु तत्सूचितबह्वशुभनिरासार्थं वक्ष्यमाणाहुतिसङ्ख्यादिविवृद्धया कार्या । यथाशक्ती-त्यादि ज्ञेयम् । इति शुभाशुभविचारः ।

अथ शान्तिरुच्यते । प्रयोगपारिजाते शौनकः—पञ्चमेऽह्नि चतुर्थे वा ग्रहातिथ्यपुरः-सरम् । द्रोणप्रमाणधान्येन व्रीहिराशित्रयं भवेत् ॥ कुम्भत्रयं न्यसेद्राशौ तन्तुवस्त्रादिवेष्टि-तम् । सूक्तेनाथ नवर्चेन प्रसुवआप इत्यथ ॥ आचार्यः प्रवरस्तद्वद् गायत्र्या च ततः क्रमात् । मध्यकुम्भे क्षिपेद्धान्यमौषधानि च हेम च ॥ उदुम्बरः कुशा दूर्वा राजीवं चम्प-बिल्वकाः । विष्णुक्रान्ताऽथ तुलसी बर्हिषः शङ्खपुष्पिका ॥ शतावर्यश्वगन्धा च निर्गुण्डी सर्षपद्वयम् । अपामार्गः पलाशश्च पनसो जीवकस्तथा ॥ प्रियङ्गवश्च गोधूमा व्रीहयो-ऽश्वत्थ एव च । क्षीरं दधि च सर्पिश्च पद्मपत्रं तथोत्पलम् ॥ कुरण्टकत्रयं गुञ्जा वचा-भद्रकमुस्तकाः । द्वात्रिंशदौषधानीह यथासम्भवमाहरेत् ॥ मृत्तिकाश्चौषधादीनि तन्मन्त्रेण क्षिपेत्क्रमात् । कुम्भोपरि न्यसेत्पात्रं कांस्यमृद्वेणुताम्रजम् ॥ भुवनेश्वरीं न्यसेत्तत्र इन्द्राणीं च पुरन्दरम् । जपेद् गायत्रीं मध्यमे श्रीसूक्तं च जपेत्ततः ॥ स्पृशन्वै दक्षिणं कुम्भमृत्वि-गेको जपेदथ । चत्वारि रुद्रसूक्तानि चतुर्मन्त्रोत्तराणि च ॥ संस्पृशन्नुत्तरं कुम्भं श्रीरुद्रं रुद्रसङ्ख्यया । शन्नइन्द्राग्निसूक्तं च तत्रैव संस्पृशन् जपेत् ॥ कुम्भस्य पश्चिमे देशे शान्तिहोमं समाचरेत् । दूर्वाभिस्तिलगोधूमैः प्रायसेन घृतेन च ॥ तिसृभिश्चैव दूर्वाभि-रेका वाऽप्याहुतिर्भवेत् । अष्टोत्तरसहस्रं वा शतमष्टोत्तरं तु वा ॥ गायत्र्यैव तु होतव्यं हविरत्र चतुष्टयम् । ततः स्विष्टकृतं हुत्वा समुद्रादूर्मिसूक्ततः ॥ सन्तताआज्यधारां तां पूर्णाहुतिमथाचरेत् । अथाभिषेकं कुर्वीत प्रतिकुम्भस्थितोदकैः । आपोहिष्ठेति नवभिः सूक्तेन च ततः परम् । 'इन्द्रो अङ्गे' तृचेनैव पावमानैः क्रमेण तु ॥ उभयं शृणवचचन स्वस्तिदाविश एकया । त्र्यम्बकेन मन्त्रेण जातवेदस एकया ॥ समुद्रज्येष्ठा इत्यादि त्रायन्तां च त्रिभिः क्रमात् । इमा आपस्तृचेनैव देवस्यत्वेति मन्त्रतः ॥ मन्त्रेणाथ तमी-शानं त्वमग्ने रुद्र इत्यथ । तमुष्टुहीति मन्त्रेण भुवनस्य पितरं यथा ॥ याते रुद्रेति मन्त्रेणि शिवसङ्कल्पमन्त्रतः । इन्द्रत्वावृषभं पञ्चमन्त्रैश्चैवाभिषेचयेत् ॥ धेनुं पयस्विनीं दद्यादाचार्याय च भूषणैः । सदक्षिणमनड्वाहं प्रदद्याद्रुद्रजापिने ॥ महाशान्ति प्रजप्याथ ब्राह्मणान् भोजयेत्ततः । नारदः—तत्र शान्ति प्रकुर्वीत घृतदूर्वातिलाक्षतैः । प्रत्येकाष्ट-शतं चैव गायत्र्या जुहुयात्ततः ॥ स्वर्णगोभूतिलान्दद्यात्सर्वदोषापनुत्तये ॥

अथ प्रयोगस्तत्रैवम्— विनायकं सम्प्रपूज्य ग्रहांश्चैव विधानतः । कर्मणां फलमाप्तो-

तीति याज्ञवल्क्येन कर्मफलसिद्धावविघ्नार्थत्वेन ग्रहयज्ञस्यावश्यकत्वोक्तेरिह च शौनकेन—'आर्तवानां तु नारीणां शान्तिं वक्ष्यामि शौनकः' इत्युपक्रम्य ग्रहातिथ्यपुरःसरमिति प्रकारेणोक्तेरावश्यकत्वादेकदेशकालकर्तृकाणां च विशेषवचनाभावे तन्त्रेण कर्तव्यत्वाद् ग्रहमखपूर्वकस्तन्त्रेण शान्तिप्रयोग उच्यते। रजोदर्शनानन्तरं पञ्चमादिदिने चन्द्रताराद्यानुकूल्ये शुचिदेशे सुस्नातया पत्न्या युतः पतिः प्राङ्मुख उपविश्य प्राणानायम्य देशकालौ सङ्कीर्त्य मम पत्न्याः प्रथमरजोदर्शनेऽमुकदुष्टमासादिसूचितसकलारिष्टनिरासद्वारा श्रीपरमेश्वरप्रीत्यर्थं सग्रहमखां शौनकोक्तां शान्तिं करिष्ये इति सङ्कल्प्य गणेशपूजनपुण्याहवाचनगौर्यादिषोडशमातृकापूजनब्राह्म्यादिसप्तमातृकापूजननान्दीश्राद्धानि कृत्वा शान्तं दान्तं कुटुम्बिनं मन्त्रतन्त्रज्ञमाचार्यं ब्रह्माणं च जपहोमार्थमष्टौ षट् चतुरो वा ऋत्विजोऽपि वृत्वा गन्धादिना पूजयेत्। तत आचार्यो गृहेशानदेशे शुचौ महीद्यौरिति भूमिं स्पृष्ट्वा तद्दक्षिणोत्तरतश्च तथैव मन्त्रावृत्त्या भूमिं स्पृष्ट्वा ओषधयः समवदन्त इति द्रोणप्रमाणव्रीहिभिर्मध्ये तद्दक्षिणोत्तरतश्च पृष्ठदेशे मन्त्रावृत्त्या राशित्रयं कृत्वा तेनैव क्रमेण राशित्रये नवमकालकमभग्नं कुम्भत्रयम् आजिघ्रकलशमिति मन्त्रावृत्त्या स्थापयेत्। एवं सर्वत्र मन्त्रावृत्तिः। ततः प्रसुवआप इति नवर्चेन कलशेषूदकपूरणम्। गन्धद्वारामिति त्रिष्वपि गन्धं प्रक्षिप्य या ओषधीरिति सर्वौषधीः, ओषधयः समिति यवान् क्षिपेत्। ततो मध्यकुम्भे यवव्रीहितिलमाषकङ्गुश्यामाकमुद्गान् क्षिप्त्वा गायत्र्योदुम्बरकुशदूर्वारक्तोत्पलचम्पकबिल्वविष्णुक्रान्तातुलसीबर्हिषशङ्खपुष्पीः शतावर्यश्वगन्धानिर्गुण्डीरक्तपीतसर्षपापामार्गपलाशपनसजीवकप्रियङ्गुगोधूमव्रीह्यश्वत्थदधिदुग्धघृतपद्मपत्रनीलोत्पलसितरक्तपीतकुरण्टकगुञ्जावचाभद्रकाख्यानि द्वात्रिंशदौषधानि सर्वाणि यथासम्भवं वा क्षिपेत्। ततस्त्रिषु कलशेषु काण्डात्काण्डादिति दूर्वाः, अश्वत्थेव इति पञ्चपल्लवान्, गजाश्वस्थानरथ्यावल्मीकसङ्गमह्रदगोष्ठस्थानमृदः स्योनापृथिवीति क्षिप्त्वा, याः फलिनीरिति पूगीफलानि, सहि(रण्य)रत्नानीति कनककुलिशनीलपद्मरागमौक्तिकानि पञ्चरत्नानि, हिरण्यरूप इति हिरण्यं च क्षिपेत्। युवासुवासा इति सूत्रेण वाससा च कलशकण्ठान् वेष्टयित्वा गन्धाक्षतपुष्पमालादिभिः कलशान् भूषयेत्। ततः कलशत्रयोपरि तेनैव क्रमेण सौवर्णं राजतं कांस्यमयं ताम्रमयं वैणवं मृन्मयं वा यवादिपूरितं पात्रत्रयं पूर्णादर्वीति निधाय, तदुपरि श्वेतं वस्त्रत्रयं न्यस्य तत्र चन्दनादिनाऽष्टदलानि कुर्यात्। तत्र मध्ये गायत्र्या भुवनेश्वरीमावाहयामीति यथाशक्तिसुवर्णनिर्मितां भुवनेश्वरीप्रतिमामग्न्युत्तारणपूर्वकं स्थापयेत्। तद्दक्षिणकुम्भोपरि वस्त्रे इन्द्राणीमासु इति इन्द्राणीमावाहयामीति तथैव सौवर्णीमिन्द्राणीप्रतिमां स्थाप्योत्तरकलशोपरि इन्द्रत्वा इति इन्द्रमावाहयामीति सौवर्णीमिन्द्रप्रतिमां स्थापयेत्। तत उक्तमन्त्रैरुक्तक्रमेण देवत्रयस्य काण्डानुसमयेन षोडशोपचारपूजां कुर्यात्। ततो मध्यमकुम्भे आचार्योऽष्टसहस्रमष्टशतं वा गायत्रीं जप्त्वा श्रीसूक्तं जपेत्, हिरण्यवर्णामिति पञ्चदशर्चं श्रीसूक्तम्। तत एको ऋत्विक् दक्षिणकुम्भे रुद्रसूक्तानि जपेत्, कद्रुद्रायेति नवर्चम्, इमा रुद्रायेत्येकादशर्चम्, आते पितरिति पञ्चदशर्चम्, इमा रुद्राय स्थिरधन्वन इति चतस्रः, आवोराजानं तुमुष्टिहि १ भुवनस्य पितरं १ त्र्यम्बकं १। अथान्यऋत्विगुत्तरकुम्भे एकादशा-

वृत्तिभी रुद्रं जपेत्। रुद्रं जप्त्वा शन्न इन्द्राग्नीति सूक्तं पञ्चदशर्चं जपेत्। ततः कुम्भ-पश्चिमदेशे स्थण्डिलेऽग्निं प्रणीय तदीशान्यां वेद्यादौ नवग्रहादींस्तत्तन्मन्त्रैरावाह्य षोडशोपचारैः सम्पूज्य तदीशान्यां प्राग्वत् कुम्भं संस्थाप्य तत्र वरुणमावाह्याग्निसमीपमेत्य ब्रह्मोपवेशनाद्याज्यभागान्ते विशेषः—प्रणीताप्रणयने पयसः प्रणयनम्, आसादने आज्यानन्तरं ग्रहसमिधः तिलाः दूर्वाः तिलमिश्रगोधूमाः तण्डुलाः। चरोः पयसि श्रपणम्। आज्यभागान्ते यजमानो दक्षिणतः उपविश्य होमार्थं च जपार्थं च वरयेदृत्विजो बहून् आचार्यो द्विजैः सहेति चोक्तेराचार्यर्त्विजां होमावगमात्तेषां चास्वत्वेन त्यागायोगात्तैश्च क्रियमाणे होमे यजमानेन प्रत्याहुतित्यागस्याशक्यत्वात्तदानीमेवाङ्गप्रधानहोमदेवता उद्दिश्य एताभ्य इदं न ममेति त्यजेत्। तत आचार्यः सऋत्विक् नवग्रहेभ्योऽष्टशताष्टाविंशत्यष्टान्यतमसङ्ख्याका घृताक्ता अर्कादिसमिधस्तिलाज्याहुतीश्च हुत्वाऽधिदेवताप्रत्यधिदेवताविनायकादिपञ्चलोकपालेभ्यस्तन्न्यूनसङ्ख्यया जुहुयात्। 'एभ्यस्तु पालाश्यः समिधः। ग्रहाणां यदाऽष्टौ तदाऽन्येभ्यश्चतस्र इति सम्प्रदायः। ततो भुवनेश्वर्यै गायत्र्या दधिमधुघृताक्ताभिस्तिसृभिर्दूर्वाभिरेकाहुतिरित्येवमष्टसहस्रमष्टशतं वा दूर्वाहुतीर्घृताक्ततिलमिश्रगोधूमाहुतीः पायसाहुतीर्घृताहुतीश्च जुहुयात्। एवमिन्द्राणीन्द्रयोः प्रागुक्तमन्त्राभ्यां क्रमेण हविश्चतुष्टयं प्रत्येकमष्टशतसङ्ख्यं, भुवनेश्वर्या अष्टसहस्रपक्षे जुहुयात्। तस्या अष्टशतपक्षे तु तयोरष्टाविंशतिरिति सम्प्रदायः। अन्ये तु—गायत्र्यैव तु होतव्यं हविरत्र चतुष्टयम्। ततः स्विष्टकृतं हुत्वेति शौनकेनेन्द्राणीन्द्रयोर्होमानभिधानात्तयोर्होमो नास्तीत्याहुः। ततः स्विष्टकृदादिप्रणीताविमोकान्तं कृत्वा इन्द्रादिदिक्पालेभ्यो नवग्रहेभ्यो भुवनेश्वरीन्द्राणीन्द्रेभ्यः क्षेत्रपालाय च सदीपान्माषभक्तबलींस्तत्तन्मन्त्रैर्दत्त्वा पूर्णाहुतिं समुद्रादूर्मिरिति तृचेन जुहुयात्। ततो भुवनेश्वर्यादिकलशोदकं ग्रहकलशोदकं च पात्रान्तरे गृहीत्वा तेन तत्स्थपञ्चपल्लवैः सकुशदूर्वैर्धृतनववस्त्रं यजमानं धृतनववस्त्रकञ्चुकीं च तद्वामस्थाम् ऋतुमतीं सऋत्विगुदङ्मुख आचार्योऽभिषिञ्चेदेतैर्मन्त्रैः। ते च—आपोहिष्ठेति नवभिः, यएकइद्विदयत इत्येकया, त्रिभिष्ट्वं देवेति सप्तर्चेन, उभयं शृणवच्चनेत्येकया, स्वस्तिदाविश इति च, त्र्यम्बकमिति, जातवेदस इत्येकया समुद्रज्येष्ठा इति चतसृभिः, त्रायन्तामिति तिसृभिः इमा आप इति तिसृभिः, देवस्यत्वेति त्रिभिः, तमीशानं जगत इत्येकया, त्वमग्ने रुद्र इत्यापस्तम्बशाखागतेनैकेन, तमुष्टुहीति मन्त्रेण, भुवनस्य पितरमिति च, यातेरुद्रेति यज्जाग्रत इति षण्मन्त्रैः, इन्दत्वावृषभं वयमिति पञ्चमन्त्रैः, ततः सुरास्त्वामभिषिञ्चन्त्विति नवभिः पौराणैर्मन्त्रैरभिषिञ्चेत्। ततः कलशोदकेनान्येन चोदकेन सुस्नातौ दम्पती शुक्लवासोगन्धमाल्यादिधृत्वोपविशेताम्। तत्र पत्नी दक्षिणतः। ततो यजमानोऽग्निं सम्पूज्य विभूतिं धृत्वाऽऽचार्यादीन् गन्धपुष्पवस्त्रालङ्कारादिभिर्यथाशक्ति पूजयित्वाऽऽचार्याय धेनुं दक्षिणां दद्यात्। दक्षिणात्वेन चास्या न दक्षिणान्तरमनवस्थाप्रसङ्गात्। ततो ब्रह्मणे यथाशक्ति दक्षिणां दत्त्वा रुद्रजापिने सदक्षिणमनड्वाहं दक्षिणां दद्यात्। अथ धेनुन्यायेनादक्षिणत्वे प्राप्ते सदक्षिणमनड्वाहं प्रदद्याद्रुद्रजापिने इति प्रतिप्रसवकरणात् सदक्षिणत्वम्। ततोऽन्येभ्यो ऋत्विग्भ्योऽन्येभ्यश्च ब्राह्मणेभ्यो भूयसीं दक्षिणां दद्यात्।

ततो ग्रहपीठदेवतानां भुवनेश्वर्यादीनां चोत्तरपूजां पञ्चोपचारैः कृत्वा क्षमाप्य, यान्तु देवगणा इति विसृज्याचार्यहस्ते प्रतिपाद्य अग्निं सम्पूज्य, गच्छ गच्छ सुरश्रेष्ठेति विसर्जयेत्। ततो ब्राह्मणा महाशान्तिं पठेयुः। तद्यथा—आनोभद्रा इति दश, स्वास्तिनो मिमीतामिति पञ्च, शन्न इन्द्राग्नीति पञ्चदश, त्यमूष्विति तिस्रः, तच्छंयोरित्येका। ततो यजमानो नवग्रहप्रीत्यर्थं त्रीन् भुवनेश्वरीन्द्राणीन्द्रप्रीतये च प्रत्येकं त्रींस्त्रीन् ब्राह्मणान् भोजयित्वा सङ्कल्प्य वा विप्राशिषो गृहीत्वा सुहृद्युतो भुञ्जीत। एवं कृते सर्वारिष्टशान्तिर्भवति। ततः शुभे काले गर्भाधानं कुर्यात् इति दुष्ट-रजोदर्शनशान्तिः॥

अथ चन्द्रसूर्योपरागकाले प्रथमरजोदर्शने शान्तिविशेष उच्यते। शौनकः—ग्रहणे चन्द्रसूर्यस्य प्रसूतिर्यदि जायते। व्याधिपीडा तदा स्त्रीणामादौ तु ऋतुदर्शनात्॥ इत्थं सञ्जायते यस्य तस्य मृत्युर्न संशयः। शान्तिस्तु—तदृक्षाधिपते रूपं सुवर्णेन प्रकल्पयेत्। सूर्यग्रहे सूर्यरूपं हैमं चन्द्रं तु राजतम्॥ राहुरूपं प्रकुर्वीत नागेनैव विचक्षणः। नागः सीसम्। त्रयाणां चैव रूपाणां स्थापनं तत्र कारयेत्॥ आकृष्णेनाप्यायस्व स्वर्भानो-रिति पूजामन्त्रा उक्ताः। नक्षत्रदेवतायास्तन्मन्त्रेण नाममन्त्रेण वा। सम्पूज्य तु यजेत्सूर्यं समिद्भिश्चार्कसम्भवैः। चन्द्रग्रहे तु पालाशैर्दूर्वाभी राहुमेव च॥ समिद्भिर्ब्रह्म-वृक्षस्य भेशाय जुहुयाद् बुधः। आज्येन चरुणा चैव तिलैश्च जुहुयात्ततः॥ पञ्चगव्यैः पञ्चरत्नैः पञ्चत्वक्पञ्चपल्लवैः। जलैरोषधिकल्कैश्च अभिषेकं समाचरेत्॥ मन्त्रैर्वारुण-सम्भूतैरापोहिष्ठादिभिस्त्रिभिः। इमं मे गङ्गे परतस्तत्त्वायामीति मन्त्रकैः॥ यजमानस्ततो दद्याद्भक्त्या प्रतिकृतीत्रयीम्।

अथ प्रयोगः—उपरागस्य पौर्णमास्यमावास्याभ्यामविनाभावात्तदतिरिक्तवारादौ दुष्टे प्रागुक्तशान्त्या समुच्चीयन्ते निमित्तभेदात् अदृष्टार्थत्वाच्च। प्रत्यक्षविध्यभावे तत्कार्यकारित्वानवगमेनामनहोमैर्नारिष्टहोमानामिवानया तन्निवृत्त्ययोगात्। ग्रहण-मात्रे त्वियमेव अत्र च पुनः श्रवणाभावान्नवग्रहमखः कृताकृत इति विवेकः। तत्र केवलायाः प्रयोगः—पूर्वोक्तकाले सस्त्रीकः शुचिः प्राङ्मुख उपविश्य प्राणानायम्य देश-कालौ स्मृत्वा मम पत्न्याश्चन्द्रोपरागे प्रथमरजोदर्शनसूचितारिष्टनिरासद्वारा श्रीपरमे-श्वरप्रीत्यर्थं शान्तिं करिष्य इति सङ्कल्प्य प्राग्वदृत्विक्पूजां कुर्यात्। नवग्रहपक्षे सन-वग्रहमखमिति सूर्योपरागे तु सूर्योपरागे प्रथममित्यादि पूर्ववत्। तत आचार्यः शुचिदेशे गोमयेनोपलिप्य तत्र पञ्चवर्णरजोभिरष्टदलं पद्मं कृत्वा तदुपरि नवं श्वेतं वस्त्रमुदग्दशं संस्थाप्य यथाशक्ति रजतनिर्मितां चन्द्रप्रतिमामाप्यायस्वेति मन्त्रेण चन्द्रमावाहया-मीति स्थापयेत्। सूर्यग्रहे तु यथाशक्ति सुवर्णनिर्मितामाकृष्णेनेति सूर्यमावाह०। ततो यथाशक्ति सीसनिर्मितां राहुप्रतिमां स्वर्भानोरिति राहुमावा० तदुत्तरतः स्था०। ततो यस्मिन्नक्षत्रे ग्रहणं तन्नक्षत्रदेवताप्रतिमां यथाशक्ति सुवर्णनिर्मितां तत्तन्मन्त्रैर्नाममन्त्रैर्वा ॐ अश्विनावावाहयामि नम इति प्रणवादिनमोऽन्तैः स्था० मन्त्रास्त्वापस्तम्बानामष्टौ वाक्यानीति प्रसिद्धाः। नामानि तु अश्विनौ यमः अग्निः प्रजापतिः सोमः रुद्रः अदितिः बृहस्पतिः सर्पाः पितरः भगः अर्यमा सविता त्वष्टा वायुः इन्द्राग्नी मित्रः

इन्द्रः निर्ऋतिः आपः विश्वेदेवाः विष्णुः वसवः वरुणः अजैकपात् अहिर्बुध्न्यः पूषेति। एवं देवतात्रयमावाह्येभिरेव मन्त्रैः काण्डानुसमयेन षोडशोपचारैः पूजयेत्। तत्र चन्द्रग्रहे चन्द्राय श्वेतानि वस्त्रगन्धाक्षतमाल्यानि देयानि। सूर्यग्रहे तु सूर्याय रक्तवस्त्र-रक्तचन्दनरक्ताक्षतकरवीरपुष्पाणि देयानि। राहवे कृष्णानि। नक्षत्रदेवताभ्यः श्वेतानि। ततः पश्चिमतोऽग्निं प्रतिष्ठाप्य पक्षे नवग्रहानप्यावाहनपूर्वं सम्पूज्य ब्रह्मोप-वेशनादि चरुं श्रपयित्वाऽऽज्यभागान्तम्। ततः पक्षे नवग्रहहोमः। ततश्चन्द्रमुद्दिश्योक्त-सङ्ख्यया पालाशसमिदाज्यचरुतिलैर्होमः, राहुमुद्दिश्योक्तसङ्ख्यया दूर्वाज्यचरुतिलैर्होमः, नक्षत्रदेवतामुद्दिश्योक्तसङ्ख्यया पालाशसमिदाज्यचरुतिलैर्होमः। सूर्यग्रहे तु चन्द्रस्थाने सूर्यमुद्दिश्योक्तसङ्ख्ययाऽर्कसमिदाज्यचरुतिलैर्होमः। तिसृणां दूर्वाणामेकैकाहुतिः। समिधश्च त्रिमध्वक्ताः कार्याः। ततः स्विष्टकृदादिपूर्णाहुत्यन्तं प्राग्वत्। तत आचार्य एकस्मिन् कलशे जलपूर्णे पञ्चगव्यानि पञ्चरत्नानि वटाश्वत्थोदुम्बराम्रबिल्वानां त्वचः पञ्चपल्लवान्सर्वौषधिकल्कं दूर्वाः कुशांश्च निक्षिप्य सऋत्विक् दम्पती पूर्ववदभिषिञ्चे-देतैर्मन्त्रैः। आपोहिष्ठेति, इमं मे गङ्गे इति, तत्त्वायामीति, अन्येऽपि समुद्रज्येष्ठा इत्या-दयः, सुरास्त्वामित्यादयः पौराणाश्च। ततः स्नानदक्षिणादानप्रतिमाप्रतिपादनादि पूर्ववत्। यदा तु पूर्वशान्तिसमुच्चयस्तदा कालैक्यात्कर्मैक्यादाग्नेयादिवत्तन्त्रप्रयोगः। तत्र यजमानो देशकालौ स्मृत्वा मम पत्न्याः प्रथमरजोदर्शनेऽमुकदुष्टमासतिथ्याद्यमुक-ग्रहणसूचितेत्यादि सङ्कल्प्यर्त्विक्पूजान्तं विदध्यात्। तत आचार्यो भुवनेश्वर्यादिपूजातः प्राक् पश्चाद्वा तत उदीच्यां चन्द्रादीन् सम्पूज्य यथोपक्रमं होमाभिषेकौ कुर्यादिति विशेषः। अन्यत्समानम्। इति ग्रहणे रजोदर्शने शान्तिः।

अनुवाद—बाद में भी इसी प्रकार गर्भाधान किया जाय।

टिप्पणी—कर्काचार्य से भिन्न प्रायः सभी आचार्यों ने स्त्री-प्रसंग पर अपना अभिमत व्यक्त किया है। रतिक्रिया सम्बन्धी कुछ संक्षिप्त नियम इस प्रकार हैं—

ऋतुमती नारी के साथ भी अमावास्या, अष्टमी, पूर्णिमा और चतुर्दशी को संगम नहीं करना चाहिए। इसके अतिरिक्त ऋतुकाल में जो व्यक्ति स्त्री-संगम नहीं करता उसे घोर भ्रूणहत्या का पाप लगता है। स्त्री-प्रसंग की दृष्टि से युग्म रात्रियाँ प्रशस्त मानी गई हैं। विना स्नान किये, आतुरा, रजस्वला, कुनिता, अकामा, परस्त्री, भूखी, प्यासी या अधिक खाई हुई और अप्रशस्त स्त्रियों के साथ मैथुन नहीं करना चाहिए। स्नानोपरान्त सुगन्धित द्रव्यों के विलेपन के पश्चात् अनुरक्ता स्त्री के साथ ही मैथुन करना चाहिए।

प्रथमकाण्ड में एकादश कण्डिका समाप्त।

द्वादशी कण्डिका

पक्षादिकर्म

पक्षादिषु स्थालीपाकꣳ श्रपयित्वा दर्शपूर्णमासदेवताभ्यो हुत्वा जुहोति ब्रह्मणे प्रजापतये विश्वेभ्यो देवेभ्यो द्यावापृथिवीभ्यामिति ॥ १।१२।१ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'पक्षादिषु······पृथिवीभ्यामिति' । पक्षाणामादयः पक्षादयः तासु पक्षादिषु प्रतिपत्सु । अत्र यद्यपि पक्षादिष्वित्युक्तं तथापि सन्धिमभितो यजेतेति वचनात्—'पर्वणो यश्चतुर्थांश आद्याः प्रतिपदस्त्रयः । यागकालः स विज्ञेयः प्रातर्युक्तो मनीषिभिः' ॥ इति पर्वचतुर्थोऽशोऽपि यागकालत्वेनाभिमतः, तथा—'पूर्वाह्णे वाऽथ मध्याह्ने यदि पर्व समाप्यते । स एव यागकालः स्यात्परतश्चेत्परेऽहनि ॥' तत्रापि—'सन्धिर्यद्यपराह्णे स्यात् यागं प्रातः परेऽहनि । कुर्वाणः प्रतिपद्भागे चतुर्थेऽपि न दुष्यति ॥' इत्यादिभिर्वचनैर्यागकालं निर्णीय पर्वदिवसे कृतौपवसथिकाशनः सपत्नीकः शालायां जघनेनाग्निं रात्रौ जाग्रन्मिश्र इतिहासमिश्रो वा पृथक् शयित्वा प्रातः कृतस्नानसन्ध्या-वन्दनप्रातर्होमः स्वाचान्तोऽग्नेः पश्चात्प्राङ्मुख उपविश्य पूर्वोक्तविधिना चरुं श्रपयित्वा-ऽऽज्यभागान्ते दर्शे दर्शदेवताभ्यः पौर्णमासे पौर्णमासदेवताभ्यः प्रयोगे वक्ष्यमाणाभ्यश्चरुं हुत्वा ब्रह्मप्रजापतिविश्वदेवद्यावापृथिवीभ्यश्चरुं जुहोति ॥ १।१२।१ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'पक्षादिषु···पृथिवीभ्यामिति' । पक्षाणामादयः पक्षादय-स्तासु पक्षादिषु प्रतिपत्सु बहुवचनोपदेशात्सर्वपक्षादिष्वेतत्कर्म भवति, उक्तेन विधिना स्थालीपाकं श्रपयित्वा तेनैव स्थालीपाकेन दर्शपूर्णमासदेवताभ्यो विभागेन होमः पौर्ण-मासे पक्षादौ पौर्णमासदेवताभ्यो हुत्वा दर्शकालपक्षादौ दर्शदेवताभ्यो हुत्वा ब्रह्मण इत्येवमादिभ्यश्चतुर्भ्यो जुहोति स्थालीपाकेनैव । दर्शपौर्णमासे च विधिः समान इति कृत्वा ग्रन्थगौरवभयादाचार्येण समस्तोपदेशः कृतः । अतो यादृशस्ताभ्यो होमो विभागेन सिद्धस्तादृश एवेहापीति । एवञ्च स्मृत्यन्तरैः सहानुगतार्थो भवति । केचित्तु समस्तो-पदेशात्सर्वाभ्यो होममिच्छन्ति । सिद्धचरोरुपादानं मा भूदिति श्रपयित्वेत्युच्यते । यद्यप्यत्र पक्षादिष्विति सामान्येनोक्तं तथापि स्मृत्यन्तरोक्तो यागकालो ग्राह्यः । वृद्ध-शातातपः—पर्वणो यश्चतुर्थोऽश आद्याः प्रतिपदस्त्रयः । यागकालः स विज्ञेयः प्रातर्युक्तो मनीषिभिः ॥ कारिकायाम्—आवर्तनेऽथवा तत्प्राग्यदि पर्व समाप्यते । तत्र पूर्वाह्ण एव स्यात्सन्धेरूर्ध्वं द्विजाशनम् ॥ आहिताग्नेर्न नियम इष्टेरूर्ध्वं विधानतः । ऊर्ध्वमावर्त-नाच्चेत्स्याच्छ्वोभूते प्रातरेव हि ॥ प्रतिपदि वृद्धिगामिन्यां क्षीणायां वा सन्धिज्ञानोपाय-माह लौगाक्षिः—तिथेः परस्या घटिकाश्च याः स्युर्न्यूनास्तथैवाभ्यधिकाश्च तासाम् । अर्द्धं वियोज्यं च तथा प्रयोज्यं ह्रासे च वृद्धौ प्रथमे दिने स्यात् ॥ इति । प्रतिपद्वृद्धिनाडिका द्विधा विभज्यार्द्धं पर्वणि संयोज्य सन्धिः कल्पनीयः, तथैव प्रतिपत्क्षयनाडिकाश्च द्वेधा विभज्यार्द्धं पर्वणि वियोज्य सन्धिः कल्पनीयः । आधानानन्तरं शुक्ला कृष्णा वा प्रति-

पद्भवति तस्यामारम्भः कार्यः । तदुक्तं कारिकायाम्—आधानानन्तरं शुक्ला कृष्णा वा प्रतिपद्भवेत् । तस्यां पक्षादिकर्मैतत्कार्यं पूर्वाह्ण एव तदिति । हरिहरभाष्ये तु—सायमादिप्रातरन्तमेकं कर्म प्रचक्षते । पौर्णमासादिदर्शान्तमेकमेव विदुर्बुधाः ।। इति वचनात्कृष्णपक्षे यद्याधानं तदा दर्शमनिष्ट्वैव पौर्णमास्यां पक्षादिकर्मारम्भः । यत्तु छन्दोगपरिशिष्टवचनम्—ऊर्ध्वं पूर्णाहुतेर्दर्शः पूर्णमासोऽपि चाग्रिमः । य आयाति स होतव्यः स एवादिरिति श्रुतेः ।। इत्येतत्पुनराधानविषयं तच्छाखिविषयमित्युक्तम् । अत्रैके वदन्ति—आधानस्य शुक्लपक्षे विहितत्वात्तदुत्तरं पौर्णमासस्थालीपाककालस्य विद्यमानत्वात्पौर्णमासस्थालीपाकारम्भो युक्तः । तच्चिन्त्यम् । अस्माकं सूत्रे दारकाले दायाद्यकाले वेत्यावसथ्याधानस्य काल उक्तः । तत्र यदा दायाद्यकाल आधानं कृतं तदुत्तरं या प्रतिपद्भवति तस्यामारम्भो युक्तः । ननूदगयन आपूर्यमाणपक्षे पुण्याह इत्युक्तत्वाद्विभागोऽपि शुक्लपक्षे स्यात्तदा कृष्णायां प्रतिपद्यारम्भः सिध्येदेव । सत्यम् । विभागस्तावद्रागतः प्राप्तस्तत्र कालापेक्षाभावादापूर्यमाणादिनियमो न स्यादतो यदैव विभागस्तदैवाधानं ततः प्रतिपद्यारम्भ इति युक्तम् । नन्वस्तु कृष्णपक्षे शुक्लपक्षे वा विभागः आधानं तु शुक्लपक्षे एव कार्यम् । नैवम् । कालविलम्बे प्रमाणाभावाद्विभागोत्तरं कार्यमेव ततो या प्रतिपदायाति तस्यामारम्भ इति । अत्र बहु वक्तव्यमस्ति ग्रन्थगौरवभयान्नोच्यते । यद्यारम्भकाले सूतकमलमासपौषमासगुरुशुक्रास्तबाल्यवार्धकग्रहणादि भवति तदाऽपि प्रारम्भः कार्यः । यानि तु तत्रारम्भनिषेधकानि—उपरागोऽधिमासश्च यदि प्रथमपर्वणि । तथा मलिम्लुचे पौषे नान्वारम्भणमिष्यते ।। गुरुभार्गवयोर्मौढ्ये चन्द्रसूर्यग्रहे तथेत्यादीनि सङ्ग्रहकारादिवचनानि तानि आलस्यादिना स्वकालानुपक्रान्तस्थालीपाकादिप्रारम्भविषयकाणीति प्रयोगपारिजातकारः प्रयोगरत्नाकरश्च । तथा चापरार्कस्थं गर्गवचनमुदाजहार—नामकर्म च दर्शेष्टिं यथाकालं समाचरेत् । अतिपाते सति तयोः प्रशस्ते मासि पुण्यभ ।। इति । देवयाज्ञिकैस्तु—दर्शपूर्णमासानीजान इति सूत्रव्याख्याने सूतकशुक्रास्तादिनिमित्तवशाद्दर्शपूर्णमासारम्भोत्कर्षे सति आग्रयणकाले आगते तदतिक्रमशशङ्कायामयं प्रकार इत्युक्तम् । अतो याज्ञिकानामनभीष्टः शुक्रास्तादावारम्भ इत्याभाति । तथा च त्रिकाण्डमण्डनः—आधानानन्तरं पौर्णमासी चेन्मलमासगा । तस्यामारम्भणीयादीन्न कुर्वीत कदाचन ।। इति । आचारोऽप्येवम् ।। १।१२।१ ।।

अनुवाद—प्रत्येक पक्ष की प्रतिपदा के दिन खीर पकाकर दर्श और पौर्णमास देवताओं की आहुतियाँ डालने के बाद ब्रह्मा, प्रजापति, विश्वेदेव और द्यावापृथिवी को आहुतियाँ दी जाये ।

विश्वेभ्यो देवेभ्यो बलिहरणं भूतगृह्येभ्य आकाशाय च ।। १।१२।२ ।।

(हरिहरभाष्यम्)—'विश्वेभ्यो···आकाशाय च' । बलिहरणं बलिदानं स्थालीपाकदेवताभ्यो विश्वेभ्यो भूतगृह्येभ्यः आकाशाय च ।। १।१२।२ ।।

(गदाधरभाष्यम्)—'विश्वेभ्यो···आकाशाय च' । द्रव्यान्तरानुपदेशात्स्थालीपाकादेव विश्वदेवादिभ्यो बलित्रयमग्नेरुदक्प्राक्संस्थं कुर्यात् । बलिहरणवाक्ये च नमः-

शब्दोऽन्ते कार्यः । उक्तं चैतत्कर्कोपाध्यायैर्बलिहरणे च नमस्कार इति, पितृभ्यः स्वधा नम इति दक्षिणत इति सूत्रव्याख्यानावसरे च नमस्कारश्चात्र प्रदर्शित आचार्येण स सर्वबलिहरणेषु प्रत्येतव्य इत्युक्तम् ॥ १।१२।२ ॥

अनुवाद—चरुहोम के सभी देवों, भूतदेवों, गुह्यदेवों और आकाश को बलि दी जाये ।

वैश्वदेवस्याग्नौ जुहोत्यग्नये स्वाहा, प्रजापतये स्वाहा, विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा, अग्नये स्विष्टकृते स्वाहेति ॥ १।१२।३ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'वैश्वदेव···ते स्वाहेति' । वैश्वदेवस्य विश्वेदेवा देवपितृमनुष्या देवा अस्येति वैश्वदेवः पाकः । पञ्चमहायज्ञार्थं साधितपाक इत्यर्थः । ननु वैश्वदेवस्याग्नौ जुहोतीति विश्वदेवसम्बद्धस्य चरोस्तद्भूतोपात्तस्य वा अग्नौ जुहोतीति कथं नोच्यते ? यथा वृषोत्सर्गे पौष्णस्य जुहोतीति पूषसम्बद्धः पृथगेव पिष्टमयः पूर्वसिद्धश्चरुर्गृह्यते, किमिति पञ्चमहायज्ञार्थः ? उच्यते—स्थालीपाकꣳ श्रपयित्वेत्यत्र स्थालीपाकस्यैकवचनान्तत्वाद् द्वितीयस्य वैश्वदेवस्य चरोरभावोऽवगम्यते पौष्णवत् । वैश्वदेवस्य पृथक्सिद्धस्य उपादानं तु पञ्चमहायज्ञार्थवैश्वदेवपाकस्य सद्भावान्निवर्तते । पञ्चमहायज्ञार्थस्य वैश्वदेवत्वं कुत इति चेत् वैश्वदेवादन्नात्पर्युक्ष्येति सूत्रात् । अग्नौ जुहोतीति अग्निग्रहणं बलिकर्मता मा भूदिति । अग्नये स्वाहेत्यादि प्रयोगदर्शनार्थं सर्वत्र तस्यैकदेशस्योद्धृत्यासादितप्रोक्षितस्य अग्नये प्रजापतये विश्वेभ्यो देवेभ्यो हुत्वा स्थालीपाकाद्वैश्वदेवाच्च अग्नये स्विष्टकृते जुहोति ततः शेषसमाप्तिं विधाय ॥ १।१२।३ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'वैश्वदे···कृते स्वाहेति' । वैश्वदेवस्येत्यवयवलक्षणा षष्ठी । विश्वेदेवा देवता देवपितृमनुष्यादय अस्येति वैश्वदेवः सर्वार्थः प्रत्यहं क्रियमाणः पाकस्तस्य वैश्वदेवस्याग्नये स्वाहेत्यादिभिर्मन्त्रैर्जुहोति । वैश्वदेवस्येति सिद्धवदुपदेशात् द्वितीयः स्थालीपाको वैश्वदेवः समानतन्त्रः पक्षादिषु भवतीति भर्तृयज्ञभाष्ये । कर्कोपाध्यायैस्तु वैश्वदेवं केचित्पृथक्चरुं कुर्वन्ति, यथा पौष्णस्य जुहोतीति पौष्णम् । तत्पुनरयुक्तम् । वैश्वदेवशब्देन विश्वेदेवा देवता अस्येति सर्वार्थः पाकोऽभिधीयते ततो जुहोतीत्युक्तं भवति । यत्तु पौष्णवदिति न हि पौष्णशब्दवाच्योऽन्यः क्वचिच्चरुर्भवति । तेनास्य पृथक्क्रिया । वैश्वदेवस्तु पुनः पाको विद्यत एवेति तथा च वक्ष्यति वैश्वदेवादन्नात्पर्युक्ष्य स्वाहाकारैर्जुहुयादितीत्युक्तम् । अग्नौ होमः प्राप्त एव पुनरग्नौ जुहोतीत्यग्निग्रहणं बलिकर्माग्नौ मा भूदिति । अग्नये स्विष्टकृते स्वाहेति प्रयोगोपदर्शनार्थम् । प्राजापत्यꣳ स्विष्टकृच्चेति प्रदेशान्तरे उक्तम् इह प्रयोग उपदर्श्यते । अपि च स्थालीपाकेन दर्शपूर्णमासदेवतादीनां होमविधानस्यावसरविधित्सयैतत् । तत्कथम् ? प्राङ्महाव्याहृतिभ्यः स्विष्टकृदन्यच्चेदाज्याद्धविरिति प्रदेशान्तरे उक्तम्, तेन प्राङ्महाव्याहृतिहोमादाज्यभागोत्तरकालं चावसरोऽवगम्यत इति स्विष्टकृद्धोमश्च शेषादेव भवति । स्विष्टकृद्ग्रहणं वक्ष्यमाणस्य बलिहरणस्य प्राधान्यद्योतनार्थमिति भर्तृयज्ञः । परिभाषातः प्राप्तत्वात्स्वाहाकारग्रहणं बलिनिवृत्त्यर्थम् । प्रदानार्थोऽपि स्वाहाकारो न बलिहरणेषु भवति ।

अनुवाद—वैश्वदेव के पाक से निम्नलिखित होम करे।

टिप्पणी—अग्नये स्वाहा, इदमग्नये। प्रजापतये स्वाहा, इदं प्रजापतये। विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा, इदं विश्वेभ्यो देवेभ्यः। अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा, इदमग्नये स्विष्टकृते। भूः स्वाहादिनवाहुतिः।

प्राशनान्ते बाह्यतः स्त्रीबलिꣳ हरति—

नमः स्त्रियै नमः, पुꣳसे वयसेऽवयसे नमः, शुक्लाय कृष्णदन्ताय पापीनां पतये नमः। ये मे प्रजामुपलोभयन्ति ग्रामे वसन्त उत वाऽरण्ये तेभ्यो नमोऽस्तु बलिमेभ्यो हरामि स्वस्ति मेऽस्तु प्रजां मे ददत्विति॥ १।१२।४॥

(हरिहरभाष्यम्)—'बाह्यत…ऽवयसे नमः' इत्यादिभिर्मन्त्रैः बाह्यतः शालायाः प्राङ्गणे स्त्रीबलिं स्त्र्यादिभ्यो बलिः स्त्रीबलिस्तं स्त्रीबलिं हरति ददाति॥ १।१२।४॥

(गदाधरभाष्यम्)—'बाह्यतः…ददत्विति'। ततो बाह्यतः शालायाः बहिःप्रदेशे नमः स्त्रियै इत्यादिमन्त्रैः प्रतिमन्त्रं स्थालीपाकात् स्त्रीबलिं स्त्र्यादिभ्यो बलिः स्त्रीबलिः तं हरति स्रुवेण मन्त्रान्ते भूमौ प्रक्षिपति। एतच्चागन्तुकत्वात्सर्वान्ते भवति। मन्त्रार्थः—स्त्रियै सन्तानसुखविघातिन्यै नमः। नमस्कारोऽस्तु अतः सन्तानसुखेच्छवोऽत्र बाह्यबल्यधिकारिण इति जयरामः। तथा पुंसे उक्तस्वरूपायैव। किम्भूताय? वयसे अवयसे च वृद्धाय बालाय च शुक्लाय बहिः कृष्णदन्ताय असितान्तरङ्गावयवाय अतिमलिनमनसे इत्यर्थः। अत एव पापीनां पतये श्रेष्ठाय दीर्घश्छान्दसः। अत्र बलित्रये पुमानेव विशिष्यते। ये च मे मम प्रजां सन्तानमुपलाभयन्ति मोहयन्ति ग्रामे वसन्तः उत अपि वा समुच्चये अरण्ये वा वने वाऽपि तेभ्यो नमः नमस्कारोऽस्तु। एभ्यो बलिं पूजां हरामि समर्पयामि मम नमस्कारबलिभ्यां यूयं सन्तुष्टा भवत ततो भवतां प्रसादान्मम स्वस्ति कल्याणमस्तु। भवन्तश्च मे मह्यं प्रजां पुत्रादिसुखजातं ददतु प्रयच्छन्तु।१।१२।४।

अनुवाद—'नमः स्त्रियै' इत्यादि मंत्र को पढ़कर घर से बाहर दुष्ट स्त्रियों के लिए बलियाँ रखी जायें।

मन्त्रार्थ—सन्तान सुख से वञ्चित करने वाली स्त्रियों को मेरा नमस्कार है। गौरवर्ण, कृष्णदन्त, अत्यन्त मलिन, वे छोटे हों या बड़े, पापियों के मुखियों को भी मेरा नमस्कार है। मैं सर्वप्रथम उन्हें प्रणाम कर बलि देता हूँ, जो हमारी सन्तान को नष्ट करते हैं, वे चाहे ग्रामवासी हों या जंगल में रहते हों। वे मेरा कल्याण करें, मुझे सन्तति-सुख दें।

शेषमद्भिः प्रप्लाव्य। ततो ब्राह्मणभोजनम्॥ १।१२।५॥

(हरिहरभाष्यम्)—'शेषमद्भिः प्रप्लाव्य'। स्थालीस्थितमवशिष्टं चरुमद्भिर्जलेन प्रप्लाव्य मज्जयित्वा। अत्रापः प्रणीताः तासां सर्वकर्मार्थत्वेन प्रणीतत्वात्। 'ततो ब्राह्मणभोजनम्'। व्याख्यातः सूत्रार्थः॥ १।१२।५॥

अथ प्रयोगः। अथ पक्षादिकर्मोच्यते—तत्र प्रथमप्रयोगे मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकं

श्राद्धं कृत्वा अमाषममांसमक्षारालवणं हविष्यं व्रताशनं विधाय रात्रावग्निसमीपे भूमौ दम्पती पृथक् शयीयाताम् । प्रातः स्नात्वा सन्ध्यावन्दनानन्तरं प्रातर्होमं च निर्वर्त्य उदिते सूर्ये पौर्णमासं स्थालीपाकमारभेत तत्रात्मनः ब्रह्मणः प्रणीतानां चासनचतुष्टयं कुशैर्दत्त्वा पक्षादिकर्मणाऽहं यक्ष्ये । तत्र मे त्वं ब्रह्मा भव । भवामीति तेनोक्ते आसने उपवेश्य, अत्रासादने वैश्वदेवान्नासादनं विशेषः । तत्प्रोक्षणं च । आज्यभागान्तं यथोक्तं कर्म निर्वर्त्य, स्थालीपाकमभिघार्य स्रुवेण चरुमादाय अग्नये स्वाहा इदमग्नये० अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा इदमग्नीषोमाभ्यां० उपांशु । पुनरग्नीषोमाभ्यां स्वाहा इदमग्नीषोमाभ्यां० उच्चैः । ब्रह्मणे स्वाहा इदं ब्रह्मणे० । प्रजापतये स्वाहा इदं प्रजापतये० । विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा इदं विश्वेभ्यो देवेभ्यो० । द्यावापृथिवीभ्याᳬस्वाहा इदं द्यावापृथिवीभ्यां० । हुतशेषात्स्रुवेण अग्नेरुत्तरतः प्राक्संस्थं विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः इदं विश्वेभ्यो देवेभ्यो०, भूतगृह्येभ्यो नमः इदं भूतगृह्येभ्यो०, आकाशाय नमः इदमाकाशाय० चेति स्रुवेण बलित्रयं दत्त्वा । अभिघारितवैश्वदेवान्नात्स्रुवेणादाय अग्नये स्वाहा इदमग्नये० प्रजापतये स्वाहा इदं प्रजापतये० विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा इदं विश्वेभ्यो देवेभ्यो० इत्याहुतित्रयमग्नौ हुत्वा स्थालीपाकोत्तरार्द्धाद्वैश्वदेवोत्तरार्द्धाच्च अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा इदमग्नये स्विष्टकृते० इति हुत्वा, भूरित्यादिप्राजापत्यान्ता नवाहुतीर्जुहुयात् । संस्रवप्राशनं, मार्जनं, पवित्रप्रतिपत्तिः, प्रणीताविमोकः, ब्रह्मणे दक्षिणादानान्तं कृत्वा चरुशेषमादाय शालाया बहिरुपलिप्तायां भूमौ प्राङ्मुख उपविश्य स्रुवेण नमः स्त्रियै इदं स्त्रियै० नमः पुᳬसे वयसेऽवयसे इदं पुᳬसे वयसेऽवयसे० । नमः शुक्लाय कृष्णदन्ताय पापीनां पतये इदं शुक्लाय कृष्णदन्ताय पापीनां पतये० । नमो ये मे प्रजामुपलोभयन्ति ग्रामे वसन्त उत वाऽरण्ये तेभ्यः इदं ये मे इत्यादि । नमोऽस्तु बलिमेभ्यो हरामि स्वस्ति मेऽस्तु प्रजां मे ददतु । इदं स्त्रियै पुᳬसे वयसेऽवयसे शुक्लाय कृष्णदन्ताय पापीनां पतये ये मे प्रजामुपलोभयन्ति ग्रामे वसन्त उत वाऽरण्ये तेभ्यः, इदमेभ्य इति वा त्यागः । शेषं प्रणीताऽद्भिः प्रप्लाव्याचम्याग्निसमीपमागत्य एकस्मै ब्राह्मणाय भोजनं ददामीति सङ्कल्पयेदिति पक्षादिकर्मविधिः । दर्शे पुनरियान्विशेषः—स्थालीपाकेनाग्नये विष्णवे इन्द्राग्निभ्यामिति दर्शदेवताभ्यो होमः, अनुदिते चारम्भः शेषं समानम् । 'सायमादिप्रातरन्तमेकं कर्म प्रचक्षते । पौर्णमासादिदर्शान्तमेकमेव विदुर्बुधाः' ।। इति वचनात् कृष्णपक्षे यद्याधानं तदा दर्शमकृत्वैव पौर्णमास्यां पक्षादिकर्मारम्भः । यत्तु छन्दोगपरिशिष्टे वचनम्—ऊर्ध्वं पूर्णाहुतेर्दर्शः पौर्णमासोऽपि चाग्रिमः । य आयाति स होतव्यः स एवादिरिति श्रुतेः ।। तत्पुनराधानविषयं तच्छाखिविषयं वा । इति पक्षादिप्रयोगः ।।

(गदाधरभाष्यम्)—'शेषमद्भिः······भोजनम्' । बलिहरणानन्तरं शेषं स्थालीपाकस्थितमवशिष्टं चरुमद्भिर्लौकिकोदकेन प्रप्लाव्य मज्जयित्वा ब्राह्मणभोजनं कुर्यात् । प्रणीतोदकेन प्रप्लावनमिति वासुदेवादयः । नेति कारिकायाम् ।। १।१२।५ ।।

अथ पदार्थक्रमः । आधानानन्तरं प्रथमप्रतिपदि प्रातः स्नात्वा कृतनित्यक्रियो निर्णेजनान्तं वैश्वदेवं कृत्वा मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकं कुर्यात् । ततः सङ्कल्पः—देशकालौ स्मृत्वा ममोपात्तदुरितक्षयद्वारा श्रीपरमेश्वरप्रीत्यर्थं स्थालीपाककर्माहं करिष्ये । अत्रा-

त्मनो ब्रह्मणः प्रणीतानां चासनचतुष्टयं कुशैः कुर्यादिति हरिहरः। तत्र प्रणीतार्थं द्वयम्। ततो ब्रह्मोपवेशनाद्याज्यभागान्तं चरुसहितं कुर्यात्। तत्र विशेषस्तण्डुलानन्तरं वैश्वदेवान्नस्यासादनप्रोक्षणे। तत आज्यभागान्ते स्थालीपाकमभिघार्य स्रुवेण चरोर्होमः अग्नये स्वाहा इदमग्नये न मम, उपांशु अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा इदमग्नीषोमाभ्यां० पुनः उच्चैः अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा इदमग्नीषोमाभ्यां०, ब्रह्मणे स्वाहा इदं ब्र०, प्रजापतये स्वाहा इदं प्र०, विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा इदं वि०, द्यावापृथिवीभ्याᳪ स्वाहा इदं द्यावा०। ततस्तेनैव चरुणाऽग्नेरुत्तरतः प्राक्संस्थं बलित्रयं कुर्यात्, विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः इदं विश्वेभ्यो देवेभ्यो न मम, भूतगृह्येभ्यो नमः इदं भू०, आकाशाय नमः इदमा०। त्रयाणां बलिकर्मणां संस्रवरक्षणं न कार्यमिति गङ्गाधरः। ततो वैश्वदेवान्नमभिघार्य तेन होमः—अग्नये स्वाहा इदमग्नये न मम, प्रजापतये स्वाहा इदं प्र०, विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा इदं वि०। चरोर्वैश्वदेवान्नस्य च होमः—अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा इदमग्नये स्विष्टकृते न मम। तत आज्येन भूराद्या नवाहुतयः प्राशनं मार्जनं पवित्रप्रतिपत्तिः प्रणीताविमोकः दक्षिणादानम्। ततः स्थालीपाकेन शुद्धायां भूमौ बहिः स्रुवेण बलिहरणम् ॐनमः स्त्रियै इदं स्त्रियै नमः। तमः पुᳪसे वयसेऽवयसे इदं पुᳪसे०। नमः शुक्लाय कृष्णदन्ताय पापीनां पतये इदं शु०। नमो ये मे प्रजामुपलोभयन्ति ग्रामे वसन्त उत वाऽरण्ये तेभ्यः इदं ये मे प्र०। नमोऽस्तु बलिमेभ्यो हरामि स्वस्ति मेऽस्तु-प्रजां मे ददतु इदमेभ्य इति त्याग इति हरिहरः। इदं स्त्रियै पुᳪसे वयसेऽवयसे शुक्लाय कृष्णदन्ताय पापीनां पतये ये मे प्रजामुपलोभयन्ति ग्रामे वसन्त उत वाऽरण्ये तेभ्यश्च न ममेति गङ्गाधरकारिकाकारौ। शेषमद्भिः प्रप्लाव्यैकब्राह्मणभोजनं कारयेत्। इति पौर्णमासस्थालीपाकः।

अथ दर्शे विशेषः—तत्राधानानन्तरं याऽमावास्या आयाति तस्या त्रेधा विभक्तदिनतृतीयांशे परमक्षये पिण्डपितृयज्ञः कार्यः। तस्मिन् क्षीणे ददातीति श्रुतेः। चन्द्रक्षयश्च यद्यपि कृष्णपक्षे प्रत्यहं भवति तथापि परमक्षयोऽत्र विवक्षितः स चामान्ते शास्त्रोक्त इति दिनद्वयेऽप्यपराह्णैकदेशव्याप्तौ सत्यां परदिनेऽर्धघटिकामात्रपरिमितामालाभेऽपि तत्रैव पिण्डपितृयज्ञानुष्ठानमुचितम्। एकस्मिन्नेव दिनेऽपराह्णव्याप्तौ तु यस्मिन्नेव दिनेऽपराह्णव्याप्तिस्तत्रैव तदनुष्ठानम्। एवं च पिण्डपितृयज्ञकालस्य वाजसनेयिशाखायामुपदेशाद्यागकालस्यानुपदेशात्पिण्डपितृयज्ञदिनात्परदिने यागः कार्यः, पूर्वेद्युः पितृभ्यो निप्रीय प्रातर्देवेभ्यः प्रतनुत इति कर्कोदाहृतशाखान्तरीयश्रुतेः पूर्वो वाऽङ्गत्वात्पिण्डपितृयज्ञ इति सूत्राच्च। यद्यपि चन्द्रदर्शने यागनिषेधः स्मर्यते—द्वितीया त्रिमुहूर्ता चेत्प्रतिपद्यापराह्णिकी। अन्वाधानं चतुर्दश्यां परतः सोमदर्शनात्॥ इत्यादिना, तथाऽप्युक्तन्यायेन वाजसनेयिनां पिण्डपितृयज्ञः परदिन एव चन्द्रदर्शनवत्यपि यागानुष्ठानस्योचितत्वाद्वाजसनेयिव्यतिरिक्तविषयत्वेन पूर्वाह्णमध्याह्नसन्धिविषयत्वेन वा निषेधो नेतव्यः। न चास्य दर्शाङ्गत्वादनाहिताग्नेरेष न भवतीति वाच्यम्। अनाहिताग्नेरप्येष इत्युक्तत्वात्। अयं च मृतपितृकस्यैव भवति। अत्र मातृकापूजनपूर्वकमाभ्युदयिकं कार्यमित्युक्तं गङ्गाधरेण। अत्र सर्वकर्मापसव्येन दक्षिणामुखेन कार्यम्। अत्रैवं पदार्थक्रमः—प्राचीनावीति-

करणं, नीविबन्धनं, तच्च कुशतिलसंयुक्तानां वस्त्रदशानां सव्यभागे परिहितवस्त्रेण संवेष्टयावगूहनमिति देवयाज्ञिकाः। नीविं परिहितमध्येऽवगूहितवस्त्रप्रान्तं विस्रंस्येति नीविं विस्रस्येति सूत्रव्याख्याने श्रीअनन्तयाज्ञिकाः। न नीविं कुरुत इत्येतद्व्याख्याने नीविः परिधानदार्ढ्यार्थं प्रदेशान्तरे प्रदेशान्तरावगूहनमित्युक्तम् श्रीअनन्तैः। नीविं कुरुते सोमस्य नीविरित्यत्र च नीविरपवर्तिकेति कर्कादयः। सर्वसूत्रव्याख्यावलोकने प्रदेशान्तरे प्रदेशान्तरावगूहनमेवायाति। नीविवासोदशान्तेन स्वरक्षार्थं प्रबन्धयेदित्याश्वलायनः। वेदिश्रोणिसन्नहनावच्छादनवाक्यशेषो दक्षिणत इव हीयं नीविरिति। दक्षिणे कटिदेशे तु तिलैः सह कुशत्रयमिति वृद्धयाज्ञवल्क्यः। नीवी कार्या दशागुप्तिर्वामकुक्षौ कुशैः सहेति यत्कात्यायनवचनं तद्वृद्धिश्राद्धे। पितॄणां दक्षिणे पार्श्वे विपरीता तु दैविक इति स्मृत्यन्तरात्। वामे दक्षिणे वेत्याचाराद् व्यवस्थेति प्रयोगपारिजाते। ततोऽग्नेर्दक्षिणसंस्थमपसव्यं परिस्तरणमग्नेः पश्चादुत्तरतो वा दक्षिणसंस्थं, दक्षिणाग्राणां पात्राणामेकश आसादनम्, न द्विशः, स्रुक् उलूखलं मुसलं शूर्पं चरुस्थाली उदकमाज्यम् मेक्षणं वज्रमुदपात्रं सकृदाच्छिन्नानि व्रीहयः सूत्राणि च ऊर्णा वा वस्त्रदशा वा स्थाल्यां ग्रहणपक्षे पूर्वं तस्या आसादनं न स्रुचः। अपरेणाग्निं चरुमपूर्णं स्रुचं वा गृह्णाति ततोऽग्नेरुत्तरत उलूखले व्रीहीनोप्य तिष्ठतोऽवहननं, शूर्पे न्युप्य निष्पवनं सकृत्फलीकरणमपूर्णस्य चरोः सारतण्डुलस्य श्रपणम्, अभिघारणं दक्षिणेनोद्वासनमपसव्येनाहरणं, ततो दक्षिणामुख एवाहुतिद्वयं जुहोति—ॐ अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा इदमग्नये क० सोमाय पितृमते स्वाहा इदं सोमाय पि० अग्नौ मेक्षणप्रासनम्। अग्निमपरेण दक्षिणेन वा अपहता इति स्फ्येन दक्षिणसंस्थां लेखां कुर्यात्। ये रूपाणीति परस्तादुल्मुककरणं, लेखायां पितृप्रभृतित्रिभ्योऽवनेजनं पितः अमुक अवनेनिक्ष्वेति रेखामूले पितामह अवनेनिक्ष्वेति रेखामध्ये अमुक प्रपितामह अवनेनिक्ष्वेति रेखान्ते। सकृदाच्छिन्नानि लेखायां कृत्वा यथाऽवनिक्तं पिण्डदानं पितरमुक एतत्ते अन्नमिति मन्त्रेण रेखामूले पिण्डदानम्, पितामह अमुक एतत्ते अन्नमिति रेखामध्ये, प्रपितामह अमुक एतत्ते अन्नमिति रेखान्ते। अत्र पितर इति जपः। अपसव्येनोदङ्ङावर्तनम् आत्तमनार्त्तिष्ठेत्। पुनस्तेनैवामीमदन्तेति जपः। पूर्ववदवनेजनं पिण्डानामुपरि नीविविस्रंसनं, नमो व इत्यञ्जलिकरणं, षड्भिः प्रतिमन्त्रं गृहान्न इति जपः। सूत्रादीनामन्यतमस्य प्रदानमेतद्व इति प्रतिपिण्डम्। ऊर्जमिति पिण्डानामुपरि उदकनिषेकः। उखायां पिण्डावधानमवघ्राणं सकृदाच्छिन्नावधानमग्नौ उल्मुकस्य च। पुत्रकामाया ऋतुमत्याः पत्न्या मध्यमपिण्डस्य प्राशनम्। तस्मिन्पक्षे अनवघ्राणं यजमानस्य उदकोपस्पर्शनं ततः पार्वणश्राद्धमिति पदार्थक्रमः। ततः श्वः प्रतिपदि ब्रह्मोपवेशनाद्याज्यभागान्तं कृत्वा स्थालीपाकेनाग्नये स्वाहा, विष्णवे स्वाहा, इन्द्राग्निभ्यां स्वाहेति दर्शदेवताभ्यो हुत्वा ब्रह्मणे स्वाहेति ब्राह्मणतर्पणान्तं पूर्ववत्कुर्यात्। सर्वत्र पूर्वं स्थालीपाकः पश्चाद् वैश्वदेवः। तदुक्तं कारिकायाम्—अकृते वैश्वदेवे तु स्थालीपाकाः प्रकीर्तिताः। अन्यत्र पितृयज्ञात्तु सोऽपराह्णे विधीयते॥ प्रथमायां प्रतिपदि तु आभ्युदयिकात्पूर्वं कार्यं इति तत्रैवोक्तम्। गर्गमते तु पिण्डपितृयज्ञे चरोरुद्वासनान्ते

तिसृणां समिधामग्नौ प्रक्षेपः यज्ञोपवीती भूत्वाऽग्नौ होमः । एतत्ते अन्नमिति नाध्याहार इति विशेषः ।

अथ गर्गमते स्थालीपाके विशेषः—प्रथमप्रयोगे पौर्णमास्यां मातृपूजाश्राद्धपूर्विकाऽन्वारम्भणीया ब्रह्मासनाद्याज्यभागान्तं पूर्ववत् । ग्रहणे अग्नाविष्णुभ्यां सरस्वत्यै सरस्वते जुष्टं गृह्णामीति ग्रहणम् । प्रोक्षणे त्वाधिकः । आज्यभागान्ते चरुहोमः । अग्नाविष्णुभ्यां स्वाहा सरस्वत्यै स्वा० सरस्वते स्वा० अग्नये स्विष्टकृते स्वा० । महाव्याहृत्यादिब्राह्मणभोजनान्तम् । ततो वैश्वदेवः । ततः श्वोभूते ब्रह्मोपवेशनाद्याज्यभागान्ते विशेषः—चरुस्थालीद्वयं ग्रहण अग्नये अग्नीषोमाभ्यामग्नीषोमाभ्यां ब्रह्मणे प्रजापतये विश्वेभ्यो देवेभ्यो द्यावापृथिवीभ्यां जुष्टम् । अग्नये प्रजापतये विश्वेभ्यो देवेभ्यो जुष्टमिति द्वितीयचरुग्रहणम् । प्रोक्षणे त्वाधिकः । आज्यभागान्ते पूर्वंचरुणा हुत्वा तेनैव बलिहरणम् । ततो वैश्वदेवस्याग्नौ जुहोतीत्यादिवैश्वदेवचरुणा उभयोः स्विष्टकृद्धोमः । ततो बाह्यतः स्त्रीबलिहरणं पञ्चमन्त्रैः द्वितीयचरुशेषेण बलिहरणम् । शेषमद्भिः प्रप्लाव्य महाव्याहृत्यादिप्राजापत्यान्तं संस्रवप्राशनं ब्राह्मणभोजनान्तं तदनन्तरं चरुशेषेणैव वैश्वदेवः । अमावास्यापक्षादिषु कर्मविशेषः—तत्र ग्रहणे प्रोक्षणे होमे चाग्नेरनन्तरं विष्णुः इन्द्राग्नी च शेषं पौर्णमासवत् । कृतसोमस्य यजमानस्याग्नेरनन्तरमग्नीषोमौ इन्द्रश्च भवति इति गर्गमते विशेषः ।

स्वकाले स्थालीपाकपिण्डपितृयज्ञयोरकरणे विशेष उच्यते—पक्षादिः पिण्डयज्ञादि प्रमादादकृतं यदि । प्रायश्चित्तं ततो हुत्वा कर्तव्यं तद्दिनान्तरे ।। पिण्डपितृयज्ञस्तु अमादिन एव भवति न दिनान्तरे । अमायामननुष्ठाने प्रायश्चित्तत्वेन वैश्वानरश्चरुरेव न पिण्डपितृयज्ञः । तथा च कात्यायनः—परेणाग्नौ हुते स्वार्थं परस्याग्नौ हुते स्वयम् । पितृयज्ञात्यये चैव वैश्वदेवद्वयस्य च ।। अनिष्ट्वा नवयज्ञेन नवान्नप्राशने तथा । भोजने पतितान्नस्य चरुर्वैश्वानरो भवेत् ।। अनाहिताग्नेश्चरुः, आहिताग्नेस्तु इष्टिरेव । कारिकायाम्—मुख्यकाले यदा न स्यात्पौर्णमासः कथञ्चन । कृत्वाऽनादिष्टमादर्शात् कर्तव्यो यत्र कुत्रचित् ।। दर्शात्प्राक्तु नवा चेत्स्याद्दर्शेन सह तत्क्रिया । यदि दर्शोऽप्यतिक्रान्तस्तदा पथिकृती भवेत् ।। अत्रापि चरुरेवानाहिताग्नेः । य एवाहिताग्नेः पुरोडाशास्ते एवानाहिताग्नेश्चरव इत्युक्तत्वात् । एवं दर्शोऽतिपन्नः प्राक् पौर्णमासान्न चेत्कृतः । पितृयज्ञं विना सोऽपि कर्तव्यो यत्र कुत्रचित् ।। न पौर्णमासतन्त्रे स्याद्दर्शो भिन्ने प्रयोगतः । पौर्णमासेऽप्यतिक्रान्तेऽतिपत्तिः पथिकृत्तदा ।। १२ ।।

अनुवाद—चरुपात्र में बची खीर को पानी से साफ कर दे । इसके बाद ब्राह्मण को भोजन कराना चाहिए ।

टिप्पणी—वैश्वदेव पाक का अर्थ है—सभी देवताओं के लिए बनी खीर । धर्मशास्त्रीय विधि-निषेधात्मक वाक्यों से यह ज्ञात होता है, कि पक्षादि कर्म करने के इच्छुक दम्पति को प्रतिपदा से पहली रात में उड़द, मांस, क्षारीय पदार्थ एवं नमक नहीं खाना चाहिए । उन दोनों को अग्नि के पास ही अलग-अलग सोना चाहिए । बलि-प्रदान कर्म भी स्रुवा से ही सम्पादित होना चाहिए ।

प्रथमकाण्ड में द्वादश कण्डिका समाप्त ।

त्रयोदशी कण्डिका

सा यदि गर्भं न दधीत सिꣳह्याः श्वेतपुष्प्या उपोष्य पुष्येण मूलमुत्थाप्य चतुर्थेऽहनि स्नातायां निशायामुदपेषं पिष्ट्वा दक्षिणस्यां नासिकायामासिञ्चति—

इयमोषधी त्रायमाणा सहमाना सरस्वती ।

अस्या अहं बृहत्याः पुत्रः पितुरिव नाम जग्रभमिति ॥ १।१३।१ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'सा यदि गर्भं न दधीत' । सा भार्या यदि चेत् गर्भं न धारयेत् 'सिꣳह्या···मासिञ्चति' । गर्भधारणोपायमाह—सिꣳह्याः कण्टकारिकायाः, कथम्भूतायाः श्वेतपुष्प्याः श्वेतानि पुष्पाणि यस्याः सा श्वेतपुष्पी तस्या उपोष्य उपवासं कृत्वा पुष्येण चन्द्रमसा युक्तेन पुष्यनक्षत्रेण मूलं शिफामुत्थाप्य उद्धृत्य रजोदर्शनाच्चतुर्थेऽहनि स्नातायां भार्यायां रात्रौ उदपेषं यथा भवति तथा तन्मूलम् उदकेन पिष्ट्वा द्रवीभावमापाद्येत्यर्थः, दक्षिणस्यां नासिकायां दक्षिणे नासारन्ध्रे सिञ्चति प्रक्षिपति भर्ता 'इयमोष······भम्' इत्यनेन मन्त्रेण ॥ १।१३।१ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'सा यदि······जग्रभमिति' । सा व्यूढा स्त्री गर्भकामा यदि गर्भं न दधीत न धारयति तदा भर्ता सिꣳह्याः श्वेतपुष्प्याः सिंहीति रिङ्गणी कण्टकारिकापरपर्याया श्वेतानि पुष्पाणि यस्याः सा श्वेतपुष्पी तस्या उपोष्य पुष्यनक्षत्रदिनात्पूर्वदिने स्वयमुपवासं कृत्वा पुष्येण मूलमुत्थाप्य पुष्यनक्षत्रदिने पूर्वोक्तायाः कण्टकारिकाया मूलमुत्पाट्य यत्नेन स्थापयित्वा ऋतुयुक्ता यदा भार्या भवति तदा चतुर्थेऽहनि स्नातायां रात्रौ तन्मूलमुदकेन पिष्ट्वा पेषयित्वा दक्षिणनासिकापुटे आसिञ्चति इयमोषधी त्रायमाणेत्यनेन मन्त्रेण भर्तैव । ततो भर्त्रा भोजनं कार्यमिति गर्गपद्धतौ । मन्त्रार्थः—ओषति दहति दोषान् धत्ते गुणानित्योषधी, इयं त्रायमाणा यथोक्तप्रयुक्ता रक्षन्ती सहमाना दोषवेगान् सोढ्वाऽपि नाशयन्तीत्यर्थः । सरति कारणतयाऽनुगच्छति इति सरः समुद्रस्तद्वती तत्सम्बद्धा अतः अस्या बृहत्याः महत्याः बृंहयति पुत्रादिदानेन वा तस्याः प्रभावाच्चाहं पुत्रः पितुरयमित्यहं नाम जग्रभम् गृह्णीयां लभेयं प्राप्नुयां पुत्रस्य पितेति लोकाः कथयन्ति । सुगमत्वादत्र पदार्थक्रमो नोच्यते ॥१।१३।१॥

अनुवाद—यदि पत्नी गर्भ धारण न कर सके तो श्वेतपुष्पों वाली कण्टकारिका को पुष्य नक्षत्र के साथ चन्द्रयोग होने पर उपवास करके जड़ के साथ उखाड़ लें। पुनः पत्नी के रजोदर्शन के चौथे दिन जब वह स्नान करके शुद्ध हो जाय तो रात में पानी के साथ पीसकर उसके रस की दो-चार बूंदें उसकी नाक के दाहिने छिद्र में 'इयमोषधी···' इत्यादि मंत्र पढ़ते हुए डाल दे।

मंत्रार्थ—(ऋषि प्रजापति, छन्द बृहती, देवता औषधि।) गर्भधारण में बाधक दोषों को हटाकर गुणों का आधान करने वाली यह काष्ठौषधि कष्ट सहन करके भी

सेवन करने वालों की रक्षा करती है और दोष के वेगों को नष्ट कर देती है। अनेक प्रकार के फल देनेवाली इस वनस्पति की कृपा से जैसे मैं अपने पिता का नाम लेता हूँ, वैसे ही मेरी सन्तान भी मेरा नाम उज्ज्वल करे।

टिप्पणी—गर्ग-पद्धति में गदाधर ने इस प्रसंग का उल्लेख करते हुए कहा है, कि पत्नी की नाक में यह औषधि डालने के बाद ही पति भोजन करे।

प्रथमकाण्ड में त्रयोदश कण्डिका समाप्त।

चतुर्दशी कण्डिका

पुंसवनम्

अथ पुङ्सवनम् ॥ १।१४।१ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अथ पुङ्सवनम्'। अथावसरप्राप्तं पुंसवनाख्यं गर्भसंस्कारकं कर्म व्याख्यास्यते ॥ १।१४।१ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'अथ पुङ्सवनम्'। पुंसवनमिति गर्भसंस्कारकर्मणो नामधेयम्। तच्च स्पन्दते पुरा स्पन्दिष्यते चलिष्यति 'यावत्पुरानिपातयोर्लंडि'ति च भविष्यदर्थे वर्तमानवत्प्रयोगः ॥ १।१४।१ ॥

अनुवाद—इसके बाद 'पुंसवन' संस्कार का निरूपण किया जा रहा है।

पुरा स्पन्दत इति मासे द्वितीये तृतीये वा ॥ १।१४।२ ॥

यदहः पुङ्सा नक्षत्रेण चन्द्रमा युज्येत तदहरुपवास्याप्लाव्याऽहते वाससी परिधाप्य न्यग्रोधावरोहाञ्छुङ्गांश्च निशायामुदपेषं पिष्ट्वा पूर्ववदासेचनङ् हिरण्यगर्भोऽद्भ्यः सम्भृत इत्येताभ्याम् ॥ १।१४।३ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'पुरास्पन्दत इति'। पुरा अग्रे स्पन्दते चलिष्यति। 'यावत्पुरानिपातयोर्लंडि'ति पुरायोगे भविष्यार्थे वर्तमानप्रयोगः। इति हेतोः। 'मासे द्विती······युज्येत' गर्भधारणकालाद्। द्वितीये तृतीये वा मासे यस्मिन्नहनि पुङ्सा पुरुषनाम्ना पुष्यादिनक्षत्रेण उडुना शशी युक्तो भवेत्। 'तदह···धाप्य'। तस्मिन्नहनि उपवास्य भोजनमकारयित्वा भार्यामाप्लाव्य स्नापयित्वा अहते नवे सदशे सकृत्प्रक्षालिते वाससी अन्तरीयोत्तरीये द्वे परिधाप्य परिधानं कारयित्वा। 'न्यग्रोधा···सेचनम्'। न्यग्रोधस्य वटस्य अवरोहान् अवाचीनम् अधः रोहन्ति जायन्ते इत्यवरोहास्तान् शुङ्गान् तदग्रपल्लवान् मुकुलाकारान् सान्निध्याच्चकारोऽवरोहसमुच्चयार्थः ततश्चोभयं रात्रौ पूर्ववत् गर्भधारणार्थोक्तवत् पिष्ट्वा पूर्ववदेव आसेचनं भर्तुः दक्षिणनासारन्ध्रे। मन्त्रविशेषमाह—'हिरण्य···शुन्चैके' ॥ १।१४।२-३ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—पुरा गर्भस्पन्दनात् भवतीति हेतोः शुद्धे द्वितीये वा मासे तृतीये वा मासे गर्भाधानाद्भवति प्रथमे मासे वा पूर्णे भवति द्वितीये वा तृतीये वेति भर्तृयज्ञः। तथा हेमाद्रौ यमः—प्रथमे मासि द्वितीये वा तृतीये वा यदा पुन्नक्षत्रेण चन्द्रमा युक्तः स्यादिति। गर्भसंस्कारत्वात्प्रतिगर्भमावर्तनीयमेतत्। तथा कारिकायाम्—गर्भसंस्कार एवायमिति कर्कस्य सम्मतिः। अतस्तद्गर्भसंस्काराद् गर्भे गर्भे प्रयुज्यते ॥ इति। बह्वृचकारिकायामप्येवम्। कालातिक्रमे स्पन्दितेऽपि कार्यमेव। तदुक्तं कारिकायाम्—एतदेव पुरा गर्भचलनादकृतं यदि। सीमान्तात्प्राग्विधातव्यं स्पन्दितेऽपि बृहस्पतिः ॥ इति। 'यदह······इत्येताभ्याम्'। मासे द्वितीये तृतीये वा यस्मिन्नहनि

पुंसा पुन्नामनक्षत्रेण पुष्यादिना नक्षत्रेण चन्द्रमा युक्तो भवति तदहस्तस्मिन्दिने गर्भिणीमुपवास्यानाशयित्वा आप्लाव्य स्नापयित्वा अहते वाससी परिधाप्य च न्यग्रोधो वटस्तस्यावरोहान् अव अधः रोहन्तीति तथा तान् शुङ्गान् ऊर्ध्वाङ्कुरान्सन्निधाना-द्वटस्यैव, चकारः समुच्चये हिरण्यगर्भोऽद्भ्यः सम्भृत इत्येताभ्यामृग्भ्याम्। हिरण्य-गर्भोऽद्भ्यः सम्भृत इत्येताभ्यामासिच्यमाने समुच्चिताभ्यामासेचनं प्राप्नोति तन्मा भूदिति यत्नः क्रियते, एताभ्यां पृथग्भूताभ्यां प्रत्यृचमासेचनमिति भर्तृयज्ञः। पुन्नक्षत्राणि च रत्नकोशे दर्शितानि—हस्तो मूलं श्रवणः पुनर्वसुर्मृगशिरः पुष्यमिति। अनुराधाऽपि पुन्नक्षत्रम्। अनुराधान्हविषा वर्द्धयन्त इति श्रुतेः। ज्योतिःशास्त्रेऽप्येवम्॥१।१४।२-३॥

अनुवाद—कम्पन से पहले अर्थात् जब पेट में बच्चा कुछ-कुछ हिलने-डुलने लगे, गर्भ-धारण के दूसरे या तीसरे महीने में पुष्य-प्रभृति किसी पुरुष नक्षत्र का योग जब चन्द्रमा के साथ हो, तब स्त्री को स्नान तथा उपवास कराकर स्वच्छ कपड़ा पहना कर रात में बरगद की डाल में लटकती जटाओं को और उसके कोमल पत्तों को पानी में पीसकर 'हिरण्यगर्भः' तथा 'अद्भ्यः सम्भृतः' इत्यादि मंत्रों को पढ़कर पहले कही गई विधि से पत्नी की नाक के दाहिनी पोर में उस जल की दो-चार बूँदें छोड़ देनी चाहिए।

(१) हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ (य० सं० १३।४)

मन्त्रार्थ—(ऋषि हिरण्यगर्भ, छन्द त्रिष्टुप्, देवता प्रजापति।) सृष्टि से पूर्व सर्वप्रथम स्वर्णिम ब्रह्माण्ड से उत्पन्न प्रजापति ही अकेले प्राणीमात्र का पालक सिद्ध हुआ। उसी ने धरती, अंतरिक्ष और आकाश को धारण कर रखा है। हम उस सुखस्वरूप, दीपन, द्योतनशील और अन्य दैवी गुणों से युक्त पुरुष को हवियाँ अर्पित करते हैं।

(२) अद्भ्यः सम्भृतः पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्मणः समवर्त्तताग्रे।
तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे॥
(य० सं० ३१।१७)

मन्त्रार्थ—(ऋषि प्रजापति, छन्द त्रिष्टुप्, देवता आदित्य।) (पूर्व कल्प में सूर्य ने पुरुषमेध का अनुष्ठान किया था। उसके फलस्वरूप ही उसे प्रकृत मंत्र में इस घटना का सांसारिक दृष्टि से उल्लेख किया गया है।)

पहले जल और पृथ्वी प्रभृति पंचमहाभूतों से परिपुष्ट और विश्वकर्मा काल की प्रीतिवश उत्पन्न रसरूप को धारण कर आदित्य प्रतिदिन पूर्व दिशा में उदित होता है। मरणधर्मा मनुष्य ने इसी तरह पुरुषमेध का अनुष्ठान कर देवताओं के बीच सूर्य रूप में प्रमुख स्थान प्राप्त किया था।

कुशकण्टकं सोमं शुङ्गैके॥ १।१४।४॥

(हरिहरभाष्यम्)—एके आचार्याः न्यग्रोधावरोहशुङ्गेषु पिष्यमाणेषु कुशस्य कण्टकं मूलं सोमांशुं सोमलताखण्डं च प्रक्षिपन्ति तत्पक्षे द्रव्यचतुष्टयपेषणम् ।।१।१४।४।।

(गदाधरभाष्यम्)—'कुशकण्टकꣳ सोमाꣳ शुञ्चैके'। कुशकण्टकं कुशमूलं सोमांशुं सोमलताखण्डं च पिष्यमाणेषु न्यग्रोधावरोहशुङ्गेषु प्रक्षिपन्त्येके आचार्याः। अस्मिन्पक्षे द्रव्यचतुष्टयस्य पेषणम्, एकग्रहणाद्विकल्पः ।। १।१४।४ ।।

अनुवाद—कुछ आचार्यों के मत से बरगद की जटाओं और उसके कोमल पत्तों के साथ कुश की जड़ और सोमलता भी मिला देनी चाहिए।

कूर्मपित्तं चोपस्थे कृत्वा स यदि कामयेत वीर्य्यवान्त्स्यादिति विकृत्यैनमभिमन्त्रयते—सुपर्णोऽसीति प्राग्विष्णुक्रमेभ्यः ।। १।१४।५ ।।

(हरिहरभाष्यम्)—'कूर्मपि···क्रमेभ्यः'। अत्र काम्यमाह स भर्ता यदि कामयेत अयं गर्भः वीर्यवान् शक्तिमान् स्यादितीच्छेत् तदा अस्या भार्यायाः उपस्थे उत्सङ्गे कूर्मपित्तं जलपूर्णशरावं कृत्वा निधाय विकृत्या विकृतिच्छन्दस्कया सुपर्णोऽसीत्यनया ऋचा स्वः पतेत्यन्तया एनं गर्भमभिमन्त्रयते हस्तेन गर्भाशयं स्पृष्ट्वा मन्त्रं जपतीत्यर्थः, विष्णुक्रमेभ्यो विष्णुक्रममन्त्रेभ्यः प्राक् पूर्वं यावद्विकृतेः परिमाणमिति सूत्रार्थः ।१।१४।५।

अथ प्रयोगः—तत्र गर्भाधानप्रभृति द्वितीये तृतीये वा मासे यस्मिन्दिने पुन्नक्षत्रयुक्तश्चन्द्रस्तस्मिन्नहनि गर्भिणीमुपवासं कारयित्वा मातृपूजाभ्युदयिकं विधाय तां स्नापयित्वाऽहते वाससी परिधाप्य रात्रौ न्यग्रोधावरोहाञ्छुङ्गांश्च उदकेन पिष्ट्वा पक्षे कुशकण्टकं सोमांशुं च तन्नासिकाया दक्षिणपुटे आसिञ्चति भर्ता हिरण्यगर्भोऽद्भ्यः सम्भृत इति ऋग्भ्याम्। स यदीच्छेत् वीर्यवान्त्स्यादयं गर्भस्तदा तस्याः स्त्रियाः उदकपूर्णं शरावमुपस्थे कृत्वा सुपर्णोऽसीत्यनया विष्णोः क्रमोऽसीत्येतत्प्राक्पठितया विकृत्या ऋचाऽन्तर्गर्भमभिमन्त्रयते पिता। इति प्रयोगः।

(गदाधरभाष्यम्)—काम्यमाह—'कूर्मपि······क्रमेभ्यः'। स भर्ता यदि कामयेत अयं गर्भो वीर्यवान् शक्तिमान् भवतु तदा अस्याः स्त्रिया उपस्थे उत्सङ्गे अङ्के उदपूर्णं शरावं निधाय मुक्त्वा विकृत्या विकृतिच्छन्दस्कया ऋचा एनं गर्भमभिमन्त्रयते गर्भिण्या उदरं विकृत्या अनामिकाग्रेण स्पृशन् विलोकयित्वा वा मन्त्रं पठतीत्यर्थः। तदुक्तं कात्यायनेन—स्पृशँस्त्वनामिकाग्रेण क्वचिदालोकयन्नपि। अनुमन्त्रणीयं सर्वत्र सदैवमनुमन्त्रयेत् ।। इति। अभिमन्त्रणानुमन्त्रणयोर्न कश्चिद्विशेषः। विकृतेरप्रसिद्धत्वादाह—सुपर्णोऽसीति प्राग्विष्णुक्रमेभ्यः। सुपर्णोऽसि गरुत्मानित्यारभ्य विष्णुक्रममन्त्रेभ्यः प्राक् पूर्वं यावद्विकृतेः परिमाणमित्यर्थः ।। १।१४।५ ।।

अथ पदार्थक्रमः। गर्भमासप्रभृतिद्वितीये तृतीये वा मासि अरिक्तादितिथौ पुष्यादिपुन्नक्षत्रे शुक्रसोमबुधगुरुवासरेषु विष्टयादिदोषरहिते दैवज्ञोक्ते काले पुंसवनं कुर्यात्। अत्र नियतकालत्वात् गुरुशुक्रास्तबाल्यवार्द्धकमलमासादिष्वपि न दोषः दोषरहितकालालाभे। तद्रहितकाललाभे शुक्रास्तादौ न कार्यम्। कालातिक्रमे तु सीमन्तदिने कार्यम्। उक्ते दिवसे स्वस्तिवाचनग्रहयज्ञाभ्युदयिकानि कृत्वा देशकालौ स्मृत्वाऽस्यां भार्याया-

मुत्पत्स्यमानगर्भस्य बैजिकगार्भिकदोषपरिहारसुरूपताज्ञानोदयप्रतिरोधिपरिहारद्वारा श्रीपरमेश्वरप्रीत्यर्थं पुंसवनं करिष्ये इति सङ्कल्पः। ततस्तस्मिन्नहनि गर्भिणीमुपवासं कारयित्वा तां स्नापयित्वाऽहते वाससी परिधाप्य रात्री न्यग्रोधावरोहशुङ्गानामुदकेन सह पेषणम्। ततो गर्भिणीमुपवेश्य तदुदकं वस्त्रपावितं दक्षिणस्यां नासायामासिञ्चति हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे, अद्भ्यः सम्भृत इति ऋग्भ्याम्। स यदि कामयेत वीर्यवान् स्यादयं गर्भस्तदाऽस्या उत्सङ्गे उदरे शरावं निधाय सुपर्णोऽसीत्यनेन दिवं गच्छस्वः-पतेत्यन्तेन तं गर्भमभिमन्त्रयते। इति पदार्थक्रमः। गर्गमते नात्र विशेषः।

अनुवाद—गर्भस्थ शिशु का पिता यदि चाहे कि सन्तान शक्तिशाली हो तो जल सहित मिट्टी के पात्र को पत्नी की गोद में रखकर हाथ से गर्भाशय का स्पर्श करते हुए विकृति छन्द में निबद्ध—'सुपर्णोऽसि' इस मंत्र को प्रारम्भ कर विष्णु मंत्रों से पहले तक पढ़े।

टिप्पणी—ओल्डेन वर्ग ने कूर्मपित्त का अर्थ कछुए का पित्त कहा है, जब कि भारतीय आचार्यों ने कूर्मपित्त का अर्थ जल मिला हुआ शराव कहा है। ओल्डेन वर्ग का अर्थ परम्परा-विरुद्ध होने के कारण ग्राह्य नहीं है।

प्रथमकाण्ड में चतुर्दश कण्डिका समाप्त।

पञ्चदशी कण्डिका

सीमन्तोन्नयनम्

अथ सीमन्तोन्नयनम् ॥ १।१५।१ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अथ सीमन्तोन्नयनम्'। अथ पुंसवनानन्तरं क्रमप्राप्तं सीमन्तोन्नयनं गर्भसंस्कारकं कर्म व्याख्यास्यते ॥ १।१५।१ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'अथ सीमन्तोन्नयनम्'। व्याख्यास्यत इति सूत्रशेषः। अथ सीमन्तोन्नयनमिति वक्ष्यमाणसंस्कारकर्मणो नामधेयम्। गर्भसद्भावे क्रियमाणत्वात्तद-भावे चाभावाद् गर्भसंस्कारोऽयमिति कर्कोपाध्यायाः। अतश्च तेषां मते प्रतिगर्भं क्रिया। तथा च हेमाद्रौ कारिकायां च विष्णुवचनम्—सीमन्तोन्नयनं कर्म न स्त्रीसंस्कार इष्यते। कैश्चित्तु गर्भसंस्काराद् गर्भे गर्भे प्रयुज्यत ॥ इति। स्त्रीसंस्कार एवायमित्यन्ये। तथा च देवलः—सकृच्च संस्कृता नारी सर्वगर्भेषु संस्कृतेति। हारीतोऽपि—सकृत्संस्कृत-संस्काराः सीमन्तेन द्विजस्त्रियः। यं यं गर्भं प्रसूयन्ते स सर्वः संस्कृतो भवेत् ॥ इति ॥

अनुवाद—अब 'सीमन्तोन्नयन' संस्कार की विधि बतलायी जा रही है।

पुंसवनवत् ॥ १।१५।२ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—तच्च पुंसवनवत् पुन्नक्षत्रे भवति ॥ १।१५।२ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'पुंसवनवत्'। अनेन यदहः पुंसा नक्षत्रेण चन्द्रमसो योगस्तदहरुपवास्याप्लाव्याहते वाससी परिधाप्येति लभ्यते न तु सर्वमिति कर्कः। पुंसवनवदिति यदहः पुंसा नक्षत्रेण चन्द्रमा युज्येत तदहरित्यर्थ इति भर्तृयज्ञः ॥१।१५।२॥

अनुवाद—पुंसवन की तरह ही सीमन्तोन्नयन भी होता है।

टिप्पणी—यह संस्कार भी जब चन्द्रमा के साथ पुष्य नक्षत्र का योग होगा, तब स्त्री स्नान कर नये वस्त्र पहन कर उपवास करेगी। फिर यह संस्कार प्रारम्भ होगा।

प्रथमगर्भे मासे षष्ठेऽष्टमे वा ॥ १।१५।३ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'प्रथम···ऽष्टमे वा'। आद्यगर्भे गर्भाधानप्रभृति षष्ठेऽष्टमे वा मासे नियमेन कुर्यात्। गर्भान्तरेष्वनियम इति कर्कोपाध्यायः। अन्ये तु प्रथमगर्भ एवेति। तथा चाश्वलायनगृह्यपरिशिष्टे प्रथमे गर्भे सीमन्तोन्नयनसंस्कारो गर्भमात्र-संस्कार इति। सकृत्संस्कृतसंस्काराः सीमन्तेन द्विजस्त्रियः। यं यं गर्भं प्रसूयन्ते स सर्वः संस्कृतो भवेदिति हारीतो देवलश्च सकृच्च संस्कृता नारी सर्वगर्भेषु संस्कृता। उपवासा-प्लावनाहतवासोयुगपरिधापनानि व्रतिना गृह्यन्ते ॥ १।१५।३ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—प्रथमगर्भे आद्यगर्भे भवति। आपस्तम्बः—सीमन्तोन्नयनं प्रथमे गर्भे चतुर्थे मासीति। शाङ्खायनगृह्ये—सप्तमे मासि प्रथमगर्भे सीमन्तोन्नयन-

मिति । आश्वलायनगृह्यपरिशिष्टे—प्रथमे गर्भे सीमन्तोन्नयनसंस्कारो गर्भमात्रसंस्कार इति । कर्कोपाध्यायैस्तु प्रथमगर्भे मासे षष्ठेऽष्टमे वेति सूत्रं योजयित्वा द्वितीयादिष्वनियम इत्युक्तम् । ननु प्रथमगर्भे एव सीमन्तोन्नयनसंस्कारे क्रियमाणे द्वितीयादिगर्भाणां तत्संस्कारलोपः स्यादिति चेत् मैवम् । यं यं गर्भं प्रसूयन्ते स सर्वः संस्कृतो भवेदिति हारीतवचनादाद्यगर्भे संस्कारे कृते सर्वगर्भाणां संस्कार इति न संस्कारलोपः । अकृतसीमन्तायाः प्रसवे सत्यव्रतोक्तो विशेषः—स्त्री यदाऽकृतसीमान्ता प्रसवेत्तु कथञ्चन । गृहीतपुत्रा विधिवत्पुनः संस्कारमर्हति ॥ इति । 'मासे षष्ठेऽष्टमे वा' । सीमन्तोन्नयनं गर्भधारणात् षष्ठे मासि अष्टमे वा भवति ॥ १।१५।३ ॥

अनुवाद—गर्भाधान के छठे या आठवें महीने में सीमन्तोन्नयन संस्कार होगा ।

तिलमुद्गमिश्रꣳ स्थालीपाकꣳ श्रपयित्वा प्रजापतेर्हुत्वा पश्चादग्नेर्भद्रपीठ उपविष्टायां युग्मेन सटालुग्रप्सेनौदुम्बरेण त्रिभिश्च दर्भपिञ्जुलैस्त्र्येण्या शलल्या वीरतरशङ्कुना पूर्णचात्रेण च सीमन्तमूर्ध्वं विनयति भूर्भुवः स्वरिति ॥ १।१५।४ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'तिलमु······पतेर्हुत्वा' । तत्र विशेषमाह—तिलैर्मुद्गैर्मिश्रस्तिलमुद्गमिश्रस्तं स्थालीपाकमोदनं चरुं श्रपयित्वा आज्यभागान्ते प्रजापतये स्वाहेत्येकामाहुतिं हुत्वा स्विष्टकृदादि प्राशनान्तं विदध्यात् । 'पश्चाद ······ष्टायाम्' । अग्नेः पश्चिमतः भर्तुर्दक्षिणतः मृद्वासने आसीनायां गर्भिण्यां सत्यां—'युग्मेन······स्वरिति' । ततो भर्ता औदुम्बरेण उदुम्बरवृक्षोद्भवेन युग्मेन द्व्यादियुग्मफलवता सटालुग्रप्सेन अपक्वफलैकस्तवकनिबद्धेन त्रिभिश्च दर्भपिञ्जुलैस्त्रिभिर्दर्भपवित्रैश्च त्र्येण्या त्रिषु स्थानेषु श्वेता त्र्येणी तया त्र्येण्या शलल्या शल्यकाख्यपक्षकण्टकेन वीरतरशङ्कुना शरेषीकया आश्वत्थेन वा शङ्कुना पूर्णचात्रेण च सूत्रेण पूर्णं चात्रं सूत्रकर्तनसाधनं तर्कुरिति यावत् । तेन लोहकीलकेन च चकारः सर्वसमुच्चयार्थः । अतश्चौदुम्बरयुग्मादिभिः सर्वैः पुञ्जीकृतैः सीमन्तं स्त्रिया ऊर्ध्वं विनयति पृथक्करोति ललाटान्तरमारभ्य केशान् द्विधा करोति भूर्भुवः स्वर्विनयामि इत्येतावता मन्त्रेण सकृदेव ॥ १।१५।४ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'तिलमुद्ग······स्वरिति' । तिलमुद्गानां स्थालीपाके मिश्रणमात्रं न तत्प्राधान्यं मिश्रणोपदेशात् । प्रयोजनं चान्तराये उपेक्षैव । त्यागोऽपि तद्व्यतिरिक्तस्यैव तिलैर्मुद्गैर्मिश्रस्तिलमुद्गमिश्रस्तं चरुं श्रपयित्वा आज्यभागानन्तरं प्रजापतये स्थालीपाकेनैकामाहुतिं हुत्वा स्थालीपाकेनैव स्विष्टकृदाहुतिं हुत्वा दक्षिणादानान्तं कृत्वा पश्चादग्नेर्भद्रपीठ उपविष्टायामग्नेः पश्चिमतः भर्तुर्दक्षिणतः मृदुपीठे आसीनायां गर्भिण्यां सत्यां युग्मेनौदुम्बरवृक्षोद्भवेन द्व्यादियुग्मफलवता सटालुग्रप्सेन अपक्वफलस्तवकनिबद्धेन सटालुमिति अपक्वफलानामाख्या ग्रप्सः स्तबकसङ्घातः युग्मानि एकस्तवकबद्धानि औदुम्बरफलानि तेन त्रिभिर्दर्भपवित्रैश्च त्र्येण्या शलल्या त्रिषु स्थानेषु श्वेता त्र्येणी तया त्र्येण्या शलल्या शलल्याख्यपक्षकण्टकेन वीरतरशङ्कुना आश्वत्थेन शङ्कुना पूर्णचात्रेण च सूत्रकर्तनसाधनभूतो लोहकीलस्तर्कुरपरपर्यायश्चात्रं, तेन सूत्रपूर्णेन

च चकार औदुम्बरफलस्तबकादिद्रव्यपञ्चकसमुच्चयार्थः अतो द्रव्यपञ्चकेन स्त्रियाः सीमन्तमूर्ध्वं विनयति केशललाटयोः सन्धिमारभ्य ऊर्ध्वं केशान् पृथक्करोति द्विधा करोति भूर्भुवस्स्वरिति मन्त्रेण। सीमन्तशब्दो व्याख्यातोऽभिधानग्रन्थे—सीमन्तः कथ्यते स्त्रीणां केशमध्ये तु पद्धतिरिति। साकाङ्क्षत्वाद्विनयामीत्यध्याहारः पश्चादग्नेर्मद्रपीठ इत्येवमादि कर्मान्ते भवति आगन्तुकत्वात्। मद्रपीठशब्दो गोमयपीठे चतुरस्रे प्रसिद्ध इति भर्तृयज्ञः। वीरतरशङ्कुः शर इति जयरामः। अश्वत्थशङ्कुः शरेषीका वेति हरिहर-कारिकाकारौ। अश्वत्थशङ्कुरिति कर्कः खादिरः शङ्कुरित्यपर इति गर्गपद्धतौ।

अनुवाद—तिल ओर मूंग मिला हुआ चावल पकाकर आज्यभागान्त कर्म समाप्त कर, प्रजापति के लिए आहुति देकर, स्विष्टकृत् अग्नि के लिए आहुति दे और फिर, संस्रव प्राशन कर, वेदी के पार्श्ववर्ती अग्नि के पश्चिम तथा पति की दाहिनी ओर कोमल आसन पर पत्नी के बैठ जाने पर, गूलर के दो कच्चे फलों वाले एक डंठल, तीन बालीदार कुशा, तीन जगह सफेद साही के कांटे, पीपल की एक कील और धागे के साथ कैंची अर्थात् इन पांचों वस्तुओं को एक साथ मिलाकर एक बार में ही पति स्त्री के सिर के बालों को 'भूर्भुवः स्वः' का उच्चारण करते हुए ऊपर की ओर मांग संभाल दे।

प्रतिमहाव्याहृतिर्वा ॥ १।१५।५ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—पक्षान्तरमाह—वा इति। प्रतिमहाव्याहृतिभिः विनयति। ततश्च भूर्विनयामि भुवर्विनयामि स्वर्विनयामि इत्येवं त्रिर्विनयनं भवति, अत्र व्याहृति-मन्त्रपदानामाख्यातपदं विना वाक्यस्यासम्पूर्णत्वात् आख्यातपदाध्याहारः कर्तव्यः। तत्र विधियुक्तस्य मन्त्रभावः स्यादिति न्यायात् विनयतीति विधिपदं विपरिणम्य विनयामीत्यध्याह्रियते ॥ १।१५।५ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'प्रतिमहाव्याहृतिभिर्वा'। विनयनं सीमन्तस्य कार्यमित्यर्थः। वा शब्दो विकल्पार्थः। अत्रापि चाध्याहारः। तच्चैवम्—भूः विनयामि भुवः विनयामि स्वः विनयामि ॥ १।१५।५ ॥

अनुवाद—कुछ आचार्यों के अनुसार यह क्रिया प्रत्येक महाव्याहृति का अलग-अलग उच्चारण करते हुए तीन बार होगी।

टिप्पणी—मंत्रोच्चार का तीन क्रम इस प्रकार होगा—(१) ॐ भूर्विनयामि। (२) ॐ भुवर्विनयामि। (३) ॐ स्वर्विनयामि।

त्रिवृतमाबध्नाति—

अयमूर्ज्जावतो वृक्ष ऊर्ज्जीव फलिनी भवेति ॥ १।१५।६ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'त्रिवृतमाबध्नाति'। त्रिवृतं वेणीं प्रति आबध्नाति पुञ्जी-कृतमौदुम्बरादिपञ्चकं वेण्यां नियुनक्तीत्यर्थः। 'अयमू···भवेति' अनेन मन्त्रेण।१।१५।६।

(गदाधरभाष्यम्)—'त्रिवृत······नी भवेति'। त्रिभिर्वर्त्यते ग्रथ्यते इति त्रिवृत् वेणी तां प्रति तत्रैव औदुम्बरादिपुञ्जमाबध्नाति भर्ता अयमूर्जावत इति मन्त्रेण।

मन्त्रार्थः—हे सीमन्तिनि ! यतोऽयमूर्जावान् वृक्ष इति शेषः, अस्य चोर्जावतो वृक्षस्योर्जीव सफलशाखेव फलिनी भव ॥ १।१५।६ ॥

अनुवाद—गूलर प्रभृति पाँचो वस्तुओं को जूड़े में तीन गाँठ देकर 'अयमूर्ज्जावतः' इत्यादि मंत्र पढ़ते हुए बाँध दें।

मन्त्रार्थ—(ऋषि प्रजापति, छन्द यजुष्, देवता वधू ।) हे सुकेशी ! यह वृक्ष शक्तिशाली है, इसकी डालें फलों से लदी हैं; इसी की तरह तुम भी फलवती बनो ।

अथाह—वीणागाथिनौ राजानꣳ सङ्गायेतां यो वाऽन्यो वीरतर इति ॥ १।१५।७ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अथाह······इति' । अथौदुम्बरादिपञ्चकस्य वेणीबन्धनानन्तरमाह ब्रवीति, किम् ? हे वीणागाथिनौ ! राजानं भूपतिं सङ्गायेताम् राजवर्णनसम्बद्धं ध्रुवादिरूपकं सम्यग्गायेतां युवामथवा योऽन्योऽपि राजव्यतिरिक्तो वीरतरः प्रकृष्टो वीरः शूरस्तं सङ्गायेतामित्यनुषङ्गः इत्याह ब्रवीति ॥ १।१५।७ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'अथाह···वीरतर इति' । अथ वेण्यां बन्धनानन्तरं वीणां गृहीत्वा गाथागायनौ प्रति कर्ता वीणागाथिनौ राजानꣳ सङ्गायेतामिति प्रैषमाह—ततश्च तौ ब्राह्मणावेव वीणागाथिनौ राजसम्बन्धि सोत्साहौ गायतः । अन्यो वा यः कश्चिद्वीरतर अतिशूरो नलादिस्तं सम्यग्गायेतामिति । आत्मनेपदमार्षम् । एवं च गेये विकल्पः ॥ १।१५।७ ॥

अनुवाद—वेणीबन्धन के वाद पति वीणा लेकर गाथा गान करने वाले दो पुरुषों से किसी राजा या वीर पुरुष के विषय में गाथा गाने को कहे ।

नियुक्तामप्येके गाथामुपोदाहरन्ति—
सोम एव नो राजेमा मानुषीः प्रजाः ।
अविमुक्तचक्र आसीरंस्तीरे तुभ्यमसाविति ।
यां नदीमुपावसिता भवति तस्या नाम गृह्णाति ॥ १।१५।८ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'नियुक्ता······हरन्ति' । एके आचार्याः नियुक्तां गाने विहितां गाथां मन्त्रमुपोदाहरन्ति पठन्ति अपिः समुच्चयार्थः, तत्पक्षे राजवीरतरयोरन्यतरगानं गाथागानं च समुच्चितं भवति । पक्षान्तरे राजवीरतरयोरन्यतरगानं गाथागानं वा तां गाथामाह—'सोम एव···तुभ्यम्' इत्यन्ताम् । पद्धतिकारपक्षे राजवीरतरगाथानां एकतमस्यैव गानं तत्पक्षे नियुक्तामपीत्यपिशब्दो विवक्षितार्थः स्यात् । 'असावि······गृह्णाति' । ततो गर्भिणी यां नदीमुप समीपे आवसिता स्थिता भवति तस्या नद्या असाविति गङ्गा यमुना इत्येवं प्रथमान्तं नाम गृह्णाति ॥ १।१५।८ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'नियुक्ताम···विति' । एके आचार्या नियुक्तां गाने विहितां गाथां मन्त्रं सोम एव नो राजेति उपोदाहरन्ति समीपे गायन्ति । एके नेति अतश्च विकल्पः । अपिः समुच्चयार्थः । ततो गाथागानपक्षे राजसम्बन्धि वीरतरसम्बन्धि वा

गानं गाथागानं च द्वयं भवति। केषाञ्चिन्मते राजवीरतरयोरन्यतरगानं गाथागानं वा। पद्धतिकारमते राजवीरतरगाथानामन्यतमस्य गानम्। असावित्यत्र नामादेशः गाथागानमपि वीणागाथिनौ कुरुतः। मन्त्रार्थः—सोमश्चन्द्रः नोऽस्माकं प्रजानां राजा प्रभुः अत इमाः प्रजाः मानुषीर्मानुष्यः सौम्याः हे गङ्गादिनदि तुभ्यं तव सोमरूपायास्तीरे आसीरन् त्वामाश्रित्य स्थिताः। किम्भूते तीरे अविमुक्तचक्रे अनुल्लङ्घितशास्त्रे अतो भवद्भ्यां पातव्या इत्यर्थः। 'यां नदी······गृह्णाति'। असावित्यत्र च सीमन्तिनी यां नदीमुप समीपे आवसिता स्थिता भवति तस्या नद्याः गाथागानकर्ता गङ्गे यमुने इत्येवं नाम गृह्णाति॥ १।१५।८॥

अनुवाद—कुछ आचार्यों के अनुसार वेदोक्त 'सोम···' प्रभृति गाथा ही गानी चाहिए। गाथा के अन्त में गर्भिणी स्त्री को जिस नदी के समीप हो, उसका प्रथमान्त नाम ले लेना चाहिए।

मन्त्रार्थ—(ऋषि प्रजापति, छन्द यजुष्, देवता वधू।) ओ नदियो! चन्द्रमा हमारा स्वामी है और तुम स्वयं सोमरूपा हो, इसीलिए तुम्हारे अविमुक्त चक्र तट पर ये मानवी प्रजाएँ बसी हुई हैं, अतः तुम हमारी रक्षा करो।

ततो ब्राह्मणभोजनम्॥ १।१५।९॥

(हरिहरभाष्यम्)—'ततो ब्राह्मणभोजनम्' इत्युक्तार्थमिति सूत्रव्याख्या।१।१५।९।

अथ सीमन्तोन्नयनप्रयोगः। तत्र प्रथमे गर्भे षष्ठेऽष्टमे वा मासि पुन्नक्षत्रे मातृपूजां वृद्धिश्राद्धं च कृत्वा बहिःशालायां पञ्च भूसंस्कारान्कृत्वा लौकिकाग्निमुपसमाधाय ब्रह्मोपवेशनाद्याज्यभागान्तं विदध्यात्। तत्र विशेषः—पात्रासादने आज्यानन्तरं तण्डुलतिलमुद्गानां क्रमेण पृथगासादनम्। उपकल्पनीयानि मृदुपीठं युग्मान्यौदुम्बरफलानि एकस्तबकनिबद्धानि त्रयो दर्भपिञ्जुलाः त्र्येणी शलली वीरतरशङ्कुः शरेषिका आश्वत्थो वा शङ्कुः पूर्णचात्रं वीणागाथिनौ चेति आज्यमधिश्रित्य चरुस्थाल्यां मुद्गान् प्रक्षिप्याधिश्रित्य ईषच्छृतेषु मुद्गेषु तिलतण्डुलप्रक्षेपं कृत्वा पर्यग्निकरणं कुर्यात्। तत आज्यभागान्ते स्थालीपाकेन प्रजापतये स्वाहेति हुत्वा इदं प्रजापतय इति त्यागं विधाय स्थालीपाकेनोत्तरार्द्धात्स्विष्टकृदाहुतिं हुत्वा महाव्याहृत्यादिप्राजापत्यादिप्राजापत्यान्ता नवाहुतीर्हुत्वा संस्रवं प्राश्य पूर्णपात्रवरयोरन्यतरं ब्रह्मणे दत्त्वा पश्चादग्नेर्भद्रपीठं स्थापयित्वा गर्भिण्यां योषिति स्नातायां परिहिताहतवासोयुग्मायां भद्रपीठ उपविष्टायां युग्मेन सटालुग्रप्सेनौदुम्बरेण त्रिभिश्च दर्भपिञ्जुलैस्त्र्येण्या शलल्या वीरतरशङ्कुना पूर्णचात्रेण चेति सर्वैः पुञ्जीकृतैः स्त्रियाः सीमन्तं भूर्भुवस्स्वर्विनयामीति ऊर्ध्वं विनयति मन्त्रेण सकृत्। यद्वा भूर्विनयामि भुवर्विनयामि स्वर्विनयामि इति त्रिर्विनयति ततो विनयनसाधनमौदुम्बरादिपञ्चकं स्त्रिया वेण्यां बध्नाति अयमूर्जावतो वृक्ष उर्जीव फलिनी भवेति मन्त्रेण। अथ वीणागाथिनौ राजानं सङ्गायेतामिति प्रैषं ददाति, अथवा अमुकं वीरतरं सङ्गायेतामिति ततस्तौ यद्गानाय प्रेषितौ तं गायतः। अथवा वीणागाथिनौ सोमं राजानं सङ्गायेतामिति प्रेषितौ सोम एव नो राजेमामानुषीः प्रजाः अविमुक्तचक्र

आसीरंस्तीरे तुभ्यमित्यन्तां गाथां वीणागाथिनौ गायतः। इति विकल्पः पक्षः। समुच्चयपक्षे राजानमन्यं वीरतरं वा सोमं राजानं च सङ्गायेतामिति प्रेषितौ उभयं गायतः असौ स्थाने समीपावस्थिताया गङ्गाप्रमुखाया नद्याः सम्बुद्धयन्तं गङ्गेत्यादि नाम गृह्णाति गर्भिण्येव, ततो ब्राह्मणभोजनं ददाति। अत्र प्रथमगर्भे इति वचनात् स्त्रीसंस्कार-कर्मत्वाच्च न प्रतिगर्भं सीमन्तोन्नयनं, यतः—'सकृत्संस्कृतसंस्काराः सीमन्तेन द्विज-स्त्रियः। यं यं गर्भं प्रसूयन्ते स सर्वः संस्कृतो भवेत्'॥ इति स्मरणात् न प्रतिगर्भं सीमन्तोन्नयनं, पुंसवनं तु दृष्टार्थत्वाद्भाष्यकारमते प्रतिगर्भं भवति।

(गदाधरभाष्यम्)—'ततो ब्राह्मणभोजनम्'। व्याख्यातं चैतत्। अत्र भोजने प्राय-श्चित्तमुक्तं पराशरमाधवीये धौम्येन—ब्रह्मौदने च सोमे च सीमन्तोन्नयने तथा। जात-कर्मनवश्राद्धे भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत्॥ इदं च कर्माङ्गब्राह्मणभोजनविषयं न त्विष्ट-कुटुम्बादिभोजनविषयमिति मुरारिमिश्राः॥ १।१५।९॥

सीमन्तोन्नयने पदार्थक्रमः। तच्च गर्भमासापेक्षया षष्ठेऽष्टमे वा मासि असम्भवे यावत्प्रसवं शुक्लपक्षे पुनर्वसुपुष्याभिजिद्धस्तप्रोष्ठपदानुराधाऽश्विनीमूलश्रवणरेवती-रोहिणीमृगशिरःसंज्ञकानां नक्षत्राणां चतुर्द्धा विभक्तानां मध्यमपादद्वये षष्ठ्यष्टमी-द्वादशीचतुर्थीनवमीचतुर्दश्यमावास्याव्यतिरिक्ततिथौ सोमबुधबृहस्पतिशुक्रवारेषु चन्द्रानु-कूल्ये विष्ट्यादिदोषाभावे शुभलग्नादौ कार्यम्। अत्राप्यधिकमासगुरुशुक्रास्तादीनां न दोषः, कालान्तरासम्भवे पूर्ववन्नियतकालत्वात्। पुण्याहवाचनग्रहयज्ञाभ्युदयिकानि कृत्वा मङ्गलस्नातां परिहितप्रावृताहतवासोयुगलामलङ्कृतां पत्नीं स्वदक्षिणत उपवेश्य देश-कालौ स्मृत्वा तनुरुधिरप्रियालक्ष्मीभूतराक्षसीगणदूरनिरसनक्षमसकलसौभाग्यनिदानभूत-महालक्ष्मीसमावेशनद्वारा प्रतिगर्भं बीजगर्भसमुद्भवैनोनिबर्हणजनकातिशयद्वारा च श्रीपरमेश्वरप्रीत्यर्थं स्त्रीसंस्काररूपं सीमन्तोन्नयनाख्यं कर्म करिष्य इति सङ्कल्पं कुर्यात्। ततो बहिःशालायां पञ्च भूसंस्कारान्कृत्वाऽग्नेः स्थापनम्। वैकल्पिकावधारणम्। प्रति-महाव्याहृतिभिर्विनयनम्। वीरतरस्य गानम्। ततो ब्रह्मासनाद्याज्यभागान्ते विशेषः। उपकल्पनीयानि। तिलाः मुद्गाः मृदुपीठं युग्मान्यौदुम्बरफलान्येकस्तबकनिबद्धानि। त्रीणि कुशपिञ्जुलानि। त्र्येणी शलली। वीरतरशङ्कुः। पूर्णचात्रम्। वीणागाथिनौ त्रैवर्णिकौ चेति। ब्राह्मणौ वीणागाथिनाविति प्रयोगरत्ने। नियुक्तगाथागानस्य विहि-तत्वाच्छूद्रस्य च तत्रानधिकारात्त्रैवर्णिकाविति वयम्। अधिश्रयणकाले स्थाल्यां मुद्गान् प्रक्षिप्याधिश्रित्य ईषच्छृतेषु मुद्गेषु तिलतण्डुलप्रक्षेपं कृत्वा पर्यग्निकरणादि कार्यम्। आज्यभागान्ते स्थालीपाकेन प्रजापतये स्वाहेति होमः इदं प्रजाप०। ततः स्थालीपाकेन स्विष्टकृद्धोमः। ततो भूराद्या नवाहुतयः। ततः प्राशनादिदक्षिणान्तम्। ततोऽग्नेः पश्चान्मद्रपीठ उपविष्टाया गर्भिण्या औदुम्बरादिभिः पूर्णचात्रान्तैः फलीकृतैः सीमन्त-मूर्ध्वं विनयति भूर्भुवःस्वर्विनयामि प्रतिमहाव्याहृतिभिर्वा विनयनम्। भूः विनयामि। भुवः विनयामि। स्वः विनयामि। ततो भर्ता अयमूर्जावत इति औदुम्बरादिपञ्चकं तस्याः वेण्यां बध्नाति। वीणागाथिनौ राजानं सङ्गायेतामिति प्रैषः। ततस्त्रैवर्णिकौ वीणागाथिनौ राजवर्णनसम्बन्धि गानं कुरुतः। अथवाऽन्यो नलादिस्तस्य गानम्।

तस्मिन्पक्षे नलादिकं सङ्गायेतामिति प्रैष इति गर्गपद्धतौ । नियुक्तगाथागानं वा । तत्र सामगानापरिज्ञाने मन्त्रमात्रं पठेतामिति प्रयोगरत्ने । तस्मिन्पक्षे प्रैषाभाव इति गर्गपद्धतौ । नियुक्तगाथागानेऽपि प्रैषः सोम६ राजान६ सङ्गायेतामिति हरिहरः । नद्या नामग्रहणं गर्भिणीकर्तृकमिति तत्पद्धतौ । ततो ब्राह्मणभोजनम् । इति पदार्थक्रमः ।।

अथ गर्गमते विशेषः—मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकम् । अग्नेः स्थापनम् । ब्रह्मासनाद्याज्यभागान्ते विशेषः । आसादने तण्डुलानन्तरं तिलाः मुद्गः । भद्रपीठम् । औदुम्बरादिपञ्चकम् । वीणागाथिनौ चेति । ग्रहणात्प्राक् तण्डुलानां तिलमुद्गाभ्यां मिश्रणम् । ग्रहणे प्रजापतये जुष्टं गृह्णामि । प्रोक्षणे त्वधिकः । आज्यभागान्ते प्रजापतये स्वाहेति स्थालीपाकस्य होमः । ततोऽग्नेः पश्चान्मद्रपीठनिधानम् । ततस्तां गर्भवतीं स्नापयित्वाऽहते वाससी परिधाप्य भद्रपीठ उपवेशयेत् । तत औदुम्बरादिपञ्चद्रव्यैर्गर्भिण्याः सीमन्तविनयनम् । विनयामीत्यध्याहारः । ततः पादाङ्गुष्ठेन सूत्रमाक्रम्य मस्तकं यावत्सूत्रं मीत्वा तन्नवगुणं कृत्वा तस्मिन्सूत्रे औदुम्बरादिपञ्चकं बद्ध्वा तस्यास्तु नाभेरुपरि यथा भवति तथा कण्ठे प्रतिमुञ्चते अयमूर्जावतो वृक्ष इत्यनेन मन्त्रेण । गानप्रैषः । राज्ञो गानम् । नलादेर्वा गानम् । नलादिकं सङ्गायेतामिति प्रैषः । नियुक्तगाथागानं वा । नास्मिन्पक्षे प्रैषः । असावित्यत्र गङ्गे इत्येवं नाम गृह्णाति स्त्र्येव । ततः स्विष्टकृदादिब्राह्मणभोजनान्तम् । दक्षिणादानान्ते भद्रपीठ उपवेशनादि कार्यमिति वासुदेवः । एतदुभयं समूलमतो यथारुच्यनुष्ठेयमिति गर्गपद्धतौ । इति गर्गमते विशेषः ।।

अथ गर्भिणीधर्माः । कारिकायाम्—अङ्गारभस्मास्थिकपालचुल्लीशूर्पादिकेषूपविशेन्न नारी । सोलूखलाद्ये दृषदादिके वा यन्त्रे तुषाद्ये न तथोपविष्टा ।। नो मार्जनीगोमयपिण्डकादौ मूत्रं पुरीषं शयनं च कुर्यात् । नो मुक्तकेशी विवशाऽथवा स्याद् भुङ्क्ते न सन्ध्यावसरे न शेते ।। नामङ्गलं वाक्यमुदीरयेत्सैन शून्यालयं वृक्षतलं न यायात् । प्रयोगपारिजाते—गर्भिणीकुञ्जराश्वादिशैलहर्म्यादिरोहणम् । व्यायामं शीघ्रगमनं शकटारोहणं त्यजेत् ।। शोकं रक्तविमोक्षं च साध्वसं कुक्कुटासनम् । व्यवसायं दिवा स्वापं रात्रौ जागरणं त्यजेत् ।। वराहः—सामिषमशनं यत्नात्प्रमदा परिवर्जयेदतः प्रभृति । याज्ञवल्क्यः—दौहृदस्याप्रदानेन गर्भो दोषमवाप्नुयात् । वैरूप्यं मरणं वाऽपि तस्मात्कार्यं प्रियं स्त्रियः ।। दौहृदं गर्भिणीप्रियम् । मदनरत्ने—हरिद्रां कुङ्कुमं चैव सिन्दूरं कज्जलं तथा । कूर्पासकं च ताम्बूलं माङ्गल्याभरणं शुभम् ।। केशसंस्कारकबरीकण्ठकर्णविभूषणम् । भर्तुरायुष्यमिच्छन्ती दूरयेद् गर्भिणी न हि ।। बृहस्पतिः—चतुर्थे मासि षष्ठे वाऽप्यष्टमे गर्भिणी यदा । यात्रा नित्यं विवर्ज्या स्यादाषाढे तु विशेषतः ।।

अथ गर्भिणीपतिधर्माः । आश्वलायनः—वपनं मैथुनं तीर्थं वर्जयेद् गर्भिणीपतिः । श्राद्धं च सप्तमान्मासादूर्ध्वं चान्यत्र वेदवित् ।। श्राद्धं तद्भोजनमिति प्रयोगपारिजाते । रत्नसङ्ग्रहे—दहनं वपनं चैव चौलं वै गिरिरोहणम् । नाव आरोहणं चैव वर्जयेद् गर्भिणीपतिः । प्रव्यक्तगर्भापतिरब्धियानं मृतस्य वाहं क्षुरकर्मसङ्गमिति तत्रैवोक्तम्, न कुर्यादित्युत्तरार्द्धेनान्वयः । मुहूर्तदीपिकायाम्—क्षौरं तथानुगमनं नखकृन्तनं च युद्धादिवा-

स्तुकरणं त्वतिदूरयानमिति। नो भवेदिति शेषः। इति गर्भिणीपतिधर्माः। इति सीमन्तोन्नयनपदार्थक्रमः॥

अनुवाद—इसके बाद ब्राह्मणों को भोजन करायें।

टिप्पणी—गदाधर ने गर्भिणी-धर्म का कुछ उल्लेख इस प्रकार किया है—

'अङ्गारभस्मास्थिकपालचुल्लीशूर्पादिके नूपविशेन्न नारी।
सोलूखलाद्ये दृषदादिके वा यन्त्रे तुषाग्रे न तथोपविष्टा॥
नो मार्जनीगोमयपिण्डकादौ मूत्रं पुरीषं शयनं च कुर्यात्।
नो मुक्तकेशी विवशाऽथवा स्याद् भुङ्क्ते न सन्ध्यावसरे न शेते॥
नामङ्गलं वाक्यमुदीरयेत् सा शून्यालये वृक्षतलं न यायात्।'

अर्थात् गर्भिणी औरत सूप, चूल्हा, खोपड़ी, हड्डी, राख या दहकते अंगारे पर न बैठे। झाड़ू और गोबर पर न तो सोये और न ही मलमूत्र त्याग करे। बाल खोलकर न घूमे। सायंकाल या गोधूलि वेला में न तो कुछ खाए और न ही सोये। अमंगल-सूचक कोई शब्द न बोले। किसी सूने घर में प्रवेश न करे और न किसी पेड़ के नीचे बैठे।

'प्रयोग-पारिजात' में भी कुछ निषेध इस प्रकार है—गर्भिणी स्त्री को न तो हाथी घोड़े की सवारी करना चाहिए और न ही पहाड़ पर चढ़ना चाहिए। किसी तरह का व्यायाम नहीं करना चाहिए और दौड़ना भी बिलकुल वर्जित है। याज्ञवल्क्य ने यहाँ तक कहा है कि गर्भिणी स्त्री को दोहद का अपमान भी नहीं करना चाहिए। ऐसा करने से गर्भस्थ शिशु का अंग-भंग या मृत्यु भी हो सकती है। जहाँ गर्भिणियों के लिए इतने निषेध हैं, वहाँ 'मदनरत्न' में कुछ विधान भी हैं। तदनुसार—हल्दी, कुंकुम, सिन्दूर, काजल और अन्य मांगलिक आभूषण धारण करने चाहिए, पान खाना चाहिए और जितना पवित्र ढंग से वह रह सकती है, उस प्रकार उसे रहना चाहिए।

प्रथमकाण्ड में पञ्चदश कण्डिका समाप्त।

षोडशी कण्डिका

जातकर्म

सोष्यन्तीमद्भिरभ्युक्षति—एजतु दशमास्य इति प्राग्यस्यैत इति ॥ १।१६।१ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'सोष्यन्ती······यस्यैत इति'। सोष्यन्तीं प्रसवशूलवतीं स्त्रियं भर्ता अद्भिर्जलेनाभ्युक्षति प्रसिञ्चति एजतु दशमास्य इत्येतया प्राग्यस्यैत इति प्राक्पठितया ऋचा त्र्यवसानया विराट्जगत्या ॥ १।१६।१ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'सोष्यन्ती······यस्यैत इति'। षूङ् प्राणिगर्भविमोचने। गर्भं विमुञ्चन्तीं विजनयन्तीं प्रसवकाले शूलादिप्रसववेदनान्वितां स्त्रियं भर्ता एजतु दशमास्य इति मन्त्रेणास्रज्जरायुणा सहेत्यन्तेनाद्भिरभ्युक्षति उदकेन प्रसिञ्चति। जरायुणा सहेत्यत्र परिसमाप्तत्वाद्वाक्यस्य प्राग्यस्यैत इत्युच्यते। नह्यत्र परादिना पूर्वान्तन्यायः प्रकरणान्तरे पाठात्। अत्र श्रुतौ विशेषः। सोष्यन्तीमद्भिरभ्युक्षति यथा वातपुष्करिणीꣳसमीङ्गयति सर्वत इत्यादि ॥ १।१६।१ ॥

अनुवाद—प्रसव-वेदनायुक्त स्त्री के ऊपर उसका पति 'एजतु···' इत्यादि मंत्र का उच्चारण करते हुए जल का सिंचन करे।

(मन्त्र)—एजतु दशमास्यो गर्भो जरायुणा सह। यथायं वायुरेजति यथा समुद्र एजति। एवायं दशमास्यो अस्रज्जरायुणा सह। (य० सं० ८।२८)

मंत्रार्थ—(ऋषि प्रजापति, छन्द महापंक्ति, देवता गर्भ।) दश महीने का पूरे अवयवों वाला गर्भवत् शिशु अपने गर्भाशय के साथ हिले-डुले; जैसे हवा चलती है और समुद्र हिलता है, उसी प्रकार यह दस मास का गर्भवत् शिशु माँ के पेट से बाहर निकल आए।

अथावरावपतनम्—

अवैतु पृश्निशेवलꣳशुने जराय्वत्तवे। नैव माꣳसेन पीवरीं न कस्मिꣳश्चनायतनमवजरायुपद्यतामिति ॥ १।१६।२ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—अथावरावपतनम्। अथाभ्युक्षणानन्तरमवरावपतनम् अवरमुल्बं जरायुवेष्टितं गर्भवेष्टनमवाचीनमधः पतत्यनेन जप्तेनेत्यवरावपतनो मन्त्रः तं स्त्रीसमीपे उपविश्य भर्ता जपति, यथा—'अवैतु पृश्निशेवलमित्यादि अवजरायुपद्यताम्' इत्यन्तम्। अवरावपतनमन्त्रो भर्त्रा जाप्यः ॥ १।१६।२ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'अथावरा······पद्यतामिति'। अथाभ्युक्षणानन्तरमवरावपतनसंज्ञकं मन्त्रं जपतीत्यध्याहारः। अवरो जरायुविशेषः तस्य अव अधःपतनम् पतनहेतुम् अवैत्विति मन्त्रं जपति पिता। मन्त्रार्थः—हे सोष्यन्ति ! तव जरायु अव अधः एतु

आयातु पतत्वित्यर्थः। किम्भूतं पृश्नि नानारूपं शेवलं पिच्छलं जलोपचितं वा किमर्थं शुने श्वानमुपकर्तुम्। यद्वा शुने इति षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। शुनः अत्तवे भक्षणाय। हे पीवरि ! पुत्रादिगर्भधारणेन सुपुष्टगात्रि ! तच्च जरायु मांसेन गर्भव्यथकावयवेन सह आयतं सम्बद्धं विस्तृतं वा अधः नैव पद्यतां पततु न च कस्मिंश्चन गर्भो विपद्यतां निमित्ते सत्यपीति ॥ १।१६।२ ॥

अनुवाद—गर्भस्थ शिशु को शीघ्र बाहर निकालने के लिए पिता 'अवैतु…' इत्यादि मंत्र पढ़े।

मन्त्रार्थ—(ऋषि प्रजापति, छन्द बृहती, देवता अग्नि।) ओ प्रसवपीड़िते ! तुम्हारा पानी से भींगा गर्भाशय कुत्ते को खाने के लिए नीचे आ जाय। हे मांसल देहवाली ! गर्भनाशक कारणों के बावजूद भी तुम्हारा गर्भ सुरक्षित रहे।

जातस्य कुमारस्याच्छिन्नायां नाड्यां मेधाजननाऽऽयुष्ये करोति ।१।१६।३।

(हरिहरभाष्यम्)—'जातस्य……करोति'। ततो जातस्य उत्पन्नस्य कुमारस्य पुत्रस्य अच्छिन्नायां नाड्यामखण्डिते नाले सति मेधाजननायुष्ये मेधाजननं च आयुष्यं च मेधाजननायुष्ये ते करोति पिता मेधाजननं तावदाह ॥ १।१६।३ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'जातस्य……करोति'। जातस्योत्पन्नस्य कुमारस्य बालस्याच्छिन्नायां नाड्याम् अच्छिन्ने नाभिनाले पिता मेधाजननायुष्ये मेधाजननं च आयुष्यं च मेधाजननायुष्ये ते करोति। कुमारग्रहणाच्च स्त्रिया अतः प्रभृति न क्रियत इति भाष्ये। अत्र वसिष्ठः—श्रुत्वा जातं पिता पुत्रं सचैलं स्नानमाचरेत्। हेमाद्रौ—जन्मनोऽनन्तरं कार्यं जातकर्म यथाविधि। दैवादतीतकालं चेदतीते सूतके भवेत् ॥ अत्र जातकर्मनामकर्मादावुक्तकालातिक्रमे नक्षत्रादिकं ज्ञेयम्। तथा बृहस्पतिः—मुख्यालाभे विधिज्ञेन विधिश्चिन्त्यः प्रमाणतः। नक्षत्रतिथिलग्नानां विचार्यैवं पुनः पुनः ॥ कार्ष्णाजिनिः—प्रादुर्भावे पुत्रपुत्र्योर्ग्रहणे चन्द्रसूर्ययोः। स्नात्वाऽनन्तरमात्मीयान् पितॄन् श्राद्धेन तर्पयेत् ॥ श्राद्धं चात्राभ्युदयिकमेव न स्वतन्त्रम्। अत्र श्राद्धमामेन हेम्ना वा कार्यमित्युक्तं पृथ्वीचन्द्रोदये—जातश्राद्धे न दद्यात्तु पक्वान्नं ब्राह्मणेष्वपीति। हेमाद्रौ तु—पुत्रजन्मनि कुर्वीत श्राद्धं हेम्नैव बुद्धिमान्। न पक्वेन न चामेन कल्याणान्यभिकामयन् ॥ इति संवर्तोक्तेर्हेम्नैवेत्युक्तम्। संवर्तः—जाते पुत्रे पितुः स्नानं सचैलं तु विधीयत इति। एतच्च स्नानं रात्रावपि भवति नैमित्तिकत्वात्। यदाह व्यासः—रात्रौ स्नानं न कुर्वीत दानं चैव विशेषतः। नैमित्तिकं तु कुर्वीत स्नानं दानं च रात्रिषु ॥ इति। नैमित्तिकदानान्यपि स एवाह—ग्रहणोद्वाहसङ्क्रान्तियात्रादौ प्रसवेषु च। दानं नैमित्तिकं ज्ञेयं रात्रावपि न दुष्यति ॥ इति। जैमिनिः—यावन्न छिद्यते नालं तावन्नाप्नोति सूतकम्। छिन्ने नाले ततः पश्चात्सूतकं तु विधीयते ॥ हेमाद्रौ दानखण्डे—यावत्कालं सुते जाते न नाडी छिद्यते नृप। चन्द्रसूर्योपरागेण तमाहुः समयं समम् ॥ विष्णुधर्मोत्तरे—अच्छिन्ननाड्यां यद्दत्तं पुत्रे जाते द्विजोत्तमाः। संस्कारेषु च पुत्रस्य तदक्षय्यं प्रकीर्तितम् ॥ प्रतिग्रहश्च नाभिवर्धनात्पूर्वं तदहर्वेति मदनपारिजाते। तथा च शङ्खः—कुमार-

प्रसवे नाड्यामच्छिन्नायां गुडतिलहिरण्यवस्त्रगोधान्यप्रतिग्रहेष्वदोषस्तदहस्त्वेके कुर्वत इति । एतच्च जननाशौचे मरणाशौचे च कार्यमित्याह प्रजापतिः । आशौचे तु समुत्पन्ने पुत्रजन्म यदा भवेत् । कर्तुस्तात्कालिकी शुद्धिः पूर्वाशौचेन शुध्यति ।। इति । मदनपारिजातेऽप्येवम् । केचित्तु—मृताशौचस्य मध्ये तु पुत्रजन्म यदा भवेत् । आशौचापगमे कार्यं जातकर्म यथाविधि ।। इति स्मृतिसङ्ग्रहोक्तेराशौचान्ते कार्यमित्याहुः । स्मृत्यर्थसारेऽपि विकल्प उक्तः । कारिकायाम्—जाते पुत्रे सचैलं स्यात्स्नानं नैमित्तिकं पितुः । तच्च शीतेन रात्रावप्येवं जाबालिरब्रवीत् ।। दिवाहृतेन तोयेन स्वर्णयुक्तेन स्नापयेत् । इति साङ्ख्यायनः प्राह रात्रावनलसन्निधौ ।। अच्छिन्ननाड्यां कर्तव्यं श्राद्धं स्नानादनन्तरम् । आमद्रव्येण तत्कार्यं वचनात्तु प्रजापतेः ।। हिरण्येन भवेच्छ्राद्धमामद्रव्यं गृहे न चेत् । इति व्यासवचः प्रोक्तं पक्वान्नं स निषेधति ।। अन्नामं द्विगुणं भोज्यं हिरण्यं तु चतुर्गुणमिति । व्यासः—पुत्रजन्मनि यात्रायां शर्वर्यां दत्तमक्षयमिति ।। १।१६।३ ।।

अनुवाद—जन्म लेने के बाद तथा नाल कटने से पहले बालक के पिता शिशु के बुद्धि उत्पादन एवं आयुवर्द्धन हेतु जातकर्म करे ।

अनामिकया सुवर्णान्तर्हितया मधुघृते प्राशयति घृतं वा भूस्त्वयि दधामि । भुवस्त्वयि दधामि । स्वस्त्वयि दधामि । भूर्भुवःस्वः सर्वं त्वयि दधामीति ।। १।१६।४ ।।

(हरिहरभाष्यम्)—'अनामि······दधामीति' । अनामिकयाऽङ्गुल्या सुवर्णेनाच्छादितया मधु च घृतं च मधुघृते द्वन्द्वसमाससामर्थ्यादेकीकृते घृतं वा केवलं कुमारं सकृत्प्राशयति कुमारस्य जिह्वायां निर्मार्ष्टि भूस्त्वयीत्यादि सर्वं त्वयि दधामीत्यन्तेन मन्त्रवाक्यसमुदायेन । ननु 'अर्थैकत्वादेकं वाक्यम्' इति जैमिनिसूत्राद्, 'तिङ्सुबन्तचयो वाक्यं क्रिया वा कारकान्विता' इत्यमरसिंहोक्तेश्चैकार्थमेकं वाक्यम् । एकस्य वाक्यस्य च तेषां वाक्यं निराकाङ्क्षं मिथः सम्बद्धमिति कात्यायनवचनेनैकमन्त्रत्वमिति प्रतिपादनात्कथं मन्त्रवाक्यसमुदायस्यैकमन्त्रत्वम् ? अत्रोच्यते—सत्यं यदि इतिकारादिकं मन्त्रावसानज्ञापकं किञ्चिन्न स्यात्तदैतच्छक्यम् । अत्र पुनरितिकारो मन्त्रावसानज्ञापको जागर्ति तेन नायं दोषः । यथा स वै भूर्भुव इत्येतावतैव गार्हपत्यमादधाति तैः सर्वैः पञ्चभिराहवनीयमादधाति भूर्भुवःस्वरिति च श्रुतौ वाक्यसमुदायस्य इतिकारेण मन्त्रावसानं ज्ञायते । कातीयसूत्रेऽपि दारुभिर्ज्वलन्तमादधाति भूर्भुव इति आहवनीयमादधाति भूर्भुवःस्वरिति । अत्र यद्यपि एकैकस्याः व्याहृतेर्मन्त्रत्वं युक्तं समस्तानां व्याहृतीनां च तथापि इतिकारेण द्वयोरपि व्याहृत्योर्मन्त्रत्वं व्यवस्थाप्यते । एवमन्यत्रापि बहूनां मन्त्रवाक्यानामितिकारादिविनियोजकेन मन्त्रैक्यं तत्र तत्रायमेव न्यायोऽनुसर्तव्यः ।। १।१६।४ ।।

(गदाधरभाष्यम्)—मेधाजननमाह—'अनामिकया···दधामीति' । सुवर्णेनान्तर्हितया सुवर्णेनाच्छादितयाऽनामिकयाऽङ्गुल्या मधु च घृतं च मधुघृते एकीकृते कुमारं प्राशयति घृतं वा केवलम्, अत्र भूस्त्वयि दधामीत्यादि सर्वं त्वयि दधामीत्यन्तेन

मन्त्रेण। प्रतिवाक्यं प्राशयतीति केचित्। माध्यन्दिनश्रुतौ विशेषः—जातेऽग्निमुपसमाधायाङ्क आधाय कंᳬसे पृषदाज्यमानीय पृषदाज्यस्योपघातं जुहोतीत्युपक्रम्य अथास्यायुष्यं करोति दक्षिणं कर्णमभिनिधाय वाग्वागिति त्रिरथास्य नामधेयं करोति। वेदोऽसीति तदस्यैतद् गुह्यमेव नाम स्यादथ दधिमधुघृतᳬ सᳬसृज्यानन्तर्हितेन जातरूपेण प्राशयतीत्युक्तः। जातरूपेण हिरण्येन प्राशयत्येतैर्मन्त्रैः प्रत्येकमिति वासुदेवप्रकाशिकायाम्। यदि च मेधाजननं स्वकाले दैवान्मानुषापराधाद्वा न जातं तदा कालान्तरे न भवति नियतकालत्वात्। तथा च श्रूयते—तस्मात्कुमारं जातं घृतं वै वाऽग्ने प्रतिलेहयन्ति स्तनं वाऽनुधापयन्तीति। अयमर्थः श्रुतेः—तस्मात् कुमारं बालं जातं घृतं चैव त्रैवर्णिका जातकर्मणि जातरूपसहितं प्रतिलेहयन्ति प्राशयन्ति स्तनं वा अनुधापयन्ति पश्चात्पाययन्तीति। अपीतस्तनस्यैतदिति गम्यते ॥ १।१६।४ ॥

अनुवाद—सोने से आच्छादित अनामिका अंगुली से विषम मात्रा में मधु और घीं मिले हुए अथवा केवल घी से ही 'भुवस्त्वयि···' इत्यादि मंत्र का उच्चारण करते हुए एक बार या चार बार पिता बालक को प्राशन कराए (चटाए)।

मन्त्रार्थ—भू आदि व्याहृतित्रय से तीनों वेदों को मैं तुममें स्थापित करता हूँ। अथवा सम्पूर्ण विशेषणों से युक्त अथर्ववेद को तुममें स्थापित करता हूँ।

अथास्याऽऽयुष्यं करोति ॥ १।१६।५ ॥

नाभ्यां दक्षिणे वा कर्णे जपति—अग्निरायुष्मान्त्स वनस्पतीभिरायुष्मांस्तेन त्वाऽऽयुषाऽऽयुष्मन्तं करोमि। सोम आयुष्मान्त्स ओषधीभिरायुष्मांस्तेन त्वाऽऽयुषाऽऽयुष्मन्तं करोमि। ब्रह्मायुष्मत्तद्ब्राह्मणैरायुष्मत्तेन त्वाऽऽयुषाऽऽयुष्मन्तं करोमि। देवा आयुष्मन्तस्तेऽमृतेनाऽऽयुष्मन्तस्तेन त्वाऽऽयुषाऽऽयुष्मन्तं करोमि। ऋषय आयुष्मन्तस्ते व्रतैरायुष्मन्तस्तेन त्वाऽऽयुषाऽऽयुष्मन्तं करोमि। पितर आयुष्मन्तस्ते स्वधाभिरायुष्मन्तस्तेन त्वाऽऽयुषाऽऽयुष्मन्तं करोमि। यज्ञ आयुष्मान्त्स दक्षिणाभिरायुष्मांस्तेन त्वाऽऽयुषाऽऽयुष्मन्तं करोमि। समुद्र आयुष्मान्त्स स्रवन्तीभिरायुष्मांस्तेन त्वाऽऽयुषाऽऽयुष्मन्तं करोमीति त्रिस्त्रिः ॥ १।१६।६ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अथास्या·····जपति'। अथ मेधाजननानन्तरम् अस्य कुमारस्यायुष्यमायुषे हितं जीवनवर्द्धनं कर्म करोति। तद्यथा नाभिदेशे दक्षिणे वा श्रवणे नाभ्यां दक्षिणे वा कर्णे इति समीपाधिकरणा सप्तमी, गङ्गायां घोष इतिवत्। तेन नाभिसमीपे दक्षिणकर्णसमीपे वा जपति 'अग्निरायुष्मान्' इत्यादिकान् मन्त्रान् त्रिर्जपति त्रीन् वारान् उपांशु पठति। अग्निसोमब्रह्मदेवऋषिपितृयज्ञसमुद्र इत्यन्तान् ॥१।१६।५-६॥

(गदाधरभाष्यम्)—आयुष्यकरणमाह—'अथास्यायुष्यं···करोमीति त्रिस्त्रिः'। अथ मेधाजननोत्तरम् अस्य शिशोरायुष्यनामकं कर्म आयुषे हितम् आयुष्यं कर्म करोति। नाभ्यामिति अधिकरणसप्तम्यभावात्समीपसप्तमीयं यथा गङ्गायां घोषः तेन पिता बालक

नाभेः कर्णस्य वा समीपे स्थित्वा अग्निरायुष्मानित्यष्टौ मन्त्रान् त्रिर्जपति। मन्त्रार्थः—अग्निः कारणात्मना आयुष्म नस्ति। स च वनस्पतीभिरिध्मसमिद्भिरिष्ट आयुष्मत्वहेतुर्भवति—वनस्पतिभिः कृत्वा वा। तेन अग्न्यायुषा त्वा त्वाम् आयुष्मन्तं निर्दुष्टदीर्घायुषं करोमीति वाक्यार्थं उत्तरत्रापि सम्बध्यते। एवं सोमोऽपि व्याख्येयः। स च ओषधीभिः सन्धिरार्षः २। ब्रह्म वेदः ब्राह्मणैरध्येतृभिः ३। देवा अमृतेन सुधया ४। ऋषयो व्रतैः कृच्छ्रादिभिः ५। पितरः स्वधाभिः पितृदेयं स्वधोच्यते ६। यज्ञो दक्षिणाभिः परिक्रयद्रव्यैः ७। समुद्रः स्रवन्तीभिर्नदीभिरित्येतावान्विशेषः ८ ॥१।१६।५-६॥

अनुवाद—जातकर्म के बाद उत्पन्न बालक का जीवन-वर्द्धन कर्म पिता करे। जातक की नाभि में अथवा दाहिने कान में—'अग्निरायुष्मान्…' इत्यादि आठों मंत्रों का पिता तीन-तीन बार उपांशु जप करे।

मन्त्रार्थ—अग्नि वनस्पतियों से, सोम औषधियों से, ब्रह्म ब्राह्मणों से, देवता अमृत से, ऋषि व्रतों से, पितृगण स्वधा से, यज्ञ दक्षिणा से, समुद्र नदियों से जैसे आयुष्मान् हैं, उसी प्रकार उन पदार्थों से मैं तुम्हें आयुष्मान् करता हूँ।

त्र्यायुषमिति च ॥ १।१६।७ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'त्र्यायुषमिति च'। ततः त्र्यायुषं जमदग्नेरित्यादि तन्नो अस्तु त्र्यायुषमित्यन्तं च मन्त्रं तथैव त्रिर्जपति। इदं चायुष्यकरणं कालातिक्रमेऽपि क्रियते। मेधाजननं तु मुख्यकालातिक्रमान्निवर्तते तस्मात्कुमारं जातं घृतं वै वाऽग्रे प्रतिलेहयन्ति स्तनं वाऽनुधापयन्तीति जातमात्रस्य कुमारस्य श्रुत्या मेधाजननोपदेशात् ॥ १।१६।७ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'त्र्यायुषमिति च'। त्र्यायुषं जमदग्नेरिति मन्त्रं चकारात् त्रिर्जपेत् नाभ्यां दक्षिणे वा कर्णे। यदि दैवान्मानुषाद्वाऽपचारान्मेधाजननं स्वकाले न कृतं तथाप्यायुष्यकरणं कालान्तरे भवत्येव ॥ १।१६।७ ॥

अनुवाद—तथा 'त्र्यायुषम्…' इत्यादि मन्त्र का भी तीन बार पाठ करे।

(मन्त्र)—त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्।
यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम् ॥ (य० सं० ३।६८)

मन्त्रार्थ—(ऋषि नारायण, छन्द उष्णिक्, देवता आशीः।) यमदग्नि और कश्यप आदि ऋषियों तथा देवताओं की तीनों अवस्थाओं का सारभूत अंश हमें प्राप्त हो।

स यदि कामयेत सर्वमायुरियादिति वात्सप्रेणैनमभिमृशेत् ॥१।१६।८॥
दिवस्परीत्येतस्यानुवाकस्योत्तमामृचं परिशिनष्टि ॥ १।१६।९ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'स यदि……भिमृशेत्'। स पिता यदीच्छेदयं कुमारः सर्वं सम्पूर्णमायुर्जीवितम् इयात् प्राप्नुयात् इत्येवं तदा वात्सप्रेण वात्सप्रिणाभालन्दनेन दृष्टेनानुवाकेन दिवस्परीत्यादिद्वादशर्चैः एनं कुमारम् अभि समन्ततः सर्वं शरीरमालभेत। तत्र विशेषमाह—'दिवस्प……शिनष्टि'। दिवस्परीत्यादिको द्वादशर्चोऽनु-

वाको वात्सप्रः एतस्य ;उत्तमामन्त्यां द्वादशीम् अस्ताव्यग्निरित्येतामृचं परिशिनष्टि व्युदस्यति तां परित्यज्य एकादशभिर्ऋग्भिरभिमृशेदित्यर्थः ॥ १।१६।८-९ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'स यदि······मभिमृशेत्' । संस्कारकर्ता यदि कामयेत अयं सर्वं सम्पूर्णं शतवर्षमायुर्जीवितमियात्प्राप्नुयात्तदा वात्सप्रेणैनं कुमारमभिमृशेत् । वात्सप्रभेदात्संशयः किं दिवस्परीत्येतेन वात्सप्रेण किमुपप्रयन्तो अध्वरमित्येतेनेति संशयनिवृत्त्यर्थमाह—'दिवस्प······शिनष्टि' । दिवस्परि प्रथमं जज्ञे इत्येतस्यानुवाकस्योत्तमामृचम् अस्ताव्यग्निरित्येतां परिशेषयित्वा वर्जयित्वाऽवशिष्टं वात्सप्रमुच्यते । यत एकादशसु ऋक्षु वात्सप्रशब्दः प्रसिद्धः । अथ वात्सप्रेणोपतिष्ठत इति प्रकृत्य भवति वाक्यशेषोऽथ यत्त्रिष्टुप् यदेकादश तेनेति वा । वात्सप्रद्वयसद्भावेऽपि अग्निप्रकरणस्थवात्सप्रग्रहणं वाक्यशेषात् । तस्मात्तं जातं कामयेत सर्वमायुरियादिति वात्सप्रेणैनमभिमृशेदिति ॥ १।१६।८-९ ॥

अनुवाद—पिता यदि इच्छा करे कि पुत्र सम्पूर्ण आयु प्राप्त करे तो 'दिवस्परि···' से 'उशिजो विवव्रुः···' तक वत्सप्रीभलिन्दन ऋषि के द्वारा दृष्ट ११ ऋचाओं वाले वात्सप्र अनुवाक को पढ़कर उसका स्पर्श करे । किन्तु अनुवाक की अन्तिम ऋचा 'अस्ताव्यग्नि···' छोड़ दी जाये ।

टिप्पणी—वात्सप्र अनुवाक के निम्नलिखित ११ मंत्र हैं (य० सं० १२।१८-२८)—

दिवस्परि प्रथमं जज्ञेऽअग्निरस्मद्द्वितीयं परिजातवेदाः ।
तृतीयमप्सु नृमणाऽअजस्रमिन्धानऽएनञ्जरते स्वाधीः ॥ १ ॥
विद्मा ते अग्ने त्रेधा त्रयाणि विद्मा ते धाम विभृता पुरुत्रा ।
विद्मा ते नाम परमं गुहायद्विद्मा तमुत्सं यतऽआजगन्थ ॥ २ ॥
समुद्रे त्वा नृमणा अप्स्वन्तर्नृचक्षा ईधे दिवोऽअग्नऽऊधन् ।
तृतीये त्वा रजसि तस्थिवासमपामुपस्थे महिषाऽअवर्धन् ॥ ३ ॥
अक्रन्ददग्निः स्तनयन्निव द्यौः क्षामा रेरिहद्वीरुधः समञ्जन् ।
सद्यो जज्ञानो वि हीमिद्धोऽअख्यदारोदसी भानुना भात्यन्तः ॥ ४ ॥
श्रीणामुदारो धरुणो रयीणां मनीषाणां प्रार्पणः सोमगोपाः ।
वसुः सूनुः सहसोऽअप्सु राजा विभात्यग्रऽउषसामिधानः ॥ ५ ॥
विश्वस्य केतुर्भुवनस्य गर्भऽआ रोदसीऽअपृणाज्जायमानः ।
वीडुं चिदद्रिमभिनत्परायञ्जना यदग्निमयजन्त पञ्च ॥ ६ ॥
उशिक् पावकोऽअरतिः सुमेधामर्त्तेष्वग्निरमृतोनिधायि ।
इयर्ति धूममरुषं भरिभ्रदुच्छुक्रेण शोचिषा द्यामिनक्षन् ॥ ७ ॥
दृशानो रुक्मऽउर्व्या व्यद्यौद्दुर्मर्षमायुः श्रिये रुचानः ॥
अग्निरमृतोऽअभवद् वयोभिर्यदेनं द्यौरजनयत्सुरेताः ॥ ८ ॥
यस्ते अद्य कृणवद्भद्रशोचेऽपूपं देव घृतवन्तमग्ने ।
प्र तं नय प्रतरं वस्योऽअच्छाभि सुम्नं देवभक्तं यविष्ठ ॥ ९ ॥

आ तंभज सौश्रवसेष्वग्नऽउक्थऽउक्थआभज शस्यमाने ॥
प्रियः सूर्ये प्रियोऽअग्ना भवात्युज्जातेन भिनवदुज्जनित्वैः ॥ १० ॥
त्वामग्ने यजमानाऽअनु द्यून्विश्वा वसु दधिरे वार्याणि ।
त्वया सह द्रविणमिच्छमाना व्रजं गोमन्तमुशिजो विवव्रुः ॥ ११ ॥

प्रतिदिशं पञ्च ब्राह्मणानवस्थाप्य ब्रूयादिममनुप्राणितेति ॥१।१६।१०॥

(हरिहरभाष्यम्)—'प्रतिदिशं····· मानेषु' इत्यन्तं सूत्रम् । कुमारस्य प्रतिदिशं दिशं दिशं प्रति चतसृषु दिक्षु प्राच्यादिषु मध्ये च यथाक्रमं पञ्च ब्राह्मणानवस्थाप्य सन्निवेश्य कुमाराभिमुखांस्तान्प्रति ब्रूयात् । किम् ? इममनुप्राणितेति ॥ १।१६।१० ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'प्रतिदिशं···प्राणितेति' । ततः संस्कारकर्ता कुमारस्य प्रतिदिशं प्राच्यादिषु चतसृषु दिक्षु मध्ये च एवं पञ्च ब्राह्मणानवस्थाप्य स्थापयित्वा तान्प्रति इममनुप्राणितेति प्रैषं ब्रूयात् ॥ १।१६।१० ॥

अनुवाद—प्रत्येक दिशा में एक-एक कर कुल पांच ब्राह्मणों को बिठाकर पिता उनसे आग्रह करे—आप इस बालक को प्राणशक्ति से युक्त करें ।

पूर्वो ब्रूयात् प्राणेति ॥ १।१६।११ ॥
व्यानेति दक्षिणः ॥ १।१६।१२ ॥
अपानेत्यपरः ॥ १।१६।१३ ॥
उदानेत्युत्तरः ॥ १।१६।१४ ॥
समानेति पञ्चम उपरिष्टादवेक्षमाणो ब्रूयात् ॥ १।१६।१५ ॥
स्वयं वा कुर्यादनुपरिक्राममविद्यमानेषु ॥ १।१६।१६ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—इमं कुमारमनुप्राणितानुलक्षीकृत्य प्राणेत्यादि ब्रूत इति प्रैषः । ततः प्रेषिता ब्राह्मणाः पूर्वादिक्रमेण प्राणेति कुमारं लक्षीकृत्य पूर्वो ब्रूयात्—व्यानेति, दक्षिणो ब्राह्मणः अपानेति, पश्चिमः उदानेत्युत्तरः समानेति, पञ्चम उपरिष्टादूर्ध्वमवेक्षमाणः । अविद्यमानेषु असत्सु ब्राह्मणेषु स्वयं वा स्वयमेव अनुप्राणनं कुर्यात् । कथम् ? अनुपरिक्रामं परिक्रम्य परिक्रम्य पूर्वादिकां दिशं प्राणेत्यादि । अनुपरिक्राममिति णमुलन्तम् । अस्मिन्पक्षे प्रैषाभावः ॥ १।१६।११-१६ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—ततस्ते प्रेषिताः पूर्वादिक्रमेण कुमारं लक्षीकृत्य प्राणेति पूर्वो ब्रूयात् । व्यानेति दक्षिणः । अपानेति पश्चिमः । उदानेत्युत्तरः । समानेति पञ्चम उपरिष्टाद् बालकमवेक्षमाणो ब्रूयात् । तस्मात्पुत्रं जातमकृत्तनाभिं पञ्च ब्राह्मणान् ब्रूयादित्येनमनुप्राणितेति श्रुतत्वात् । मन्त्रार्थः—इमं कुमारमनुलक्षीकृत्य भो ब्राह्मणाः ! प्राणित यूयं सर्वे प्राणादिपञ्चवायुयुक्तं कृत्वा दीर्घायुष्ट्वेनायुष्मन्तं कुरुत । कोष्ठस्थितो वायुर्मुखनासिकाभ्यां निःसरन् प्राणः पुनस्तेनैव मार्गेणान्तःप्रविशन्नपानः । प्राणो रेचकः । अपानः पूरकः । तयोर्वा अधः सन्धिः सन्धानं व्यानः कुम्भकरूपः । उत्क्रमणादिरूर्ध्वगतिरुदानः । देहस्थितस्याशितपीतस्यान्नरसस्य सर्वाङ्गेषु समनयनात्समानः । 'स्वयं वा···

मानेषु'। अविद्यमानेषु ब्राह्मणेषु स्वयमेव पिताऽनुप्राणनं कुर्यादनुपरिक्रामं पूर्वादिकां दिशं परिक्रम्य परिक्रम्य। यद्यु तान्न विन्देदपि स्वयमेवानुपरिक्रामममनुप्राण्यादिति श्रुतत्वात्। अस्मिन्पक्षे इममनुप्राणितेति प्रैषनिवृत्तिः। स्वात्मनि स्वकर्तृकप्रेरणा-सम्भवात् ॥ १।१६।११-१६ ॥

अनुवाद—पूर्व में बैठा हुआ ब्राह्मण 'प्राण' कहे, दक्षिण में बैठा हुआ ब्राह्मण 'व्यान' कहे, पश्चिम में बैठा हुआ ब्राह्मण 'अपान' कहे, उत्तर में बैठा हुआ ब्राह्मण 'उदान' कहे तथा बीच में बैठा हुआ ब्राह्मण 'समान' कहे। यदि इतने ब्राह्मण एक साथ न मिलें तो शिशु के पिता स्वयं पाँचों दिशाओं में क्रमशः जाकर उपरोक्त कर्म सम्पादित करें।

स यस्मिन् देशे जातो भवति तमभिमन्त्रयते वेद ते भूमि हृदयं दिवि चन्द्रमसि श्रितम्। वेदाहं तन्मां तद् विद्यात् पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतमिति ॥ १।१६।१७ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'स यस्मि'''मन्त्रयते'। स कुमारः यस्मिन्देशे भूभागे उत्पन्नः पतति तं देशमभिमन्त्रयते हस्तेन स्पृशति वेद ते भूमि इत्यादि शरदःशतमित्यन्तेन मन्त्रेण ॥ १।१६।१७ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'स यस्मिन्''''''शतमिति'। स बालो यस्मिन्प्रदेशे भूभागे जातो भवति उत्पन्नो भवति तं देशमभिमन्त्रयते वेदते भूमिहृदयमिति मन्त्रेण हस्तेन स्पृशति। मन्त्रार्थः—हे भूमे ! कुमारजन्मप्रदेश ! ते तव हृदयमन्तःकरणं भूमिर्वेद यत्र विद्यते गुप्तम्। विसर्गाभावश्छान्दसः। किम्भूतं दिवि द्युलोके वर्तमाने चन्द्रमसि श्रितं कृष्णीभावेन देवयज्ञरूपस्थानमसुरजयार्थं गोपितं तत्प्रदेशोपलक्षितं, तदेतच्चन्द्रमसि कृष्णमिति श्रुतेः। तत्कर्मभूतमहं वेद जानामि। तत्कर्तृभूतम् एवं पुनरुपकर्तुं मां विद्याज्जानातु। अतस्त्वद्दत्तपुत्रेण सह वयं पश्येमेत्याद्युक्तार्थम् ॥ १।१६।१७ ॥

अनुवाद—शिशु के जन्म स्थान का स्पर्श कर पिता 'वेद ते''' ' इत्यादि मंत्र पढ़े।

मन्त्रार्थ—(ऋषि प्रजापति, छन्द अनुष्टुप्, देवता भूमि।) हे वसुन्धरे ! यह शिशु तुम्हारे हृदय से परिचित है, आकाश और चन्द्रमा में आश्रित चित्त का ज्ञान मुझे है, उसी तरह यह शिशु मुझे भी जाने। मैं सौ शरद तक देखूँ, सौ शरद तक जीऊँ, सौ शरद तक सुनूँ।

अथैनमभिमृशत्यश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमस्तुतं भव। आत्मा वै पुत्र-नामासि स जीव शरदः शतमिति ॥ १।१६।१८ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अथैन '''''शतमिति'। अथ जन्मदेशाभिमन्त्रणानन्तर-मेनं कुमारं पिता अभिमृशति समन्ततः सर्वशरीरे स्पृशति। अश्मा भवेत्यादिना सजीव शरदः शतमित्यन्तेन मन्त्रेण। वात्सप्राभिमर्शनादि एतदभिमर्शनान्तं कालव्यति-क्रमेऽपि क्रियते संस्कारकर्मत्वात् ॥ १।१६।१८ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—अथैन······शतमिति' । अथैनं कुमारं पिता अभिमृशति हस्तेन स्पृशत्यश्मा भवेति मन्त्रेण । हृदि स्पृशतीति जयरामः । मस्तके इति कारिकायाम् । सर्वशरीरे इति हरिहरः । श्रुतिः । 'अथैन······भवेति' । वात्सप्रावेतदभिमर्शनान्तं कालातिक्रमेऽपि कर्म भवति संस्कारत्वात् । मंन्त्रार्थः—हे कुमार ! त्वं अश्मा पाषाण इव दृढः स्थिरश्च । परशुरिव वज्र इवापकर्तृनाशको भव । किञ्च—अस्रुतमनभिभूतमप्रच्युतस्वरूपमिति यावत् । हिरण्यं हिरण्यवत्तेजोयुक्तश्च ग्रहणीयश्च भव । यथा धात्वन्तरामिश्रितं सुवर्णं भवति तथा त्वमपि रोगाद्युपद्रवेण हीनो भवेत्यर्थः । यतस्त्वं पुत्रनामा आत्माऽसि देहः सन् वै निश्चये पुत्रेति संज्ञामात्रेण भिन्नोऽसि न तु स्वरूपेण स त्वं शतं शरदो जीव ॥ १।१६।१८ ॥

अनुवाद—इसके बाद पिता उस बालक को छूकर 'अस्मा···' इत्यादि मंत्र पढ़े ।

मन्त्रार्थ—(ऋषि प्रजापति, छन्द अनुष्टुप्, देवता लिङ्गोक्त ।) हे कुमार ! तुम स्पर्शमणि की तरह सुदृढ़ अंग वाले और प्रिय बनो । कुठार की तरह शत्रु का विनाश करो । सोने की तरह तेजस्वी और स्पृहणीय बनो । पुत्र रूप में तुम वस्तुतः हमारी आत्मा ही हो । तुम्हे सौ वर्ष की आयु प्राप्त हो ।

अथास्य मातरमभिमन्त्रयते–इडासि मैत्रावरुणी वीरे वीरमजीजनथाः । सा त्वं वीरवती भव याऽस्मान् वीरवतोऽकरदिति ॥ १।१६।१९ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अथास्य······ऽकरदिति' । अथ कुमाराभिमर्शनानन्तरमस्य कुमारस्य जननीमभिमन्त्रयते अभिलक्षीकृत्य । इडासीत्यादिना वीरवतोऽकरदित्यन्तेन ॥ १।१६।१९ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'अथास्य मात······ऽकरदिति' । अथास्य कुमारस्य मातरं जननीमभिमुखो भूत्वा मन्त्रयते । मन्त्रश्रावणेन संस्करोति इडासीति मन्त्रेण । अथास्य मातरमभिमन्त्रयते इडाऽसि मैत्रावरुणीति श्रुतेः । मन्त्रार्थः—हे वीरे ! वीरवति पुत्रवतीति यावत् । त्वम् इडा मानवी यज्ञपात्री तद्गतद्रव्यं वाऽसि । मैत्रावरुणी मित्रावरुणयोरंशोत्पन्ना । यथेडायां पुरूरवा उत्पन्नः यथा च यज्ञपात्र्यां तद्गतद्रव्ये वा पुरोडाशो भवति तथा त्वय्यपि तादृशाः स्वर्गादिसाधनपराः पुत्राः सन्त्वित्यभिप्रायः । यतस्त्वं वीरं पुत्रमजीजनथाः असौषीः । अतः सा त्वं वीरवती पतिपुत्रवती भव । या त्वमस्मान्वीरवतः पुत्रवतः पुत्रयुक्तान् अकरत् अकरोः कृतवत्यसि ॥ १।१६।१९ ॥

अनुवाद—कुमार को छूने के बाद अब उसकी माता को "इड़ासि···" मंत्र पढ़ते हुए अभिमंत्रित करे ।

मन्त्रार्थ—(ऋषि प्रजापति, छन्द अनुष्टुप्, देवता इड़ा ।) अरी ओ वीरमाता ! तुम मित्रावरुण देवताओं के अंश से उत्पन्न बुद्धिस्वरूपा मानव रूप में यज्ञ की पात्र हो, तुमने वीर पुत्र को जन्म दिया तथा मुझे ऐसे वीरपुत्र के पिता बनने का गौरव प्रदान किया है, इसके बाद भी जो पुत्र तुमसे उत्पन्न होगा वह भी वीर होगा ।

अथास्यै दक्षिणꣳ स्तनं प्रक्षाल्य प्रयच्छतीमꣳ स्तनमिति ॥ १।१६।२० ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अथास्यै······स्तनमिति' । अथाभिमन्त्रणं कृत्वा अस्यै अस्याः मातुर्दक्षिणं स्तनं प्रक्षाल्य धावयित्वा कुमाराय ददाति इमꣳ स्तनमित्येतयर्चा ॥ १।१६।२० ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'अथास्यै······स्तनमिति' । अथास्यै अस्या मातुर्दक्षिणं स्तनं प्रक्षाल्य उदकेन क्षालयित्वा पिता कुमाराय पानाय प्रयच्छति ददाति इमꣳ स्तनमिति मन्त्रेण । अथैनं मात्रे प्रादाय स्तनं प्रयच्छतीति श्रवणात् । स्तनसमर्पणं चापीतस्तनस्य भवति ॥ १।१६।२० ॥

अनुवाद—इसके बाद 'इमं स्तनं···' इत्यादि मंत्र पढ़कर माँ का दाहिना स्तन धोकर बालक के मुख में दे ।

(मन्त्र)—इमं स्तनमूर्जस्वन्तं धयापां प्रपीनमग्ने सरिरस्य मध्ये ।
उत्सं जुषस्व मधुमन्तमर्वन्त्समुद्रियं सदनमाविशस्व ॥ (य०सं० १७।८७)

मन्त्रार्थ—विशिष्ट रसवान् तथा घृत से भरे हुए इस स्रुक् रूप स्तन का पान करो । हे अर्वन् ! लोक के मध्य इस मधुमय स्रोत का आस्वादन करो । हे अग्ने ! तृप्त होकर तुम चयनयाम सम्बन्धी अपने इस गृह में प्रवेश करो ।

यस्ते स्तन इत्युत्तरमेताभ्याम् ॥ १।१६।२१ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—तत उत्तरं वामं स्तनं प्रक्षाल्य प्रयच्छति यस्ते स्तन इमꣳ स्तनमित्येताभ्यामृग्भ्याम् ॥ १।१६।२१ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'यस्ते स्तन इत्युत्तरमेताभ्याम्' । ततः पिता उत्तरं वामं स्तनं इमꣳस्तनं यस्तेस्तन इत्येताभ्यामृग्भ्यां प्रयच्छति कुमारायेत्यर्थः । अत्र द्विवचनोपदेशादिमꣳस्तनमित्येव द्वितीया ॥ १।१६।२१ ॥

अनुवाद—इसी तरह 'यस्ते स्तन···' मन्त्र पढ़कर माँ के बाँयें स्तन को भी धोकर शिशु के मुख में डालना चाहिए ।

(मन्त्र) यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः ।
येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवेऽकः । उर्वन्तरिक्षमन्वेमि ॥
(य० सं० ३८।५)

मन्त्रार्थ—(ऋषि दीर्घतमा, छन्द त्रिष्टुप्, देवता वाक् ।) माँ सरस्वति ! तुम हमें उस स्तन का दूध पिलाओ, जो अभुक्त, सुखद, रत्नराशियों का केन्द्र, धनज्ञ और उदार दानी है, जिस स्तन से तुम विश्व की सभी श्रेष्ठ और रमणीय वस्तुओं को पुष्ट करती हो । मैं उसी स्तन को जो मेरे जीवन का स्रोत है, इस विशाल अन्तरिक्ष में खोज रहा हूँ ।

उदपात्रꣳ शिरस्तो निदधात्यापो देवेषु जाग्रथ, यथा देवेषु जाग्रथ । एवमस्याꣳ सूतिकायाꣳ सपुत्रिकायां जाग्रथेति ॥ १।१६।२२ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'उदपात्रꣳ······जाग्रथेति' । उदपात्रं जलपूर्णपात्रं शिरस्तः शिरःप्रदेशे कुमारस्य निदधाति स्थापयति । आपो देवेष्वित्यादिना जाग्रथेत्यन्तेन मन्त्रेण ॥ १।१६।२२ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'उदपात्रं ...... जाग्रथेति' । तत उदपात्रं सजलं शरावं शिरस्तः सूतिकायाः शिरःप्रदेशे खट्वाधस्तान्निदधाति आपोदेवेष्विति मन्त्रेण । तच्चोत्थानपर्यन्तं तत्रैव तिष्ठति । मन्त्रार्थः—हे आपः ! जीवनहेतवः यूयं देवेषु देवकार्यनिमित्तं जाग्रथ तत्साधनत्वेन तिष्ठथ । अतो यथा देवेषु जाग्रथ एवं तथाऽस्यां सूतिकायां सूतिकाया हिते जाग्रथ जाग्रतेत्यर्थः । पुरुषव्यत्ययच्छान्दसः । किम्भूतायां पुत्रादिसहितायाम् ॥ १।१६।२२ ॥

अनुवाद—'आपो देवेषु....' इत्यादि मंत्र पढ़ते हुए सूतिका के सिरहाने जलपूर्ण पात्र रख दे ।

मन्त्रार्थ—हे जल ! तुम देवताओं के प्रति जिस प्रकार जागरूक रहते हो, उसी तरह इस पुत्रवती सूतिका में सदैव जागरूक रहो ।

द्वारदेशे सूतिकाग्निमुपसमाधायोत्थानात् सन्धिवेलयोः फलीकरणमिश्रान् सर्षपानग्नावावपति—शण्डामर्का उपवीरः शौण्डिकेय उलूखलः। मलिम्लुचो द्रोणासश्च्यवनो नश्यतादितः स्वाहा। आलिखन्ननिमिषः किंवदन्त उपश्रुतिर्हर्यक्षः कुम्भी शत्रुः पात्रपाणिर्नृमणिर्हन्त्रीमुखः सर्षपारुणश्च्यवनो नश्यतादितः स्वाहेति ॥ १।१६।२३ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'द्वारदेशे ...... शण्डामर्का' इत्यादि । ततः पञ्च भूसंस्कारपूर्वकं द्वारदेशे सूतिकागृहस्य सूतिकाग्निं स्थापयित्वा ओत्थानात् उत्थानं यावत् सन्धिवेलयोः सायं प्रातः फलीकरणमिश्रान् फलीकरणैः तण्डुलकणैः मिश्रान् युक्तान् सर्षपान् तस्मिन्नग्नौ आवपति जुहोति द्वे आहुती शण्डामर्का इति आलिखन्ननिमिष इति द्वाभ्यां मन्त्राभ्याम् । आवपनोपदेशाद् होमेतिकर्तव्यतानिवृत्तिः ॥ १।१६।२३ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'द्वारदेशे ...... दितःस्वाहेति' । सूतिकागृहस्य द्वारदेशे पञ्च भूसंस्कारान् कृत्वा तत्र सूतिकाऽग्निमुपसमाधाय स्थापयित्वोत्थानात् आउत्थानात् उत्थानं यावत् सन्धिवेलयोः सायम्प्रातः फलीकरणैः तण्डुलकणैर्मिश्रान् युक्तान् सर्षपान् तस्मिन्नग्नौ आवपति प्रक्षिपति शण्डामर्का इति द्वाभ्यां मन्त्राभ्याम् । सूतिकाग्नेर्ग्रहणम् आवसथ्याग्निनिवृत्त्यर्थमिति भर्तृयज्ञः । अत्र आवपनोपदेशाद्धोमेतिकर्तव्यता न भवति । अत्राग्नेर्देवतात्वं जयरामाचार्या वदन्ति । तथा कारिकायाम्—अनयोर्देवताग्निः स्यान्मन्त्रोक्ताः कैश्चिदीरिताः इति । एतच्च स्वकाले एव भवति नियतकालत्वात् । मन्त्रार्थः—शण्डाः शण्डः मर्काः मर्कः तत्र शृणोतीति शण्डो बालग्रहः स्वस्थानात् नश्यतात् अपगच्छतु अयं च वाक्यार्थ उत्तरत्रापि योज्यः । मारयतीति मर्कः । उपघाते वीरः समर्थं उपवीरः विघ्नकुशलः शौण्डिकेयः। आश्रितपातक उलूखलः । अप्रतिकार्यो मलिम्लुचः अतिमलिनाशय इत्यर्थः । दीर्घनासो द्रोणासः च्यावयत्यङ्गानीति च्यवनः । एते सर्वे मत्कृतावपनोपद्रुताः भीताश्चापसर्पन्त्वित्यर्थः । एवमा समन्ततो भावेन लिखन् भक्षयन् आस्ते स आलिखन् । पराभवितुमव्यवच्छिन्नदृष्टिरनिमिषः । उप समीपे श्रुत्वा अपकर्ता उपश्रुतिः । हर्यक्षः पिङ्गलनयनः । कुम्भयति स्तम्भयतीत्येवंशीलः कुम्भी ।

शातयतीति शत्रुः । पात्रहस्तः पात्रपाणिः नॄन्मिनोति हिनस्तीति नृमणिः । हन्त्री हिंसा हननं मुखे यस्यासौ हन्त्रीमुखः । सर्षपवदरुण उग्रो धूसरो वा सर्षपारुणः । च्यवत्यनेनेति च्यवनः । येनोपद्रुतश्च्यवति प्रकृतेः परिभ्रश्यतीत्यर्थः । इतः स्थानान्नश्यतादिति सर्वपदानामेवमेवान्वयः । गणमभिप्रेत्याह—किंवदन्त इति । एते सर्वे किंवदन्तः किंवदद्गणोऽयमित्यर्थः ॥ १।१६।२३ ॥

अनुवाद—सूतिका-गृह के द्वार पर 'सूतिकाग्नि' का आधान कर सूतक काल की समाप्ति तक प्रातः-सायं दोनों समय अक्षत मिले सरसों की दो आहुतियाँ 'शण्डामर्का···' एवं 'आलिखन्ननिमिषः···' इत्यादि मन्त्रों को पढ़कर देनी चाहिए ।

मन्त्रार्थ—(ऋषि प्रजापति, छन्द अनुष्टुप्, जाया देवता ।) नाशक, मारक, विघ्नकुशल, आश्रितघातक, अप्रतीकार्य, अत्यन्त मलिन बुद्धि, लम्बी नाक वाला और इन्द्रियों की शक्ति क्षीण करने वाला बालग्रह यहाँ से नष्ट हो जाय ।

चारों ओर चबाते हुए टकटकी लगाकर देखने वाला, अस्पष्ट ध्वनि वाला, पास आकर नुकसान पहुँचाने वाला, हरी-हरी आँखों वाला, रुकावट डालनेवाला, दुश्मन की तरह व्यवहार करनेवाला, हाथ में चिथड़े लिए हुए, किसी को नुकसान पहुँचाने की इच्छा रखने वाला, दिन-रात हिंसा में डूबा सरसो की तरह पीले रंगवाला, हमारी ताकत को विनष्ट करने वाला बालग्रह यहाँ से भाग जाय या विनष्ट हो जाय ।

यदि कुमार उपद्रवेज्जालेन प्रच्छाद्योत्तरीयेण वा पिताऽङ्क आधाय जपति—

कूर्कुरः सुकूर्कुरः कूर्कुरो बालबन्धनः ।
चेच्चेच्छुनक सृज नमस्ते अस्तु सीसरो लपेतापह्वर तत्सत्यम् ।
यत्ते देवा वरमवदुः स त्वं कुमारमेव वा वृणीथाः ॥
चेच्चेच्छुनक सृज नमस्ते अस्तु सीसरो लपेतापह्वर तत्सत्यम् ।
यत्ते सरमा माता सीसरः पिता श्यामशबलौ भ्रातरौ ।
चेच्चेच्छुनक सृज नमस्ते अस्तु सीसरो लपेतापह्वरेति ॥ १।१६।२४ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—नैमित्तिकमाह—'यदि···कूर्कुरः' इत्यादि । यदि चेत्कुमारो बालग्रहः तं बालमुपद्रवेत् अभिभवेत् तदा तं बालं जालेन मत्स्यग्रहणसाधनेन तदलाभे उत्तरीयेण वा वाससा प्रच्छाद्य छादयित्वा अङ्के उत्सङ्गे निधाय धृत्वा कूर्कुर इत्यादिकमपह्वरेत्यतं मन्त्रं जपति ॥ १।१६।२४ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'यदि कुमार······पह्वरेति' । कुमारशब्देन बालग्रहोऽभिधीयते । स यदि एनं बालमुपद्रवेद्विघ्नयेत् तदा एनं बालकं पिता जालेन प्रच्छाद्याच्छादयित्वा स्वोत्तरीयेण वा प्रच्छाद्याङ्के उत्सङ्गे निधाय कूर्कुर इति मन्त्रत्रयं जपति । जपान्ते एनं पिताऽभिमृशति ननामयतीति मन्त्रेण । मन्त्रार्थः—कूर्कुरो भषणाख्यो बालग्रहः । तथा सुकूर्कुरश्चातिभषणः । बालान्बध्नातीति बालबन्धनः । कूर्कुराख्यो बाल-

ग्रहः । सीसरोऽङ्गसारकः । हे शुनक ! तद्गणमुख्य ! लपेत लापनरोधकेति यावत् । अपह्वर गात्रापहारक । ह्वृ कौटिल्ये । ते तुभ्यं नमोऽस्तु । ततस्तुष्टश्चैनं कुमारं सृज मुञ्च । किं कुर्वन् ? चेच्चेच्छुश्छुः शब्दं कुर्वन् ॥ १ ॥ हे शुनक तत्सत्यं यत्ते तुभ्यं देवदूताय देवा वरमददुः दत्तवन्तः । स च त्वं हिंसाविहारः कुमारमेव वा वृणीथाः वृतवानसीति । शेषमुक्तार्थम् ॥ २ ॥ हे शुनक ! तत्सत्यं यत्ते तव सरमा देवशुनी माता सीसरो देवश्वा पिता । श्यामशबलौ च तव भ्रातराविति । शेषमुक्तार्थम् ॥ ३ ॥

अनुवाद—शिशु को यदि बालग्रह पीड़ित करें तो मछली पकड़ने के जाल से अथवा जाल नहीं मिलने पर अपनी चादर से उसे ढँक कर पिता अपने शिशु को गोद में रखकर 'कूर्कुरः···' इत्यादि मन्त्र का जप करें।

मन्त्रार्थ—(ऋषि प्रजापति, छन्द अनुष्टुप्, देवता शुनक ।) यह वालग्रह भयंकर ही नहीं, अति कठोर और कर्कश भी है । ओ जीभ के फैलाने वाले बालग्रह ! समूह के मुखिया शुनक ! तुम्हें मैं प्रणाम करता हूँ। तुम देह विनष्ट करने वाले हो । तुम मुझसे सन्तुष्ट होकर छू-छू करते हुए इस शिशु को छोड़ दो । यह सच है कि देवताओं ने तुम्हें वरदान दिया है । परन्तु क्या यह ठीक है कि उस वरदान के बल पर तुमने इस शिशु को ही आक्रान्त कर लिया है । अरे ओ शुनक ! यह भी सच है, कि देवताओं की कुतिया सरमा ने तुमको जन्म दिया है। यह भी सच है, कि तुम्हारे पिता देवताओं के कुत्ते सीसर हैं । मैं यह भी जानता हूँ, कि श्याम और शबल तुम्हारे भाई हैं । अब तुम्हारा कल्याण इसी में है कि तुम इस शिशु को अपने आक्रमण से मुक्त कर दो ।

अभिमृशति—

न नामयति न रुदति न हृष्यति न ग्लायति ।
यत्र वयं वदामो यत्र चाभिमृशामसीति । १।१६।२५ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—अभिमृशति न नामयतीति । जपान्ते कुमारस्य सर्वाङ्गमभिमृशति, न नामयतीत्यादि यत्र चाभिमृशामसीत्यन्तेन मन्त्रेणेति सूत्रार्थः ॥ १।१६।२५ ॥

अथ प्रयोगः । अथ प्रसवशूलवत्यभिमन्त्रणादि कुमारोपद्रवशमनान्तानां चतुर्दशानां प्रयोगः । सोष्यन्तीं स्त्रियमेजतु दशमास्य इत्यनयर्चा अस्रज्जरायुणा सहेत्यन्तया अद्भिरभ्युक्षति पतिः । ततः स्त्रीसमीपे अवैतु पृश्निशेवल१ꣳ शुने जराय्वत्तवे नैवमाꣳसेन पीवरीं न कस्मिंश्चनायतनमवजरायुपद्यतामित्यन्तमवरावपतनं मन्त्रं जपति । तत्र यदि कुमार उत्पद्यते तदा मातृपूजाभ्युदयिके विधाय अच्छिन्ने नाले मेधाजननायुष्ये करोति । तत्र मेधाजननं यथा—अनामिकयाऽङ्गुल्या सुवर्णेनान्तर्हितया मधुघृते मेलयित्वा केवलं घृतं वा कुमारं भूस्त्वयि दधामि भुवस्त्वयि दधामि स्वस्त्वयि दधामि भूर्भुवःस्वः सर्वं त्वयि दधामीत्यनेन मन्त्रेण सकृत्प्राशयति । अथायुष्यं करोति,

तद्यथा कुमारस्य नाभिसमीपे दक्षिणकर्णसमीपे वा अग्निरायुष्मानित्यादिकान् समुद्र आयुष्मानित्यन्तानष्टौ मन्त्रान् त्रिर्जपति। अग्निरायुष्मान्त्सवनस्पतीभिरायुष्मांस्तेन त्वायुषायुष्मन्तं करोमि। सोम आयुष्मान्त्सौषधीभिरायुष्माँस्तेन त्वायुषायुष्मन्तं करोमि। ब्रह्मायुष्मत्तद्ब्राह्मणैरायुष्मत्तेन त्वायुषायुष्मन्तं करोमि। देवा आयुष्मन्तस्तेऽमृतेनायुष्मन्तस्तेन त्वायुषायुष्मन्तं करोमि। ऋषय आयुष्मन्तस्ते व्रतैरायुष्मन्तस्तेन त्वायुषायुष्मन्तं करोमि। पितर आयुष्मन्तस्ते स्वधाभिरायुष्मन्तस्तेन त्वायुषायुष्मन्तं करोमि। यज्ञ आयुष्मान्त्स दक्षिणाभिरायुष्माँस्तेन त्वायुषायुष्मन्तं करोमि। समुद्र आयुष्मान्त्स स्रवन्तीभिरायुष्माँस्तेन त्वायुषायुष्मन्तं करोमि इति। ततस्त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषं यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषमिति। इति मन्त्रं त्रिर्जपति। स पिता यदि कामयेत अयं कुमारः सर्वमायुरियादिति तदा तं कुमारं दिवस्परीत्यारभ्य उशिजो विवव्रुरित्यन्तेन वात्सप्रसंज्ञकेनानुवाकेनाभिमृशेत्। अथ कुमारस्य पूर्वादिचतसृषु दिक्षु चतुरो ब्राह्मणान् एकं मध्ये च अवस्थाप्य इममनुप्राणितेति तान् ब्रूयात्। ततः पूर्वदिक्स्थितो ब्राह्मणः कुमारं लक्षीकृत्य प्राण इति। दक्षिणो व्यान इति। पश्चिमः अपान इति। उत्तर उदान इति। पञ्चमः समान इति उपरिष्टादवेक्षमाणो ब्रूयात्। अविद्यमानेषु तु ब्राह्मणेषु स्वयमेव तस्यां तस्यां दिशि कुमाराभिमुखं स्थित्वा प्राणेत्यादिपूर्वोक्तं ब्रूयात्। अस्मिन् पक्षे प्रैषो न। ततो यस्मिन्देशे कुमारो जातो भवति तं देशं वेद ते भूमि हृदयं दिवि चन्द्रमसि श्रितम्। वेदाहं तन्मां तद्विद्यात्पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शत६ शृणुयाम शरदः शतमित्यन्तेन मन्त्रेणाभिमन्त्रयते। अथैनं कुमारम् अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमस्रुतं भव। आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतमित्यन्तेन मन्त्रेणाभिमृशति। अथास्य कुमारस्य मातरमभिमन्त्रयते। इडासि मैत्रावरुणी वीरे वीरमजीजनथाः। सा त्वं वीरवती भव यास्मान्वीरवतोऽकरदित्यनेन मन्त्रेण। अथास्य कुमारस्य मातुः दक्षिणं स्तनं प्रक्षाल्य प्रयच्छति इम७ स्तनमित्येतयर्चा। तत उत्तरं वामं प्रक्षाल्य प्रयच्छति यस्ते स्तन इम७ स्तनमित्येताभ्यामृग्भ्याम्। ततः कुमारस्य शिरःप्रदेशे जलपूर्णं पात्रं निदधाति स्थापयति। आपो देवेषु जाग्रथ यथा देवेषु जाग्रथ एवमस्या७ सूतिकाया७ सुपुत्रिकायां जाग्रथेत्यनेन तदुदपात्रं प्रागुत्थानात्स्थापितमेव तिष्ठति। ततः सूतिकागृहस्य द्वारदेशे पञ्च भूसंस्कारान्कृत्वा सूतिकाग्निं स्थापयित्वा सायंप्रातः सन्ध्याद्वये फलीकरणमिश्रान् तण्डुलकणयुतान् सर्षपाँस्तस्मिन्नग्नौ हस्तेन जुहोति यावत्सूतिकोत्थानम्। कथं शण्डामर्का उपवीरः शौण्डिकेय उलूखलः मलिम्लुचो द्रोणासश्च्यवनो नश्यतादितः स्वाहा इत्यनेन मन्त्रेणैकामाहुतिम्। आलिखन्ननिमिषः किंवदन्त उपश्रुतिर्हर्यक्षः कुम्भी शत्रुः पात्रपाणिर्नृमणिर्हन्त्रीमुखः सर्षपारुणश्च्यवनो नश्यतादितः स्वाहा इत्यनेन द्वितीयाम्। इदमग्नये इत्युभयत्र त्यागः। यदि कुमारग्रहो बालमुपद्रवेत्तदा तं बालं जालेन उत्तरीयेण वा वस्त्रेण प्रच्छाद्य अङ्के गृहीत्वा पिता जपति। कूर्कुरः सुकूर्कुरः कूर्कुरो बालबन्धनः चेच्चेच्छुनक सृज नमस्ते अस्तु सीसरो लपेतापह्वर तत्सत्यम्। यत्ते देवा वरमददुः स त्वं कुमारमेव वा

वृणीथाः । चेच्चेच्छुनक सृज नमस्ते अस्तु सीसरो लपेतापह्वर तत्सत्यम् । यत्ते सरमा माता सीसरः पिता श्यामशबलौ भ्रातरौ चेच्चेच्छुनकसृज नमस्ते अस्तु सीसरो लपेतापह्वरेत्यन्तं मन्त्रं, न नामयति न रुदति न हृष्यति न ग्लायति यत्र वयं वदामो यत्र चाभिमृशामसीत्यनेन मन्त्रेण पिता कुमारमभिमृशति ॥

(गदाधरभाष्यम्)—न नामयतीत्यस्यार्थः । यत्रास्मिन्कुमारे वयं वदामो ब्रूमः साकाङ्क्षत्वान्मन्त्रम् । यत्र च अभिमृशामसि अभितः स्पर्शनं कुर्मः स कुमारो न नामयत्यङ्गानि शेषं स्पष्टम् ॥ १।१६।२५ ॥

अथ पदार्थक्रमः । सोष्यन्तीमद्भिरभ्युक्षत्येजतु दशमास्य इति । ततोऽवरावपतनमन्त्रजपः अवैतु पृश्निरिति । ततो जातमात्रे पुत्रे पिता तस्य मुखं निरीक्ष्य नद्यादावुदङ्मुखः स्नात्वा असम्भवे दिवाहृताभिः शीताभिरद्भिः सुवर्णयुताभिर्गृह एव स्नात्वाऽऽचम्य सितचन्दनमाल्यादिभिरलङ्कृतो नालच्छेदात्पूर्वं सूतकादिव्यतिरिक्तैरस्पृष्टमकृतस्तनपानं प्रक्षालितमलं कुमारं मातुरुत्सङ्गे प्राङ्मुखमवस्थाप्य ब्राह्मणैः सह पुण्याहवाचनं कृत्वा देशकालौ स्मृत्वा ममास्य कुमारस्य गर्भाम्बुपानजनितसकलदोषनिवर्हणायुर्मेधाभिवृद्धिबीजगर्भसमुद्भवैनोनिबर्हणद्वारा श्रीपरमेश्वरप्रीत्यर्थं जातकर्म करिष्ये इति सङ्कल्प्याभ्युदयिकश्राद्धं हिरण्येन कार्यम् । तत एकस्मिन्पात्रे मधुघृते मिश्रयित्वाऽनामिकया सुवर्णान्तर्हितया प्राशयति कुमारं भूस्त्वयि दधामि भुवस्त्वयि दधामि स्वस्त्वयि दधामि भूर्भुवःस्वः सर्वं त्वयि दधामीति मन्त्रेण । अथ वा केवलं घृतं प्राशयति । इदं मेधाजननम् । अथायुष्यकरणम्—तत्र बालकस्य नाभिसमीपे दक्षिणकर्णसमीपे वा अग्निरायुष्मानित्याद्यष्टौ मन्त्रान् त्रिर्जपेत् अग्निरायुष्मान्० करोमि १ सोम आयुष्मान्० २ ब्रह्म आयुष्मत् ३ देवा आयुष्मन्तः ४ ऋषय आयुष्मन्तः ५ पितर आयुष्मतः ६ यज्ञ आयुष्मान् ७ समुद्र आयुष्मान् ८ ततस्त्र्यायुषमिति च त्रिर्जपेत् । इत्यायुष्यकरणम् । पिता यदि कामयेदयं कुमारः सर्वमायुरियात्तदैनं दिवस्परीत्येकादशभिरभिमृशेत् । ततो बालकस्य पूर्वादिदिक्षु चतसृषु चतुरो ब्राह्मणानेकं मध्ये चावस्थाप्य इममनुप्राणितेति प्रैषः । ततः पूर्वदिक्स्थितः प्राणेति ब्रूयात्, व्यानेति दक्षिणः, अपानेत्यपरः, उदानेत्युत्तरः, समानेति पञ्चम उपरिष्टादवेक्षमाणो ब्रूयात् । अविद्यमानेषु विप्रेषु स्वयमेवानुपरिक्रम्य परिक्रम्य प्राणेत्यादि ब्रूयात् । नात्र प्रैषः । ततो जन्मभूमेरभिमन्त्रणं वेद ते भूमिरिति । ततो बालाभिमर्शनमश्मा भवेति । ततः कुमारमातुरभिमन्त्रणमिडासि मैत्रावरुणीति । ततो मातुर्दक्षिणं स्तनं प्रक्षाल्य कुमाराय प्रयच्छतीमꣳस्तनमिति । ततो यस्तेस्तन इमꣳस्तनमिति मन्त्राभ्यां सव्यं स्तनं प्रयच्छति । कालातिक्रमे स्तनप्रदानाभावः । अत्र कारिकायां विशेषः—'अत्र दद्यात्सुवर्णं वा भूमिं गां तुरगं रथम् । छत्रं छागं वस्त्रमाल्यं शयनं चासनं गृहम् ॥ धान्यं गुडतिलान्सर्पिरन्यद्वाऽस्ति गृहे वसु । आयान्ति पितरो देवा जाते पुत्रे गृहं प्रति ॥ तस्मात्पुण्यमहः प्रोक्तं भारते चादिपर्वणि । अष्टाङ्गुलं परित्यज्य नालं छिन्द्यात्क्षुरादिना' ॥ इति । ततः सूतिकायाः खट्टाऽधस्ताच्छिरःप्रदेशे उदकपूर्णपात्रनिधानमापो देवेष्विति । ततः सूतिकागृहद्वारे पञ्च भूसंस्कारान् कृत्वा लौकिकाग्नेः स्थापनम् ।

तस्मिन्नग्नौ सायम्प्रातः सन्ध्याद्वये प्रत्यहं यावत्सूतिका स्नानं न करोति तावद्धस्तेन तण्डुलकणमिश्रान्सर्षपान् जुहोति। तत्रैवं शण्डामर्का इति प्रथमाम्। आलिखन्ननिमिष इति द्वितीयाम्। इदमग्नये न ममेत्युभयोस्त्यागः। इति बालं क्रूरग्रह उपद्रवति तदा तं जालेन उत्तरीयेण वाऽऽच्छाद्य पिता स्वोत्सङ्गे स्थापयित्वा कूर्कुर इति जपति। ततः कुमाराभिमर्शनं ननामयतीति। अत्र सूतिकासम्बधि सर्वं लौकिकाग्नौ भवति। तदुक्तं कारिकायाम्—सूतीसम्बन्धि पक्त्यादिकर्म तल्लौकिकानले। पर्वण्यपि च तत्पक्वमश्नीयान्नैव दोषभाक्' ॥ इति। इति जातकर्मणि पदार्थक्रमः ॥

अथ गर्गमते विशेषः। तत्र सोष्यन्तीत्यारभ्य ननामयतीत्यभिमर्शनान्ते विशेषः। हिरण्यश्राद्धान्ते वागिति त्रिरुच्चार्य वेदोऽसीति गुह्यनाम कृत्वा मेधाजननं करोति। भूस्त्वयि दधामीत्येवमादिभिः प्रतिमन्त्रं प्राशनम्। कुमारस्य शिरःप्रदेशे उदपात्रनिधानम्। सर्वान्ते बालं जनन्यै प्रदाय पिता स्नानं करोतीति विशेषः। अन्यत्समानम्। कुमार्याश्चैतच्जातकर्मामन्त्रकं कार्यमिति प्रयोगरत्ने। रात्रौ सन्ध्यायां ग्रहणे जाताशौचान्तरेऽपीदं कार्यम्, मृताशौचान्तरेऽपीदं कार्यम्। मृताशौचमध्ये जातश्चेत्तदैवाशौचान्ते वा तत्कार्यम्। पितरि ग्रामान्तरं गते पितृव्यादिर्गोत्रजो ज्येष्ठक्रमेणेदं कुर्यात्। इति जातकर्म ॥

अथ षष्ठीपूजा। पञ्चमे षष्ठे च दिवसे षष्ठ एव वा पूर्वरात्रौ पित्रादिराचम्य प्राणानायम्य देशकालौ स्मृत्वाऽस्य शिशोरायुरारोग्यसकलारिष्टशान्तिद्वारा श्रीपरमेश्वरप्रीत्यर्थं विघ्नेशस्य जन्मदानां षष्ठीदेव्या जीवन्तिकायाश्च यथामिलितोपचारैः पूजनं करिष्य इति सङ्कल्प्य षोडशोपचारैस्तन्त्रेण पूजयेत्। पृथग्वा सङ्कल्प्य पृथगेव पूजा कार्या। एतत्प्रतिमाश्च लेपनादिना कुड्ये लेखनीयाः। पीठादौ वाऽक्षतपुञ्जरूपेण निवेश्याः। पुरुषाः शस्त्रहस्ताः स्त्रियश्च नृत्यगीतकारिण्योऽस्यां रात्रौ जागरणं कुर्युः। सूतिकागृहं च सधूमाग्निदीपशस्त्रमुसलाम्बुविभूतियुतं कार्यम्। सर्षपांश्च सर्वतोऽवकिरेत्। अन्यदपि यथाचारं सर्वं कार्यम्। जन्मदाभ्योऽन्नादिना बलिर्देयः। विप्रेभ्यश्च ताम्बूलखाद्यदक्षिणादि दद्यात्। जननाशौचमध्ये प्रथमषष्ठदशमदिनेषु दाने प्रतिग्रहे च न दोषः। अन्नं तु निषिद्धम्। षष्ठीप्रार्थना—'गौरीपुत्रो यथा स्कन्दः शिशुत्वे रक्षितः पुरा। तथा ममाप्ययं बालः षष्ठिके रक्ष्यतां नमः' ॥ इति षष्ठीपूजा। मिताक्षरायां मार्कण्डेयः—'रक्षणीया तथा षष्ठी निशा तत्र विशेषतः। रात्रौ जागरणं कार्यं जन्मदानां तथा बलिः ॥ पुरुषाः शस्त्रहस्ताश्च नृत्यगीतैश्च योषितः। रात्रौ जागरणं कुर्युर्दशम्यां चैव सूतके ॥' व्यासः—सूतिकावासनिलया जन्मदा नाम देवताः। तासां यागनिमित्तं तु शुद्धिर्जन्मनि कीर्तिता ॥ प्रथमे दिवसे षष्ठे दशमे चैव सर्वदा। त्रिष्वेतेषु न कुर्वीत सूतकं पुत्रजन्मनि ॥ अपरार्के—कन्याश्चतस्रो राकाद्या वातघ्नी चैव पञ्चमी। क्रीडनार्था च बालानां षष्ठी च शिशुरक्षिणी ॥ खड्गे तु पूजनीया वै ब्राह्मणैश्च द्विजातिभिः। राकाऽनुमतिः सिनीवाली कुहूरिति चतस्रः कन्या ॥

अथ यमयोर्ज्येष्ठकनिष्ठभावः संस्कारार्थं लिख्यते। तत्र मनुः—जन्मज्येष्ठेन चाह्वानं सुब्रह्मण्यास्वपि स्मृतम्। यमयोश्चैव गर्भेषु जन्मतो ज्येष्ठता स्मृता ॥ देवलः—

यस्य जातस्य यमयोः पश्यन्ति प्रथमं मुखम् । सन्तानः पितरश्चैव तस्मिन् ज्यैष्ठ्यं प्रतिष्ठितम् ॥ क्वचित्पश्चादुत्पन्नस्य ज्यैष्ठ्यमुक्तम् । तत्र देशाचारतो व्यवस्था ज्ञेया ॥

अथ यमलजननशान्तिः । तत्र याज्ञिकाः पठन्ति—अथातो यमलजनने प्रायश्चित्तं व्याख्यास्यामो यस्य भार्या गौर्दासी महिषी वडवा वा विकृतं प्रसवेत्प्रायश्चित्ती भवेत् सम्पूर्णे दशाहे चतुर्णां क्षीरवृक्षाणां काषायमुपसंहरेत्प्लक्षवटोदुम्बराश्वत्थशमीदेवदारुगौरसर्षपास्तेषामपो हिरण्यदूर्वाङ्कुराम्रपल्लवैः प्रकल्प्य तैरष्टौ कलशान्प्रपूर्य सर्वौषधीभिर्दम्पती स्नापयेदापोहिष्ठेति तिसृभिः कयानश्चित्र इति द्वाभ्यां पञ्चैन्द्रेण पञ्चवारुणेनेदमापो अद्येति द्वाभ्यां स्नात्वाऽलङ्कृत्य तौ दर्भोपर्युपवेश्य तत्र मारुतं स्थालीपाकं श्रपयित्वाऽऽज्यभागाविष्ट्वाऽऽज्याहुतीर्जुहोति पूर्वोक्तैः स्नपनमन्त्रैः स्थालीपाकस्य जुहोत्यग्नये स्वाहा सोमाय स्वाहा पवमानाय स्वाहा पावकाय स्वाहा मरुताय स्वाहा मारुताय स्वाहा मरुद्भ्यः स्वाहा यमाय स्वाहाऽन्तकाय स्वाहा मृत्यवे स्वाहा ब्रह्मणे स्वाहाऽग्नये स्विष्टकृते स्वाहेत्येतदेव ग्रहोत्पातनिमित्तेषूलूकः कङ्कः कपोतो गृध्रः श्येनो वा गृहं प्रविशेत्स्तम्भं प्ररोहेद्वल्मीकं मधुजालं वा भवेदुदकुम्भप्रज्वलनासनशयनयानभङ्गेषु गृहगोधिकाकृकलासशरीरसर्पणे छत्रध्वजविनाशे सार्पे नैर्ऋते गण्डयोगेष्वन्येष्वप्युत्पातेषु भूकम्पोल्कापातकाकसर्पसङ्गमप्रेक्षणादिष्वेतदेव प्रायश्चित्तं ग्रहशान्त्युक्तेन विधिना कृत्वाऽऽचार्याय वरं दत्वा ब्राह्मणान्भोजयित्वा स्वस्तिवाच्याशिषः प्रतिगृह्य शान्तिर्भवति शान्तिर्भवतीति । अथ स्मृत्युक्ता शान्तिः विधानमालायां काशीखण्डे—

त्रिविधा यमलोत्पत्तिर्जायते योषितामिह । सुतौ च सुतकन्ये च कन्ये एव तथा पुनः ॥ एकलिङ्गौ विनाशाय द्विलिङ्गौ मध्यमौ स्मृतौ । पित्रोर्विघ्नकरौ ज्ञेयौ तत्र शान्तिर्विधीयते ॥ हेममूर्ती विधातव्ये दस्रयोश्च द्विजोत्तम । पलेन वा तदर्धेन तदर्धार्धेन वा पुनः ॥ ब्रह्मवृक्षस्य पट्टे च स्थापयेद्रक्तवाससी । स्वस्तिके तण्डुलानां च न्यस्ते पीठे द्विजोत्तम ॥ पूजयेद्रक्तपुष्पैश्च चन्दनेनानुलेपयेत् । दशाङ्गेनैव धूपेन धूपयेत्प्रयतः पुमान् ॥ दीपैर्नीराजयेच्चैव नैवेद्यं परिकल्पयेत् । यस्मै त्वं सुकृते जातवेद इति मन्त्रेणाक्षतैरर्चयेत् ॥ अनेनैव तु मन्त्रेण होमं कुर्यादतन्द्रितः । अष्टोत्तरसहस्रं च पायसेन ससर्पिषा ॥ शान्तिपाठं जपेद्विद्वान्सूर्यसूक्तं जपेत्ततः । विष्णुसूक्तं तथा गाथां वैश्वदेवीं जपेद् बुधः ॥ अश्वदानं ततो दद्यादाचार्याय कुटुम्बिने । तयोर्मूर्ती प्रदातव्ये यजमानेन धीमता ॥ तत्र दानमन्त्रः—अश्वरूपौ महाबाहू अश्विनौ दिव्यचक्षुषौ । अनेन वाजिदानेन प्रीयेतां मे यशस्विनौ ॥ अथ मूर्तिदानमन्त्रः । आचार्यः प्रथमो वेधा विष्णुस्तु सविता भगः । दस्रमूर्त्तिप्रदानेन प्रीयतामश्विनौ भगः ॥ ततोऽभिषेचनं कार्यं दम्पत्योर्विधिवद्बुधैः । ब्राह्मणान्भोजयेत्पश्चाद्दक्षिणाभिश्च तोषयेत् ॥ सालङ्कारैश्च वस्त्रैश्च प्रार्थयेद्वचनैः शुभैः । एवं कृते विधाने तु यमलोत्पत्तिशान्तिकम् ॥ जायते नात्र सन्देहः सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥

अथ जन्मनि दुष्टकालाः । तत्र मूलफलम् । लल्लः—अभुक्तमूलसम्भवं परित्यजेत्तु बालकम् । समाष्टकं पिताऽथ वा न तन्मुखं विलोकयेत् ॥ तदाद्यपादके पिता विपद्यते जनन्यथ । तृतीयके धनक्षयश्चतुर्थके शुभावहम् ॥ प्रतीपमन्त्यपादतः फलं तदेवं सार्पभे ।

अभुक्तमूलं त्वाह बृहद्वसिष्ठः—ज्येष्ठाऽन्ते घटिका चैका मूलादौ घटिकाद्वयम् । अभुक्तमूलमित्याहुर्जातं तत्र विवर्जयेत् ॥ केचिज्ज्येष्ठान्त्यं मूलाद्यं च पादमभुक्तमूलमित्याहुः । कश्यपेन त्वन्यथोक्तम्—मूलाद्यपादजो हन्ति पितरं तु द्वितीयजः । मातरं स्वां तृतीयोऽर्थान्सुहृदं तु तुरीयजः ॥ फलं तदेव सार्पर्क्षे प्रतीपं त्वन्त्यपादतः । अथ मूलवृक्षफलं जयार्णवे—मूलं स्तम्भस्त्वचा शाखा पत्रं पुष्पं फलं शिखा । वेदा४श्च मुनयश्चैव ७ दिश१०श्च वसव८स्तथा ॥ नन्दा ९ बाण ५ रसा ६ रुद्रा ११ मूलभेदाः प्रकीर्तिताः । मूलं मूलविनाशाय स्तम्भे हानिर्धनक्षयः ॥ त्वचि भ्रातृविनाशाय शाखा मातुर्विनाशकृत् । पत्रे सपरिवारः स्यात्पुष्पेषु नृपवल्लभः ॥ फलेषु लभते राज्यं शिखायामल्पजीवितम् । अन्यत्र त्वन्यथोक्तम्—मूले सप्तघटीषु मूलहननं स्तम्भेऽष्टसु स्वक्षयं त्वग्दिग्बन्धुविनाशनं च विटपे रुद्रैर्हतो मातुलः । पत्रेऽर्कैः सुकृतो तु बाणकुसुमे मन्त्री फले सागरै राजा वह्निशिखाल्पमायुरिति सम्मूलाङ्घ्रिपे स्यात्फलम् ॥ भूपालवल्लभः—वृषालिसिंहेषु घटे च मूलं दिवि स्थितं युग्मतुलाङ्गनान्त्ये । पातालगं मेषधनुःकुलीरनक्रेषु मर्त्येष्विति संस्मरन्ति ॥ स्वर्गे मूलं भवेद्राज्यं पाताले च धनागमम् । मृत्युलोके यदा मूलं तदा शून्यं समादिशेत् ॥ प्रयोगपारिजाते—मूलजा श्वशुरं हन्ति व्यालजा च तदङ्गनाम् । माहेन्द्रजाऽग्रजं हन्ति देवरं तु द्विदैवजा ॥ नृसिंहप्रसादे—धवाग्रजां हन्ति सुरेन्द्रजाता तथैव पत्न्या भगिनीं पुमांश्च । द्विदैवजा देवरमाशु हन्याद्भार्यानुजामाशु हि हन्ति सूनुः ॥ पत्न्यग्रजामग्रजं वा हन्ति ज्येष्ठर्क्षजः पुमान् । तथा भार्या स्वसारं वा शालकं वा द्विदैवजः ॥ कन्यका देवरं हन्ति विशाखाऽन्त्यसमुद्भवा । आद्यपादत्रयेणैव आद्यभे तु पुमान् भवेत् ॥ न हन्याद्देवरं कन्या तुलामिश्रद्विदैवजा । तदृक्षान्त्योद्भवा वर्ज्या दुष्टा वृश्चिकपुच्छवत् ॥ चित्राद्यार्धे पुष्यमध्ये द्विपादे पूर्वाषाढाधिष्ण्यपादे तृतीये । जातः पुत्रश्चोत्तराऽऽद्ये विधत्ते मातापित्रोर्भ्रातरं बालनाशम् ॥ द्विमासं चोत्तरादोषः पुष्ये चैव त्रिमासिकः । पूर्वाषाढाष्टमे मासि चित्रा षाण्मासिकं फलम् ॥ नवमासं तथाऽऽश्लेषा मूले चाष्टकवर्षकम् । ज्येष्ठा पञ्चदशे मासि पुत्रदर्शनवर्जिता ॥ वशिष्ठः—व्यतीपातेऽङ्गहानिः स्यात्परिघे मृत्युमादिशेत् । वैधृतौ पितृहानिः स्यान्नष्टेन्दावन्धतां व्रजेत् ॥ मूले समूलनाशः स्यात्कुलनाशो यतो भवेत् । विकृताङ्गे च हीने च सन्ध्ययोरुभयोरपि ॥ पर्वण्यपि प्रसूतौ च सर्वारिष्टभयप्रदा । तद्वत्सदन्तजातश्च पादजातस्तथैव च ॥ तस्माच्छान्तिं प्रकुर्वीत ग्रहाणां क्रूरचेतसाम् । गर्गः—कृष्णां चतुर्दशीं षोढा कुर्यादादौ शुभं स्मृतम् । द्वितीये पितरं हन्ति तृतीये हन्ति मातरम् ॥ चतुर्थे मातुलं हन्ति पञ्चमे वंशनाशनम् । षष्ठे तु धननाशः स्यादात्मनो वंशनाशनम् ॥ देवकीर्तिः—यद्येकस्मिन् धिष्ण्ये जायन्ते दुहितरोऽथ वा पुत्राः । पितुरन्तकरा ह्येते यद्यपरे प्रीतिरतुला स्यात् ॥ गर्गः—एकस्मिन्नेव नक्षत्रे भ्रात्रोर्वा पितृपुत्रयोः । प्रसूतिश्च तयोर्मृत्युर्भवेदेकस्य निश्चितम् ॥ शौनकः—ग्रहणे चन्द्रसूर्यस्य प्रसूतिर्यदि जायते । व्याधिपीडा तदा स्त्रीणामादौ तु ऋतुदर्शनात् ॥ इत्थं सञ्जायते यस्य तस्य मृत्युर्न संशयः । अथ गण्डान्तः ज्योतिर्निबन्धे—पूर्णानन्दाख्ययोस्तिथ्योः सन्धिर्नाडीद्वयं तथा । गण्डान्तं मृत्युदं जन्म यात्रोद्वाहव्रतादिषु ॥ कुलीरसिंहयोः कीटचापयोर्मीनमेषयोः । गण्डान्त-

मन्तरं कालं घटिकार्धं मृतिप्रदम् ॥ कुलीरः कर्कटः । कीटो वृश्चिकः । चापं धनुः । सार्पैन्द्रपौष्णभेष्वन्त्यषोडशांशेन सन्धयः । तदग्रभेष्वाद्यपादा भानां गण्डान्तसंज्ञकाः ॥ सार्पमाश्लेषा । ऐन्द्रं ज्येष्ठा । पौष्णं रेवती । पौष्णाश्विन्योः सार्पपित्रर्क्षयोश्च यच्च ज्येष्ठामूलयोरन्तरालम् । तद्गण्डान्तं स्याच्चतुर्नाडिकं हि यात्राजन्मोद्वाहकालेष्वनिष्टम् ॥ रत्नसङ्ग्रहे—सर्वेषां गण्डजातानां परित्यागो विधीयते । वर्जयेद्दर्शनं श्राद्धं तच्च षाण्मासिकं भवेत् ॥ तिथ्यर्क्षगण्डे पितृमातृनाशो लग्ने तु सन्धौ तनयस्य नाशः । सर्वेषु नो जीवति हन्ति बन्धून् जीवन्पुनः स्याद् बहुवारणश्च ॥ अथैषां दानम्—तिथिगण्डे त्वनड्वाहं नक्षत्रे धेनुरुच्यते । काञ्चनं लग्नगण्डे तु गण्डदोषो विनश्यति ॥ उत्तरे तिलपात्रं स्यात्पुष्ये गोदानमुच्यते । अजाप्रदानं त्वाष्ट्रे स्यात्पूर्वाषाढे च काञ्चनम् ॥ उत्तरातिष्यचित्रासु पूर्वाषाढोद्भवस्य च । कुर्याच्छान्तिं प्रयत्नेन नक्षत्राकरजां बुधः ॥ अथ आश्लेशाफलम्—मूर्धास्यनेत्रगलकांसयुगं च बाहुहृज्जानुगुह्यपदमित्यहिदेहभागः । बाणा ५ द्रि ७ नेत्र २ हुतभुक् ३ श्रुति ४ नाग ८ रुद्र ११ षण् ६ नन्द ९ पञ्च ५ शिरसः क्रमशस्तु नाड्यः ॥ राज्यं च पितृनाशः स्यात्तथा कामक्रिया रतिः । पितृभक्तो बली स्वघ्नस्त्यागी भोगी धनी क्रमात् ॥ ज्येष्ठाफलमुक्तं ब्रह्मयामले—ज्येष्ठादौ जननीमाता द्वितीये जननीपिता । तृतीये जननीभ्राता स्वयं माता चतुर्थके ॥ आत्मानं पञ्चमे हन्ति षष्ठे गोत्रक्षयो भवेत् । सप्तमे चोभयकुलं ज्येष्ठभ्रातरमष्टमे ॥ नवमे श्वशुरं हन्ति सर्वं हन्ति दशांशके ॥ इति ।

अथ मूलशान्तिः । तत्र याज्ञिकाः पठन्ति—अथातो मूलविधिं व्याख्यास्यामो मूलांशे प्रथमे पितुर्नष्टो द्वितीये मातुस्तृतीये धनधान्ययोश्चतुर्थे कुलशोकावहः स्वयं पुण्यभागी स्यान्मूलनक्षत्रे मूलविधानं कुर्यात्सर्वौषध्या सर्वगन्धैश्च संयुक्तं तत्रोदकुम्भं कृत्वा वस्त्रगन्धपुष्परत्नसहितं श्वेतसिद्धार्थकुसुमयुक्तं कुर्यात् तस्मिन् रुद्रान् जपित्वाऽप्रतिरथं रक्षोघ्नं च सूक्तं द्वितीयोदकुम्भं कृत्वा चतुःप्रस्रवणसंयुक्तं तस्मिन्नुपरिष्टान्मूलानि धारयेद्वंशपात्रे कृत्वा वस्त्रे बद्ध्वा तस्मिन्प्रधानानि मूलानि वक्ष्यामि हिरण्यमूलं सप्तधान्यानि प्रथमा काश्मर्या सहदेव्यपराजिता बालापाठाऽधोपुष्पी शङ्खपुष्पी मधुयष्टिका चक्राङ्किता मयूरशिखा काकजङ्घा कुमारीद्वयं जीवन्त्यपामार्गा भृङ्गराजकलक्ष्मणा जाती व्याघ्रपत्रश्चक्रमर्दकः सिद्धेश्वरोश्वत्थोदुम्बरपलाशप्लक्षवटार्कदूर्वारोहितकशमीशतावरीत्येवमादिमूलशतं पूरयित्वा तस्मिन्निपिद्धानि मूलानि वक्ष्यामि बैल्वधवनिम्बकदम्बराजवृक्षोक्षशालाप्रयालुदधिकपित्थकोविदारश्लेष्मातकबिभीतकशाल्मलीररलुसर्वकण्टकिवर्जं तत्राभिषेकं कुर्यात्पितुः शिशोर्जनन्या देवस्यत्वेत्यौदुम्बर्यासन्दीमुदगग्रामास्तृणाति तत्रासीनान् सम्पातेनैकेनाभिषिञ्चति शिरसोऽध्यनुलोमꣳशिरो मे श्रीर्यश इति यथालिङ्गमङ्गानि सम्मृशति स्नानादूर्ध्वं नैर्ऋतं पायसꣳ श्रपयित्वा काश्मर्यमयꣳ स्रुक्स्रुवं प्रतप्य सम्मृज्यान्वारब्ध आघारावाज्यभागौ हुत्वाऽसुन्वन्तमिति चतस्रः स्थालीपाकेन जुहुयात्पञ्चदशाज्याहुतीर्जुहोति कृणुष्वपाज इति पञ्च मानस्तोक इति द्वे यातेरुद्रशिवातनूरिति षडग्निरक्षाꣳसिसेधति शुक्रशोचिरमर्त्यः । शुचिः पावक ईड्य इति त्वन्नःसोमविश्वतोरक्षाराजं नघायतोनरिष्येत्वावतः सखेति स्विष्टकृदादि ।

प्राशनान्ते कृष्णा गौः कृष्णाश्च तिलाः हिरण्यमूलं-सप्तधान्यसंयुक्तमाचार्याय दद्यात्कृष्णोऽनड्वान्ब्रह्मणे दद्यान्नक्षत्रसूचकेभ्यो वा दद्यादन्येभ्यो ब्राह्मणेभ्यः सुवर्णं दद्यात्कृसरपायसेन ब्राह्मणान्भोजयेत्सार्पदैवते गण्डजात एष एव विधिः कात्यायनेनोक्तः। स्मृत्यन्तरोक्ता शान्तिस्तु रजस्वलाशान्तावुक्ता। मात्स्ये विशेषः—अकालप्रसवा नार्यः कालातीतप्रजास्तथा। विकृतप्रसवाश्चैव युग्मप्रसवकास्तथा ॥ अमानुषा अमुण्डाश्च अजातव्यञ्जनास्तथा। हीनाङ्गा अधिकाङ्गाश्च जायन्ते यदि वा स्त्रियः ॥ पशवः पक्षिणश्चैव तथैव च सरीसृपाः। विनाशं तस्य देशस्य कुलस्य च विनिर्दिशेत् ॥ निर्वासयेत्तां नगरात्ततः शान्तिं समाचरेत्। पाद्मे—उपरि-प्रथमं यस्य जायन्ते च शिशोर्द्विजाः। दन्तैर्वा सह यस्य स्याज्जन्म भार्गवसत्तम ॥ द्वितीये च तृतीये च चतुर्थे पञ्चमे तथा। यदा दन्ताश्च जायन्ते मासे चैव महद्भयम् ॥ मातरं पितरं चास्य खादेदात्मानमेव च ॥

अथोर्ध्वदन्तजननशान्तिः। गजपृष्ठगतं बालं नौस्थं वा स्थापयेत् द्विज। तदभावे तु धर्मज्ञ काञ्चने तु वरासने ॥ सर्वौषधैः सर्वगन्धैर्बीजैः पुष्पैः फलैस्तथा। पञ्चगव्येन रत्नैश्च मृत्तिकाभिश्च भार्गव ॥ स्नापयेदित्यन्वयः। स्थालीपाकेन धातारं पूजयेत्तदनन्तरम्। सप्ताहं चात्र कर्तव्यं तथा ब्राह्मणभोजनम् ॥ अष्टमेऽहनि विप्राणां तथा देयाऽत्र दक्षिणा। काञ्चनं रजतं गाश्च भुवं वा धनमेव च ॥ दन्तानामष्टमे मासि षष्ठे मासि ततः पुनः। दन्ता यस्य च जायन्ते माता वा म्रियते पिता ॥ बालको म्रियते तत्र स्वयमेव न संशयः। दधिक्षौद्रघृताक्तानामश्वत्थसमिधां ततः ॥ जुहुयादष्टकशतं तत्र मन्त्रेण मन्त्रवित्। धेनुं च दद्याद् गुरवे ततः सम्पद्यते शुभम्। ज्योतिर्निबन्धे तु अष्टमादिषु दन्तोत्थानं शुभावहमित्युक्तम्। रुद्रयामले—प्रथमं दन्तनिर्मुक्तिरूर्ध्वं बालस्य चेद्भवेत्। क्लेशाय मातुलस्येह तदा प्रोक्ता महर्षिभिः ॥ सौवर्णं राजतं वापि ताम्रं कांस्यमयं तु वा। दध्योदनेन सम्पूर्तं पात्रं दद्याच्छिशोः करे ॥ समन्त्रं भाजनं दत्त्वा स पश्येन्मातुलः शिशुम्। सालङ्कारं सवस्त्रं च शिशुमालिङ्ग्य सादरम् ॥ तत्र मन्त्रः—रक्ष मां भागिनेय त्वं रक्ष मे सकलं कुलम्। गृहीत्वा भाजनं सान्नं प्रसन्नो भव मे सदा ॥ निर्विघ्नं कुरु कल्याणं निर्विघ्नां च स्वमातरम्। मय्यात्मानमधिष्ठाप्य चिरं जीव मया सह ॥ इति। ततोऽभिनन्दयेद् विद्वान् भगिनीं भगिनीपतिम्। होमं कृत्वा तिलाज्येन ब्राह्मणानपि पूजयेत् ॥ एवं कृते विधाने तु विघ्नः कोऽपि न जायते ॥

अथ त्रिकशान्तिः। गर्गसंहितायाम्—सुतत्रये सुता चेत्स्यात्तत्त्रये वा सुतो यदि। मातापित्रोः कुलस्यापि तदानिष्टं महद्भवेत् ॥ ज्येष्ठनाशो धने हानिर्दुःखं चैषु महद्भवेत्। तत्र शान्तिं प्रकुर्वीत वित्तशाठ्यविवर्जितः ॥ जातस्यैकादशाहे वा द्वादशाहे शुभे दिने। आचार्यमृत्विजो वृत्वा ग्रहयज्ञपुरःसरम् ॥ ब्रह्मविष्णुमहेशेन्द्रप्रतिमाः स्वर्णतः कृताः। पूजयेद्धान्यराशिस्थकलशोपरि शक्तितः ॥ पञ्चमे कलशे रुद्रं पूजयेद्रुद्रसङ्ख्यया। रुद्रसूक्तानि चत्वारि शान्तिसूक्तानि सर्वशः ॥ आचार्यो जुहुयात्तत्र समिदाज्यतिलांश्चरुम्। अष्टोत्तरसहस्रं तु षट्शतं त्रिशतं तु वा ॥ देवताभ्यश्चतुर्वक्त्रादिभ्यो ग्रहपुरःसरम्। ब्रह्मादिमन्त्रैरिन्द्रस्य यतं इन्द्र भजामहे ॥ ततः स्विष्टकृतं हुत्वा बलिं पूर्णाहुतिं ततः। अभिषेकं कुटुम्बस्य कृत्वाऽऽचार्यं प्रपूजयेत् ॥ हिरण्यं धेनुरेका च ऋत्विजां दक्षिणा

ततः । आज्यस्य वीक्षणं कृत्वा शान्तिपाठं तु कारयेत् ॥ ब्राह्मणान् भोजयेच्छक्त्या दीनानाथांश्च तर्पयेत् । कृत्वैवं विधिना शान्ति सर्वारिष्टाद्विमुच्यते ॥

अथ दत्तकपुत्रपरिग्रहविधिः । पारिजाते शौनकः—अपुत्रो मृतपुत्रो वा पुत्रार्थं समुपोष्य च । वाससी कुण्डले दत्त्वा उष्णीषं चाङ्गुलीयकम् ॥ बन्धूनन्नेन सम्भोज्य ब्राह्मणांश्च विशेषतः । अन्वाधानादि यत्तन्त्रं कृत्वाऽऽज्योत्पवनान्तकम् ॥ दातुः समक्षं गत्वा तु पुत्रं देहीति याचयेत् । दाने समर्थो दाताऽस्मै ये यज्ञेनेति पञ्चभिः ॥ देवस्यत्वेति मन्त्रेण हस्ताभ्यां परिगृह्य च । अङ्गादङ्गेत्यृचं जप्त्वा आघ्राय शिशुमूर्द्धनि ॥ गृहमध्ये तमाधाय चरुं हुत्वा विधानतः । यस्त्वाहृदेत्यृचा चैव तुभ्यमग्रऋचैकया ॥ सोमोदददित्येताभिः प्रत्यृचं पञ्चभिस्तथा । स्विष्टकृदादिहोमं च कृत्वा शेषं समापयेत् ॥ ब्राह्मणानां सपिण्डेषु कर्तव्यः पुत्रसङ्ग्रहः । तदभावेऽसपिण्डो वा अन्यत्र तु न कारयेत् ॥ मिताक्षरादौ तु व्याहृतिभिराज्येन होम उक्तः । तत्रैव वसिष्ठः—न त्वेकं पुत्रं दद्यात्प्रतिगृह्णीयाद्वा न स्त्री पुत्रं दद्यात्प्रतिगृह्णीयाद्वा अन्यत्रानुज्ञानाद्भर्तुरिति । यत्तु समन्त्रकहोमस्य पुत्रप्रतिग्रहाङ्गत्वात् व्याहृत्यादिमन्त्रपाठे च स्त्रीशूद्रयोरनधिकारात्तयोर्दत्तकः पुत्रो न भवत्येवेति शुद्धिविवेके । तन्नेत्यन्ये । भर्तुरनुज्ञया स्त्रिया अपि प्रतिग्रहोक्तेः । यद्यपि मेधातिथिना भार्यात्ववददृष्टरूपं दत्तकत्वं होमसाध्यमुक्तं स्त्रियाश्च होमासम्भवस्तथापि व्रतादिवद्विप्रद्वारा होमादि कारयेदिति हरिनाथादयः । सम्बन्धतत्त्वेऽप्येवम् । शूद्रस्यापि चैवम् । स्त्रीशूद्राश्च सधर्माण इति स्मृतेः ॥ अत एव पराशरेण शूद्रकर्तृको होमो विप्रद्वारैवोक्तः । दत्तके विशेषः कालिकापुराणे—पितुर्गोत्रेण यः पुत्रः संस्कृतः पृथिवीपते । आचूडान्तं न पुत्रः स पुत्रतां याति चान्यतः ॥ चूडोपायनसंस्कारा निजगोत्रेण वै कृताः । दत्ताद्यास्तनयास्ते स्युरन्यथा दास उच्यते ॥ ऊर्ध्वं तु पञ्चमाद्वर्षान्न दत्ताद्याः सुता नृप । गृहीत्वा पञ्चवर्षीयं पुत्रेष्टिं प्रथमं चरेत् ॥ इति ।

अथ सूतिकास्नानम् । ज्योतिषे—करेन्द्रभाग्यानिलवासवान्त्यमैत्रैन्दवाश्विध्रुवभेऽह्नि पुंसाम् । तिथावरिक्ते शुभमामनन्ति प्रसूतिकास्नानविधिं मुनीन्द्राः ॥ हस्तज्येष्ठापूर्वाफल्गुनीस्वातीधनिष्ठारेवत्यनुराधामृगशीर्षाश्विनीरोहिणीषु त्रिषूत्तरासु च सूतिकास्नानमित्यर्थः । पुंसामह्नि रविभौमगुरुवारेषु । इति जातकर्मविधिः ॥ १६ ॥

अनुवाद—'न नामयति···' इत्यादि मंत्र पढ़ते हुए पिता को उस बच्चे के सभी अंगों का स्पर्श करना चाहिए ।

मन्त्रार्थ—(ऋषि प्रजापति, छन्द अनुष्टुप्, देवता वायु ।) बच्चे के जिस अंग का स्पर्श कर मैं मंत्र जपता हूँ, उसे न तो वह मोड़ता है, न रोता है, न हँसता है और न छटपटा ही रहा है ।

प्रथमकाण्ड में षोडश कण्डिका समाप्त ।

सप्तदशी कण्डिका

नामकरणम्

दशम्यामुत्थाप्य ब्राह्मणान् भोजयित्वा पिता नाम करोति ।।१।१७।१।।

(हरिहरभाष्यम्)—'दशम्या'''करोति' । प्रसवदिनमारभ्य दशम्यां तिथौ सूतिकां सूतिकागृहादुत्थाप्य नामकरणाङ्गतया ब्राह्मणान् त्रीन् भोजयित्वा भोजनं कारयित्वा पिता अपत्यस्य नामधेयं करोति। अत्र दशम्यामिति सूतकान्तोपलक्षणम् । ततश्च यस्य यावन्ति दिनानि सूतकं तदन्तदिने सूतिकोत्थापनमित्यर्थः । अपरदिने च नाम-करणम् ।। १।१७।१ ।।

(गदाधरभाष्यम्)—'दशम्या''''''करोति' । प्रसवाद्दशम्यां रात्र्यामतीतायामे-कादशेऽहनि सूतिकागृहात्सूतिकामुत्थाप्य श्राद्धव्यतिरेकेण त्रीन् ब्राह्मणान्भोजयित्वा पिता कुमारस्य नाम संज्ञां संव्यवहारार्थं करोति। अन्यस्मिन्नपि संस्कारे पितुरेवोत्सर्गात् कर्तृत्वम् । इह पितुर्ग्रहणादन्यत्रापि नियमोऽवगम्यते । अत्र दशम्यामिति सूतकान्तोपल-क्षणम् । तथा च मदनरत्ने नारदीये—सूतकान्ते नामकर्म विधेयं स्वकुलोचितमिति । ततश्च यस्य यावन्ति दिनानि सूतकं तदन्तदिने कार्यमिति हरिहरः । सूत्रकारवचनादे-कादशेऽह्न्येवेत्यन्ये । गोभिलसूत्रे—दशरात्रे व्युष्टे नामकरणमिति । याज्ञवल्क्यः—अहन्येकादशे नामेति । मदनरत्ने विशेषः—द्वादशे दशमे वाऽपि जन्मतोऽपि त्रयोदशे । षोडशे विंशतौ चैव द्वाविंशे वर्णतः क्रमात् । कारिकायाम्—एकादशे द्वादशे वा मासे पूर्णेऽथवा परे । अष्टादशेऽहनि तथा वदन्त्यन्ये मनीषिणः ।। शतरात्रे व्यतीते वा पूर्णे संवत्सरेऽथवा । ज्योतिर्निबन्धे गर्गः—अमासङ्क्रान्तिविष्ट्यादौ प्राप्तकालेऽपि नाचरेत् । एकादशेऽहनि नामकरणाशक्तौ स्मृत्यन्तरोक्तद्वादशाहादिकालो ग्राह्यः । तदुक्तं कारि-कायाम्—मुख्यकाले यदा नामधेयं कर्तुं न शक्यते । उक्तानामन्यतमस्मिन्दिने स्यात्तु गुणान्विते ।। १।१७।१ ।।

अनुवाद—जन्म के दश दिन बाद पिता बालक को सूतिकागृह से बाहर लाये । फिर तीन ब्राह्मणों को भोजन कराने के बाद शिशु का नामकरण-संस्कार करे ।

द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा घोषवदाद्यन्तरन्तस्थम् ।
दीर्घाभिनिष्ठानं कृतं कुर्यान्न तद्धितम् ।। १।१७।२ ।।

(हरिहरभाष्यम्)—तथा च गोभिलसूत्रम्—दशरात्रे व्युष्टे नामकरणमिति । याज्ञवल्क्यवचनं च—अहन्येकादशे नामेति नाम करोतीत्युक्तम् । तत्कीदृशमित्यपेक्षाया-माह—'द्व्यक्षरं'''तद्धितम्' । द्वे अक्षरे अस्य तत् द्व्यक्षरं, चत्वार्यक्षराणि यस्य तचच-तुरक्षरम् । अनयोर्विकल्पः । किञ्च घोषवदादि घोषवदक्षरं आदौ यस्य नाम्नः तत् घोष-वदादि । घोषवन्ति चाक्षराणि गघङ जझञ डढण दधन बभम यरलव ह इत्येतानि ।

अन्तरन्तस्थं अन्तर्मध्ये अन्तस्था यस्य तदन्तरन्तस्थम् अन्तस्था यरलवाः। दीर्घाभिनिष्ठानं दीर्घमह्रस्वमभिनिष्ठानमवसानं यस्य तत् दीर्घाभिनिष्ठानम्। कृतं कृत्प्रत्ययान्तं कुमारस्य नामधेयं कुर्यात्। पक्षान्तरे 'कृतम्' पितामहादिनाम तत्कुर्यात्। न तद्धितं तद्धितप्रत्ययान्तं न कुर्यात्॥ १।१७।२॥

(गदाधरभाष्यम्)—कीदृशं नाम कार्यमित्यत आह—'द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा'। नाम कुर्यादिति शेषः। द्वे अक्षरे यस्य तत् द्व्यक्षरं चत्वार्यक्षराणि यस्य तच्चतुरक्षरमनयोर्विकल्पः। 'घोषव'''न्न तद्धितम्'। घोषवदादि घोषवदक्षरमादौ यस्य तत् घोषवन्तो वर्गान्तास्त्रयो वर्णा यरलवा हश्चोच्यन्ते। ते च—गघङ जझञ डढण दधन बभम यरलव ह इति। अन्तरन्तस्थमन्तर्मध्ये अन्तस्थाः यस्य तत्। अन्तस्था यरलवा उच्यन्ते एते नाम्नो मध्ये कर्तव्या इत्यर्थः। दीर्घाभिनिष्ठानमभिनिष्ठानं समाप्तिरवसानं दीर्घं यस्य। तत्। दीर्घो गुरुरुच्यते! कृतं कुर्यादिति। कृदिति प्रत्ययसंज्ञा तदन्तं कुर्यात्। अपरे पितामहादिकृतं वर्णयन्ति। न तद्धितम्, तद्धितप्रत्ययान्तं कुमारस्य नाम न कुर्यात् ततश्चेदृङ् नाम कार्यम्। भद्रकारीति॥ १।१७।२॥

अनुवाद—बच्चे का नाम दो या चार अक्षरों का होना चाहिए। उसका पहला अक्षर घोष हो (घोष वर्ण—ग, घ, ङ, ज, झ, ञ, ड, ढ, ण, द, ध, न, ब, भ, य, र, ल, व। मध्य में अन्तःस्थ वर्ण—य, र, ल, व में से किसी एक को होना चाहिए। नाम के अन्तिम वर्ण दीर्घ हो, कृदन्त हो, तद्धितान्त न हो।)

अयुजाक्षरमाकारान्तꣳ स्त्रियै तद्धितम्॥ १।१७।३॥

(हरिहरभाष्यम्)—स्त्रिया नाम्नि विशेषमाह—'अयुजाक्षरम्'। अयुजानि विषमाणि त्र्यादीन्यक्षराणि यस्मिन्नाम्नि तदयुजाक्षरम्। आकारान्तमाकारः अन्ते यस्य तदाकारान्तम्। तद्धितं तद्धितप्रत्ययान्तं स्त्रियै स्त्रिया नाम कुर्यादित्यनुषङ्गः॥ १।१७।३॥

(गदाधरभाष्यम्)—स्त्रिया नाम्नि विशेषमाह—'अयुजा''''''तद्धितम्'। अयुजानि विषमाणि त्र्यादीन्यक्षराणि यस्मिन्नाम्नि तद् आकारान्तं आकारोऽन्ते यस्य तत् तद्धितं तद्धितप्रत्ययान्तं च स्त्रियै स्त्रिया नाम कुर्यादित्यर्थः॥ १।१७।३।

अनुवाद—कन्या के नामकरण में विषम वर्णों अर्थात् तीन, पाँच, सात अक्षर हों। अन्तिम वर्ण दीर्घ हो और तद्धितान्त हो।

शर्म ब्राह्मणस्य, वर्म क्षत्रियस्य, गुप्तेति वैश्यस्य॥ १।१७।४॥

(हरिहरभाष्यम्)—अपि च—'शर्म''''''वैश्यस्य'। ब्राह्मणस्य विप्रस्य पूर्वोक्तलक्षणनामान्ते शर्मेति क्षत्रियस्य पूर्वोक्तलक्षणनामान्ते वर्मेति वैश्यस्य पूर्वोक्तनामान्ते गुप्तेति पदं कुर्यात्। अथवा ब्राह्मणस्य नाम शर्म मङ्गलप्रतिपादकं कुर्यात्। क्षत्रियस्य वर्म शौर्यरक्षावत्ताप्रतिपादकम्, वैश्यस्य गुप्तेति धनवत्ताप्रतिपादकम्, शूद्रस्य प्रेष्यत्वप्रतिपादकमिति बोद्धव्यम्। अथ नामकरणप्रयोगः। सूतकान्तद्वितीयदिने नामकरणनिमित्तं मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकं श्राद्धं विधाय अन्यब्राह्मणत्रयं भोजयित्वा पिता

कुमारस्य द्व्यक्षरमित्यादिनोक्तलक्षणं नाम करोति यथाशिष्टाचारं देवराजशर्मा इत्यादि ॥ १।१७।४ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'शर्म ब्राह्मणस्य'। शर्मशब्दः सुखनीयवचनः सुखनीयं ब्राह्मणस्य नाम कर्तव्यम्, यथा शुभङ्करः प्रियङ्कर इति कर्कः। ब्राह्मणस्य नाम्नि शर्मेत्यनुषङ्गो भवतीति भर्तृयज्ञहरिहरौ। 'वर्म क्षत्रियस्य'। वर्मशब्दः शौर्यवचनः शौर्ययुक्तं क्षत्रियस्य नाम कार्यमिति कर्कः। क्षत्रियनाम्नि वर्मेत्यनुषङ्ग इत्यन्ये। 'गुप्तेति वैश्यस्य'। गुप्तशब्द आढ्यत्वाभिधायी वैश्यस्य नाम भवतीति कर्कः। गुप्तेति नाम्नि अनुषङ्ग इत्यन्ये। मनुः—शर्मान्तं ब्राह्मणस्य स्याद्वर्मान्तं क्षत्रियस्य तु। वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य प्रेष्यसंयुतम् ॥ १।१७।४ ॥

अनुवाद—ब्राह्मण के नाम के अन्त में मंगल-प्रतिपादक शर्मा का प्रयोग होना चाहिए, क्षत्रिय के नाम के अन्त में शौर्य-व्यंजक वर्मा शब्द होना चाहिए और धनवत्ता-बोधक गुप्त शब्द का प्रयोग वैश्यों के नाम के अन्त में करना चाहिए।

बहिर्निष्क्रामणम्

चतुर्थे मासि निष्क्रमणिका ॥ १।१७।५ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'चतुर्थे······णिका'। कुमारस्य जन्मचतुर्थे मासि निष्क्रमणिका गृहाद् बहिर्निष्क्रमणं करोति पिता ॥ १।१७।५ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'चतुर्थे मासि निष्क्रमणिका'। कुमारस्य जननाच्चतुर्थे मासि निष्क्रमणिका गृहाद् बहिर्नयनं कर्तव्यम्। ज्योतिर्निबन्धे—तृतीये वा चतुर्थे वा मासि निष्क्रमणं भवेत्। ततस्तृतीये कर्तव्यं मासि सूर्यस्य दर्शनम् ॥ चतुर्थे मासि कर्तव्यं शिशोश्चन्द्रस्य दर्शनम्। अत्र 'सूर्येन्द्वोः कर्मणी ये च तयोः श्राद्धं न विद्यते' इति छन्दोगपरिशिष्टात् छन्दोगानां निष्क्रमणे वृद्धिश्राद्धं नास्तीति कल्पतरुः। व्यासः—मैत्रे पुष्यपुनर्वसुप्रथमभे पौष्णेऽनुकूले विधौ हस्ते चैव सुरेश्वरे च मृगभे तारासु शस्तासु च। कुर्यान्निष्क्रमणं शिशोर्बुधगुरौ शुक्रेऽव्वरिक्तातिथौ कन्याकुम्भतुलामृगारिभवने सौम्यग्रहालोकिते ॥ मदनरत्ने—अन्नप्राशनकाले वा कुर्यान्निष्क्रमणक्रियाम् ॥ १।१७।५ ॥

अनुवाद—पिता अपने पुत्र को चौथे महीने में घर से बाहर निकाले।

सूर्यमुदीक्षयति तच्चक्षुरिति ॥ १।१७।६ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'सूर्य···चक्षुरिति'। अथ तच्चक्षुर्देवहितमित्यादिना भूयश्च शरदःशतादित्यन्तेन मन्त्रेण श्रीसूर्यं भगवन्तं रश्मिमालिनमुदीक्षयति कुमारं प्रदर्शयति पिता ॥ १।१७।६ ॥

अथ निष्क्रमणप्रयोगः। जन्मदिने जन्मनक्षत्रे वा प्राणानायम्य देशकालौ स्मृत्वा अस्य कुमारस्य गृहान्निष्क्रमणं करिष्ये इति सङ्कल्प्य तदङ्गत्वेन चतुर्थे मासि शुभे दिने मातृपूजाभ्युदयिके विधाय मात्रा अङ्के कृतं कुमारं गृहाद् बहिरानीय तच्चक्षुर्देवहितमिति मन्त्रेण शिशोः सूर्यस्योदीक्षणं पिता कारयति।

(गदाधरभाष्यम्)—'सूर्यमुदीक्षयति तच्चक्षुरिति'। गृहाद् बहिर्नयनानन्तरं पिता कुमारं सूर्यं दर्शयति तच्चक्षुरिति मन्त्रेण। सूर्यमुदीक्षस्वेति प्रैष इति गर्गपद्धतौ तन्मृग्यम् ॥ १।१७।६ ॥

अथ पदार्थक्रमः—जन्मत एकादशे द्वादशे वा यथाचारं नियतदिने वा नामकरणं कार्यम्। नियतकालेऽपि विष्टिवैधृतिव्यतीपातग्रहणसङ्क्रान्त्यमावास्याश्राद्धदिनेषु न कार्यम्। नियतकाले क्रियमाणेषु गुरुशुक्रास्तबाल्यवार्धकवक्रातिचारमलमासादिनिषेधो नास्ति। नियतकालातिक्रमे तु ज्योतिःशास्त्रोक्ते शुभे काले कार्यम्। सर्वथाऽत्र पूर्वाह्णः प्रशस्तः। प्राणानायम्य देशकालौ स्मृत्वाऽस्य शिशोर्बीजगर्भसमुद्भवैनोनिबर्हणायुरभिवृद्धिव्यवहारसिद्धिद्वारा श्रीपरमेश्वरप्रीत्यर्थं नामकरणं करिष्य इति सङ्कल्प्य मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकं कृत्वा ब्राह्मणत्रयभोजनं कार्यम्। ततः स्वकुलदेवताभक्त इति नाम कृत्वा जन्मकालीनमासनाम कुर्यात्। तच्च—कृष्णोऽनन्तोऽच्युतश्चक्री वैकुण्ठोऽथ जनार्दनः। उपेन्द्रो यज्ञपुरुषो वासुदेवस्तथा हरिः ॥ योगीशः पुण्डरीकाक्षो मासनामान्यनुक्रमात्। अत्र यथाऽऽचारं चैत्रादिर्मार्गशीर्षादिर्वा क्रमः। ततोऽवकहडाख्यज्योतिःशास्त्रोक्तचक्रानुसारेण जन्मनक्षत्रपादप्रयुक्ताक्षरादि नाम। ततो व्यावहारिकं स्वेष्टं नामेति। अत्रायं दाक्षिणात्यशिष्टाचारः—तण्डुलान् कांस्यादिपात्रे प्रसार्य तदुपरि सुवर्णशलाकया कुलदेवताप्रयुक्तममुकभक्त इत्यादि नामचतुष्टयं लेख्यम्। ततो देवताभ्यो नम इति सम्पूज्यामुकनाम्ना त्वममुकोऽसीति स्वदक्षिणस्थमातुरुत्सङ्गस्थशिशोर्दक्षिणे कर्णे कथयित्वा मनोजूतिरित्यादिमन्त्रपाठान्ते विप्रैर्नाम सुप्रतिष्ठितमस्त्वित्युक्तेऽमुकनाम्नाऽमुकनामाऽयं भवतोऽभिवादयते इत्युक्त्वा नामकर्ता प्रतिनाम विप्रानभिवादयेत्। ते चायुष्मान् भवत्वमुक इति वदेयुरिति। ततः कर्ता देवताभ्यो ब्राह्मणेभ्यश्च नत्वा दशसङ्ख्याकान् विप्रान् भोजयेद्दक्षिणां च दद्यात्। विप्राशिषश्च ग्राह्याः। कुमार्या अपि नामकरणममन्त्रकं कार्यम्। इति नामकरणे पदार्थक्रमः। नात्र गर्गमते विशेषः ॥

अथ खट्वारोहः। पारिजाते—खट्वारोहस्तु कर्तव्यो दशमे द्वादशेऽपि वा। षोडशे दिवसे वाऽपि द्वाविंशे दिवसेऽपि वा ॥ ज्योतिर्निबन्धे—करत्रये वैष्णवरेवतीषु दितिद्वये (?) चाश्विनकध्रुवेषु। कुर्याच्छिशूनां नृपतेश्च तद्वदान्दोलनं वै सुखिनो भवन्ति ॥ तत्रैवम्—आन्दोलाशयने पुंसो द्वादशो दिवसः शुभः। त्रयोदशस्तु कन्याया न नक्षत्रविचारणा ॥ अन्यस्मिन्दिवसे चेत्स्यात्तिर्यगास्ये प्रशस्यते। तत्र नामकरणदिने षोडशे द्वात्रिंशेऽन्यस्मिन्वा ज्योतिर्विदादिष्टे शुभे काले यथाचारं कुलदेवतादिपूजां विधायालङ्कृतं शिशुं हरिद्राद्यलङ्कृते पर्यङ्के मात्राद्याः सौभाग्ययुक्ताः स्त्रियो योगशायिनं हरिं स्मरन्त्यो गीतवाद्यादिसमकालं प्राक्शिरसं न्यसेयुः। स्वस्वाचारप्राप्तं चान्यदपि कार्यम् ॥

अथ दुग्धपानम्। नृसिंहः—एकत्रिंशद्दिने चैव पयः शङ्खेन पाययेत्। अन्नप्राशननक्षत्रे दिवसोदयराशिषु ॥

अथ ताम्बूलभक्षणम्। चण्डेश्वरः—सार्द्धमासद्वये दद्यात्ताम्बूलं प्रथमं शिशोः। कर्पूरादिकसंयुक्तं विलासाय हिताय च ॥ मूलार्कचित्रकरतिष्यहरीन्द्रभेषु पौष्णे तथा

मृगशिरोऽदितिवासरेषु। अर्कैन्दुजीवभृगुबोधनवासरेषु ताम्बूलभक्षणविधिर्मुनिभिः प्रदिष्टः ॥

कुमारस्यास्मिन्नेव मासे शुभदिने रात्रौ चन्द्रदर्शनं कारयेत्। चन्द्रार्कयोर्दिगीशानां दिशां च वरुणस्य च। निक्षेपार्थमिमं दद्मि ते त्वां रक्षन्तु सर्वदा ॥ अप्रमत्तं प्रमत्तं वा दिवारात्रमथापि वा। रक्षन्तु सततं सर्वे देवाः शक्रपुरोगमाः ॥ एवं शिशुरक्षणार्थं देवान् प्रार्थयेत् ॥

अथोपवेशनविधिः। प्रयोगपारिजाते—पञ्चमे च तथा मासि भूमौ तमुपवेशयेत्। तत्र सर्वे ग्रहाः शस्ता भौमोऽप्यत्र विशेषतः ॥ उत्तरात्रितयं सौम्यं पुष्यर्क्षं शक्रदैवतम्। प्राजापत्यं च हस्तश्च शस्तमाश्विनमित्रभम् ॥ पञ्चममासे शुक्लपक्षे शुभतिथ्यादौ पूर्वाह्णे स्वस्तिवाचनं कृत्वा तत्र शङ्खतूर्यादिमाङ्गलिकध्वनौ क्रियमाणे शिशुमुपवेशयेदित्येतैर्मन्त्रैः। रक्षैनं वसुधे देवि सदा सर्वगतं शुभे। आयुःप्रमाणं निखिलं निक्षिपस्व हरिप्रिये ॥ अचिरादायुषस्त्वस्य ये केचित्परिपन्थिनः। जीवितारोग्यवित्तेषु निर्दहस्वाचिरेण तान् ॥ धारिण्यशेषभूतानां मातस्त्वमधिका ह्यसि। कुमारं पाहि मातस्त्वं ब्रह्मा तदनुमन्यताम् ॥ इति। ततो ब्राह्मणान्पूजयित्वाऽऽशिषो वाचयित्वा नीराजनाद्युत्सवं कुर्यात्। एवं कुमार्या अपि ॥

अथ कर्णवेधः। तत्र याज्ञिकाः पठन्ति—अथ कर्णवेधो वर्षे तृतीये पञ्चमे वा पुष्येन्दुचित्राहरिरेवतीषु पूर्वाह्णे कुमारस्य मधुरं दत्त्वा प्रत्यङ्मुखायोपविष्टाय दक्षिणं कर्णमभिमन्त्रयते भद्रं कर्णेभिरिति सव्यं वक्ष्यन्तीवेदेति चाथ भिन्द्यात्। ततो ब्राह्मणभोजनम्। मदनरत्ने—प्रथमे सप्तमे मासि अष्टमे दशमे तथा। द्वादशे च तथा कुर्यात्कर्णवेधं शुभावहम् ॥ हेमाद्रौ व्यासवचनम्—कार्तिके पौषमासे वा चैत्रे वा फाल्गुनेऽपि वा। कर्णवेधं प्रशंसन्ति शुक्लपक्षे शुभे दिने ॥ कारिकायाम्—सुनक्षत्रे शुभे चन्द्रे स्वस्थे शीर्षोदये तथा। दिनच्छिद्रव्यतीपातविष्टिवैधृतिवर्जिते ॥ चित्राऽनुराधामृगरेवतीषु पुनर्वसौ पुष्यकराश्विनीषु। श्रुतौ धनिष्ठातिसृषूत्तरासु लग्ने गुरौ लाभनुगे (?) शुभे तत् ॥ मदनरत्ने—द्वितीया दशमी षष्ठी सप्तमी च त्रयोदशी। द्वादशी पञ्चमी शस्ता तृतीया कर्णवेधने ॥ सौवर्णी राजपुत्रस्य राजती विप्रवैश्ययोः। शूद्रस्य चायसी सूची मध्यमाष्टाङ्गुलात्मिका ॥ हेमाद्रौ देवलः—कर्णरन्ध्रे रविच्छाया नं विशेदग्रजन्मनः। तं दृष्ट्वा विलयं यान्ति पुण्यौघाश्च पुनः पुनः ॥ शङ्खः—अङ्गुष्ठमात्रसुपिरौ कर्णौ न भवतो यदि। तस्मै श्राद्धं न दातव्यं दत्तं चेदासुरं भवेत् ॥ ततो यथोक्तकाले देशकालौ स्मृत्वाऽस्य शिशोः कर्णवेधं करिष्ये इति सङ्कल्प्य कुमारं स्नापयित्वा तस्मै शर्करादि मधुरं दत्त्वा भद्रं कर्णेभिरिति दक्षिणकर्णमभिमन्त्र्य वक्ष्यन्तीवेदेति मन्त्रेण सव्यकर्णस्याभिमन्त्रणं कुर्यात्। ततः सूच्या दक्षिणकर्णस्य वेधः। ततः सव्यस्य। ततो ब्राह्मणभोजनम्। अत्राभ्युदयिकं केषाञ्चिन्मते नास्ति ॥ इति कर्णवेधपदार्थक्रमः ॥

अनुवाद—'तच्चक्षु···' इत्यादि मंत्र पढ़ते हुए पिता अपने पुत्र को सूर्य के दर्शन कराए।

(मन्त्र)—तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतᳬ शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ।

(य० सं० ३६।२४)

मंत्रार्थ—(ऋषि ब्रह्मा, छन्द त्रिष्टुप्, देवता सूर्य ।) सूर्य संसार की आँख है । दैवी गुणों से युक्त पुरुषों के वे हितैषी हैं । प्रतिदिन पूर्व दिशा में उनका उदय होता है । वे श्वेत वर्ण के हैं । इनकी कृपा से हम सौ साल तक देखें, सौ साल तक सुनें, सौ साल तक बोलें, सौ वर्ष की उम्र तक हम किसी के सामने दीन न बनें । स्वस्थ और समृद्ध बनकर हम शतायु बनें ।

टिप्पणी—गदाधर ने अपने पदार्थक्रम में शिशु का खट्वारोहण, दुग्धपान, ताम्बूलभक्षण, चन्द्रदर्शन और कर्णवेध आदि के सम्बन्ध में भी अनेक नियम बतलाए हैं । जिज्ञासुओं को मूलपाठ देखना चाहिए ।

प्रथमकाण्ड में सप्तदश कण्डिका समाप्त ।

अष्टादशी कण्डिका

प्रोष्येत्य गृहानुपतिष्ठते पूर्ववत् ॥ १।१८।१ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'प्रोष्येत्य''''पूर्ववत्' । प्रोष्य प्रवासादेत्य गृहान् गृहस्थान्भार्यापुत्रादीनुपतिष्ठते प्रार्थयते । कथम् ? पूर्ववत् । आहिताग्निप्रवासप्रकरणोक्तवत् । तद्यथा—गृहामाविभीतेत्यारभ्य उपहूतो गृहेषु न इत्येतावत्पर्यन्तैस्त्रिभिर्मन्त्रैः गृहानुपस्थाय क्षेमाय व इत्यादिना शँय्योरित्यन्तेन मन्त्रेण गृहं प्रविशेत् । केचित्तु सूत्रकारेण गृहोपस्थानमात्रविधानान्मन्त्रवत्प्रवेशं नेच्छन्ति ॥ १।१८।१ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'प्रोष्येत्य''' पूर्ववत्' । साग्निकः प्रवासं कृत्वा एत्य गृहान् गृहस्थितान् भार्यापुत्रादीनुपतिष्ठते तत्समीपे स्थित्वा मन्त्रं पठति पूर्ववत् श्रौतवत् । गृहामाविभीतेति त्रिभिर्मन्त्रैरित्यर्थः । उपस्थानानन्तरं क्षेमाय व इति प्रवेशनमिति भर्तृयज्ञहरिहरौ । प्रवासश्च साग्निकेन द्रव्यार्जनादिदृष्टकार्यार्थमेव केवलेन पुरुषेण कार्यः । न तु तीर्थयात्राद्यदृष्टकार्यार्थमिति प्रयोगरत्ने ॥ १।१८।१ ॥

अनुवाद—प्रवास से लौटने के बाद घर आकर पहले की तरह घर में प्रवेश करने से पूर्व 'गृहा मा विभीत''' इत्यादि तीन मंत्र पढ़े ।

(मन्त्र) गृहा मा बिभीत मा वेपध्वमूर्जं बिभ्रत एमसि ।
ऊर्जं बिभ्रद्वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः ॥ १ ॥
येषामध्येति प्रवसन्येषु सौमनसो बहुः ।
गृहानुप ह्वयामहे ते नो जानन्तु जानतः ॥ २ ॥
उपहूता इह गाव उपहूता अजावयः ।
अथो अन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु नः ॥ ३ ॥
क्षेमाय वः शान्त्यै प्रपद्ये शिवꣳ शग्मꣳ शंयोः शंयोः ॥

(य० सं० ३।४१-४३)

टिप्पणी—पूर्वोक्त रीति से, तात्पर्य यह है कि कात्यायनश्रौतसूत्र के आहिताग्नि प्रवास-प्रकरण में बतलाई गई विधि से होना चाहिए । तदनुसार ऊपर लिखित तीन मंत्र पढ़ने के बाद 'क्षेमाय व''' मंत्र पढ़कर ही घर में प्रवेश करना चाहिए । प्रयोगरत्न के अनुसार धनार्जन के लिए ही पुरुष अकेला प्रवासी होता है । यह दृष्ट प्रयोजन है और अदृष्ट प्रयोजनमूलक तीर्थादि यात्रा तो पत्नी के साथ ही करता है ।

पुत्रं दृष्ट्वा जपति—

अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधिजायसे ।
आत्मा वै पुत्रनामाऽसि स जीव शरदः शतम् । इति ॥ १।१८।२ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'पुत्रं···शतमिति'। पुत्रमात्मजं दृष्ट्वा विलोक्य अङ्गादङ्गा-दित्यादिकं मन्त्रं जपति ॥ १।१८।२ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'पुत्रं···शतमिति'। पुत्रमात्मजं दृष्ट्वा विलोक्य अङ्गाद-ङ्गादिति मन्त्रं पठति। मन्त्रार्थः—हे पुत्र ! यतस्त्वमङ्गात्प्रत्यङ्गात्सम्भवसि उत्पत्स्यसे। हृदयादन्तरङ्गादपि अधिकतया जायसे। अतस्त्वं वै निश्चितं पुत्रनामा आत्माऽभिन्न-रूपोऽसि। स त्वं शतं शरदो वर्षाणि जीव प्राणिहि ॥ १।१८।२ ॥

अनुवाद—पुत्र की ओर देखकर पिता 'अङ्गादङ्गात्···' इस मंत्र का जप करे।

मन्त्रार्थ—(ऋषि प्रजापति, छन्द अनुष्टुप्, देवता आयु।) हे पुत्र ! तुम हमारे अंग-अंग से उत्पन्न हुए हो। तुम हमारे हृदय से भी अधिक प्रिय हो। पुत्र के रूप में यथार्थतः तुम मेरी आत्मा हो। सौ वर्ष तक तुम जीवित रहो।

अथास्य मूर्द्धानमवजिघ्रति—

प्रजापतेष्ट्वा हिङ्कारेणावजिघ्रामि।
सहस्रायुषाऽसौ जीव शरदः शतम्। इति ॥ १।१८।३ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अथा···घ्रति'। अथ जपानन्तरमस्य पुत्रस्य मूर्द्धानं शिरः अवजिघ्रति अवाचीनं जिघ्रति। केन मन्त्रेण ? 'प्रजाप···शतमिति' अनेन मन्त्रेण सकृत्। असावित्यस्य स्थाने अमुकशर्मन्निति पुत्रनामग्रहणम् ॥ १।१८।३ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'अथा···शतमिति'। जपोत्तरमस्य पुत्रस्य मूर्द्धानं शिरः अवजिघ्रति। अवाचीनं जिघ्रति प्रजापतेष्ट्वेति मन्त्रेण। असाविति तस्यैव नाम-ग्रहणम्। मन्त्रार्थः—हे पुत्र ! प्रजापतेर्ब्रह्मणः हिङ्कारेण स्नेहार्द्रकृतध्वनिविशेषेण साम-वेदावयवेन या त्वा त्वामवजिघ्रामि शिरसि चुम्बामि। अतोऽवघ्राणात् हे असौ अमुक-शर्मन् सहस्रायुषा सुबहुजीवनेन शरदः शतमिति उक्तार्थम् ॥ १।१८।३ ॥

अनुवाद—मंत्रपाठ के बाद पिता पुत्र के सिर को 'प्रजापतेष्ट्वा ' इत्यादि मंत्र पढ़कर सूंघे।

मन्त्रार्थ—(ऋषि परमेष्ठी, छन्द उष्णिक्, देवता प्रजापति।) हे पुत्र ! ब्रह्मा के स्नेह-सने शब्दों अथवा सामवेद के सामों से मैं तुम्हारा सिर सूँघता हूँ। इसके प्रभाव से तुम शतायु बनो।

गवां त्वा हिङ्कारेणेति च त्रिर्दक्षिणेऽस्य कर्णे जपति—
अस्मे प्रयन्धि मघवन्नृजीषिन्निन्द्ररायो विश्ववारस्य भूरेः।
अस्मे शतꣳ शरदो जीवसेऽधा अस्मे वीराञ्छश्वत इन्द्र शिप्रिन्निति ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'गवां···त्रिः'। प्रजापतेष्ट्वेति सकृदवघ्राणानन्तरं पुनः गवां त्वा हिङ्कारेणावजिघ्रामि सहस्रायुषाऽसौ जीव शरदः शतमिति मन्त्रेण सकृन्मूर्द्धानमव-घ्राय द्विस्तूष्णीमवजिघ्रति। 'दक्षिणेऽ···प्रिन्निति'। अस्य पुत्रस्य दक्षिणे कर्णे अस्मे प्रयन्धीत्यादि इन्द्रशिप्रिन्नित्यन्तं मन्त्रं जपति ॥ १।१८।४ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'गवां'''त्रिः' । गवां त्वेति च मन्त्रेण त्रिरवजिघ्रति सहस्रायुषेत्यादेरत्राप्यनुषङ्गः । तेन प्रजापतिस्थाने गवां त्वेति पदं मन्त्रे पठेदित्यर्थः, ततश्च गवां त्वा हिङ्कारेणावजिघ्रामि सहस्रायुषाऽमुकशर्मन् जीव शरदः शतमिति मन्त्रेण सकृन्मूर्द्धानमवघ्राय द्विस्तूष्णीमवजिघ्रति । 'दक्षिणे'' शिप्रिन्निति' । अस्य पुत्रस्य दक्षिणे कर्णे अस्मे प्रयन्धि मघवन्निति मन्त्रं जपति । मन्त्रार्थः—हे मघवन् इन्द्र ! ऋजीषिन् स्निग्धचित्त ! हे इन्द्र लोकेश ! शिप्रिन् सुखद लघुहस्ते वा । अस्मे अस्मै कुमाराय इन्द्ररायः ऐश्वर्याणि धनानि च प्रयन्धि प्रयच्छ । विश्ववारस्य सर्ववरणीयस्य वराणां समूहो वारं सर्वेषां वाराणां समूहः सर्ववारं तस्येति वा । भूरेः बहुतरस्य । उभयत्र कर्मणि षष्ठी । प्रचुरसर्ववारं रायं प्रयच्छ इत्यर्थः । प्रयोजनमाह—अस्मे अस्य शतं शरदो जीवसे जीवनायेति । किञ्च अस्मे अस्मिन् वीरान् पुत्रान् शश्वतः शाश्वतान् दीर्घायुषः अधाः निधेहि अस्मै देहीत्यर्थः ॥ १।१८।४ ॥

अनुवाद—फिर 'गवां त्वा''' इत्यादि मंत्र पढ़ने के बाद एक बार मंत्र पढ़कर सूँघने के बाद दो बार बिना मंत्र पढ़े ही पुनः सिर सूँघे । पुत्र के दाहिने कान में 'अस्मे''' इत्यादि मंत्र का जाप करे ।

मन्त्रार्थ—(ऋषि प्रजापति, छन्द त्रिष्टुप्, देवता इन्द्र ।) गायों की स्नेहपूर्ण ध्वनि से मैं तुम्हे सूँघता हूँ । अतः अत्यधिक आयु से तुम सौ साल तक जीओ । हे देवराज इन्द्र ! आप सुखद एवं स्निग्ध चित्त के स्वामी हैं । इस बालक को आप ऐश्वर्य, धन और विश्व की श्रेष्ठ वस्तुओं के साथ सौ वर्ष की पूर्णायु, पुत्र और पौत्र प्रदान करें ।

इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि चित्तिं दक्षस्य सुभगत्वमस्मे ।
पोषꣳ रयीणामरिष्टिं तनूनाꣳ स्वात्मानं वाचः सुदिन त्वमह्नामिति सव्ये ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'इन्द्र श्रे'''सव्ये' । सव्ये वामकर्णे इन्द्रश्रेष्ठेत्यादि सुदिनत्वमह्नामित्यन्तं मन्त्रं जपति ॥ १।१८।५ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'इन्द्र'''ह्नामिति' । सव्ये सव्यकर्णे इन्द्रश्रेष्ठानीति मन्त्रं जपति । मन्त्रार्थः—हे इन्द्र परमैश्वर्ययुक्त ! अस्मे अस्मिन् श्रेष्ठानि सुमङ्गलानि धेहि स्थापय । चित्तिं ज्ञानं दक्षस्य दक्षप्रजापतेरिव सुभगत्वं सौभाग्यं सर्वप्रभुत्वं च धेहि । तथा रयीणां धनानां पोषं पुष्टिं तनूनामवयवानामरिष्टिं नीरोगत्वं वाचः वाण्याः स्वात्मानं स्वादुत्वं माधुर्यमिति यावत् । अह्नां दिनानां सुदिनत्वं साफल्यं च धेहि ॥ १।१८।५ ॥

अनुवाद—उसके बाँयें कान के समीप 'इन्द्र श्रेष्ठानि''' इत्यादि मंत्र जपना चाहिए ।

मन्त्रार्थ—(ऋषि प्रजापति, छन्द त्रिष्टुप्, देवता इन्द्र ।) हे देवराज ! इस शिशु को आप उत्तम कोटि की मंगलमयी धनराशि प्रदान करें । इसका चैतन्य, इसकी प्रज्ञा, इसका ज्ञान और स्वास्थ्य विमल हो । प्रजापति दक्ष की तरह यह प्रभुत्व

सम्पन्न हो। इसे धनधान्य की कमी न हो। इसकी वाणी अत्यन्त मधुर हो। इसका प्रत्येक दिन सफलता का सूचक हो। ऐसा वरदान आप इसे दें।

स्त्रियै तु मूर्द्धानमेवावजिघ्रति तूष्णीम् ॥ १।१८।६ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'स्त्रियै···तूष्णीम्'। स्त्रियाः पुत्रिकायाः मूर्द्धानमेव अवजिघ्रति तूष्णीं विना मन्त्रेण एवकारेण दर्शनजपकर्णजपयोर्निवृत्तिः ॥ १।१८।६ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'स्त्रियै···तूष्णीम्'। स्त्रियै स्त्रियाः दुहितुः पुत्रिकायाः मूर्द्धानमेव तूष्णीं जिघ्रति न त्वन्यत्। एवकारेण दर्शनजपकर्णजपयोर्निवृत्तिरिति हरिहरः। एवकारकरणं कर्णजपप्रतिषेधार्थकमिति भर्तृयज्ञः ॥ १।१८।६ ॥

अनुवाद—बेटे की जगह यदि बेटी हो तो पिता चुपचाप उसका सिर चूम ले। किसी भी मंत्र का उच्चारण न करे।

प्रथम काण्ड में अष्टादश कण्डिका समाप्त।

एकोनविंशी कण्डिका

अन्नप्राशनम्

षष्ठे मासेऽन्नप्राशनम् ॥ १।१९।१ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'षष्ठे मासेऽन्नप्राशनम्'। जन्मतः षष्ठे मासे कुमारस्य अन्नप्राशनं कर्म कुर्यात् ॥ १।१९।१ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'षष्ठे मासेऽन्नप्राशनम्'। जन्मतः षष्ठे मासे कुमारस्यान्नप्राशनाख्यं कर्म कुर्यात्। नारदः—जन्मतो मासि षष्ठे स्यात् सौरेणान्नाशनं परम्। तदभावेऽष्टमे मासि नवमे दशमेऽपि वा ॥ द्वादशे वाऽपि कुर्वीत प्रथमान्नाशनं परम्। संवत्सरे वा सम्पूर्णे केचिदिच्छन्ति पण्डिताः ॥ षष्ठे वाऽप्यष्टमे मासि पुंसां स्त्रीणां तु पञ्चमे। सप्तमे मासि वा कार्यं नवान्नप्राशनं शुभम् ॥ रिक्तां दिनक्षयं नन्दां द्वादशीमष्टमीममाम्। त्यक्त्वाऽन्यतिथयः प्रोक्ताः सितजीवज्ञवासराः ॥ चन्द्रवारं प्रशंसन्ति कृष्णे चान्त्यत्रिकं विना। श्रीधरः—आदित्यतिष्यवसुसौम्यकरानिलाश्विचित्राजविष्णुवरुणोत्तरपौष्णमित्राः। बालान्नभोजनविधौ दशमे विशुद्धे छिद्रां विहाय नवमीं तिथयः शुभाः स्युः ॥ वसिष्ठः—बालान्नभुक्तौ व्रतबन्धने च राजाभिषेके खलु जन्मधिष्ण्यम्। शुभं त्वनिष्टं सततं विवाहे सीमन्तयात्रादिषु मङ्गलेषु ॥ १।१९।१ ॥

अनुवाद—जन्म से छठे महीने में अन्नप्राशन संस्कार करना चाहिए।

स्थालीपाकꣳ श्रपयित्वाऽऽज्यभागाविष्ट्वाऽऽज्याहुती जुहोति—
देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति।
सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुपसुष्टुतैतु स्वाहेति ॥१।१९।२॥
वाजो नो अद्येति च द्वितीयाम् ॥ १।१९।३ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'स्थालीपाकꣳ···जुहोति'। अन्नप्राशनस्येतिकर्तव्यताविशेषमाह—स्थालीपाकं चरुं यथाविधि श्रपयित्वा आघारावाज्यभागौ हुत्वा द्वे आहुती जुहोति। देवीं वाचमित्यादि वाजो नो अद्येति च द्वितीयाम् इत्यन्तं सूत्रम्। आज्येन देवीं वाचमित्यादिकया ऋचा एकामाहुतिं जुहुयात्। इदं वाचे इति त्यागं विधाय चकारात्पुनर्देवीं वाचमित्येतस्यान्ते वाजो नः। यथा देवीं वाचमिति वाजो नो अद्येति च द्वाभ्यामृग्भ्यां द्वितीयामाज्याहुतिं हुत्वा इदं वाचे वाजाय चेति त्यागं कुर्यात् ॥ १।१९।२-३ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'स्थालीपा···जुहोति'। स्थालीपाकं चरुं यथाविधि श्रपयित्वाऽऽज्यभागौ हुत्वा द्वे आज्याहुती वक्ष्यमाणैर्मन्त्रैर्जुहोति। 'देवीं वाच··· द्वितीयाम्'। द्वे आहुती जुहोतीत्युक्तं तत्र देवीं वाचमजनयन्त इति मन्त्रेणैकामाहुतिं जुहोति। वाजो नो अद्येति च द्वितीयाम्, चशब्दात्पूर्वया ऋचा सह वाजो नो अद्येत्य-

नया द्वितीयामाहुतिं जुहोति। ततश्च देवीं वाचमिति वाजो नो अद्येति च द्वाभ्यामृग्भ्यां द्वितीयामाहुतिं जुहोतीत्यर्थः। मन्त्रार्थः—देवीं देवसम्बन्धिनीं वाचं वाणीं देवाः प्राणादिवायवः अजनयन्त उत्पादितवन्तः ततस्तां देवीं वाचं विश्वरूपाः नानारूपा ऋषिमुनिब्राह्मणादयः पशवः संसरणत्वाद्वदन्ति। पशुरेवं स देवानामिति श्रुतेः। सा नो अस्मान् उपैतु सन्निहिताऽस्तु। किम्भूता? मन्द्रा हर्षकरी। इषं रसम् ऊर्जम् अन्नादि च दुहाना। सुष्टुता शोभनैर्मन्त्रैः तद्द्रष्टृभिर्वा स्तुता। तत्र दृष्टान्तः। वत्सान् धेनुरिवेति॥ १।१९।२-३॥

अनुवाद—पूर्वोक्त विधि से खीर पकाकर अग्नि-सोम के लिए आहुतियाँ डालकर 'देवीं वाचम····' तथा 'वाजो नो····' इत्यादि मंत्रों द्वारा अलग-अलग घी की आहुति दें।

मन्त्रार्थ—(ऋषि प्रजापति, छन्द त्रिष्टुप्, देवता वाणी।) सबसे पहले ऐश्वर्यमयी और प्रदीप्त वाणी को देवताओं ने उत्पन्न किया। उसके बाद उसका उच्चारण विभिन्न प्राणियों ने किया। वही सुखद और गम्भीर वाणी हमें अन्न, रस और शक्ति प्रदान करती हुई हमारी स्तुति से खुश होकर उसी तरह यहाँ दौड़ी आए जैसे बछड़े के रँभाने पर गाय दौड़कर आती है।

(मन्त्र) वाजो नो अद्य प्रसुवाति दानं वाजो देवाँ२ ऋतुभिः कल्पयाति।
वाजो हि मा सर्ववीरं जजान विश्वा आशा वाजपतिर्जयेयꣳ स्वाहा॥
(य० सं० १८।३३)

मन्त्रार्थ—(ऋषि प्रजापति, छन्द अनुष्टुप्, देवता अन्न।) हे अन्न के अधिष्ठातृ देवता! आज से अन्नदान की दृष्टि से हमें पहचान लें। उचित अवसर आने पर हम अन्न से देवताओं को हवियाँ प्रदान करें। अन्नमय ब्रह्म से ही हमारे सभी बेटे-पोतों का जन्म हुआ है। हम अन्नधन से समृद्ध होकर सभी दिशाओं में विजयी बनें।

स्थालीपाकस्य जुहोति—

प्राणेनान्नमशीय स्वाहाऽपानेन गन्धानशीय स्वाहा, चक्षुषा रूपाण्यशीय स्वाहा, श्रोत्रेण यशोऽशीय स्वाहेति॥१।१९।४॥

(हरिहरभाष्यम्)—'स्थालीपाकस्य जुहोति'। स्थालीपाकस्य चरोः प्राणेनान्नमशीयेत्यादिभिश्चतुर्भिर्मन्त्रैश्चतस्र आहुतीर्जुहोति॥ १।१९।४॥

(गदाधरभाष्यम्)—'स्थालीपा···स्वाहेति'। स्थालीपाकस्येत्यवयवलक्षणा षष्ठी। स्थालीपाकस्य चरोः प्राणेनान्नमशीय स्वाहेति प्रतिमन्त्रं चतुर्भिर्मन्त्रैश्चतस्र आहुतीर्जुहोति। ततः स्विष्टकृदादिप्राशनान्तम्। मन्त्रार्थः—प्राणेन वायुनाऽन्नमशीय अहं प्राप्नुयाम् लभेयम्। अपानेन वायुना गन्धान् परिमलान् लभेयम्। एवमग्रेऽपि योज्यम्॥ १।१९।४॥

अनुवाद—'प्राणेनान्नमशीय···' इत्यादि चार मंत्रों से चरु की चार आहुतियाँ दें।

प्राशनान्ते सर्वान् रसान्त्सर्वमन्नमेकत उद्धृत्याऽथैनं प्राशयेत्॥१।१९।५॥

तूष्णीꣳहन्तेति वा, हन्तकारं मनुष्या इति श्रुतेः॥ १।१९।६॥

(**हरिहरभाष्यम्**)—ततः स्विष्टकृदादि प्राशनान्तं विधाय। 'सर्वान्…इति श्रुतेः'। सर्वान् मधुरादीन् रसान्सर्वमन्नं भक्ष्यभोज्यलेह्यपेयचोष्यादि। एकतोद्धृत्येत्यत्र विसर्जनीयलोपेऽपि पुनः सन्धिरार्षः पृथगुकारोच्चारणं वा। एकतः एकस्मिन्पात्रे उद्धृत्य कृत्वा अथानन्तरमेनं कुमारं प्राशयेत् तूष्णीं मन्त्ररहितं हन्तेति वा मन्त्रेण। कुतः ? हन्तकारं मनुष्या उपजीवन्ति इति श्रवणात् ॥ १।१९।५-६ ॥

(**गदाधरभाष्यम्**)—'प्राशनान्ते…श्रुतेः'। प्राशनान्ते कर्मणि सर्वान् रसान् कटुमधुरतिक्तकषायादीन् सर्वमन्नं भक्ष्यं भोज्यं लेह्यं चोष्यं पेयं चैकताम् एकस्मिन् सुवर्णादिपात्रे उद्धृत्याथैनं कुमारं तस्मादन्नं गृहीत्वा तूष्णीं प्राशयेत्। हन्तेति मन्त्रेण वा प्राशयेत्। तस्यै द्वौ स्तनौ देवा उपजीवन्ति स्वाहाकारं वषट्कारं च, हन्तकारं मनुष्याः स्वधाकारं पितर इति श्रवणात्। श्रुतिरपि च लिङ्गभूता स्मरणस्य द्योतिका भवति। नन्वग्रमुद्धृत्य ब्राह्मणाय दीयते तत्र कृतार्थमेतद्दर्शनमिति चेन्नैवम्। उभयोर्द्योतिका भविष्यति। एकतोद्धृत्येत्यत्र छान्दसः सन्धिः। मार्कण्डेयः—देवतापुरतस्तस्य धात्र्युत्सङ्गगतस्य च। अलङ्कृतस्य दातव्यमन्नं पात्रे सकाञ्चनम्॥ मध्वाज्यदधिसंयुक्तं प्राशयेत्पायसं तु वेति ॥ १।१९।५-६ ॥

अनुवाद—संस्रवप्राशन के बाद मधुर आदि सभी रसों को, भक्ष-भोज्यादि सभी अन्नों को एक पात्र से उठाकर शिशु को चटाना चाहिए। यह प्राशन मंत्र रहित चुपचाप या केवल हन्त कहकर करना चाहिए, क्योंकि श्रुति का वचन है—'हन्तकारं मनुष्याः।'

भारद्वाज्यामाꣳसेन वाक्प्रसारकामस्य ॥ १।१९।७ ॥

(**हरिहरभाष्यम्**)—'भारद्वाज्या…पर्याय वा'। अत्र गुणफलमाह—भारद्वाज्याः पक्षिण्याः मांसेन कुमारस्य प्राशनं कारयितव्यम्। यदीयं कामना भवति कस्य पितुः कथम्भूतस्य वाक्प्रसारकामस्य वाचः प्रसारो बहुत्वं तत्कुमारस्य कामयते इति वाक्प्रसारकामः तस्य कर्तरि षष्ठी कृत्यप्रत्ययान्तत्वात् ॥ १।१९।७ ॥

(**गदाधरभाष्यम्**)—गुणफलमाह—'भारद्वाज्या…कामस्य'। भारद्वाजी पक्षिणीविशेषः 'चिठीकेति प्रसिद्धा' तस्याः मांसेन वाक्प्रसारः अयं कुमारो वाग्मी स्यादित्येवं कामो यस्मिन् कुमारे तस्य प्राशनं कुर्यात् ॥ १।१९।७ ॥

अनुवाद—पिता यदि पुत्र को वाग्मी बनाना चाहे तो भारद्वाजी (मादा) पक्षी के मांस से प्राशन कराये।

कपिञ्जलमाꣳसेनाऽन्नाद्यकामस्य ॥ १।१९।८ ॥

(**हरिहरभाष्यम्**)—एवमन्नाद्यकामस्य कपिञ्जलमांसेन एवमुत्तरत्रापि। अयमर्थः—यदि कुमारस्य अयं वाग्मी स्यादिति कामयेत्तदा भारद्वाज्या मांसं प्राशयेत्। यदि कुमारोऽन्नादः स्यादिति कामयेत्तदा कपिञ्जलमांसं प्राशयेत्। कपिञ्जलः कारण्डवो मैरिर्वा मयूरो वा केचित्तित्तिरो वेति ॥ १।१९।८ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'कपिञ्ज···कामस्य' । कपिञ्जलः पक्षिविशेषः प्रसिद्धः । यद्ययं कुमारोऽन्नादः स्यादिति कामयेत्तदा कपिञ्जलमांसेन प्राशनं कुर्यात् । एवमग्रेऽपि योज्यम् ॥ १।१९।८ ॥

अनुवाद—पिता यदि पुत्र को अन्न-भक्षण के योग्य बनाना चाहे तो पहले वह उस बच्चे को कपिञ्जल पक्षी का मांस चखाये ।

टिप्पणी—कपिञ्जल 'पक्षी' की पहचान बड़ी कठिन है । क्योंकि कुछ विद्वानों के अनुसार यह तितिर है, कोई इसे मोर, कोई कारण्डव और कोई इसे मैंरी मानते हैं ।

मत्स्यैर्जवनकामस्य ॥ १।१९।९ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—यदि कुमारोऽयं जवनः शीघ्रगामी स्यात्तदा यथासम्भवं मत्स्यान्प्राशयेत् ॥ १।१९।९ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'मत्स्यै···मस्य' । जवनः शीघ्रगामी स्यादिति कामयेत् तदा मत्स्यानां मांसेन प्राशनं कुर्यात् ॥ १।१९।९ ॥

अनुवाद—शिशु में यदि धावक शक्ति का विकास चाहे तो उसे मछली खिलाना चाहिए ।

कृकषाया आयुष्कामस्य ॥ १।१९।१० ॥

(हरिहरभाष्यम्)—स यदि कुमारो दीर्घायुः स्यादिति कामयेत् तदा कृकषाया मांसं प्राशयेत् ॥ १।१९।१० ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'कृकषा···मस्य' । कृकषा कङ्कणहारिका तन्मांसेन दीर्घायुष्कामस्य प्राशनम् ॥ १।१९।१० ॥

अनुवाद—बालक को चिरायु की कामना से केकड़े के मांस से अन्नप्राशन कराये ।

आटचा ब्रह्मवर्चसकामस्य ॥ १।१९।११ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—यदि कुमारो ब्रह्मवर्चस्वी स्यादिति कामयेत्तदा आटचा मांसं प्राशयेत् ॥ १।१९।११ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'आटचा···मस्य' । आटिर्जलचरः पक्षी तन्मांसेन ब्रह्मवर्चस-कामस्य प्राशनं कुर्यात् ॥ १।१९।११ ॥

अनुवाद—यदि ब्रह्मवर्चस की कामना बालक की हो तो आटचा अर्थात् जल पक्षी के मांस से अन्नप्राशन कराये ।

सर्वैः सर्वकामस्य ॥ १।१९।१२ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—यदि वाक्प्रसारादीनि ब्रह्मवर्चसान्तानि सर्वाणि कुमारस्य भवन्त्विति कामयेत्तदा भारद्वाज्यादीनामाटचन्तानां सर्वाणि मांसानि क्रमेण प्राशयेत् ॥ १।१९।१२ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'सर्वैः सर्वकामस्य'। यो वाक्प्रसारादिसर्वान्कामान् कामयते तस्य भारद्वाज्यादिसर्वैर्मांसैः क्रमेण प्राशनं कुर्यात्। मिश्रैः प्राशनमिति भर्तृयज्ञः॥ १।१९।१२।।

अनुवाद—यदि पिता बालक में एक साथ सभी गुणों को चाहे तो ऊपर लिखित सभी मांसों को एक साथ चटा दे।

अन्नपर्याय वा ततो ब्राह्मणभोजनमन्नपर्याय वा ततो ब्राह्मणभोजनम्॥

(हरिहरभाष्यम्)—अन्नपर्याय वा अन्नपरिपाट्या वा अन्नवदेकीकृत्य प्राशयेदित्यर्थः। अन्नपर्ययेति अविभक्तिकमार्षं पदम्। 'ततो ब्राह्मणभोजनम्'। ततः कर्मसमाप्तौ एकस्य ब्राह्मणस्य भोजनं कारयितव्यम्। अत्र काण्डपरिसमाप्तौ द्विरुक्तिः। यथा कात्यायनसूत्रे अध्यायपरिसमाप्तौ उपस्पृशेदप उपस्पृशेदप इति सूत्रार्थः॥ १।१९।१३॥

अथान्नप्राशनप्रयोगः—कुमारस्य षष्ठे मासे चन्द्रतारानुकूले शुभे दिने मातृपूजापूर्वकं नान्दीमुखश्राद्धं विधाय पञ्च भूसंस्कारान्कृत्वा लौकिकाग्निं स्थापयित्वा ब्रह्मोपवेशनाद्याज्यभागान्तं विदध्यात्। तत्र आज्येन देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति। सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुपसुष्टुतैतु स्वाहेति प्रथमाम्। इदं वाचे इति त्यागं विधाय पुनर्देवीं वाचमित्येतस्यान्ते वाजो नो अद्य प्रसुवातिदानं वाजो देवाँ ऋतुभिः कल्पयाति। वाजो हि मा सर्ववीरं जजान विश्वा आशा वाजपतिर्जयेयᳬस्वाहेति द्वितीयाम्। इदं वाचे वाजायेति च त्यागं कुर्यात्। अथ स्थालीपाकेन चतस्र आहुतीर्जुहोति तद्यथा। प्राणेनान्नमशीय स्वाहा इदं प्राणाय०। अपानेन गन्धानशीय स्वाहा इदमपानाय०। चक्षुषा रूपाण्यशीय स्वाहा। इदं चक्षुषे०। श्रोत्रेण यशोऽशीय स्वाहा। इदं श्रोत्राय०। ततः स्थालीपाकेन स्विष्टकृतं हुत्वा महाव्याहृत्यादिप्राजापत्यान्ता नवाहुतीराज्येन हुत्वा संस्रवप्राशनम्। दक्षिणादानान्तं कृत्वा सर्वान् रसान्सर्वं चान्नमेकस्मिन् पात्रे समुद्धृत्य सकृदेव कुमारं तूष्णीं प्राशयेत्। हन्तेति वा मन्त्रेण। स यदि कुमारस्य वाग्मित्वमिच्छेत्तदा भारद्वाज्या मांसं प्राशयेत्। यद्यन्नाद्यत्वं कामयेत्तदा कपिञ्जलमांसं, यदि जवनत्वं तदा मत्स्यमांसं, यदि दीर्घायुष्ट्वं तदा कृकषायाः मांसं, यदि ब्रह्मवर्चसं तदा आट्या मांसं, यदि सर्वकामस्तदा सर्वमांसानि क्रमेण प्राशयेत्। एकीकृत्य वा। अस्य कर्मणः समृद्ध्यर्थं ब्राह्मणमेकं भोजयिष्ये इति सङ्कल्प्य ब्राह्मणं भोजयेत्। इत्यन्नप्राशनम्।

इत्यग्निहोत्रिहरिहरविरचितायां पारस्करगृह्यसूत्रव्याख्यानपूर्विकायां प्रयोगपद्धतौ प्रथमः काण्डः॥ १॥

(गदाधरभाष्यम्)—'अन्नपर्या....भोजनम्'। अन्नपरिपाट्या वाऽन्नवत् सर्वमांसान्येकीकृत्य प्राशयेदित्यर्थः। अन्नपरिपाट्या वा क्रमेण प्राशयेन्नैकत उद्धृत्येति

भर्तृयज्ञाः । अन्नपर्यायेत्यविभक्तिकं छान्दसं पदम् । तत इत्युक्तार्थम् । द्विरुक्तिः काण्डसमाप्तिसूचनार्था ॥ १।१९।१३ ॥

अथ पदार्थक्रमः—जन्मतः षष्ठे मासे रेवत्यश्विनीरोहिणीमृगशिरःपुनर्वसुपुष्यहस्तचित्राश्रवणधनिष्ठोत्तरात्रयेषु बुधजीवभानुवारेषु शुभे चन्द्रे पूर्वाह्णे पित्रादिः शिशोरन्नप्राशनं कारयेत् । षष्ठे च क्रियते तदा गुरुशुक्रभौमादिदोषोऽधिकमासादिदोषश्च नास्ति । पित्रादिः सभार्यः शिशोर्मङ्गलस्नानं कारयित्वा देशकालौ स्मृत्वा ममाऽस्य शिशोर्मातृगर्भमलप्राशनशुद्ध्यन्नाद्यब्रह्मवर्चसतेजइन्द्रियायुर्लक्षणफलसिद्धिबीजगर्भसमुद्भवैनोनिबर्हणद्वारा श्रीपरमेश्वरप्रीत्यर्थमस्य कुमारस्यान्नप्राशनाख्यं कर्माहं करिष्ये । ततः स्वस्तिवाचनाभ्युदयिके कृत्वा पञ्च भूसंस्कारान्कृत्वा लौकिकाग्नेः स्थापनम् । वैकल्पिकावधारणे हन्तेति प्राशनमिति विशेषः । ततो ब्रह्मोपवेशनाद्याज्यभागान्तं तत आज्येन देवीं वाचमिति प्रथमाहुतिः । इदं वाचे न मम । पुनर्देवीं वाचं वाजो नो अद्येति मन्त्राभ्याम् आज्येन द्वितीयाहुतिः । इदं वाचे वाजाय न मम । ततः स्थालीपाकेन चतस्र आहुतयः । प्राणेनान्नमशीय स्वाहा इदं प्राणाय न० । अपानेन गन्धानशीय स्वाहा इदमपानाय० । चक्षुषा रूपाण्यशीय स्वाहा इदं चक्षुषे न० । श्रोत्रेण यशोऽशीय स्वाहा इदं श्रोत्राय न० । ततः स्थालीपाकेन स्विष्टकृद्धोमः । ततो महाव्याहृत्यादिप्राजापत्यान्ता नवाहुतयः । ततः संस्रवप्राशनम् । पवित्राभ्यां मार्जनम् । पवित्रप्रतिपत्तिः । ब्रह्मणे पूर्णपात्रदानम् । प्रणीताविमोकः । ततः सर्वान्रसान्सर्वमन्नं चैकस्मिन्पात्रे उद्धृत्य सकृदेव हन्तेति मन्त्रेण कुमारं प्राशयेत् । काम्यं यथोक्तम् । एकब्राह्मणभोजनम् । ततो दशब्राह्मणभोजनम् । बालं भूमावुपवेश्य तदग्रे पुस्तकवस्त्रशस्त्रादिशिल्पानि विन्यस्य जीविकापरीक्षां कुर्यात् । शिशुः स्वेच्छया यत्प्रथमं स्पृशेत्साऽस्य जीविकेति विद्यात् । तदुक्तं कारिकायाम्—कृतप्राशनमुत्सङ्गाद्धात्री बालं समुत्सृजेत् । कार्यं तस्य परिज्ञानं जीविकाया अनन्तरम् ॥ देवताग्रेऽथ विन्यस्य शिल्पभाण्डानि सर्वशः । शास्त्राणि चैव शस्त्राणि ततः पश्येत्तु लक्षणम् ॥ प्रथमं यत्स्पृशेद् बालस्ततो भाण्डं स्वयं तदा । जीविका तस्य बालस्य तेनैवति भविष्यति ॥ गर्भाधानादिका अन्नप्राशनान्ता मलिम्लुचे । आकर्णवेधाः स्युः क्रिया नान्या इत्याह भास्करः । कुमार्या अप्येतदमन्त्रकं कार्यम् । इत्यन्नप्राशने पदार्थक्रमः ॥ गर्गमते प्राणापानाय चक्षुषे श्रोत्राय जुष्टं गृह्णामीति चरुग्रहणम् । प्रोक्षणे त्वधिकः । अन्यत्समानम् ॥

अथ वर्द्धापनविधिः । आदित्यपुराणे—सर्वैश्च जन्मदिवसे स्नातैर्मङ्गलवारिभिः । गुरुदेवाग्निविप्राश्च पूजनीयाः प्रयत्नत ॥ इति । स्वनक्षत्रं च पितरस्तथा देवः प्रजापतिः । प्रतिसंवत्सरं यत्नात्कर्तव्यश्च महोत्सवः ॥ स्वनक्षत्रं स्वनक्षत्रदेवता । स्वनक्षत्रं वित्तपश्चेति क्वचित्पाठः । तदा वित्तपः कुबेरः ॥

अथ प्रयोगः—तत्र वर्षपर्यन्तं प्रतिमासं ततः प्रतिवर्षं तिलतैलेनैव स्नात्वा शुक्लवस्त्रयुगं परिधायाचान्तो गृहाभ्यन्तरत उपविश्य कुशयवजलान्यादाय ॐ अद्य मदीयजन्मदिनं दीर्घायुष्यकामो मार्कण्डेयादीनां पूजनमहं करिष्य इति सङ्कल्प्य तत्र निर्विघ्नार्थं गणपतिपूजनमहं करिष्ये । ॐ गणपतये नमः इति गन्धादीनि दत्त्वा प्रणम्य गण-

पते क्षमस्वेति विसर्जयेत् । एवं गौरीं पद्मां शचीं मेधां सावित्रीं विजयां जयां देवसेनां स्वधां स्वाहां मातृः लोकमातृः धृतिं पुष्टिं तुष्टिम् आत्मनः कुलदेवतां पूजयेत् । ततो घृतेन वसोर्धारां कुर्यात् । ततः ॐ गणपतये नमः दुर्गायै नमः कुलदेवतायै नमः गुरुभ्यो नमः देवताभ्यो नमः अग्नये नमः विप्रेभ्यो नमः मातृभ्यो नमः पितृभ्यो नमः सूर्याय नमः चन्द्राय नमः मङ्गलाय नमः बुधाय नमः बृहस्पतये नमः शुक्राय नमः शनैश्चराय नमः राहवे नमः केतवे नमः पञ्चभूतेभ्यो नमः कालाय नमः युगाय नमः संवत्सराय नमः मासाय नमः पक्षाय नमः अस्मज्जन्मतिथये नमः अस्मज्जन्मनक्षत्राय नमः अस्मज्जमन्मराशये नमः शिवायै नमः सम्भूत्यै नमः प्रीत्यै नमः सन्तत्यै नमः अनुसूयायै नमः क्षमायै नमः विष्णवे नमः भद्रायै नमः इन्द्राय नमः अग्नये नमः यमाय नमः निर्ऋतये नमः वरुणाय नमः वायवे नमः धनदाय नमः ईशानाय नमः अनन्ताय नमः ब्रह्मणे नमः इति सम्पूज्य—षष्ठिके इहागच्छेह तिष्ठेत्यावाह्य पाद्यादिकं दत्वा ॐ जगन्मातर्जगद्धात्रि जगदानन्दकारिणि । प्रसीद मम कल्याणि नमोऽस्तु षष्ठिदेवते ॥ इति मन्त्रेण पुष्पाञ्जलित्रयेण सम्पूज्य गन्धादिकं दत्त्वा वरं प्रार्थयेत्—रूपं देहि यशो देहि भद्रे भगवति देहि मे । पुत्रान्देहि धनं देहि सर्वान्कामांश्च देहि मे ॥ इति वरं प्रार्थ्य प्रणम्य विसर्जयेत् । ततश्चन्दनेनाष्टदलं कृत्वा अक्षतानादाय ॐ भगवन्मार्कण्डेय इहागच्छेह तिष्ठेत्यावाह्य स्थापयित्वा पाद्यादीनि दत्त्वा इदमनुलेपनम् ॐ मार्कण्डेयाय नमः इति चन्दनं दत्त्वा—ॐ आयुःप्रद महाभाग सोमवंशसमुद्भव । महातपो मुनिश्रेष्ठ मार्कण्डेय नमोऽस्तु ते ॥ इति पुष्पाञ्जलित्रयेण सम्पूज्य गन्धादीनि दत्त्वा वरं प्रार्थयेत्—ॐ मार्कण्डेयाय मुनये नमस्ते महदायुषे । चिरजीवी यथा त्वं भो भविष्यामि तथा मुने ॥ मार्कण्डेय महाभाग सप्तकल्पान्तजीवन । आयुरारोग्यसिद्ध्यर्थमस्माकं वरदो भव ॥ नराणामायुरारोग्यैश्वर्यसौख्यैः सुखप्रदः । सौम्यमूर्ते नमस्तुभ्यं भृगुवंशवराय च ॥ महातपो मुनिश्रेष्ठ सप्तकल्पान्तजीवन । मार्कण्डेय नमस्तुभ्यं दीर्घायुष्यं प्रयच्छ मे ॥ मार्कण्डेय महाभाग प्रार्थये त्वां कृताञ्जलिः । चिरजीवी यथा त्वं भो भविष्येऽहं तथा मुने ॥ इति वरं प्रार्थ्य प्रणम्य । अश्वत्थाम्ने नमः बलये नमः व्यासाय न० हनूमते न० विभीषणाय नमः कृपाय नमः परशुरामाय० कार्तिकेयाय० जन्मदेवतायै० स्थानदेवतायै० प्रत्यक्षदेवतायै० वासुदेवाय० क्षेत्रपालाय० पृथिव्यै० अद्भ्यो नमः तेजसे० वायवे० आकाशाय० । इत्यष्टदिग्भागे सम्पूज्य— प्रीयन्तां देवताः सर्वाः पूजां गृह्णन्तु ता मम । प्रयच्छन्त्वायुरारोग्यं यशः सौख्यं च सम्पदः ॥ मन्त्रहीनं भक्तिहीनं क्रियाहीनं महामुने । यदर्चितं मया देव परिपूर्णं तदस्तु मे ॥ इति पठित्वा तिलवपनम् । ब्राह्मणाय तिलदानम् । देयद्रव्याणि सम्पूज्य कुशत्रयतिलजलान्यादाय अद्य मदीयजन्मदिने दीर्घायुष्ट्वकाम एतांस्तिलान् सोमदैवतान् यथानामगोत्राय ब्राह्मणाय दातुमहमुत्सृजे इति दद्यात् । ततो घृताक्ततिलैर्व्याहृतिभिर्होमः । ततः पयसा सर्वभूतेभ्यो नम इति बलिं दद्यात् । तण्डुलेभ्यो नमः इति सम्पूज्य जलेन सिक्त्वा कुशत्रयतिलजलान्यादाय अद्य मदीयजन्मदिने दीर्घायुष्ट्वकाम एतान् सोपकरणान् तण्डुलान् यथानामगोत्राय ब्राह्मणाय दातुमहमुत्सृजे । घृताय नम इति घृतं सम्पूज्य जलेन सिक्त्वा अद्य मदीयजन्मदिने दीर्घा-

युष्ट्वकाम इदं घृतं प्रजापतिदैवतं यथानामगोत्राय ब्राह्मणाय दातुमहमुत्सृजे । ततस्तिल-गुडसहितदुग्धपानम् । तत्र मन्त्रः—अञ्जल्यर्द्धमितं क्षीरं सतिलं गुडमिश्रितम् । मार्कण्डे-यवरं लब्ध्वा पिबाम्यायुष्यहेतवे ॥ इति तिलगुडसहितं दुग्धं पीत्वाऽऽचम्य—मार्कण्डे-याय नमः गोभ्यो नमः ब्राह्मणेभ्यो नमः इति प्रणम्य मार्कण्डेय क्षमस्वेति विसर्जयेत् । अश्वत्थामा बलिर्व्यासो हनूमांश्च विभीषणः । कृपः परशुरामश्च सप्तैते चिरजीविनः ॥ सप्तैतांश्च स्मरेन्नित्यं मार्कण्डेयमथाष्टमम् । जीवेद्वर्षशतं साग्रमपमृत्युविवर्जितः ॥ इति वचनादश्वत्थामादिमार्कण्डेयान्तानष्टौ स्मरेत् । इदं च वर्द्धापनं यदि जन्ममासोऽसङ्-क्रान्तस्तदा शुद्धमास एव कार्यं न त्वधिके । इदं वर्द्धापनं यावद्बाल्यं पित्रादिभिः कार्यम् । पश्चात्तु प्रतिवर्षं स्वयमेवेति । ग्रन्थान्तरे तु—माङ्गल्यस्नानं कृत्वा कुमुदादिदेवताः सम्पूज्य यथाशक्ति ब्राह्मणभोजनं दक्षिणां च दत्त्वा सुवासिनीभिर्नीराजितो धृतनूतनवस्त्रो ब्राह्मणीभ्यः शिशुभ्यश्चापूपपूरिकाः साज्याः कुमुदादिप्रीतये आयुर्वृद्धये च वायनादि दद्यात् । जन्मर्क्षदेवताप्रीत्यै च दद्यात् । वर्षान्ते सुदृढद्वादशवंशपेटिकाः सुमोदकादिखाद्यं निधाय नूतनवस्त्राच्छादिताः जीवत्पतिपुत्राभ्यो दत्त्वा तदाशिषो गृह्णीयात् । इदं सर्वं जीवन्ती मातैवापत्यायुषे कुर्यात् ।

इति श्रीत्रिरग्निचित्सम्राट्स्थपतिश्रीमहायाज्ञिकवामनात्मजदीक्षित-
गदाधरकृते गृह्यसूत्रभाष्ये प्रथमकाण्डं समाप्तम् ॥ १ ॥

अनुवाद—अथवा सबके स्थान पर अन्न का रस ही चटा दे तथा इसके बाद ब्राह्मण-भोजन करा दे ।

टिप्पणी—एक, दस या यथेच्छ ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिए ।

इस प्रकार पारस्करगृह्यसूत्र में प्रथमकाण्ड की डॉ० जगदीशचन्द्र मिश्र विरचित 'विमला'-हिन्दीव्याख्या समाप्त ॥ १ ॥

द्वितीयकाण्डम्

प्रथमा कण्डिका

चूडाकरणम्

श्रीः ॥ सांवत्सरिकस्य चूडाकरणम् ॥ २।१।१ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—अथ चूडाकरणकेशान्तौ तन्त्रेण सूत्रयति । 'सांवत्स······ ' । संवत्सरमब्दमतिक्रान्तः सांवत्सरिकः तस्य कुमारस्य चूडाकरणं चूडाकर्म कुर्यात् ॥ २।१।१ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—चूडाकरणमाह—'सांव······रणम्' । संवत्सरो जातो यस्य स सांवत्सरिकः तस्य बालकस्य चूडाकरणं चूडाकरणाख्यं कर्म कुर्यादिति शेषः । चूडाकरणमिति वक्ष्यमाणसंस्कारकर्मणो नामधेयम् ॥ २।१।१ ॥

अनुवाद—एक साल पूरा होने के बाद बच्चे का चूड़ाकरण (मुण्डन) करना चाहिए ।

तृतीये वाऽप्रतिहते ॥ २।१।२ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—तृतीये वा संवत्सरे अप्रतिहते अल्पावशिष्टे । 'यथा··· वेंषाम्' । यद्वा यथामङ्गलं यथाकुलाचारम्, एतदुक्तं भवति यस्य कुले सांवत्सरिकस्य चूडाकर्म क्रियते तस्य सांवत्सरिकस्य यस्य तृतीयेऽब्दे तस्य तदा इति व्यवस्था । यस्य कुले नास्ति नियमः तस्य यदृच्छया विकल्पः । अन्ये तु यथामङ्गलशब्देन धर्मशास्त्रान्तरे विहितकालान्तरोपलक्षणमाहुः । अतश्च सर्वेषां तुल्यविकल्पः ॥ २।१।२ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—तृती······हते' । अथवा तृतीये संवत्सरे अप्रतिहते असम्पूर्णेऽसमाप्ते चूडाकरणं कुर्यात् ॥ २।१।२ ॥

अनुवाद—अथवा तीसरा साल पूरा होने के पहले चूड़ाकरण संस्कार होना चाहिए ।

षोडशवर्षस्य केशान्तः ॥ २।१।३ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—षोड···शान्तः' । षोडशवर्षाण्यतीतानि यस्य असौ षोडशवर्षः तस्य सप्तदशे वर्षे केशान्तः केशान्ताख्यः संस्कारो भवति ॥ २।१।३ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'षोड······केशान्तः' । केशान्त इति संस्कारकर्मनामधेयम्—षोडशवर्षाण्यतीतानि यस्य स षोडशवर्षः । तस्य पुरुषस्य केशान्ताख्यः संस्कारः स्यात् । अयं च नियतकाल एव अतो विवाहिताविवाहितयोर्भवतीति जयरामः । अत्र कारिकायाम्—केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते । राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे

वैश्यस्य ह्यधिके ततः ॥ इति कर्मणस्तुल्यत्वात्केशान्तकथनमत्र भगवता कात्यायनेन कृतम् ॥ २।१।३ ॥

अनुवाद—सोलह साल के किशोर का केशान्त संस्कार करना चाहिए ।

यथामङ्गलं वा सर्वेषाम् ॥ २।१।४ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—अत्र यद्यपि सूत्रक्रमोऽन्यथा तथापि केशान्तस्य कालविकल्पाभावात् चूडाकरण एव कालविकल्प इति हेतोर्यथामङ्गलं वा सर्वेषाम् इति सूत्रं पूर्वं व्याख्यातं पाठक्रमादर्थक्रमो बलीयानिति न्यायात् ॥ २।१।४ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'यथा......सर्वेषाम्' । अथवा यथामङ्गलं यथाकुलाचारं चूडाकरणं कार्यम् । यस्य कुले सांवत्सरिकस्य कुमारस्य कुर्वन्ति तस्य सांवत्सरिकस्य चूडाकरणम् । यस्य कुले तृतीयेऽब्दे कुर्वन्ति तस्य तृतीये असम्पूर्णे कार्यमिति व्यवस्था । यस्य कुले नियमो नास्ति तस्य विकल्पः । यथामं गलशब्देन केचित्कालान्तरं कल्पयन्ति । अत्र स्मृत्यन्तरोक्ताः काला उच्यन्ते । नारदः—जन्मतस्तु तृतीयेऽब्दे श्रेष्ठमिच्छन्ति पण्डिताः । पञ्चमे सप्तमे वाऽपि जन्मतो मध्यमं भवेत् ॥ अधमं गर्भतः स्यात्तु नवमैकादशेऽपि वेति । बृहस्पतिः—तृतीयेऽब्दे शिशोर्गर्भाज्जन्मतो वा विशेषतः । पञ्चमे सप्तमे वाऽपि स्त्रियाः पुंसोऽपि वा समम् । प्रयोगपारिजाते—आद्येऽब्दे कुर्वते केचित्पञ्चमेऽब्दे द्वितीयके । उपनीत्या सहैवेति विकल्पाः कुलधर्मतः ॥ कारिकायाम्—सम्भवत्युदगयने शुक्लपक्षे विशेषत इति । बृहस्पतिः—शुक्लपक्षे शुभं प्रोक्तं कृष्णपक्षे शुभेतरत् । अशुभोऽन्त्यविभागः स्यात्कृष्णपक्षे निराकृते ॥ कारिकायाम्—अश्विनी श्रावणः स्वाती चित्रा पुष्यं पुनर्वसु । धनिष्ठारेवतीज्येष्ठामृगहस्तेषु कारयेत् ॥ तिथिं प्रतिपदां रिक्तां पातं विष्टिं विवर्जयेत् । वाराञ्छनैश्चरादित्यभौमानां रात्रिमेव च ॥ बृहस्पतिः—पापग्रहाणां वारादौ विप्राणां शुभदं रवेः । क्षत्रियाणां क्षमासूनोर्विट्छूद्राणां शनौ शुभम् ॥ वसिष्ठः—द्वित्रिपञ्चमसप्तम्यामेकादश्यां तथैव च । दशम्यां च त्रयोदश्यां कार्यं क्षौरं विजानता ॥ ग्रन्थान्तरे—षष्ठ्यष्टमी चतुर्थी च नवमी च चतुर्दशी । द्वादशी दर्शपूर्णे द्वे प्रतिपच्चैव निन्दिता ॥ इति । सर्वेषामिति सर्वेषां वर्णानामित्यर्थः । भर्तृयज्ञभाष्ये तु यस्य यादृशब्राह्मणभोजने मङ्गलबुद्धिः स तादृशं ब्राह्मणं भोजयित्वा चूडाकरणं कुर्यादिति सूत्रं योजितम् । चूडाकर्मणि कालोऽभिहितः ॥ २।१।४ ॥

अनुवाद—अपने कुल की परम्परा के अनुसार सभी संस्कार किये जा सकते हैं ।

ब्राह्मणान् भोजयित्वा माता कुमारमादायाप्लाव्याहते वाससी परिधाप्याङ्क आधाय पश्चादग्नेरुपविशति ॥ २।१।५ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'ब्राह्म...शति' । एवं कालमभिधाय कर्माभिधत्ते । चूडाकरणाङ्गतया त्रीन्ब्राह्मणान्भोजयित्वा माता जननी कुमारं पुत्रं चूडाकरणार्हमादाय गृहीत्वा आप्लाव्य स्नापयित्वा अहते नवे सकृद्धौते वाससी द्वे वस्त्रे परिधाप्य परिहिते कारयित्वा अन्तरीयोत्तरीयत्वेन अङ्के उत्सङ्गे आधाय स्थापयित्वा पश्चादग्नेः पश्चिमतः उपविशति आस्ते ॥ २।१।५ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—कर्माह—'ब्राह्म······विशति'। आभ्युदयिकश्राद्धब्राह्मण-व्यतिरिक्तान् त्रीन् ब्राह्मणान् भोजयित्वा माता कुमारजननी कुमारं स्वपुत्रमादाय आप्लाव्य स्नापयित्वाऽहते नवे यन्त्रमुक्ते सकृद्धौते वाससी वस्त्रे परिधाप्य परिहिते हस्ते गृहीत्वा कारयित्वा अङ्क आधाय तं कुमारमङ्के उत्सङ्गे स्थापयित्वाऽग्नेः पश्चादुपविशति। मातरि रजस्वलायां तु विशेषः। बृहस्पतिः—प्राप्तमभ्युदयश्राद्धं पुत्रसंस्कार-कर्मणि। पत्नी रजस्वला चेत्स्यान्न कुर्यात्तत्पिता तदा॥ पितेति कर्तृमात्रोपलक्षणम्। दोषमाह गर्गः—विवाहोत्सवयज्ञेषु माता यदि रजस्वला। तदा स मृत्युमाप्नोति पञ्चमं दिवसं विना॥ इति। अग्रे सुमुहूर्तालाभे तु वाक्यसारे—अलाभे सुमुहूर्तस्य रजोदोषे उपस्थिते। श्रियं सम्पूज्य विधिवत्ततो मङ्गलमाचरेत्॥ इति। कुमारस्य मातरि गर्भिण्यामपि चूडाकरणं न कार्यम्। तथा च बृहस्पतिः—गर्भिण्यां मातरि शिशोः क्षौरकर्म न कारयेत्। व्रताभिषेकेऽप्येवं स्यात्कालो वेदव्रतेष्वपि॥ मदनरत्ने—पुत्रचूडाकृतौ माता यदि सा गर्भिणी भवेत्। शस्त्रेण मृत्युमाप्नोति तस्मात्क्षौरं विवर्जयेत्॥ एतद-पवादोऽपि तत्रैव—सूनोर्मातरि गर्भिण्यां चूडाकर्म न कारयेत्। पञ्चमात्प्रागत ऊर्ध्वं तु गर्भिण्यामपि कारयेत्॥ सहोपनीत्या कुर्याच्चेत्तदा दोषो न विद्यते। गर्भे मातुः कुमार-स्य न कुर्याच्चौलकर्म तु॥ पञ्चमासादधः कुर्यादत ऊर्ध्वं न कारयेत्। पञ्चमासादूर्ध्वं मातुर्गर्भस्य जायते मृत्युरिति तत्रैवोक्तम्। कुमारस्य ज्वरोत्पत्तौ न कार्यमित्याह गर्गः—ज्वरस्योत्पादनं यस्य लग्नं तस्य न कारयेत्। दोषनिर्गमनात्पश्चात्स्वस्थो धर्मं समा-चरेत्॥ लग्नमिति सर्वमङ्गलोपलक्षणम्॥ २।१।५॥

अनुवाद—चूड़ाकरण के अङ्गभूत तीन ब्राह्मणों को पहले भोजन करा दे। फिर कुमार को माता स्नान कराकर नवीन वस्त्र पहना दे। फिर उसे गोद में लेकर अग्नि से पश्चिम पूर्वाभिमुख होकर बैठ जाय।

अन्वारब्ध आज्याहुतीर्हुत्वा प्राशनान्ते शीतास्वप्सूष्णा आसिञ्चति उष्णेन वाय उदकेनेह्यदिते केशान् वपेति॥ २।१।६॥

केशश्मश्रु्विति च केशान्ते॥ २।१।७॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अन्वा····ञ्चति'। ततोऽन्वारब्धः ब्रह्मणा उपस्पृष्टः आज्या-हुतीः आघारादिस्विष्टकृदन्ताश्चतुर्दश हुत्वा संस्रवप्राशनान्ते शीतासु अप्सु उष्णा अप आसिञ्चति प्रक्षिपति वक्ष्यमाणमन्त्रेण। अन्वारब्धग्रहणेन नित्याज्याहुतिहोमो नियम्यते। 'उष्णे······शान्ते'। केशान्ते पुनः उष्णेन वाय उदकेनेह्यदिते केशश्मश्रु वपेति विशेषः॥ २।१।६-७॥

(गदाधरभाष्यम्)—'अन्वा······शान्ते'। ब्रह्मणाऽन्वारब्धे आघारादिस्विष्ट-कृदन्ता आज्याहुतीर्हुत्वा संस्रवप्राशनान्ते शीतासु पूर्वमुपकल्पितासु अप्सु उष्णा अप आसिञ्चति प्रक्षिपति उष्णेन वाय उदकेनेहीति मन्त्रेण। केशान्ते तु उष्णेन वाय उदकेने-ह्यदिते केशश्मश्रु वपेति मन्त्रे विशेषः। कुमारेणान्वारम्भः कार्य इति भर्तृयज्ञमते विशेषः। मन्त्रार्थः—रविकिरणसम्बन्धादन्तर्गतज्योतिषा वायोरुष्णत्वम्। हे वायो!

त्वमप्युष्णोदकेन गृहीतेन कुमारस्य शिरःप्लवनाय एहि। हे अदिते देवमातः! केशान् लक्षीकृत्य केशार्द्रकरणार्थं शीतोदकमध्ये उष्णोदकं वप क्षिप अनेकार्थत्वाद्धातोः।

अनुवाद—ब्रह्मा का वरण कर आघार से लेकर स्विष्टकृत् तक १४ नित्य आहुतियाँ देकर, संस्रव-प्राशन के बाद ठंडे जल में 'उष्णेन' इत्यादि मन्त्र पढकर गर्म जल मिला दे। केशान्त संस्कार में मन्त्र के अन्त में 'केशश्मश्रू वप' यह उच्चारण करे।

मंत्रार्थ—(ऋषि परमेष्ठी, छन्द प्रतिष्ठा, देवता वायु।) हे वायुदेव! आप आइए और गर्म जल मिले इस ठंडे जल से बालक के केशों को काटिए।

अथात्र नवनीतपिण्डं घृतपिण्डं दध्नो वा प्रास्यति ॥ २।१।८ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अथा''''स्यति'। अथ उष्णोदकसेकानन्तरमत्र आस्वप्सु नवनीतपिण्डं घृतपिण्डं दध्नो वा पिण्डं प्रास्यति। असु क्षेपणे प्रक्षिपति ॥ २।१।८ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'अथा''''''स्यति'। अथ उष्णोदकसेकानन्तरम्, अत्र प्रकृतोदके नवनीतपिण्डं घृतस्य पिण्डं दध्नो वा पिण्डं प्रास्यति प्रक्षिपति। असु प्रक्षेपे ॥ २।१।८ ॥

अनुवाद—गर्म जल मिलाने के बाद उसी जल में मक्खन का गोला, घी का गोला या दही का गोला डाल दे।

तत आदाय दक्षिणं गोदानमुन्दति—सवित्रा प्रसूता दैव्या आप उन्दन्तु ते तनूं दीर्घायुत्वाय वर्चस इति ॥ २।१।९ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'तत'''सूता इति'। ततस्ताभ्योऽद्भ्यः चुलुकेनैकदेशमादाय दक्षिणं गोदानं शिरसो दक्षिणप्रदेशस्थं गोदानं केशसमूहं उन्दति आर्द्रं करोतीत्यर्थः। केन मन्त्रेण? सवित्रा प्रसूतेत्यादिना दीर्घायुत्वाय वर्चस इत्यन्तेन ॥ २।१।९ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'तत'''र्चस इति'। ततस्तस्माद्यत्र नवनीतादीनामन्यतमपिण्डप्रासनं कृतं तस्मादुदकात्किञ्चिदुदकमादाय दक्षिणं गोदानं गवि पृथिव्यां दीयते निधीयते स्थाप्यते शयनकाले इति गोदानं दक्षिणकर्णसमीपवर्तिशिरःप्रदेशमुन्दति 'उन्दी क्लेदने क्लेदयति आर्द्रं करोति सवित्रेति मन्त्रेण। मन्त्रार्थस्तु—हे कुमार! सवित्रा सूर्येण प्रसूता जनिता उत्पादिता आपः दैव्यादिविभवाः ते तव तनूं शरीरं चूडालक्षणमङ्गमुन्दन्तु क्लेदयन्तु किमर्थम्? तव दीर्घायुत्वाय चिरञ्जीवनार्थं वर्चसे प्रतापाय ॥ २।१।९ ॥

अनुवाद—फिर उसमें से एक चुल्लू जल लेकर कुमार के सिर का दाहिना भाग 'सवित्रा प्रसूता'''' इत्यादि मंत्र पढते हुए गीला करे।

मंत्रार्थ—(ऋषि प्रजापति, छन्द गायत्री, देवता आपःक्लेदन।) हे कुमार! सूर्य के द्वारा उत्पन्न यह दिव्य जल दीर्घायु और तेजस्विता के लिए तुम्हारे चूड़ा (केशों) को गीला करे।

त्र्येण्या शलल्या विनीय त्रीणि कुशतरुणान्यन्तर्दधाति 'ओषध' इति।

(हरिहरभाष्यम्)—'त्र्येण्या…षध इति'। त्र्येण्या त्रिश्वेतया शलल्यां शल्यकपक्षककण्टकेन विनीय पृथक्कृत्य पूर्वदिनाधिवासितां केशलतिकां तस्या अन्तर्मध्ये अन्तरा त्रीणि त्रिसङ्ख्याकानि कुशतरुणानि दर्भपत्राणि दधाति धारयति ओषधे त्रायस्वेति मन्त्रेण ॥ २।१।१० ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'त्र्येण्या…षध इति'। त्रिषु स्थानेषु एनी श्वेता त्र्येणी शलली सेधाशलाका तथा क्लिन्नान्केशान् विनीय पृथक्कृत्य विरलान् कृत्वा त्रीणि कुशतरुणानि दर्भतृणान्यन्तर्मध्ये दधाति धारयति ओषधे त्रायस्वेति मन्त्रेण ॥२।१।१०॥

अनुवाद—तीन जगह से सफेद साही के तीन काँटों से केशों को दो भागों में बाँटकर 'ओषधे त्रायस्व स्वधिते मैनं हिंसीः' यह मंत्र पढ़ते हुए उसमें तीन नये कुश लगा दे।

शिवो नामेति लोहक्षुरमादाय निवर्त्तयामीति प्रवपति।
येनावपत् सविता क्षुरेण सोमस्य राज्ञो वरुणस्य विद्वान्।
तेन ब्रह्माणो वपतेदमस्यायुष्यञ्जरदष्टिर्यथासदिति ॥ २।१।११ ॥
सकेशानि प्रच्छिद्यानडुहे गोमयपिण्डे प्रास्यत्युत्तरतो ध्रियमाणे ।२।१।१२।

(हरिहरभाष्यम्)—'शिवो…पति'। ततः शिवो नामेत्यनेन मन्त्रेण लोहक्षुरं ताम्रपरिष्कृतमायसं क्षुरमादाय गृहीत्वा दक्षिणकरेण निवर्तयामीत्यनेन मन्त्रेण प्रवपति तं क्षुरं कुशतरुणान्यभिनिदधाति। 'उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते' इति न्यायात् धातूनामनेकार्थत्वाच्चेत्यत्र प्रपूर्वो वपतिरभिनिधानार्थः। छेदनार्थत्वे तु उत्तरसूत्रविहितप्रच्छेदनानर्थक्यं प्रसज्येत। 'येना…माणे'। येनावपदिति मन्त्रेण केशसहितानि कुशतरुणानि प्रच्छिद्य खण्डयित्वाऽग्नेरुत्तरतो भूभागे ध्रियमाणे स्थाप्यमाने आनडुहे आर्षभे गोमयपिण्डे गोशकृत्पिण्डे प्रास्यति प्रक्षिपति ॥ २।१।११-१२ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'शिवो…पति'। ततः कर्ता शिवोनामेति मन्त्रेण लोहक्षुरं लोहेन ताम्रेण परिष्कृतमयोमयमेव क्षुरमादाय हस्तेन गृहीत्वा निवर्तयामीति मन्त्रेण प्रवपति तं क्षुरं कुशतरुणान्तर्हितेषु केशेषु संलागयति स्थापयति अत्र प्रपूर्वो वपतिः संलागने छेदनार्थत्वे तु उत्तरसूत्रविहितं छेदनमनर्थकं स्यात्। शिव! इत्यस्यार्थः—हे क्षुर! यस्त्वं शिवोनामाऽसि शान्तनामाऽसि भवसि ते तव स्वधितिर्वज्रं पिता हे भगवन्! तस्मै तुभ्यं नमः मा मां मा हिंसीः मा विनाशयेति। निवर्तयामीत्यस्यार्थः—निवर्तयामि मुण्डयामि (भाविनि भूतोपचारात् ?)। आयुषे आयुरर्थम् अन्नाद्याय अन्नादनाय प्रजननाय गर्भोत्पत्त्यै रायस्पोषाय धनस्य पुष्ट्यै सुप्रजास्त्वाय शोभनापत्यभवनार्थं सुवीर्याय शोभनवीर्याय। 'येना…माणे'। येनावपत्सवितेति मन्त्रेण सकेशानि केशसहितानि कुशतृणानि प्रच्छिद्य छित्त्वा खण्डयित्वाऽग्नेरुत्तरतो भूमौ ध्रियमाणेऽवस्थाप्यमाने आनडुहे बलीवर्दगोसम्बन्धिमये पिण्डे गोपुरीषे तानि प्रास्यति प्रक्षिपति। अत्र गोमयपिण्डस्य स्थापनं कार्यम्। ततः केशान् प्रच्छिद्य पिण्डे प्रासनम्, अत्र केशान् प्रच्छिद्येति पाठो दर्शितः कर्कभर्तृयज्ञाभ्याम्। सकेशानीति केचित्पठन्ति। तेषां कुश-

तरुणानीति कुशतरुणविषयं नपुंसकमिति भर्तृयज्ञैः प्राचीनपाठो दर्शितः। मन्त्रार्थः—हे ब्रह्माणः ! येन क्षुरेण तेजोमयेन सविता सूर्यः सोमस्य राज्ञः वरुणस्य च शिरः अवपत् राजसूयदीक्षायै अमुण्डयत् विद्वान् सर्वज्ञः तेन क्षुरेणास्य शिशोरिदं शिरो यूयं वपत मुण्डयत इदं शिरः अस्य कुमारस्य आयुषे हितम् आयुष्यमायुषो भावः सत्ता वा यथाऽयं कुमारः जरदष्टिः सम्पूर्णायुः असत् भूयात् जरामश्नुते व्याप्नोति जरदष्टिः जरद्भावः।

अनुवाद—'शिवो नाम···' इत्यादि मंत्र पढ़कर लोहे का छुरा हाथ में ले, पुनः 'निवर्त्तयामि···' इत्यादि मंत्र पढ़कर उसे दाहिने हाथ से कुशों के बीच रखे।

'येनावपत्' इत्यादि मंत्र पढ़कर केश के साथ कुशों को काटकर अग्नि से उत्तर में रखे गोबर के ढेर पर उसे फेंक दे।

मंत्रार्थ—(ऋषि लम्बायन, छन्द पंक्ति, देवता तरुणकुश।) हे ब्रह्म ! जिस तेजोमय छुरे से सूर्य ने सोमरजा एवं वरुण का सिर राजसूय दीक्षा के लिए मूँड़ा था, उसी छुरे से आप इस कुमार का सिर मूँड़े, जिससे यह बालक दीर्घायु बने।

टिप्पणी—'शिवो नामेति' तथा 'निवर्तयामीति' इन दोनों मन्त्रों का सम्पूर्ण पाठ क्रमशः इस प्रकार है—

(१) शिवो नामासि स्वधितिस्ते पिता नमस्ते अस्तु मा मा हिꣳसीः।

(२) निवर्तयाम्यायुषेऽन्नाद्याय प्रजननाय रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय।

(य० सं० ३।६३)

एवं द्विरपरं तूष्णीम् ॥ २।१।१३ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'एवं···तूष्णीम्'। एवमुक्तेन प्रकारेण द्विः द्विर्वारम् उन्दनादि गोमयपिण्डनिधानान्तमपरं कर्म तूष्णीं मन्त्ररहितं कुर्याम् ॥ २।१।१३ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'एवं···तूष्णीम्'। एवमेवोक्तरीत्यां द्विवारं तूष्णीं मन्त्रं विनोन्दनादि गोमयपिण्डनिधानान्तमपरं दक्षिण एव गोदाने कर्म कुर्यात्। अत्रैवं पदार्थाः। उन्दनकेशानां विनयनम्, दर्भतृणान्तर्धानम्, क्षुराभिनिधानम्, सकेशानां छेदनम्, गोमयपिण्डे प्रासनम् ॥ २।१।१३ ॥

अनुवाद—इसी तरह फिर दो बार यह कर्म बिना मंत्र पढ़े ही करे।

इतरयोश्चोन्दनादि ॥ २।१।१४ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'इत···नादि'। इतरयोः पश्चिमोत्तरयोः गोदानयोः उन्दनादि क्लेदनप्रभृति कर्म चकारात्सकृत्समन्त्रकं द्विरमन्त्रकं भवति ॥ २।१।१४ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'इत···नादि'। इतरयोः पश्चिमोत्तरयोर्गोदानयोरुन्दनादि चकारादेवमेव सकृन्मन्त्रेण द्विस्तूष्णीं कर्म कुर्यात् तत्र पूर्वपश्चिमगोदाने कृत्वा तत उत्तरगोदाने कार्यम्। अथ पश्चादथोत्तरत इति सूत्रकारप्रस्थानाच्च। प्रादक्षिण्यानुग्रहाच्च। क्षुरादानं तु मन्त्रेण पुनर्न भवति मन्त्रेण सकृद् गृहीतत्वात् ॥ २।१।१४ ॥

अनुवाद—सिर के अन्य भागों में भी यही कर्म एक बार समन्त्र और दो बार मन्त्र रहित किया जाय।

अथ पश्चात् त्र्यायुषमिति ।। २।१।१५ ।।

(हरिहरभाष्यम्)—'अथ···षमिति'। अथ दक्षिणगोदानस्य त्रिरुन्दनादिप्रच्छेदनानन्तरं पश्चाद्गोदाने विशेषमाह—त्र्यायुषमिति। त्र्यायुषं जमदग्नेरित्यादिना मन्त्रेण सकेशानि कुशतरुणानि सकृत्प्रच्छिद्य तूष्णीं द्विः प्रच्छिद्य गोमयपिण्डे प्रास्यति ।। २।१।१५ ।।

(गदाधरभाष्यम्)—'अथ पश्चात् त्र्यायुषमिति'। इतरयोश्चोन्दनादीत्युक्तं तत्र स एव मन्त्रो मा भूदित्याह—पश्चात् पश्चिमगोदानकर्मणि त्र्यायुषमिति मन्त्रेण सकेशतृणानां छेदनं कुर्यात्। त्रीण्यायूंषि समाहृतानि बाल्ययौवनस्थविराणि इत्येवमेतेषामेवावस्थात्रयव्यापकमायुरस्माकमस्त्विति मन्त्रार्थः ।। २।१।१५ ।।

अनुवाद—पीछे के वालों को 'त्र्यायुषम्' इत्यादि मन्त्र पढ़कर काटना चाहिए।

अथोत्तरतो येन भूरिश्चरा दिवं ज्योक्च पश्चाद्धि सूर्यम्। तेन ते वपामि ब्रह्मणा जीवातवे जीवनाय सुश्लोक्याय स्वस्तय इति ।। २।१।१६ ।।

(हरिहरभाष्यम्)—अथोत्तरतः। अथानन्तरम् उत्तरगोदाने उन्दनादिगोमयपिण्डनिधानान्ते। विशेषमाह—'येन भूरिश्चरेति स्वस्तय' इत्यन्तेन मन्त्रेण सकृत्सकेशानां कुशतरुणानां प्रच्छेदनं द्विस्तूष्णीम् ।। २।१।१६ ।।

(गदाधरभाष्यम्)—'अथो···य इति'। अथोत्तरगोदानकर्मणि सकेशानां कुशतृणानां येन भूरिश्चरा इति मन्त्रेण छेदनं कुर्यात्। अन्यत्सर्वं दक्षिणगोदानवत्कार्यम्। मन्त्रार्थस्त्वयम्—येन ब्रह्मणा मन्त्रेण तपसा वा चरणशीलो वायुः ज्योक् चिरम् आकल्पमित्यर्थः, दिवं द्याम् पश्चात्तामनु सूर्यं तमनु विश्वं च चरति। किम्भूतः? भूरिः प्रचुरः। तेन ब्रह्मणा तपसा वा तन्मन्त्रितक्षुरेण ते तव शिरो वपामि किमर्थम्? जीवातवे जीवनहेतवे धर्माद्यर्थं जीवनायायुषे। सुश्लोक्याय शोभनयशसे। स्वस्तये अविनाशाय ।। २।१।१६ ।।

अनुवाद—'येव भूरिश्चरा' इत्यादि मन्त्र पढ़कर उत्तर के बाल काटना चाहिए।

मन्त्रार्थ—(ऋषि वामदेव, छन्द यजुः, देवता क्षुरः।) हे कुमार ! जिस मन्त्र या तपस्या के बल से चरणशील वायु बहुत दिन तक द्युलोक और सूर्यलोक में बहती रहती है, उसी मन्त्र से मैं तुम्हारा केश काटता हूँ। यह कर्म तुम्हारी जीवनशक्ति बढ़ाकर दीर्घायु बनाने और जीवन में मंगल का संचार करने के लिए है।

त्रिः क्षुरेण शिरः प्रदक्षिणं परिहरति, समुखं केशान्ते ।। २।१।१७ ।।

यत्क्षुरेण मज्जयता सुपेशसा वप्त्वा वावपति केशाञ्छिन्धि शिरो माऽस्यायुः प्रमोषीः ।। २।१।१८ ।।

मुखमिति च केशान्ते ।। २।१।१९ ।।

(हरिहरभाष्यम्)—'त्रिः क्षु···शान्ते' । त्रिः त्रीन्वारान् क्षुरेण शिरः मूर्धानं प्रदक्षिणं यथा भवति तथा परिहरति शिरसः समन्तात्प्रदक्षिणं क्षुरं भ्रामयतीत्यर्थः । तत्र मन्त्रमाह—'यत्क्षुरेणे'त्यादि । मास्यायुः प्रमोषीरित्यन्तं केशान्ते च संमुखमिति पदं प्रक्षिपेन्मन्त्रे आवपेत् । अत्रापि सकृन्मन्त्रो द्विस्तूष्णीम् ॥ २।१।१७-१९ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'त्रिः···शान्ते' । त्रिवारं क्षुरभ्रामणेन शिरः मस्तकं परिहरति दक्षिणकर्णादारभ्य प्रदक्षिणं शिरसः समन्तात्पुनर्दक्षिणकर्णपर्यन्तं यत्क्षुरेणेति मन्त्रेण क्षुरं भ्रामयतीत्यर्थः । 'समुखं केशान्ते' मुखसहितं शिरः परिहरति केशान्ते कर्मणि । मन्त्रेऽपि विशेषः—केशान्ते मुखमिति पदं मन्त्रे अधिकं भावयेत् । यत्क्षुरेणेति सकृन्मन्त्रेण द्विस्तूष्णीं शिरः परिहरणम् । हे क्षुर ! यत् यस्मात्क्षुरेण वप्त्वा मुण्डित्वा आवपति गोमयपिण्डे केशान् क्षिपति । किम्भूतेन ? एनं कुमारं मज्जयता संस्कुर्वता तथा सुपेशसा शोभयता । अतोऽस्य केशाञ्छिन्धि अवखण्डय । शिरो मस्तकं मा छिन्धि मा सव्रणं कुरु अस्य मा आयुः प्रमोषीः मा अपहर ॥ २।१।१७-१९ ॥

अनुवाद—तीन बार सिर के चारों ओर प्रदक्षिणा-विधि से 'यत् क्षुरेण···' मंत्र पढ़ते हुए छुरे को घुमाए । मन्त्र के अन्त में 'सम्मुख' पद और जोड़ दिया जाय । यह कर्म भी तीन बार करना चाहिए । एक बार मन्त्र के साथ और दो बार मन्त्र रहित ।

मन्त्रार्थ—(ऋषि वामदेव, छन्द यजुः, देवता क्षुराधिष्ठित ।) हे क्षुराधिष्ठित देवता ! नाई के हाथ में पकड़े गए इस छुरे से तुम इस कुमार के केशों को संस्कृत और अलंकृत करते हुए काटो और हाँ; देखो सिर को मत काट देना ।

ताभिरद्भिः शिरः समुद्य नापिताय क्षुरं प्रयच्छति । अक्षुण्वन् परिवपेति ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'ताभि···वपेति' । ताभिः शीतोष्णाभिरद्भिः कुमारस्य शिरः समुद्य आर्द्रं विधाय नापिताय क्षौरकर्त्रे जातिविशेषाय क्षुरमक्षण्वन्परिवपेत्यनेन मन्त्रेण प्रयच्छति ॥ २।१।२० ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'ताभि···पेति' । ताभिरेव प्रकृताभिः शीतोष्णाभिरद्भिः बालकस्य शिरः मस्तकं समुद्य क्लेदयित्वा आर्द्रभावमापाद्य उन्दतिः क्लेदनार्थः । तस्य क्त्वान्तत्वादनुनासिकलोपः क्रियते समुद्येति रूपम् । नापिताय क्षुरं प्रयच्छति मुण्डनार्थं समर्पयति अक्षण्वं परिवपेति मन्त्रेण । मन्त्रार्थः—हे नापित ! त्वमस्य शिरः अक्षण्वन् क्षतरहितं यथा स्यात्तथा परि समन्ताद्वप मुण्डय ॥ २।१।२० ॥

अनुवाद—उसी गरम जल मिले ठंडे जल से केशों को गीलाकर 'अक्षुण्वन् परिवप···' यह मन्त्र पढ़ते हुए नाई को छुरा दें ।

मन्त्रार्थ –(ऋषि वामदेव, छन्द यजुः, देवता क्षुराभिमानी ।) ओ नाई ! इस बालक के सिर को कटने से बचाते हुए धीरे-धीरे सिर के सारे बाल काट दो ।

टिप्पणी—इस मन्त्र के देवता को जयराम 'क्षुर' और विश्वनाथ 'नाई' मानते हैं ।

यथामङ्गलं केशशेषकरणम् ॥ २।१।२१ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'यथा···रणम्'। केशानां शेषकरणं शिखास्थापनं केशशेषकरणम्। यथामङ्गलं मङ्गलं कुलाचारव्यवस्थामनतिक्रम्य भवति। कुलाचाराश्च बहुधा, तद्यथा लौगाक्षिः—तृतीयस्य वर्षस्य भूयिष्ठे गते चूडां कारयेत्। दक्षिणतः कम्बुजानां वसिष्ठानाम् उभयतोऽत्रिकश्यपानां मुण्डा भृगवः पञ्चचूडा आङ्गिरसः। वाजसनेयिनामेकां मङ्गलार्थं शिखिनोऽन्य इति। कम्बुजानां वसिष्ठानां दक्षिणे कारयेच्छिखाम्। द्विभागेऽत्रिकश्यपानां मुण्डाश्च भृगवो मताः॥ पञ्चचूडा अङ्गिरस एका वाजसनेयिनाम्। मङ्गलार्थं शिखिनोऽन्य उक्ता चूडाविधिः क्रमात्॥ इति॥ २।१।२१॥

(गदाधरभाष्यम्)—'यथा······रणम्'। क्षुरसमर्पणानन्तरं नापितेन वपनं कार्यम्। तत्र केशानां शेषकरणं शिखारक्षणं स्थापनं यथामङ्गलं यस्य कुले यथा प्रसिद्धं तस्य तथैव शिखास्थापनं कार्यम्। अत्र कारिकायाम्—केशशेषं ततः कुर्याद्यस्मिन् गोत्रे यथोचितम्। वासिष्ठा दक्षिणे भागे उभयत्रापि कश्यपाः॥ शिखां कुर्वन्त्यङ्गिरसः शिखाभिः पञ्चभिर्युताः। परितः कशपङ्क्त्या वा मुण्डाश्च भृगवो मताः॥ कुर्वन्त्यन्ये शिखामत्र मङ्गलार्थमिह क्वचित्। लौगाक्षिः—दक्षिणतः कम्बुजवसिष्ठानामुभयतोऽत्रिकश्यपानां मुण्डा भृगवः पञ्चचूडा अङ्गिरसः वाजसनेयिनामेका। मङ्गलार्थं शिखिनोऽन्य इति। एतच्छूद्रातिरिक्तविषयम्। शूद्रस्यानियताः केशवेषा इति वसिष्ठोक्तेः। यत्तु पाद्मे—न शिखी नोपवीती स्यान्नोच्चरेत्संस्कृतां गिरमिति शूद्रमुपक्रम्योक्तं तदसच्छूद्रस्येति केचित्। विकल्प इति तु युक्तम्॥ २।१।२१॥

अनुवाद—सारे केश काट दिये जायँ या शिखा रखी जाय, इस सन्दर्भ में पारस्कर का कथन है, कि कुल-परम्परानुसार या सुविधानुसार माथे पर चोटी रखी जाय।

अनुगुप्तमेतꣳसकेशं गोमयपिण्डं निधाय गोष्ठे पल्वल उदकान्ते वाऽऽचार्याय वरं ददाति॥ २।१।२२॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अनु···कान्ते वा'। अनुगुप्तमावृतम् एनं गोमयपिण्डं सकेशं केशैः सहितं निधाय स्थापयित्वा गोष्ठे गवां व्रजे पल्वले अल्पोदके सरसि उदकान्ते वा उदकस्य समीपे वा। 'आचा···दाति'। स्वकीयाय आचार्याय वरम् आचार्याभिलषितं द्रव्यं ददाति कर्मकर्ता पित्रादिः॥ २।१।२२॥

(गदाधरभाष्यम्)—'अनु···कान्ते वा'। ततो वपनोत्तरं सर्वान्केशान् गोमयपिण्डे कृत्वा तं गोमयपिण्डं वस्त्रादिवेष्टनेनानुगुप्तमावृतं कृत्वा गोष्ठे गवां व्रजे स्थापयेत्। अथवा पल्वले अल्पोदके सरसि स्थापयेत्। उदकान्ते यत्र कुत्रचिदुदकसमीपे वा स्थापयेत्। 'आचा···दाति'। ततश्चूडाकरणकर्मकर्ता पित्रादिः स्वाचार्याय वरम् अभिलषितद्रव्यं ददाति। अभिलषितद्रव्याभावे चतुःकार्षापणो वर इति मूल्याध्यायोक्तद्रव्यदानमिति वृद्धाः॥ २।१।२२॥

अनुवाद—ढँके हुए केश के साथ गोबर के पिण्ड को गोशाला या तलैया में फेंक दें और आचार्य को दक्षिणा दी जाय।

गां केशान्ते ॥ २।१।२३ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'गां केशान्ते'। केशान्ते कर्मणि संस्कार्यस्य आचार्याय गां ददाति ॥ २।१।२३ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'गां केशान्ते'। केशान्ते कर्मणि केशान्तसंस्कारकर्ता स्वाचार्याय गां ददाति संस्कार्यस्याचार्यायेति हरिहरः ॥ २।१।२३ ॥

अनुवाद—चूड़ाकरण के अन्त में दक्षिणा में गाय दी जाय।

संवत्सरं ब्रह्मचर्यमवपनं च केशान्ते द्वादशरात्रꣳ षड्रात्रं त्रिरात्रमन्ततः ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'संव···न्ततः'। केशान्तकर्मानन्तरं संवत्सरं यावत् ब्रह्मचर्यं भवेत्। अवपनं केशान्ते द्वादशरात्रं षड्रात्रं त्रिरात्रमन्ततः। केशान्तकर्मानन्तरं यावज्जीवमवपनं च विहितवपनव्यतिरेकेण। विहितवपनञ्च—गङ्गायां भास्करक्षेत्रे मातापित्रोर्गुरौ मृते। आधाने सोमपाने च वपनं सप्तसु स्मृतम् ॥ तथा वपनं चानुभाविनां, प्रेतकनीयसां वपनम्। तथा—मुण्डनं चोपवासश्च सर्वतीर्थेष्वयं विधिः। वर्जयित्वा कुरुक्षेत्रं विशालं विरजं गयाम् ॥ नैमिषं पुष्करं गयामिति पाठान्तरम्। प्रयागे वपनं कुर्याद् गयायां पिण्डपातनम्। दानं दद्यात्कुरुक्षेत्रे वाराणस्यां तनुं त्यजेत् ॥ इत्यादिवचननिचयप्रतिपादितनिमित्तेषु। अत्र गर्भाधानादिषु विवाहपर्यन्तेषु संस्कारकर्मसु मुख्यत्वेन पितैव कर्ता तदभावे सन्निहितोऽन्यः। तथा च स्मरणम्—स्वपितृभ्यः पिता दद्यात्सुतसंस्कारकर्मसु। पिण्डानोद्वाहनात्तेषां तस्याभावेऽपि तत्क्रमात् ॥ एतान्युक्तानि नामकरणादीनि चूडाकरणान्तानि कर्माणि दुहितॄणामपि मन्त्ररहितानि कुर्यात्। यथाह याज्ञवल्क्यः—तूष्णीमेताः क्रियाः स्त्रीणां विवाहस्तु समन्त्रक इति। तथा शूद्रस्य यथाहंम्। यथाह यमः—शूद्रोऽप्येवंविधः कार्यो विना मन्त्रेण संस्कृतः। न केनचित्समसृजच्छन्दसा तं प्रजापतिः ॥ एवंविधः गर्भाधानादिचूडाकरणान्तैः संस्कारैर्बैजिकगार्भिकपापशून्यः। विना मन्त्रेण तूष्णीं यतस्तं शूद्रं केनापि एकतमेनापि छन्दसा वेदेन प्रजापतिः परमेश्वरः न समसृजत् समयोजयत् इति। तथा ब्रह्मपुराणे—विवाहमात्रसंस्कारं शूद्रोऽपि लभतां सदा। मात्रशब्देन विहितेतरसंस्कारनिवृत्तिश्च। यमब्रह्मपुराणवचनाभ्यां शूद्रस्य गर्भाधानपुंसवनसीमन्तजातकर्मनामधेयनिष्क्रमणान्नप्राशनचूडाकरणविवाहान्ता नवसंस्कारा विहितास्ते च तूष्णीम् इतरेषां निवृत्तिः ॥ प्रसङ्गादनुपनीतधर्मा लिख्यन्ते। मनुः—नास्मिन्युज्यते कर्म किञ्चिदामौञ्जिबन्धनात्। नाभिव्याहारयेद् ब्रह्म स्वधानिनयनादृते ॥ शूद्रेण हि समस्तावद्यावद्वेदे न जायते। वृद्धशातातपः—प्राक् चूडाकरणाद् बालः प्रागन्नप्राशनाच्छिशुः। कुमारस्तु स विज्ञेयो यावन्मौञ्जीनिबन्धनम् ॥ शिशोरभ्युक्षणं प्रोक्तं बालस्याचमनं स्मृतम्। रजस्वलादिसंस्पर्शे स्नातव्यं तु कुमारकैः ॥ गौतमः—प्रागुपनयनात्कामचारवादभक्षः। नित्यं मद्यं ब्राह्मणोऽनुपनीतोऽपि वर्जयेत्। उच्छिष्टादावप्रयता न स्युः। महापातकवर्जम्। ब्राह्मे—मातापित्रोरथोच्छिष्टं बालो भुञ्जन् भवेत्सुखी। संस्कारप्रयोजनं च स्मृत्यन्तरोक्तम्। यथाह याज्ञवल्क्यः—एवमेनः शमं याति बीजगर्भसमुद्भवम्। अङ्गिराः—चित्रकर्म यथाऽनेकैरागैरुन्मील्यते शनैः। ब्राह्मण्य-

मपि तद्वत्स्यात्संस्कारैर्विधिपूर्वकैः। मनुः—गार्भैर्होमैर्जातकर्मचूडामौञ्जीनिबन्धनैः। बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते॥ हारीतः—गर्भाधानवदुपेतो ब्रह्मगर्भं सन्दधाति पुंसवनात्पुंसीकरोति फलस्नापनात्पितृजं पाप्मानमपोहति जातकर्मणा प्रथममपोहति नामकरणेन द्वितीयं प्राशनेन तृतीयं चूडाकरणेन चतुर्थं स्नानेन पञ्चमम्। एतैरष्टभिर्गर्भसंस्कारैर्गर्भोपघातात्पूता भवति। उपनयनाद्यैरेभिरनुव्रतैश्चाष्टभिः स्वच्छन्दसम्मितो ब्राह्मणः परं पात्रं देवपितॄणां भवति। छन्दसामायतनम्। सुमन्तुः—तत्र ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानां वृत्तिगर्भाधानपुंसवनसीमन्तोन्नयनजातकर्मनामकरणनिष्क्रमणान्नप्राशनचूडोपनयनं चत्वारि वेदव्रतानि स्नानं सहधर्मचारिणीसंयोगः पञ्चानां यज्ञानामनुष्ठानम् देवपितृमनुष्यभूतब्रह्मयज्ञानाम्। एतेषां (?) चाष्टकाः पार्वणः श्राद्धं श्रावण्याग्रहायणीचैत्र्याश्वयुजीतिपाकयज्ञसंस्थाः। अग्न्याधेयमग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ चातुर्मास्याग्रयणेष्टिर्निरूढपशुबन्धः सौत्रामणीति सप्तहविर्यज्ञसंस्थाः। अग्निष्टोमोऽत्यग्निष्ठोमउक्थ्यःषोडशीवाजपेयोऽतिरात्रोप्तोर्याम इति सप्त सोमसंस्थाः, एते चत्वारिंशत्संस्काराः। हारीतः—द्विविध एव संस्कारो भवति—ब्राह्मो दैवश्च। गर्भाधानादिस्नानान्तो ब्राह्मः। पाकयज्ञहविर्यज्ञसौम्याश्चेति दैवः। ब्राह्मसंस्कारसंस्कृत ऋषीणां समानतां सायुज्यतां गच्छति। दैवेनोत्तरेण संस्कारेणानुसंस्कृतो देवानां समानतां सालोक्यतां सायुज्यतां गच्छतीत्यलमतिप्रसङ्गेन॥ इति सूत्रार्थः॥ २।१।२४॥

अथ प्रयोगः—तत्र सांवत्सरिकस्य तृतीये वा वर्षे भूयिष्ठे गते कुमारस्य चूडाकरणाख्यं कर्म कुर्यात्। कुलधर्मव्यवस्थया वा। दैवयोगाद् गृह्योक्तकालालाभे स्मृत्यन्तरोक्तान्यतमकाले मातृपूजामाभ्युदयिकं च कृत्वा श्राद्धातिरिक्तं ब्राह्मणत्रयं भोजयित्वा बहिःशालायां परिसमूहनादिभिर्भुवं संस्कृत्य लौकिकाग्निं स्थापयेत्। अथ माता कुमारमादाय स्नापयित्वा वासोयुगं परिधाप्य उत्सङ्गे निधाय अग्नेः पश्चिमत उपविशति। ततो ब्रह्मोपवेशनाद्याज्यभागान्ते विशेषः। तण्डुलवर्जमासादनम्। उपकल्पनीयानि च शीतोदकमुष्णोदकम्। नवनीतघृतदधिपिण्डानामेकतमः पिण्डः। त्र्येणी शलली। त्रीणि त्रीणि कुशतरुणानि पृथक् बद्धानि नव। लाम्रपरिष्कृत आयसः क्षुरः गोमयपिण्डं नापितश्चेति। ततः पवित्रकरणादिपर्युक्षणान्ते आघारादिस्विष्टकृदन्तं चतुर्दशाहुतिहोमं विधाय संस्रवं प्राश्य पूर्णपात्रवरयोरन्यतरं ब्रह्मणे दद्यात्। ततः शीतास्वप्सु उष्णा अप आसिच्य उष्णेन वाय उदकेनेह्यदिते केशान्वपेत्यनेन मन्त्रेण। अत्र उष्णोदकमिश्रितशीतोदके उपकल्पितं नवनीताद्यन्यतमं पिण्डं प्रक्षिपति। तदुदकमादाय सवित्रा प्रसूता दैव्या आप उदन्तु ते तनुं दीर्घायुत्वाय वर्चस इत्यनेन मन्त्रेण दक्षिणं गोदानमुन्दति। ततस्त्र्येण्या शलल्या केशान्विनीय ओषधे त्रायस्वेति मन्त्रेण त्रीणि कुशतरुणान्यन्तर्धाय शिवो नामासिस्वधितिस्ते पिता नमस्ते अस्तु मामाहिंᳫसीरिति उपकल्पितं क्षुरमादाय कुशतरुणान्तर्हितेषु केशेषु निवर्तयाम्यायुषेऽन्नाद्याय प्रजननाय रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्यायेत्यनेन मन्त्रेण क्षुरमभिनिदधाति। येनावपत्सविता क्षुरेण सोमस्य राज्ञो वरुणस्य विद्वान्। तेन ब्रह्माणो वपतेदमस्यायुष्यं जरदष्टिर्यथासदित्यनेन मन्त्रेण सकेशानि कुशतरुणानि प्रच्छिद्य आनडुहे गोमयपिण्डे उत्तरतो ध्रियमाणे प्रक्षि-

पति। एवमेवापरं वारद्वयम् उन्दनकेशविनयनकुशतरुणान्तर्धानक्षुराभिनिधानसकेश-कुशतरुणप्रच्छेदनगोमयपिण्डप्राशनानि तूष्णीं कुर्यात्। तथा पश्चिमोत्तरयोर्गोदानयोः एवमेव सकृत्समन्त्रकं द्विस्तूष्णीं करोत्येतावान्विशेषः। पश्चिमगोदाने त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषं यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम् इति मन्त्रेण छेदनम्। उत्तर-गोदाने येन भूरिश्चरादिवं ज्योक्च पश्चाद्धि सूर्यम्। तेन ते वपामि ब्रह्मणा जीवातवे जीवनाय सुश्लोक्याय स्वस्तये इत्यनेन मन्त्रेण छेदनम्। अन्यत्सर्वमुन्दनादि गोमयपिण्ड-प्राशनान्तं समानम्। ततो यत्क्षुरेण मज्जयता सुपेशसा वप्त्वा वा वपति केशाञ्छिन्धि शिरो मास्यायुः प्रमोषीरित्यन्तेन मन्त्रेण शिरसः समन्तात्प्रदक्षिणं क्षुरं भ्रामयति सकृन्म-न्त्रेण द्विस्तूष्णीम्। ततस्तेनैवोदकेन समस्तं शिर आर्द्रमापाद्य अक्षण्वन्परिवपेत्यनेन मन्त्रेण नापिताय क्षुरं समर्पयति। स च नापितः केशवपनं कुर्वन् यथोक्तं केशशेष-करणं करोति, ततः सकेशं गोमयपिण्डमनुगुप्तं पल्वले गोष्ठे वा उदकान्ते निधाय चूडा-करणकर्ता स्वाचार्याय वरं ददाति। केशान्तेऽपि षोडशवर्षस्य सप्तदशे वर्षे इयमेव चूडाकरणोक्तेतिकर्तव्यता भवति। एतावांस्तु विशेषः—उष्णोदकासेकमन्त्रे उष्णेन वाय उदकेनेद्युदिते केशश्मश्रु वपेति तथा क्षुरपरिहरणे मुखसहितं शिरः परिहरन्ति तत्र परि-हरणमन्त्रे च यत्क्षुरेण मज्जयतेत्यादि मास्यायुः प्रमोषीर्मुखम् इति। तथा यस्य केशान्तः स स्वाचार्याय गां ददाति। संवत्सरं वा द्वादशरात्रं षड्रात्रं त्रिरात्रं वा ब्रह्मचर्यं करोति। शक्त्यपेक्षया विकल्पः। तथा केशान्तादूर्ध्वं शास्त्रीयवपनव्यतिरेकेण यावज्जीवमपनं शास्त्रीयवपनं चोक्तम्॥

(गदाधरभाष्यम्)—'संव······केशान्ते'। केशान्तकर्मानन्तरं केशान्तकर्मणा यः संस्कृतः स संवत्सरं यावद् ब्रह्मचर्यं चरेत्। स्त्रीसम्भोगं न कुर्यादित्यर्थः। अवपनं च केशान्तोत्तरकालं संस्कृतः संवत्सरं वपनं वर्जयेत्। चशब्दः संवत्सरानुवृत्त्यर्थः। केशान्तकर्मोत्तरम् अवपनं च यावज्जीवं शास्त्रीयवपनव्यतिरेकेणेति वासुदेवहरिहर-गर्गाः। 'द्वाद···न्ततः'। संवत्सरं ब्रह्मचर्यमवपनं च द्वादशरात्रं वा षड्रात्रं त्रिरात्रं वा। एते चत्वारो विकल्पाः पूर्वपूर्वाशक्त्या। अत्र स्मृत्यन्तरोक्तो वपने विधिर्नि-षेधश्चोच्यते—गङ्गायां भास्करक्षेत्रे मातापित्रोर्गुरोर्मृतौ। आधाने सोमपाने च वपनं सप्तसु स्मृतम्॥ तथा—मुण्डनं चोपवासश्च सर्वतीर्थेष्वयं विधिः। वर्जयित्वा कुरुक्षेत्रं विशालं विरजं गयाम्॥ वपनं चानुभाविनां प्रेतकनीयसाम्, तथा प्रयागे वपनं कुर्याद गयायां पिण्डपातनमित्यादिषु निमित्तेषु वपनं कार्यम्। वृथा तु न कार्यम्, तथा च विष्णुः—प्रयागे तीर्थयात्रायां पितृमातृवियोगतः। कचानां वपनं कुर्याद् वृथा न विकचो भवेत्॥ इति निषेधेऽपि नीचकेशो विप्रः स्यादिति नीचकेशत्वविधानात्कर्तनादिना नीचत्वं सम्पादनीयम्। मुण्डनस्य निषेधेऽपि कर्तनं तु विधीयत इति बृहस्पतिवचनात्। भारते—प्राङ्मुखः श्मश्रुकर्माणि कारयीत समाहितः। उदङ्मुखो वाऽथ भूत्वा तथा-ऽऽयुर्विन्दते महत्॥ अपरार्के—केशश्मश्रुलोमनखान्युदक्संस्थानि वापयेत्। दक्षिणं कर्णमारभ्य धर्मार्थं पापसङ्क्षये॥ हन्वाद्यन्तं च संस्कारे शिखाद्यन्तं शिरो वपेत्। यतीनां तु विशेषो निगमे—कक्षोपस्थशिखावर्जमृतुसन्धिषु वापयेदिति॥ २।१।२४॥

अथ पदार्थक्रमः—तत्र कालस्तावत्प्रथमे द्वितीये तृतीये पञ्चमे सप्तमे वा वर्षे गततृतीयभागे अगतत्रिभागे वा उपनीत्या सह वा यथाकुलाचारं चौलं कार्यम् । तत्रापि द्वितीयादौ वर्षे जन्मतो मुख्यं गर्भतो गौणम् । उदगयने शुक्लपक्षे गुरुशुक्रयोः बाल्यवार्द्धक्यास्तमयाभावे अक्षयेऽनधिके च मासि ज्योतिःशास्त्रोक्तप्रशस्ततिथिवारलग्नेषु शुभमुहूर्ते दिन एव न तु रात्रौ कार्यम् । तत्र मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकश्राद्धम् । कुमारस्य हरिद्रालापनादिमङ्गलकरणम् । ततो ब्राह्मणत्रयभोजनम् । ततः सङ्कल्पः—देशकालौ स्मृत्वा कुमारस्य बीजगर्भसमुद्भवैनोनिबर्हणेन बलायुर्वर्चोऽभिवृद्धिद्वारा श्रीपरमेश्वरप्रीत्यर्थं चूडाकरणाख्यं कर्म करिष्य इति सङ्कल्पः । ततो बहिःशालायां पञ्च भूसंस्कारान् कृत्वा लौकिकाग्नेः स्थापनम् । ततो माता कुमारं स्नापयित्वाऽहते वाससी परिधाप्योत्सङ्गे कृत्वा पश्चादग्नेरुपविशति । ततो वैकल्पिकावधारणम् । ब्रह्मणो गमनादिपूर्ववदवधारणम् । घृतपिण्डप्रासनम् । सकेशगोमयपिण्डस्योदकान्ते प्रासनम् । इत्यवधारणम् । ततो ब्रह्मोपवेशनाद्याज्यभागान्ते विशेषः । नात्र चरुः । उपकल्पनीयानि । शीतोदकम् । उष्णोदकम् । नवनीतपिण्डघृतपिण्डदधिपिण्डानां मध्येऽवधारितान्यतमम् । त्र्येणी शलली । सप्तविंशतिकुशतरुणानि । ताम्रपरिष्कृत आयसः क्षुरः । आनडुहगोमयपिण्डः । नापितो वरश्चेति । आज्यभागानन्तरं महाव्याहृत्यादिप्राजापत्यान्ता नवाहुतयः । ततः स्विष्टकृत् । ततः संस्रवप्राशनादि ब्रह्मणे पूर्णपात्रवरयोरन्यतरदानान्तम् । ततः शीतोदके उष्णोदकस्य निनयनम् उष्णेन वाय उदकेनेह्यदिते केशान्वपेति । उष्णोदकमिश्रितास्वप्सु नवनीतघृतदधिपिण्डानामन्यतमप्रासनम् । अतःप्रभृत्यनेनैवोदकेनोन्दनं कार्यं सर्वत्र । उदकमादाय दक्षिणं गोदानमुन्दति सवित्राप्रसूतेति । ततस्त्र्येण्या शलल्या विनयनम् । त्रयाणां कुशतरुणानामन्तर्द्धानमोषधे त्रायस्वेति । शिवोनामेति क्षुरादानम् । निवर्तयामीति कुशतरुणान्तर्हितेषु केशेषु क्षुरनिधानम् । ततो येनावपत्सवितेति सकेशानि कुशतरुणानि प्रच्छिद्यानडुहे गोमयपिण्डे उत्तरतो ध्रियमाणे प्रक्षिपति । ततस्तस्मिन्नेव दक्षिणगोदाने एवमेवापरं वारद्वयं तूष्णीं कर्म कर्तव्यम् । तत्रैवं पदार्थाः । उदकमादायोन्दनम् । त्र्येण्या शलल्या विनयनम्, त्रयाणां कुशतरुणानामन्तर्द्धानम् । क्षुराभिनिधानम् । सकेशानां कुशतरुणानां छेदनम् । गोमयपिण्डे प्रासनम् । दक्षिणगोदानवदेवोन्दनादि पिण्डे प्रासनान्तं पश्चिमोत्तरयोर्गोदानयोः सकृत्समन्त्रकं द्विस्तूष्णीं कर्म कुर्यात् । एतावान्विशेषः । पश्चिमगोदाने त्र्यायुषमिति छेदनम् । न तु येनावपदिति । उत्तरगोदाने येन भूरिश्चरा दिवमिति मन्त्रेणैव छेदनम् । ततो यत्क्षुरेणेति शिरसः समन्तात्प्रदक्षिणं क्षुरं भ्रामयति सकृन्मन्त्रेण द्विस्तूष्णीम् । ततस्ताभिरेवाद्भिः शिरस उन्दनम् । नापिताय क्षुरसमर्पणं अक्षण्वन्परिवपेति । यथामङ्गलं शिखास्थापनं नापितः करोति । ततः सकेशं गोमयपिण्डमनुगुप्तं पल्वले गोष्ठे वा उदकान्ते वा निदधाति । ततश्चूडाकरणकर्ता स्वाचार्याय वरं ददाति । यज्ञपार्श्वोक्तं दशब्राह्मणभोजनम् । अत्र भोजने प्रायश्चित्तमुक्तं पराशरमाधवीये—निर्वृत्ते चूडहोमे तु प्राङ् नामकरणात्तथा । चरेत्सान्तपनं भुक्त्वा जातकर्मणि चैव हि ।। अतोऽन्येषु तु संस्कारेषूपवासेन शुद्ध्यति । इति चूडाकर्मणि पदार्थक्रमः ।।

अथ केशान्ते पदार्थक्रमः। कालश्चूडाकरणोक्तो ज्ञेयः। सप्तदशे वर्षे इदं कार्यम्। लौकिकेऽग्नौ। आरम्भनिमित्तं मातृपूजापूर्वकं नान्दीश्राद्धं, देशकालौ स्मृत्वा केशान्तकर्म करिष्य इति सङ्कल्पः। ब्राह्मणत्रयभोजनादि परिशिष्टोक्तब्राह्मणभोजनान्तं चूडाकरणवत्। इयांस्तु विशेषः। उष्णोदकासेकमन्त्रे उष्णेन वाय उदकेनेह्यदिते केशश्मश्रू वपेति। क्षुरपरिग्रहणमन्त्रे च यत्क्षु० प्रमोषीर्मुखमिति। मुखसहितं शिरः परिहरति। वरस्थाने आचार्याय गोदानं संवत्सरं ब्रह्मचर्यमित्यादि यथोक्तम्। इति केशान्तः। एतानि जातकर्मादिचूडाकरणान्तानि कर्माणि कुमर्या अप्यमन्त्रकाणि कार्याणि तत्र होमस्तु समन्त्रकः। तदुक्तं कारिकायाम्—जातकर्मादिकाः स्त्रीणां चूडाकर्मान्तिकाः क्रियाः। तूष्णीं होमे तु मन्त्रः स्यादिति गोभिलभाषितम्॥ होमस्तु समन्त्रक इति प्रयोगपारिजाते। याज्ञवल्क्यः—तूष्णीमेताः क्रियाः स्त्रीणां विवाहस्तु समन्त्रक इति॥

अथ शूद्रस्य संस्काराः। मनुः—शूद्रोऽप्येवंविधः कार्यो विना मन्त्रेण संस्कृतः। न केनेचित्समसृजच्छन्दसा तं प्रजापतिः॥ छन्दसा मन्त्रेण। व्यासः—गर्भाधानं पुंसवनं सीमन्तो जातकर्म च। नामक्रिया निष्क्रमोऽन्नप्राशनं वपनक्रिया॥ कर्णवेधो व्रतादेशो वेदारम्भक्रियाविधिः। केशान्तः स्नानमुद्वाहो विवाहाग्निपरिग्रहः॥ त्रेताऽग्निसङ्ग्रहश्चैव संस्काराः षोडश स्मृताः। इत्युक्त्वाऽऽह। नवैताः कर्णवेधान्ता मन्त्रवर्जं क्रियाः स्त्रियाः। विवाहो मन्त्रतस्तस्याः शूद्रस्यामन्त्रतो दश॥ इति यमब्रह्मपुराणवचनाभ्याम्। शूद्रस्य गर्भाधानपुंसवनसीमन्तजातकर्मनामधेयनिष्क्रमणान्नप्राशनचूडाकरणविवाहान्ता नव संस्कारा विहितास्ते च तूष्णीमिति हरिहरभाष्ये। शार्ङ्गधरस्तु—द्विजानां षोडशैव स्युः शूद्राणां द्वादशैव हि। पञ्चैव मिश्रजातीनां संस्काराः कुलधर्मतः॥ वेदव्रतोपनयनं महानाम्नी महाव्रतम्। विना द्वादश शूद्राणां संस्कारा नाममन्त्रतः॥ इत्याह। ब्रह्मपुराणे तु—विवाहमात्रं संस्कारं शूद्रोऽपि लभतां सदेति। अत्र सदसच्छूद्रविपर्यत्वेन व्यवस्था। सच्छूद्रस्य द्वादश। असच्छूद्रस्य विवाहमात्रम्। एते च तूष्णीं कार्याः। तथा च व्यासः—शूद्रो वर्णश्चतुर्थोऽपि वर्णत्वाद्धर्ममर्हति। वेदमन्त्रं स्वधास्वाहावषट्कारादिभिर्विना॥ इति। मरीचिः—अमन्त्रस्य तु शूद्रस्य विप्रो मन्त्रेण गृह्यत इति। तेन शूद्रधर्मेषु सर्वत्र विप्रेण मन्त्रः पठनीयः सोऽपि पौराण एवेति शूलपाणिः। एवं शूद्रकर्तृकहोमो विप्रद्वारैव पराशरेणोक्तः। दक्षिणार्थं तु यो विप्रः शूद्रस्य जुहुयाद्धविः। ब्राह्मणस्तु भवेच्छूद्रः शूद्रस्तु ब्राह्मणो भवेत्॥ अत्र माधवाचार्यैर्व्याख्यातम्—यो विप्रः शूद्रदक्षिणामादाय तदीयं हविः शान्तिपुष्टयादिसिद्धये वैदिकैर्मन्त्रैर्जुहोति तस्य विप्रस्यैव दोषः शूद्रस्तु होमफलं लभत एवेति। शूद्रस्य यत्र यत्र होमस्तत्र तत्र लौकिकाग्नावेव। मन्त्रान्तराविधानात् नमस्कारमन्त्रेणेति मदनपारिजाते। शूद्रस्य विवाहहोमाभावश्च तत्रैवोक्तः। तच्चिन्त्यम्॥

अथानुपनीतधर्माः। गौतमः—प्रागुपनयनात्कामचारवादभक्षाः। नित्यं मद्यं ब्राह्मणोऽनुपनीतोऽपि वर्जयेत्॥ उच्छिष्टतादावप्रयतमनस्को महापातकवर्जम्। ब्रह्मपुराणे—मतापित्रोरथोच्छिष्टं बालो भुञ्जन् भवेत्सुखीति। वृद्धशातातपः—शिशोरभ्युक्षणं प्रोक्तं बालस्याचमनं स्मृतम्। रजस्वलादिसंस्पर्शे स्नानमेव कुमारके॥ प्राक्-

चूडाकरणाद् बालः प्रागन्नप्राशनाच्छिशुः। कुमारस्तु स विज्ञेयो यावन्मौञ्जीनिबन्धनम् ॥ तस्यानुपनीतस्य चण्डालादिस्पृष्टस्यापि स्पर्शनान्न स्नानम्। इदं च षष्ठवर्षात्प्राक् ऊर्ध्वं तु भवत्येव। बालस्य पञ्चमाद्वर्षाद्रक्षार्थं शौचमाचरेदिति स्मृतेः। कामचारादिकेऽप्येवम्। ऊनैकादशवर्षस्य पञ्चवर्षात्परस्य च। चरेद् गुरुः सुहृच्चैव प्रायश्चित्तं विशुद्धये ॥ इतिस्मृतेः ॥

अथ गर्गमते पदार्थक्रमः—आभ्युदयिकम्। ब्राह्मणत्रयभोजनम्। बहिःशालायां लौकिकाग्नेः स्थापनम्। माता कुमारमादायेत्यादि यथोक्तम्। ततो ब्रह्मासनादिदक्षिणादानान्ते विशेषः। बर्हिरासादनानन्तरमुष्णोदकं, शीतीदकं, नवनीतघृतदधिपिण्डानामन्यतमः पिण्डः, त्र्येणी शलली, कुशपवित्राणि सप्तविंशतिः, क्षुरः, गोमयं, नापितः, वरः, इत्यासादनं नोपकल्पनम्। ततो दक्षिणादानान्तं कर्म कृत्वा शीतासु उष्णा अप आसिञ्चति नवनीतादीनामन्यतमप्रासनं तत्र उन्दनं तूष्णीं विनयनं, कुशतरुणान्तर्द्धानं, क्षुरादानं, त्र्यायुषं, येनावपदिति मन्त्रद्वयेन कुशतरुणान्तर्हितेषु केशेषु क्षुरमभिनिधाय सकेशानि तृणानि प्रच्छिद्यानडुहे गोमयपिण्डे प्रासनम्। एवं तूष्णीमुन्दनादि द्विरपरं क्षुरादानवर्जम्। ततः पश्चिमगोदाने एवं सकृन्मन्त्रेण द्विस्तूष्णीम्। त्र्यायुषमिति छेदनमन्त्रे विशेषः। अथोत्तरगोदाने एवमेव सकृन्मन्त्रेण द्विस्तूष्णीं, येन भूरिश्चरेति छेदने विशेषः। शिरःपरिहरणं शिरःसमुन्दनं क्षुरसमर्पणं शिखास्थापनं गोष्ठाद्यन्यतमान्ते गोमयपिण्डनिधानमाचार्याय वरदानमिति गर्गमते पदार्थक्रमः। इति द्वितीयकाण्डे चूडाकरणपदार्थक्रमः ॥

अनुवाद—केशान्त संस्कार के बाद ब्रह्मचर्यपूर्वक रहते हुए एक साल तक शिशु का केश न काटा जाय।

अनुवाद—यदि सम्भव न हो तो बारह दिन, छः दिन या अन्ततः तीन दिन ही उपरलिखित नियमों का पालन करना चाहिए।

टिप्पणी—चौथे सूत्र में 'यथामङ्गलम्' शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसका सामान्य अर्थ कुल-परम्परागत होता है। किन्तु कर्मकाण्ड के अन्य आचार्यों के बीच इस संदर्भ में मतभेद है। उस दृष्टि से कर्मकाण्ड के अन्य ग्रन्थों में विहित काल अर्थ का भी बोध होता है। केशान्त संस्कार के विषय में जयराम के अनुसार यह कर्म विवाहित और अविवाहित दोनों का हो सकता है। गृह्यकारिका ने इसके लिए समय निर्धारित कर दिया है। केशान्त संस्कार ब्राह्मणों का सोलह वर्ष में होना चाहिए, क्षत्रियों का बाईस वर्ष में, वैश्य का इससे भी अधिक उम्र में। यथामङ्गल शब्द की सार्थकता इसी सन्दर्भ में हो सकती है। इसी तरह शिखा का भी विषय विवादग्रस्त है। लौगाक्षिस्मृति और पारस्करगृह्यसूत्र के अनुसार 'वाजसनेयिनामेकां मङ्गलार्थम्' इस नियम से वाजसनेयियों को एक ही शिखा रखनी चाहिए।

द्वितीयकाण्ड में प्रथम कण्डिका समाप्त।

द्वितीया कण्डिका

उपनयनम्

अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयेद् गर्भाष्टमे वा ॥ २।२।१ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अष्ट···मे वा'। अष्टौ वर्षाण्यतीतानि यस्यासौ अष्टवर्षस्तं ब्राह्मणं द्विजोत्तमम् उपनयेत् उपनयनाख्येन संस्कारेण संस्कुर्यात्। गर्भाष्टमे वा गर्भः गर्भसहचरितोऽब्दः अष्टमो येषां तानि गर्भाष्टमानि तेषु अतीतेषु वा उपनयेत्। ततश्च जन्मतो नवमेऽष्टमे वा वर्षे उपनयेदित्यर्थः ॥ २।२।१ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—अथोपनयनमाह—'अष्ट···नयेत्'। प्रसवानन्तरमष्टौ वर्षाण्यतीतानि यस्य बालकस्यासौ अष्टवर्षः तमष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयेत्। उपनयन-संस्कारेण संस्कुर्यात्। आचार्यस्य उप समीपे माणवकस्य नयनम् उपनयनशब्देनोच्यते। उपनयनं च विधिना आचार्यसमीपनयनम्, अग्निसमीपनयनं वा, सावित्रीवाचनं वाऽन्य-दङ्गमिति स्मृत्यर्थसारे। उपनेतृक्रममाह वृद्धगर्गः—पिता पितामहो भ्राता ज्ञातयो गोत्रजाग्रजाः। उपायनेऽधिकारी स्यात्पूर्वाभावे परः परः॥ तथा—पितैवोपनयेत्पुत्रं तदभावे पितुःपिता। तदभावे पितुर्भ्राता तदभावे तु सोदरः॥ पितेति विप्रपरं न क्षत्रियवैश्ययोः। तयोस्तु पुरोहित एव उपनयनस्य दृष्टार्थत्वात्। तयोस्त्वध्यापनेऽनधि-कारात्। 'गर्भाष्टमे वा'। अथवा ब्राह्मणं गर्भसहिताष्टवार्षिकमुपनयेत्। गर्भाष्टमेष्विति पाठो हरिहरभर्तृयज्ञभाष्ये ॥ २।२।१ ॥

अनुवाद—जन्म से आठवें साल में ब्राह्मण बालक का उपनयन संस्कार करना चाहिए। अथवा गर्भ के आठवें साल में ब्राह्मण बालक का उपनयन संस्कार होना चाहिए।

एकादशवर्षं राजन्यम् ॥ २।२।२ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'एका···जन्यम्'। एकादशवर्षाण्यतीतानि यस्यासौ एकादश-वर्षस्तं जन्मतो द्वादशवर्षं इत्यर्थः। राजन्यं क्षत्रियमुपनयेदित्यनुषज्यते ॥ २।२।२ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'एका···न्यम्'। एकादशवर्षाण्यतीतानि यस्यासावेकादश-वर्षस्तं राजन्यं क्षत्रियमुपनयेत्। जन्मतो द्वादशवर्षे इत्यर्थः ॥ २।२।२ ॥

अनुवाद—क्षत्रिय कुमार का ११वें वर्ष में उपनयन संस्कार होना चाहिए।

द्वादशवर्षं वैश्यम् ॥ २।२।३ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'द्वाद···श्यम्'। द्वादशवर्षाण्यतीतानि यस्यासौ तथा तं जन्मतस्त्रयोदशे वर्षे वैश्यमुपनयेत् ॥ २।२।३ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'द्वाद···श्यम्'। द्वादश वर्षाण्यतीतानि यस्यासौ तथा तं वैश्यं वर्णतृतीयमुपनयेत्। जन्मतस्त्रयोदशे वर्षे इत्यर्थः ॥ २।२।३ ॥

अनुवाद—जन्म से बारहवें वर्ष में वैश्य बालक का उपनयन संस्कार करना चाहिए ।

यथामङ्गलं वा सर्वेषाम् ॥ २।२।४ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'यथा···षाम्' । पक्षान्तरमाह अथवा सर्वेषां ब्राह्मण-क्षत्रियविशां यथामङ्गलं यथाकुलधर्मं यद्वा यथामङ्गलशब्देन स्मृत्यन्तरोक्तपञ्चवर्षादिकालसङ्ग्रहः । यथाऽऽह मनुः—ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे । राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ॥ आपस्तम्बोऽपि—अथ काम्यानि । सप्तमे ब्रह्मवर्चसकाममष्टमे आयुष्कामं नवमे तेजस्कामं दशमे अन्नाद्यकाममेकादशे इन्द्रियकामं द्वादशे पशुकाममुपनयेत् । वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत ग्रीष्मे राजन्यं शरदि वैश्यम् । गर्भाष्टमे वर्षे वसन्ते ब्राह्मण आत्मानमुपनाययेत् । 'एकादशे क्षत्रियो ग्रीष्मे । द्वादशे वैश्यो वर्षासु' । वर्षाशब्देन शरदेवाभिधीयते । ऋतुः संवत्सरो ग्रीष्मो वर्षा हेमन्त इति पारस्करवचनाद्वर्षास्वन्तर्भवति शरत् ॥ २।२।४ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'यथा····र्वेषाम्' । अथवा सर्वेषामेव वर्णानां ब्राह्मणक्षत्रियविशां यथामङ्गलं शास्त्रान्तरविहितकालान्तरे उपनयनं भवति । अत्राश्वलायनः—गर्भाष्टमेऽष्टमे वाऽब्दे पञ्चमे सप्तमेऽपि वा । द्विजत्वं प्राप्नुयाद्विप्रो वर्षे त्वेकादशे नृपः ॥ आपस्तम्बः—गर्भाष्टमेषु ब्राह्मणमुपनयीतेति । बहुवचनं गर्भषष्ठसप्तमयोः प्राप्त्यर्थमिति सुदर्शनभाष्ये । आपस्तम्बः—अथ काम्यानि सप्तमे ब्रह्मवर्चसकाममष्टमे आयुष्यकामं नवमे तेजस्कामं दशमेऽन्नाद्यकाममेकादश इन्द्रियकामं द्वादशे पशुकाममुपनयेत् । मनुः—ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे । राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्यार्थार्थिनोऽष्टमे ॥ विष्णुः—षष्ठे तु धनकामस्य विद्याकामस्य सप्तमे । अष्टमे सर्वकामस्य नवमे कान्तिमिच्छतः ॥ नृसिंहः—उत्तरायणगे सूर्ये कर्तव्यं ह्यौपनायनम् । श्रुतिः—वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत ग्रीष्मे राजन्यं शरदि वैश्यम् । मासविषये ज्योतिषे—माघादिषु च मासेषु मौञ्जी पञ्चसु शस्यते । गर्गः—विप्रं वसन्ते क्षितिपं निदाघे वैश्यं घनान्ते व्रतिनं विदध्यात् । माघादिशुक्लान्तिकपञ्चमासाः साधारणा वा सकलद्विजानाम् ॥ बृहस्पतिः—शुक्लपक्षः शुभः प्रोक्तः कृष्णश्चान्त्यत्रिकं विना । वृत्तशते—न जन्मविष्ण्ये न च जन्ममासे न जन्मकालीनदिने विदध्यात् । ज्येष्ठे न मासि प्रथमस्य सूनोस्तथा सुताया अपि मङ्गलानि ॥ बृहस्पतिः—मिथुने संस्थिते भानौ ज्येष्ठमासो न दोषकृत् । राजमार्तण्डः—जातं दिनं दूषयते वसिष्ठो ह्यष्टौ च गर्गो नियतं दशात्रिः । जातस्य पक्षं किल भागुरिश्च शेषाः प्रशस्ताः खलु जन्ममासि ॥ जन्ममासे तिथौ भे च विपरीतदले सति । कार्यं मङ्गलमित्याहुर्गर्गभार्गवशौनकाः ॥ जन्ममासनिषेधेऽपि दिनानि दश वर्जयेत् । आरभ्य जन्मदिवसाच्छुभाः स्युस्तिथयोऽपरे ॥ बृहस्पतिः—झषचापकुलीरस्थो जीवोऽप्यशुभगोचरः । अतिशोभनतां दद्याद्विवाहोपनयादिषु ॥ कारिकायाम्—द्वादशाष्टमबन्धुस्थे मनसाऽपि न चिन्तयेत् । ग्रन्थान्तरे—शुद्धिर्नैव गुरोर्यस्य वर्षे

प्राप्तेऽष्टमे यदि । चैत्रे मीनगते भानौ तस्योपनयनं शुभम् ।। कारिकायाम्—अतीव दुष्टे सुरराजपूज्ये सिंहस्थिते वा द्विजपुङ्गवानाम् । व्रतस्य बन्धः खलु मासि चैत्रे कृतश्चिरायुः शुभसौख्यदः स्यात् ।। एतदष्टवर्षविषयम् । ग्राह्यनक्षत्राणि मदनपारिजाते—हस्तत्रये दैत्यरिपुत्रये च शक्रेन्दुपुष्याश्विनिरेवतीषु । वारेषु शुक्रार्कबृहस्पतीनां हितानुबन्धी द्विजमौञ्जिबन्धः ।। राजमार्तण्डस्तु पुनर्वसुं ब्राह्मणस्य निषेधति—पुनर्वसौ कृतो विप्रः पुनः संस्कारमर्हति इति । तिथयस्तत्रैवोक्ताः—तृतीयैकादशी ग्राह्या पञ्चमी दशमी तथा । द्वितीयायां च मेधावी भवेदर्थबलान्वितः ।। रिक्तायामर्थहानिः स्यात्पौर्णमास्यां तथैव च । प्रतिपद्यपि चाष्टम्यां कुलबुद्धिविनाशकृत् ।। कारिकायाम्—अनध्याये चतुर्थ्यां च कृष्णपक्षे विशेषतः । अपराह्णे चोपनीतः पुनः संस्कारमर्हति ।। नान्दीश्राद्धे कृते चेत्स्यादनध्यायस्त्वकालिकः । तदोपनयनं कार्यं वेदारम्भं न कारयेत् ।। लल्लः—व्रतेऽह्नि पूर्वसन्ध्यायां वारिदो यदि गर्जति । तद्दिने स्यादनध्यायो व्रतं तत्र विवर्जयेत् ।। ज्योतिर्निबन्धे—नान्दीश्राद्धं कृतं चेत्स्यादनध्यायस्त्वकालिकः । तदोपनयनं कार्यं वेदारम्भं न कारयेत् ।। मदनरत्ने नारदः—विनर्तुना वसन्तेन कृष्णपक्षे गलग्रहे । अपराह्णे चोपनीतः पुनः संस्कारमर्हति ।। वसन्ते गलग्रहो न दोषायेत्यर्थः । अपराह्णस्त्रेधाविभक्तदिनतृतीयांश इत्युक्तं तत्रैव । शब्दसामर्थ्याद् द्वेधा विभक्त इति युक्तम् । नारदः—कृष्णपक्षे चतुर्थी च सप्तम्यादिदिनत्रयम् । त्रयोदशीचतुष्कं च अष्टावेते गलग्रहाः ।। राजमार्तण्डः—आरम्भानन्तरं यत्र प्रत्यारम्भो न सिद्धयति । गर्गादिमुनयः सर्वे तमेवाहुर्गलग्रहम् ।। ज्योतिर्निबन्धे—अष्टकासु च सर्वासु युगमन्वन्तरादिषु । अनध्यायं प्रकुर्वीत तथा सोपपदास्वपि ।। सोपपदास्तु स्मृत्यर्थसारे उक्ताः—सिता ज्येष्ठे द्वितीया च आश्विने दशमी सिता । चतुर्थी द्वादशी माघे एताः सोपपदाः स्मृताः ।। चण्डेश्वरः—वेदव्रतोपनयने स्वाध्यायाध्ययने तथा । न दोषो यजुषां सोपपदास्वध्ययनेऽपि च ।। प्रदोषदिनमपि वर्ज्यम् । तत्स्वरूपमुक्तं गोभिलेन—षष्ठी च द्वादशी चैव अर्द्धरात्रोननाडिका । प्रदोषमिह कुर्वीत तृतीया तूनयामिका ।। इति । ज्योतिर्निबन्धे व्यासः—या चैत्रवैशाखसिता तृतीया माघस्य सप्तम्यथ फाल्गुनस्य । कृष्णे तृतीयोपनये प्रशस्ताः प्रोक्ता भरद्वाजमुनीन्द्रमुख्यैः ।। यत्तु बृहद्गार्ग्यवचनम्—अनध्यायं प्रकुर्वीत यस्तु नैमित्तिको भवेत् । सप्तमी माघशुक्ले तु तृतीया चाक्षया तथा ।। बुधत्रयेन्दुवाराश्च शस्तानि व्रतबन्धने । इति प्रायश्चित्तार्थोपनयनपरम् । तथा च निर्णयामृते कालादर्शे च—स्वाध्यायवियुजो घस्राः कृष्णप्रतिपदादयः । प्रायश्चित्तनिमित्ते तु मेखलाबन्धने मता ।। इति । ज्योतिर्निबन्धे नारदः—शाखाधिपतिवारश्च शाखाधिपबलं तथा । शाखाधिपतिलग्नं च दुर्लभं त्रितयं व्रते ।। सङ्ग्रहे—ऋगथर्वसामयजुषामधिपा गुरुसौम्यभौमसिताः । जीवो विप्राणां क्षत्रियस्य चोष्णगुर्विशां चन्द्र इति । गर्गः—ग्रहे रवीन्द्वोरवनिप्रकम्पे केतूद्गमोल्कापतनादिदोषे । व्रते दशाहानि वदन्ति तज्ज्ञास्त्रयोदशाहानि वदन्ति केचित् ।। सङ्कटे तु चण्डेश्वरः—दाहे दिशां चैव धराप्रकम्पे वज्रप्रपातेऽथ विदारणे च । केतौ तथोल्कांशुकणप्रपाते त्र्यहं न कुर्याद् व्रतमङ्गलानि ।। अनध्यायास्तु वातेऽमावस्यायामित्यत्र द्रष्टव्याः ।।२।२।४ ।।

अनुवाद—अथवा सभी वर्णों का सुविधा या कुल-परम्परा के अनुसार उपनयन संस्कार होना चाहिए।

ब्राह्मणान्भोजयेत्तं च पर्युप्तशिरसमलङ्कृतमानयन्ति ॥ २।२।५ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—एवमुपनयनकालमभिधायेदानीं कर्माह—'ब्राह्म···त्तं च'। त्रीन् ब्राह्मणान् भोजयेत् आशयेत्। तं च कुमारं वपनानन्तरमाशयेदिति चकारेणानुषज्यते। 'पर्यु···यन्ति'। परि सर्वत उप्तं मुण्डितं शिरो यस्य स पर्युप्तशिरास्तमलङ्कृतं यथासम्भवं रत्नसुवर्णनिर्मितैः कुण्डलाद्यलङ्कारैः आनयन्ति आचार्यपुरुषाः आचार्यसमीपम्। आचार्यलक्षणं यमेनोक्तम्—सत्यवाक् धृतिमान्दक्षः सर्वभूतदयापरः। आस्तिको वेदनिरतः शुचिराचार्य उच्यते ॥ वेदाध्ययनसम्पन्नो वृत्तिमान्विजितेन्द्रियः। न याजयेद् वृत्तिहीनं वृणुयाच्च न तं गुरुम् इति ॥ २।३।५ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—कालश्चोक्तः, इदानीं कर्माह—'ब्राह्म···त्तं च'। उपनेता आभ्युदयिकब्राह्मणव्यतिरिक्तांस्त्रीन् ब्राह्मणान्भोजयेदाशयेत् तं च कुमारं भोजयेत्। चशब्दो भोजनक्रियानुकर्षणार्थः। 'पर्यु···यन्ति'। परिपूर्वस्य वपतेः कृतसम्प्रसारणस्यैतद्रूपम्। परि सर्वत उप्तं मुण्डितं शिरो यस्य स पर्युप्तशिराः तं पर्युप्तशिराः तं पर्युप्तशिरसम् अलङ्कृतं स्रङ्मालादिना भूषितम्। आनयन्ति ये पूर्वं तेनाचार्येणोपनीतास्ते एनमाचार्यसमीपमानयन्ति। इदमानयनं चाध्ययनार्थम्। अतस्तदभावाच्छूद्रस्यानधिकारः। शूद्रस्य प्रतिषेधो भवत्यध्ययनं प्रति—श्रवणे त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रपूरणमुच्चारणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेद इति। वपनं च भोजनात्पूर्वमेव कार्यं नहीदानीं तदुपदेशो भूतकालनिर्देशात् ॥ २।२।५ ॥

अनुवाद—तीन ब्राह्मणों को भोजन कराकर उस कुमार को भी भोजन करा देना चाहिए। बालक का सिर मूंड़कर उसे वस्त्राभूषण से सजाकर आचार्य के पास ले आए।

पश्चादग्नेरवस्थाप्य ब्रह्मचर्यमागामिति वाचयति ब्रह्मचार्यसानीति च ॥ २।२।६ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'पश्चा···यति'। तत आचार्यो माणवकमग्नेः पश्चिमतः आत्मनो दक्षिणतोऽवस्थाप्य अवस्थितं कृत्वा ब्रह्मचर्यमागामिति ब्रूहीति प्रैषमुक्त्वा माणवकं ब्रह्मचर्यमागामिति वाचयति। 'ब्रह्म···ति च'। ब्रह्मचार्यसानीत्याचार्यो माणवकं प्रेषयति प्रेषितश्च माणवकः ब्रह्मचार्यसानीति वदेत् ॥ २।२।६ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—पश्चादग्नेरवस्थाप्य ब्रह्मचर्यमागामिति वाचयति। आनयनानन्तरमाचार्योऽग्नेः पश्चात्स्वस्य च दक्षिणतः कुमारमवस्थाप्यावस्थितं कृत्वा ब्रह्मचर्यमागामिति ब्रूहीत्येवं वाचयति, ततो माणवकः प्राङ्मुखस्तिष्ठन्नेव ब्रह्मचर्यमागामिति वदति। मन्त्रार्थः—ब्रह्मचर्यं प्रति अहमागाम् आगतोऽस्मि। ब्रह्म वेदस्तच्चरणम्। 'ब्रह्म··नीति च'। तत आचार्यः ब्रह्मचार्यसानीति ब्रूहीति वाचयति। चशब्दान्माण-

वकश्च प्राङ्मुखस्तथैव तिष्ठन् ब्रह्मचार्यसानीति ब्रूयात् । मन्त्रार्थः—ब्रह्म कर्म चरतीति एवंशीलो ब्रह्मचारी अहमसानि भवामि ॥ २।२।६ ॥

अनुवाद—अग्नि से पश्चिम की ओर उस कुमार को खड़ाकर आचार्य कुमार को दोहराने के लिए कहे—'ब्रह्मचर्यमागामिति ।' पुनः आचार्य कुमार से कहे कि तुम बोलो—'ब्रह्मचार्यसानीति ।'

टिप्पणी—इन दोनों मंत्रों का अर्थ इस प्रकार है—(१) 'ब्रह्मचर्यमागाम्' अर्थात् मैं ब्रह्मचर्य की ओर जाता हूँ । (२) 'ब्रह्मचार्यसानि' अर्थात् मैं ब्रह्मचारी बना हूँ ।

अथैनं वासः परिधापयति—

येनेन्द्राय बृहस्पतिर्वासः पर्यदधादमृतं तेन त्वा परिदधाम्यायुषे दीर्घायुत्वाय बलाय वर्चस इति ॥ २।२।७ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अथै···वर्चस' इत्यन्तम् । अथ वाचनानन्तरमेनं कुमारम् आचार्यो वक्ष्यमाणलक्षणं शाणादिवासः परिधापयति परिहितं कारयति येनेन्द्रायेत्यादिमन्त्रं पठित्वा ॥ २।२।७ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'अथैनं···वर्चस इति' । अथाचार्य एनं कुमारं वासोऽहतं परिधापयति येनेन्द्रायेति मन्त्रेण । वासांसि च शाणक्षौमाविकानि ब्राह्मणक्षत्रियविशां यथासङ्ख्यं ज्ञेयानि । वासांसि शाणक्षौमाविकानीति वक्ष्यमाणत्वात् । मन्त्रार्थः—हे कुमार ! येन विधिना इन्द्राय संस्कर्तुं बृहस्पतिः सुराचार्यो वासः पर्यदधात् परिधापितवान् । किम्भूतममृतमहतं, तेन विधिना त्वा त्वां माणवकं परिदधामि परिधापयामि । उभयत्रान्तर्भूतो णिच् ज्ञेयः परिधापयतीति सूत्रितत्वात् । यद्वा इन्द्राय पर्यदधात् । इन्द्रे अव्यवच्छिन्नं स्थापितवान् । तथा त्वा त्वां लक्ष्यीकृत्य परिदधामि त्वयि अव्यवच्छेदेन धारयामीति । किमर्थम् ? दीर्घायुत्वाय तव चिरजीवनाय । आयुशब्द उकारान्तोऽप्यस्ति । बलाय देहशक्तये । वर्चसे इन्द्रियशक्तये ऐश्वर्याय वेति ॥ २।२।७ ॥

अनुवाद—वाचन के बाद—'येनेन्द्राय' मंत्र पढ़कर आचार्य कुमार को वस्त्र पहनायें ।

मंत्रार्थ—(ऋषि अंगिरा, छन्द बृहती, देवता बृहस्पति ।) भो कुमार ! बृहस्पति ने जिस प्रकार और जो वस्त्र पहनाकर इन्द्र का संस्कार किया था, वही अमर और अक्षय वस्त्र मैं तुम्हें लम्बी आयु के लिए, शक्ति के लिए तथा ब्रह्मवर्चस्व के लिए पहनाता हूँ ।

मेखलां बध्नीते—

इयं दुरुक्तं परिबाधमाना वर्णं पवित्रं पुनती म आगात् ।
प्राणापानाभ्यां बलमादधाना स्वसा देवी सुभगा मेखलेयमिति ॥२।२।८॥
युवासुवासाः परिवीत आगात् स उ श्रेयान् भवति जायमानः ।
तन्धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो मनसा देवयन्त इति वा ॥२।२।९॥

तूष्णीं वा ॥ २।२।१० ॥

[यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात् । आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः ॥ यज्ञोपवीतमसि यज्ञस्य त्वा यज्ञोपवीतेनोपनह्यामीत्यथाजिनं प्रयच्छति । मित्रस्य चक्षुर्द्धरुणं बलीयस्तेजो यशस्वी स्थविरꣳ समिद्धम् । अनाहनस्यं वसनं जरिष्णुः परीदं वाज्यजिनं दधेऽहमिति ।] दण्डं प्रयच्छति ॥ २।२।११ ॥

तं प्रतिगृह्णाति—

यो मे दण्डः परापतद् वैहायसोऽधिभूम्याम् ।
तमहं पुनरादद आयुषे ब्रह्मणे ब्रह्मवर्चसायेति ॥ २।२।१२ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'मेखलां बध्नीते' । ततो मेखलां मौञ्ज्यादिकां वक्ष्यमाणलक्षणां बध्नीते कटिप्रदेशे त्रिवृतां प्रवरसङ्ख्याग्रन्थियुतां प्रादक्षिण्येन परिवेष्टयति इयं दुरुक्तमित्यादिना मेखलेयमित्यन्तेन मन्त्रेण माणवकपठितेन ॥ युवासुवासा इत्यादि देवयन्त इत्यन्तेन वा मन्त्रेण मन्त्ररहितं तूष्णीं वा मेखलां बध्नीते । अत्र यद्यपि सूत्रकारेण यज्ञोपवीतधारणं न सूत्रितं तथाप्येकवस्त्राः प्राचीनावीतिन इति प्रेतोदकदाने प्राचीनावीतित्वविधानात्, दण्डाजिनोपवीतानि मेखलां चैव धारयेदिति याज्ञवल्क्येन ब्रह्मचारिण उपवीतधारणस्मरणात्, तथा 'सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च । विशिखो व्युपवीतश्च यत्करोति न तत्कृतम्' ॥ इति छन्दोगपरिशिष्टे कात्यायनेन सामान्यतः सर्वाश्रमिणां सदा यज्ञोपवीतधारणस्मरणाच्च यज्ञोपवीतधारणं तावदुपनयनप्रभृति प्राप्तं तच्च कुत्र कर्तव्यमित्यवसरापेक्षायाम् औचित्यान्मेखलाबन्धनानन्तरं युज्यते । एतदेव कर्कोपाध्यायवासुदेवदीक्षितरेणुदीक्षितप्रभृतयः स्वस्वग्रन्थे यज्ञोपवीतधारणमत्रावसरे लिखितवन्तः । तच्च सर्वकर्माङ्गत्वान्मन्त्रवद्युज्यत इति मन्त्रमपि शाखान्तरीयं लिखितवन्तः । यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्ताद् । आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः ॥ इति माणवकपठितेन मन्त्रेण उपवीतं परिधापयति आचामयति च । अथ तूष्णीमैणेयमजिनमुत्तरीयं करोति मित्रस्य चक्षुरिति मन्त्रेणेत्यन्ते कर्काचार्यैरजिनधारणमेव नोक्तम् । 'दण्डं··· पतदिति' । आचार्यो माणवकाय वक्ष्यमाणलक्षणं दण्डं प्रयच्छति तूष्णीं माणवकश्च तं दण्डं यो मे दण्ड इत्यादिना ब्रह्मवर्चस इत्यन्तेन मन्त्रेण प्रतिगृह्णाति ॥ २।२।८-१२ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'मेख······ष्णीं वा' । तत आचार्यो माणवककट्यां मेखलां रशनां बध्नीते इयं दुरुक्तमिति मन्त्रेण । अथवा युवा सुवासा इति मन्त्रेण । अथवा तूष्णीं बध्नीते । आचार्यस्यैव मन्त्रपाठः । अत्रैवं बन्धनम्—आचार्यस्त्रिगुणां मेखलामादाय बटोः कटिप्रदेशे प्रादक्षिण्येन त्रिर्वेष्टयति । तृतीये वेष्टने ग्रन्थयस्त्रयः पञ्च सप्त वा कार्याः । तदुक्तम्—त्रिवृता मेखला कार्या त्रिवारं स्यात्समावृता । तद्ग्रन्थयस्त्रयः कार्याः पञ्च वा सप्त वा पुनः ॥ अत्र प्रवरसङ्ख्यया नियमः ।

त्र्यार्षेयस्य ग्रन्थित्रयम्। पञ्चार्षेयस्य पञ्च। सप्तार्षेयस्य पञ्च। सप्तार्षेयस्य सप्तेति गर्गपद्धतौ। वृद्धाचारोऽप्येवमेव। आचार्यकर्तृकं मेखलाबन्धनं कुमारस्य मन्त्रपाठ इति वासुदेवमुरारिमिश्रजयरामहरिहराः। अत्र मुरारिमिश्रैरबुद्ध्वैव पुरुषयोगिमन्त्रसंस्कारयोस्त्यागे सामर्थ्यादिति हेतूपन्यासार्थं प्रदर्शितम्। नहि करणमन्त्रेऽयं न्यायः प्रवर्तते। आचार्यकर्तृको ह्ययं पदार्थः। मन्त्रपाठस्तु लिङ्गवशेन माणवककर्तृकः स्यादिति चेत्, तन्न। प्रधानभूतश्च पदार्थः गुणभूतश्च मन्त्रः। अतः पदार्थाङ्गत्वेन मन्त्रोऽपि पदार्थकर्त्रा पठनीयः। मन्त्रेऽपि च लक्षणया माणवकाभिधानमित्यदोषः। तथा च श्रुतिः—यां वै काञ्च यज्ञ ऋत्विज आशिषमाशासते यजमानस्यैव सेति। कारिकायाम्—'बध्नीयात् त्रिगुणां श्लक्ष्णामियं दुरुक्तमुच्चरन्। आचार्यस्यैव मन्त्रोऽयं न बटोरात्मनेपदात्॥ अस्मिन्नवसरे समाचाराद्यज्ञोपवीताजिने भवत इति भर्तृयज्ञव्यतिरिक्तवासुदेवादिसर्वग्रन्थेषु। कर्काचार्यैस्तूपवीतमेव लिखितम्। तत्र चाविरोधादुपवीते शाखान्तरीयो मन्त्रो ग्राह्यः। यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्। आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः'॥ इति। अजिनस्योत्तरीयकरणं तूष्णीं मन्त्रपाठेन वेति वासुदेवः। 'मित्र...हमिति'। मन्त्रेणाजिनधारणमिति कारिकायां गर्गपद्धतौ च। यज्ञोपवीतलक्षणं स्मृत्यर्थसारे—कार्पासक्षौमगोवालशाणवल्कतृणादिकम्। यथा सम्भवतो धार्यमुपवीतं द्विजातिभिः॥ शुचौ देशे शुचिः सूत्रं संहताङ्गुलिमूलके। आवेष्ट्य षण्णवत्या तत्त्रिगुणीकृत्य यत्नतः॥ अब्लिङ्गकैस्त्रिभिः सम्यक् प्रक्षाल्योर्ध्ववृतं तु तत्। अप्रदक्षिणमावृत्तं सावित्र्या त्रिगुणीकृतम्॥ अधः प्रदक्षिणावृत्तं समं स्यान्नवसूत्रकम्। त्रिरावेष्ट्य दृढं बद्ध्वा हरिब्रह्मेश्वरान्नमेत्॥ यज्ञोपवीतं परममिति मन्त्रेण धारयेत्। सूत्रं सलोमकं चेत्स्यात्ततः कृत्वा विलोमकम्॥ सावित्र्या दशकृत्वोऽद्भिर्मन्त्रिताभिस्तदुक्षयेत्। विच्छिन्नं वाऽप्यधो यातं भुक्त्वा निर्मितमुत्सृजेत्॥ पृष्ठवंशे च नाभ्यां च धृतं यद्विन्दते कटिम्। तद्धार्यमुपवीतं स्यान्नातिलम्बं न चोच्छ्रितम्॥ स्तनादूर्ध्वमधो नाभेर्न धार्यं तत् कथञ्चन। ब्रह्मचारिण एकं स्यात्स्नातस्य द्वे बहूनि वा॥ तृतीयमुत्तरीयं वा वस्त्राभावे तदिष्यते। ब्रह्मसूत्रे तु सव्येंऽसे स्थिते यज्ञोपवीतिता॥ प्राचीनावीतिताऽसव्ये कण्ठस्थे हि निवीतिता। वस्त्रं यज्ञोपवीतार्थं त्रिवृत्सूत्रं च कर्मसु॥ कुशमुञ्जबालतन्तुरज्ज्वा वा सर्वजातिषु। कात्यायनः—सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन तु। विशिखो व्युपवीतश्च यत्करोति न तत्कृतम्॥ यज्ञोपवीतं द्विजत्वचिह्नार्थमिति प्रयोगरत्ने। कृष्णाजिनधारणं प्रावरणार्थम्। तच्च—त्र्यङ्गुलं तु बहिर्लोम यद्वा स्याच्चतुरङ्गुलम्। अजिनं धारयेद्विप्रश्चतुर्विंशाष्टषोडशैः॥ इति प्रयोगरत्ने। रशनाश्च मौञ्ज्यादिकाः मौञ्जी रशना ब्राह्मणस्य धनुर्ज्या राजन्यस्य मौर्वी वैश्यस्येति वक्ष्यमाणत्वात्। अजिनान्यप्यैणेयादीनि। इयं दुरुक्तमित्यस्यार्थः—इयमितीदंशब्द आद्यन्तयोर्वाक्यालङ्कारार्थः। इयं मेखला मामगात् आगता। किङ्कुर्वती? दुरुक्तं दुष्टं भाषितमसत्याप्रियादिकम् परितः सर्वतः भूतं भविष्यच्च बाधमाना निराकुर्वाणा वर्णं वर्णत्वं पवित्रं शुद्धं पुनती सत्कुर्वती मे मम प्राणपानाभ्यां मरुद्भ्यां तयोर्बलं सामर्थ्यं

आदधाना स्थापयन्ती स्वसा स्वसृवत् हिता देवी दीप्तिमती सुभगा सौभाग्यदा । युवा-सुवासा इत्यस्यायमर्थः—यौति गुणानेकीकरोतीति युवा सुवासाः शोभनवस्त्रः अहतं शोभनमुच्यते परिवीतः वस्त्रपुष्पमालादिभिः समन्ततो वेष्टित आगात् आगतः उ वितर्के । श्रेयान् स यदि जायमानः उत्पाद्यमानः श्रेयान् शुद्धः स्यात् । धीरासः स्थिर-प्रज्ञाः कवयः वेदवेदार्थप्रवक्तारः क्रान्तदर्शनाः स्वाध्यः शोभनचित्तवृत्तयः । तं च उन्न-यन्ति उत्कर्षं गमयन्ति । किं कुर्वन्तः ? मनसा मनोवृत्त्या देवयन्तः वेदार्थं ज्ञापयन्तः । यज्ञोपवीतमन्त्रार्थः—हे आचार्य ! इदं ब्रह्मसूत्रमहं प्रतिमुञ्च प्रतिमुञ्चामि । प्रतिपूर्वो मुञ्चतिर्बन्धनार्थः । पुरुषव्यत्ययश्छान्दसः किम्भूतं यज्ञोपवीतं यज्ञेन प्रजापतिना यज्ञाय वेदोक्तकर्माधिकारायेति वा उपवीतम् उपरि स्कन्धदेशे वीतं परिहितं परमं पर आत्मा मीयते ज्ञायते तेन वाक्योपदेशाधिकारत्वात् पवित्रं शोधकं प्रजापतेर्ब्रह्मणः सहजं सहोत्पन्नं स्वभावसिद्धं वा पुरस्तात्प्राग्भवमत इदमायुषे हितम् आयुष्यमस्तु अग्र्यं मुख्यमनुपहतं, शुभ्रं निर्मलं बलं धर्मसामर्थ्यदं तेजः प्रभावप्रदम् । यद्यपि सूत्रकृता यज्ञोपवीतं नोक्तं तथापि उपवीतिन इति परिभाषणात्सदा यज्ञोपवीतिना भाव्यमिति परिशिष्टाच्च ग्राह्यम् । कालश्चानुक्तोऽपि स्मृत्यन्तरादयमेव । उपवीतिन इत्यस्यायमर्थः—सर्वे उप-वीतिनः सव्यस्कन्धस्थितयज्ञोपवीतधारिणः कर्म कुर्वन्तीति शेषः । उद्धृते दक्षिणे पाणा-वुपवीत्युच्यते बुधैरिति स्मरणात् । यज्ञोपवीती देवकर्माणि करोति । 'दण्ड···सायेति' । तत आचार्यो माणवकाय तूष्णीं दण्डं प्रयच्छति समर्पयति । माणवकश्च दक्षिणहस्तेन दण्डं प्रतिगृह्णाति यो मे दण्ड इति मन्त्रेण । दण्डाश्च पालाशबैल्वौदुम्बरा ब्राह्मणक्षत्रिय-विशां यथासङ्ख्यं ज्ञेयाः । अथवा पालाशादयः सर्वेषां वर्णानाम् । पालाशो ब्राह्मणस्य दण्डो बैल्वो राजन्यस्यौदुम्बरो वैश्यस्य सर्वे वा सर्वेषामिति वक्ष्यमाणत्वात् । मानं च शाखातरीयं ग्राह्यम् । केशसम्मितो ब्राह्मणस्य दण्डो ललाटसम्मितः क्षत्रियस्य घ्राण-सम्मितो वैश्यस्येति । मन्त्रार्थः—हे आचार्य ! यो दण्डः मे मह्यं परापतत् अभिमुखमा-गतः वैहायसः आकाशे प्रसृतः अधिभूम्यां भूमेरुपरि वर्तमानः तं दण्डमहमाददे गृह्णामि । पुनर्ग्रहणात्सोमदीक्षायां यो दण्डो ग्राह्यस्तमप्याददं इत्याशंसनम् । किमर्थम् ? आयुषे जीवनाय ब्रह्मणे वेदग्रहणाय ब्रह्मवर्चसाय याजनाध्यापनोत्कर्षतेजसे ॥ २।२।८-१२ ॥

अनुवाद—इसके बाद आचार्य कुमार को 'इयं दुरुक्तं···' इत्यादि मंत्र पढ़ते हुए मूँज की मेखला पहना दें। अथवा ऊपर लिखे मंत्र के स्थान पर चुपचाप वटु को मूंज की मेखला बाँध दें। तत्पश्चात् 'मित्रस्य चक्षु···' इत्यादि मन्त्र पढ़कर आचार्य कुमार को दण्ड प्रदान करे। ब्रह्मचारी 'यो मे दण्ड···' इत्यादि मंत्र पढ़कर उसे ले ले।

मंत्रार्थ—(ऋषि वामदेव, छन्द त्रिष्टुप्, देवता मेखला।) बहन की तरह कल्याणकामिनी, कान्ति देने वाली और सौभाग्य देने वाली यह मेखला मेरे पाप और अपवित्रता को नष्ट कर वर्ण को शुद्ध करती हुई प्राण और अपान की स्थापना से मुझे शक्तिशाली बनाने वाली है।

मंत्रार्थ—(ऋषि अङ्गिरा, छन्द बृहती, देवता बृहस्पति।) जो युवक सभा में सुन्दर वस्त्र पहनता है, वह उदीयमान पुरुषों के बीच श्रेय का भाजन बनता है। धैर्य-

शाली, क्रान्तदर्शी और उन्नत चित्तवृत्ति वाले पुरुष उसे वेद के अर्थ का ज्ञान कराते हुए प्रगति की राह पर आगे बढ़ाते हैं।

मंत्रार्थ—(ऋषि प्रजापति, छन्द त्रिष्टुप्, देवता यज्ञोपवीत।) हे आचार्य ! मैं इस यज्ञोपवीत को धारण करता हूँ, जिसे ब्रह्मा ने सबसे पहले उत्पन्न किया है। अतः स्वभाव से ही यह अत्यन्त पवित्र और आयुर्वर्धक है। मैं इस यज्ञोपवीत को तेजस्वी और शक्तिशाली बनाता हूँ। तुम यज्ञोपवीत के समान हो, तुम पवित्र हो तुम्हें यज्ञोपवीत से बांधता हूँ—ऐसा कह कर वटु को अजिन धारण करने के लिये दे।

मंत्रार्थ—मैं उस मृगचर्म को धारण करता हूँ जो सूर्य की आँख है। शक्ति, शौर्य और मुझे यश प्रदान करने वाले हैं। अत्यन्त पुराने होकर भी कान्तिमान् हैं। ये वृद्धावस्था के नाशक हैं। ये मृगचर्म मुझे अन्न से समृद्ध बनायें।

मंत्रार्थ—(ऋषि प्रजापति, छन्द यजुः, देवता दण्ड।) हे आचार्य ! यह दण्ड, जो मेरे सामने आकाश और धरती तक फैला है, उसे मैं फिर अपने दीर्घायु होने के लिए, वेदज्ञान की प्राप्ति के लिए और ब्रह्मवर्चस् की कामना से ग्रहण करता हूँ।

टिप्पणी—यज्ञोपवीत धारण के सम्बन्ध में पारस्कर बिलकुल मौन हैं, किन्तु इस प्रसंग पर स्मृतिकार एवं भाष्यकार मौन नहीं है। कुछ वचन द्रष्टव्य हैं—स्मृतिकार का कथन है कि यज्ञोपवीत परम्परागत आचारवश ही धारण किया जाता है। यथा स्मृति-वचन—

'सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च।
विशिखो व्युपवीतश्च यत्करोति न तस्य तत्' ॥

भाष्यकार कर्काचार्य एवं हरिहर का कथन भी इस संदर्भ में द्रष्टव्य है—

'अस्मिन्नवसरे प्रसिद्धया यज्ञोपवीतमेवेच्छन्ति'—कर्कः।

'अत्रावसरे यज्ञोपवीताजिने भवत आचारात्'—जयरामः।

'कात्यायनेन सामान्यतः सर्वाश्रमिणां सदा यज्ञोपवीतधारणस्मरणात् यज्ञोपवीतधारणम् औचित्यान्मेखलाबन्धनानन्तरं युज्यते'—हरिहरः।

गदाधर मिश्र, विश्वनाथ, वासुदेव तथा रेणुदीक्षित भी इससे सहमत हैं। 'यज्ञोपवीतम्' मंत्र कुमार स्वयं पढ़ता है और आचार्य उसे यज्ञोपवीत पहनाते हैं। इसके बाद बिना किसी मंत्रपाठ के ही कुमार को मृगचर्म दिया जाता है। हरिहर इस संदर्भ में अपना अभिमत कुछ भी व्यक्त नहीं करते। किन्तु उन्होंने अपने पक्ष के समर्थन में कर्काचार्य का मत अवश्य ही उद्धृत किया है—

'तूष्णीमैणेयमजिनमुत्तरीयं करोति मित्रस्य चक्षुरिति मन्त्रेणेत्यन्ते कर्काचार्यैरजिनधारणमेव नोक्तम्'—कर्कः।

पारस्कार ने 'मित्रस्य चक्षु……' इस मन्त्र का उल्लेख बिलकुल नहीं किया है, फिर भी हरिहर आदि अनेक आचार्यों के निर्देश पर यहाँ मन्त्र का उल्लेख किया गया है।

दीक्षावदेके दीर्घसत्रमुपैतीति वचनात् ॥ २।२।१३ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'दीक्षा'''वचनात्' । एके आचार्या दीक्षावत् दीक्षायां यथा दण्डप्रदानं सोमे तथेच्छन्ति तत्र उच्छ्रयस्वव्वनस्पतं इत्यादिना यज्ञस्योदृच इत्यन्तेन मन्त्रेण यजमानो दण्डमुच्छ्रयति तद्वदत्र ब्रह्मचारी । केन हेतुना दीर्घसत्रं वा एष उपैति यो ब्रह्मचर्यमुपैतीत्यारभ्य ब्रह्मचर्यस्य दीर्घसत्रसम्पत्प्रतिपादनात् ॥ २।२।१३ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'दीक्षा''''''वचनात्' । एके आचार्या दीक्षावत्सोमयागदीक्षायां यथा तूष्णीं प्रतिगृह्योच्छ्रयस्वेत्युच्छ्रयणं विहितं तद्वदत्रापीच्छन्ति । कुतः ? दीर्घसत्रं वा एष उपैति यो ब्रह्मचर्यमुपैतीति वचनात् । दण्डप्रतिग्रहणसामान्याद्दीर्घसत्रताऽस्योक्ता । यद्येवं न दीक्षावत्प्रतिग्रहणम् । स्मरणाभावात् । या चात्र दीर्घसत्रसंस्तुतिः सा दीर्घकालसामान्यादिति भर्तृयज्ञकर्कजयरामाः । दीक्षावद्वा दण्डग्रहणमिति वासुदेवकारिकाकारहरिहराः ॥ २।२।१३ ॥

अनुवाद—कुछ आचार्यों का मत है कि सोमयाग की तरह दीक्षा के अवसर पर जिस प्रकार मन्त्रोच्चारण के साथ दण्ड का ग्रहण होता है, उसके बाद 'उच्छ्रयस्व वनस्पतं' इत्यादि मन्त्र पढ़कर उसे ऊपर उठाया जाता है; ठीक उसी तरह यहाँ भी होना चाहिए। क्योंकि ब्रह्मचर्य को भी दीर्घसत्र सम्पदा की तरह कहा गया है—'दीर्घसत्रं वा एष उपैति यो ब्रह्मचर्यमुपैति ।'

अथास्याद्भिरञ्जलिनाऽञ्जलिं पूरयति—आपोहिष्ठेति तिसृभिः ।२।२।१४।

(हरिहरभाष्यम्)—'अथास्या'''सृभिः' । अथ दण्ड-प्रदानानन्तरमाचार्यः अस्य माणवकस्याञ्जलिं स्वकीयाञ्जलिस्थाभिरद्भिः आपोहिष्ठेत्यादिकाभिस्तिसृभिर्ऋग्भिः पूरयति ॥ २।२।१४ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'अथा''''''तिसृभिः' । अथाचार्योऽस्य कुमारस्याञ्जलिं स्वेनाञ्जलिना अप आदाय ताभिरद्भिः पूरयत्यापोहिष्ठेति तिसृभिर्ऋग्भिः ।।२।२।१४।।

अनुवाद—इसके बाद 'आपोहिष्ठेति''' ' तीन ऋचाएँ पढ़कर आचार्य अपनी अंजलि में रखे जल को कुमार की अंजलि में डाल दे ।

अथैनᳪ सूर्यमुदीक्षयति—तच्चक्षुरिति ॥ २।२।१५ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अथै'''क्षुरिति' । अथाञ्जलिपूरणानन्तरमेनं माणवकं सूर्यमुदीक्षस्वेत्येवं प्रेष्य सूर्यमादित्यमुदीक्षयति अवलोकनं कारयति स च प्रेषितः तच्चक्षुरित्यादिना भूयश्च शरदः शतादित्यन्तेन मन्त्रेण सूर्यमुदीक्षते ॥ २।२।१५ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'अथैन''''''रिति' । अथाचार्य एनं कुमारं सूर्यमुदीक्षयति सूर्यं दर्शयति तच्चक्षुरिति मन्त्रेण । उदीक्षयतीति कारितत्वात्सूर्यमुदीक्षस्वेति प्रैष आचार्यस्य ॥ २।२।१५ ॥

अनुवाद—'तच्चक्षुः''' ' इस मन्त्र को पढ़कर आचार्य कुमार को सूर्य-दर्शन कराए ।

अथाऽस्य दक्षिणाᳫसमधि हृदयमालभते—
मम व्रते ते हृदयं दधामीति मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु।
मम वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यमिति।२।२।१६।

(हरिहरभाष्यम्)—'अथास्य···मह्यमिति'। अथ सूर्यदर्शनानन्तरमाचार्योऽस्य माणवकस्य दक्षिणांसमधि दक्षिणस्कन्धस्योपरि स्वं दक्षिणहस्तं नीत्वा हृदयं वक्षः मम व्रते त इत्यादिना बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यमित्यन्तेन मन्त्रेण आलभते स्पृशति ॥ २।२।१६॥

(गदाधरभाष्यम्)—'अथास्य······मह्यमिति'। अथाचार्योऽस्य कुमारस्य दक्षिणांसमधि दक्षिणस्कन्धस्योपरि स्वीयं दक्षिणहस्तं नीत्वा हृदयं वक्षः आलभते स्पृशति। मम व्रते त इति मन्त्रेण। व्याख्यातश्चायं विवाहप्रकरणे ॥२।२।१६॥

अनुवाद—इसके बाद आचार्य कुमार के दाहिने कन्धे के ऊपर से अपना दाहिना हाथ ले जाकर 'मम व्रते ते···' इत्यादि मन्त्र पढ़ते हुए उसके हृदय का स्पर्श करे।

मन्त्रार्थ—विवाह-प्रकरण में इस मन्त्र का अर्थ बतलाया जा चुका है।

अथास्य दक्षिणᳫ हस्तं गृहीत्वाऽऽह—को नामाऽसीति ॥ २।२।१७ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अथास्य···माऽसीति'। अथ हृदयालम्भनानन्तरमाचार्योऽस्य माणवकस्य स्वकीयेन हस्तेन दक्षिणं हस्तं गृहीत्वा धृत्वा को नामासीत्याह ब्रवीति ॥ २।२।१७॥

(गदाधरभाष्यम्)—'अथास्य······सीति'। अथाचार्योऽस्य कुमारस्य दक्षिणं हस्तं स्वदक्षिणहस्तेन गृहीत्वा को नामासीत्याह ब्रवीति ॥ २।२।१७ ॥

अनुवाद—आचार्य अपने हाथ में कुमार का दाहिना हाथ लेकर पूछे—तुम्हारा क्या नाम है ?

असावहं भो३ इति प्रत्याह ॥ २।२।१८ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'असा···त्याह'। एवं पृष्टो माणवकः असौ अमुकशर्माऽहं भो इति प्रत्याह प्रतिवचनं दद्यात् ॥ २।२।१८॥

(गदाधरभाष्यम्)—असावहं भो३ इति प्रत्याह। एवमाचार्येण पृष्टः कुमार आचार्यं प्रत्याह। असाविति सर्वनामस्थाने आत्मनो नामग्रहणम्। अमुकोऽहं भो इति ॥ २।२।१८॥

अनुवाद—इस प्रश्न के उत्तर में कुमार अपना नाम बतलाते हुए कहे—मैं अमुक व्यक्ति हूँ।

अथैनमाह—कस्य ब्रह्मचार्यसीति ॥ २।२।१९ ॥
भवत इत्युच्यमान इन्द्रस्य ब्रह्मचार्यस्यग्निराचार्यस्तवाहमाचार्यस्तवासाविति ॥ २।२।२० ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अथैन···वासाविति'। अथ प्रतिवचनानन्तरमाचार्य एनं

माणवकं कस्य ब्रह्मचार्यसीत्याह पृच्छति भवत इति माणवकेनोच्यमाने इन्द्रस्य ब्रह्मचार्यस्यग्निराचार्यस्तवाहमाचार्यस्तव अमुकशर्मन्निति पठति ॥ २।२।१९-२० ॥

(गदाधरभाष्यम्)—अथैनमाह—कस्य ब्रह्मचार्यसीति। अथैनं कुमारं प्रति आचार्य आह—कस्य ब्रह्मचार्यसीति। 'भवत:···साविति'। भवत इति आचार्यं प्रति कुमारेणोच्यमाने आचार्य इन्द्रस्य ब्रह्मचार्यसीत्यमुं मन्त्रं पठति। असावित्यस्य स्थाने आमन्त्रणविभक्तियुक्तं कुमारनामग्रहणं कार्यम्। स्वनाम प्रथमान्तमित्यपरे। उभयथा मन्त्रार्थोपपत्तेः। स्मृत्यन्तरान्निर्णय इति भर्तृयज्ञभाष्ये। मन्त्रार्थस्तु—इदि परमैश्वर्ये इन्द्रस्य प्रजापतेर्ब्रह्मचारी त्वमसि तव चाग्निराचार्यः प्रथमः द्वितीयश्चाहं तव हे असौ अमुकशर्मन् ब्रह्मचारिन् ॥ २।२।१९-२० ॥

अनुवाद—इसके बाद आचार्य पूछे तुम किसके ब्रह्मचारी हो? कुमार उत्तर दे—मैं आपका ब्रह्मचारी हूँ। इस पर आचार्य उससे कहे—तुम इन्द्र के ब्रह्मचारी हो। अग्नि तुम्हारे आचार्य हैं। यह मैं तुम्हारा आचार्य हूँ।

अथैनं भूतेभ्यः परिददाति—

प्रजापतये त्वा परिददामि, देवाय त्वा सवित्रे परिददाम्यद्भ्यस्त्वौषधीभ्यः परिददामि द्यावापृथिवीभ्यां त्वा परिददामि विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः परिददामि, सर्वेभ्यस्त्वा भूतेभ्यः परिददाम्यरिष्टचा इति ॥ २।२।२१ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अथै···दाति'। अथानन्तरमेनं कुमारमाचार्यः भूतेभ्यः प्रजापतिप्रभृतिभ्यः परिरक्षितुं ददाति प्रयच्छति तत्र मन्त्रः प्रजापतये त्वेत्यादि अरिष्ट्या इत्यन्तः ॥ २।२।२१ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'अथैनं·····रिष्टचा इति'। अथाचार्य एनं कुमारं भूतेभ्यः प्रजापतिप्रभृतिभ्यः परितोऽरिष्टयै रक्षायै प्रयच्छति। प्रजापतये त्वा परिददामीत्यनेन मन्त्रेग। अथैनं भूतेभ्यः परिददाति प्रजापतये त्वा परिददामि देवाय त्वा सवित्रे परिददामीति श्रुतत्वात्। मन्त्रार्थः सुगमः—हे ब्रह्मचारिन्! प्रजापतये स्रष्ट्रे त्वा त्वां परिददामि समर्पयामि विश्वेभ्यो भूतेभ्यः विश्वानि भूतानि पृथिव्यादीनि पञ्च तेभ्यः सर्वेभ्यो भूतेभ्यो देवविशेषेभ्य इत्यपौनरुक्त्यम्। किमर्थम्? अरिष्टयै अहिंसायै ॥ २।२।२१ ॥

अनुवाद—इसके बाद आचार्य कुमार को 'प्रजापतये त्वा···'इत्यादि मन्त्र पढ़कर प्रजापति प्रभृति देवता को रक्षा के लिए अर्पित कर दे।

मन्त्रार्थ—(ऋषि प्रजापति, छन्द यजुः, देवता लिङ्गोक्त।) ओ कुमार! मैं तुम्हारी रक्षा का भार प्रजापति, सूर्य, जल, औषधि, द्यावापृथिवी तथा अन्य सभी देवताओं पर सौंपता हूँ।

टिप्पणी—उपनयन का काल-निर्धारण भी एक विवादास्पद विषय है। पारस्कर के अनुसार मनु ने भी गर्भाष्टम वर्ष में ही ब्राह्मण-बालक के उपनयन की मान्यता दी है। यथा—'गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्। गर्भादेकादशे राज्ञः गर्भात्तु द्वादशे विशः॥' किन्तु मनु ने स्वयं इस वचन की प्रामाणिकता की अनदेखी करते हुए कहा

है—ब्रह्मवर्चस् की कामना से ब्राह्मण का पाँचवे वर्ष, शक्ति की कामना से क्षत्रिय का छठे वर्ष और सांसारिक अभ्युदय की इच्छा रखने वाले वैश्य का उपनयन आठवें वर्ष में होना उचित है। आपस्तम्ब ने भी शब्दान्तर में मनु के इस कथन की सम्पुष्टि की है। आपस्तम्ब के अनुसार ब्राह्मण बालक का सातवें वर्ष में, दीर्घायु की कामना रखने वाले आठवें वर्ष में, तेज की इच्छा रखनेवाले दसवें वर्ष, अन्नादि की कामना करने वाले का ग्यारहवें वर्ष, इन्द्रिय तथा पशुसमृद्धि की कामना करने वाले का उपनयन बारहवें वर्ष में होना चाहिए। ब्राह्मण बालक का उपनयन वसन्त में, क्षत्रिय का ग्रीष्म में और वैश्य का शरद ऋतु में करना चाहिए। गदाधर ने अपने भाष्य में इसका विस्तृत विवेचन किया है।

आचार्य कैसे व्यक्ति बने ? इस पर भी यमस्मृति में विवेचन किया गया है। तदनुसार—सत्यवादी, धीर, चतुर, दयालु, आस्तिक, सतत अध्ययनशील और पवित्र व्यक्ति ही उपनयन-संस्कार का आचार्य बन सकता है—

'सत्यवाक् धृतिमान्दक्षः सर्वभूतदयापरः।
आस्तिको वेदनिरतः शुचिराचार्य उच्यते॥
वेदाध्ययनसम्पन्नो वृत्तिमान्विजितेन्द्रियः।
न याजयेद् वृत्तिहीनं वृणुयाच्च न तं गुरुम्॥'

स्मृति अर्थशास्त्र में यज्ञोपवीत कैसा हो ? उसका क्या महत्त्व है ? इसका उल्लेख इस प्रकार मिलता है—

'कार्पासक्षौमगोवालशाणवल्कतृणादिकम्।
यथासम्भवतो धार्यमुपवीतं द्विजातिभिः॥
शुचौ देशे शुचिः सूत्रं संहताङ्गुलिमूलके।
आवेष्टच षण्णवत्या तत्त्रिगुणीकृत्य यत्नतः॥
अब्लिङ्गकैस्त्रिभिः सम्यक् प्रक्षाल्योर्ध्ववृतं तु तत्।
अप्रदक्षिणमावृत्तं सावित्र्या त्रिगुणीकृतम्॥
अधः प्रदक्षिणावृत्तं समं स्यान्नव सूत्रकम्।
त्रिरावेष्टच दृढं बद्ध्वा हरिब्रह्मेश्वरान्नमेत्'॥

इसी तरह कमर में 'मेखला' लपेटने के सम्बन्ध में आचार्यों का अभिमत है कि उसे तीन फेंटा देना चाहिए और तीन फेंटा के बाद तीसरी बार के लपेटने में तीन या पाँच गाँठें प्रवर संख्या से डाली जायें। इसी तरह ब्राह्मण को पलाशदण्ड देना चाहिए, क्षत्रिय को बेल का दण्ड तथा वैश्य को वेणुदण्ड का अधिकार है।

द्वितीयकाण्ड में द्वितीय कण्डिका समाप्त।

तृतीया कण्डिका

प्रदक्षिणमग्निं परीत्योपविशति ॥ २।३।१ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'प्रदक्षि···शति' । एवं वस्त्रदानादिभिराचार्येण संस्कृतो माणवकः अग्निं प्रदक्षिणं यथा भवति तथा परीत्य परिक्रम्य पश्चादग्नेराचार्यस्योत्तरत उपविशतिं आस्ते ॥ २।३।१ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'प्रद···शति' । परिदानानन्तरं कुमारोऽग्निं प्रदक्षिणं यथा स्यात्तथा परीत्य परिक्रमणं कृत्वाऽग्नेरुत्तरत उपविशति । पश्चादग्नेराचार्यस्योत्तरत उपविशतीति जयरामहरिहरौ । पश्चादग्नेरुपवेशनमिति भर्तृयज्ञकारिकाकारौ । आचार्यस्य दक्षिणत इति गर्गपद्धतौ । आचार्यस्योत्तरत इति वासुदेवः ॥ २।३।१ ॥

अनुवाद—नवीन वस्त्र, आभूषण इत्यादि धारण कर अग्नि की प्रदक्षिणा कर उससे पश्चिम और आचार्य के उत्तर में कुमार बैठ जाय ।

अन्वारब्ध आज्याहुतीर्हुत्वा प्राशनान्तेऽथैनꣳसꣳशास्ति ब्रह्मचार्यस्यपोऽशान कर्म कुरु, मा दिवा सुषुप्था, वाचं यच्छ, समिधमाधेह्यपोऽशानेति ॥ २।३।२ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अन्वा···नान्ते' । ततो ब्रह्मणाऽन्वारब्ध आचार्यः आघारादिस्विष्टकृदन्ताश्चतुर्दशाहुतीर्हुत्वा संस्रवप्राशनान्ते । अत्र पुनरन्वारम्भानुवादश्चतुर्दशाहुतिहोमव्यतिरिक्तहोमप्रतिषेधार्थः । 'अथैन···नेति' । अथानन्तरमाचार्यः एनं माणवकं संशास्ति शिक्षयति । कथं ब्रह्मचारी असि असानीति माणवकेन प्रत्युक्तः । अपः अशान पिब इति । अश्नानीति प्रत्युक्तः । कर्म स्नानादिकं स्ववर्णाश्रमविहितं कुरु विधेहि करवाणीति प्रत्युक्तः । मा दिवा दिवसे सुषुप्थाः स्वाप्सीरिति न स्वपानीति प्रत्युक्तः । वाचं गिरं यच्छ नियमयेति यच्छानीति प्रत्युक्तः । समिधं वक्ष्यमाणप्रकारेण आधेहि अग्नौ प्रक्षिपेति आदधानीति प्रत्युक्तः । अपोऽशानेति पूर्ववत् ॥ २।३।२ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'अन्वा···नेति' । तत आचार्यो ब्रह्मणाऽन्वारब्ध आघारादिस्विष्टकृदन्ताश्चतुर्दशाज्याहुतीर्हुत्वा संस्रवप्राशनान्ते ब्रह्मचार्यसीत्येवमादिभिः सप्तप्रैषवाक्यैरेनं कुमारमनुशास्ति शिक्षयति । अत्र ब्रह्मोपवेशनादि दक्षिणादानान्तं कर्म कृत्वाऽनुशासनं कार्यम् । तच्चैवम्—ब्रह्मचार्यसीत्याचार्य आह । भवानीति ब्रह्मचारी प्रत्याह । अपोशानेत्याचा० । अश्नानीति ब्र० । कर्म कुर्वीत्याचा० । करवाणीति ब्र० । मा दिवा सुषुप्था इत्याचा० । न स्वपानीति ब्र० । वाचं यच्छेत्याचा० । यच्छानीति ब्र० । समिधमाधेहीत्याचा० । आदधानीति ब्र० । अपोशानेत्याचा० । अश्नानीति ब्र० । ब्रह्मचार्यसीत्यादिप्रैषाणामयमर्थः—ब्रह्म कर्म चरतीत्येवंशीलो ब्रह्मचारी असि भवसि । अपः अशान पिब । कर्म स्नानादिकं स्ववर्णाश्रमविहितं कुरु विधेहि । दिवसे मा

स्वाप्सीः । स्मृत्युक्तकाले वाचं गिरं यच्छ नियमय । समिधं वक्ष्यमाणप्रकारेण आधेहि अग्नौ सर्वदा प्रक्षिप । प्रथममाचमनमशिष्यन् द्वितीयं चाशित्वा । अशिष्यन्नाचामेदशित्वाऽऽचामेदिति श्रुतेः । कर्मकरणमविशेषोपदिष्टमप्याचार्याय । आचार्याय कर्म करोतीति श्रुतत्वादिति भर्तृयज्ञः ॥ २।३।२ ॥

अनुवाद—ब्रह्मावरण करने के बाद घी की चौदह आहुतियों से नित्य हवन करे । संस्रवप्राशन के बाद आचार्य कुमार को उपदेश दे । वर्णाश्रम विहित कर्म करो । दिन में कभी मत सोओ । अपनी बोली पर नियंत्रण रखो । आग में होम के लिए लकड़ी डालो । भोजन के पूर्व और पश्चात् जल का आचमन करो । (कुमार को प्रत्येक प्रश्न का उत्तर देना चाहिए ।)

अथाऽस्मै सावित्रीमन्वाहोत्तरतोऽग्नेः प्रत्यङ्मुखायोपविष्टायोपसन्नाह समीक्षमाणाय समीक्षिताय ॥ २।३।३ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अथास्मै···यन्' । अथ शासनानन्तरमस्मै ब्रह्मचारिणे सावित्रीं सवितृदेवत्यां गायत्रीच्छन्दस्कां विश्वामित्रदृष्टाम् ऋचमन्वाह उपदिशति । कथम्भूताय प्रत्यङ्मुखाय पश्चिमाभिमुखाय । पुनः कथम्भूताय ? उपविष्टाय च अग्नेरुत्तरस्यां दिशि तथा उपसन्नाय पादोपसङ्ग्रहणादिना भजमानाय । तथा समीक्षमाणाय सम्यक् आचार्यमवलोकयते । तथा आचार्येण सम्यगवलोकिताय ॥ २।३।३ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—सावित्र्युपदेशमाह—'अथास्मै···ताय' । अथाचार्योऽस्मै ब्रह्मचारिणे सावित्रीं सवितृदेवताकां गायत्रीछन्दस्कां तत्सवितुरित्यृचमन्वाहोपदिशति । किम्भूताय ? प्रत्यङ्मुखाय पश्चिमाभिमुखाय । पुनः किं लक्षणाय ? उपविष्टाय आसीनाय । क्व इत्यपेक्षायामुत्तरतोऽग्नेः अग्नेरुत्तरस्यां दिशि । उपसन्नाय पादोपग्रहणादिना भजमानाय । पुनः किम्भूताय ? गुरुं समीक्षमाणाय । पुनः किम्भूताय ? समीक्षिताय गुरुणा सम्यगवलोकिताय । श्रुतिः—तस्मादेतां गायत्रीमेव सावित्रीमनुब्रूयादिति । मदनपारिजाते शातातपः—तत्सवितुर्वरेण्यमिति सावित्रीं ब्राह्मणस्येति ॥ २।३।३ ॥

अनुवाद—उपदेश देने के बाद होम की अग्नि के उत्तर में आचार्य के पैरों को पकड़ कर बैठे हुए, आचार्य को देखते और उनसे देखे जाते हुए हुए कुमार को सावित्री मन्त्र सिखाया जाय ।

दक्षिणतस्तिष्ठत आसीनाय वैके ॥ २।३।४ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—पक्षान्तरमाह—दक्षिणतः अग्नेर्दक्षिणस्यां दिशि तिष्ठते ऊर्ध्वाय ऊर्ध्वीभूताय वा आसीनाय उपविष्टाय इत्येके आचार्याः सावित्रीप्रदानं मन्यन्ते ॥ २।३।४ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'दक्षिण···वैके' । एके आचार्या अग्नेर्दक्षिणतो दक्षिणस्यां दिशि तिष्ठते स्थिताय ऊर्ध्वीभूताय ब्रह्मचारिणे आसीनायोपविष्टाय वा सावित्रीप्रदान-

माहुः । अथ हैके दक्षिणतस्तिष्ठते वाऽऽसीनाय वाऽन्वाहुरिति श्रुतत्वात् । एकग्रहणाद् विकल्पः ॥ २।३।४ ॥

अनुवाद—कुछ आचार्यों के विचार से दाहिनी ओर खड़े या बैठे हुए कुमार को आचार्य सावित्री मंत्र सिखलाए ।

पच्छोऽर्द्धर्चशः सर्वां च तृतीयेन सहानुवर्तयन् ॥ २।३।५ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—कथमन्वाह ? पच्छः पादं पादम् अर्द्धर्चशः तदनु अर्द्धर्च-मर्द्धर्चम्, तदनु च सर्वां तृतीयेन वारेण सह मिलित्वा आवर्तयन् पठन् ॥ २।३।५ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'पच्छो'''र्तयन्' । सावित्रीप्रदानेऽयं प्रकारः । प्रथमं तावत्पच्छः पादं पादं, ततोऽर्द्धर्चशः अर्धर्चं अर्द्धर्चम्, ततस्तृतीयेन वारेण सह बटुना सर्वां च सावित्रीमनुवर्तयन् आवर्तयन् पठेत् । अत्राह मदनपारिजाते लौगाक्षिः—ॐ भूर्भुवःस्वरित्युक्त्वा तत्सवितुरिति सावित्रीं त्रिरन्वाह पच्छोर्द्धर्चशः सर्वामन्तत इति । तां वै पच्छोन्वाहेत्युपक्रम्य अथार्द्धर्चश अथ कृत्स्नामिति श्रुतेः ॥ २।३।५ ॥

अनुवाद—आचार्य सावित्री मंत्र पहले एक-एक पाद स्वयं कहकर फिर शिष्य से कहलवाए । फिर आधी-आधी ऋचा, तीसरी बार सम्पूर्ण सावित्री मंत्र आचार्य के साथ शिष्य दोहरा दे ।

संवत्सरे षण्मास्ये चतुर्विꣳशत्यहे द्वादशाहे षडहे त्र्यहे वा ॥ २।३।६ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'संव'''गायत्रीम्' । सावित्रीप्रदानस्य कालं विकल्पेनाह—संवत्सरे उपनयनमारभ्य पूर्णे वर्षे षण्मास्ये षडेव मासाः षण्मास्यं स्वार्थे तद्धितश्छान्दसो वृद्धिलोपः "छन्दोवत्सूत्राणि भवन्तीति वचनात्" तस्मिन् षण्मास्ये चतुर्विंशत्यहे चतुर्विंशत्या अहोभिरुपलक्षितः कालः चतुर्विंशत्यहः तस्मिन् द्वादशाहे द्वादशभिरहो-भिरुपलक्षितः कालो द्वादशाहः तस्मिन् षडहे षड्भिरहोभिरुपलक्षितः कालः षडहः तस्मिन् त्र्यहे त्रिभिरहोभिरुपलक्षितः कालस्त्र्यहः तस्मिन् । वाशब्दः सर्वेषु संवत्सरादिषु सम्बध्यते । एते कालविकल्पाः आचार्यस्य शुश्रूषादिशिष्यगुणतारतम्यापेक्षाः । एवं सामान्येन सावित्रीप्रदानस्य कालविकल्पानभिधायाधुना ब्राह्मणस्य विशेषमाह । तुशब्दः पक्षव्यावृत्तौ । ब्राह्मणस्य नैते कालविकल्पाः-किन्तु क्षत्रियवैश्ययोः ॥ २।३।६ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—सावित्रीप्रदानस्य कालविकल्पानाह—'संवत्सरे'''वा' उपनयनदिनमारभ्य संवत्सरे पूर्णे वा षण्मास्ये मासषट्के वा चतुर्विंशत्यहे वा द्वादशाहे षडहे वा त्र्यहे वा सावित्रीमनुब्रूयादाचार्यः । तां ह स्मै तां पुरा संवत्सरेऽन्वाहुरित्युप-क्रम्य अथ षट्सु मासेष्वथ चतुर्विंशत्यहे अथ द्वादशाहे अथ षडहे अथ त्र्यहे इति श्रुत-त्वात् । क्षत्रियवैश्ययोरेते कालविकल्पाः ब्राह्मणस्य तु वक्ष्यमाणत्वात् । एते काल-विकल्पा आचार्यशुश्रूषादिशिष्यगुणतारतम्यापेक्षा इति हरिहरः । षण्मास्ये इति षडेव मासाः षण्मास्यं स्वार्थे तद्धितश्छान्दसश्च वृद्धिलोपः । छन्दोवत्सूत्राणि भवन्तीति वचनात् ॥ २।३।६ ॥

अनुवाद—शिष्य की योग्यता के अनुसार वर्ष भर में या छठे महीने या २४वें, १२वें, या छठे या तीसरे दिन सावित्री मंत्र सिखलाया जा सकता है।

सद्यस्त्वेव गायत्रीं ब्राह्मणायाऽनुब्रूयादाग्नेयो वै ब्राह्मण इति श्रुतेः ॥२।३।७॥

(हरिहरभाष्यम्)—सद्य एव गायत्रीं ब्राह्मणायानुब्रूयात् कथयेत्, कुतः आग्नेयो वै ब्राह्मण इति श्रुतेः। आग्नेयो अग्निदैवत्यः ब्राह्मण इति वेदवचनात् ॥ २।३।७ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—ब्राह्मणस्य कालमाह—'सद्य…श्रुतेः'। तु पुनः ब्राह्मणाय सद्य एव गायत्रीमनुब्रूयात् उपदिशेत्, कुतः? 'आग्ने…श्रुतेः'। आग्नेयः अग्निदेवत्य इति अतोऽस्मै सद्य एवोपदेशो युक्तः। आग्नेयो वै ब्राह्मणः सद्यो वा अग्निर्जायते तस्मात्सद्य एव ब्राह्मणायानुब्रूयादिति श्रुतेः ॥ २।३।७ ॥

अनुवाद—ब्राह्मण-कुमार को उपनयन के बाद तत्क्षण आचार्य गायत्री छन्द में निबद्ध सावित्री मंत्र सिखला दे, क्योंकि वेद का वचन है—'आग्नेयो वै ब्राह्मणः' अर्थात् ब्राह्मण में अग्निदेव का अंश रहता है।

त्रिष्टुभꣳ राजन्यस्य ॥ २।३।८ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'त्रिष्टुभꣳ राजन्यस्य जगतीं वैश्यस्य सर्वेषां वा गायत्रीं' राजन्यस्य क्षत्रियस्य त्रिष्टुभं त्रिष्टुप् छन्दो यस्याः सा त्रिष्टुप् तां त्रिष्टुभं सावित्रीम् ॥ २।३।८ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'त्रिष्टुभꣳ राजन्यस्य'। त्रिष्टुप् छन्दो यस्याः सा त्रिष्टुप् तां सावित्रीं त्रिष्टुभं देवसवितरित्यादिकां राजन्यस्य क्षत्रियस्यानुब्रूयात्। पारिजाते—देवसवितरिति राजन्यस्येति। ताꣳ सवितुरिति भर्तृयज्ञेनोदाहृता ॥ २।३।८ ॥

अनुवाद—क्षत्रिय-कुमार को त्रिष्टुप् छन्द में निबद्ध सावित्री मंत्र सिखलाए।

जगतीं वैश्यस्य ॥ २।३।९ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—जगती छन्दो यस्याः ऋचः सा जगती तां जगतीं सावित्रीं वैश्यस्य विशः, सावित्रीमनुब्रूयादित्यनुषज्यते ॥ २।३।९ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'जगतीं वैश्यस्य'। जगतीछन्दस्कां सावित्रीं विश्वरूपाणि प्रतिमुञ्चत इत्यृचं वैश्यस्यानुब्रूयात्। जगती छन्दो यस्याः सा जगती ताम्। युञ्जते मन इति भर्तृयज्ञभाष्ये। विश्वारूपाणीति वैश्यस्येति पारिजाते ॥ २।३।९ ॥

अनुवाद—वैश्य-कुमार को जगती छन्द में निबद्ध सावित्री मंत्र सिखलाए।

सर्वेषां वा गायत्रीम् ॥ २।३।१० ॥

(हरिहरभाष्यम्)—सर्वेषां वा गायत्रीं यद्वा सर्वेषां ब्राह्मणक्षत्रियविशां गायत्रीमेव गायत्रीछन्दस्कामेव सावित्रीं सवितृदेवताकां तत्सवितुरिति सकलवेदशाखाम्नातां ऋचमनुब्रूयात् ॥ २।३।१० ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'सर्वे…त्रीम्'। गायत्री छन्दो यस्याः सा गायत्री तां

सावित्रीं सर्वेषां ब्राह्मणक्षत्रियविशां तत्सवितुरित्यृचमनुब्रूयात्। वा शब्दो विकल्पार्थः ॥ २।३।१० ॥

अनुवाद—सभी को गायत्री छन्द में सावित्री मंत्र सिखलाया जा सकता है।

टिप्पणी—गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती छन्द में निबद्ध सावित्री मंत्र इस प्रकार है—

गायत्री—'तत्सवितुर्वरेण्यं···' (ऋषि विश्वामित्र)। त्रिष्टुप्—'देव सवितः···' (ऋषि वृहस्पति)। जगती—'विश्वा रूपाणि प्रतिमुञ्चते···' (ऋषि प्रजापति।) इन तीनों के पहले 'भूः, भुवः, स्वः' प्रभृति तीन महाव्याहृतियाँ भी जुड़ेंगी।

(१) देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय।
दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पुनातु वाचस्पतिर्वाजं नः स्वदतु स्वाहा ॥
(य० सं० ९।१)

(२) विश्वा रूपाणि प्रतिमुञ्चते कविः प्रासावीद् भद्रं द्विपदे चतुष्पदे।
विनाकमख्यत्सविता वरेण्योऽनुप्रयाणमुषसो विराजति ॥

द्वितीयकाण्ड में तृतीय कण्डिका समाप्त।

चतुर्थी कण्डिका

अत्र समिदाधानम् ॥ २।४।१ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अत्र समिदाधानम्' । अत्र सावित्रीप्रदानोत्तरकाले समिधामाधानं प्रक्षेपः ब्रह्मचारिणो भवति । अत्राग्नाविति भाष्यकारः । अत्रावसरस्य पाठादेव सिद्धेः ॥ २।४।१ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—उपनयनाङ्गभूतं समिदाधानमाह—'अत्र समिदाधानम्' । अत्रास्मिन् प्रकृतेऽग्नौ समिदाधानं समिधां तिसृणां प्रक्षेपो ब्रह्मचारिकर्तृको भवति । अत्रावसरे इति केचित् तन्न पाठादेव तत्सिद्धेः । अत्रशब्दोऽग्निपरो द्रष्टव्यः ॥२।४।१॥

अनुवाद—सावित्री ग्रहण के बाद प्रतिदिन ब्रह्मचारी को समिधादान करना चाहिए । अतः यहाँ होमाग्नि में समिधा डालने की विधि बतलाई जा रही है ।

पाणिनाऽग्नि परिसमूहति—

अग्ने सुश्रवः सुश्रवसं मा कुरु । यथा त्वमग्ने सुश्रवः सुश्रवा असि एवं माᳪसुश्रवः सौश्रवसं कुरु । यथा त्वमग्ने देवानां यज्ञस्य निधिपा असि, एवमहं मनुष्याणां वेदस्य निधिपो भूयासमिति ॥ २।४।२ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'पाणि···हति' । पाणिना दक्षिणहस्तेन अग्नि प्रकृतहोमाधिकरणं परिसमूहति सन्धुक्षयति । इन्धनप्रक्षेपेण वक्ष्यमाणैः पञ्चभिर्मन्त्रैः यथा । 'अग्ने···भूयासम्' । केचित्परिसमूहने त्रीन्मन्त्रान् मन्यन्ते । तद्यथा अग्ने सुश्रव इत्यारभ्य सुश्रवसं माकुरु इत्येकम् । यथात्वमग्ने इत्यारभ्य सौश्रवसं कुरु इत्येवं द्वितीयम् । यथा त्वमग्ने देवानामित्यादि भूयासमित्यन्तं तृतीयमिति ॥ २।४।२ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—समिदाधानस्येतिकर्तव्यतामाह—'पाणिनाग्नि···समिति' । ब्रह्मचारी पाणिना दक्षिणहस्तेनाग्नि प्रकृतमुपनयनाङ्गहोमाधिकरणं परिसमूहति शुष्कगोमयखण्डादीन्धनप्रक्षेपेण सन्धुक्षयति, अग्ने सुश्रवःसुश्रवसं माकुर्वित्यादिभिः पञ्चमन्त्रैः । कारिकायां विशेषः—प्रतिमन्त्रं त्रिभिः काष्ठैरग्ने सुश्रव आदिभिः । अग्ने सुश्रव इत्येकं यथा त्वं स्याद् द्वितीयकम् । यथात्वमग्ने देवानां मन्त्रेणापि तृतीयकम् । कृत्वा पर्युक्षणं वह्नेरुत्थाय समिदाहुतिरिति । पाणिनेत्येकवचनमेकत्वनियमार्थम् । उभाभ्यामपि दृश्यते सन्धुक्षणम् । मन्त्रार्थः—हे अग्ने ! हे सुश्रवः शोभनकीर्ते ! मा मां सुश्रवसं शोभनकीर्ति कुरु । किञ्च हे अग्ने ! सुश्रवःसौश्रवसं सुश्रवाश्च सौश्रवसश्च तम् । तत्र सुश्रवाः स्वयं सुश्रवा गुरुस्तस्यायं सौश्रवसः ममाचार्यमपि सुश्रवसं कृत्वा तदीयत्वेन मां सौश्रवसं कुर्वित्यर्थः । किञ्च हे अग्ने ! यथा त्वं देवानामिन्द्रादीनां मध्ये यस्य च क्रतोर्निधि हविर्द्रव्यम् पासि रक्षसि । एवमहं मनुष्याणां मध्ये वेदस्य श्रुतेर्निधिरधिकरणं भूयासं भवेयम् ॥ २।४।२ ॥

अनुवाद—'अग्ने सुश्रुव…' इत्यादि पाँच मंत्रों को पढ़कर ब्रह्मचारी बटु दाहिने हाथ से लकड़ी डालकर यज्ञाग्नि को प्रज्वलित करे।

मंत्रार्थ—(ऋषि प्रजापति, छन्द यजुष्, देवता अग्नि।) हे अग्निदेव ! आप यशस्वी हैं, हमें भी अपनी तरह कीर्तिवान् बनाये। जिन गुणों के कारण आप को यह शुभकीर्त्ति मिली है, उन गुणों का आधान आप मुझमें करें। मेरे आचार्य को भी आप मेरे साथ ही यशस्वी बनायें। हे अग्निदेव ! इन्द्रादि देवताओं की निधि के आप जैसे संरक्षक हैं, उसी तरह मैं भी मनुष्यों की सर्वोत्कृष्ट निधि वेदवाणी की रक्षा करूँ।

टिप्पणी—हरिहर-प्रभृति कुछ आचार्यों के विचार से ऊपर लिखित तीन मंत्रों से ही समिधा डाली जाय।

प्रदक्षिणमग्निं पर्युक्ष्योत्तिष्ठन्त्समिधमादधाति—

अग्नये समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे, यथा त्वमग्ने समिधा समिध्यस एवमहमायुषा, मेधया, वर्चसा, प्रजया, पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन समिन्धे, जीवपुत्रो ममाऽऽचार्यो मेधाव्यहमसान्यनिराकरिष्णुर्यशस्वी तेजस्वी ब्रह्मवर्चस्व्यन्नादो भूयासꣳ स्वाहेति ॥ २।४।३ ॥

एवं द्वितीयां तथा तृतीयाम् ॥ २।४।४ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'प्रद…मिति'। ततः प्रदक्षिणं यथा भवति तथाऽग्निं पर्युक्ष्य दक्षिणहस्तगृहीतेनोदकेन परिषिच्य उत्थाय ऊर्ध्वीभूय प्राङ्मुखस्तिष्ठन् समिधं समिध्यते दीप्यते अग्निरनयेति समित् तां समिधम् आदधाति प्रक्षिपति। समिल्लक्षणं छन्दोगपरिशिष्टे—नाङ्गुष्ठादधिका कार्या समित्स्थूलतया क्वचित्। न वियुक्ता त्वचा चैव न सकीटा न पाटिता ॥ प्रादेशान्नाधिका न्यूना न तथा स्याद् द्विशाखिका। न सपर्णा न निर्वीर्या होमेषु च विजानता ॥ ब्रह्मपुराणे—पलाशाश्वत्थन्यग्रोधप्लक्षवैकङ्कतोद्भवाः। अश्वत्थोदुम्बरो बिल्वश्चन्दनः सरलस्तथा ॥ शालश्च देवदारुश्च खादिरश्चेति याज्ञिकाः। मरीचिः—विशीर्णा विदला ह्रस्वा वक्राः ससुषिराः कृशाः। दीर्घाः स्थूला घुणैर्जुष्टाः कर्मसिद्धिविनाशिकाः ॥ अस्य पूर्वश्लोकः—प्रागग्राः समिधो देयास्ताश्च काम्येष्वपाटिताः। काम्येषु च सवल्कार्द्रा विपरीता जिघांसतः ॥ इति। केन मन्त्रेण 'अग्नये…वा' एवमनेनैव मन्त्रेण द्वितीयां समिधमादधाति तथा तेनैव मन्त्रेण तृतीयाम् ॥२।४।३-४॥

(गदाधरभाष्यम्)—'प्रदक्षि…स्वाहेति'। ततो ब्रह्मचारी प्रदक्षिणं यथा स्यात्तथा सन्धुक्षितमग्निं दक्षिणहस्तगृहीतेनोदकेन परिषिच्योत्थाय प्राङ्मुखस्तिष्ठन् समिधमादधाति अग्नौ प्रक्षिपति अग्नये समिधमित्यादि स्वाहाकारान्तेन मन्त्रेण। समिध्यते दीप्यते अग्निरनयेति समित्। तल्लक्षणं चास्माभिः समिधोऽभ्याधाय पर्युक्ष्य जुहुयादिति सूत्रार्थे उक्तम्। ननु तिष्ठन्समिधः सर्वत्रेति श्रौतसूत्रे उक्तत्वादुत्थायेति ग्रहणं व्यर्थम्। सत्यम्—नायं होमः समिदाधानमित्येतत्सूचनार्थमुत्थायेति ग्रहणमित्यदोषः। अतोऽत्र त्यागाभावः। यद्वा इहोत्थायेति ग्रहणमन्यत्र स्मार्ते परिसङ्ख्यार्थमिति कारिकायाम्।

प्रयोगरत्ने तु त्यागो लिखितः। मन्त्रार्थः—हे देवाः ! इमां समिधमग्नये अग्न्यर्थमाहार्षम् आहुतवानस्मि। किम्भूताय ? बृहते महते। जातान् जातान् वेत्ति इति जातवेदास्तस्मै। यथा येन प्रकारेण समिधा अनया दीप्यमानया त्वं हे अग्ने ! समिध्यसे दीप्यसे एवमहमायुषा जीवनेन मेधयाऽतीतादिधारणवत्या बुद्धया वर्चसा तेजसा प्रजया पुत्रादिभिः पशुभिः गवादिभिः ब्रह्मवर्चसेन तेजसा कृताध्ययनसम्पत्त्या एतैरहं समिन्धे समृद्धो भवामि। आचार्यविषयं फलमप्याशंसते। जीवपुत्रो दीर्घायुरपत्यो ममाचार्यो भवतु जीवन्तः पुत्रा यस्य। मेधावी अहमसानि भवामि। अनिराकरिष्णुर्गुरूपदिष्टधर्माद्यविस्मरणशीलः। यशस्वी तेजस्वी ब्रह्मवर्चसी अन्नादः अन्नमत्तीत्यन्नादः भूयासं भवेयम्। स्वाहा सुहुतमस्तु। 'एवं…याम्'। एवमनेनैव मन्त्रेण द्वितीयां समिधमादधाति। तथैवानेन मन्त्रेण तृतीयां समिधमादधाति। तिस्रः समिध आदधात्यग्नये समिधमाहार्षमित्युच्यमाने मन्त्रान्ते युगपत्तिसृणामाधानं प्राप्नोति तन्निवृत्त्यर्थमेवं द्वितीयां तथा तृतीयामिति सूत्रणा ॥ २।४।३-४ ॥

अनुवाद—यज्ञाग्नि के चारो ओर प्रदक्षिणा-क्रम से जल सींचकर खड़े होकर समिधा से 'अग्नये…' इत्यादि मंत्र पढ़कर हवन करे। इसी तरह दूसरी और तीसरी समिधा भी डाले।

मन्त्रार्थ—(ऋषि प्रजापति, छन्द आकृति, देवता समिधाग्नि।) हे देवगण ! मैं यह समिधा धर्मोत्पादक जातवेदा और परिपूर्णा अग्नि के लिए लाता हूँ। हे अग्निदेव ! इन समिधाओं से जैसे तुम प्रदीप्त हो उठते हो, ठीक उसी तरह मैं भी आयु, मेधा, वर्चस्व, सन्तान, पशुधन और ब्रह्मवर्चस् से प्रदीप्त हो उठूं, मेरे पुत्र की सन्तति-परम्परा अविच्छिन्न हो। आपकी कृपा से मैं मेधावी, सुस्मृति-सम्पन्न, यशस्वी, तेजस्वी, ब्रह्मवर्चस्वी और अन्नभक्षण के योग्य बन सकूं।

एषा त इति वा समुच्चयो वा ॥ २।४।५ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—मन्त्रविकल्पमाह—एषा ते अग्ने समिदित्यादि आप्यासिषीमहीत्यन्तेन वा मन्त्रेण। अथवा अग्नये समिधमित्येषात इति द्वयोर्मन्त्रयोः समिदाधाने समुच्चयः ऐक्यम्। ततश्च मन्त्रद्वयान्ते समित्प्रक्षेपः। इति त्रयो मन्त्रविकल्पाः।

(गदाधरभाष्यम्)—'एषात इति वा'। अथवा एषा ते अग्ने समित्तयेति मन्त्रेण समिदाधानम् अत्रापि मन्त्रावृत्तिः। 'समुच्चयो वा' अथवा अग्नये समिधम्, एषात इति च द्वयोर्मन्त्रयोः समुच्चय ऐक्यं समिदाधाने स्यात्। अत्रापि प्रतिसमिदाधानं मन्त्रयोरावृत्तिः ॥ २।४।५ ॥

अनुवाद—अथवा—'एषा ते अग्ने समित्' यह मंत्र पढ़कर आग में समिधा डाले अथवा दोनो मंत्र पढ़कर समिधा डाले।

(मंत्र)—एषा ते अग्ने समित्तया वर्द्धस्व चा च प्यायस्व। वर्धिषीमहि च वयमा च प्यासिषीमहि। अग्ने वाजजिद् वाजं त्वा ससृवाꣳसं वाजजितꣳसम्मार्ज्मि।

(य० सं० २।१४)

पूर्ववत् परिसमूहनपर्युक्षणे ॥ २।४।६ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'पूर्वव···क्षणे' । पूर्ववत् अग्ने सुश्रव इत्यादिभिः पञ्चभिर्मन्त्रैः परिसमूहनं पर्युक्षणमपि पूर्ववत्कुर्यात् ॥ २।४।६ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'पूर्व···पर्युक्षणे' । परिसमूहनं अग्ने सुश्रव इत्यादिना सन्धुक्षणम् । पर्युक्षणम् अग्नेः सर्वतो जलासेकः । परिसमूहनपर्युक्षणे पूर्ववत्प्राग्वदग्नेः कर्तव्ये ॥ २।४।६ ॥

अनुवाद—पहले की तरह अग्नि के परिसमूहन और पर्युक्षण कर्म करे ।

पाणी प्रतप्य मुखं विमृष्टे—

तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाहि । आयुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि । वर्चोदा अग्नेऽसि वर्चो मे देहि । अग्ने यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आपृण ॥ २।४।७ ॥

मेधां मे देवः सविता आदधातु मेधां मे देवी सरस्वती आदधातु मेधामश्विनौ, देवावाधत्तां पुष्करस्रजाविति ॥ २।४।८ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'पाणी···विति' । पाणी हस्तौ प्रतप्य तूष्णीमग्नौ तापयित्वा तनूपा अग्नेसीत्यादिभिः सप्तभिर्मन्त्रैः प्रतिमन्त्रं पाणिभ्यां मुखं विमृष्टे । ललाटादिचिबुकान्तं प्रोञ्छति । तत्र मेधां मे देवः सविता मेधां देवी सरस्वती अनयोरादधात्वित्यध्याहारः ॥ २।६।७-८ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'पाणी···जाविति' । पर्युक्षणानन्तरं ब्रह्मचारी पाणी उभौ हस्तौ प्रतप्य तूष्णीमग्नौ तापयित्वा तनूपा अग्नेऽसीति सप्तभिर्मन्त्रवाक्यैर्मुखं विमृष्टे पाणिभ्यां मार्जयति । वाक्यभेदाच्च प्रतिवाक्यं पाण्योः प्रतपनं मुखविमार्जनं च । तनूपा इत्येतस्य स्वशाखीयत्वात्प्रतीकग्रहणे प्राप्ते मन्त्रवाक्यचतुष्टयस्योपयोगात्सर्वपाठः । मेधां मे देवः सविता मेधां मे देवीसरस्वतीत्यनयोर्मन्त्रयोरादधात्वित्यध्याहारः साकाङ्क्षत्वात् । मन्त्रार्थः—तनूपा अग्नेऽसीत्यादयः स्पष्टाः । मेधामित्यस्यार्थः—देवो द्युतिमान् सविता सूर्यो मे मह्यं मेधां धारणावतीं बुद्धिं तथा देवी दीप्यमाना सरस्वती आदधातु । तथा अश्विनौ देवौ मे मह्यं मेधाम् आधत्तां सम्पादयेतां पुष्करस्रजौ पद्ममालाधारिणौ ॥ २।४।७-८ ॥

अनुवाद—दोनों हाथों को आग में तपाकर ब्रह्मचारी 'तनूपा···' इत्यादि मन्त्र से मुँह का मार्जन करे अर्थात् ललाट से लेकर दाढ़ी तक पोंछे ।

मन्त्रार्थ—(ऋषि प्रजापति, छन्द यजुष्, देवता अग्नि ।) हे अग्निदेव ! तुम देहरक्षक हो, मेरी देह को भी सदैव स्वस्थ एवं निरोग रखो । तुम आयुर्वर्धक हो, हमें दीर्घायु बनाओ । तुम वर्चस्वी हो, हमें भी वर्चस्वी बनाओ । मेरी सारी खामियों को तुम दूर करो ।

मन्त्रार्थ—(ऋषि प्रजापति, छन्द अनुष्टुप्, लिङ्गोक्त देवता ।) हे सवितादेवता ! दीप्तिमयी देवी सरस्वती ! नीलकमलों की माला धारण करनेवाले अश्विनीकुमार ! मुझे भी मेधावी बनाओ ।

(अङ्गान्यालभ्य जपत्यङ्गानि च म आप्यायन्तां वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रं यशो बलमिति त्र्यायुषाणि करोति भस्मना ललाटे ग्रीवायां दक्षिणेंऽसे हृदि च त्र्यायुषमिति प्रतिमन्त्रम् ।)

(हरिहरभाष्यम्)—'अङ्गा···बलमिति' । अङ्गानि च म इत्यनेन मन्त्रेण शिरः-प्रभृतीनि पादान्तानि अङ्गान्यालभते, एवं वाक् इत्यनेन मुखं प्राण इत्यनेन नासिके युगपत् चक्षुरित्यनेन चक्षुषी युगपत् श्रोत्रमित्यनेन श्रवणे मन्त्रावृत्त्या यशोबलमित्यस्य पाठमात्रम् । 'त्र्यायु···मन्त्रम्' । तिलकानि करोति । त्र्यायुपमित्येतैश्चतुर्भिर्मन्त्रपादैः अनामिकागृहीतेन भस्मना ललाटे ग्रीवायां दक्षिणेंऽसे हृदये प्रतिपादं त्र्यायुषाणि कुरुते । अत्र त्र्यायुषकरणं सूत्रकारानुक्तमपि प्रसिद्धत्वात् शिष्टपरम्पराचरितत्वात्क्रियते । ततो ब्रह्मचारी सन्ध्यामुपास्याग्निकार्यं कृत्वा गुरुषूपसङ्ग्रहणं वृद्धतरेष्वभिवादनं वृद्धेषु नमस्कारं कुर्यात्पर्यायेण । अत्र स्मृत्यन्तरोक्तमभिवादनं लिख्यते—ततोऽभिवादयेद्वृद्धानसावहमिति ब्रुवन् । इति याज्ञवल्क्यादिस्मृतिप्रणीतस्याभिवादनप्रयोगो यथा उपसङ्ग्रहणं नाम अमुकगोत्रोऽमुकेत्येतावत्प्रवरः अमुकशर्माऽहं भो३ श्रीहरिहरशर्मन् त्वामभिवादये इत्युक्त्वा कर्णौ स्पृष्ट्वा दक्षिणोत्तरपाणिभ्यां दक्षिणपाणिना गुरोर्दक्षिणं पादं सव्येन सव्यं गृहीत्वा शिरोऽवनमनम्। अभिवादने पादग्रहणं नास्ति पादस्पर्शनं कार्यम् आयुष्मान् भव सौम्यामुक (शर्मा३न्) इति प्लुतान्तमुक्त्वा (अमुक) शर्मन्निति प्रत्यभिवादः कार्यः । आयुष्मान् भव सौम्येति प्रत्यभिवादः । अत्र गुरवो माता स्तन्यदात्री च पिता पितामहः प्रपितामहो मातामहोऽन्नदाता भयत्राता आचार्यश्चोपनेता च मन्त्रविद्योपदेष्टा च तेषां पत्न्यश्चोपसङ्ग्राह्याः एतेन समावृत्तेन च ।। बाले समवयस्के वाऽध्यापके गुरुवच्चरेत् । मातुलाश्च पितृव्याश्च श्वशुराश्च यवीयांसोऽपि प्रत्युत्थायाभिवाद्याः उपाध्याया ऋत्विजो ज्येष्ठभ्रातरश्च सर्वेषां पत्न्यश्च एवं मातृष्वसा सवर्णा पितृष्वसा च सवर्णा भ्रातृभार्या च नित्यमभिवाद्याः । विप्रोष्य तूपसङ्ग्राह्या ज्ञातिसम्बन्धियोषितः । विप्रोष्य विप्रं कुशलं पृच्छेन्नृपमनामयम् ।। वैश्यं क्षेमं समागम्य शूद्रमारोग्यमेव च ।। न वाच्यो दीक्षितो नाम्ना यवीयानपि सर्वथा । पूज्यैस्तमभिभाषेत भोभवन् कर्मनामभिः ।। परपत्नीमसम्बन्धां भगिनीं चेति भाषयेत् । त्रिवर्षपूर्वः श्रोत्रियोऽभिवाद्यः । अत्रिवर्षाः सम्बन्धिनश्च स्वल्पेनापि स्वयोनिजः । अन्ये च ज्ञानवृद्धाः सदाचाराश्चाभिवाद्याः । उदक्यां सूतकां नारीं भर्तृघ्नीं गर्भपातिनीम् । पाषण्डं पतितं व्रात्यं महापातकिनं शठम् ।। नास्तिकं कितवं स्तेनं कृतघ्नं नाभिवादयेत् ।। मत्तं प्रमत्तमुन्मत्तं धावन्तमशुचिं नरम् । वमन्तं जृम्भमाणं च कुर्वन्तं दन्तधावनम् ।। अभ्यक्तं शिरसि स्नानं कुर्वन्तं नाभिवादयेत् । इति शातातपः । बृहस्पतिस्तु—जपयज्ञजलस्थं च समित्पुष्पकुशानलान् । उदपात्रार्घ्यभैक्षान्नं वहन्तं नाभिवादयेत् । अभिवाद्य द्विजश्चैतानहोरात्रेण शुध्यति । क्षत्रियवैश्याभिवादने विप्रस्यैवम् । शूद्राभिवादने त्रिरात्रम् । कार्यं तु रजकादिषु 'चाण्डालादिषु चान्द्रं स्यादिति सङ्ग्रहकृत्स्मृतम्' । जमदग्निः—देवताप्रतिमां दृष्ट्वा यतिं चैव त्रिदण्डिनम् । नमस्कारं न कुर्याच्चेदुपवासेन शुध्यति ।। सर्वे वाऽपि नमस्कार्याः सर्वावस्थासु सर्वदा । अभिवादे

नमस्कारे तथा प्रत्यभिवादने ।। आशीर्वाच्या नमस्कार्यैर्वयस्यस्तु पुनर्नमेत् । स्त्रियो नमस्या वृद्धाश्च वयसा पत्युरेव ताः ।।

(गदाधरभाष्यम्)—अत्राङ्गालम्भनत्र्यायुषकरणाभिवादनानि गृह्यकारानुक्तान्यप्याचारतोऽनुष्ठेयानि । तत्राभिवादनं गोत्रनामोच्चारपूर्वकं पादोपसङ्ग्रहः । अङ्गालम्भनत्र्यायुषकरणयोः सूत्रकारान्तरप्रदर्शितौ मन्त्रौ ग्राह्यौ । तद्यथा—अङ्गान्यालभ्य जपत्यङ्गानि च म आप्यायन्तां वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रं यशोबलमिति । त्र्यायुषाणि करोति भस्मना ललाटे ग्रीवायां दक्षिणेंऽसे हृदि च त्र्यायुषमिति प्रतिमन्त्रम् । तत्र वाक् च म आप्यायतामिति क्रियाविपरिणामं कुर्यात् । अथाभिवादने प्रकारः । तत्र याज्ञवल्क्यः—ततोऽभिवादयेद्वृद्धानसावहमिति ब्रुवन् । ततोऽग्निकार्यादनन्तरमित्यर्थः । ब्रह्मपुराणे—उत्थाय मातापितरौ पूर्वमेवाभिवादयेत् । आचार्यश्च ततो नित्यमभिवाद्यो विजानता ।। मनुः—लौकिकं वैदिकं चापि तथाऽऽध्यात्मिकमेव वा । आददीत यतो ज्ञानं तं पूर्वमभिवादयेत् ।। अभिवादात्परं विप्रो ज्यायांसमभिवादयेत् । असौ नामाऽहमस्मीति स्वं नाम परिकीर्तयेत् ।। विप्रेति द्विजोपलक्षणम् । आपस्तम्बः—स्वदक्षिणं बाहुं श्रोत्रसमं प्रसार्य ब्राह्मणोऽभिवादयेत् । उरःसमं राजन्यो मध्यसमं वैश्यो नीचैः शूद्रः प्राञ्जलिः ।। मनुः—भोशब्दं कीर्तयेदन्ते स्वस्य नाम्नोऽभिवादने । नाम्नां स्वरूपभावो हि भोशब्द ऋषिभिः स्मृतः ।। आयुष्मान् भव सौम्येति वाच्यो विप्रोऽभिवादने । अकारश्चास्य नाम्नोऽन्ते वाच्यः पूर्वाक्षरः प्लुतः ।। अकारश्चास्य नाम्नोऽन्त इत्यस्यायमर्थः—अस्याभिवादकस्य नाम्नोऽन्ते योऽयमकारः अकार इति स्वरमात्रोपलक्षणम् । सर्वेषां नाम्नामकारान्तत्वनियमाभावात् । स एवान्त्यस्वरः पूर्वाक्षरः पूर्वाणि नामगतान्यक्षराणि यस्य स तथोक्तः । एवंविधः प्लुतो वाच्यो न पुनरन्य एवाकारो नाम्नोऽन्ते वाच्य इति । तथा च वसिष्ठः—आमन्त्रिते स्वरोऽन्त्योऽस्य प्लुवत इति । आमन्त्रिते कर्तव्ये अभिवादकनाम्नोऽन्ते यः स्वरः स प्लुवते । त्रिमात्रो भवतीत्यर्थः । ततश्चाभिवादनप्रत्यभिवादनयोरेवं प्रयोगो भवति । अभिवादये चैत्रनामाहमस्मि भो इति । आयुष्मान् भव सौम्य विष्णुशर्मा३न् इति । क्षत्रियवैश्ययोस्तु वर्मगुप्तशब्दप्रयोग इति मदनपारिजाते । आत्मनाम गुरोर्नाम नामातिकृपणस्य च । आयुष्कामो न गृह्णीयाज्ज्येष्ठपुत्रकलत्रयोः ।। इत्यादि निषेधस्तु अभिवादनस्थलव्यतिरिक्तविषय इति विज्ञेयम् । अभिवादनं च हस्तद्वयेन कार्यम् । अन्यथाकरणे विष्णुना दोषसङ्कीर्तनात् । जन्मप्रभृति यत्किञ्चिच्चेतसा धर्ममाचरेत् । सर्वं तन्निष्फलं याति एकहस्ताभिवादनात् ।। एतदपि विद्वद्विषयम् । यतः स एवाह—अजाकर्णेन विदुषो मूर्खाणामेकपाणिनेति । अजाकर्णेन श्रोत्रसमौ करौ कृत्वा पुनः सम्पुटितेन करद्वयेनेत्यर्थः । अजाकर्णौ सम्पुटितौ यथा तथैव सम्पुटितं करद्वयमपीत्यजाकर्णौ । मनुः—यो न वेत्त्यभिवादस्य विप्रः प्रत्यभिवादनम् । नाभिवाद्यः स विदुषा यथा शूद्रस्तथैव सः ।। यमः—अभिवादे तु यो विप्र आशिषं न प्रयच्छति । श्मशाने जायते वृक्षः कङ्कगृध्रोपसेवितः ।। शातातपः—पाखण्डं पतितं व्रात्यं महापातकिनं शठम् । सोपानत्कं कृतघ्नं च नाभिवादेत्कदाचन ।। धावन्तं च प्रमत्तं च मूत्रोत्सर्गकृतं तथा । भुञ्जानमाचमनार्हं च नास्तिकं नाभिवादयेत् ।। वमन्तं जृम्भमाणं च कुर्वन्तं

दन्तधावनम् । अभ्यक्तशिरसं चैव स्नान्तं नैवाभिवादयेत् ॥ बृहस्पतिः—जपयज्ञगणस्थं च समित्पुष्पकुशानलान् । उदपात्रार्घभैक्षान्नहस्तं तं नाभिवादयेत् ॥ उदक्यां सूतिकां नारीं भर्तृघ्नीं ब्रह्मघातिनीम् । अभिवाद्य द्विजो मोहादहोरात्रेण शुध्यति ॥ जमदग्निः—देवताप्रतिमां दृष्ट्वा यतिं दृष्ट्वा त्रिदण्डिनम् । नमस्कारं न कुर्याच्चेत्प्रायश्चित्ती भवेन्नरः ॥ मनुः—अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः । चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुः प्रज्ञा यशो बलम् ॥ एतच्चाभिवादनमधिकवयसामेव कार्यम् । तथा च मनुः—ज्यायांसमभिवादयेदिति । स्मृत्यर्थसारे—गुरवो माता स्तन्यधात्री च पिता पितामहादयो मातामहश्चान्नदाता भयत्राताऽऽचार्यश्चोपनेता च । मन्त्रविद्योपदेष्टा च तेषां पत्न्यश्चोपसङ्ग्राह्याः । समावृत्तेन च । बाले समवयस्के चाध्यापके गुरुवच्चरेत् । मातुलाश्च पितृव्याश्च श्वशुराश्च यवीयांसोऽपि प्रत्युत्थायाभिवाद्याः । उपाध्याय ऋत्विजो ज्येष्ठा भ्रातरश्च सर्वेषां पत्न्यश्चैव । मातृष्वसा च सवर्णा भ्रातृभार्या च नित्यमभिवाद्या । विप्रोष्य तूपसङ्ग्राह्या ज्ञातिसम्बन्धियोषितः । विप्रोष्य विप्रं कुशलं पृच्छेन्नृपमनामयम् । वैश्यं क्षेमं समागम्य शूद्रमारोग्यमेव च । न वाच्यो दीक्षितो नाम्ना यवीयानपि सर्वथा । पूज्यैस्तमभिभाषेत भोभवत्कर्मनामभिः ॥

अनुवाद—'अङ्गानि च' इत्यादि मंत्रोच्चार करते हुए अपने अङ्गों का स्पर्श करना चाहिए । 'त्र्यायुषम्' इत्यादि चार मंत्रों का उच्चारण करते हुए अनामिका अंगुलि से भस्म लेकर ललाट, दाहिने कन्धे, छाती और कंठ में तिलक लगाये । (पारस्कर ने चन्दन लगाने का यहाँ कोई विधान नहीं बतलाया है, फिर भी परम्परा और शिष्टाचारवश ऐसा करना चाहिए ।)

टिप्पणी—कुछ आचार्यों के विचार से गुरुजनों के अभिवादन का भी विधान किया गया है । ब्रह्मपुराण के अनुसार पलाश, पीपल, खैर, बरगद, गूलर, बेल, चन्दन, चीर, शाल और देवदारु की लकड़ी से होमाग्नि प्रज्वलित करना चाहिए । मरीचि के मत से विशीर्ण, विदल, बहुत छोटी, टेढ़ी-मेढ़ी, सड़ी-गली, बहुत पतली, लम्बी या बहुत मोटी, घुनी हुई लकड़ी होमाग्नि में नहीं डालना चाहिए। ऐसी समिधा डालने से मनोरथ की सिद्धि नहीं होती है ।

द्वितीयकाण्ड में चतुर्थ कण्डिका समाप्त

पञ्चमी कण्डिका

भिक्षाचरणम्

अत्र भिक्षाचर्यंचरणम् ॥ २।५।१ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अत्र···रणम्' । अत्रावसरे भिक्षाचर्यानुष्ठानम् ॥ २।५।१ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'अत्र···णम्' । अत्रास्मिन्काले भिक्षाचर्यंचरणं कर्तव्यमित्यर्थः । अत्र विशेषो मनुस्मृतौ–प्रतिगृह्येप्सितं दण्डमुपस्थाय च भास्करम् । प्रदक्षिणं परीत्याग्निं चरेद्भैक्षं यथाविधि । एतत् त्रितयं भिक्षाङ्गमिति पारिजाते । कारिकायामप्येवम् ॥ २।५।१ ॥

अनुवाद—समिधादान के बाद भिक्षाचरण का विधान किया जा रहा है ।

भवत्पूर्वां ब्राह्मणो भिक्षेत ॥ २।५।२ ॥

भवन्मध्याꣳ राजन्यः ॥ २।५।३ ॥

भवदन्त्यां वैश्यः ॥ २।५।४ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'तद्यथा—'भव···वैश्यः' । भवत्पूर्वां भवच्छब्दः पूर्वो यस्याः सा भवत्पूर्वा तां भिक्षां ब्राह्मणः द्विजोत्तमः भिक्षेत याचेत । तथैव भवच्छब्दो मध्ये यस्याः सा भवन्मध्या तां राजन्यः क्षत्रियः भिक्षेतेत्यनुषङ्गः । तथा अन्ते भवः अन्त्यः भवच्छब्दो यस्याः सा भवदन्त्या तां वैश्यः तृतीयो वर्णः भिक्षां भिक्षेतेत्यनुवर्तते ॥ २.५।२-४ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'भव·· वैश्यः' । भवच्छब्दः पूर्वो यस्याः सा भवत्पूर्वा तां भवत्पूर्वा ब्राह्मणो वर्णोत्तमो भिक्षेत याचेत । एवं भवच्छब्दो मध्ये यस्याः सा भवन्मध्या तां भिक्षां राजन्यः क्षत्रियो भिक्षेत । तथा भवच्छब्दोऽन्त्यो यस्याः सा भवदन्त्या तां वैश्यो वर्णतृतीयो भिक्षेत । अयमर्थः—सगौरवसम्बोधनार्थं भवत्पदमादिमध्यावसानेषु ब्राह्मणादिभिः क्रमेण कार्यं तच्च सम्बुद्धचन्तम् । तिस्र इति सूत्रसामर्थ्यात्स्त्रीप्रत्ययवच्च तत्पदं भवति । तत्रायं प्रयोगः—भवति भिक्षां देहीति ब्राह्मणः । भिक्षां भवति देहीति क्षत्रियः । भिक्षां देहि भवतीति वैश्यः ॥ २।५।२-४ ॥

अनुवाद—ब्राह्मणकुमार भीख माँगते समय वाक्य के पहले 'भवत्' शब्द का प्रयोग करे; क्षत्रिय कुमार 'भवत्' शब्द का प्रयोग वाक्य के बीच में करे तथा वैश्य बालक 'भवत्' शब्द का प्रयोग वाक्य के अन्त में करे ।

टिप्पणी—ये तीनों वाक्य इस प्रकार हैं—

(१) ब्राह्मण वटु के लिए—भवति भिक्षां देहि ।

(२) क्षत्रिय वटु के लिए —भिक्षां भवति देहि ।

(३) वैश्य वटु के लिए—भिक्षां देहि भवति ।

तिस्रोऽप्रत्याख्यायिन्यः ॥ २।५।५ ॥

षड्द्वादशाऽपरिमिता वा ॥ २।५।६ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'तिस्रो···मिता वा'। भिक्षेर्धातोर्द्विकर्मत्वाद् द्वितीयं कर्माह—तिस्रः स्त्रियो भिक्षां भिक्षेत। कथम्भूताः ? अप्रत्याख्यायिन्यः प्रत्याख्यातुं निराकर्तुं शीलं यासां ताः प्रत्याख्यायिन्यः न प्रत्याख्यायिन्यः अप्रत्याख्यायिन्यः ताः अप्रत्याख्यायिनीः। अत्र द्वितीयार्थे प्रथमा भिक्षेतेति कर्तृप्रत्ययान्तस्याख्यातस्य कर्मकारकापेक्षत्वात्। षड्द्वादशापरिमिता वा। षट् वा स्त्रियो द्वादश वा अपरिमिता वा असङ्ख्याता वा भिक्षेतेति सर्वत्रानुषङ्गः। एते भिक्षाविकल्पाः आहार-पर्याप्त्यपेक्षया ॥ २।५।५-६ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'तिस्रो···यिन्यः'। तिस्रः स्त्रियो भिक्षां भिक्षेत। किम्भूता अप्रत्याख्यायिन्यः। अत्र द्वितीयार्थे प्रथमा। भिक्षेतेति कर्तृप्रत्ययान्तस्याख्यातस्य कर्म-कारकापेक्षित्वात्। प्रत्याख्यातुं निराकर्तुं शीलं यासां ताः न प्रत्याख्यायिन्यः अप्रत्या-ख्यायिन्यः। याः स्त्रियो निराकरणं न कुर्वन्ति ता भिक्षणीया इत्यर्थः। शौनकेन विशेषो दर्शितः—अप्रत्याख्यायिनमग्रे भिक्षेताप्रत्याख्यायिनीं वेति। याज्ञवल्क्यः—ब्राह्मणेषु चरेद् भैक्षमनिन्द्येष्वात्मवृत्तय इति। भैक्षं प्राप्तुं चरेदित्यर्थः। आत्मवृत्तये स्वशरीरयात्रार्थं नाधिकम्। ब्राह्मणेषु चरेदित्येतद्ब्राह्मणविषयम्। अत एव व्यासः—ब्राह्मणक्षत्रियविशश्चरेयुर्भैक्षमन्वहम्। सजातीयगृहेष्वेव सार्ववर्णिकमेव वा ॥ इति। सर्वशब्दः प्रकृतवर्णत्रयपरः। 'षट्···ता वा' षड् वा स्त्रियः। द्वादश वा स्त्रियः। अपरिमिता असङ्ख्याता वा भिक्षेतेत्यर्थः ॥ २।५।५-६ ॥

अनुवाद—ऐसी तीन स्त्रियों से भिक्षा माँगें, जो उसका निषेध न कर सकें अथवा छः, बारह या असंख्य स्त्रियों से भिक्षा माँगे।

मातरं प्रथमामेके ॥ २।५।७ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—एके आचार्याः मातरं जननीं प्रथमां भिक्षेतेत्याहुः। अयं च प्रथमाहर्धर्म इति भाष्यकारोक्तेः ॥ २।५।७ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—मातरं प्रथमामेके। एके आचार्या मातरं स्वजननीं प्रथमां भिक्षेतेत्याहुः। अयं च प्रथमाहर्द्धर्म इति कर्कः ॥ २।५।७ ॥

अनुवाद—कुछ आचार्यों के विचार से कुमार पहली भीख अपनी माँ से माँगे।

आचार्याय भैक्षं निवेदयित्वा वाग्यतोऽहःशेषं तिष्ठेदित्येके ॥ २।५।८ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'आचा···त्येके'। आचार्याय गुरवे भैक्षं लब्धां भिक्षां निवेद-यित्वा निवेद्य इयं भिक्षा मया लब्धेति समर्प्य वाग्यतो मौनी अहःशेषं भिक्षानिवेदनो-त्तरतो यावदस्तमयं तिष्ठेन्नोपविशेन्न च शयीत। रागत इत्येके सूत्रकारा वर्णयन्ति। वयं तु अनियमं मन्यामहे। ततश्च विकल्पः ॥ २।५।८ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'आचा···त्येके'। ततो ब्रह्मचारी भिक्षां भिक्षित्वा आचा-

र्याय उपनयनकर्त्रे भैक्षं भिक्षां लब्धां निवेदयित्वा निवेदनं कृत्वा इयं भिक्षा लब्धेति । वाग्यतः संयमितवागहःशेषं तिष्ठेत् । इतः प्रभृति यावदस्तमयमासीतेति एके वदन्ति न वेत्यन्ये, अतो विकल्पः ॥ २।५।८ ॥

अनुवाद—कुछ आचार्यों के मत से भिक्षा में प्राप्त द्रव्य कुमार अपने आचार्य को समर्पित कर बिना सोये या बैठे दिन भर उनके सामने खड़ा रहे ।

अहिꣳसन्नरण्यात् समिध आहृत्य तस्मिन्नग्नौ पूर्ववदाधाय वाचं विसृजते ॥ २।५।९ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अहिꣳ···जते' । अहिंसन् अच्छिन्दन् स्वयं भग्ना इत्यर्थः । अरण्यात् न ग्रामात् समिधः पूर्वोक्तलक्षणा आहृत्य आनीय तस्मिन्नग्नौ यत्र उपनयनाङ्गहोमः कृतस्तस्मिन् पूर्ववत्परिसमूहनादि त्र्यायुषकरणान्तं यावद् आधाय हुत्वा वाचं विसृजते मौनं त्यजति वाग्यमपक्षे ॥ २।५।९ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'अहिꣳ···जते' । ब्रह्मचारी अहिंसन् अच्छिन्दन् हिंसामकुर्वन् अरण्याद्वनात्समिध आहृत्य आनीय तस्मिन् यस्मिन्नुपनयनहोमः कृतस्तस्मिन्नग्नौ पूर्ववत्पाणिनाऽग्निं परिसमूहतीति पूर्वोक्तरीत्याधाय समिदाधानं कृत्वा वाचं विसृजते यदि वाग्यमो गृहीतस्तदा तस्मिन्काले विसृजते ॥ २।५।९ ॥

अनुवाद—किसी पेड़ को विना क्षति पहुँचाए स्वयं कटकर गिरी हुई लकड़ियाँ वन से लाकर यज्ञाग्नि में पहले की तरह डाले, उसके बाद मौनव्रत का त्याग करे ।

अधःशाय्यक्षारालवणाशी स्यात् ॥ २।५।१० ॥

दण्डधारणमग्निपरिचरणं गुरुशुश्रूषा भिक्षाचर्या ॥ २।५।११ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अधः···र्जयेत्' । अत ऊर्ध्वं ब्रह्मचारिणो यमनियमानाह—अधः शयितुं शीलमस्य असावधःशायी स्यात् । तथा अक्षारम् अलवणं चाश्नातीत्येवंशीलोऽक्षारालवणाशी भवेत् । 'दण्डधारणम्' । दण्डस्य स्ववर्णविहितस्य धारणं कुर्यात् । दण्डाजिनोपवीतानि मेखलां चैव धारयेत् । इत्येतदुपलक्षणत्वेन सदा चिह्नरूपं कुर्यात् । अग्नेः परिचरणं सायम्प्रातः परिसमूहनपूर्वं त्र्यायुषकरणान्तेन समिदाधानम् । गुरुशुश्रूषा गुरोः शुश्रूषा परिचर्या तां कुर्यात् । भिक्षार्थं चर्या भिक्षाचर्या भैक्षचरणमिति यावत् ॥ २।५।१०-११ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'अधः······चर्या' । अधःशायी स्यात् । अक्षारालवणाशी भवेत् । दण्डधारणं सर्वदा कार्यम् । अग्नेः परिचरणम् । समिदाधानं परिसमूहनादि सायम्प्रातः । उभयकालमग्निं परिचरेदिति स्मृत्यन्तरात् । गुरुशुश्रूषा च प्रत्यहं कर्तव्या स्वाधायाऽनुरोधेन । भिक्षाचर्या भिक्षाचरणं स्थित्यर्थम् ॥ २।५।१०-११ ॥

अनुवाद—ब्रह्मचारी धरती पर सोये तथा नमकीन एवं क्षारीय भोजन का परित्याग करे । वह दण्ड, यज्ञोपवीत, मेखला, मृगचर्म सदैव धारण करे । अग्नि-परिचर्या, गुरु की सेवा और भिक्षाटन प्रतिदिन करे ।

मधुमाᳪंसमज्जनोपर्यासनस्त्रीगमनानृतादत्तादानानि वर्जयेत् ॥ २।५।१२ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'मधु क्षौद्रं मांसं पललं मज्जनं नद्यादावाप्लवनं, स्नानं तूद्धृतोदकेन। उपरि खट्वादौ आसनमुपवेशनम्। आसनस्योपरि मसूरिकाद्यासनं च। स्त्रीगमनं स्त्रीणां मध्येऽवस्थानम्। अभिगमनस्योपरि वक्ष्यमाणत्वात्। अनृतमसत्यवदनम्। अदत्तानां परद्रव्याणामादानं ग्रहणं स्तेयमित्यर्थः, एतानि मध्वादीनि वर्जयेत् ॥ २।५।१२ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'मधु…येत्'। मधु प्रसिद्धं मांसं च मज्जनं गङ्गादौ स्नानं प्रतिषिध्यते। उद्धृतोदकेन तु कार्यमेव। उपर्यासनमासनस्योपरि मसूरिकाद्यासनं निधायोपवेशनम्। स्त्रीगमनं स्त्रीणां मध्येऽवस्थानम्। अभिगमनस्योपरि वक्ष्यमाणत्वात्। अनृतमसत्यभाषणम्। अदत्तादानं परद्रव्याणामदत्तानां स्वयं ग्रहणम्। एतानि ब्रह्मचारी वर्जयेन्न कुर्यात् ॥ २।५।१२ ॥

अनुवाद—मधु, मांस, नदी में स्नान, खाट पर सोना, औरतों के बीच आना-जाना, झूठ बोलना और दूसरों का धन ग्रहण करना इन्हें निश्चित रूप से छोड़ दे।

अष्टाचत्वारिᳪंशद्वर्षाणि वेदब्रह्मचर्यं चरेत् ॥ २।५।१३ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अष्टा…चरेत्'। अष्टाभिरधिकानि चत्वारिंशत् अष्टाचत्वारिंशत् तानि अष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि वेदब्रह्मचर्यं वेदग्रहणार्थं ब्रह्मचर्यमुक्तलक्षणं चरेत् अनुतिष्ठेत्। अस्मिन्पक्षे चतुर्णामपि वेदानामेक एव व्रतादेशः सर्ववेदाहुतिहोमश्च।

(गदाधरभाष्यम्)—'अष्टा…रेत्'। अष्टाभिरधिकानि चत्वारिंशदष्टाचत्वारिंशत् तान्यष्टत्वारिंशद्वर्षाणि वेदब्रह्मचर्यं चरेत् चतुर्णां वेदानां ग्रहणार्थं एकमेव ब्रह्मचर्यंव्रतं कुर्यात्। अस्मिन्पक्षे चतुर्णामपि वेदानामेक एव व्रतादेशः। सर्वाश्च वेदाहुतयो हूयन्ते ॥ २।५।१३ ॥

अनुवाद—४८ वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए वेद का अध्ययन करना चाहिए।

द्वादश द्वादश वा प्रतिवेदम् ॥ २।५।१४ ।
यावद्ग्रहणं वा ॥ २।५।१५ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'द्वाद…णं वा'। अनुकल्पमाह—तावदशक्तौ द्वादश द्वादश वर्षाणि प्रतिवेदं वेदे वेदे ब्रह्मचर्यं चरेदित्यनुवर्तते। तत्राप्यशक्तौ यावद्ग्रहणं यावद्वेदस्य वेदयोर्वेदानां वा ग्रहणम् आचार्यात्पाठतोऽर्थतश्च स्वीकरणं तावद्वा ब्रह्मचर्यं चरेत् ॥ २।५।१४-१५ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'द्वाद…णं वा'। अथवा प्रतिवेदं द्वादशद्वादशवर्षपर्यन्तं ब्रह्मचर्यं चरेत्। अयमर्थः—एकं वेदं समाप्य समावर्तनं कृत्वा पुनर्द्वितीयवेदग्रहणं यावत् ब्रह्मचर्यं चरित्वा स्नात्वैवं वेदान्तरेऽपि ब्रह्मचर्यं चरेत् यावद्ग्रहणं वा। यद्वा यावद्वेदस्य वेदयोर्वेदानां पाठतोऽर्थतश्च स्वीकरणं तावत् ब्रह्मचर्यं चरेत् ॥ २।५।१४-१५ ॥

अनुवाद—अगर ऊपर लिखित नियम का पालन संभव न हो तो कम से कम बारह साल तक ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते हुए वेदाध्ययन करे। अथवा जितने वेद पढ़ना चाहे उतने वर्षों तक ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए।

वासाꣳसि शाणक्षौमाविकानि ॥ २।५।१६ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—वर्णव्यवस्थया वासःप्रभृतीनि व्यवस्थितान्याह—'वासाꣳ··· कानि'। ब्राह्मणक्षत्रियविशां ब्रह्मचारिणां यथासङ्ख्यं शाणक्षौमाविकानि वस्त्राणि परिधेयानि भवन्ति। तत्र शणमयं शाणं, क्षौमं क्षुमा अतसी तद्विकारमयं क्षौमम्, आविकमवेर्मेषस्य विकार आविकमूर्णामयमित्यर्थः ॥ २।५।१६ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—अथ वर्णक्रमेण परिधानवस्त्राण्याह—वासाꣳ···कानि'। ब्राह्मणक्षत्रियविशां त्रयाणां ब्रह्मचारिणां शाणक्षौमाविकानि वासांसि वस्त्राणि यथासङ्ख्यं परिधानार्थं भवन्ति। शाणं शणमयम्। क्षौमं क्षुमा अतसी तद्विकारमयम्। आविकमवेर्मेषस्य विकार आविकं मेषरोमनिर्मितम्। गौतमः—सर्वेषां कार्पासं वाऽविकृतमिति। वसिष्ठः—शुक्लमहतं वासो ब्राह्मणस्य माञ्जिष्ठं क्षौमं च क्षत्रियस्य पीतं कौशेयं वैश्यस्येति। कारिकायामप्येवम्। कौशेयं पटविशेष इति पारिजाते।

अनुवाद—ब्राह्मण वटु पटसन का वस्त्र पहने, क्षत्रियवटु रेशमी वस्त्र और वैश्यवटु ऊनी कपड़ा या मेषचर्म धारण करे।

ऐणेयमजिनमुत्तरीयं ब्राह्मणस्य ॥ २।५।१७ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'ऐणे···णस्य'। एणी हरिणी तस्या इदम् ऐणेयमजिनं कृत्तिरुत्तरीयं भवति ब्राह्मणस्य ब्रह्मचारिणः ॥ २।५।१७ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—ऐणे···णस्य'। एणी हरिणी तस्या इदमैणेयं चर्म उत्तरीयं ब्राह्मणस्य ब्रह्मचारिणो भवति। अत्र कारिकायां प्रयोगरत्ने च विशेषः—तत् त्र्यङ्गुलं बहिर्लोम यद्वा स्याच्चतुरङ्गुलम्। एकखण्डं त्रिखण्डं वा धार्यं तदुपवीतवत् ॥ इति ॥ २।५।१७ ॥

अनुवाद—ब्राह्मणकुमार काले बारहसिंघे (मादा हिरण) का चमड़ा देह पर धारण करे।

रौरवꣳ राजन्यस्य ॥ २।५।१८ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'रौर···न्यस्य'। रुरुर्मृगविशेषः चित्रमृग इति प्रसिद्धः तस्येदमजिनं रौरवं राजन्यस्य क्षत्रियस्योत्तरीयं भवति ॥ २।५।१८ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'रौर···न्यस्य'। राजन्यस्य क्षत्रियस्य ब्रह्मचारिणो रुरुर्नामारण्यसत्त्वविशेषस्तदीयं चर्म उत्तरीयं भवति ॥ २।५।१८ ॥

अनुवाद—रुरु हिरण का चमड़ा क्षत्रियकुमार धारण करे।

आजं गव्यं वा वैश्यस्य ॥ २।५।१९ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'आजं···श्यस्य'। अजस्य वस्तस्येदमाजम् अजिनं कृत्तिः वैश्यस्य उत्तरीयं भवति। अथवा गव्यं गोः इदं गव्यमजिनं वैश्यस्य उत्तरीयं भवति ॥ २।५।१९ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'आजं···श्यस्य'। अजस्येदं चर्म आजं यद्वा गव्यं गोरिदं चर्म वैश्यस्योत्तरीयं भवति ॥ २।५।१९ ॥

अनुवाद—बकरे या बैल का चमड़ा उत्तरीय के रूप में वैश्यकुमार धारण करे।

सर्वेषां वा गव्यमसति प्रधानत्वात् ॥ २।५।२० ॥

(हरिहरभाष्यम्)—पक्षान्तरमाह—'सर्वे···त्वात्'। सर्वेषां ब्राह्मणक्षत्रियविशां गव्यमजिनं वा उत्तरीयं भवति। कदा ? असति मुख्ये अविद्यमाने कुतः ? प्रधानत्वात्। गव्यं हि अजिनानां प्रधानम् ऐणेयाद्यजिनप्रकृतीनामेण्यादीनां गोः प्राधान्यं यतः। यद्वा गव्यस्य चर्मणः पुरुषसम्बन्धित्वेन प्रधानत्वात्। तथा च श्रुतिः—तेऽवच्छाय पुरुषं गव्येतां त्वचमदधुरिति ॥ २।५।२० ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'सर्वे···त्वात्'। असति यथोदिते चर्मणि सर्वेषां वर्णानां वा गव्यं चर्म भवति। कुतः ? एतत् पुरुषप्रधानत्वात् गव्यस्य चर्मणः। पुरुषप्रधानं हि गव्यं चर्म श्रूयते। ते अवच्छाय पुरुषं गव्येतां त्वचमादधुरिति। ते देवाः पुरुषत्वचमवच्छाय उत्कृत्य एतां त्वचं गवि अदधुः धृतवन्त इति श्रुत्यर्थः ॥ २।५।२० ॥

अनुवाद—अथवा सभी बैल के चर्म का उत्तरीय धारण करें, क्योंकि अभाव में यही सुलभ होता है।

मौञ्जी रशना ब्राह्मणस्य ॥ २।५।२१ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'मौञ्जी···जानाम्'। मौञ्जी मुञ्जं तृणविशेषस्तन्मयी मौञ्जी रशना मेखला ब्राह्मणस्य ब्रह्मचारिणो भवति। धनुर्ज्या चापस्य ज्या गुणः रशना राजन्यस्य ब्रह्मचारिणः। मौर्वीति मुरुस्तृणविशेषस्तन्मयी रशना वैश्यस्य भवति। मुञ्जस्याभावे अलाभे ब्रह्मणस्य कुशानां कुशमयी रशना भवति ॥२।५।२१॥

(गदाधरभाष्यम्)—'मौञ्जी···णस्य'। मुञ्जः शरस्तन्मयी मौञ्जी मेखला ब्राह्मणस्य ब्रह्मचारिणो भवति ॥ २।५।२१ ॥

अनुवाद—ब्राह्मणकुमार मूंज की बनी मेखला धारण करे।

धनुर्ज्या राजन्यस्य ॥ २।५।२२ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—धनुर्ज्याऽभावे क्षत्रियस्य अश्मन्तकमयी भवति ॥२।५।२२॥

(गदाधरभाष्यम्)—'धनु···न्यस्य'। धनुर्ज्या धनुषश्चापस्य ज्या गुणः मेखला क्षत्रियस्य ब्रह्मचारिणो भवति। सामर्थ्याच्च स्नायुमयी वेणुमयी वा ॥ २।५।२२ ॥

अनुवाद—क्षत्रियकुमार धनुष की प्रत्यंचा की मेखला धारण करे।

मौर्वी वैश्यस्य ॥ २।५।२३ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—मौर्व्या अभावे बाल्वजी वैश्यस्य ॥ २।५।२३ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—इयं च त्रिवृन्न कार्या ज्यात्वविनाशप्रसङ्गात्—'मौर्वी वैश्यस्य'। मुरुरिति तृणविशेषस्तन्मयी मौर्वी मेखला वैश्यस्य ब्रह्मचारिणो भवति।

अनुवाद—वैश्यकुमार को धनुष की डोरी की मेखला धारण करनी चाहिए।

मुञ्जाऽभावे कुशाऽश्मन्तकबल्वजानाम् ॥ २।५।२४ ॥

(हरिहरभाष्यम्)-मुञ्जाभावशब्दोऽत्र धनुर्ज्यामौर्व्यभावोपलक्षणार्थः ॥२।५।२४॥

(गदाधरभाष्यम्)—'मुञ्जा...जानाम्'। मुञ्जाभावे ब्राह्मणस्य कुशाश्मन्तक-बल्वजानां सम्बन्धिनी रशना भवति। कुशमयी वा अश्मन्तकाख्यतृणमयी बाल्वजी वा भवतीति भर्तृयज्ञव्याख्याने लभ्यते। मुञ्जाभावशब्दोऽत्र धनुर्ज्यामौर्व्यभावोपलक्षणार्थं इति रेणुगर्गहरिहराः। मुञ्जाद्यभावे वर्णक्रमेण कुशाद्या ग्राह्या इति मदनपारि-जाते ॥ २।५।२४ ॥

अनुवाद—मुञ्ज के अभाव में ब्राह्मणकुमार कुश की, क्षत्रियकुमार अश्मन्तक नामक एक वनौषधि के रेशा की और वैश्य बाल्वजी मेखला पहन सकता है।

पालाशो ब्राह्मणस्य दण्डः ॥ २।५।२५ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'पाला...श्यस्य'। पालाशः पलाशवृक्षोद्भवः ब्राह्मणस्य ब्रह्मचारिणो दण्डो भवति ॥ २।५।२५ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'पाला...दण्डः'। ब्राह्मणस्य ब्रह्मचारिणः पालाशो दण्डो भवति ॥ २।५।२५ ॥

अनुवाद—ब्राह्मणकुमार पलाशदण्ड धारण करे।

बैल्वो राजन्यस्य ॥ २।५।२६ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—बैल्वः बिल्ववृक्षोद्भवः क्षत्रियस्य ॥ २।५।२६ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'बैल्वो...न्यस्य'। बैल्वः बिल्ववृक्षोद्भवो दण्डः क्षत्रियस्य ब्रह्मचारिणो भवति ॥ २।५।२६ ॥

अनुवाद—क्षत्रियकुमार बेल का दण्ड धारण करे।

औदुम्बरो वैश्यस्य ॥ २।५।२७ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—औदुम्बरः उदुम्बरवृक्षोद्भवो वैश्यस्य ॥ २।५।२७ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'औदु...श्यस्य'। वैश्यस्य ब्रह्मचारिण उदुम्बरवृक्षोद्भवो दण्डो भवति। अत्राचार्येणानुक्तमपि दण्डमानमुपयुक्तत्वादविरोधित्वाच्छाखान्तरीयं ग्राह्यम्। तच्च ॥ २।५।२७ ॥

अनुवाद—वैश्यकुमार गूलर का दण्ड धारण करे।

(केशसम्मितो ब्राह्मणस्य, ललाटसम्मितः क्षत्रियस्य, घ्राणसम्मितो वैश्यस्य।)

(हरिहरभाष्यम्)—'केशं···श्यस्य' । स च केशसम्मितः पादादिकेशमूलावधि-प्रमाणकः ब्राह्मणस्य, क्षत्रियस्य ललाटसम्मितः ललाटावधिपरिमाणः भ्रूमध्यावधि-रित्यर्थः । वैश्यस्य ब्रह्मचारिणः पादादिरोष्ठावधिको दण्डः ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'केश···श्यस्येति' । दण्डं प्रक्रम्योक्तमिति जयरामभाष्ये । इदं च सूत्रं सूत्रत्वेन हरिहरभाष्ये तिष्ठति । भर्तृयज्ञकर्कादिग्रन्थेषु नोपलभ्यते । अतः क्षिप्तमेतदित्याभाति ॥

अनुवाद—ब्राह्मण का दण्ड केश तक, क्षत्रिय का माथे तक और वैश्य का नाक तक लम्बा होना चाहिए ।

सर्वे वा सर्वेषाम् ॥ २।५।२८॥

(हरिहरभाष्यम्)—'सर्वे···षाम्' । यद्वा सर्वेषां ब्राह्मणक्षत्रियविशां ब्रह्मचारिणां सर्वे पालाशबैल्वौदुम्बरा अनियमेन दण्डा भवन्ति नियमोऽत्र नास्ति मुख्यालाभे यथा-लाभमुपादेयम् ॥ २।५।२८ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'सर्वे वा सर्वेषाम्' । अथवा सर्वे पालाशादयो दण्डाः सर्वेषां ब्राह्मणक्षत्रियविशामनियमेन भवन्ति । न प्रतिवर्णं जातिव्यवस्था भवति ॥ २।५।२८ ॥

अनुवाद—अथवा सभी दण्ड सबों के उपयोग में आ सकते हैं ।

आचार्येणाहूत उत्थाय प्रतिश्रृणुयात् ॥ २।५।२९ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'आचा···यात्' । आचार्येण गुरुणा आहूत आकारित उत्थाय ऊर्ध्वो भूत्वा प्रतिश्रृणुयात् प्रतिवचनं दद्यात् ब्रह्मचारी ॥ २।५।२९ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'आचा···यात्' । आचार्येणोपनयनकर्त्रा आहूत आकारितो ब्रह्मचारी आसनादुत्थाय प्रतिश्रृणुयात् । प्रतिवचनं दद्यात् ॥ २।५।२९ ॥

अनुवाद—आचार्य के बुलाने पर कुमार अपनी जगह खड़ा होकर ही उत्तर दे ।

शयानं चेदासीन आसीनं चेत्तिष्ठँस्तिष्ठन्तं चेदभिक्रामन्नभिक्रामन्तं चेदभिधावन् ॥ २।५।३० ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'शया···सीनः' । चेद्यदि शयानं स्वपन्तं ब्रह्मचारिणं गुरु-राह्वयति तदा आसीनः उपविष्टः सन् प्रतिवचनं दद्यात् । 'आसी···ष्ठन्' । आसीन-मुपविष्टं चेदाह्वयति तदा तिष्ठन्नुत्थितः । 'तिष्ठ···मम्' । यदि तिष्ठन्तमुत्थितमाह्वयति तदा अभिक्रामन् गुरुमभिमुखं गच्छन् प्रतिश्रृणुयात् । 'अभि···वन्' । अभिक्रामन्तमभि-मुखमागच्छन्तमाचार्यः ब्रह्मचारिणं यदि आह्वयति तदा स ब्रह्मचारी अभिधावन्नभिमुखं धावन्सन् प्रतिश्रृणुयात् ॥ २।५।३० ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'शया···सीनः' । चेद्यदि आचार्यः शयानं स्वपन्तं ब्रह्म-चारिणमाह्वयति तदा स आसीन उपविष्टः सन् प्रतिवचनं दद्यात् । 'आसी···ष्ठन्' । चेद्यद्यासीनमुपविष्टं ब्रह्मचारिणमाकारयत्याचार्यस्तदा स ब्रह्मचारी तिष्ठन् प्रतिवचनं दद्यात् । 'तिष्ठ···वन्' । चेद्यदि तिष्ठन्तं ब्रह्मचारिणमाह्वयति तदाऽभिक्रामन्नाचार्या-

भिमुखं व्रजन्प्रतिवचनं कुर्यात् । 'अभि···वन्' । चेद्यदि अभिक्रामन्तं ब्रह्मचारिणमाकारयति तदा ब्रह्मचारी अभिधावन् आचार्याभिमुखं धावन् प्रतिवचनं दद्यात् ॥ २।५।३० ॥

अनुवाद—आचार्य के बुलाते समय यदि कुमार सोया हो तो बैठकर, बैठा हो तो उठकर और खड़ा हो तो दौड़कर जवाब दे ।

स एवं वर्तमानोऽमुत्राद्य वसत्यमुत्राद्य वसतीति तस्य स्नातकस्य कीर्तिर्भवति ॥ २।५।३१ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'स ए···सतीति' । स ब्रह्मचारी एवमुक्तेन मार्गेण ब्रह्मचर्ये वर्तमानस्तिष्ठन् अमुत्र स्वर्गे अद्य इहैव स्थितः सन् वसति तिष्ठति द्विरुक्तिः स्तुत्यर्था । 'तस्य···वति' । तस्य ब्रह्मचारिणः स्नातकस्य समावृत्तस्य कीर्तिर्यतो भवति इति यथोक्तधर्मानुष्ठातुर्ब्रह्मचारिणः फलकथनम् ॥ २।५।३१ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—अस्यार्थवादमाह—'स एवं···तीति' । स ब्रह्मचारी एवं पूर्वोक्तब्रह्मचर्यधर्मेण वर्तमानः अमुत्र स्वर्लोके अद्य इहैव स्थितः सन् वसति तिष्ठति । द्विरुक्तिः प्रशंसार्था । 'तस्य वति' । येनैवं ब्रह्मचर्यानुष्ठानं कृतं तस्य स्नातकस्य समावृत्तस्य कीर्तिर्यशो भवति । यथोक्तधर्मकर्तुः फलं चैतत् ॥ २।५।३१ ॥

अनुवाद—इस प्रकार आचरण करने वाला ब्रह्मचारी धरती पर रहकर भी स्वर्ग में रहता है । ऐसे स्नातक अपने ब्रह्मचर्य व्रत को पूरा कर के संसार में अपना कीर्तिमान् स्थापित करते हैं ।

त्रयः स्नातका भवन्ति—विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रतस्नातक इति ॥ २।५।३२ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'त्रयः···तक इति' । त्रयस्त्रिःप्रकाराः स्नातका भवन्ति । कथम् ? एको विद्यास्नातकः, अपरो व्रतस्नातकः, अन्यो विद्याव्रतस्नातकः ॥२।५।३२॥

(गदाधरभाष्यम्)—स्नातकलक्षणमाह—'त्रयः···भवन्ति' । त्रयः त्रिविधाः स्नातका भवन्ति । 'विद्या····तक इति' । त्रिविधाः स्नातका इत्युक्तं तत्रैको विद्यास्नातको द्वितीयो व्रतस्नातकः तृतीयो विद्याव्रतस्नातक इति ॥ २।५।३२ ॥

अनुवाद—स्नातक तीन तरह के होते हैं—(१) विद्यास्नातक, (२) व्रतस्नातक, (३) विद्याव्रतस्नातक ।

समाप्य वेदमसमाप्य व्रतं यः समावर्त्तते स विद्यास्नातकः ॥ २।५।३३ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—एतेषां लक्षणमाह—'समा···तक इति' । समाप्य समाप्तिं पाठतोऽर्थतश्चावसानं नीत्वा वेदं वेदस्य मन्त्रब्राह्मणात्मिकामेकां शाखां यः समावर्तते स्नाति स ब्रह्मचारी विद्यास्नातको भवति ॥ २।५।३३ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'समा····तकः' । समाप्य वेदं पाठतोऽर्थतश्च वेदं वेदस्य मन्त्रब्राह्मणात्मिकामेकां शाखाम् । असमाप्य व्रतं द्वादशवार्षिकं ब्रह्मचर्यमसमाप्य यः समावर्तते स्नाति स विद्यास्नातक इत्युच्यते ॥ २।५।३३ ॥

अनुवाद—जो कुमार वेद का अध्ययन तो करता है, परन्तु व्रत का पूरी तरह निर्वाह नहीं कर पाता, वह विद्यास्नातक कहलाता है।

समाप्य व्रतमसमाप्य वेदं यः समावर्त्तते स व्रतस्नातकः ॥ २।५।३४ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—एवं समाप्य व्रतं द्वादशवर्षादिकं ब्रह्मचर्यमसमाप्य असम्पूर्णमधीत्य वेदमेकां शाखां यो ब्रह्मचारी समावर्तते स्नानं करोति स व्रतस्नातको भवति ॥२।५।३४ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'समा···तकः' । व्रतं ब्रह्मचर्यं द्वादशवार्षिकं समाप्य वेदमसमाप्य सम्पूर्णमनधीत्य यः समावर्तते स व्रतस्नातक इत्युच्यते । एवं च व्रतस्नातकस्य विवाहोत्तरकालमध्ययनसमापनं वेदार्थज्ञानं चेति मन्तव्यम् ॥ २।५।३४ ॥

अनुवाद—जो स्नातक व्रत-पालन करने पर भी वेद का अन्त नहीं कर पाता, वह व्रतस्नातक कहलाता है।

उभयꣳ समाप्य यः समावर्त्तते स विद्याव्रतस्नातक इति ॥ २।५।३५ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—उभयं वेदं ब्रह्मचर्यं च समाप्य अन्तं नीत्वा यः स्नाति स विद्याव्रतस्नातको भवति ॥ २।५।३५ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—उभ···तकः' । उभयं वेदं ब्रह्मचर्यं च समाप्य यः स्नाति स विद्याव्रतस्नातक इत्युच्यते । लक्षणप्रयोजनं च स्नातकानेके इत्यादिषु ज्ञेयम् ॥२।५।३५॥

अनुवाद—जो ब्रह्मचारी निष्ठापूर्वक वेद का अध्ययन करते हुए व्रत का भी निर्वाह करता है और उसमें सफल सिद्ध होता है, वह विद्याव्रतस्नातक कहलाता है।

आषोडशाद्वर्षाद् ब्राह्मणस्यानतीतः कालो भवति ॥ २।५।३६ ॥
आद्वाविꣳशाद् राजन्यस्य ॥ २।५।३७ ॥
आचतुर्विꣳशाद् वैश्यस्य ॥ २।५।३८ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'आ षो···श्यस्य' । उपनयनकालस्य परमावधिमाह—आषोडशात्षोडशाद्वर्षात्प्राक् ब्राह्मणस्य विप्रस्य अनतीतः न अतीतः उपनयनस्य कालः समयो भवति । आद्वाविंशात् द्वाविंशाद्वर्षात्पूर्वं क्षत्रियस्य, आचतुर्विंशाच्चतुर्विंशाद्वर्षादर्वाक् वैश्यस्योपनयनस्य कालः अनतीतो भवतीति सर्वत्र सम्बध्यते ॥२।५।३६-३८॥

(गदाधरभाष्यम्)—उपनयनकालस्य परमावधिमाह—'आषो···वति' । अर्वाक् षोडशाद्वर्षाद् ब्राह्मणस्यानतीतः न अतिक्रान्त एवोपनयनस्य कालो भवति । 'आद्वा··· न्यस्य' । अर्वाक् द्वाविंशाद्वर्षात्क्षत्रियस्यानतीत एवोपनयनकालो भवति । 'आच··· श्यस्य' । अर्वाक् चतुर्विंशाद्वर्षाद्वैश्यस्यानतीत एवोपनयनस्य कालो भवति ।२।५।३६-३८।

अनुवाद—ब्राह्मण बालक के उपनयन संस्कार की अवधि सोलह वर्ष तक की है। क्षत्रिय कुमार के उपनयन की अवधि बाइस वर्ष की है। वैश्यकुमार के उपनयन संस्कार की अन्तिम अवधि चौबीस वर्ष की है।

टिप्पणी—पारस्कर के इस सिद्धान्त की सम्पुष्टि मनु ने भी की है—

'आषोडशाद् ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते ।
आद्वाविंशेः क्षत्रबन्धोः, आचतुर्विंशतेर्विशः' ।। (मनु० २)

अत ऊर्ध्वं पतितसावित्रीका भवन्ति ।। २।५।३९ ।।

(हरिहरभाष्यम्)—'अत···वन्ति' । अतः पञ्चदशात् एकविंशात् त्रयोविंशाद्वर्षादूर्ध्वम् अनुपनीता ब्राह्मणक्षत्रियवैश्याः यथासङ्ख्यं पतितसावित्रीका भवन्ति पतिताः स्खलिता अधिकाराभावान्निवृत्ता सावित्री गायत्री येभ्यस्ते पतितसावित्रीका भवन्ति सम्पद्यन्ते ।। २।५।३९ ।।

(गदाधरभाष्यम्)—'अत···वन्ति' । अत उक्तकालादूर्ध्वमनुपनीता ब्राह्मणादयः पतितसावित्रीका भवन्ति सम्पद्यन्ते अधिकाराभावात् पतिता स्खलिता सावित्री येभ्यस्ते पतितसावित्रीकाः ।। २।५।३९ ।।

अनुवाद—ऊपर कही गयी अवधि के बाद वे पतितसावित्री वाले हो जाते हैं ।

नैनानुपनयेयुर्नाध्यापयेयुर्न याजयेयुर्न चैभिर्व्यवहरेयुः ।। २।५।४० ।।

(हरिहरभाष्यम्)—'नैना····रेयुः' । एतान् पतितसावित्रीकान् न उपनयेयुः उपनयनसंस्कारेण न संस्कुर्युः । शिष्टाः कैश्चिदतिक्रान्तनिषेधैरुपनीतानपि न अध्यापयेयुः न वेदं पाठयेयुः । तथा न याजयेयुः । कैश्चिदतिक्रान्तनिषेधैर्वेदमध्यापितानपि न याजयेयुः न यज्ञं कारयेयुः । एभिः पतितसावित्रीकैरनुपनीतैरुपनीतैर्वा सह न व्यवहरेयुः । स्नानासनशयनभोजनविवाहादिभिः कर्मभिर्न व्यवहारं कुर्युः ।। २।५।४० ।।

(गदाधरभाष्यम्)—'नैना····रेयुः' । एतान् पतितसावित्रीकान् नोपनयेयुः शास्त्रज्ञाः । अज्ञानादुपनीतानपि नाध्यापयेयुः । एवमध्यापितानपि न याजयेयुः यज्ञं न कारयेयुः । एभिः सह भोजनादिभिः कर्मभिर्व्यवहारमपि न कुर्युः ।। २।५।४० ।।

अनुवाद—इन पतितसावित्री वाले कुमारों का कोई आचार्य उपनयन-संस्कार न कराए, इन्हें वेदादि न पढ़ाए, इनसे यज्ञादि न कराए और इन लोगों के साथ किसी तरह का व्यवहार न करे ।

कालातिक्रमे नियतवत् ।। २।५।४१ ।।

(हरिहरभाष्यम्)—'काला···वत्' । गर्भाधानादीनि उपनयनान्तानि कर्माणि नियतकालान्यभिहितानि । यदि दैवात्पुरुषापराधाद्वा दोषाद्वा तेषां नियतस्य कालस्य अतिक्रमो भवति । तदा किं कर्तव्यमिति सन्देहे निर्णयमाह—कालातिक्रमे यस्य संस्कारकर्मणः शास्त्रेण नियमितो यः कालः तस्यातिक्रमे लङ्घने नियतवत् नित्यवत् नित्ये श्रौतकल्पे नित्येषु (?) यद्विहितं तद्वत् अनादिष्टं प्रायश्चित्तं भवति । ततः कृतप्रायश्चित्तस्यातिक्रान्तकाले संस्कारकर्मण्यधिकारःसम्पद्यते अनादिष्टप्रायश्चित्तेतिकर्तव्यता च प्रयोगे वक्ष्यते । अत्र कालातिक्रम इत्युपलक्षणम् । अतोऽन्येषामपि कर्मणां नाशे इदमनादिष्टमेव सर्वप्रायश्चित्तम् । गृह्यकारेण प्रायश्चित्तान्तरस्यानुपदिष्टत्वात् । किन्तु श्रौतानामतिदेशे प्राप्ते अविज्ञाते प्रतिमहाव्याहृति सर्वाभिश्चतुर्थं६-सर्वप्रायश्चित्तं चेत्य-

स्यैव कालातिक्रमे नियतवदित्यनेनातिदेशः कृतो नतूपदेशः कृतो गृह्यकारेण। तत्राविज्ञातमप्रत्यक्षश्रुतिमूलम्, किमिदमार्ग्वैदिकं याजुर्वैदिकं सामवैदिकं वेत्यनिश्चितं स्मार्तं कर्म तस्य भ्रेषे श्रौतकल्पे व्याहृतिचतुष्टयं पञ्चवारुणहोमं प्रायश्चित्तमुद्दिष्टमत्र गृह्यसूत्रे गृह्योक्तकर्मणामपि स्मार्तत्वात् तद्भ्रेषे तस्यैवातिदेशो युक्तः, न पुनः प्रत्यक्षवेदमूलकर्मभ्रेषोपदिष्टानाम् ॥ २।५।४१ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—सन्ति गर्भाधानादीनि नियतकालानि कर्माणि तेषु कालातिक्रमे प्रायश्चित्तमाह—'काला···वत्'। गर्भाधानादिनियतकालानां कर्मणां नियतकालव्यतिक्रमे सति प्रायश्चित्तं नियतवत् नित्यवत् नियते श्रौतकल्पे नैमित्तिकेषु यद्विहितं स्मार्तं तदेवानादिष्टं भवति। तच्चाविज्ञाते प्रतिमहाव्याहृति सर्वाभिश्चतुर्थं सर्वप्रायश्चित्तं चेति। कालव्यतिक्रमादन्यत्रापि यज्ञोपवीतिना बद्धशिखेन पवित्रपाणिना बद्धकच्छेन प्रदक्षिणमाचान्तेन शुचिना स्नातेन कर्म कर्तव्यमित्यादिस्मृत्यन्तरविहितेऽपि भ्रेषे उत्पन्न एतदेव भवति। नैमित्तिकान्तराविधानात्। आवसथ्याग्निसाध्यलौकिकाग्निसाध्यानग्निसाध्यकर्मसु चतुर्गृहीतान्येतानि सर्वत्रेति प्रायश्चित्तसूत्र उक्तत्वादत्र चतुर्गृहीतं गृहीत्वा होमः कार्यः। चतुर्गृहीतं च स्रुगभावे न सम्भवत्यतः स्रुगुत्पाद्येति रामवाजपेयिभिः प्रायश्चित्ते उक्तम्। सा च होमसम्बन्धाद्वैकङ्कती भवति। स्रुवस्तु खादिर एव। स्रुवेण प्रायश्चित्तहोम इति हरिहरः। तदयुक्तम्। अत्र श्रौतातिदेशो नियतवदिति भगवता कृतः तत्र चतुर्गृहीतं विहितं तदत्रापि प्राप्नोत्येव। चतुर्ग्रहणं च स्रुच्येव सम्भवति अतः स्रुक् प्राप्ता केन निवार्यते? किञ्च पूर्णाहुतिधर्मोऽपि हरिहरैरङ्गीकृतस्तत्र पठिता स्रुक् स्वयं कुतो नाङ्गीकृतेति। यदि गृह्योक्तेतिकर्तव्यताऽङ्गीकृता स्यात्ततः स्यात्स्रुवेण होमः सा नाङ्गीकृतेत्यलमतिप्रसङ्गेन। कारिकायाम्—मुख्यकाले नरैः कर्म कर्तुं यदि न शक्यते। गौणकालेऽपि कर्तव्यं तदनादिष्टपूर्वकम्। इदं प्रायश्चित्तं त्वनादिष्टम्। यत्र विशिष्टप्रायश्चित्तं स्मर्यते तत्र नैतद्भवते किन्तु तदेव तत्र भवति। यथा—सर्वकर्ममध्ये तु क्षुत आचमनं स्मृतम्। तथा—अधोवायुसमुत्सर्गे प्रहासेऽनृतभाषणे। मार्जारमूषकस्पर्शे आक्रुष्टे क्रोधसम्भवे॥ निमित्तेष्वेषु सर्वेषु कर्म कुर्वन्नपः स्पृशेदिति रामवाजपेयिनः॥ २।५।४१ ॥

अनुवाद—गर्भाधान से उपनयन तक सभी संस्कारों का समय निश्चित है। किसी कारणवश यदि उसका उल्लंघन हो जाय तो 'श्रौतसूत्र' में नियत विधि से प्रायश्चित्त करना चाहिए।

त्रिपुरुषं पतितसावित्रीकाणामपत्ये संस्कारो नाध्यापनं च ॥२।५।४२॥

(हरिहरभाष्यम्)—इदानीं पतितसावित्रीकविषये संस्कारप्रतिप्रसवमाह—'त्रिपु···पनं च'। त्रिपुरुषं त्रीन् पुरुषान् यावत् ये पतितसावित्रीकाः पितृपुत्रपौत्रास्तेषामपत्ये पुत्रे संस्कारः उपनयनं भवति न पुनश्चतुर्थादीनां तेषां च उपनीतानामपि अध्यापनं न भवति (निषिद्धस्य पुनरनुज्ञापनं प्रतिप्रसव इति। उपनयनस्यैव प्रतिप्रसवात्) ॥ २।५।४२ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'त्रिपु···नं च'। त्रीन्पुरुषान्यावत् ये पतितसावित्रीकाः पितृपुत्रपौत्रास्तेषामपत्ये चतुर्थे पुरुषेऽसंस्कार उपनयनसंस्कारो न भवति। अध्यापनं च न भवति। अत्र हरिहरभाष्यं मृग्यम् ॥ २।५।४२ ॥

अनुवाद—तीन पीढ़ी तक यदि सावित्री का पतन हो, नियतकाल में उपदेश न हो तो एसे व्यक्ति की सन्तान का न तो कोई संस्कार होगा और न वेदादि का अध्यापन ही होगा।

टिप्पणी—गदाधरभाष्य के अनुसार यदि कुमार का पिता, पितामह एवं प्रपितामह पतितसावित्रीक हो जाय तो न तो उसका कोई संस्कार किया जाय और न वेदादि का अध्यापन ही। किन्तु हरिहर ने ऐसे पतितसावित्रीकों को उपनयन संस्कार की अनुमति तो दी है, परन्तु वेदाध्ययन की अनुमति नहीं दी है।

तेषाᳪं संस्कारेप्सुर्व्रात्यस्तोमेनेष्ट्वा काममधीयीरन् व्यवहार्या भवन्तीति वचनात् ॥ २।५।४३ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'तेषाᳪं···चनात्'। तेषां पतितसावित्रीकाणां मध्ये यः संस्कारेप्सुः आत्मानं संस्कारयितुकामः स व्रात्यस्तोमेन यज्ञविशेषेण इष्ट्वा व्रात्यस्तोमं यज्ञं कृत्वा व्यवहार्यो भवति। अधीयीत चेति शेषः। उपनयनादिसंस्कारयोग्यो भवति। तस्मात्काममिच्छया व्रात्यस्तोमेनेष्ट्वा अधीयीरन् वेदं पठेयुः व्यवहार्याः लोके शिष्टानामध्यापनादिषु कर्मसु योग्या भवन्तीति वचनात् श्रुतेः। संस्कार्यप्रसङ्गात् स्मृत्यन्तरोक्ता अपि संस्कार्या लिख्यन्ते—षण्ढान्धबधिरस्तब्धजड्गद्गदपङ्गुषु। कुब्जवामनरोगार्तशुष्काङ्गिविकलाङ्गिषु ॥ मत्तोन्मत्तेषु मूकेषु शयनस्थे निरिन्द्रिये ॥ ध्वस्तपुंस्त्वेऽपि चैतेषु संस्काराः स्युर्यथोचिताः ॥ मूकोन्मत्तौ न संस्कार्यावित्येके। कर्मस्वनधिकारात्पातित्यं नास्ति। तदपत्यं तु संस्कार्यम्। ब्राह्मण्यां ब्राह्मणेनोत्पन्नो ब्राह्मण एवेति स्मृतेः। अन्ये तु तावपि संस्कार्यावित्याहुः। होमं तावदाचार्यः करोति। उपनयनं च विधिना आचार्यसमीपानयनमग्निसमीपानयनं वा सावित्रीवाचनं वा। अन्यदङ्गं यथाशक्ति कार्यम्। विवाहश्च कन्यास्वीकारोऽन्यदङ्गमिति। औरसक्षेत्रजाश्चैषां संस्कार्या भागहारिणः। औरसः पुत्रिकापुत्रः क्षेत्रजो गूढजस्तथा ॥ कानीनश्च पुनर्भूजो दत्तः क्रीतश्च कृत्रिमः। दत्तात्मा च सहोढश्च त्वपविद्धसुतस्ततः। पिण्डदोंऽशहरश्चैषां पूर्वाभावे परः परः। एते द्वादशपुत्राश्च संस्कार्याः स्युर्द्विजातयः ॥ केचिदाहुर्द्विजैर्जातौ संस्कार्यौ कुण्डगोलकौ। अमृते च मृते पत्यौ जारजौ कुण्डगोलकौ। शङ्खलिखितौ—नोन्मत्तमूकान् संस्कुर्यात्। विष्णुः—नापरिक्षितं याजयेत् नाध्यापयेन्नोपनयेत्। आपस्तम्बः—शूद्राणामदुष्टकर्मणामुपनयनम्। एतच्च रथकारविषयकम्। तस्य तु मातामहीद्वारकं शूद्रत्वम्। अदुष्टकर्मणां मद्यपानरहितानामिति कल्पतरुकारः। इति सूत्रार्थः ॥२।५।४३॥

अथोपनयनप्रयोगः। तत्र ब्राह्मणस्याष्टवार्षिकस्य गर्भाष्टवार्षिकस्य वा क्षत्रियस्यैकादशवार्षिकस्य वैश्यस्य द्वादशवार्षिकस्योपनयनं कुर्यात्। यथामङ्गलं वा सर्वेषामुपनयनम्। अथोदगयने शुक्लपक्षे पुण्येऽहनि मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकं श्राद्धं कुर्यात्।

कुमारस्य वपनं कारयित्वा ब्राह्मणत्रयं भोजयित्वा कुमारं च भोजयित्वा बहिःशालायां पञ्च भूसंस्कारान् विधाय लौकिकाग्निं स्थापयित्वा पर्युप्तशिरसमलङ्कृतं कुमारमाचार्य-पुरुषा आचार्यसमीपमानयन्ति । तत आचार्य आनीतं कुमारं पश्चादग्नेः स्वस्य दक्षिणेऽवस्थाप्य ब्रह्मचर्यमागामिति ब्रूहीति कुमारं प्रति वदति । ब्रह्मचर्यमागामिति कुमारः प्रतिब्रूयात् । ब्रह्मचार्यसानीति ब्रूहीत्याचार्येणोक्ते ब्रह्मचार्यसानीति माणवको ब्रूयात् । अथाचार्यो माणवकं येनेन्द्राय बृहस्पतिर्वासः पर्यदधादमृतम् । तेन त्वा परिदधाम्यायुषे दीर्घायुत्वाय बलाय वर्चस इत्यनेन मन्त्रेण यथोक्तं वासः परिधापयति । तत आचार्यो माणवकस्य कटिप्रदेशे मेखलां बध्नाति । इयं दुरुक्तं परिबाधमाना वर्णं पवित्रं पुनती म आगात् । प्राणापानाभ्यां बलमादधाना स्वसा देवी सुभगा मेखलेयमिति मन्त्रं पठितवतः । युवासुवासाः परिवीत आगात्स उ श्रेयान् भवति जायमानः । तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो मनसा देवयन्त इति वा मन्त्रम् । तूष्णीं मन्त्रवर्जं वा । ततः यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात् । आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेज इति मन्त्रं पठितवतो माणवकस्य दक्षिणबाहुमुद्धृत्य वामस्कन्धे यज्ञोपवीतं निवेशयति । यज्ञोपवीतलक्षणं तु छन्दोगपरिशिष्टे—त्रिवृदूर्ध्ववृतं कार्यं तन्तु-त्रयमधोवृतम् । त्रिवृतं चोपवीतं स्यात्तस्यैको ग्रन्थिरिष्यते ॥ वामावर्तं त्रिगुणं कृत्वा प्रदक्षिणावृत्तं नवगुणं विधाय तदेव त्रिसरं कृत्वा ग्रन्थिमेकं विदध्यात् । यथा—पृष्ठवंशे च नाभ्यां च धृतं यद्विन्दते कटिम् । तद्धार्यमुपवीतं स्यान्नातिलम्बं न चोच्छ्रितम् ॥ वामस्कन्धे धृते नाभिहृत्पृष्ठवंशयोर्धृतं यथा कटिपर्यन्तं प्राप्नोति तावत्परिमाणं कर्तव्यमित्यर्थः । कार्पासक्षौमगोवालशाणवल्कतृणादिकम् । सदा सम्भवतो धार्यमुपवीतं द्विजातिभिः ॥ १ ॥ शुचौ देशे शुचिः सूत्रं संहताङ्गुलिमूलके । आवेष्ट्य षण्णवत्या तत् त्रिगुणीकृत्य यत्नतः ॥ २ ॥ अब्लिङ्गकैस्त्रिभिः सम्यक् प्रक्षाल्योर्ध्ववृतं च तत् । अप्रदक्षिणमावृत्तं सावित्र्या त्रिगुणीकृतम् ॥ ३ ॥ अधः प्रदक्षिणावृत्तं समं स्यान्नवसूत्रकम् । त्रिरावेष्ट्य दृढं बद्ध्वा हरिब्रह्मेश्वरान्नमेत् ॥ ४ ॥ यज्ञोपवीतं परममिति मन्त्रेण धारयेत् । सूत्रं सलोमकं चेत्स्यात्ततः कृत्वा विलोमकम् ॥ ५ ॥ सावित्र्या दशकृत्वोऽद्भिर्मन्त्रिताभिस्तदुक्षयेत् । विच्छिन्नं वाऽप्यधोयातं भुक्त्वा निर्मितमुत्सृजेत् ॥ ६ ॥ स्तनादूर्ध्वमधोनाभेर्न धार्यं तत्कथञ्चन । ब्रह्मचारिण एकं स्यात्स्नातस्य द्वे बहूनि वा ॥ ७ ॥ तृतीयमुत्तरीयं वा वस्त्राभावे तदिष्यते । ब्रह्मसूत्रे तु सव्येंऽसे स्थिते यज्ञोपवीतिता ॥ ८ ॥ प्राचीनावीतिताऽसव्ये कण्ठस्थे तु निवीतिता । वस्त्रं यज्ञोपवीतार्थं त्रिवृत्सूत्रं च कर्मसु ॥ ९ ॥ कुशमुञ्जबल्वजतन्तुरज्ज्वा वा सर्वजातिषु ॥ ततस्तथैव तूष्णीं माणवकस्य यथोक्तमजिनमुत्तरीयं कारयति । तत आचार्यो माणवकाय दण्डं ददाति । माणवकश्च यो मे दण्डः परापतद्वैहायसोऽधिभूम्याम् । तमहं पुनरादद आयुषे ब्रह्मणे ब्रह्मवर्चसायेत्यनेन मन्त्रेण तं प्रतिगृह्णाति । दीक्षावद्वा दण्डं ददाति प्रतिगृह्णात्युच्छ्रयति च । अथाचार्यः स्वकीयमञ्जलिं जलेन पूरयित्वा तेन जलेनाञ्जलिस्थेन माणवकस्याञ्जलिं पूरयति आपोहिष्ठेति तृचेन । ततो गुरुर्माणवकं प्रेषयति सूर्यमुदीक्षस्वेति माणवकश्च प्रेषितस्तच्चक्षुरिति मन्त्रेण सूर्यमुदीक्षते । अथाचार्यो माणवकस्य दक्षिणांसस्योपरि स्वं दक्षिणं

हस्तं नीत्वा हृदयमालभते । मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु । मम वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यमिति मन्त्रेण । अथाचार्योऽस्य माणवकस्य दक्षिणं हस्तं साङ्गुष्ठं गृहीत्वा को नामासीत्याह । एवं पृष्टः कुमारः अमुकशर्माऽहं भो३ इति प्रत्याह । पुनराचार्यो माणवकं पृच्छति कस्य ब्रह्मचार्यसीति भवत इति माणवकेनोच्यमाने इन्द्रस्य ब्रह्मचार्यस्यग्निराचार्यस्तवाहमाचार्यस्तवामुकशर्मन्नित्याचार्यः पठेत् । अथैनं कुमारं भूतेभ्यः परिददात्याचार्यः प्रजापतये त्वा परिददामि देवाय त्वा सवित्रे परिददाम्यद्भ्यस्त्वौषधीभ्यः परिददामि द्यावापृथिवीभ्यां त्वा परिददामि विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः परिददामि सर्वेभ्यस्त्वा भूतेभ्यः परिददाम्यरिष्टया इत्यनेन मन्त्रेण । अथ कुमारः अग्निं प्रदक्षिणीकृत्य आचार्यस्योत्तरत उपविशति । आचार्यश्च ब्रह्मोपवेशनादिपर्युक्षणान्तं कृत्वा आघाराद्याः स्विष्टकृदन्ताश्चतुर्दशाज्याहुतीर्ब्रह्मान्वारब्धो हुत्वा हुतशेषं प्राश्य पूर्णपात्रं वरं वा ब्रह्मणे दद्यात् । अथानन्तरमेनं ब्रह्मचारिणं संशास्ति कथं ब्रह्मचार्यसीत्याचार्यो वदति भवानीति ब्रह्मचारी । अपोशानेत्याचार्यः अश्नानीति ब्रह्मचारी । कर्म कुर्वित्याचार्यः । करवाणीति ब्रह्मचारी । मा दिवा सुषुप्था इत्याचार्यः । न स्वपानीति ब्रह्मचारी । वाचं यच्छेत्याचार्यः । यच्छानीति ब्रह्मचारी । समिधमाधेहीत्याचार्यः । आदधानीति ब्रह्मचारी । अपोशानेत्याचार्यः । अश्नानीति ब्रह्मचारी । अथास्मै एवं शासिताय ब्रह्मचारिणे आचार्यः सावित्रीमन्वाह । कीदृशाय ? उत्तरतोऽग्नेः प्रत्यङ्मुखायोपविष्टाय पादोपसङ्ग्रहपूर्वकमुपसन्नाय आचार्यं समीक्षमाणाय स्वयमप्याचार्येण समीक्षिताय । कथमन्वाह ? ॐकारव्याहृतिपूर्वकमेकैकं पादं तथा द्वितीयमर्द्धर्चशः तथैव तृतीयं सर्वां स्वयं च ब्रह्मचारिणा सह पठन् । केषाञ्चित्पक्षे दक्षिणतोऽग्नेस्तिष्ठते आसीनाय वा आचार्य उक्तप्रकारेण सावित्रीमन्वाह । संवत्सरे वा षण्मास्ये वा चतुर्विंशत्यहे वा द्वादशाहे वा षडहे वा त्र्यहे वा काले क्षत्रियवैश्ययोर्ब्रह्मचारिणोराचार्यः सावित्रीं ब्रूयात् । ब्राह्मणाय तु सद्य एव गायत्रीं गायत्रीछन्दस्कां सावित्रीं सवितृदैवत्याम् ऋचं विश्वामित्रदृष्टां सायमग्निहोत्रहोमानन्तरं गार्हपत्याग्न्युपस्थाने विनियुक्तां तत्सवितुरिति सर्ववेदशाखाम्नातां ब्रह्मदृष्टगायत्रीछन्दस्कपरमात्मदैवतवेदारम्भादिविनियुक्तप्रणवसहितप्रजापतिदृष्टाग्निवायुसूर्यदैवतगायत्र्युष्णिगनुष्टुप्छन्दस्काग्न्याधानविनियुक्तभूर्भुवःस्वरिति महाव्याहृतिपूर्विकां ब्राह्मणाय ब्रह्मचारिणे आचार्योऽनुब्रूयात् । क्षत्रियाय त्रिष्टुप्छन्दस्कां बृहस्पतिदृष्टां सवितृदेवत्यां देवसवितुरित्यादिकां वाजपेये आज्यहोमे विनियुक्तां तथा वैश्याय प्रजापतिदृष्टां जगतीछन्दस्कां सवितृदेवत्यां रुक्मपाशप्रतिमोचने उषासम्भरणे विनियुक्तां विश्वारूपाणि प्रतिमुञ्चत इत्येतामृचं ब्रूयात् । सर्वेषां वा ब्राह्मणक्षत्रियविशां गायत्रीमेव गायत्रीछन्दस्कां सावित्रीमुक्तलक्षणां ब्रूयात् । अत्रावसरे ब्रह्मचारी समिदाधानं करोति । तत्र पूर्वं दक्षिणहस्तेन अग्ने सुश्रवः सुश्रवसं मा कुरु, यथा त्वमग्ने सुश्रवः सुश्रवा असि, एवं माᳬ सुश्रवः सौश्रवसं कुरु । यथा त्वमग्ने देवानां यज्ञस्य निधिपा असि, एवमहं मनुष्याणां वेदस्य निधिपो भूयासमित्येतैः पञ्चभिर्मन्त्रैः प्रतिमन्त्रमिन्धनप्रक्षेपेणाग्निं सन्धुक्षयति । हस्ताभ्यां वा सन्धुक्षणप्रसिद्धिरस्ति । ततोऽग्निं प्रदक्षिणं दक्षिणहस्तेनाद्भिः पर्युक्ष्योत्थाय तिष्ठन्

अग्नये समिधमहार्षं बृहते जातवेदसे यथा त्वमग्ने समिधा समिध्यस एवमहमायुषा मेधया वर्चसा प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन समिन्धे जीवपुत्रो ममाचार्यो मेधाव्यहमसान्य-निराकरिष्णुर्यशस्वी तेजस्वी ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भूयासꣳस्वाहेत्यनेन मन्त्रेण उक्तलक्षणा-मेकां समिधमग्नावाधायानेनैव द्वितीयां तथैव तृतीयां चाधत्ते। एषा ते अग्ने समिदित्यादिना वा मन्त्रेण अग्नये समिधमहार्षमिति एषा ते अग्ने समिदित्येताभ्यां समुच्चिताभ्यां मन्त्राभ्यां वा एकैकशस्तिस्रः समिध आदधाति। तत उपविश्य पूर्ववदग्ने सुश्रव इत्यादिभिरग्निं सन्धुक्ष्य पर्युक्ष्य च तूष्णीं पाणी प्रतप्य तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाहि आयुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि वर्चोदा अग्नेऽसि वर्चो मे देहि। अग्ने यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आपृण॥ मेधां मे देवः सविता आदधातु मेधां मे देवी सरस्वती आदधातु मेधा-मश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजाविति सप्तभिर्मन्त्रैः प्रतिमन्त्रं मुखं विमार्ष्टि। अत्र शिष्टाचारप्राप्ताः केचन पदार्था लिख्यन्ते। तत अङ्गानि च म आप्यायन्तामित्यनेन शिरःप्रभृति पादान्तं सर्वाङ्गमालभते। वाक्च म आप्यायतामिति मुखं, प्राणश्च म आप्यायतामिति नासारन्ध्रे युगपत्, चक्षुश्च म आप्यायतामिति चक्षुषी युगपत् श्रोत्रं च म आप्यायतामिति दक्षिणं श्रोत्रं, ततोऽनेनैव मन्त्रेण वामम्। यशोबलं च म आप्याय-तामिति मन्त्रं पठेत्। ततोऽनामिकया अग्नेर्भस्म गृहीत्वा ललाटे ग्रीवायां दक्षिणेंऽसे हृदि चतुर्षु स्थानेषु त्र्यायुषं जमदग्नेः, कश्यपस्य त्र्यायुषं, यद्देवेषु त्र्यायुषं, तन्नो अस्तु त्र्यायुषमिति चतुर्भिर्मन्त्रैः प्रतिमन्त्रं त्र्यायुषाणि कुरुते। अत्र स्मृत्यन्तरोक्तमभिवादनं लिख्यते—'ततोऽभिवादयेद्वृद्धानसावहमिति ब्रुवन्' इति याज्ञवल्क्यादिस्मृतिप्रणीतस्या-भिवादनस्य प्रयोगो यथा—वत्सगोत्रो भार्गवच्यावनाप्नवानौर्वजामदग्न्येति पञ्चप्रवरः श्रीधरशर्माऽहं भो ३ श्रीहरिहरशर्मन् त्वामभिवादये इत्युक्त्वाऽभिवाद्य गुर्वादिकं ब्रह्मचारी अभिवादयेत्। अभिवाद्यश्च गुर्वादिः आयुष्मान् भव सौम्य श्रीधरशर्मन् भो३ इति प्रत्यभिवादयेत्। अयमभिवादनप्रयोगो गृहस्थस्यापि। अत्र वृद्धानिति वचनात् कनिष्ठाभिवादने नाधिकारः। वृद्धाश्च त्रिविधाः—विद्यातपोवयोभिः। अत्र समये ब्रह्मचारी भैक्षं चरति। तद्यथा—भवति भिक्षां देहीति ब्राह्मणः, भिक्षां भवति देहीति राजन्यः भिक्षां देहि भवतीति वैश्यश्च भिक्षां भिक्षेत। अत्र भिक्षायाचनवाक्ये भवतीति स्त्रीसम्बोधनपदात् स्त्रियो भिक्षेतेति प्राप्तम्। ताश्च कीदृशीः कति च? इत्यपेक्षाया-मुच्यते—याः प्रत्याख्यानं न कुर्वन्ति ताः भिक्षेत। कति? तिस्रः षड् वा द्वादश वा द्वादशभ्योऽधिका वा। मातरं वा प्रथमां भिक्षेतेत्यन्वयः। एवं भिक्षां भिक्षित्वा ब्रह्मचारी गुरवे भैक्षं निवेद्य अहश्शेषं वाग्यतस्तिष्ठेत् वा आसीत वेत्यनियमः। तत उपास्तमयं सन्ध्यावन्दनपूर्वकं स्वयं प्रशीर्णाः पूर्वोक्तलक्षणाः समिधः पूर्ववत् उक्तप्रकारेण तस्मिन्नेवाग्नौ आधाय वाचं विसृजत इति तद्दिनकृत्यम्।

अथ तद्दिनमारभ्यासमावर्तनात्कर्तव्यमुच्यते—भूमौ शयनमक्षारालवणाशनं दण्ड-धारणमग्निपरिचरणं गुरुशुश्रूषा भिक्षाचर्या सायम्प्रातर्भोजनार्थं भोजनसन्निधाने वारद्वयं वा भैक्षचरणम्, अनिन्द्ये ब्राह्मणगृहे भैक्षं गुर्वाज्ञया याचित्वा भोजनविधिना 'भुञ्जानः मधुमांसमज्जनोपर्यासनस्त्रीगमनानृतादत्तादानानि वर्जयेत्। स्मृत्यन्तरे तु—मधुमांसा-

ञ्जनोच्छिष्टमुक्तस्त्रीप्राणिहिंसनम् । भास्करालोकनाश्लीलपरिवादादि वर्जयेत् ॥ आदि-शब्देन पर्युषितताम्बूलदन्तधावनावसक्थिकादिवास्वापच्छत्रपादुकागन्धमाल्योद्वर्तनानुप-लेपनजलक्रीडाद्यूतनृत्यगीतवाद्यालापादीन्यन्यान्यपि वर्जनीयानि स्मृतानि-। तथा—कार्या भिक्षा सदा धार्यं कौपीनं कटिसूत्रकम् । कौपीनमहतं धार्यं दण्डं वा वस्त्रपार्श्वयुक् ॥ यज्ञोपवीतमजिनं मौञ्जीं दण्डं च धारयेत् । नष्टे भ्रष्टे नवं मन्त्रात् धृत्वा भ्रष्टं जले क्षिपेत् । अष्टाचत्वारिं॰ शद्वर्षाणीत्यादि व्यवहार्या भवन्तीति वचनादित्यन्तं सूत्र-मुक्तार्थम् । कालातिक्रमे नियतवदित्यस्यार्थं उक्तः । इतिकर्तव्यताऽत्र लिख्यते । पूर्णाहुति-वदाज्यं संस्कृत्य अनादिष्टप्रायश्चित्तहोमं कुर्यात् । पूर्णाहुतिर्यथा कात्यायनसूत्रे पूर्णाहुतिं जुहोति निरुप्याज्यं गार्हपत्येऽधिश्रित्य स्रुक्स्रुवं च सम्मृज्योद्वास्योत्पूयावेक्ष्य गृहीत्वाऽन्वा-रब्ध एवं॰ सर्वत्र । अत्रैवं प्रयोगः—यदाऽऽवसथिकस्यानादिष्टं प्राप्नोति तदाऽग्निः सम्भृत एव । यदि च निरग्नेस्तदा शुद्धायां भूमौ पञ्च भूसंस्कारान्कृत्वा लौकिकमग्निं स्थापयित्वा स्थाल्यामाज्यं तूष्णीं निरूप्याग्नावधिश्रित्य स्रुवं दर्भैः सम्मृज्याज्यमुद्वास्य कुशतरुणाभ्यामुत्पूयावेक्ष्य स्रुवेणादायोपरि समिधं निधायोत्थाय स्रुवं सव्यहस्ते कृत्वा दक्षिणेनाग्नौ तिष्ठन् समिधमाधायोपविश्य दक्षिणं जान्वाच्य ॐभूः स्वाहेति स्रुवस्थे-नाज्येनैकामाहुतिं हुत्वा भुवः स्वाहा स्वः स्वाहा भूर्भुवःस्वः स्वाहेति चतस्रः त्वन्नो अग्न इत्यादिभिः पञ्चभिः पञ्च स्रुवेणावदायाज्याहुतीर्जुहोति । इदं नवाहुतिहोमात्मकं कर्म यत्र यत्र प्रायश्चित्तानादेशः कर्मणां नियतकालातिक्रमो वा तत्र तत्रानादिष्टसंज्ञकं प्रायश्चित्तं वेदितव्यम् । यदा तु कस्मिंश्चित्स्थालीपाकादिकर्मप्रयोगे वर्तमाने अनादिष्ट-प्रायश्चित्तमापद्येत तदा तत्कर्माङ्गभूत एवाग्नौ तत्कृत्वा (ऽनादिष्टं हुत्वा) उपरितनं प्रयोगं कुर्यात् । यदा तु बहूनि निमित्तानि भवन्ति तदा प्रतिनिमित्तं नैमित्तिकमावर्तत इति न्यायात् यावन्ति निमित्तानि तावत्कृत्वः प्रायश्चित्तमावर्तते यथोक्तम् । इत्युपनयन-पद्धतिः ॥

अत्र वेदब्रह्मचर्यं चरेदित्यनेन वेदाध्ययनाङ्गतया ब्रह्मचर्याचरणमुक्तम्, वेदाध्यय-नारम्भस्य काल इतिकर्तव्यता च नोक्ता केवलं समावर्तनकर्म सूत्रकारेणारब्धं वेदं॰ समाप्य स्नायादिति । तत्र वेदस्यारम्भं विना समाप्तिः कर्तुमशक्येति उपनयनानन्तरमेव वेदारम्भस्य समय इत्यवगम्यते । इतिकर्तव्यता च पुनरेतदेव व्रतादेशनविसर्गेष्विति उपाकर्महोमातिदेशाद् व्रतादेशने वेदारम्भे प्राप्नोति । अतश्च --उपनीय गुरुः शिष्यं महाव्याहृतिपूर्वकम् । वेदमध्यापयेदेनं शौचाचारांश्च शिक्षयेत् ॥ इति गुरोरुपनयनानन्तरं वेदाध्यापनविधानाच्च उपनयनोत्तरकालं पुण्येऽहनि मातृपूजापूर्वकं वेदारम्भनिमित्त-माभ्युदयिकं श्राद्धमाचार्यो विधाय पञ्च भूसंस्कारपूर्वकं लौकिकाग्निं स्थापयित्वा ब्रह्म-चारिणमाहूय अग्नेः पश्चात् स्वस्योत्तरत उपवेश्य ब्रह्मोपवेशनाद्याज्यभागान्तं कृत्वा यदि ऋग्वेदमारभते तदा पृथिव्यै स्वाहा अग्नये स्वाहेति द्वे आज्याहुती हुत्वा ब्रह्मणे छन्दोभ्य इत्याद्या नवाहुतीर्हुत्वा शेषं समापयेत् । यदि यजुर्वेदं तदाऽऽज्यभागानन्तरम् अन्तरिक्षाय स्वाहा वायवे स्वाहेति विशेषः । यदि सामवेदं तदाऽऽज्यभागान्ते दिवे स्वाहा सूर्याय स्वाहेति विशेषः । यदाऽथर्ववेदं तदाऽऽज्यभागान्ते दिग्भ्यः स्वाहा

चन्द्रमसे स्वाहेति विशेषः। यद्येकदा सर्ववेदारम्भस्तदाऽऽज्यभागानन्तरं क्रमेण प्रतिवेदं वेदाहुतिद्वयं द्वयं हुत्वा ब्रह्मणे छन्दोभ्य इत्याहुतिद्वयं च हुत्वा प्रजापतय इत्याद्याः सप्त तन्त्रेण जुहुयात्। अनन्तरं महाव्याहृत्यादिस्विष्टकृदन्ता दशाहुतीर्हुत्वा प्राशनं विधाय पूर्णपात्रवरयोरन्यतरं ब्रह्मणे दत्त्वा ब्रह्मचारिणे यथाविधि वेदमध्यापयितुमारभते ॥ इति व्रतादेशप्रयोगः॥

(**गदाधरभाष्यम्**)—तेषाꣳ...नात्' । तेषां पितृपुत्रपौत्राणां त्रयाणां पतितसावित्रीकाणां मध्ये यः संस्कारेप्सुः आत्मानं संस्कारयितुकामः स व्रात्यस्तोमेन यज्ञेनेष्ट्वा व्रात्यस्तोमं कृत्वा व्यवहार्यो भवति। काममिच्छया व्रात्यस्तोमेनेष्ट्वा अधीयीरन् वेदं पठेयुः व्यवहार्याः शिष्टानामध्यापनादिकर्मसु योग्या भवन्तीति वचनाच्छ्रुतेः। अथ षण्ढमूकादीनां विशेषः प्रयोगपारिजाते—ब्राह्मण्यां ब्राह्मणाज्जातो ब्राह्मणः स इति श्रुतिः। तस्माच्च षण्ढबधिरकुब्जवामनपङ्गुषु ॥ जडगद्गदरोगार्तशुष्काङ्गविकलाङ्गिषु। मत्तोन्मत्तेषु मूकेषु शयनस्थे निरिन्द्रिये ॥ ध्वस्तपुंस्त्वेषु चैतेषु संस्काराः स्युर्यथोचितम्। मत्तोन्मत्तौ न संस्कार्याविति केचित्प्रचक्षते ॥ कर्मस्वनधिकाराच्च पातित्यं नास्ति चैतयोः। तदपत्यं च संस्कार्यमपरे त्वाहुरन्यथा ॥ संस्कारमत्र होमादीन् करोत्याचार्य एव तु। उपनेयांश्च विधिवदाचार्यः स्वसमीपतः ॥ आनीयाग्निसमीपं वा सावित्रीं स्पृश्य वा जपेत्। कन्यास्वीकरणादन्यत्सर्वं विप्रेण कारयेत्। एवमेव द्विजैर्जातौ संस्कार्यौ कुण्डगोलकाविति। स्मृत्यर्थसारेऽप्येवम्। आपस्तम्बः—शूद्राणामदुष्टकर्मणामुपनयनम्। इदं च रथकारस्योपनयनम्। तस्य च मातामहीद्वारकं शूद्रत्वम्। अदुष्टकर्मणां मद्यपानादिरहितानामिति ॥ २।५।४३ ॥

अथ पदार्थक्रमः—शुक्लपक्षे द्वितीयादिस्वाध्यायतिथिषु नानध्याये न नैमित्तिकानध्याये पूर्वाह्णे शुभमुहूर्ते शुभचन्द्रादौ गुरुशुक्रयोर्बाल्यवार्धकास्तराहित्यादौ ज्योतिर्विज्ञोक्ते शुभे काले उपनयनं कार्यम्। तत्राधिकारसिद्धये प्रायश्चित्तमाह वृद्धविष्णुः—कृच्छ्रत्रयं चोपनेता त्रीन् कृच्छ्रांश्च वटुश्चरेत्। आचार्यो द्वादशसहस्रं गायत्रीं च जपेत्तथा ॥ नान्दीश्राद्धे कृते चेत्स्यादनध्यायस्त्वकालिकः। तदोपनयनं कार्यं वेदारम्भं न कारयेत् ॥ उक्ते काले उपनिनीषुः पिता पूर्वेद्युर्बटोः परिधानार्थं शुक्लमीषद्धौतं नवं सदशं परेणाधृतं वस्त्रमुत्तरीयार्थं चाजिनं यज्ञोपवीतं मेखलामव्रणमृजुं सौम्यदर्शनं दण्डं कौपीनं भिक्षाभाजनं च सम्पाद्य स्वस्योपनेतृत्वाधिकारसिद्धये कृच्छ्रत्रयं द्वादशसहस्रं गायत्रीं च जप्त्वा कुमारेणापि कामचारकामवादकामभक्षणादिदोषापनोदनार्थं कृच्छ्रत्रयं कारयित्वा स्वस्तिवाचनाङ्कुरार्पणग्रहयज्ञनान्दीश्राद्धानि सङ्कल्पपूर्वकं कृत्वा मण्डपप्रतिष्ठां कुर्यात्। तत्र सङ्कल्पः—अस्य कुमारस्योपनयने ग्रहानुकूल्यसिद्धिद्वारा श्रीपरमेश्वरप्रीत्यर्थं ग्रहयज्ञं करिष्ये। ग्रहयज्ञं समाप्य देशकालौ स्मृत्वाऽस्य कुमारस्य द्विजत्वसिद्धिद्वारा वेदाध्ययनाधिकारार्थं श्व उपनयनं करिष्ये। तदङ्गभूतमद्य गणपतिपूर्वकं स्वस्तिवाचनपूर्वकं नान्दीश्राद्धं मण्डपप्रतिष्ठां कुलदेवतादिस्थापनं च करिष्ये। उपनयनेन सह चौलकरणपक्षे तदपि सङ्कल्पे कीर्तयेत्। तन्त्रेण च स्वस्तिवाचनग्रहयज्ञनान्दीश्राद्धादीनि कुर्यात्। अथापरेद्युः कृतनित्यक्रियः कुमारस्य वपनं कारयित्वा ब्राह्मणत्रयं भोजयित्वा कुमारं च

भोजयित्वा बहिःशालायां पञ्च भूसंस्कारपूर्वकं लौकिकाग्निं स्थापयेत् । ततो वैकल्पिकावधारणम् । तूष्णीं मेखलाबन्धनम् । दण्डः पालाशः । आसीनाय गायत्रीप्रदानम् । एषा त इति समिदाधानम् । मातृपूर्वकमपरिमिताश्च भिक्षणीयाः । न वाग्यतोऽहःशेषं तिष्ठेदिति पक्षः । तत आचार्योपनीताः पुरुषाः कृतमङ्गलस्नानं स्रङ्माल्याद्यैरलङ्कृतं बटुमाचार्यसमीपमानयन्ति । तत आचार्यो बटुमग्नेः पश्चादवस्थाप्य ब्रह्मचर्यमागामिति ब्रूहीति वदति । ब्रह्मचर्यमागामिति ब्रह्मचारी ब्रूयात् । ततो ब्रह्मचार्यसानीति ब्रूहीत्याचार्यो वदति । ब्रह्मचार्यसानीति ब्रूयात् । ततः कुमारमाचार्यो वासः परिधापयति येनेन्द्रायेति । तत आचार्यः कुमारस्य कटिदेशे इयं दुरुक्तमिति मन्त्रेण मेखलां बध्नाति । युवा सुवासा इति वा बन्धनम् । तूष्णीं वा । ततो बटुः यज्ञोपवीतमिति मन्त्रं पठित्वा दक्षिणबाहुमुद्धृत्य वामस्कन्धे यज्ञोपवीतं निवेशयति । ततो बटुर्मित्रस्य चक्षुरित्यजिनमुत्तरीयं गृह्णाति । तत आचार्यो दण्डं माणवकाय प्रयच्छति । माणवको यो मे दण्ड इति दण्डं प्रतिगृह्णाति । अथाचार्यः स्वाञ्जलिना बटोरञ्जलिमद्भिः पूरयत्यापोहिष्ठेति तिसृभिः । सूर्यमुदीक्षस्वेत्याचार्य आह । ततो बटुस्तच्चक्षुरिति सूर्यं पश्यति । तत आचार्यो माणवकस्य दक्षिणांसस्योपरि हस्तं नीत्वा हृदयमालभते मम व्रते त इति । तत आचार्यो माणवकस्य दक्षिणं हस्तं गृहीत्वाऽऽह को नामाऽसीति । अमुक अहं भो ३ इति बटुः प्रत्याह । ततो गुरुर्बटुं प्रति कस्य ब्रह्मचार्यसीति वदति । भवत इति बटुराह । तदैवाचार्य इन्द्रस्य ब्रह्मचार्यसीति मन्त्रं ब्रूयात् । तवामुकब्रह्मचारीति प्रयोगो मन्त्रान्ते । अथैनमाचार्यो रक्षायै भूतेभ्यः परिददाति प्रजापतये त्वेति । ततो बटुरग्निं प्रदक्षिणीकृत्याचार्यस्योत्तरत उपविशति । ततो गुरुर्ब्रह्मोपवेशनादिदक्षिणादानान्तं चूडाकरणवत् कर्म कृत्वा कुमारस्यानुशासनं करोति । तच्चैवं—ब्रह्मचार्यसीत्याचार्य आह भवानीति ब्रह्मचारी प्रत्याह । अपोऽशानेत्याचार्य आह—अश्नानीति ब्रह्मचारी प्रत्याह । कर्म कुर्वित्या० करवाणीति ब्र० । मा दिवा सुषुप्था इत्या० । न स्वपानीति ब्र० । वाचं यच्छेत्या० यच्छानीति ब्र० । समिधमाधेहीत्या० आदधानीति ब्र० । अपोऽशानेत्या० अश्नानीति ब्र० । अथाचार्यो ब्रह्मचारिणेऽग्नेरुत्तरतः प्रत्यङ्मुखोपविष्टायोपसन्नाय समीक्षमाणाय समीक्षिताय सावित्रीं ब्रूयात् । तत्रैवम्—प्रणवव्याहृतिपूर्वकं प्रथममेकैकं पादम् । तथा द्वितीयमर्द्धर्चशस्तथैव तृतीयं सर्वां स्वयं च बटुना सह पठेत् । दक्षिणत आसीनाय वा सावित्रीप्रदानम् । ततो ब्रह्मचारी समिदाधानं करोति । तत्र पूर्वमग्नेः सन्धुक्षणं पञ्चमन्त्रैरिन्धनप्रक्षेपणम् । अग्ने सुश्रव इति प्रथमम् । यथा त्वमग्ने इति द्वितीयम् । एवं माऽ६ समिति तृतीयम् । यथा त्वमग्ने देवानामिति चतुर्थम् । एवमहं मनुष्याणामिति पञ्चमम् । प्रदक्षिणमग्निमुदकेन पर्युक्ष्योत्थाय समिधमग्नये समिधमित्यग्नौ प्रक्षिपति । एवं द्वितीयाम् । तथैव तृतीयाम् । एषा त इति वा मन्त्रेण समिधामाधानम् । अथवा द्वाभ्यामपि समिधामाधानम् । पुनः पञ्चभिर्मन्त्रैरग्नेः सन्धुक्षणं पूर्ववत् । अग्नेः पर्युक्षणम् । ततस्तूष्णीं पाणी प्रतप्य तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाहि इति मुखं विमार्ष्टि । ततो द्वितीयवारं पाणी प्रतप्य आयुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहीति मुखं विमार्ष्टि । एवं तूष्णीं पाणी प्रतप्य वर्चोदा अग्नेऽसि वर्चो मे देहि । अग्ने यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आपृण । मेधां

मे देवः सविता आदधातु । मेधां मे देवी सरस्वती आदधातु । मेधामश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ । अथाचारतोऽनुष्ठेयाः पदार्थाः । अङ्गानि च म आप्यायन्तामिति शिरः-प्रभृति पादान्तं सर्वाङ्गान्यालभते । वाक् च म आप्यायतामिति मुखालम्भनम् । प्राणश्च म आप्यायतामिति नासिकयोरालम्भनम् । चक्षुश्च म आप्यायतामिति नेत्रयोरा-लम्भनम् । श्रोत्रं च म आप्यायतामिति दक्षिणकर्णमालभ्यानेनैव मन्त्रेण वामालम्भनम् । यशोबलं च म आप्यायतामिति जपः । ततो भस्मना ललाटे तिलकं त्र्यायुषं जमदग्ने-रिति । कश्यपस्य त्र्यायुषमिति ग्रीवायाम् । यद्देवेषु त्र्यायुषमिति दक्षिणेंऽसे । तन्नो अस्तु त्र्यायुषमिति हृदि । ततोऽभिवादनम् । तत्रैवं प्रयोगः—माण्डव्यसगोत्रः भार्गवच्या-वनआप्नवानौर्वजामदग्न्येति पञ्चप्रवरोऽभिवादयेऽमुकनामाऽहमस्मि ३ ॥ कारिका-याम्—पद्माकारौ करौ कृत्वा पादोपग्रहणं गुरोः । उत्तानाभ्यां तु पाणिभ्यामिति पैठीन-सेर्वचः ॥ आयुष्मान् भव सौम्य विष्णुशर्म३न् इत्याचार्यस्य प्रत्यभिवादनम् । ततो वृद्धा-भिवादनम् । अथ भिक्षाचर्यचरणम् । तत्र ब्रह्मचारी पात्रं गृहीत्वा भवति भिक्षां देहीत्येवं भिक्षां याचेत । तिस्रोऽप्रत्याख्यायिन्यः षट् द्वादशापरिमिता वा । ततो भिक्षामाचार्याय निवेदयेत् । अत्र मध्याह्नसन्ध्यां कुर्यादिति प्रयोगपारिजाते । नेति कृष्णभट्टीकारः । ततो भैक्ष्यं भुङ्क्ष्वेति गुरुणाऽनुज्ञातो भोजनं कुर्यात् । इतः प्रभृति सूर्यास्तमयं यावद्वाग्यतो वा भवेत् । ततः सायं सन्ध्यावन्दनपूर्वकमग्निपरिचरणं पाणिनाग्निं परिसमूहतीत्याद्यभि-वादनान्तं पूर्ववत् । उपनयनाग्निस्त्रिरात्रं धार्यः । त्र्यहमेतमग्निं धारयतीत्यापस्तम्बोक्तेः । यावद्धुतमग्निरक्षणमिति गर्गपद्धतौ । इत्युपनयने पदार्थक्रमः ॥

एष प्रयोगः स्वस्वकाले कृतपूर्वसंस्कारस्य । असंस्कृतस्य तु विशेष उच्यते । आचार्य उपनयनात्पूर्वाह्णे बटुना सह मङ्गलस्नातः प्राणानायम्य तिथ्यादि सङ्कीर्त्य मम कुमारस्य गर्भाधानपुंसवनसीमन्तजातकर्मनामकरणनिष्क्रमणान्नप्राशनचौलकर्मान्तानां संस्काराणां कालातिपत्तिदोषनिवृत्तिद्वारा परमेश्वरप्रीत्यर्थं प्रायश्चित्तहोमं करिष्य इति सङ्कल्प्य पञ्चभूसंस्कारपूर्वकमग्निं लौकिकं स्थापयित्वा स्थाल्यामाज्यं निरूप्याग्नावधिश्रित्य स्रुवं दर्भैः सम्मृज्याज्यमुद्वास्य कुशतृणाभ्यामुत्पूयावेक्ष्य स्रुवेणादाय समित्प्रक्षेपं कृत्वा नवाहुती-र्जुहोति । भूः स्वाहा १ भुवः० २ स्वः० ३ भूर्भुवःस्वः० ४ त्वन्नो अग्ने० ५ सत्वन्नो अग्ने० ६ अयाश्चाग्ने० ७ ये ते शतं० ८ उदुत्तमं० ९ इति नवाहुतिहोमात्मकं प्रायश्चित्तं कृत्वा चौलातिरिक्तसंस्काराणां प्रमादादकरणे प्रत्येकं पादकृच्छ्रं चौलाकरणेऽर्द्धकृच्छ्रं बुद्धिपूर्वं चौलातिरिक्ताकरणे प्रत्येकमर्द्धकृच्छ्रं चौलाकरणे कृच्छ्रं बटुना कारयेत् । अशक्तौ तत्प्रत्याम्नायत्वेन गोदानतिलाहुतिसहस्रदशसहस्रगायत्रीजपद्वादशविप्रभुक्त्यादि-ष्वेकं प्रायश्चित्तं कारयित्वाऽतीतजातकर्मादीनि कृत्वा पूर्वोक्तोपनयनतन्त्रं सर्वमाचरेत् । उपनीत्या सह चौलकरणे पूर्वेद्युः संस्कारद्वयं सङ्कीर्त्य युगपत्स्वस्तिवाचनग्रहयज्ञनान्दी-श्राद्धानि कृत्वा परेद्युर्मङ्गलस्नानविप्रत्रयभुक्त्यादिवरदानान्तं पूर्वोक्तं चौलप्रयोगं सर्वं कृत्वा पुनस्तिथ्याद्युल्लिख्य कुमारस्य वपनाद्युपनयनं सर्वं कार्यम् । अत्र शौनकः—आरभ्याधानमाचौलात्कालेऽतीते तु कर्मणाम् । व्याहृत्याज्यं सुसंस्कृत्य हुत्वा कर्म यथा-क्रमम् ॥ एतेष्वेकैकलोपे तु पादकृच्छ्रं समाचरेत् । चूडाया अर्द्धकृच्छ्रं स्यादापदीत्येव-

मीरितम् ।। अनापदि तु सर्वत्र द्विगुणं द्विगुणं चरेत् । कात्यायनः—लुप्ते कर्मणि सर्वत्र प्रायश्चित्तं विधीयते । प्रायश्चित्ते कृते पश्चाल्लुप्तं कर्म समाचरेत् ।। स्मृत्यर्थसारे चैवम् । आश्वलायनकारिकायां तु—प्रायश्चित्ते कृतेऽतीतं कर्म कृताकृतमित्युक्तम् । प्रायश्चित्ते कृते पश्चादतीतमपि कर्म वै । कार्यमित्येक आचार्या नेत्यन्ये तु विपश्चितः ।। इति । मण्डनस्तु—कालातीतेषु सर्वेषु प्राप्तवत्स्वपरेषु च । कालातीतानि कृत्वैव विदध्यादुत्तराणि तु ।। इत्युक्तवान् । तत्र सर्वेषां तन्त्रेण नान्दीश्राद्धं कुर्यात् देशकालकर्त्रैक्यात् ।

अथ ब्रह्मचारिधर्माः—अधःशयनमक्षारालवणाशनं दण्डधारणमरण्यात्स्वयंप्रशीर्णानां समिधामाहुतिः कालत्रये सन्ध्योपासनं परिसमूहनादि यथोक्तमग्निपरिचरणं सायम्प्रातः सन्ध्योपास्तेरूर्ध्वं गुरुशुश्रूषया स्थातव्यं, भोजनार्थं वारद्वयं सायं प्रातश्च भिक्षाचरणं, भैक्षाशनं लौहे मृन्मये पर्णादौ वा कार्यम् । मधुमांसयोरभक्षणमुन्मज्जनं न कार्यमुद्धृतोदकेन स्नानमासनस्योपरि मसूरिकां स्थापयित्वा नोपविशेत्, स्त्रीणां मध्ये नावस्थानं, नानृतवदनं नादत्तादानम् । अन्येऽपि स्मृत्यन्तरोक्ता नियमाः । याज्ञवल्क्यः—मधुमांसाञ्जनोच्छिष्टं शुक्लस्त्रीप्राणिहिंसनम् । भास्करालोकनाश्लीलपरिवादादि वर्जयेत् ।। शुक्लं परुषं वचः पर्युषितान्नं च । मनुः—अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम् । वर्जयेदिति प्रकृतम् । पारिजाते कौर्मे—नादर्शं चैव वीक्षेत नाचरेद्दन्तधावनम् । गुरूच्छिष्टं भेषजार्थं प्रयुञ्जीत न कामतः ।। एतन्निषिद्धमध्वादिविषयम् । अन्यस्य गुरूच्छिष्टस्य सर्वदा प्राप्तेः । वसिष्ठः—स चेद्व्याधीयीत कामं गुरोरुच्छिष्टशेषमौषधार्थं सर्वं प्राश्नीयादिति । ज्येष्ठभ्रातुरित्यपि ज्ञेयम् । तथाऽऽपस्तम्बः—पितुर्ज्येष्ठस्य च भ्रातुरुच्छिष्टं भोज्यमिति । स्मृत्यन्तरे—गुरुवद् गुरुपुत्रः स्यादन्यत्रोच्छिष्टभोजनात् । प्रचेताः–ताम्बूलाभ्यञ्जनं चैव कांस्यपात्रे च भोजनम् । यतिश्च ब्रह्मचारी च विधवा च विवर्जयेत् ।। यमः—मेखलामजिनं दण्डमुपवीतं च नित्यशः । कौपीनं कटिसूत्रं च ब्रह्मचारी तु धारयेत् ।।

अथ ब्रह्मचारिव्रतलोपे प्रायश्चित्तम् । तत्र बौधायनः—अत्र शौचाचमनसन्ध्यावन्दनदर्भभिक्षाऽग्निकार्यराहित्यशूद्रादिस्पर्शनकौपीनकटिसूत्रयज्ञोपवीतमेखलादण्डाजिनत्यागदिवास्वापच्छत्रधारणपादुकाध्यारोहणमालाधारणोद्वर्तनानुलेपनाञ्जनजलक्रीडाद्यूतनृत्यगीतवाद्याद्यभिरतिपाखण्डादिसम्भाषणपर्युषितभोजनादिब्रह्मचारिव्रतलोपजसकलदोषपरिहारार्थं ब्रह्मचारी कृच्छ्रत्रयं चरेन्महाव्याहृतिहोमं च कुर्यात् । तद्यथा—लौकिकाग्निं प्रतिष्ठाप्य ब्रह्मवरणाद्याज्यभागान्तं कृत्वा प्रथमं व्यस्तसमस्तव्याहृतिभिश्चतस्र आज्याहुतीर्हुत्वा ४ भूरग्नये च पृथिव्यै च महते च स्वाहा ५ भुवो वायवे चान्तरिक्षाय च महते च स्वा० ६ सुवरादित्याय च दिवे च महते च स्वा० ७ भूर्भुवः सुवश्चन्द्रमसे च नक्षत्रेभ्यश्च दिग्भ्यश्च महते च स्वा० ८ पाहि नो अग्न एनसे स्वा० ९ पाहि नो अग्ने विश्ववेदसे स्वा० १० यज्ञं पाहि विभावसो स्वा० ११ सर्वं पाहि शतक्रतो स्वा० १२ पुनरूर्जानिवर्तस्व पुनरग्न इषायुषा । पुनर्नः पाह्यंहसः स्वाहा १३ सहरय्जानिवर्तस्वाग्ने पिन्वस्व धारया । विश्वप्स्न्याविश्वतस्परि स्वाहा १४ पुनर्व्याहृतिभिर्हुत्वा स्विष्टकृदादिवरदानान्तं शेषं समापयेदिति ।। एतदल्पधर्मलोपे प्रायश्चित्तम् । बहुधर्म-

लोपे तु प्रायश्चित्तविशेष ऋग्विधाने शौनकेनोक्तः—तं बोधिया जपेन्मन्त्रं लक्षं चैव शिवालये। ब्रह्मचारी स्वधर्मं च न्यूनं चेत्पूर्णमेव तत्॥ इति। महानाम्न्यादिव्रतेषु लुप्तेषु तारतम्येन त्रीन् षट् द्वादश वा कृच्छ्रान् कृत्वा पुनर्व्रतं प्रारभेतेति स्मृत्यर्थसारे। तथा सन्ध्याग्निकार्यलोपे स्नात्वाऽष्टसहस्रं जपः। भिक्षालोपेऽष्टशतम्। अभ्यासे द्विगुणं पुनः संस्कारश्चेत्युक्तम्। इति ब्रह्मचारिव्रतलोपे प्रायश्चित्तम्॥

अथ पुनरुपनयनम्। तत्र मनुः—अज्ञानात्प्राश्य विण्मूत्रं सुरासंसृष्टमेव च। पुनः संस्कारमर्हन्ति त्रयो वर्णा द्विजातयः॥ चन्द्रिकायां बौधायनः—सिन्धुसौवीरसौराष्ट्रान् तथा प्रत्यन्तवासिनः। अङ्गवङ्गकलिङ्गांश्च गत्वा संस्कारमर्हति॥ हेमाद्रौ पाद्मे—प्रेतशय्याप्रतिग्राही पुनः संस्कारमर्हति। वृद्धमनुः—जीवन् यदि समागच्छेद् घृतकुम्भे निमज्ज्य च। उद्धृत्य स्थापयित्वाऽस्य जातकर्मादि कारयेत्॥ इति। मिताक्षरायां पराशरः—यः प्रत्यवसितो विप्रः प्रव्रज्यातो विनिर्गतः। अनाशकनिवृत्तश्च गार्हस्थ्यं चेच्चिकीर्षति॥ स चरेत् त्रीणि कृच्छ्राणि त्रीणि चान्द्रायणानि च। जातकर्मादिभिः सर्वैः संस्कृतः शुद्धिमाप्नुयात्॥ शातातपः—लशुनं गृञ्जनं जग्ध्वा पलाण्डुं च तथा शुनम्। उष्ट्रमानुषकेभाश्वरासभीक्षीरभोजनात्॥ उपायनं पुनः कुर्यात्तप्तकृच्छ्रं चरेन्मुहुः। अपरार्कादिसर्वग्रन्थेषु पित्रादिव्यतिरेकेण ब्रह्मचारिणः प्रेतकर्मकरणे पुनरुपनयनमित्युक्तम्। त्रिस्थलीसेतौ—कर्मनाशाजलस्पर्शात्करतोयाविलङ्घनात्। गण्डकीबाहुतरणात्पुनः संस्कारमर्हति॥ पराशरः—अजिनं मेखला दण्डो भैक्ष्यचर्या व्रतानि च। निवर्तन्ते द्विजातीनां पुनः संस्कारकर्मणि॥ य एकं वेदमधीत्यान्यवेदमध्येतुमिच्छति तस्य पुनरुपनयनमिति हरदत्तः। नेत्यन्ये। सर्वेभ्यो वै वेदेभ्यः सावित्र्यनूच्यत इत्यापस्तम्बवचनात्। यमः—पुराकल्पेषु नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते। अध्यापनं च वेदानां सावित्रीवाचनं तथा॥ इदं च युगान्तरविषयम्। इति पुनरुपनयनम्॥ त्रुटितानां मेखलादीनां प्रतिपत्तिमाह मनुः—मेखलामजिनं दण्डमुपवीतं कमण्डलुम्। अप्सु प्रास्य विनष्टानि गृहीत्वाऽन्यानि मन्त्रवत्॥

अथ गर्गमते पदार्थक्रमः—श्राद्धम्। वपनम्। विप्रभोजनम्। बटोरपि। अग्निस्थापनम्। अलङ्कृतस्यानयनम्। पश्चादग्नेरवस्थापनम्। ततो ब्रह्मासनादिबर्हिस्तरणान्तं कर्म। ततो ब्रह्मचर्यमागामिति वाचनम्। ब्रह्मचार्यसानीति च। वासः परिधापयति। मेखलाबन्धनम्। बटोर्मन्त्रपाठः। मन्त्रेण यज्ञोपवीतपरिधानम्। तत आचमनम्। उत्तरीयधारणं मन्त्रेण। दण्डप्रतिग्रहः। दीक्षाबद्धा। अञ्जलिनाऽञ्जलिपूरणमद्भिः। प्रैषपूर्वकं सूर्यविक्षणम्। हृदयालम्भनम्। दक्षिणहस्तग्रहणादि भूतेभ्यः परिदानान्तम्। ततो हस्तविसर्गः। ततः प्रदक्षिणं परिक्रम्योपवेशनम्। तत आचार्यस्योपयमनादानादिपर्युक्षणान्तम्। आचार्यस्यान्वारम्भो माणवककर्तृकः। तत आघाराद्याश्चतुर्दशाहुतयः। संस्रवप्राशनादिदक्षिणादानान्तम्। ततो ब्रह्मचारिशासनं ब्रह्मचार्यसीत्यादि पूर्ववत्। ततो वर्हिर्होमादिब्राह्मणभोजनान्तम्॥

अथ सावित्रव्रतादेशः। तत्रोपलेपनादिवर्हिस्तरणान्तम्। ततः कुमार उत्थाय हस्ते-

नोदकं गृहीत्वाऽग्निमभिमुखो भूत्वाऽग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि सावित्रं सद्यःकालं तच्छकेयं तन्मे राध्यतामिति व्रतग्रहणं करोति। ततो ब्रह्मचारिण उपवेशनम्। ब्रह्मचारिण आचार्यस्यान्वारम्भः सर्वाहुतिषु। तत उपयमनादानादि आज्यभागान्तम्। ततो वेदाहुतयः षोडश। प्रतिवेदं चतस्रश्चतस्रः। एवं षोडश। ततः प्रजापतये देवेभ्य इत्याद्याः सप्त। ततो महाव्याहृत्यादिस्विष्टकृदन्ता दश। आज्यभागाद्या एताः सप्तत्रिंशदाहुतयो व्रतानामादेशे विसर्गे च होतव्याः। ततः संस्रवप्राशनादि ब्रह्मणे दक्षिणादानान्तम्। तत अथास्मै सावित्रीमन्वाहेत्यादि यथोक्तं सावित्रीप्रदानम्। ततो माणवकस्य तत्सवितुरित्यनेन मन्त्रेण सन्ध्योपासनम्। सन्ध्योपासनान्ते तत्सवितुरित्यनेनैवाग्निपरिचरणम्। तदन्ते गोत्रनामग्रहणपूर्वकं सर्वेषामभिवादनम्। ततो भिक्षाचर्यंचरणम्। भिक्षानिवेदनम्—भिक्षां भो इत्येवम्। आचार्यस्तु भिक्षां भो इत्येवं भिक्षां स्वीकुर्यात्। ततो ब्रह्मचारी शुचिर्भूत्वा स्वासने उपविशति। ततो बर्हिर्होमादिविप्रभुक्त्यन्तम्। अथानन्तरं सावित्रव्रतवत् सन्ध्योपासनाग्निपरिचरणम्। तत उपलेपनादिर्बर्हिस्तरणान्तम्। तत उत्थाय हस्तेनोदकं गृहीत्वाऽग्निमभिमुखो भूत्वाऽग्ने व्रतपते व्रतमचारिषं सावित्रं सद्यःफलं तदशकं तन्मे राधीति मन्त्रेण सावित्रव्रतोत्सर्गं करोति। उपयमनकुशादानादिपर्युक्षणान्तम्। अन्वारम्भः। आघारावाज्यभागौ। वेदाहुतयः षोडश। प्रजापतय इत्याद्याः सप्त। महाव्याहृत्यादिस्विष्टकृदन्ता दश। एवं सप्तत्रिंशदाहुतयः। प्राशनादिविप्रभुक्त्यन्तं पूर्ववत्। सावित्रव्रतादेशे ब्रह्मणे दक्षिणादानान्ते सावित्र्या सन्ध्यावन्दनमग्निपरिचरणं च यत्कृतं व्रतोत्सर्गे तदभावः। ततः अप्स्वन्तरिति दण्डस्याप्सु प्रक्षेपः। वातो वा इति मेखलाया अ०। वातरꣳहा भवेति यज्ञोपवीतस्या०। नमो वरुणायेति कुमारस्य दधिघृतशर्कराणां प्रत्येकं प्राशनम्। इति सावित्रव्रतोत्सर्गः॥

अथाग्नेयव्रतम्। तत्रोपलेपनादिर्बर्हिस्तरणान्तम्। ततो ब्रह्मचारिणो मेखलाबन्धनम्। यज्ञोपवीतधारणम्। दण्डसमर्पणं ग्रहणं च। मेखलादिषु पूर्वोक्ता एव मन्त्राः। व्रतग्रहणं पूर्ववत्। अग्ने व्रतपत इति। आग्नेयं सांवत्सरिकं तच्छ० राद्धचतामिति। आग्नेयं यथाकालं तच्छके०ध्यतामितीदानीं प्रयोगं कुर्वन्ति। ततः स्वस्थाने उपवेशनम्। आचार्यान्वारम्भः। उपयमनादानादिपर्युक्षणान्तम्। आघाराद्याः स्विष्टकृदन्ताः सप्तत्रिंशदाहुतयोऽत्रापि होतव्याः। ततः प्राशनादिब्राह्मणभोजनान्तम्। ततः स्मृत्युक्तं माध्याह्निकं सन्ध्योपासनम्। ततोऽग्नेः पश्चादुपविश्य पाणिनाऽग्निं परिसमूहतीत्यादित्र्यायुषकरणान्तं यथोक्तम्। तत्र विशेषः। गात्रालम्भने कर्कमतेऽध्याहारः। अङ्गानि च म आप्यायन्तामिति गर्गपद्धतौ। त्र्यायुषकरणान्ते शिवो नामेति जपः। यदि बटुर्मेधाकामः स्यात्तदा सदसस्पतिमिति त्र्यृचेन मेधां याचते। श्रीकामश्चेदिमं मे इति श्रियं या०। ततो मेखलास्थानप्रवरान्प्रदक्षिणोपचारेण स्पृष्ट्वाऽमुकसगोत्रोऽमुकशर्माऽहं भो वैश्वानर अभिवादयामि। एवं वरुणाचार्यवृद्धानाम्। भिक्षाचर्यंच० गुरवे नि०। अनुज्ञातस्तां स्वीकृत्य मातृहस्ते समर्पयति। बर्हिर्होमादिविप्रभुक्त्यन्तम्। इत्युपनयने पदार्थाः। ततः सन्ध्याकालेऽञ्जलिप्रक्षेपान्ते सूर्योपस्थानं वारुणीभिर्ऋग्भिरिमम्मेत्यादिभिः। मित्रः स९सृज्येत्यादिभिः प्रातः। उद्वयमित्यादिभिर्मध्याह्ने। ततो दण्डं गृहीत्वाऽग्निपरि-

चरणम् । मध्याह्ने सायाह्ने च सन्ध्योपासनान्ते प्रत्यहमग्निपरिच० । एके प्रातरप्यग्निपरिचरणमिच्छन्ति । ततो वाग्विसर्गः । पूर्वोक्ता एव ब्रह्मचारिधर्मा ज्ञेयाः । सन्ध्योपासनादीनि स्वस्वकाले कार्याणि तेषां कालातिक्रमे कर्मणां भ्रेषे प्रायश्चित्तमुच्यते । परिसमूहनादि कृत्वाऽन्वग्निरिति मन्त्रेणाग्नेराहरणम् । पृष्ठोदिवीति स्थापनम् । तॐसवितुस्तत्सवितुर्विश्वानि देवेत्यादिभिः सावित्रमन्त्रैस्त्रिभिः प्रज्वालनम् । नात्र ब्रह्मोपवेशनादि । पूर्णाहुतिवदाज्यं संस्कृत्यानादिष्टं कार्यम् । अथाग्नेयव्रतस्थितो ब्रह्मचारी समिधाऽग्नि दुवस्यतेत्येवमाद्याग्नेयवेदविभागं संवत्सरपर्यन्तं पठित्वा व्रतमुत्सृजति । संवत्सरे पूर्णे आग्नेयव्रतविसर्गः । तत्र परिसमूहनादिविप्रभुक्त्यन्तमाग्नेयव्रतादेशवत् भवति । एतावान्विशेषः । यस्मिन्काले आग्नेयव्रतग्रहणं कृतं तस्मिन्सन्ध्यावन्दनम् । अग्निपरिच० । आग्नेयव्रतविसर्गः । अग्ने व्रतपते व्रतमचारिषं सांवत्सरिकं तदशकं तन्मे राधीति मन्त्रेण । ततोऽनन्तरमामभिक्षानिवृत्तिः । दण्डादीनामप्सु प्रक्षेपः । व्रतादौ ग्रहणं तेषाम् । इत्याग्नेयव्रतविसर्गः ॥

अथ शुक्रियव्रतादेशः । तत्रोपलेपनादि बर्हिस्तरणान्तं कृत्वा मेखलायज्ञोपवीतदण्डानां धारणपूर्वकं व्रतग्रहणम् । अग्ने० मि शुक्रियं सांवत्सरिकं तच्छकेयमिति विशेषः । तत उपयमनादिविप्रभुक्त्यन्तमाग्नेयव्रतादेशवत् । शुक्रियवेदव्रतस्थित ऋचं वाचमित्यादि शुक्रियवेदविभागं पठति संवत्सरं यावत् । उत्तमेऽहनि अपराह्णकालान्ते निशामुखे त्रिगुणेन पटेन एकस्यां दिशि वद्धेन नाभिमात्रं यावन्माणवकस्य प्रच्छादनम् मूर्धानमारभ्य ग्रन्थेः शिरस उपरिकरणम् । ततः सावित्र्या वेदशिरसा हिरण्मयेन पात्रेणेति मन्त्रैरवगुण्ठनम् । एवं प्रच्छादितो ब्रह्मचारी सूर्योदयं यावत्तिष्ठति । रात्रौ ग्रामे वा गोष्ठे वा देवायतने वाऽधः शयनम् । रात्रौ गृहे यदि स्थितिस्तदा व्युष्टायां रात्रौ ग्रामाद् बहिर्गमनम् । ततोऽवगुण्ठनीयविसर्गः । ततोऽदृश्रमस्य, उदुत्यम्, चित्रं देवानामुदितेऽर्के जपः । ततो व्रतस्थाने माणवकमानीय शुक्रियव्रतस्य विसर्गः । तत्र परिसमूहनादिबर्हिस्तरणान्तम् । ततः प्राकृतं सन्ध्योपासनम् । अग्निस्वीकरणम् । ततोऽग्नेव्रत० मचारिषं शुक्रियं सांवत्सरिकं तदशकं तन्मे राधीति मन्त्रेणोत्सर्गः । उपयमनादानादिब्राह्मणभोजनान्तम् । ततस्ताम्रपात्रे उदकप्रक्षेपः । द्यौः शान्तिरिति शान्तिकरणम् । शान्तिपात्रमवगुण्ठनीयवस्त्रं च गुरवे दद्यात् । ततोऽप्स्वन्तरमृतमित्यादिभिः पूर्ववत्प्रत्यृचं दण्डमेखलायज्ञोपवीतानामप्सु प्रक्षेपः । दधिघृतशर्कराणां नमोवरुणायेति प्रतिमन्त्रं प्राशनम् । ततो वपनम् । व्रतग्रहणस्यादौ सर्वत्र शुक्रियादिषु मेखलायज्ञोपवीतदण्डानां धारणम् ॥

अथौपनिषद्व्रतम् । उपलेपनादिर्बर्हिस्तरणान्तम् । ततोऽग्ने व्रत० औपनिषदं सांवत्सरिकं तच्छके० राध्यतामिति व्रतग्रहणम् । तत उपयमनादानादि विप्रभुक्त्यन्तम् । औपनिषदे व्रते स्थितो द्वयाह प्राजापत्या इत्याद्यौपनिषदवेदविभागं संवत्सरं यावत्पठति । तत उत्तमेऽहनि निशामुखे अवगुण्ठनीयवस्त्रेणाच्छादनादि । उदिते अदृश्रमस्य । उदुत्तमम् । चित्रं देवानामिति जपान्तं शुक्रियवत् । ततो व्रतस्थाने माणवकमानीय व्रतविसर्गः । तत्र परिसमूहनादि बर्हिस्तरणान्तं कृत्वा पूर्ववत्सन्ध्योपासनमग्निपरिचरणं च । ततोऽग्ने० व्रतमचारिषमौपनिषदं सांवत्सरिकं तद० तन्मे राधीति व्रतविसर्गः ।

तत उपयमनादानादिविप्रभुक्त्यन्तम् । ताम्रे उदकप्रक्षेपः । द्यौः शान्तिरिति शान्तिकरणम् । भाजनवस्त्रयोराचार्याय दानम् । दण्डादीनामप्सु प्रासनम् । दध्यादीनां प्राशनम् । इत्यौपनिषदं व्रतम् ॥

अथ शौलभव्रतादेशः । तत्र परिसमूहनादिविप्रभुक्त्यन्तमौपनिषदव्रतादेशवत् । व्रतग्रहणे शौलभं सांवत्सरिकमिति प्रयोगः । शौलभिनीनामृचां पाठो व्रते स्थितस्य । अत्राप्युत्तमेऽहनि निशामुखे पटेन प्रच्छादनादि उदिते जपान्तं पूर्ववत् । ततो व्रतस्थाने माणवकमानीय व्रतविसर्गः । तत्रैवं परिसमूहनादि बर्हिस्तरणान्तम् । ततः सन्ध्योपासनादि । ततो व्रतविसर्थः । अग्ने० रिषं शौलभं सांवत्सरिकं तद०धीति मन्त्रः । तत उपयमनादानादिब्राह्मणभोजनान्तम् । तत उदकं पात्रे कृत्वा द्यौः शान्तिरिति शान्तिकरणम् । पात्रवस्त्रयोर्गुरवे दानम् । दण्डादीनामप्सु प्रक्षेपः । दधिमधुशर्कराणां नमो वरुणायेति प्रत्यृचं प्राशनम् । ततो वपनम् । इति शौलभम् ॥

अथ गोदानव्रतादेशः । तत्र परिसमूहनादिविप्रभुक्त्यन्तम् । व्रतग्रहणस्यादौ मेखलायज्ञोपवीतदण्डानां धारणम् । गोदानं सांवत्सरिकमिति मन्त्रे विशेषः । अस्मिन्व्रते अवगुण्ठन्यादीनामभावः । त्रिष्ववगुण्ठनध्शुक्रियादिष्विति सूत्रणात् । ततः संवत्सरे पूर्णे गोदानव्रतविसर्गः । तत्र परिसमूहनादि बर्हिस्तरणान्तम् । ततः सन्ध्योपासनादि । अग्ने०रिपं गोदानं सांवत्सरिकं त०धीति मन्त्रेणोत्सर्गः । उपयमनादि विप्रभुक्त्यन्तं पूर्ववत् । अत्रास्मिन्विसर्गे दण्डमेखलायज्ञोपवीतानामप्सु प्रक्षेपाभावः । आचार्याय गोमिथुनदानम् । समाप्तानि व्रतानि । इति गर्गमते उपनयने पदार्थक्रमो व्रतानि च । इमानि च व्रतानि प्रक्षिप्तसूत्रे पठितानि कर्कमतानुसारिभिरप्यनुष्ठेयानि स्मृत्यन्तरे केषाञ्चित् चत्वारिंशत्संस्कारेषु पाठात् । इति उपनयने पदार्थक्रमः ।

अथ वेदारम्भे पदार्थक्रमः । तत्र स्मृतौ—उपनीय गुरुः शिष्यं महाव्याहृतिपूर्वकम् । वेदमध्यापयेदेनं शौचाचारांश्च शिक्षयेत् ॥ कारिकायाम्—अप्रसुप्ते हरौ स स्यान्नानध्याये शुभेऽहनि । नास्तङ्गते जीवसिते बाले वृद्धे मलिम्लुचे ॥ षष्ठीं रिक्तां शनिं सोमं भौमं हित्वोत्तरोडुषु । मृगादिपञ्चधिष्ण्येषु मूलाश्विन्योः करत्रये ॥ पूर्वासु तिसृषूपेन्द्रभत्रये केन्द्रगैः शुभैः ॥ तत्र मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकं श्राद्धम् । देशकालौ स्मृत्वा यजुर्वेदव्रतादेशं करिष्य इति सङ्कल्पः । ततः पञ्च भूसंस्कारपूर्वकं लौकिकाग्निस्थापनम् । ब्रह्मोपवेशनाद्याज्यभागान्तम् । ततः स्थाल्याज्येनैव जुहोति । अन्तरिक्षाय स्वाहा १ वायवे० २ ब्रह्मणे० ३ छन्दोभ्यः० ४ प्रजापतये० ५ देवेभ्यः० ६ ऋषिभ्यः० ७ श्रद्धायै० ८ मेधायै० ९ सदसस्पतये० १० अनुमतये० ११ ततो भूराद्याः स्विष्टकृदन्ताः । ततः प्राशनादिदक्षिणादानान्तम् । ततो विघ्नेशं सरस्वतीं हरिं लक्ष्मीं स्वविद्यां च पूजयेत् । यदि ऋग्वेदारम्भस्तदाऽऽज्यभागान्ते पृथिव्यै स्वाहा अग्नये स्वाहेति च हुत्वा ब्रह्मणे स्वाहेत्यादि समानम् । यदि सामवेदारम्भस्तदाऽऽज्यभागान्ते दिवे स्वा० सूर्याय स्वाहेति हुत्वा ब्रह्मणे स्वाहेत्यादि पूर्ववत् । यद्यथर्ववेदारम्भस्तदाऽऽज्यभागान्ते दिग्भ्यः स्वा० चन्द्रमसे स्वाहेति हुत्वा ब्रह्मणे स्वाहेत्यादि यथोक्तम् । यद्येकदा सर्ववेदारम्भस्तदैवम् । आज्यभागान्ते वेदारम्भक्रमेण प्रतिवेदं वेदाहुतिद्वयं द्वयं हुत्वा ब्रह्मणे छन्दोभ्य इत्याहुति-

द्वयं हुत्वा प्रजापतय इत्याद्याः सप्त तन्त्रेण जुहुयात् । ततो महाव्याहृत्यादि समानम् । कारिकायाम्—तत्र प्रत्यङ्मुखायोपविष्टायाननमीक्षते । वेदारम्भमनुब्रूयाद्यथाशास्त्रमतन्द्रितः ।। मनुः—ब्रह्मारम्भेऽवसाने च पादौ ग्राह्यौ गुरोः सदा । व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसङ्ग्रहणं गुरोः ।। सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यो दक्षिणेन तु दक्षिणः । ब्राह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा ।। प्राञ्जलिः पर्युपासीत पवित्रैश्चैव पावितः । प्राणायामैस्त्रिभिः पूतस्तत ॐकारमर्हति ।। ॐकारं व्याहृतीस्तिस्रः सपूर्वां त्रिपदान्ततः । उक्त्वाऽऽरभेच्च वृत्तान्तमन्वहं गौतमोऽब्रवीत् ।। त्रिपदां गायत्रीम् । मनुः—अध्येष्यमाणश्च गुरुर्नित्यकालमतन्द्रितः । अधीष्व भो इति ब्रूयाद्विरामोऽस्त्विति चारमेत् ।। दक्षः—द्वितीये तु तथा भागे वेदाभ्यासो विधीयते । वेदस्वीकरणं पूर्वं विचारोऽभ्यसनं जपः ।। तद्दानं चैव शिष्येभ्यो वेदाभ्यासो हि पञ्चधा ।। याज्ञवल्क्यः—हस्तौ सुसंयतौ धार्यौ जानुभ्यामुपरि स्थितौ । तथा—हस्तहीनं तु योऽधीते स्वरवर्णविवर्जितम् । ऋग्यजुःसामभिर्दग्धो वियोनिमधिगच्छति ।। पराशरः—ज्ञातव्यः सर्वदैवार्थो वेदानां कर्मसिद्धये । पाठमात्रमधीति च पङ्के गौरिव सीदति ।। व्यासः—वेदस्याध्ययनं पूर्वं धर्मशास्त्रस्य चैव हि । अजानतोऽर्थं तद्व्यर्थं तुषाणां कण्डनं यथा ।। मनुः—योऽनधीत्य द्विजो वेदानन्यत्र कुरुते श्रमम् । स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ।। यमः—य इमां पृथिवीं सर्वां सर्वरत्नोपशोभिताम् । दद्याच्छास्त्रं च शिष्येभ्यस्तच्च तच्च द्वयं समम् ।। न निन्दां ताडने कुर्यात् पुत्रं शिष्यं च ताडयेत् । अधोभागे शरीरस्य नोत्तमाङ्गे न वक्षसि ।। अतोऽन्यथा हि प्रहरन् न्याययुक्तो भवेन्नरः ।। न्याययुक्तो दण्डयुक्त इत्यर्थः । अत्र माणवकं कुलपरम्परागतं वेदमध्यापयेत् । तस्यैवाध्येतव्यत्वनियमात् । वसिष्ठः—पारम्पर्यागतो येषां वेदः सपरिबृंहणः । तच्छाखं कर्म कुर्वीत तच्छाखाध्ययनं तथा ।। अधीत्य शाखामात्मीयामन्यशाखां ततः पठेत् । स्वशाखां यः परित्यज्य अन्यशाखामुपासते ।। शाखारण्डः स विज्ञेयः सर्वकर्मबहिष्कृत इति । इति वेदारम्भः ।।

अनुवाद—यदि उनमें से कोई प्रायश्चित्त करना चाहे तो वह 'व्रातस्तोम' यज्ञ करके शुद्ध हो सकता है। उसके सभी संस्कार फिर से होंगे । तब वेदाध्ययन का भी अधिकारी होगा । उसके साथ व्यवहार भी किया जा सकता है ।

टिप्पणी—'नियतवत्' शब्द का तात्पर्य है कि यदि श्रौतसूत्रों में प्रायश्चित्त का का विधान उपलब्ध न हो तो स्मृति में कही गई विधि से किये गए प्रायश्चित्त नियतवत् होते हैं ।

'आपस्तम्ब' में शूद्रों के भी उपनयन का विधान है—'शूद्राणामदुष्टकर्मणामुपनयनम्' । अदुष्ट कर्म शब्द का ऐसे व्यक्ति से तात्पर्य है, जो मदिरा नहीं पीते । बारहवें सूत्र में स्नानमात्र का निषेध न कर केवल नदी स्नान का निषेध किया गया है, क्योंकि नदी स्नान में बच्चों के डूबने का भय रहता है ।

(१) जहाँ तक व्रात्यस्तोम' का प्रश्न है तो उसका विवेचन कात्यायनश्रौतसूत्र के २२वें अध्याय की चौथी कण्डिका में निम्न प्रकार से वर्णित है—

व्रात्य चार प्रकार के होते हैं—(१) निन्दित—पापाचारी, जातिबहिष्कृत, नृशंस तथा व्रात्य। (२) कनिष्ठ—संस्कारहीन जातिबहिष्कृत युवक। (३) ज्येष्ठ—पुंस्त्वहीन वृद्ध व्रात्य। (४) हीनाचार—नृत्योपजीवी, शस्त्रोपजीवी व्रात्यशिक्षक, व्रात्य। इन चार व्रात्यों के चार प्रकार के व्रात्यस्तोम वर्णित हैं।

(२) व्रात्यस्तोमेनेष्ट्वा व्रात्यभावाद् विरमेयुः। व्यवहार्या भवन्ति ॥
(का० २२, अ० ४, क० ३९, सू० ४०)

व्रात्यस्तोम (याग) में निम्नलिखित वस्तुओं का दान होता है (ताण्ड्यब्राह्मण १७।१।१४-१५)—तिरछी बँधी हुई पगड़ी, चाबुक, ज्याहीन धनुष, काला वस्त्र, अमार्गगामी रथ (अल्पवय घोड़ों से युक्त रथ), चाँदी का कण्ठाभरण, मेष का चर्म (मेषरोम से निर्मित वस्त्र), रस्सी, काले जूते—ये सभी वस्तुएँ मागध ब्राह्मण को अथवा व्रात्यकर्म-तत्पर ब्राह्मण को दे और ३३ गोदान करे। निन्दिततम व्रात्य (ज्येष्ठ) ६६ गोदान करे, तब वह संस्कार्य हो सकता है।

द्वितीयकाण्ड में पञ्चम कण्डिका समाप्त।

षष्ठी कण्डिका

समावर्त्तनम्

वेदꣳ समाप्य स्नायात् ॥ २।६।१ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'वेदꣳ···शकम्'। वेदं मन्त्रब्राह्मणात्मकं समाप्य सम्यक् पाठतोऽर्थतश्च अन्तं नीत्वा स्नायात् वक्ष्यमाणेन विधिना स्नानं कुर्यात् ॥ २।६।१ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'वेदꣳ···यात्'। स्नानशब्देन समावर्तनसंस्कार उच्यते। वेदं मन्त्रब्राह्मणात्मकं समाप्य सम्यक् पाठतोऽर्थतश्चान्तं नीत्वा स्नायाद्वक्ष्यमाणविधिना स्नानं कुर्यात् ॥ २।६।१ ॥

अनुवाद—वेदों के पद और अर्थ का विधिवत् अध्ययन समाप्त कर स्नान करे।

ब्रह्मचर्यं वाऽष्टाचत्वारिꣳशकम् ॥ २।६।२ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—अथवा ब्रह्मचर्यं व्रतमष्टाचत्वारिꣳशकम् अष्टाचत्वारिंशद्वर्षं निर्वर्त्य समाप्य अवसानं प्रापय्य गुरुणाऽनुमतः स्नायादिति गतेन सम्बन्धः ॥ २।६।२ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'ब्रह्म···शकम्'! अथवा ब्रह्मचर्यव्रतमष्टाचत्वारिंशकमष्टाचत्वारिंशद्वर्षं निर्वर्त्य समाप्य अवसानं प्रापय्य गुरुणाऽनुज्ञातः स्नायादिति सम्बन्धः। मीमांसकास्तु अष्टाचत्वारिंशकं व्रतं समाप्य अवसानं कुर्यादिति पक्षं नाङ्गीकुर्वन्ति। जातपुत्रः कृष्णकेशोऽग्नीनादधीतेत्याधानश्रुतिविरोधात्। न च विकल्पः, अतुल्यत्वात्। प्रत्यक्षमेकं श्रुतिवचनम्। कल्प्यमपरम्। कल्प्यप्रत्यक्षयोः प्रत्यक्षं बलवदिति भर्तृयज्ञभाष्ये ॥ २।६।२ ॥

अनुवाद—अथवा ४८ वर्षों तक ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करे।

द्वादशकेऽप्येके ॥ २।६।३ ॥

गुरुणाऽनुज्ञातः ॥ २।६।४ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'द्वाद···ज्ञातः'। एके सूत्रकाराः द्वादशकेऽपि द्वादशवर्षसमाप्ये व्रते चरिते स्नायादिति मन्यन्ते तत्रापि गुरुणाऽनुज्ञातः। अत्रासूत्रितमपि उभयं वेदं व्रतं च समाप्य वा स्नायादित्यनुषज्यते। यतः पूर्वं स्नातकस्य त्रैविध्यमुक्तम्।

(गदाधरभाष्यम्)—'द्वाद···के'। द्वादशवार्षिके व्रते समाप्तेऽप्येके स्नानमिच्छन्ति। अन्ये तु वेदव्रतसमाप्त्युत्तरं स्नानमिच्छन्ति। 'गुरु···ज्ञातः'। स्नायादिति शेषः। गुर्वनुज्ञा च समावर्तनकर्माङ्गं न तु स्नानकालान्तरमेतत्। वेदꣳ समाप्य स्नायादित्युक्तम् ॥ २।६।३-४ ॥

अनुवाद—कुछ सूत्रकार ने बारह वर्ष के बाद व्रत समाप्त कर स्नान कराने का निर्णय दिया है। अथवा गुरु की आज्ञा लेकर कभी भी स्नान किया जा सकता है।

विधिर्विधेयस्तर्कश्च वेदः ॥ २।६।५॥

(हरिहरभाष्यम्)—'विधि·· वेदः'। समाप्येत्युक्तम्। तत्र कियान् वेद इत्यपेक्षायामाह विधिर्विधीयते इति विधिः अग्निमादधीत अग्निहोत्रं जुहुयात् ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेतेत्यादि विधायकं ब्राह्मणवाक्यम्। विधेयः विधीयते विनियुज्यते ब्राह्मणवाक्येन कर्माङ्गत्वेनेति विधेयो मन्त्रः इषेत्वादिः। [विधिर्विधेयस्तर्कश्च वेदः यदत्रैतस्मिन्दर्शने सति समस्तवैदिकसंहारात्मिका मीमांसाऽपि वेदशब्दवाच्या भवतीत्यादिना तर्कपदं मीमांसापरमङ्गीकृत्य वार्तिककारिताया मीमांसाया अपि वेदत्वमुक्तं तद्विध्यादित्रयस्य वेदत्वप्रतिपादनार्थेयं स्मृतिरिति षडङ्गवेदत्वस्मृतितुल्यन्यायतया पूर्वपक्षसंयताभ्युपगमेनैव तद्दृष्टान्तेन कल्पसूत्राणां छन्दस्त्वाभावमुपपादयितुम्। न त्वेवमेव स्मृतिव्याख्यानं सम्मतम् अध्येतॄणां मीमांसायां वेदशब्दाप्रसिद्धेः। न चाध्येतृप्रसिद्धिनिरपेक्षैवेयं स्मृतिर्विध्यादित्रयस्य वेदत्वं प्रतिपादयतीति वाच्यम्। तथासति तन्नैरपेक्ष्येण स्मृतिमात्रपर्यालोचने तत्स्वारस्येन विध्युद्देशमात्रस्यैव वेदत्वापत्तावर्थवादादीनामवेदत्वापत्तेः विधेयत्वमग्निहोत्रन्यायविस्तरयोरपि वेदत्वापत्तेश्च। अथाध्येतृप्रसिद्धचनुरोधेन विधिविधेयशब्दयोर्ब्राह्मणमन्त्रपरत्वान्नाव्याप्त्यतिव्याप्ती तर्हि स्मृतेरध्येतृप्रसिद्धिसापेक्षत्वापत्तौ कथं तर्कतदप्रसिद्धवेदत्वप्रतिपादनपरता। न च तदंशे स्वातन्त्र्यम् अपेक्षानपेक्षाविध्यनुवादकृतवैरूप्यापत्तेः न्यायविस्तरातिप्रसङ्गानिवृत्तेश्च व्यवहारानुप्रविष्टपदार्थनिर्णये तद्विरोधेन शास्त्रस्यासामर्थ्याच्च। तस्मादध्येतृप्रसिद्धस्यैव मन्त्रब्राह्मणात्मकस्य वेदस्य कश्चिद्विधिनाऽङ्गविधायकः कश्चिन्मन्त्रात्मको विधेयः कश्चित्स एष नेति नेति त्रैयम्बकाः पुरोडाशा इत्यादिवत् त्रैविध्यमनयैवोच्यत इति तात्त्विकोऽर्थः, अतः षडङ्गा एव वेदस्मृतिरपि परमतोपन्यासात्पूर्वपक्षस्मृतिरेवेत्यलम् (?)]। तर्कोऽर्थवाद इति कर्कोपाध्यायः। यथा अक्ताः शर्करा उपदधाति इति विधिः श्रूयते। तत्राञ्जनसाधनं घृतं तैलं वसा च तन्मध्ये केनाक्ता इति संशये तेजो वै घृतमिति अर्थवादात् घृतेनाक्ता इति निर्णीयते अतस्तर्कोऽर्थवादः। तर्को मीमांसेति कल्पतरुकारः। चकारान्नामधेयभागसङ्ग्रहः। यतो वेदो विध्यर्थवादमन्त्रनामधेयभेदैश्चतुर्धा मीमांसकैर्विचार्यते। यथा अग्निहोत्राघारौ यागभेदौ। उद्भिद्वलभिदिति नामधेयानि ॥ २।६।५ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'तत्र वेदशब्देन किमुच्यते ? इत्यत आह—'विधि···वेदः'। विधत्त इति विधीयत इति वा विधिः। दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत अग्निहोत्रं जुहुयादित्यादिविधायकं ब्राह्मणवाक्यम्। विधीयते विनियुज्यते ब्राह्मणवाक्येन कर्माङ्गत्वेनेति विधेयो मन्त्रः इषेत्वादिः। तर्कशब्देनार्थवादोऽभिधीयते। तर्क्यते ह्यनेन सन्दिग्धोऽर्थः। यथा अक्ताः शर्करा उपदधाति तेजो वै घृतमिति। अञ्जनं तैलवसादिनाऽपि सम्भवति, तत्र तेजो वै घृतमिति घृतसंस्तवात् तर्क्यते घृताक्ता इति। तेन विध्यर्थवादमन्त्रा वेदशब्देनाभिधीयन्त इत्युक्तम्। तर्कः कल्पसूत्रमिति भर्तृयज्ञः। तर्को मीमांसेति, कल्पतरुः। चशब्दान्नामधेयभागसङ्ग्रह इति हरिहरः ॥ २।६।५ ॥

अनुवाद—विधि, मंत्र और तर्क सहित वेद का अध्ययन विहित है। (कर्काचार्य इसे अर्थवाद कहते हैं। कृत्यकल्पतरु के अनुसार यह मीमांसा है।)

षडङ्गमेके ॥ २।६।६ ॥

(हरिहरभाष्यम्) 'षडङ्गमेके'। एके सूत्रकाराः षडङ्गं वेदं समाप्य स्नायादित्याहुः। षट् शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं ज्योतिषं छन्दांसि अङ्गानि यस्य वेदस्य स षडङ्गः तं षडङ्गम् ॥ २।६।६ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'षडङ्गमेके'। शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति षड्भिरङ्गैरुपेतमेक आचार्या वेदमिच्छन्ति। तमधीत्य स्नायादित्यन्वयः। स्नानं च द्वितीयाश्रमप्रतिपत्तिः। तदनुष्ठानयोग्यता च षडङ्गे वेदेऽधिगते भवति ॥ २।६।६ ॥

अनुवाद—कुछ आचार्यों के मत में छः अंगों सहित वेद का अध्ययन कर स्नान करना चाहिए।

न कल्पमात्रे ॥ २।६।७ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'न कल्पमात्रे'। कल्पमात्रे ग्रन्थमात्रे मन्त्रे वा ब्राह्मणे वा अधीते न स्नानमिच्छन्ति। कल्पमात्राध्ययनस्य अनुष्ठानायोग्यत्वात्। यतः अथातोऽधिकारः, अथातो धर्मजिज्ञासा, अथातो ब्रह्मजिज्ञासेत्यादिभिरधिकारसूत्रैः अधीतसकलवेदस्याग्निहोत्रादिकर्मस्वधिकार इत्याचार्यैर्वर्ण्यते ॥ २।६।७ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—अत एवोच्यते—'न कल्पमात्रे'। कल्पशब्देन च ग्रन्थमात्रमभिधीयते। कल्पमात्रे ग्रन्थमात्रे मन्त्रे वा ब्राह्मणे वा अधीते न स्नानमिच्छन्ति। नहि ग्रन्थमात्राध्ययनेन कर्मानुष्ठानयोग्यता भवति। तस्मादर्थतो ग्रन्थतश्चाधिगम्य स्नानमिति ॥ २।६।७ ॥

अनुवाद—केवल मंत्र या ब्राह्मण का ग्रन्थात्मक अध्ययन अनपेक्षित है। (प्रयोगपरम्परा जन्य ज्ञान न तो केवल मंत्र से मिल सकता है और न ही मंत्रब्राह्मण के अध्ययन से उपलब्ध हो सकता है।)

कामं तु याज्ञिकस्य ॥ २।६।८ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'कामं···कस्य'। तुशब्दः पक्षव्यावृत्तौ। काममिच्छया याज्ञिकस्य आध्वर्यवादियज्ञविद्याकर्मकुशलस्य स्नानमिच्छन्ति। अयमर्थः—मन्त्रब्राह्मणात्मकं वेदमधीत्य अवबुध्य च स्नायादित्येकः पक्षः। साङ्गं वेदमधीत्यावबुध्य च स्नायादित्यपरः। ग्रन्थमात्रमप्यधीत्य यज्ञविद्यां चाभ्यस्य स्नायादिति तृतीयः। यज्ञविद्याविरहेण ग्रन्थमात्रे अधीते न स्नायादिति निषेधः। यतो वेदाध्ययनं वेदविहिताग्निहोत्रादिकर्माद्यनुष्ठानप्रयोजनम् ॥ २।६।८ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'कामं···ज्ञिकस्य'। यज्ञं वेदिति याज्ञिकः। तुशब्देन ग्रन्थमात्राधीतस्याध्वर्यवादियज्ञविद्याकुशलस्य षडङ्गमर्थतोऽनधिगम्यापि काममिच्छया स्नानं भवति। तेनायमर्थः—मन्त्रब्राह्मणात्मकं वेदमधीत्यावबुध्य च स्नायादित्येकः पक्षः। साङ्गं वेदमधीत्यावबुध्य च स्नायादिति द्वितीयः पक्षः। ग्रन्थमात्रमधीत्य यज्ञविद्यां चाभ्यस्य स्नायादिति तृतीयः पक्षः ॥ २।६।८ ॥

अनुवाद—अथवा केवल यज्ञविद्या का अध्ययन कर अपनी इच्छा से स्नान किया जा सकता है।

उपसङ्गृह्य गुरुं समिधोऽभ्याधाय परिश्रितस्योत्तरतः कुशेषु प्रागग्रेषु पुरस्तात् स्थित्वाऽष्टानामुदकुम्भानाम् ॥ २।६।९ ॥

ये अप्स्वन्तरग्नयः प्रविष्टा गोह्य उपगोह्यो मयूखो मनोहास्खलो विरुजस्तनूदूषुरिन्द्रियहा तान् विजहामि यो रोचनस्तमिह गृह्णामि इत्येकस्मादपो गृहीत्वा ॥ २।६।१० ॥

तेनाभिषिञ्चते—तेन मामभिषिञ्चामि श्रियै यशसे ब्रह्मणे ब्रह्मवर्चसायेति ॥ २।६।११ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'उप···ञ्चते'। स्नायादित्युक्तम्। तत्र कथं स्नायादित्यपेक्षिते आह—उपसङ्गृह्य उपसङ्ग्रहणविधिना प्रणम्य कम्? गुरुमाचार्यं समिधः पूर्वोक्तलक्षणास्तिस्रः परिसमूहनादित्र्यायुषकरणान्तेन विधिना आचार्यनिर्वर्तितसमावर्तनाङ्गहोमेऽग्नौ आधाय प्रक्षिप्य। अत्र समिधोऽभ्याधायेत्युक्तं तत्समिदाधानं किं वेदाहुत्यादिसमावर्तनहोमात्पूर्वमुत पश्चात्। वदाहुतिहोमः कुतः प्राप्त इति चेत् एतदेव व्रतादेशनविसर्गेष्वित्यतिदेशात्। तर्हि पूर्वं भवतु। उपसङ्गृह्य गुरुं समिधोऽभ्याधायेति पाठात्समिदाधानानन्तरं वेदाहुतीनामवसर इति गम्यते। नैतदेवम्। श्रुत्या हि वेदाहुतीनामवसरः समिदाधानात्पूर्वं समिदाधानं च स्नानात्पूर्वमिति क्रमस्य ज्ञापितत्वात्। कथम्? स यामुपयन् समिधमादधाति सा प्रायणीया यां स्नास्यन्त्सोदयनीयेति श्रुतेः तस्मात्समावर्तनहोमान्ते उपसङ्ग्रहणादि। परिश्रितस्य परिवेष्टितस्य सर्वतः प्रच्छादितस्य समावर्तनाङ्गहोमसाधनाग्निस्थापनप्रदेशस्योत्तरतः उत्तरस्मिन् भागे कुशेषु प्रागग्रेषु प्राक्कूलेषु आस्तीर्णेषु क्व? पुरस्तात्प्राच्यां दिशि केषामष्टानामुदकुम्भानां दक्षिणोत्तरायतानाम् अष्टसङ्ख्याकानाम् अमलजलपूर्णानाम् आम्रादिशुभपल्लवमुखानां स्थित्वा स्थितिं कृत्वा ऊर्ध्वीभूयेत्यर्थः। ये अप्स्वन्तरग्नय इत्यादिना मन्त्रेण तमिह गृह्णामीत्यन्ते एकस्मात्प्रथमातिक्रमे कारणाभावादिति न्यायेन प्रथमात्प्राञ्च्युदञ्चि च कर्माणि इत्यनेन न्यायेन दक्षिणस्य प्रथमत्वम्। अपः जलं दक्षिणहस्तेन गृहीत्वा तेन जलेन अभिषिञ्चति अभ्युक्षति आत्मानं शिरस्तः स्नानकर्ता। तत्र मन्त्रः—'तेन······तरैः'। एवम् एकोदकुम्भजलसाध्यं स्नानमभिधाय इतरसप्तोदकुम्भजलस्नानमात्रे मन्त्रविशेषाभिधानात्। येऽप्स्वन्तरग्नय इत्ययमेव सर्वोदकुम्भजलग्रहणे साधारणो मन्त्र इति प्रतीयते। ततः सर्वेभ्यो द्वितीयादिकुम्भेभ्यः प्रत्येकं येऽप्स्वन्तरिति मन्त्रेण जलमादाय वक्ष्यमाणैर्मन्त्रैर्यथाक्रममभिषिञ्चते ॥ २।६।९-११ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—स्नायादित्युक्तं तत्र कथं स्नायादित्यपेक्षायामाह—'उप··· येति'। उपसङ्गृह्य गुरोः पादोपग्रहणं कृत्वा समिधोऽभ्याधायाग्निपरिचरणं कृत्वा। इतश्च पूर्वं वेदाहुतिहोमः। एतदेव व्रतादेशनविसर्गेष्वित्युक्तत्वात्। ननु समिदाधानस्य पश्चाद्वेदाहुतयः कुतो न भवन्ति। क्रमान्तरानभिधानात्। उपसङ्गृह्य गुरुं समिधोऽभ्या-

धायेति पाठानुग्रहापत्तेश्च। मैवम्। यतो वेदाहुतीनां पश्चादेव समिदाधानम्, ततश्च स्नानमिति श्रूयते। स यामुपयन्त्समिधमादधाति सा प्रायणीया याᳬ स्नास्यन्त्सोदयनीयेति। तस्मात्समिदाधानस्नानयोरव्यवहितकालत्वोपपादनाद् वेदाहुतीनां च स्नानाङ्गत्वातिदेशाच्च समिदाधानात्पूर्वं वेदाहुतिहोम इत्युक्तम्। स्नानं चाष्टभिरुदकुम्भैः क्रमेण। परिश्रितस्य वस्त्रादिना वेष्टितसमावर्तनस्थानस्थितस्याग्नेरुत्तरपार्श्वे स्थापितानामष्टानामुदकुम्भानां दक्षिणोत्तरायतानां पुरस्तात्पूर्वस्यां दिशि आस्तीर्णेषु कुशेषु ब्रह्मचारी स्थित्वा ऊर्ध्वीभूय येऽप्स्वन्तरग्नय इति मन्त्रेण प्रथमादुदकुम्भादपो गृहीत्वा तेन मामभिषिञ्चामीति मन्त्रेणात्मानमभिषिञ्चति। मन्त्रार्थः—येऽग्नयो गोह्यादयोऽप्सु अन्तर्मध्ये प्रविष्टाः स्थिताः इन्द्रियहान्ता। अष्टौ तान् अमेध्यत्वादमङ्गल्यत्वादेताभ्योऽद्भ्यः सकाशात् अग्नीन् विजहामि पृथक्करोमि। यश्च रोचनोऽग्निर्मेध्यत्वान्मङ्गल्यत्वात्प्रीतिकारित्वाच्च तमिहाप्सु विषये गृह्णामि स्वीकरोमि। यतः अद्भ्योऽग्निरुत्पद्यते संव्रियते आच्छाद्यत इति गोह्यः। उपगोह्यः अङ्गतापकः। मयूषो जन्तुहिंसकः। मनस उत्साहं हन्तीति मनोहाः। अस्खलः प्रध्वंसी अजीर्णकृत्। विविधतया रुजति पीडयतीति विरुजः। तनूं शरीरं दूषयति विकृतिं नयति इति तनूदूषुः इन्द्रियाणि हन्तीति इन्द्रियहाः। अभिषेकमन्त्रार्थः—तेनोदकेन माम् इममात्मानमभिषिञ्चामि। किमर्थम्? श्रियै सम्पत्त्यर्थं यशसे कीर्त्यै ब्रह्मणे ब्रह्मवर्चसाय यागाध्यापनोत्कृष्टतेजसे ॥२।६।९-११॥

अनुवाद—गुरु के चरणों का उपसंग्रहण कर अर्थात् उन्हें प्रणाम कर यज्ञाग्नि में समिधा डाल कर चारों ओर घिरी अग्नि के उत्तर में रखे जल से भरे आठ कलशों के पूरब में बिछे कुशों पर खड़े होकर ब्रह्मचारी 'ये अप्स्वन्तरग्नयः···' इत्यादि मंत्र पढ़ते हुए पहले कलश से जल लेकर, 'तेन मामभिषिञ्चामि···' इत्यादि मंत्र पढ़कर अपने को अभिषिक्त कर ले।

मन्त्रार्थ—(ऋषि प्रजापति, छन्द अग्निगायत्री, देवता जल।) इस कलश-जल में छिपी रहने वाली गोह्य, अङ्गप्रत्यङ्गों को नष्ट करने वाली उपगोह्य तथा जन्तुहिंसक मयूख प्रभृति मानसिक उत्साह भंग करने वाली, जिसका प्रतिकार न किया जाय तथा बहुविध रोगों से सताने वाली, इन्द्रियों की शक्ति को विनष्ट करने वाली, आठ प्रकार की अग्नि को दूर हटाकर मैं मेध्य, मंगलमयी, प्रीतिकारिणी, रोचनशील अग्नि को ग्रहण कर रहा हूँ।

मन्त्रार्थ—(ऋषि प्रजापति; छन्द यजुष्, देवता जल।) लक्ष्मी, कीर्त्ति, वेदज्ञान और ब्रह्मतेज की कामना से मैं इस कलश के जल से अपने को अभिषिक्त करता हूँ।

येन श्रियमकृणुतां येनावमृशताᳬ सुराम्।
येनाक्ष्यावभ्यषिञ्चतां यद्वां तदश्विना यश इति ॥ २।६।१२ ॥
आपोहिष्ठेति च प्रत्यृचम् ॥ २।६।१३ ॥
त्रिभिस्तूष्णीमितरैः ॥ २।६।१४ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—तद्यथा येन श्रियमिति द्वितीयम्, आपोहिष्ठेति तृतीयं, यो वः शिवतम इति चतुर्थं, तस्मा अरङ्गमिति पञ्चमं तूष्णीमितराणि त्रीणि स्नानानि ।

(गदाधरभाष्यम्)—'येन⋯तरैः' । अष्टाभ्य उदकुम्भेभ्योऽपां ग्रहणे एक एव मन्त्रो ये अप्स्वन्तरग्नयः इति । अभिषेचने तु भिद्यते । तद्यथा—येन श्रियमिति द्वितीयम्, आपो हिष्ठेति तृतीयं, यो वः शिवतम इति चतुर्थं, तस्मा अरङ्गमिति पञ्चमं, ततस्तूष्णीं त्रिभिरितरैरुदकुम्भैरभिषेकः । मन्त्रार्थः—हे अश्विनौ ! येन जलप्रभावेण भवन्तौ सुराणां श्रियं सम्पदं शोभां वा अकृणुतां कृतवन्तौ । येन च सुराणाममृतमवमृशतां प्रासवन्तौ । अटोऽदर्शनं छान्दसम् । येन बलेनाक्षौ उपमन्योरक्षिणी अभ्यषिञ्चतामभिषिक्तवन्तौ । वां युवयोर्यदेवम्भूतं यशस्तदेतज्जलाभिषेकेण ममाप्यस्त्विति शेषः ॥ २।६।१२-१४ ॥

मन्त्रार्थ—(ऋषि प्रजापति, छन्द अनुष्टुप्, देवता जल ।) हे अश्विनीकुमार ! आपने जिस जल से अभिषेक कर देवताओं को श्रीसम्पन्न किया है, जिस जल के अभिषेक से उपमन्यु के नेत्ररोग को दूर किया है तथा जिसका उपभोग कर आप यशस्वी बने हैं, उसी कीर्त्ति की कामना से मैं भी इस जल से स्नान करता हूँ ।

(आठों कलशों से जल-ग्रहण का मंत्र एक ही है; हाँ, अभिषेक के लिए मंत्र भिन्न-भिन्न हैं ।) 'येन श्रियम्' इत्यादि मंत्र पढ़कर दूसरे घड़े के; 'आपोहिष्ठेति' मंत्र पढ़कर तीसरे घड़े के; 'यो वः शिवतमः' इत्यादि मंत्र पढ़कर चौथे घड़े के तथा 'तस्मा अरङ्गम्' इत्यादि मंत्र पढ़कर पाँचवे घड़े के जल से स्नानकर शेष तीन घड़ों के जल से मंत्र रहित चुपचाप स्नान करना चाहिए ।

उदुत्तममिति मेखलामुन्मुच्य दण्डं निधाय वासोऽन्यत् परिधायादित्यमुपतिष्ठते ॥ २।६।१५ ॥

उद्यन्भ्राजभृष्णुरिन्द्रो मरुद्भिरस्थात्प्रातर्यावभिरस्थाद्दशसनिरसि दशसनिं मा कुर्वाविदन्मागमय । उद्यन्भ्राजभृष्णुरिन्द्रो मरुद्भिरस्थाद्दिवा यावभिरस्थाच्छतसनिरसि शतसनिं मा कुर्वाविदन्मागमय । उद्यन्भ्राजभृष्णुरिन्द्रो मरुद्भिरस्थात्सायं यावभिरस्थात्सहस्रसनिरसि सहस्रसनिं मा कुर्वाविदन्मा गमयेति ॥ २।६।१६ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—उदु⋯भृष्णुरित्यादि' । उदुत्तममिति मन्त्रेण मेखलां रशनामुन्मुच्य उच्छब्दसामर्थ्यात् शिरोमार्गेण निःसार्य निधाय तां च भूमौ निक्षिप्य अन्यद्वस्त्रं परिधाय आदित्यं सूर्यमुद्यन्भ्राजभृष्णुरित्यादिभिर्मन्त्रैः उपतिष्ठते स्तौति ॥२।६।१५-१६॥

(गदाधरभाष्यम्)—'उदु⋯मयेति' । तत उदुत्तममिति मन्त्रेण मेखलां रशनामुन्मुच्य ऊर्ध्वं शिरोमार्गेण निःसार्य तां च भूमौ निक्षिप्य वासोऽन्यत्परिधाय वस्त्रान्तरं परिहितं कृत्वा उद्यन्भ्राजभृष्णुरिति मन्त्रेण सूर्यमुपतिष्ठते । मेखलानिधानोत्तरं दण्डाजिनयोर्निधानम् । तूष्णीमिति जयरामकारिकाकारौ । मन्त्रार्थः—हे सूर्य ! यतो भवान् प्रातःसवने यावभिर्गमनशीलैर्ऋत्व्यादिसप्तकगणैः सेवितोऽस्थात् तिष्ठति यथेन्द्रो मरुद्भिर-

स्थात् तिष्ठति तद्वत् । किम्भूतः उद्यन् उद्गच्छन् भ्राजभृष्णुः स्वप्रभयाऽन्यतेज उद्भासकः । आविदन् सर्वं शुभाशुभं जानन् । किञ्च यथा च त्वं प्रातःसवने दशसनिः दशसङ्ख्यातानां गवादीनां सनिर्दाता । षणु दाने । अतो मामपि दशसनिं दशगुणदक्षिणादिदातारं कुरु । मा मां विदन् वेदयन् ज्ञापयन् गमय प्रापय प्रतिष्ठामिति शेषः । एवमुत्तरत्रापि व्याख्येयम् ॥ २।६।१५-१६ ॥

अनुवाद—'उदुत्तमम्···' इत्यादि मंत्र पढ़ते हुए मेखला और दण्ड रख दे, फिर नवीन वस्त्र धारण कर 'उद्यन्भ्राज···' इत्यादि मंत्र से सूर्यस्तुति करे।

मन्त्रार्थ—(ऋषि प्रजापति, छन्द शक्वरी, देवता सविता ।) हे प्रदीप्त सूर्यदेव ! आप अपने तेज से अन्य सभी तेजों को अभिभूत करने वाले हैं। आप शुभाशुभ के ज्ञाता हैं। आप प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल अपने उपासकों को दससंख्यक दान देते हैं। द्रुतगामी मरुतों के बीच जिस प्रकार देवराज ठहरते हैं, उसी प्रकार अपने उपासकों के बीच आप ठहरते हैं। मैं भी आप का एक उपासक हूँ, अतः मुझ में भी आप दस गुना, सौ गुना, हजार गुना दान देने की क्षमता भर दें।

दधि तिलान्वा प्राश्य जटालोमनखानि सꣳहृत्यौदुम्बरेण दन्तान्धावेत । अन्नाद्याय व्यूहध्वꣳ सोमो राजाऽयमागमत् । स मे मुखं प्रमार्क्ष्यते यशसा च भगेन चेति ॥ २।६।१७ ॥

(**हरिहरभाष्यम्**)—'दधि···हृध्वमिति' । ततो दधितिलानामन्यतरं प्राश्य अशित्वा जटाश्च लोमानि च नखानि च जटालोमनखानि तानि संहृत्य संहार्यं वापयित्वेत्यर्थः । अत्र संहृत्येति णिचो लोपश्छान्दसः स्वयं संहर्तुमशक्यत्वात् औदुम्बरेण द्वादशाङ्गुलसम्मितेन कनिष्ठिकाग्रवत्स्थूलेन उदुम्बरकाष्ठेन अन्नाद्याय व्यूहध्वमिति मन्त्रेण दन्तान् धावेत् प्रक्षालयेद् ब्राह्मणः । दशाङ्गुलेन राजन्यः अष्टाङ्गुलेन वैश्य इति विशेषः । अत्र जटालोमनखवपननिमित्तादुत्तरत्र पुनः स्नात्वेति पुनःशब्दसामर्थ्याच्च स्नानमापद्यते अतो वपनानन्तरं स्नानाचमने विधाय दन्तान्प्रक्षालयेदिति सिद्धम् ॥

(**गदाधरभाष्यम्**)—'दधि···चेति' । ततो दधितिलयोरन्यतरं प्राशयित्वा जटाश्च लोमानि च नखानि च जटालोमनखानि तानि संहृत्यापनीय वापयित्वा । संहृत्येत्यत्र णिचो लोपश्छान्दसः स्वयं संहर्तुमशक्यत्वात् । औदुम्बरेण दन्तान्धावेत औदुम्बरेण काष्ठेन दन्तान् शोधयेत् अन्नाद्यायेति मन्त्रेण । हे दन्ताः ! यूयम् अन्नाद्याय अन्नादनाय व्यूहध्वं निर्मला भवत । यतोऽयं राजा सोमश्चन्द्रः काष्ठरूपेणागमत् आगतः । अतः स एव सोमो मे मम मुखं प्रमार्क्ष्यते शोधयिष्यति । केन ? यशसा सत्कीर्त्या भगेन भाग्येन च । दन्तधावनस्य नित्यकाम्यत्वादुभयफलसम्बन्ध इति मुरारिः ॥ २।६।१७ ॥

अनुवाद—इसके बाद दही या तिल खाकर जटायें, केश और नाखून कटवा कर 'अन्नाद्याय···' इत्यादि मंत्र पढ़ते हुए गूलर की दातून से दाँत साफ करे।

मन्त्रार्थ—(ऋषि अथर्वा, छन्द अनुष्टुप्, देवता वनस्पति ।) हे दाँत ! आत्मशुद्धि के लिए, अन्न खाने के लिए तुम पंक्तिबद्ध हो जाओ, क्योंकि इस दन्तधावन की

लकड़ी के रूप में सम्पूर्ण वनस्पतियों के अधिष्ठाता राजा सोम स्वयं उपस्थित हैं। वे मेरे मुँह को सत्कीर्त्ति और षड्विध ऐश्वर्य प्रदान कर उसे शुद्ध कर रहे हैं।

उत्साद्य पुनः स्नात्वाऽनुलेपनं नासिकयोर्मुखस्य चोपगृह्णीते—प्राणापानौ मे तर्पय, चक्षुर्मे तर्पय, श्रोत्रं मे तर्पयेति ॥ २।६।१८ ॥

(**हरिहरभाष्यम्**)—'उत्सा···नौ म इति'। उत्साद्य सुगन्धिना द्रव्येण शरीरमुद्वर्त्य पुनर्भूयः स्नात्वा शिरःप्रभृतीन्यङ्गानि प्रक्षाल्य अनुलेपनं चन्दनादि मुखस्य नासिकयोश्च उपगृह्णीते। मुखं नासिकां च अनुलिम्पति। प्राणापानौ मे तर्पयेत्यादिना श्रोत्रं मे तर्पयेत्यन्तेन मन्त्रेण ॥ २।६।१८ ॥

(**गदाधरभाष्यम्**)—'उत्सा···येति'। उत्साद्य अङ्गोद्वर्तनेन मलमपसार्य पुनः स्नात्वा मलापकर्षणस्नानोत्तरं पुनः स्नानं कृत्वाऽनुलेपनं चन्दनादि नासिकयोर्मुखस्य चोपगृह्णीते आदत्ते प्राणापानौ मे इति मन्त्रेण। मुखनासिके चानुलिम्पतीति हरिहरः। पाण्योरवनेजनं निषिच्येति वक्ष्यमाणत्वादत्र पाणिभ्यामनुलेपनग्रहणम्। मन्त्रार्थः—हे उपलेपनाधिदेवते ! मे मम प्राणापानौ वायू तर्पय प्रीणय। तथा मे चक्षुरिन्द्रियम्। तथा मे श्रोत्रं श्रवणेन्द्रियं च तर्पय ॥ २।६।१८ ॥

अनुवाद—उबटन से मैल छुड़ाकर, पुनः स्नान कर 'प्राणापानौ···' इत्यादि मंत्र पढ़ते हुए नाक और मुँह के पास चन्दन लगायें।

मंत्रार्थ—(ऋषि प्रजापति, छन्द यजुष्, देवता अपान।) हे उपलेपनाधिष्ठित देव ! तुम मेरे प्राण, अपान, आँख और कान को प्रसन्न करो।

पितरः शुन्धध्वमिति पाण्योरवनेजनं दक्षिणानिषिच्यानुलिप्य जपेत्—सुचक्षा अहमक्षीभ्यां भूयासᳪ सुवर्चामुखेन सुश्रुत्कर्णाभ्यां भूयासमिति ॥ २।६।१९ ॥

(**हरिहरभाष्यम्**)—'पितर···क्षीभ्यामिति'। ततः पाण्योरवनेजनं हस्तयोः प्रक्षालनमुदकं पितरः शुन्धध्वमित्यनेन मन्त्रेण प्राचीनावीती दक्षिणाभिमुखो भूत्वा दक्षिणस्यां दिशि निषिच्य प्रक्षिप्य यज्ञोपवीती भूत्वा पितृकर्मकरणनिमित्तकमुदकस्पर्शं विधाय चन्दनादिना सुगन्धिद्रव्येण गात्राण्यनुलिप्य सुचक्षा अहमक्षीभ्यामित्यादिभूयासमित्यन्तं मन्त्रं जपेत् ॥ २।६।१९ ॥

(**गदाधरभाष्यम्**)—'पित···यासमिति'। प्राचीनावीती दक्षिणाभिमुखो भूत्वा पितरः शुन्धध्वमित्येतावता मन्त्रेण पाण्योरवनेजनं हस्तयोः प्रक्षालनोदकं दक्षिणानिषिच्य दक्षिणस्यां दिशि निषिच्य प्रक्षिप्य यज्ञोपवीती भूत्वा पितृकर्मत्वादुदकं स्पृष्ट्वा चन्दनेनात्मानमनुलिप्य सुचक्षा अहमिति मन्त्रं जपेत्। अत्र दक्षिणापदं लुप्तसप्तम्यन्तम्। मन्त्रार्थः—हे सवितः ! अहमक्षीभ्यां नेत्राभ्यां कृत्वा सुचक्षाः सुदर्शनो भूयासं भवेयं तथा मुखेन सुवर्चाः सुतेजाः भूयासमिति पूर्वत्र सम्बन्धः। तथा कर्णाभ्यां सुश्रुत् सुश्रवणो भूयासम् ॥ २।६।१९ ॥

अनुवाद—'पितरः शुन्धध्वं···' इत्यादि मंत्र पढ़कर हाथों में लिये जल को दक्षिण की ओर फेंक देना चाहिए। पुनः शरीर में उबटन लगाकर 'सुचक्षसा'···इत्यादि मंत्र का जप करे।

मन्त्रार्थ—(ऋषि प्रजापति, छन्द यजुष्, देवता सविता) हे सूर्यदेव ! मैं आँखों से सुदर्शन, मुख से वर्चस्वी और कानों से ठीक ढंग से सुनने वाला बनूं।

अहतं वासो धौतं वाऽमौत्रेणाच्छादयीत—
परिधास्यै यशोधास्यै दीर्घायुत्वाय जरदष्टिरस्मि। शतं च जीवामि शरदः पुरूचीरायस्पोषमभिसंव्ययिष्य इति ॥ २।६।२० ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अह···धास्या' इति। ततः अहतं नवं सदशं पवित्रं वासः वसनम् आच्छादयीत परिदधीत तदलाभे अमौत्रेण अरजकेण धौतं क्षालितं परिधास्या इत्यादिना अभिसंव्ययिष्य इत्यन्तेन मन्त्रेण ॥ २।६।२० ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'अह···यिष्य इति'। अहतं नवीनं सदशं वासः वसनम् अथवाऽमौत्रेण अरजकेन धौतं वास आच्छादयीत परिधास्या इति मन्त्रेण ! मन्त्रार्थः— हे वासोदेवते ! परिधास्यै अनेकशुभवस्त्रपरिधानाय तथा यशोधास्यै स्तुत्यै दीर्घायुत्वाय दीर्घजीवनाय च इदं वासः संव्ययिष्ये परिधास्ये। किम्भूतः ? वासोदेवतानुग्रहेण जरदष्टिरस्मि। वृद्धत्वव्याप्यायुर्भवामि। पुरूचीः पुम्भिर्बहुभिः पुत्रधनादिभिश्च संयोगोऽस्ति यस्य सः। उच समवाये। किम्भूतं वासः रायस्पोषं धनादिपोषणं पुष्टिकरम्। किञ्च एतत्सम्बन्धेनाहं शतं शरदो वर्षाणि जीवामि ॥ २।६।२० ॥

अनुवाद—नई धोती अथवा ऐसी धुली धोती, जो धोबी के घर न धुली हो, 'परिधास्यै···' इत्यादि मंत्र पढ़कर पहन ले।

मन्त्रार्थ—(ऋषि अथर्वा, छन्द यजुष्, देवता लिङ्गोक्त।) हे वस्त्राधिष्ठित देवता ! कीर्ति एवं लम्बी आयु के लिए मैं यह वस्त्र धारण करता हूँ। धन तथा ऐश्वर्य देने वाले इस वस्त्र के धारण से मैं सौ साल की लम्बी आयु प्राप्त करूँ।

अथोत्तरीयम्—
यशसा मा द्यावापृथिवी यशसेन्द्राबृहस्पती।
यशो भगश्च मा विन्दद्यशो मा प्रतिपद्यताम् इति ॥ २।६।२१ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अथो···मेति'। अथ अन्तरीयपरिधानानन्तरं तादृशमेवोत्तरीयं वासो यशसामेत्यादि यशो मा प्रतिपद्यतामित्यन्तेन मन्त्रेण आच्छादयीतेति गतेनाख्यातेन सम्बन्धः ॥ २।६।२१ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'अथो···तामिति'। अथ परिधानानन्तरमाचम्य यशसामेति मन्त्रेण अहतमेव वास उत्तरीयमाच्छादयीतेति सम्बन्धः। मन्त्रार्थः—हे वासोदेवते ! द्यावापृथिवी द्यावाभूमी यशसा युक्तौ मा माम् अविन्दत् विन्दतां प्राप्नुतामिति यावत्। विदॢ लाभे धातुः। विभक्तिवचनव्यत्ययेनान्वयः। तथा इन्द्राबृहस्पती अपि यशसा

युक्तो मा अविन्दत् तथा भगः सूर्योऽपि यशसा अविन्दत् । तच्चैतैः सम्पादितं यशो मा मां प्रतिपद्यतां मयि सर्वदा तिष्ठत्वित्यर्थः ॥ २।६।२१ ॥

अनुवाद—'यशसा मा…' इत्यादि मंत्र पढ़कर देह पर चादर डाले ।

मन्त्रार्थ—(ऋषि अथर्वा, छन्द यजुष्, देवता लिङ्गोक्त ।) हे वस्त्राधिष्ठित देवता ! यशस्वी द्यावा-पृथिवी, इन्द्र और बृहस्पति मेरे पास आयें, ये यशोभिमानी, भगाधिष्ठाता देवगण मेरे पास आकर मुझे भी यशस्वी बनायें ।

एकं चेत् पूर्वस्योत्तरवर्गेण प्रच्छादयीत ॥ २।६।२२ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—एकं 'चेत्पू…यीत' । चेद्यदि एकमेव वासो भवति तदा पूर्वस्यैव परिधानीयस्य वासस उत्तरवर्गेण उत्तरभागेन प्रच्छादयीत । यशसामेति मन्त्रेणोत्तरीयं कुर्यादित्यर्थः ॥ २।६।२२ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'एकं…यीत' । चेद्यदि एकं वासो भवति द्वितीयं न भवति तदा पूर्वस्य परिधानीयस्यैव वासस उत्तरवर्गेण उत्तरभागेन प्रच्छादयीत उत्तरीयं कुर्यात् । तत्रापि यशसामेति मन्त्रो भवति क्रियान्तरत्वात् । अत्रैवम् । पूर्वं वस्त्रार्द्धं समन्त्रकं परिधाय द्विराचम्य उत्तरार्द्धं गृहीत्वा उत्तरीयं मन्त्रं पठित्वोत्तरीयं कृत्वा पुनर्द्विराचामेत् ॥ २।६।२२ ॥

अनुवाद—यदि धोती के साथ चादर न हो तो धोती के आधे भाग से ही शरीर ढँक ले ।

सुमनसः प्रतिगृह्णाति—
या आहरज्जमदग्निः श्रद्धायै मेधायै कामायेन्द्रियाय ।
ता अहं प्रतिगृह्णामि यशसा च भगेन च इति ॥ २।६।२३ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'सुम…रदिति' । सुमनसः पुष्पाणि प्रतिगृह्णाति । अन्येन दत्तान्यादत्ते । या आहरज्जमदग्निरित्यादि यशसा च भगेन चेत्यन्तेन मन्त्रेण ॥२।६।२३॥

(गदाधरभाष्यम्)—'सुम…चेति' । सुमनसः पुष्पाणि प्रतीत्युपसर्गसामर्थ्याद् गुरुणा समर्पिताः सुमनसः प्रतिगृह्णाति या आहरदिति मन्त्रेण । याः सुमनसः पुष्पाणि जमदग्निः प्रजापतिः श्रद्धाद्यर्थमाहरत् आददौ । ताः सुमनसो यशसा कीर्त्या भगेनैश्वर्येण च सहाहं प्रतिगृह्णामि श्रद्धाद्यर्थम् । तत्र श्रद्धा धर्मादरः । मेधा धारणाशक्तिः । कामोऽभिलाषपूर्तिः । इन्द्रियं तत्पाटवम् ॥ २।६।२३ ॥

अनुवाद—'या आहरत्' इत्यादि मन्त्र पढ़कर फूल की माला ग्रहण करनी चाहिए ।

मन्त्रार्थ—(ऋषि भारद्वाज, छन्द अनुष्टुप्, सुमनाधिष्ठित देवता ।) जिन फूलों को प्रजापति जमदग्नि ने श्रद्धा, बुद्धि, कामना और शारीरिक क्रियाओं की सम्पूर्त्ति के लिए धारण किया था, यश और ऐश्वर्य की प्राप्ति हेतु मैं भी उन्हें उपर्युक्त गुणों की कामना से ग्रहण कर रहा हूँ ।

अथावबध्नीते—

यद् यशोऽप्सरसामिन्द्रश्चकार विपुलं पृथु ।
तेन सङ्ग्रथिताः सुमनस आबध्नामि यशो मयीति ॥ २।६।२४ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अथा···श इति' । अथ ताः प्रतिगृह्य अवबध्नीते शिरसि बध्नाति यद्यशोऽप्सरसामित्यादि यशोमयीत्यन्तेन मन्त्रेण ॥ २।६।२४ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'अथा···मयीति' । ताः प्रतिगृह्य स्वशिरसि बध्नाति यद्यशोऽप्सरसामिति मन्त्रेण । मन्त्रार्थः—हे सुमनसः ! इन्द्रो देवः अप्सरसामुर्वश्यादीनां कुसुमावबन्धेन यद्यशः सर्वजनप्रियत्वं चकार कृतवान् तेन यशसा सङ्ग्रथिताः युष्मान् आबध्नामि चूडायाम् । किम्भूतं यशः ? विपुलं विशालम् । एषु सन्ततं दीर्घं तद्यशो मयि विषये तिष्ठत्वित्यर्थः ॥ २।६।२४ ॥

अनुवाद—'यद्यशो···' इत्यादि मन्त्र पढ़कर उस पुष्पमाला को सिर पर धारण करे ।

मन्त्रार्थ—(ऋष्यादि पूर्वोक्त ।) इन्द्र ने जिन फूलों को गूँथकर स्वर्गीय अप्सरा उर्वशी को लोकप्रिय बनाया था, उन्हें ही मैं भी अपने सिर पर धारण कर रहा हूँ । मेरा विपुल यश सुस्थिर हो ।

उष्णीषेण शिरो वेष्टयते—युवा सुवासा इति ॥ २।६।२५ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'उष्णी···सा इति' । उष्णीषेण पूर्वोक्तलक्षणेन तृतीयेन वाससा शिरो मूर्द्धानं वेष्टयते । युवा सुवासा इत्यादिकया देवयन्त इत्येतयर्चा ॥२।६।२५॥

(गदाधरभाष्यम्)—'उष्णी···सा इति' । उष्णीषेण शिरोवेष्टनवस्त्रेण शिरो वेष्टयते । युवा सुवासा इति मन्त्रेण । व्याख्यातश्चायमुपनयने ॥ २।६।२५ ॥

अनुवाद—'युवासुवासा···' इत्यादि मन्त्र पढ़कर सिर में पगड़ी बाँधे ।

मन्त्रार्थ—(२।२।९ में व्याख्यात ।)

अलङ्करणमसि भूयोऽलङ्करणं भूयादिति कर्णवेष्टकौ ॥ २।६।२६ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अलं···वेष्टकौ' । अलङ्करणमसीति मन्त्रेण दक्षिणोत्तरयोः कर्णयोर्वेष्टकौ भूषणे प्रतिमन्त्रं प्रतिमुञ्चते परिधत्ते ॥ २।६।२६ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'अलं···वेष्टकौ' । कर्णवेष्टकौ कुण्डले दक्षिणसव्यकर्णयोरामुञ्चति । अलङ्करणमसीति मन्त्रावृत्त्या । मन्त्रार्थः—हे कुण्डलदेवते ! त्वमलङ्करणमलङ्कारशोभाऽसि । अतस्त्वयाऽलङ्कृतस्य मम भूयो बहुवारमलङ्करणं भूयात् अस्तु ॥ २।६।२६ ॥

अनुवाद—'अलंकरणम्···' इत्यादि मन्त्र पढ़कर कानों में कुण्डल पहने ।

'वृत्रस्ये'त्यङ्क्तेऽक्षिणी ॥ २।६।२७ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'वृत्र···क्षिणी'। वृत्रस्येत्यादिना चक्षुर्मे देहीत्यन्तेन मन्त्रेण यथाक्रमं दक्षिणवामे मन्त्रावृत्त्याऽक्षिणी अङ्क्ते सौवीराञ्जनेन संस्करोति ॥२।६।२७॥

(गदाधरभाष्यम्)—'वृत्र···क्षिणी'। वृत्रस्येत्यादि चक्षुर्मे देहीत्यन्तेन मन्त्रेण कज्जलेन अक्षिणी अङ्क्ते संस्करोति। सौवीराञ्जनेनेति हरिहरः। अत्र च सव्यं नेत्रमङ्क्त्वा ततो दक्षिणाञ्जनं मन्त्रावृत्त्या। तथा च दीक्षाप्रकरणे लिङ्गम्। सव्यं वा अग्रे मानुष इति। कारिकायाम्—वृत्रस्येत्यक्षिणी अङ्क्तेऽभ्यञ्जनेनाभिनासिकम्। सव्यं प्रथममित्येव श्रूयते बह्वृचश्रुतौ॥ हरिहरेण दक्षिणाञ्जनं पूर्वमुक्तं तदाशयं न विद्मः॥ २।६।२७॥

अनुवाद—'वृत्रस्य···' इत्यादि मन्त्र पढ़कर आँखों में काजल लगाये।

(मन्त्र)—वृत्रस्य कनीनिकाऽसि चक्षुर्दा असि चक्षुर्मे देहि।

रोचिष्णुरसीत्यात्मानमादर्शे प्रेक्षते ॥ २।६।२८॥

(हरिहरभाष्यम्)—'रोचि···क्षते'। रोचिष्णुरसीत्यनेन मन्त्रेण आत्मानं मुखप्रभृति शरीरमादर्शे दर्पणे प्रेक्षते पश्यति॥ २।६।२८॥

(गदाधरभाष्यम्)—'रोचि···क्षते'। आत्मानं सर्वं देहमादर्शे दर्पणे प्रेक्षते पश्यति रोचिष्णुरसीत्येतावता मन्त्रेण। मन्त्रार्थः—रोचिष्णुः प्रकाशकः॥ २।६।२८॥

अनुवाद—'रोचिष्णुरसि···' इत्यादि मन्त्र पढ़कर शीशा में अपना मुँह देखे।

छत्रं प्रतिगृह्णाति—

बृहस्पतेश्छदिरसि पाप्मनो मामन्तर्धेहि तेजसो यशसो माऽन्तर्धेहीति॥

(हरिहरभाष्यम्)—'छत्रं···र्द्धेहीति'। छत्रम् आतपत्रं बृहस्पतेश्छदिरसीत्यादिना यशसो मान्तर्धेहीत्यन्तेन मन्त्रेण प्रतिगृह्णाति प्रतिग्रहशब्दसामर्थ्यादन्यत आदत्ते॥ २।६।२९॥

(गदाधरभाष्यम्)—'छत्रं···हीति'। उपसर्गसामर्थ्याद् गुरुणा दत्तं छत्रमातपत्रं बृहस्पतेश्छदिरसीति मन्त्रेण प्रतिगृह्णाति। मन्त्रार्थः—हे छत्र! त्वं बृहस्पतेः पितामहस्य छदिर्घर्मादिनिवर्तकोऽसि प्रथमम् अतः पाप्मनो निषिद्धाचरणान्माम् अन्तर्द्धेहि अन्तर्हितं कुरु। तेजसश्च सकाशान्माऽन्तर्द्धेहि मा व्यवहितं कुरु तद्युक्तं कुर्वित्यर्थः॥ २।६।२९॥

अनुवाद—'बृहस्पतेः···' इत्यादि मन्त्र पढ़कर छत्र धारण करे।

मन्त्रार्थ—(ऋषि गौतम, छन्द गायत्री, छत्राधिष्ठित देवता।) हे छत्र! तुमने बृहस्पति को ढँककर उन्हें धूप से बचाया था, उसी तरह तुम मेरे पापों को ढँक दो तथा यश और तेज को प्रकाशित करो।

प्रतिष्ठेस्थो विश्वतो मा पातमित्युपानहौ प्रतिमुञ्चते॥ २।६।३०॥

(हरिहरभाष्यम्)—'प्रति···ञ्चते'। उपानहौ पादत्राणे प्रतिमुञ्चते परिधत्ते प्रतिष्ठे स्थो विश्वतो मा पातमित्यनेन मन्त्रेण परिधत्ते। मन्त्रस्य द्विवचनान्तत्वात्परिधातुं शक्यत्वाच्च युगपत्पादयोः प्रतिमुञ्चते प्रतिष्ठे इति द्विवचनं स्थ इति च॥२।६।३०॥

(गदाधरभाष्यम्)—'प्रति···ञ्चते'। प्रतिष्ठे स्थ इति मन्त्रेणं उपानहौ पादत्राणे पादयोः प्रतिमुञ्चते परिधत्ते युगपत् शक्यत्वाद् द्विवचनान्तत्वाच्च। मन्त्रार्थः—हे उपानहौ देवते ! युवां प्रतिष्ठे स्थितिहेतू स्थः भवथः। अतो विश्वतः सर्वस्मात्परिभवात् मा मां पातं रक्षतम् ॥ २।६।३० ॥

अनुवाद—'प्रतिष्ठे···' इत्यादि मन्त्र पढ़कर जूते पहने।

मन्त्रार्थ—(ऋषि प्रजापति, छन्द यजुष्, लिङ्गोक्त देवता।) हे उपानह ! तुम दोनों स्थिर होते हुए सब ओर से मेरी रक्षा करो।

विश्वाभ्यो मा नाष्ट्राभ्यस्परिपाहि सर्वत इति वैणवं दण्डमादत्ते॥२।६।३१॥

(हरिहरभाष्यम्)—'विश्वा···दत्ते'। विश्वाभ्यो मेत्यादिसर्वत इत्यन्तेन मन्त्रेण वैणवं वंशमयं दण्डं यष्टिमादत्ते गृह्णाति तच्चोक्तन्यायेन पूर्वदण्डं त्यक्त्वैव। इदमभिषेकप्रभृति दण्डग्रहणान्तं कर्मजातं स्नानकर्ता करोति नाचार्यः ॥ २।६।३१ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'विश्वा···दत्ते'। विश्वाभ्य इति मन्त्रेण वैणवं वंशमयं दण्डं यष्टिमादत्ते। अत्राभिषेकादिदण्डधारणान्तं कर्म स्नानकर्तुर्न त्वाचार्यस्य। मन्त्रार्थः—हे दण्ड ! विश्वाभ्यः सर्वाभ्यः नाष्ट्राभ्यो राक्षसादिभ्यः सर्वावस्थासु मा मां परिपाहि सर्वभावेन रक्ष ॥ २।६।३१ ॥

अनुवाद—'विश्वाभ्यो···' इत्यादि मन्त्र पढ़कर बाँस की छड़ी हाथ में ले।

मन्त्रार्थ—(ऋषि याज्ञवल्क्य, छन्द यजुः, दण्डाधिष्ठित देवता।) हे वेणुदण्ड ! तुम सम्पूर्ण राक्षसादि हिंसकों से मेरी रक्षा करो।

दन्तप्रक्षालनादीनि नित्यमपि वासश्छत्रोपानहश्चापूर्वाणि चेन्मन्त्रः॥

(हरिहरभाष्यम्)—'दन्त···मन्त्रः'। दन्तप्रक्षालनमादौ येषां पुष्पादानादीनां तानि दन्तप्रक्षालनादीनि नित्यमपि सर्वदा मन्त्रवन्ति स्नातकस्य भवन्ति। वाससी च छत्रं च उपानहौ च वासश्छत्रोपानहं चकाराद्दण्डोऽपि। एतानि चेद्यदि अपूर्वाणि नूतनानि ध्रियन्ते गृह्यन्ते तदा मन्त्रो भवति तद्ग्रहणे ॥ २।६।३२ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'दन्त···मन्त्र'। दन्तप्रक्षालनमादौ येषां पुष्पादीनां तानि दन्तप्रक्षालनादीनि तत्साधनानि प्राप्य नित्यमपि नित्यमेव मन्त्रो भवति। अपि एवार्थे। वाससी च छत्रं च उपानहौ च वासश्छत्रोपानहः चकाराद्दण्डोऽपि। एतानि वाससादीनि चेद्यदि नवीनानि ध्रियन्ते तदैव मन्त्रो भवति न सर्वदा ॥ २।६।३२ ॥

अथ पदार्थक्रमः। सुरेश्वरः—भौमभानुजयोर्वारे नक्षत्रे च व्रतोदिते। ताराचन्द्रविशुद्धौ च स्यात्समावर्तनक्रिया ॥ इति। एतच्च ब्रह्मचारिव्रतलोपे प्रायश्चित्तं कृत्वा कार्यम्। तदाह बौधायनः—शौचसन्ध्यादर्भभिक्षाऽग्निकार्यराहित्यकौपीनोपवीतमेखलादण्डाजिनाधारणदिवास्वापच्छत्रपादुकास्रग्विधारणोद्वर्तनानुलेपनाञ्जनद्यूतनृत्यगीतवाद्याद्यभिरतो ब्रह्मचारी कृच्छ्रत्रयं चरेदिति।

ब्रह्मचारी गुरुमर्थदानेन सम्पूज्य तेनानुज्ञातो ज्योतिश्शास्त्रोक्ते शुभे काले आचार्यगृहे समावर्तनं नाम कर्म कुर्यात् । ब्रह्मचारी कृतनित्यक्रियः कृतप्रातरग्निकार्यश्च ।

तत आचार्यः प्राणानायम्य देशकालौ स्मृत्वा अस्य ब्रह्मचारिणो गृहस्थाद्याश्रमान्तरप्राप्तिद्वारा श्रीपरमेश्वरप्रीत्यर्थं समावर्तनाख्यं कर्माहं करिष्ये इति सङ्कल्प्य तदङ्गभूतं निर्विघ्नार्थं गणपतिपूजनं स्वस्तिपुण्याहवाचनं मातृकापूजनं नान्दीश्राद्धं चाहं करिष्ये । श्राद्धादि समाप्य । तत आचार्यम् अहं स्नास्ये इत्युक्ते स्नाहीति प्रत्यनुज्ञा गुरोः । ततः पादोपसङ्ग्रहणं गुरोः । तत परिश्रिते पञ्च भूसंस्कारान्कृत्वा लौकिकाग्नेः स्थापनम् । वैकल्पिकावधारणे विशेषः । दधिप्राशनममोत्रधौतवस्त्रम् । ततो ब्रह्मवरणाज्यभागान्ते विशेषः—उपकल्पनीयेषु समिन्धनकाष्ठानि, समिधः, पर्युक्षणार्थमुदकं, हरितकुशाः, अष्टावुदकुम्भाः, औदुम्बरं द्वादशाङ्गुलं दन्तकाष्ठं ब्राह्मणस्य, दशाङ्गुलं राजन्यस्य, अष्टाङ्गुलं वैश्यस्य, दधि, नापितः स्नानार्थमुदकमुद्वर्तनद्रव्यं चन्दनमहते वाससी ।

प्रयोगरत्नमते—यज्ञोपवीते, पुष्पाणि, उष्णीषं, कर्णालङ्कारौ, अञ्जनम्, आदर्शः, नूतनं छत्रम्, उपानहौ, वैणवो दण्डः । ततः पवित्रकरणाद्याज्यभागान्तं कुर्यात् । १ अन्तरिक्षाय स्वाहा । २ वायवे स्वाहा । ३ ब्रह्मणे स्वाहा । ४ छन्दोभ्यः स्वाहा । ५ प्रजापतये स्वाहा । ६ देवेभ्यः स्वाहाः । ७ ऋषिभ्यः स्वाहा । ८ श्रद्धायै स्वाहा । ९ मेधायै स्वाहा । १० सदसस्पतये स्वाहा । ११ अनुमतये स्वाहा । लिङ्गोक्तास्त्यागाः । यदि ऋग्वेदमधीत्य स्नाति तदा १ पृथिव्यै स्वाहा २ अग्नये स्वाहेत्याहुतिद्वयं हुत्वा ब्रह्मणे छन्दोभ्य इत्यारभ्यानुमत्यन्ता नवाहुतीर्जुहोति ।

एवं सामवेदे दिवे सूर्ययेत्याहुतिद्वयं हुत्वा ब्रह्मणे इत्याद्या नवाहुतीर्जुहोति । एवमथर्ववेदेऽपि दिग्भ्यश्चन्द्रमस इत्याहुतिद्वयं हुत्वा ब्रह्मणे छन्दोभ्य इत्याद्या जुहोति ।

यदि वेदचतुष्टयमधीत्य स्नानं करोति तदा आज्यभागानन्तरं प्रतिवेदं वेदाहुतिद्वयं हुत्वा ब्रह्मणे छन्दोभ्य इत्याज्याहुतीः पुनः पुनर्जुहोति । ततः प्रजापतय इत्यारभ्यानुमत्यन्ताः सप्ताहुतीस्तन्त्रेण जुहोति । एवं वेदद्वयत्रयाध्ययनेऽपि योज्यम् । ततो भूराद्या नवाहुतयः । ततः स्विष्टकृद्धोमः । ततः प्राशनादिप्रणीताविमोकान्तम् ।

ततो ब्रह्मचारी उपसङ्ग्रहणपूर्वकं गुरुं नमस्कृत्य परिसमूहनादि त्र्यायुषकरणान्तं समिदाधानं तस्मिन्नेवाग्नौ कुर्यात् । तत आचार्यपुरुषैः परिश्रितस्योत्तरभागे स्थापितानां दक्षिणोत्तरायतानामष्टानाममलजलपूर्णानामुदकुम्भानां पूर्वभागे आस्तृतेषु प्रागग्रेषु कुशेषु उदङ्मुखः स्थित्वा येऽप्स्वन्तरिति मन्त्रेण प्रथमकलशादुदकं गृहीत्वा तेनोदकेन स्वकीयशिरसोऽभिषेकस्तेन मामिति मन्त्रेण । एवमेव द्वितीयादिभ्य उदकुम्भेभ्यो येऽप्स्वन्तरित्यनेनैवैकैकस्माज्जलमादाय वक्ष्यमाणैर्मन्त्रैरभिषेकः । येन श्रियमिति द्वितीयः । आपोहिष्ठेति तृतीयः । यो व इति चतुर्थः । तस्मा इति पञ्चमः । ततस्तूष्णीं त्रिवारमभिषेकः । तत उदुत्तममिति मेखलां शिरोमार्गेण निस्सार्य भूमौ प्रक्षेपः । ततः कृष्णाजिनदण्डयोस्त्यागः ।

वासोऽन्यत्परिधायादित्योपस्थानमुद्यन्भ्राजभृष्णुरिति । ततो दधिप्राशनं तिलानां वा । जटालोमनखानां निकृन्तनं स्नानमौदुम्बरकाष्ठेन दन्तधावनमन्नाद्यायेति । ततः सुगन्धितद्रव्येणोद्वर्तनम् । स्नानम् । चन्दनाद्यनुलेपनं गृहीत्वा मुखनासिकयोरुपग्रहणं प्राणापानाविति । ततोऽपसव्येन दक्षिणामुखेन पाण्योरवनेजनजलस्य दक्षिणस्यां दिशि निषेकः पितरः शुन्धध्वमिति । ततः सव्येनोदकालम्भः । ततश्चन्दनेनात्मानमनुलिप्य सुचक्षा अहमिति जपः । अहतवाससः परिधानं परिधास्या इति । अरजकधौतस्य वा । द्विराचमनम् । धारयेद्वैणवीं । यष्टिं सोदकं च कमण्डलुम् । यज्ञोपवीतं वेदं च शुभे रौक्मे च कुण्डले । इति मनूक्तत्वादत्रोपवीतद्वयधारणमिति हरिहरः प्रयोगरत्नकारश्च ।

तत उत्तरीयवाससो धारणं यशसामेति । एकं चेत्पूर्वस्यैवोत्तरभागेनोत्तरीयधारणम् । या आहरज्जमदग्निरिति सुमनसः प्रतिग्रहः । ततः शिरसि पुष्पबन्धनं यद्यशोऽप्सरसेति । उष्णीषेण शिरोवेष्टनं युवा सुवासा इति । अलङ्करणमसीति कुण्डलधारणम् । मन्त्रावृत्त्या दक्षिणकर्णं वामकर्णे च । वृत्रस्येत्यक्षिणी अङ्क्ते । प्रथमं वामं ततो दक्षिणमनेनैव मन्त्रेण । रोचिष्णुरसीत्यनेनात्मन आदर्शे प्रेक्षणम् । बृहस्पतेरिति छत्रप्रांतग्रहणम् । प्रतिष्ठे स्थ इत्युपानहौ प्रतिमुञ्चते पादयोर्युगपत् । ततो विश्वाभ्य इति दण्डादानम् । अभिषेकादि दण्डादानान्तं स्नानकर्ता करोति नाचार्यः ।

समावर्तनोत्तरं पूर्वमृतानां त्रिरात्रमाशौचं कार्यम् । आदिष्टी नोदकं कुर्यादाव्रतस्य समापनात् । समाप्ते तूदकं दत्वा त्रिरात्रमशुचिर्भवेदित्युक्तेः । आदिष्टी ब्रह्मचारीति विज्ञानेश्वरः । ब्रह्मचर्ये यदि कश्चिन्न मृतस्तदा त्रिरात्रमध्ये विवाहः कार्योऽन्यथा नेति सिध्यति । जनने तु सत्यपि न त्रिरात्रम् । तत्रातिक्रान्ताशौचाभावात् । उदकं दत्त्वेति वचनाच्चेति दिक् । ततो मधुपर्कः । इति समावर्तने पदार्थक्रमः । अत्र गर्गमते होमो नास्ति अन्यत्तुल्यम् ।

अनुवाद—दन्तधावन करते समय नित्य मन्त्र पढ़े तथा नये कपड़े, छाता, जूते आदि पहनते समय भी मन्त्र अवश्य पढ़ें ।

द्वितीयकाण्ड में षष्ठ कण्डिका समाप्त ।

सप्तमी कण्डिका

स्नातस्य यमान् वक्ष्यामः ॥ २।७।१ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'स्नात····क्ष्यामः' । स्नातस्य ब्रह्मचर्यात्समावृत्तस्य द्विजातेः यमान् व्रतानि वक्ष्यामः कथयिष्यामहे ॥ २।७।१ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'स्नात···क्ष्यामः' । स्नातस्य ब्रह्मचर्यात्समावृत्तस्य त्रैवर्णिकस्य यमान् नियमान् वक्ष्यामः । अधिकारसूत्रमेतत् । तेषु स्नातकोऽधिक्रियते ॥२।७।१॥

अनुवाद—इसके बाद स्नातकों द्वारा पालन करने योग्य यम बतलायेंगे ॥ १ ॥

कामादितरः ॥ २।७।२ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'कामादितरः' । कामात् इच्छया इतरः द्विजातेरन्यः शूद्र इति यावत् यमेषु अस्नातकोऽपि अधिक्रियते ॥ २।७।२ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'कामादितरः' । कामादिच्छातः इतरः स्नानसम्बन्धशून्यः शूद्रोऽभिधीयते । स हि स्नातको न भवति । एवं सतीच्छया शूद्रस्यापि यमेष्वधिकारो भवति ॥ २।७।२ ॥

अनुवाद—द्विजातिभिन्न वर्ण के व्यक्ति भी अपनी इच्छा से इसका पालन कर सकते हैं ।

नृत्यगीतवादित्राणि न कुर्यान्न च गच्छेत् ॥ २।७।३ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'नृत्य···च्छेत्' । नृत्यं लास्यादिभेदभिन्नं गीतं षड्जादिस्वरैर्ध्रुवादिरूपकविशेषैर्निबद्धम् । वादित्रं तन्त्र्यादिभेदेन चतुर्विधम् । नृत्यं च गीतं च वादित्रं च नृत्यगीतवादित्राणि तानि स्वयं न कुर्यान्न च गच्छेत् । नृत्यादीनि अन्यैरपि क्रियमाणानि न गच्छेत् द्रष्टुं श्रोतुम् । चकारः करोतेर्गच्छतिक्रियासमुच्चयार्थः ॥ २।७।३ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—तानाह—'नृत्य···च्छेत्' । नृत्यं च गीतं च वादित्रं च नृत्यगीतवादित्राणि तानि स्वयं न कुर्यात् न च गच्छेत् नृत्यादीनि अन्यैः क्रियमाणानि द्रष्टुं श्रोतुं वा न व्रजेत् ॥ २।७।३ ॥

अनुवाद—नाचने, गाने और बजाने का काम न स्वयं करे और नहीं दूसरों द्वारा अनुष्ठित ऐसे कार्य में सम्मिलित हो ।

कामं तु गीतं गायति—

वैव गीते वा रमत इति श्रुतेर्ह्यपरम् ॥ २।७।४ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'कामं···तेर्हि' । अत्र गीते प्रतिप्रसवमाह । तु पुनः काममिच्छया गीतं गानं स्वयं कुर्यात् परैः क्रियमाणं च गच्छेच्छ्रोतुम् । कुतः ? हि यस्मात् गायति स्वयं गानं करोति गीते वा अन्यैः क्रियमाणे गाने वा रमते रतिं प्राप्नोति इति श्रुतिर्वेदवचनम् । कः ? यः सर्वः कृत्स्नो मन्यते आत्मानं सुखिनं सम्पूर्णं मन्यते स स्वयं गायति गीतं च शृणोति । 'अपरम्' अपरमपि गायेत गीतं च शृणुयादित्येतदर्थंज्ञापकं

वेदे लिङ्गमस्ति । यथाऽश्वमेधे श्रूयते दिवा ब्राह्मणो गायति नक्तं राजन्य इति । अनेन ब्राह्मणराजन्ययोः स्वयं गानेऽधिकारोऽस्तीति ज्ञायते । तथा तौ च अश्वमेधयाजिनं यजमानं राजन्यं श्रावयितुं गायतः तेन श्रवणेऽप्यधिकारो गम्यते ॥ २।७।४ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'कामं तु गीतम्' । तु पुनः काममिच्छया गीतं गानं स्वयं कुर्यात् । अन्यैः क्रियमाणं श्रोतुं गच्छेच्च । कर्मण्यौपयिकत्वाद् गीतस्य । दृश्यते हि अश्वमेधे गानम् । ब्राह्मणोऽन्यो गायति राजन्योऽन्य इति । न चाक्रियमाणं शक्यते गातुमिति । 'गाय···रम्' । अपरम् उषासम्भरणकाण्डे वचनमस्ति—तस्माद्धैतद्यः सर्वः कृत्स्नो मन्यते गायति वैव गीते वा रमत इति । अपरग्रहणाच्च पूर्वं न्यायप्राप्तमभिहितम् । एवञ्च यत्रापि पुनर्वचनेन देवताग्रे नृत्यगीतादिकं विहितं तत्रापि ब्राह्मणादिभिः कार्यमेव । विहिते निषेधाप्रवृत्तेः ॥ २।७।४ ॥

अनुवाद—यदि अपनी इच्छा हो तो इसे करे भी या दूसरों के इन कार्यों में सम्मिलित भी हुआ जा सकता है । क्योंकि श्रुति का कथन है, कि इस काम में व्यक्ति का मन रमता है ।

क्षेमे नक्तं ग्रामान्तरं न गच्छेन्न च धावेत् ॥ २।७।५ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'क्षेमे···च्छेत्' । क्षेमे सति आपदभावे सति नक्तं रात्रौ ग्रामान्तरं अन्यद्ग्रामं न गच्छेत् अक्षेमे तु गच्छेत् । 'न च धावेत्' क्षेमे सतीत्यनुषज्यते न च धावेत् शीघ्रं न गच्छेत् ॥ २।७।५ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'क्षेमे···च्छेत्' । क्षेमे आपदभावे सति नक्तं रात्रौ ग्रामान्तरमन्यद्ग्रामं न गच्छेत् । अक्षेमे तु नक्तमपि गच्छेत् । 'न च धावेत्' । क्षेम इत्यनुवर्तते । क्षेमे सति न च धावेत् शीघ्रं न गच्छेत् ॥ २।७।५ ॥

अनुवाद—यदि कोई विशेष विपत्ति न आये तो रात में दूसरे गाँव में न जाय और अनावश्यक न दौड़े ।

उदपानावेक्षण-वृक्षारोहण-फलप्रपतन-सन्धिसर्पण-विवृतस्नान-विषमलङ्घन-शुक्तवदनसन्ध्याऽऽदित्यप्रेक्षणभैक्षणानि न कुर्यात् । न ह वै स्नात्वा भिक्षेतापह वै स्नात्वा भिक्षां जयतीति श्रुतेः ॥ २।७।६ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'उद···र्यात्' । उदपानस्य कूपस्यावेक्षणमुपरि स्थित्वा अधोमुखीभूयावलोकनं वृक्षस्य आरोहणमुपरिगमनं, फलानामाम्रादीनां प्रपतनं त्रोटनं, सन्धौ सन्ध्यासमये सर्पणमध्वगमनं, सन्धिना अपमार्गेण वा सर्पणम्, विवृतेन नग्नेन स्नानं, विषमस्य पर्वतगर्तादेर्लङ्घनमतिक्रमणं, शुक्तस्य अश्लीलस्य वदनं भाषणम्, अश्लीलं तु त्रिविधं—लज्जाकरं दुःखकरममङ्गलसूचकं च । सन्ध्यासु आदित्यस्य सूर्यमण्डलस्य रागतः प्रेक्षणं दर्शनमुपरक्तस्य वारिप्रतिबिम्बितस्य च । नोपरक्तं न वारिस्थमिति मनुस्मृतेः । नेक्षेतादित्यमुद्यन्तं नास्तं यान्तं कदाचन । नोपसृष्टं न वारिस्थं न मध्यं नभसो गतम् ॥ इति स्मृतेः । भिक्षणं भिक्षाचर्या । एतानि उदपानावेक्षणादीनि भिक्षणान्तानि वर्जयेत् । 'न ह···श्रुतेः' । भिक्षणप्रतिषेधे श्रुतिं प्रमाणत्वेनावतारयति स्नात्वा समावर्त्य

न भिक्षेत यतः स्नात्वा भिक्षामपजयति अपाकरोति। ह वै इति निपातसमुदायो निश्चयार्थं इति वेदवचनात् ॥ २।७।६ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'उद···र्यात्'। उदपानस्य कूपस्यावेक्षणमुपरि स्थित्वा अधोमुखीभूयावलोकनम्। आम्रादिवृक्षस्यारोहणमुपरि गमनम्। फलानामाम्रादीनां प्रपतनं त्रोटनम्। सन्धौ सन्ध्यासमये सर्पणमध्वगमनम्। सन्धिः कुद्दारं सर्पगर्तादिलक्षणं वा तत्र सर्पणम्। विवृतेन नग्नेन स्नानम्। विषमस्य पर्वतगर्तादेर्लङ्घनमतिक्रमणम्। शुक्तवदनमश्लीलभाषणम्। सन्ध्यादित्यप्रेक्षणं सन्ध्यासु सूर्यावेक्षणम्। नेक्षेतादित्यमुद्यन्तं नास्तं यान्तं कदाचन। नोपसृष्टं न वारिस्थं न मध्यं नभसो गतम् ॥ इति स्मृतेः। भिक्षणं सिद्धान्नस्यैव। उदपानावेक्षणादीनि वर्जयेत्। तत्र भैक्षणप्रतिषेधे प्रत्यक्षमेव वचनमस्तीत्याह—'न ह···श्रुतेः'। स्नात्वा समावर्त्य न भिक्षेत। यतः स्नात्वा भिक्षामपजयति अपाकरोति। ह वै इति निपातसमुदायो निश्चयार्थः। अत्र यो दृष्टार्थविषयः प्रतिषेधस्तत्र दृष्टार्थत्वादेवाकरणे प्राप्ते प्रतिषेधविधानसामर्थ्याददृष्टार्थताऽप्यनुमीयते ॥ २।७।६ ॥

अनुवाद—कुएँ में न झाँके, पेड़ पर न चढ़े, कच्चे फल तोड़कर न गिराये, सन्धिवेला अर्थात् सायं-प्रातःकाल यात्रा न करे, नंगा स्नान न करे, ऊबड़-खाबड़ भूमि न लाँघे, गन्दी बातें न बोले, संध्यावेला में सूर्यदर्शन न करे, भीख न माँगे। श्रुतिवचनानुसार समावर्त्तन संस्कार के बाद भिक्षाटन से स्नातक का पतन हो जाता है।

वर्षत्यप्रावृतो व्रजेत्—अयं मे वज्रः पाप्मानमपहनदिति ॥ २।७।७ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'वर्ष···दिति'। देवे वर्षति अप्रावृतः अनाच्छादितो व्रजेत् गच्छेत् अयं मे वज्र इत्यनेन मन्त्रेण ॥ २।७।७ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'वर्ष···दिति'। पर्जन्ये वर्षति अप्रावृत अनाच्छादित एव व्रजेत् गच्छेत् अयं मे वज्र इति मन्त्रेण। मन्त्रार्थः—जलकणरूपो वज्रो मम पाप्मानमपहनत् अपहन्तु ॥ २।७।७ ॥

अनुवाद—यदि वर्षा पड़ रही हो तो 'अयं मे वज्रः' इत्यादि मंत्र पढ़कर बिना छाता लगाये ही चले।

मन्त्रार्थ—(ऋषि प्रजापति, छन्द जगती, देवता व्रज्र।) यह रविरश्मि-संस्कृत जलकण रूपी वज्र मेरे पापों को नष्ट कर दे।

अप्स्वात्मानं नावेक्षेत ॥ २।७।८ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अप्स्वा···क्षेत'। अप्सु जले आत्मानं स्वमुखं नावेक्षेत न पश्येत् ॥ २।७।८ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'अप्स्वा···क्षेत'। अप्सु जले आत्मानं स्वशरीरं न पश्येत् ॥ २।७।८ ॥

अनुवाद—पानी में अपनी परछाईं न देखे।

अजातलोम्नीं विपुंसीꣳ षण्ढं च नोपहसेत् ॥ २।७।९ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अजा···सेत्' । समयेऽपि न जातानि लोमानि यस्याः सा अजातलोम्नी ताम् अजातलोम्नीं नोपहसेत् न च गच्छेत् । विपुंसीं च पुरुषाकारां स्त्रियं कूर्चादिविकारेण नोपहसेदित्यनुवर्तते । षण्ढं नपुंसकं नोपहसेदित्यनुवर्तते ॥ २।७।९ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'अजात·······सेत्' । समयेऽप्यनुत्पन्नलोम्नीम् अजातानि लोमानि यस्याः सेयमजातलोम्नी ताम् । विपुंसीं कूर्चादिना पुरुषाकृतिं स्त्रियम् । षण्ढः प्रसिद्ध एव । एतानि नोपहसेत् नाभिगच्छेत् उपहासशब्देनाभिगमनमुच्यते ।२।७।९।

अनुवाद—जिस स्त्री की देह में रोआँ न हो, या जिसके मुँह में मूँछ-दाढ़ी हो या जो पुरुष नपुंसक हो उसका उपहास नहीं करना चाहिए।

गर्भिणीं विजन्येति ब्रूयात् ॥ २।७।१० ॥
सकुलमिति नकुलम् ॥ २।७।११ ॥
भगालमिति कपालम् ॥ २।७।१२ ॥
मणिधनुरितीन्द्रधनुः ॥ २।७।१३ ॥
गां धयन्तीं परस्मै नाचक्षीत ॥ २।७।१४ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'गर्भि···यात्' । गर्भिणीं अन्तर्वत्नीं विजन्या इति नाम ब्रूयात् वदेत् । 'सकु···क्षीत' । सकुलमिति नकुलं ब्रूयात् । कपालं कर्परं भगालमिति ब्रूयात् । इन्द्रधनुः मणिधनुरिति ब्रूयात् । परस्य गां सुरभिं धयन्तीं वत्सं पाययन्तीं परस्मै अन्यस्मै स्वामिने नाचक्षीत न कथयेत् ॥ २।७।१०-१४ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'गर्भि···क्षीत' । गर्भिणीं विजन्येति ब्रूयात् । गर्भिणीं गुर्वीम् विजन्येति पर्यायशब्देन वदेत् न गर्भिणीमिति । उत्तरत्राप्येवमेव योज्यम् । सकुलमिति नकुलम् । सकुलमिति नकुलं ब्रूयात् । भगालमिति कपालम् । भगालमिति कपालं कर्परं ब्रूयात् । मणिधनुरितीन्द्रधनुः । मणिधनुरिति इन्द्रधनुर्ब्रूयात् । गां धयन्तीं परस्मै नाचक्षीत । परस्य गां सुरभिं धयन्तीं वत्सं पाययन्तीम् अन्यस्मै परस्मै स्वामिने वा नाचक्षीत न कथयेत् ॥ २।७।१०-१४ ॥

अनुवाद—गर्भिणी स्त्री को गर्भिणी न कहकर कल्याणप्रसवा कहे। निर्वंश को सवंश कहना चाहिए। कपाल को भगाल कहना चाहिए। इन्द्रधनुष को मणिधनुष कहना चाहिए। बछड़े को दूध पिलाती गाय के बारे में दूसरे को नहीं बतलाना चाहिए।

उर्वरायामनन्तर्हितायां भूमावुत्सर्पंस्तिष्ठन्न मूत्रपुरीषे कुर्यात् ॥ २।७।१५ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'उर्व···र्यात्' । उर्वरायां सस्यवत्यां भूमौ पृथिव्यां केवलायां तृणैरनन्तर्हितायां मूत्रपुरीषे मूत्रस्य पुरीषस्य वा उत्सर्गं न कुर्यात् । किञ्च तिष्ठन् ऊर्ध्वः न कुर्यात् । तथा उत्सर्पन् उत्प्लवमानः सन् न कुर्यात् ॥ २।७।१५ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'उर्व···र्यात्' । उर्वरायां सस्यवत्यां भूमौ तृणैरनन्तर्हितायां केवलायां च मूत्रस्य पुरीषस्य वा उत्सर्गं न कुर्यात् । किञ्च । तिष्ठन् ऊर्ध्वः सन् न कुर्यात् । तथोत्सर्पन् उत्प्लवमानस्सन्न कुर्यात् ॥ २।७।१५ ॥

अनुवाद—उर्वर या नंगी धरती (बंजरभूमि) पर खड़े होकर या बैठकर मल-मूत्र का त्याग न करे ।

स्वयं प्रशीर्णेन काष्ठेन गुदं प्रमृजीत ॥ २।७।१६ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'स्वयं···जीत' । स्वयमात्मनः प्रयत्नं विना प्रशीर्णेन स्वयं छिन्नेन पतितेर्न काष्ठेन दारुशकलेन अयज्ञीयेन प्रमृजीत प्रोञ्छेत् । पुरीषोत्सर्गसन्निधा-नात् गुदमित्यध्याहारः ॥ २।७।१६ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'स्वयं······जीत' । आत्मनः प्रयत्नमन्तरेण स्वयमेव प्रशीर्णेन छिन्नेन दारुशकलेन गुदं प्रमृजीत प्रोञ्छेत् परिमार्जयेत् । ततः शौचं कुर्यात् ॥ २।७।१६ ॥

अनुवाद—अपने आप पेड़ की डाल से टूटकर गिरी हुई लकड़ी के टुकड़े से गुप्ताङ्ग को साफ करना चाहिए ।

विकृतं वासो नाच्छादयीत ॥ २।७।१७ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'विकृ···यती' । विकृतं मञ्जिष्ठादिरागेण विकारमापादितं वासो वस्त्रं न परिदधीत । नील्यादिना रक्तं विकृतं निषिध्यते कषायरक्तं तु न निषि-ध्यते किन्तु प्रशस्यत इति भाष्यकारः ॥ २।७।१७ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'विकृ····यीत' । विकृतं नील्यादिना विकारमापादितं वस्त्रं न परिदधीत । अत्र न कषायप्रतिषेधः । कषायरक्तं तु प्रशस्यत इति भाष्यकाराः ॥

अनुवाद—गन्दे, फटे और अनुपयुक्त वस्त्र न पहने ।

दृढव्रतो वधत्रः स्यात् सर्वत आत्मानं गोपायेत् सर्वेषां मित्रमिव (शुश्रियमध्येष्यमाणः) ॥ २।७।१८ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'दृढ····मिव' । दृढं स्थिरं व्रतं प्रारब्धं कर्म यस्य स दृढव्रतः स्यात् भवेत् । किञ्च वधात् घातात् त्रायते रक्षतीति वधत्रः स्यात् । किञ्च सर्वेषां स्वेषां परेषां च मित्रमिव सखेव सुहृदिव हितकारी स्यादित्यर्थः । मैत्रो ब्राह्मण उच्यते इति स्मरणात् । अत्र यो दृष्टार्थविषयः प्रतिषेधः तत्र दृष्टार्थादेव निवृत्तिप्राप्तौ प्रतिषेध-सामर्थ्याददृष्टमप्यनुमीयते । अत एव प्रायश्चित्तस्मरणम् । स्नातकव्रतलोपे तु एक-रात्रमभोजनमिति स्मरणात् ॥ २।७।१८ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'दृढ···स्यात्' । दृढं व्रतं सङ्कल्पो यस्य स दृढव्रतः स्यात् भवेत् । तथा वधात् घातादात्मानं परं च त्रायते रक्षतीति वधत्रः स्यात् । 'सर्व······मिव' । सर्वेषां स्वेषां परेषां च मित्रमिव सखेव सर्वेषु सुहृदिव हितकारी भवेत् मैत्रो ब्राह्मण उच्यत इति स्मृतेः ॥ २।७।१८ ॥

अनुवाद—निष्ठापूर्वक अपने व्रत का पालन करना चाहिए, सब के साथ मित्रवत् व्यवहार करना चाहिए, दूसरों का रक्षक बनना चाहिए, अपनी रक्षा सर्वतोभावेन करनी चाहिए ।

द्वितीयकाण्ड में सप्तम कण्डिका समाप्त ।

अष्टमी कण्डिका

तिस्रो रात्रीर्व्रतं चरेत् ॥ २।८।१ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'तिस्रो···रेत्' । एवं स्नातकस्य समावर्तनप्रभृति यावद्गार्हस्थ्यं कर्तव्यत्वेन वर्जनीयत्वेन च नृत्यगीतादीन्यभिधाय अधुना तस्यैव समावर्तनदिनमारभ्य त्रिरात्रव्रतचर्यामाह । तिस्रः त्रिसङ्ख्या रात्रीः अहोरात्राणि व्रतं वक्ष्यमाणं चरेत् अनुतिष्ठेत् ॥ २।८।१ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—स्नातस्य समावर्तनप्रभृति यावद् गार्हस्थ्यं धर्मानभिधायाधुना तस्यैव समावर्तनदिनमारभ्य त्रिरात्रं व्रतमाह—'तिस्रो···रेत्' । वक्ष्यमाणं व्रतं तिस्रः त्रिसङ्ख्याः रात्रीः अहोरात्राणि चरेदनुतिष्ठेत् ॥ २।८।१ ॥

अनुवाद—समावर्त्तन के दिन से तीन दिन तक स्नातक को व्रत रखना चाहिए ॥ १ ॥

अमाꣳसाश्यमृण्मयपायी ॥ २।८।२ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अमाꣳ···पायी' । मांसमश्नातीत्येवंशीलो मांसाशी तद्विपरीतः अमांसाशी मृण्मयेन मृदादिनिर्मितेन पात्रेण पिबतीति मृण्मयपायी तद्विपरीतः अमृण्मयपायी स्यादिति शेषः ॥ २।८।२ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'अमाꣳ···पायी' । मांसमश्नातीत्येवंशीलो मांसाशी न मांसाशी अमांसाशी, मृण्मयेन मृत्पात्रेण पिबतीत्येवंशीलो मृण्मयपायी न मृण्मयपायी अमृण्मयपायी स्यादिति शेषः ॥ २।८।२ ॥

अनुवाद—मांस न खाये तथा मिट्टी के बर्तन में पानी न पीये ।

स्त्रीशूद्रशवकृष्णशकुनिशुनां चादर्शनमसम्भाषा च तैः ॥ २।८।३ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'स्त्रीशू···च तैः' । स्त्री नारी शूद्रश्चतुर्थो वर्णः शवो मृतशरीरं कृष्णशकुनिः काकः श्वाः कुक्कुरः । एतेषामदर्शनमवलोकनाभावः । तैः स्त्रीशूद्रादिभिश्च सह असम्भाषा न सम्भाषा असम्भाषा अवचनव्यवहारः ॥ २।८।३ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'स्त्रीशू···च तैः' । स्त्री नारी शूद्रोऽन्त्यवर्णः शवः मृतशरीरं कृष्णशकुनिः काकः श्वा कुक्कुर एतेषामदर्शनं भवेत् । एतैः स्त्र्यादिभिः सहासम्भाषणं च अवचनव्यवहारः । अत्र यस्य येन यादृक् सम्भाषणं प्राप्तं तादृङ् निषिध्यते ॥२।८।३॥

अनुवाद—नारी, शूद्र, मुर्दा, कौए और कुत्तों को न देखे और न इनके साथ बातें करें ।

शवशूद्रसूतकान्नानि च नाद्यात् ॥ २।८।४ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'शव···द्यात्' । नाद्यात् न भक्षयेत् कानि शवो मृतकः

तस्मिन् जाते सति क्रीत्वा लब्ध्वा वा यत् ज्ञातिभिरद्यते । शूद्रस्य अवरवर्णस्य नापितादेर्भोज्यान्नस्यापि यदन्नं तच्छूद्रान्नं, सूतके प्रसवाशौचे सति यत् ज्ञातीनामन्नं तत्सूतकान्नं तानि शवशूद्रसूतकान्नानि चकारः स्त्रियाद्यदर्शनादिसंमुच्चयार्थः ॥२।८।१४॥

(गदाधरभाष्यम्)—'शव···द्यात्' । मरणानन्तरं क्रीत्वा लब्ध्वा वा ज्ञातिभिर्य-द्यते तच्छवान्नम् । शूद्रस्य भोज्यान्नस्य नापितादेरन्नं शूद्रान्नम् । प्रसवे सति अर्वाग् दशाहात् यत् ज्ञातीनामन्नं तत्सूतकान्नम् । एतानि नाद्यान्न भक्षयेत् ॥ २।८।१४ ॥

अनुवाद—मरणोपरान्त उनके गृहसम्बन्धियों का, शूद्र का तथा जननाशौचवाले लोगों का अन्न नहीं खाना चाहिए ।

मूत्रपुरीषे ष्ठीवनं चातपे न कुर्यात् सूर्याच्चात्मानं नान्तर्दधीत ॥२।८।१५॥

(हरिहरभाष्यम्)—'मूत्र···र्यात्' । मूत्रं च पुरीषं च मूत्रपुरीषे आतपे घर्मे न कुर्यात् नोत्सृजेत् तथा ष्ठीवनं च थूत्कृत्य मुखाल्लालादिनिस्रावं न कुर्यादातपे । 'सूर्या···धीत' । सूर्यादादित्यादात्मानं स्वं छत्रादिना अन्तर्हितं न कुर्यात् ॥ २।८।१५ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'मूत्र···र्यात्' । मूत्रं च पुरीषं च मूत्रपुरीषे । ष्ठीवनं थूत्कृत्य मुखाल्लालादित्यजनम् । एतत्त्रयम् आतपे घर्मे न कुर्यात् नोत्सृजेत् । 'सूर्या···धीत' । सूर्यादादित्यादात्मानं स्वं छत्रादिना अन्तर्हितं न कुर्यात् ॥ २।८।१५ ॥

अनुवाद—धूप में मलमूत्र न त्यागे और थूके नहीं । सूर्य के प्रकाश से अपने को अलग न करे ।

तप्तेनोदकार्थान् कुर्वीत ॥ २।८।१६ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'तप्ते···र्वीत' । तप्तेन जलेन उदकार्थान् उदकसाध्याः शौचाचमनादिकाः क्रियाः कुर्वीत विदध्यात् ॥ २।८।१६ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'तप्ते···र्वीत' । तप्तेन जलेनोदकार्थान् उदकसाध्याः शौचा-चमनादिकाः क्रियाः कार्याः ॥ २।८।१६ ॥

अनुवाद—गर्म जल से शौच या आचमन आदि क्रियाएँ न करे ।

अवज्योत्य रात्रौ भोजनम् ॥ २।८।१७ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अव·· नम्' । रात्रौ निशि अवज्योत्य दीपं प्रज्वाल्य भोजनमशनं कुर्वीत ॥ २।८।१७ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'अव···जनम्' । रात्रौ अवज्योत्य दीपोल्काद्यन्यतरेण प्रकाशं कृत्वा भोजनं कुर्यात् ॥ २।८।१७ ॥

अनुवाद—रात में दीप जलाकर भोजन करना चाहिए ।

सत्यवदनमेव वा ॥ २।८।१८ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'सत्य···व वा' । वा यद्वा सत्यवदनमेव सत्यवाक्योच्चारण-मेव कुर्यात् न अधस्तनानि अमांसाशनादीनि ॥ २।८।१८ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'सत्य···वा'। अथवा सत्यभाषणमेव कुर्यात् नाधस्तननियमान् ॥ २।८।८ ॥

अनुवाद—सदा सच ही बोले, अथवा········।

दीक्षितोऽप्यातपादीनि कुर्यात् प्रवर्ग्यवांश्चेत् ॥ २।८।९ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'दीक्षि···श्चेत्'। चेद्यदि दीक्षितः सोमयागार्थं स्वीकृतदीक्षः प्रवर्ग्यवान् प्रवर्ग्यो महावीरः अस्यास्तीति प्रवर्ग्यवान्। तदा आतपादीनि आतपे मूत्रपुरीषोत्सर्गष्ठीवनादीनि अवर्ज्योत्य रात्रिभोजनान्तानि कुर्यात् वा सत्यवदनमेव। अत्र सूत्रकारेण यावन्ति स्नातकव्रतान्युक्तानि न तावन्त्येवानुतिष्ठेत् अपितु मन्वादिस्मृतिप्रणीतान्यपि इति सूत्रार्थः ॥ २।८।९ ॥

अथ प्रयोगः—वेदमुक्तलक्षणं व्रतं वा उभयं वा समाप्य गुर्वनुज्ञातो ब्रह्मचारी स्नायात्। तत्र आचार्यो मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकं श्राद्धं कृत्वा ब्रह्मचारिणा—भो आचार्य ! अहं स्नास्ये इत्यनुज्ञादानं प्रार्थितः स्नाहीत्यनुज्ञां दत्त्वा ब्रह्मचारिणे परिश्रित्य पञ्च भूसंस्कारान् कृत्वा लौकिकाग्निं विधाय ब्रह्मोपवेशनाद्याज्यभागान्तं कर्म निर्वर्त्य वेदारम्भवत् वेदाहुतिहोमं विधाय महाव्याहृत्यादि स्विष्टकृदन्तं च कृत्वा संस्रवं प्राश्य पूर्णपात्रवरयोरन्यतरं ब्रह्मणे दक्षिणां दद्यात्।

तद्यथा तत्राज्यभागान्तं कृत्वा यदि ऋग्वेदमधीत्य स्नानं करोति तदा पृथिव्यै स्वाहा अग्नये स्वाहेति द्वे आज्याहुती हुत्वा ब्रह्मणे छन्दोभ्य इत्याद्या नवाज्याहुतीर्हुत्वा; यदि यजुर्वेदं तदाऽऽज्यभागानन्तरमन्तरिक्षाय स्वाहा वायवे स्वाहेति द्वे आज्याहुती हुत्वा ब्रह्मणे छन्दोभ्य इत्याद्या नवाहुतीर्हुत्वा; यदि सामवेदं तदाऽऽज्यभागान्ते दिवे स्वाहा सूर्याय स्वाहेति हुत्वा ब्रह्मणे छन्दोभ्य इत्यारभ्यांतुमत्यन्ता नवाहुतीर्जुहोति; यदाऽथर्ववेदं तदाऽऽज्यभागान्ते दिग्भ्यः स्वाहा चन्द्रमसे स्वाहेति आहुतिद्वयं हुत्वा ब्रह्मण इत्याद्या जुहोति। यद्येकदा वेदचतुष्टयमधीत्य स्नानं करोति तदाऽऽज्यभागानन्तरं प्रतिवेदं वेदाहुतिद्वयं द्वयं हुत्वा ब्रह्मणे छन्दोभ्य इत्याहुतिद्वयं च हुत्वा प्रजापतय इत्याद्याः प्रजापतये देवेभ्यः ऋषिभ्यः श्रद्धायै मेधायै सदसस्पतये अनुमतय इति सप्त मन्त्रेण जुहुयात्। एवं वेदद्वयत्रयाध्ययनेऽपि योज्यम्।

अनन्तरं महाव्याहृत्यादिस्विष्टकृदन्ता दशाहुतीर्हुत्वा प्राशनं विधाय दक्षिणादानान्तं कुर्यात्। अथ ब्रह्मचारी उपसङ्ग्रहणपूर्वकं गुरुं नमस्कृत्य परिसमूहनादि त्र्यायुषकरणान्तं तस्मिन्नग्नौ समिदाधानं कुर्यात्। तत आचार्यपुरुषैः परिश्रितस्योत्तरभागे स्थापितानां दक्षिणोत्तरायतानामष्टानां जलपूर्णकलशानां पूर्वभागे आस्तृतेषु प्रागग्रेषु कुशेषु उदङ्मुखः स्थित्वा येऽप्स्वन्तरग्नयः प्रविष्टा गोह्य उपगोह्यो मयूषो मनोहास्खलो विरुजस्तनूदूषिरिन्द्रियहाऽतितान्सृजामि यो रोचनस्तमिह गृह्णामीति मन्त्रेण प्रथमकलशाद्दक्षिणचुलुकेन उदकमादाय तेन मामभिषिञ्चामि श्रियै यशसे ब्रह्मणे ब्रह्मवर्चसायेति मन्त्रेणात्मानमभिषिञ्चते। एवमेव द्वितीयादिभ्यः सप्तभ्य उदकुम्भेभ्यः येऽप्स्वन्तरग्नय इत्यनेनैव मन्त्रेण एकैकस्माज्जलमादाय येन श्रियमकृणुतां येनावमृशताꣳसुरां

येनाक्षावभ्यषिञ्चतां यद्वां तदश्विना यश इति । आपो हिष्ठा मयो भुवः । यो वः शिवतमो रसः । तस्मा अरङ्गमामव इत्येतैश्चतुर्भिर्मन्त्रैः प्रतिमन्त्रमात्मानमभिषिच्य त्रिस्तूष्णीमभिषिञ्चते ।

तत उदुत्तममिति मन्त्रेण मेखलां शिरोमार्गेण निःसार्य तां मेखलां भूमौ निधाय अन्यद्वासः परिधायाचम्य आदित्यमुपतिष्ठते । उद्यन्भ्राजभृष्णुरिन्द्रो मरुद्भिरस्थात्प्रातर्यावभिरस्थाद्दशसनिरसि दशसनिं मा कुर्वाविदन्मागमयोद्यन्भ्राजभृष्णुरिन्द्रो मरुद्भिरस्थाद्दिवा यावभिरस्थाच्छतसनिरसि शतसनिं मा कुर्वाविदन्मागमयोद्यन्भ्राजभृष्णुरिन्द्रो मरुद्भिरस्थात्सायं यावभिरस्थात्सहस्रसनिरसि सहस्रसनिं मा कुर्वाविदन्मागमयेत्यादित्योपस्थानमन्त्रः । ततो दधि 'वा तिलान्वा दक्षिणहस्तमध्यगतेन सोमतीर्थेन प्राश्य जटालोमनखानि वापयित्वा स्नात्वाऽऽचम्योक्तलक्षणेनौदुम्बरकाष्ठेन—अन्नाद्याय व्यूहध्वꣳ सोमो राजाऽयमागमत् । समे मुखं प्रमार्क्ष्यते यशसा च भगेन चेत्यनेन मन्त्रेण दन्तान् क्षालयित्वाऽऽचम्य सुगन्धिद्रव्यमिश्रितेन यवादिचूर्णेन तैलसन्नीतेन शरीरमुद्वर्त्य पुनः सशिरस्कं स्नात्वाऽऽचम्य चन्दनाद्यनुलेपनं पाणिभ्यां गृहीत्वा मुखं नासिकां च प्राणापानौ मे तर्पय चक्षुर्मे तर्पय श्रोत्रं मे तर्पयेत्यनेन मन्त्रेणानुलिम्पेत् । ततः पाणी प्रक्षाल्य तदुदकमञ्जलिनाऽऽदायापसव्यं कृत्वा दक्षिणामुखो भूत्वा दक्षिणस्यां दिशि पितरः शुन्धध्वमित्यनेन मन्त्रेण भूमौ निषिञ्चेत्पितृतीर्थेन ।

अथ यज्ञोपवीती भूत्वोदकमुपस्पृश्य चन्दनादिना सुचक्षा अहमक्षीभ्यां भूयासꣳ सुवर्चामुखेन सुश्रुत्कर्णाभ्यां भूयासमिति मन्त्रेण आत्मानमनुलिप्य परिधास्यै यशोधास्यै दीर्घायुत्वाय जरदष्टिरस्मि । शतं च जीवामि शरदः पुरूचीरायस्पोषमभिसंव्ययिष्य इति मन्त्रेण अहतं धौतं वा यथालाभं वासः परिधाय 'धारयेद्वैणवीं यष्टिं सोदकं च कमण्डलुम् । यज्ञोपवीतं वेदं च शुभे रौक्मे च कुण्डले' इति मनुना ब्रह्मचर्ये प्राप्तस्य यज्ञोपवीतधारणस्य स्नातकस्य पुनर्विधानाद् द्वितीययज्ञोपवीतधारणं प्राप्तं तच्च पूर्वे धृते सति न सम्भवति अतस्तदुत्तार्य जले प्रक्षिप्यापरं नवम् उक्तलक्षणमुपवीतद्वयं यज्ञोपवीतमित्यादिना मन्त्रेण परिधाय । यज्ञोपवीतस्यैकदेशविनाशे यातयामत्वम् अतो न तस्य नवेन संयोगः । यज्ञोपवीतस्यैकदेशविनाशेऽपि मन्त्रादिकसंस्कारस्य विनष्टत्वात् ।

ततो यशसा मा द्यावापृथिवी यशसेन्द्राबृहस्पती । यशो भगश्च माऽविन्दद्यशो मा प्रतिपद्यतामिति मन्त्रेण उत्तरीयं वास आच्छाद्य द्वितीयवस्त्रालाभे पूर्वस्यैवोत्तरवर्गेण अनेनैवोत्तरीयमन्त्रेणोत्तरीयं वासः परिधत्ते । या आहरज्जमदग्निः श्रद्धायै मेधायै कामायेन्द्रियाय । ता अहं प्रतिगृह्णामि यशसा च भगेन चेति मन्त्रेण पुष्पाणि अन्यतः प्रतिगृह्य, यद्यशोप्सरसामिन्द्रश्चकार विपुलं पृथु । तेन सङ्ग्रथिताः सुमनस आबध्नामि यशोमयीति मन्त्रेण शिरसि बद्ध्वा, युवा सुवासा इत्यनयर्चा उष्णीषेण शिरो वेष्टयित्वा, अलङ्करणमसि भूयोऽलङ्करणं भूयादिति मन्त्रेण दक्षिणे कर्णे कुण्डलं कृत्वा तेनैव वामकर्णे परिधाय, वृत्रस्यासि कनीनकश्चक्षुर्दा असि चक्षुर्मे देहीति मन्त्रेण दक्षिणमक्षि

सौवीराञ्जनेनाङ्क्त्वा तेनैव वाममङ्क्ते। रोचिष्णुरसीत्यादर्शे मुखं विलोक्य, बृहस्पतेश्छदिरसि पाप्मनो मामन्तर्द्धेहि तेजसो यशसो माऽन्तर्द्धेहि इत्यनेनान्यस्माच्छत्रं प्रतिगृह्य, प्रतिष्ठे स्थो विश्वतो मापातमित्युपानहौ युगपत्पादयोः प्रतिमुच्य, विश्वाभ्यो मा नाष्ट्राभ्यस्परिपाहि सर्वत इति वैणवं दण्डमादत्ते पूर्वदण्डं त्यक्त्वा।

अत्र मातृपूजादि ब्रह्मणे दक्षिणादानान्तमाचार्यकृत्यम्। कलशाभिषेकादि दण्डग्रहणान्तं स्नानकर्तुः। वासश्छत्रोपानद्ग्रहणव्यतिरिक्तानि दन्तप्रक्षालनादीनि मन्त्रवन्ति सदा भवन्ति। वासःप्रभृतीनि तु नूतनान्येव। तत आचार्यः स्नातकस्य नियमान् श्रावयेत् त्रिरात्रव्रतानि च। स्नातकश्च तानि यथोक्तानि कुर्यादिति समावर्तनम्॥

(गदाधरभाष्यम्)—'दीक्षि···श्चेत्'। चेद्यदि दीक्षितः सोमयागार्थं स्वीकृतदीक्षः प्रवर्ग्यवान् प्रवर्ग्यः सोमयागाङ्गकर्मविशेषः सोऽस्यास्तीति तथा, तदाऽऽतपादीनि मूत्रपुरीषे ष्ठीवनं चातपे न कुर्यादित्यादीनि करोति॥ २।८।९॥

अनुवाद—यज्ञ के लिए दीक्षा-सम्पन्न व्यक्ति भी यदि सोमयाग की विशेष विधि से युक्त है तो उसे भी सूत्र संख्या ५ से ८ तक में बतलाये गये नियमों का पालन करना चाहिए।

द्वितीयकाण्ड में अष्टम कण्डिका समाप्त॥

नवमी कण्डिका

अथातः पञ्च महायज्ञाः ॥ २।९।१ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अथा'''यज्ञाः' । अथ समावर्तनानन्तरं कृतविवाहस्य पञ्च-महायज्ञेष्वधिकारः । अतो हेतोः पञ्चसङ्ख्याकाः महायज्ञा महायज्ञशब्दवाच्याः कर्म-विशेषाः पञ्चमहायज्ञा व्याख्यास्यन्ते । तत्र पञ्चसु ब्रह्मणे स्वाहेत्येवमादि होमात्मकः पूर्वो देवयज्ञः । ततो मणिके त्रीनित्येवमादि बलिरूपो भूतयज्ञः । ततः पितृभ्यः स्वधा नम इति बलिदानं पितृयज्ञः । हन्तकारातिथिपूजादिको मनुष्ययज्ञः । पञ्चमो ब्रह्मयज्ञः । एते पञ्चमहायज्ञा अहरहः कर्तव्याः स्नातकेन ॥ २।९।१ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'अथा'''यज्ञाः' । व्याख्यास्यन्त इति सूत्रशेषः । महायज्ञा इति कर्मनामधेयम् । तत्रैको देवयज्ञो ब्रह्मणे स्वाहेत्येवमादि होमरूपः । मणिके त्रीनित्ये-वमादि बलिरूपो भूतयज्ञः । पितृभ्यः स्वधा नम इति बलिदानं पितृयज्ञः । हन्तकारा-तिथिपूजनादिरूपो मनुष्ययज्ञः । पञ्चग्रहणात्पञ्चमो ब्रह्मयज्ञः । एते पञ्च महायज्ञा अह-रहः कर्तव्याः नित्यत्वात् । यत्पुनरेषां फलश्रवणं तदेषां पावनत्वख्यापनार्थं न काम्य-त्वप्रतिपादनाय ॥ २।९।१ ॥

अनुवाद—समावर्त्तन के बाद अब पंच महायज्ञों का विधान किया जाता है ।

टिप्पणी—ये पञ्चमहायज्ञ इस प्रकार हैं—१. देवयज्ञ (होमात्मक), २. भूतयज्ञ (बलिरूप), ३. पितृयज्ञ (बलिप्रदान), ४. मनुष्ययज्ञ (अतिथिसत्काररूप) तथा ५. ब्रह्मयज्ञ ।

वैश्वदेवादन्नात् पर्युक्ष्य स्वाहाकारैर्जुहुयात् ।
ब्रह्मणे, प्रजापतये, गृह्याभ्यः, कश्यपायानुमतय इति ॥ २।९।२ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—कथमित्यपेक्षायामाह—'वैश्व'''यात्' । विश्वे सर्वे देवा देवता अस्येति वैश्वदेवमन्नं तस्मात् । के ते ? देवभूतपितृमनुष्यादयः । स्मृतिषु तेभ्यः अदत्त्वा भोजननिषेधात् । तेभ्यो दत्त्वा गृहपतेः शेषभुजित्वविधानात् । तस्माद्यदन्नम् अहरहः शालाग्नौ लौकिकेऽग्नौ वा यथाधिकारं पच्यते तद्वैश्वदेवमन्नम् । तस्मादुद्धृत्य पात्रान्तरे कृत्वा पर्युक्ष्य आवसथ्यस्य पर्युक्षणं कृत्वा स्वाहाकारैः सह वक्ष्यमाणैर्मन्त्रै-र्जुहुयात् । अत्र पर्युक्षणोपदेशः कुशकण्डिकेतिकर्तव्यतानिरासार्थः । जुहोतिषु स्वाहा-कारोपदेशश्च बल्यादिभ्यो निवृत्त्यर्थः संस्रवव्युदासार्थो वा । बलिदानं तु नमस्कारेणैव कुर्यात् । पितृभ्यः स्वधा नम इत्यत्राचार्येण बलिदाने नमस्कारस्य दर्शितत्वात् । 'ब्रह्म'''तय इति' । एते पञ्च होमाः ॥ २।९।२ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—एषामनुष्ठानप्रकारमाह—'वैश्व'''यात्' । विश्वे सर्वे देवा देवता यस्येति वैश्वदेवमन्नम् । ते च देवपितृमनुष्यादयः । कथमेषां देवतात्वमिति चेत् ।

येन स्मृतावेषां दानं विहितम् । एभ्यो दत्त्वा शेषभुजा गृहपतिना भवितव्यम् । तस्माद्वैश्वदेवमन्नं यदहरहः पच्यते शालाग्नौ तत आदायाग्नि पर्युक्ष्य स्वाहाकारैः सह वक्ष्यमाणैर्मन्त्रैर्जुहुयात् । पर्युक्ष्यग्रहणाच्च कुशकण्डिकोक्तेतिकर्तव्यताव्युदासः । स्वाहाकारैरिति यज्जुहोति तत्स्वाहाकारैः । शेषे नमस्काराः । आचरन्ति हि बलिकर्मणि नमस्कारान् । यद्वा स्वाहाकारग्रहणं संस्रवव्युदासार्थम् । 'ब्रह्मणे···मतय इति' । एतैर्मन्त्रैः पञ्चाहुतीर्जुहोति ॥ २।९।२ ॥

अनुवाद—विश्वेदेव देवता सम्बन्धी अन्न में से उस अन्न पर छींटे लगाकर 'ब्रह्मणे स्वाहा, प्रजापतये स्वाहा, गृह्याभ्यः स्वाहा, कश्यपाय स्वाहा, अनुमतये स्वाहा' इस प्रकार ये पाँच आहुतियाँ अग्नि में डाले ।

भूतगृह्येभ्यो मणिके त्रीन् पर्जन्यायाद्भ्यः पृथिव्यै ॥ २।९।३ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'भूतगृह्येभ्यः' । भूतानि च तानि गृह्याणि च भूतगृह्याणि तेभ्यो भूतगृह्येभ्यः होमानन्तरं दद्यादिति शेषः । कथम् ? 'मणि···थिव्यै' । मणिकसमीपे सामीप्यसप्तमीयम् । त्रीन् बलीन् दद्यादिति शेषः । कथं ? पर्जन्याय नमः, अद्भ्यो नमः, पृथिव्यै नम इति ॥ २।९।३ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'भूतगृह्येभ्यः' । भूतानि च गृह्याणि च तेभ्यो बलीन्ददाति । तान्याह—'मणि···थिव्यै' । मणिके मणिकसमीपे सामीप्ये सप्तमीयम् । त्रीन् बलीन् दद्यात् । पर्जन्याय नमः । अद्भ्यो नमः । पृथिव्यै नमः । इति मन्त्रैः । त्रीनितिग्रहणं भूतगृह्येभ्य इति चतुर्थबलिहरणनिवृत्त्यर्थम् । केचित्तु भूतगृह्येभ्य इत्येवं समन्त्रकं चतुर्थं बलिहरणमिच्छन्ति ॥ २।९।३ ॥

अनुवाद—भूतगृह्य होम के बाद जलपात्र के समीप—'पर्जन्याय नमः', 'अद्भ्यः नमः' तथा 'पृथिव्यै नमः'—पढ़कर तीन आहुतियाँ देनी चाहिए ।

धात्रे विधात्रे च द्वार्ययोः ॥ २।९।४ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'धात्रे···र्ययोः' । द्वारशाखयोर्दक्षिणोत्तरयोर्यथाक्रमं धात्रे नमो विधात्रे नम इति द्वौ बली दद्यात् ॥ २।९।४ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'धात्रे···द्वार्ययोः' । द्वार्ययोर्द्वारशाखयोर्मध्ये धात्रे विधात्रे इति द्वौ बली ददाति ॥ २।९।४ ॥

अनुवाद—दक्षिण और उत्तर के द्वारों पर क्रमशः 'धात्रे नमः' और 'विधात्रे नमः' पढ़कर दो आहुतियाँ देनी चाहिए ।

प्रतिदिशं वायवे दिशां च ॥ २।९।५ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'प्रति···शां च' । प्रतिदिशं दिशं दिशं प्रति वायवे नम इति एकैकं बलिं दद्यात् । दिशां च दिग्भ्यश्च प्रतिदिशं प्राच्यै दिशे नम इत्येवमादि तत्तल्लिङ्गोल्लेखेनैकैकं बलिं दद्यात् ॥ २।९।५ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'प्रति···शां च' । दिशं दिशं प्रति वायवे नम इत्येकैकं

बलिं । दिशां च यद्दानं तदपि प्रतिदिशं स्वस्वनाममन्त्रैर्ददाति । ततश्च प्राच्यै दिशे नम इत्यादि सिद्धयति ॥ २।९।५ ॥

अनुवाद—प्रत्येक दिशा में 'वायवे नमः' कहकर बलि दे । 'प्राच्यै नमः' इत्यादि मंत्र पढ़कर कुल चार बलि प्रदान करे ।

मध्ये त्रीन् ब्रह्मणेऽन्तरिक्षाय सूर्याय ॥ २।९।६ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'मध्ये…र्याय' । मध्ये प्रतिदिशं दत्तानां बलीनामन्तराले त्रीन् बलीन् दद्यात् । कथं ? ब्रह्मणे नमः, अन्तरिक्षाय नमः, सूर्याय नम इति ॥२।९।६॥

(गदाधरभाष्यम्)—'मध्ये…र्याय' । प्रतिदिशं दत्तबलीनां मध्येऽन्तराले ब्रह्मणे नम इत्यादि त्रीन् बलीन् दद्यात् ॥ २।९।६ ॥

अनुवाद—प्रत्येक दिशा में दी गई बलि के बीच में 'ब्रह्मणे नमः', 'अन्तरिक्षाय नमः' तथा 'सूर्याय नमः' पढ़कर तीन बलियाँ दें ।

विश्वेभ्यो देवेभ्यो विश्वेभ्यश्च भूतेभ्यस्तेषामुत्तरतः ॥ २।९।७ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'विश्वे…रतः' । तेषां ब्रह्मादीनां त्रयाणां बलीनामुत्तरतः उत्तरप्रदेशे विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः विश्वेभ्यो भूतेभ्यो नम इति द्वौ बली दद्यात् ।२।९।७।

(गदाधरभाष्यम्)—'विश्वे…रतः' । आनन्तर्यात्तेषां त्रयाणां बलीनामुत्तरप्रदेशे विश्वेभ्यो देवेभ्यो विश्वेभ्यो भूतेभ्यो नम इति द्वौ बली दद्यात् । विश्वेभ्यश्च भूतेभ्यो भूतानां च पतय इत्युभयत्र चकारः पठनीय इति गर्गः ॥ २।९।७ ॥

अनुवाद—ब्रह्म के लिए जहाँ बलि दी गई है ठीक उसके उत्तर में 'विश्वेदेवेभ्यो नमः' तथा 'विश्वेभ्यः भूतेभ्यः' पढ़कर दो बलियाँ देनी चाहिए ।

उषसे भूतानां च पतये परम् ॥ २।९।८ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'उष…परम्' । परं तयोरुत्तरत उषसे नमः भूतानां पतये नम इति बलिद्वयं दद्यात् । केचित्तु विश्वेभ्यश्च भूतेभ्यः भूतानां च पतये इत्यत्र चकारं मन्त्रान्तर्गतमाहुः ॥ २।९।८ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'उष…परम्' । परमिति तयोरप्युत्तरतः । उषसे नमः । भूतानां पतये नम इति द्वौ बली दद्यात् ॥ २।९।८ ॥

अनुवाद—इनके उत्तर में 'उषसे नमः' और 'भूतानां पतये नमः' पढ़कर दो बलियाँ दी जायें ।

पितृभ्यः स्वधा नम इति दक्षिणतः ॥ २।९।९ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'पितृ…णतः' । एषामेव ब्रह्मादिबलीनां दक्षिणतः दक्षिणप्रदेशे पितृकर्मत्वात्प्राचीनावीती दक्षिणामुखः पितृभ्यः स्वधा नम इति मन्त्रेणैकं बलिं पात्रावशिष्टेनान्नेन दद्यात् ॥ २।९।९ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'पितृ…णतः' । तेषामेव ब्रह्मादिबलीनां त्रयाणां दक्षिणतः

दक्षिणप्रदेशे पितृभ्यः स्वधा नम इति मन्त्रेणैकं बलिं दद्यात् । पित्र्यत्वाच्चात्र दक्षिणामुखः प्राचीनावीती भवति । नमस्कारश्चात्र प्रदर्शित आचार्येण स सर्वत्र बलिहरणेषु प्रत्येतव्यः समाचारादित्युक्तमेतत् ॥ २।९।९ ॥

अनुवाद—इन बलियों के दक्षिण में 'पितृभ्यः स्वधा नमः' पढ़कर एक बलि दी जाय ।

पात्रं निर्णिज्योत्तरापरस्यां दिशि निनयेद् यक्ष्मैतत्त इति ॥ २।९।१० ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'पात्रं···त्त इति' । उद्धरणपात्रं निर्णिज्य प्रक्षाल्य निर्णेजनजलं तेषामेव ब्रह्मादिबलीनामुत्तरापरस्यां वायव्यां दिशि निनयेत् उत्सृजेत् । कथं ? यक्ष्मैतत्ते निर्णेजनं नम इति मन्त्रेण ॥ २।९।१० ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'पात्रं···त्त इति' । पात्रमुद्धरणपात्रं निर्णिज्य प्रक्षाल्य तदुदकं ब्रह्मादिबलित्रयाणामेवोत्तरापरस्यां वायव्यां दिशि निनयेत् यक्ष्मैतत्त इति मन्त्रेण । अत्र निर्णेजनमित्यध्याहारः । बलिहरणे मध्यादिदेशाः शालाया ग्राह्या इति भर्तृयज्ञः ॥ २।९।१० ॥

अनुवाद—उद्धरण पात्र को धोकर उस धुले जल को वायव्य दिशा में 'यक्ष्मैतत्ते निर्णेजनं नमः' मंत्र पढ़कर फेंक देना चाहिए ।

उद्धृत्याग्रं ब्राह्मणायावनेज्य दद्याद्धन्तत इति ॥ २।९।११ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'उद्धृ···तत इति' । वैश्वदेवादन्नादुद्धृत्य अवदाय अग्रं षोडशग्रासपरिमितं ग्रासचतुष्टयपर्याप्तं वा अन्नं ब्राह्मणाय विप्राय न क्षत्रियवैश्याभ्याम् अवनेज्य अवनेजनं दत्त्वा हन्तत इत्यनेन मन्त्रेण दद्यात् । अत्र पञ्चमहायज्ञा इत्युपक्रम्य चतुर्णां क्रमेणानुष्ठानमुक्तम् । पञ्चमस्य ब्रह्मयज्ञस्य पञ्च महायज्ञा इत्यनेनानुष्ठानस्य वक्तुमुपक्रान्तत्वात् तदनुष्ठानं सावसरं वक्तव्यं तच्च नोक्तम् । अतो विचार्यते ब्रह्मयज्ञस्य स्मृत्यन्तरे त्रयः काला उक्ताः । यथाह कात्यायनः—यश्च श्रुतिजपः प्रोक्तो ब्रह्मयज्ञस्तु स स्मृतः । स चार्वाक् तर्पणात्कार्यः पश्चाद्वा प्रातराहुतेः ॥ वैश्वदेवावसाने वा नान्यत्रेत्यनिमित्तकात् इति । स्नानविधावपि—उपविशेद्दर्भेषु दर्भपाणिः स्वाध्यायं च यथाशक्त्यादावारभ्य वेदमिति, तेनोपक्रान्तस्यापि ब्रह्मयज्ञविधेः तर्पणात्प्रागुक्तत्वात् । अत्र तस्याकथनमदोषः । स अत्र यदि क्रियते तदा तेनैव विधिना कर्तव्यः । तत्र चेत्कृतस्तदाऽत्र न कर्तव्यः । विकल्पेन हि कालाः स्मर्यन्ते अतो न समुच्चयः । किञ्च—न हन्तीति न होमं च स्वाध्यायं पितृतर्पणम् । नैकः श्राद्धद्वयं कुर्यात्समानेऽहनि कुत्रचित् ॥ इत्यनेनात्रापि समुच्चयनिषेधात् । तस्मात्प्रातर्होमानन्तरं वा तर्पणात्पूर्वं वा वैश्वदेवान्ते वा सकृद् ब्रह्मयज्ञं कुर्यादिति सिद्धम् । एतावदवशिष्यते । यदा वैश्वदेवावसाने क्रियते तदा कोऽवसरः । चतुर्णामन्त इति चेन्न हन्तकारादेर्नृयज्ञस्य रात्रावपि स्मरणात् । नास्यानश्नन् गृहे वसेत् इत्यादिना । तस्मादनिर्दिष्टकालोऽपि ब्रह्मयज्ञो मनुष्ययज्ञात्पूर्वं कर्तव्यः ॥ २।९।११ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'उद्धृ···त इति' । तत एव वैश्वदेवादन्नादुद्धृत्याग्रमन्नं षोडशग्रासपरिमितं ग्रासचतुष्टयपरिमितं वा ब्राह्मणायावनेज्यावनेजनजलं दत्त्वा हन्तत इति मन्त्रेण दद्यात् । हन्तकाराच्च पूर्वं ब्रह्मयज्ञस्यावसरः । नृयज्ञो हि हन्तकारादिरास्वापात् । रात्रावपि ह्यतिथिपूजा स्मर्यते । अतिथिं प्रकृत्य नास्यानश्नन् गृहे वसेदिति । तस्माद् ब्रह्मयज्ञोऽनिर्दिष्टकालोऽपि नृयज्ञात्पूर्व एवेति कर्काचार्याः । अतो नित्यस्नानसूत्रस्यार्षेयत्वे मूलं मृग्यम् । प्रातर्होमानन्तरं वा तर्पणात्पूर्वं वा वैश्वदेवावसाने वा ब्रह्मयज्ञ इति हरिहरः । कात्यायनः—यश्च श्रुतिजपः प्रोक्तो ब्रह्मयज्ञस्तु स स्मृतः । स चार्वाक् तर्पणात्कार्यः पश्चाद्वा प्रातराहुतेः ॥ वैश्वदेवावसाने वा नान्यत्रेति निमित्तकात् (?) ॥ स चैकस्मिन्नहनि सकृदेव कार्यः । तदाह—न हन्तर्ति न होमं च स्वाध्यायं पितृतर्पणम् । नैकः श्राद्धद्वयं कुर्यात्समानेऽहनि कुत्रचित् इति ॥ २।९।११ ॥

अनुवाद—वैश्वदेव के लिए रखें अन्न पर 'हन्तत' कहते हुए जल से उसे पहले अभिषिक्त कर दे, फिर उनमें से कुछ अंश उठाकर ब्राह्मण को दे देना चाहिए ।

यथार्हं भिक्षुकानतिथींश्च सम्भजेरन् ॥ २।९।१२ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'यथा···रन्' । यथार्हं यो यदर्हति तदनतिक्रम्य तथार्हं तद्यथा भवति तथा भिक्षुकान् परिव्राजकब्रह्मचारिप्रभृतीन् । तत्र उपकुर्वाणकब्रह्मचारिणामक्षारालवणम् । इतरेषां च यथोचितम् । अतिथींश्च अध्वनीनान् श्रोत्रियादीन् सम्भजेरन् भिक्षाभोजनादिदानेन तोषयेरन् गृहमेधिनः ॥ २।९।१२ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'यथाऽ······रन्' । यथाऽर्हं यो यदन्नमर्हति तदनतिक्रम्य यथाऽर्हं तत् यथा भवति तथा भिक्षुकान् परिव्राजकान् ब्रह्मचारिप्रभृतीन् । तत्र भिक्षुकान् मधुमांसवर्जितम् एवमितरेषां यथोचितम् अतिथींश्च अध्वनीनान् श्रोत्रियादीन् सम्भजेरन् भिक्षाभोजनादिदानेन तोषयेरन् गृहमेधिनः ॥ २।९।१२ ॥

अनुवाद—भिक्षुकों और अतिथियों को यथायोग्य भिक्षा और भोजन से सन्तुष्ट कर देना चाहिए ।

बालज्येष्ठा गृह्या यथार्हमश्नीयुः ॥ २।९।१३ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'बाल···श्नीयुः' । बालो ज्येष्ठः प्रथमो येषां गृह्याणां ते बालज्येष्ठा गृह्याः गृहे भवाः पुत्रादयः ते यथार्हं यथायोग्यमश्नीयुः भुञ्जीरन् ॥२।९।१३॥

(गदाधरभाष्यम्)—'बाल···श्नीयुः' । बालो ज्येष्ठः प्रथमो येषां ते बालज्येष्ठाः ते च ते गृह्या गृहे भवाः पुत्रपौत्रादयः यथायोग्यमश्नीयुर्भुञ्जीरन् ॥ २।९।१३ ॥

अनुवाद—जिन घरों में बच्चे हों वहाँ पहले बच्चों को खिला दे ।

पश्चाद् गृहपतिः पत्नी च ॥ २।९।१४ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'पश्चा···त्नी च' । पश्चाद् गृहेषु पूर्वमाशितेषु सत्सु पश्चाद् गृहपतिः गृहस्वामी पत्नी च तद्भार्या अश्नीयाताम् ॥ २।९।१४ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'पश्चा···त्नी च'। गृह्याणामशनोर्ध्वं गृहपतिर्गृहस्वामी पत्नी तत्स्त्री अश्नीतः ॥ २।९।१४ ॥

अनुवाद—इसके बाद गृहपति और उसकी पत्नी को खाना चाहिए।

पूर्वो वा गृहपतिः। तस्मादु स्वादिष्टं गृहपतिः पूर्वोऽतिथिभ्योऽश्नीयादिति श्रुतेः ॥ २।९।१५ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'पूर्वो···पतिः'। वा अथवा गृहपतिः स्वामी पत्न्याः पूर्वमश्नीयात्। कुतः ? 'तस्मा···श्रुतेः'। तस्मादन्नात् यदिष्टं तदन्नं गृहपतिः पत्न्याः पूर्वः अतिथिभ्यः आशितेभ्यः इति श्रुतेर्वेदवचनात् ॥ २।९।१५ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'पूर्वो···श्रुतेः'। गृहपतिर्वा पत्न्याः पूर्वम् अश्नीयात्। न युगपत्। कुतः ? तस्मादु स्वादिष्टमितिश्रुतेः। अस्यार्थः—तस्मात् स्वात् अन्नात् यदिष्टं तद् गृहपतिरश्नाति अतिथिभ्योऽशितेभ्यः पूर्वं पत्न्या इति ॥ २।९।१५ ॥

अनुवाद—अथवा गृहपति पत्नी से पहले खाए। क्योंकि वेद का कथन है कि उस अन्न से जो इष्ट है, उसे गृहपति अतिथियों से पहले ग्रहण कर लेता है।

अहरहः स्वाहा कुर्यादन्नाभावे केनचिदाकाष्ठाद् देवेभ्यः पितृभ्यो मनुष्येभ्यश्चोदपात्रात् ॥ २।९।१६ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अह···त्रात्'। अहरहः प्रतिदिनं देवेभ्यः अन्नेन स्वाहा कुर्यात्। देवतोद्देशेनान्नं जुहुयात्। अन्नाभावे केनचिद् द्रव्येण काष्ठपर्यन्तेनापि पितृभ्यः स्वधा कुर्यादन्नेन तदभावे येन केनचिद्द्रव्येणोदपात्रपर्यन्तेन। एवं मनुष्येभ्यो हन्तकारम्। एवं पञ्चमहायज्ञानामहरहर्नित्यत्वेनेतिकर्तव्यताऽवगम्यते इति सूत्रार्थः ॥२।९।१६॥

अथ पद्धतिः। ततः पञ्चमहायज्ञनिमित्तं मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकं श्राद्धं कृत्वा वैश्वदेवार्थं पाकं विधाय समुद्धृत्याभिघार्य पश्चादग्नेः प्राङ्मुख उपविश्य दक्षिणं जान्वाच्य मणिकोदकेनाग्निं पर्युक्ष्य हस्तेन द्वादशपर्वपूरकमोदनमादाय। ब्रह्मणे स्वाहा इदं ब्रह्मणे० प्रजापतये स्वाहा इदं प्रजापतये० गृह्याभ्यः स्वाहा इदं गृह्याभ्यो० कश्यपाय स्वाहा इदं कश्यपाय० अनुमतये स्वाहा इदमनुमतये० इति देवयज्ञः। इति पञ्चाहुतीर्हुत्वा। मणिके त्रीन्। मणिकसमीपे प्राक्संस्थमुदकसंस्थं वा हुतशेषेणान्नेन बलित्रयं दद्यात्। तद्यथा—पर्जन्याय नमः इदं पर्जन्याय० अद्भ्यो नमः इदमद्भ्यो० पृथिव्यै नमः इदं पृथिव्यै० इति दद्यात्। ततो द्वारशाखयोर्दक्षिणोत्तरयोर्यथाक्रमं धात्रे नमः इदं धात्रे० विधात्रे नमः इदं विधात्रे० इति द्वौ बली दत्त्वा प्रतिदिशं वायवे नम इत्यनेनैव चतसृषु दिक्षु चतुरो बलीन् दद्यात्। इदं वायवे न मम इति त्यागः।

दिशां च। प्राच्यै दिशे नमः दक्षिणायै दिशे नमः प्रतीच्यै दिशे नमः उदीच्यै दिशे नमः इति प्रतिदिशं दत्तानां वायुबलीनां पुरस्तादुदग्वा बलीन् दद्यात्। इदं प्राच्यै दिशे इदं दक्षिणायै इत्यादि दिग्भ्यश्च बलीन् दद्यात्। दत्तानां वायुबलीनामन्तराले ब्रह्मणे नमः इदं ब्रह्मणे० अन्तरिक्षाय नमः इदमन्तरिक्षाय० सूर्याय नमः इदं सूर्यायेति

प्राक्संस्थं बलित्रयं दद्यात् । ततो ब्रह्मादीनां बलित्रयाणामुत्तरप्रदेशे विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः इदं विश्वेभ्यो देवेभ्यो विश्वेभ्यो भूतेभ्यो नमः इदं विश्वेभ्यो भूतेभ्य इति द्वौ बली दद्यात् । तयोरुत्तरतः उषसे नम इदमुषसे० । भूतानां पतये नम इदं भूतानां पतये० इति द्वौ बली दद्यात् । इति भूतयज्ञः ।

ततो ब्रह्मादीनां बलीनां दक्षिणप्रदेशे प्राचीनावीती दक्षिणामुखः पितृभ्यः स्वधा नम इति मन्त्रेणैकं बलिं पात्रावशिष्टान्नेन दद्यात् । इति पितृयज्ञः । तत्पात्रं प्रक्षाल्य निर्णेजनजलं ब्रह्मादिबलीनां वायव्यां दिश्युत्सृजेत् । यक्ष्मैतत्ते निर्णेजनं नमः इदं यक्ष्मणे० । ततः काकादिबलीन्बहिर्दद्यात् । तद्यथा—ऐन्द्रवारुणवायव्याः सौम्या वै नैर्ऋतास्तथा । वायसाः प्रतिगृह्णन्तु भूमौ पिण्डं मयार्ऽपितम् ॥ इदं वायसेभ्यः । द्वौ श्वानौ श्यामशवलौ वैवस्वतकुलोद्भवौ । ताभ्यां पिण्डं प्रदास्यामि स्यातामेतावहिंसकौ ॥ इदं श्वभ्याम् । देवा मनुष्याः पशवो वयांसि सिद्धाश्च यक्षोरगदैत्यसङ्घाः । प्रेताः पिशाचास्तरवः समस्ता ये चान्नमिच्छन्ति मया प्रदत्तम् ॥ इदं देवादिभ्यः ।

पिपीलिकाः कीटपतङ्गकाद्या बुभुक्षिताः कर्मनिबन्धबद्धाः । तृप्त्यर्थमन्नं हि मया प्रदत्तं तेषामिदं ते मुदिता भवन्तु ॥ इदं पिपीलिकादिभ्यः । पादौ प्रक्षाल्याचम्य अतिथिप्राप्तौ तत्पादप्रक्षालनपूर्वकं गन्धमाल्यादिभिरभ्यर्च्य अन्नं परिवेष्य हन्त तेऽन्नमिदं मनुष्यायेति सङ्कल्प्य तमाशयेत् तदभावे षोडशग्रासपरिमितं चतुर्ग्रासपरिमितं वा अन्नं पात्रे कृत्वा निवीती भूत्वोदङ्मुख उपविष्टो हन्त तेऽन्नमिदं मनुष्यायेति सङ्कल्प्य कस्मैचिद्ब्राह्मणाय दद्यात् मनुष्ययज्ञसिद्धये ।

ततो नित्यश्राद्धं कुर्यात् । तद्यथा—स्वागतवचनेन षट् ब्राह्मणान् द्वौ वा एकं वाऽभ्यर्च्य पादौ प्रक्षाल्य आचम्य गृहं प्रवेश्य कुशान्तर्हितेष्वासनेषूदङ्मुखानुपवेशयेत् । ततः स्वयमाचम्य प्राङ्मुख उपविश्य श्रीवासुदेवं संस्मृत्य सावित्रीं पठित्वा अद्येहेत्यादिदेशकालौ स्मृत्वा प्राचीनावीती दक्षिणामुखः सव्यं जान्वाच्य अमुकगोत्राणामस्मत्पितृपितामहप्रपितामहानाममुकामुकशर्मणां तथा अमुकगोत्राणामस्मन्मातामहप्रमातामहवृद्धप्रमातामहानाममुकामुकशर्मणां नित्यश्राद्धमहं करिष्ये इति प्रतिज्ञाय नित्यश्राद्धं कुर्यात् । ततो यथाऽर्हं भिक्षुकादिभ्योऽन्नं संविभज्य बालज्येष्ठाश्च गृह्या यथायोग्यमश्नीयुः, ततो जायापती अश्नीतः पूर्वो वा गृहपतिः पत्नीतः अतिथ्यादीनाशयित्वाऽश्नीयादिति ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'अह···वेभ्यः' । देवयज्ञोऽयमहरहः कार्यः स्वाहा कुर्याद्देवेभ्योऽन्नेन जुहुयात् । अन्नाभावे केनचिद् द्रव्येण काष्ठपर्यन्तेनापि कार्यः । 'पितृ··· त्रात्' । पितृयज्ञो मनुष्ययज्ञश्च आ उदपात्रादप्यहरहः कार्यः । एवं पञ्चमहायज्ञक्रिया अहरहरेवेति गम्यते ॥ २।९।१६ ॥

अथ पदार्थक्रमः । तत्र प्रथमप्रयोगे वैश्वदेवं विनैव मातृपूजापूर्वकं सदैवमाभ्युदयिकं श्राद्धम् । कारिकायाम्—अह्नोऽष्टधा विभक्तस्य चतुर्थे स्नानमाचरेत् । पञ्चमे पञ्चयज्ञाः स्युर्भोजनं च तदुत्तरम् ॥ अह्नोऽष्टधा विभक्तस्य विभागे पञ्चमे स्मृतः । कुतश्चि-

त्कारणान्मुख्यकालाभावात्तदन्यथेति । तत्रावसथ्योल्मुकं महानसे कृत्वा तत्र वैश्वदेवार्थं पाकं विधाय महानसादङ्गारानाहृत्यावसथ्ये निधाय ततः पाकादन्नमुद्धृत्याभिघार्य अग्नेरुत्तरतः प्राङ्मुख उपविश्य मणिकोदकेनाग्निं पर्युक्ष्य दक्षिणं जान्वाच्य हस्तेन द्वादशपर्वपूरकमोदनमादाय जुहुयात् । ॐ ब्रह्मणे स्वाहा इदं ब्रह्मणे न मम । ॐ प्रजापतये स्वाहा इदं प्रजापतये न मम । ॐ गृह्याभ्यः स्वाहा इदं गृह्याभ्यो न मम । ॐ कश्यपाय स्वाहा इदं कश्यपाय न मम । ॐ अनुमतये स्वाहा इदमनुमतये० । इति देवयज्ञः । ततो मणिकसमीपे हुतशेषेणान्नेन बलित्रयमुदक्संस्थं दद्यात् । पर्जन्याय नमः इदं पर्जन्याय न० । अद्भ्यो नमः इदमद्भ्यो न० । पृथिव्यै नमः इदं पृथिव्यै न मम । ततो द्वार्ययोः शाखयोर्मध्ये प्राक्संस्थं बलिद्वयं दद्यात् । धात्रे नमः इदं धात्रे न मम । विधात्रे नमः इदं विधात्रे न० । ततो वायवे नम इत्यनेनैव मन्त्रेण पुरस्तादारभ्य प्रतिदिशं प्रदक्षिणं बलिचतुष्टयं दद्यात् । इदं वायवे न ममेति सर्वत्र ।

ततः प्रागादिचतसृषु दिक्षु दत्तानां वायुबलीनां पुरस्तादुदग्वा चतुरो बलीन् दद्यात् । प्राच्यै दिशे नमः इदं प्राच्यै दिशे न मम । दक्षिणायै दिशे नमः इदं दक्षिणायै दिशे न० । प्रतीच्यै दिशे नमः इदं प्रतीच्यै दिशे न० । उदीच्यै दिशे नमः इदमुदीच्यै दिशे न मम । ततो वायुबलीनामन्तराले प्राक्संस्थं बलित्रयं दद्यात् । ब्रह्मणे नमः इदं ब्रह्मणे० । अन्तरिक्षाय नमः इदमन्तरिक्षाय न० । सूर्याय नमः इदं सूर्याय न मम । तत एतेषामुत्तरतो बलिद्वयं दद्यात् । विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः इदं विश्वेभ्यो देवेभ्यो० । विश्वेभ्यो भूतेभ्यो नमः इदं विश्वेभ्यो भूतेभ्यो न० । तयोश्चोत्तरतो बलिद्वयं दद्यात् । उषसे नमः इदमुषसे न मम । भूतानां पतये नमः इदं भूतानां पतये० । इति भूतयज्ञः ।

अथ पितृयज्ञः । तत्र प्राचीनावीती भूत्वा दक्षिणामुखः सव्यं जान्वाच्य ब्रह्मादिबलित्रयस्य दक्षिणप्रदेशे पितृतीर्थेन पितृभ्यः स्वधा नम इति बलिं दद्यात् । इति पितृयज्ञः । ततस्तत्पात्रं प्रक्षाल्य निर्णेजनजलं सव्येनैव ब्रह्मादिबलितो वायव्यां दिशि यक्ष्मैतत्ते निर्णेजनमिति निनयेत् इदं यक्ष्मणे न मम । ततः काकादिबलीन् बहिर्दद्यात् । तद्यथा—सुरभिर्वैष्णवी माता नित्यं विष्णुपदे स्थिता । गोग्रासस्तु मया दत्तः सुरभे प्रतिगृह्यताम् ॥ इदं सुरभ्यै न मम । ऐन्द्रवारुणवायव्याः सौम्या वै निर्ऋतास्तथा । वायसाः प्रतिगृह्णन्तु भूमौ पिण्डं मयार्पितम् ॥ इदं वायसेभ्यो न मम । द्वौ श्वानौ श्यामशबलौ वैवस्वतकुलोद्भवौ । ताभ्यां पिण्डं प्रदास्यामि स्यातामेतावहिंसकौ ॥ इदं श्वभ्यां न मम । देवा मनुष्याः पशवो वयांसि सिद्धाश्च यक्षोरगदैत्यसङ्घाः । प्रेताः पिशाचास्तरवः समस्ता ये चान्नमिच्छन्ति मया प्रदत्तम् ॥ इदं देवादिभ्यो न मम । पिपीलिकाः कीटपतङ्गकाद्या बुभुक्षिताः कर्मनिबन्धबद्धाः । तृप्त्यर्थमन्नं हि मया प्रदत्तं तेषामिदं ते मुदिता भवन्तु ॥ इदं पिपीलिकादिभ्यो न मम । पादौ प्रक्षाल्याचामेत् ॥

अथ ब्रह्मयज्ञः । तत्रासनोपरि न्यस्तप्रागग्रदर्भेषु प्राङ्मुख उपविष्टः पवित्रपाणिरन्यान्दर्भान्पाणिभ्यामादाय प्रणवव्याहृतिपूर्वां गायत्रीमाम्नायस्वरेणाधीत्य इषेत्वेत्यादिवेदमारभ्य यथाशक्ति कण्डिकाऽध्यायशो वा संहितां पठित्वा ब्राह्मणं पठेत् । ब्राह्मणं च ब्राह्मणशो वा पठेत् ॐ स्वस्तीत्यन्ते वदेत् । एवं संहितां समाप्य ब्राह्मणमादावारभ्य

समापयेत् । तच्च समाप्य द्विवेदाध्यायी चेद् द्वितीयवेदम् । एवं क्रमेणादावारभ्य समापयेत् । एवमेव तृतीयवेदं चतुर्थवेदं च । एवमेवेतिहासपुराणादीन्यपि पठित्वा आदावारभ्य क्रमेण समापनीयानि । जपयज्ञप्रसिद्धये प्रत्यहं चाध्यात्मिकीं विद्यामुपनिषदमपि क्रमेण ब्रह्मयज्ञान्ते पृथक् पठेत् ।

एवमेव गीतादिपाठः । जपयज्ञप्रसिद्धयर्थं विद्यां चाध्यात्मिकीं जपेदिति याज्ञवल्क्येन पृथग्विधानात् । अमावास्यादिष्वनध्यायेष्वपि ब्रह्मयज्ञो भवत्येव । अहरहः स्वाध्यायमधीते इति श्रुतेः । कारिकायां विशेषः—बद्धाञ्जलिर्दर्भपाणिः प्राङ्मुखस्तु कुशासनः । वामाङ्घ्रिमुत्तमं (?) कृत्वा दक्षिणं तु तथा करम् ॥ दक्षिणे जानुनि करोत्यञ्जलिं तमृषेर्मताद् । प्रणवं पाक् प्रयुञ्जीत व्याहृतीस्तिस्र एव तु ॥ गायत्रीं चानुपूर्व्येण विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम् । ॐ स्वस्ति ब्रह्मयज्ञान्ते प्रोक्त्वा दर्भान् क्षिपेदुदक् । वेदादिकमुपक्रम्य यावद्वेदसमापनम् ।। आध्यात्मिकाऽथ वा विद्या ऋग्यजुः साम एव चेति ॥ इति ब्रह्मयज्ञः ॥

ततो वैश्वदेवादन्नादुद्धृत्य षोडशग्रासपरिमितमन्नमुदकपूर्वकं ब्राह्मणाय दद्यादिति । मन्त्रः—इदमन्नं सनकादिमनुष्येभ्यो हन्तत इति ॥ अत्र निरग्नेर्नित्यश्राद्धम् । तदुक्तं[1]—कृतत्वात्पितृयज्ञस्य साग्नेः श्राद्धं न विद्यते । नित्यं पित्र्येण बलिना निरग्नेस्तत्तु विद्यते ॥ बलेरभावात्पित्र्यस्य शिष्टात्काकबलिः स्मृतः । प्रदीपचण्डिकादौ तु स्मृतिः सम्यगुदाहृता ॥ तथा—नित्यश्राद्धं निरग्नेः स्यात्साग्नेः पित्र्यो बलिः स्मृतः । कात्यायनीयवाक्येन विकल्पः प्रतिभाति हि ॥ श्राद्धं वा पितृयज्ञः स्यात्पित्र्यो बलिरथापि वा । साग्निकः पितृयज्ञान्तं बलिकर्म समाचरेत् । अनग्निर्हुतशेषं तु काके दद्यादिति स्मृतिः । तच्चैवं बहिर्बलेर्निवेशनान्ते सोदकमन्नं भूमौ चाण्डालवायसादिभ्यो निक्षिपेत् । मन्त्रास्तु प्रागुक्ताः ।

मनुः—शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम् । वायसानां कृमीणां च शनकैर्निक्षिपेद् भुवि ॥ पितृयज्ञोत्तरं ब्रह्मयज्ञकरणपक्षे तु काकादिबलिदानं ब्रह्मयज्ञोत्तरं द्रष्टव्यम् । अथ नित्यश्राद्धे विशेषः । हेमाद्रौ—एकमप्याशयेद्विप्रं षण्णामप्यन्वहं गृही । अपीत्यनुकल्पः । प्रचेताः—नामन्त्रणं न होमं च नाह्वानं न विसर्जनम् । न पिण्डदानं विकिरं न दद्यादत्र दक्षिणाम् ॥ अत्र निर्दिश्य भोजयित्वा किञ्चिद्दत्त्वा विसर्जयेदिति तेनैवोक्तेर्दक्षिणाविकल्पः । यत्तु काशीखण्डे—नित्यश्राद्धं दैवहीनं नियमादिविवर्जितम् । दक्षिणारहितं चैव दातृभोक्तृव्रतोज्झितम् ॥ इति तद्विप्राभावपरम् । भविष्ये—आवाहनं स्वधाकारं पिण्डाग्नौ करणादिकम् । ब्रह्मचर्यादिनियमा विश्वेदेवा न चैव हि ॥ दातॄणामथ भोक्तॄणां नियमो न च विद्यते । एतद्दिवाऽसम्भवे रात्रावपि कार्यम् । तथा बृहन्नारदीये—दिवोदितानि कर्माणि प्रमादादकृतानि चेत् । यामिन्याः प्रहरं यावत्तावत्सर्वाणि कारयेत् ॥ इति नित्यश्राद्धम् ॥

अथ वैश्वदेवनिर्णयः । अकृते वैश्वदेवे तु भिक्षुके गृहमागते । उद्धृत्य वैश्वदेवार्थं भिक्षुकं तु विसर्जयेत् ॥ वैश्वदेवाकृतेः पापं शक्तो भिक्षुर्व्यपोहितुम् । साग्नेः सर्वत्र श्राद्धादौ वैश्वदेवः । पक्षान्तं कर्म निर्वर्त्य वैश्वदेवं च साग्निकः । पिण्डयज्ञं ततः

कुर्यात्ततोऽन्वाहार्यकं बुधः ॥ पित्रर्थं निर्वपेत्पाकं वैश्वदेवार्थमेव च । वैश्वदेवं न पित्रर्थं न दार्शं वैश्वदेविकम् ॥ इति लौगाक्षिस्मृतेः । अत्र साग्निक आहिताग्निरिति हेमाद्रिः । कात्यायनानां तु सर्वार्थमेक एव पाको वैश्वदेवादन्नादिति सूत्रणात् । अन्येषां तु पृथक् । श्राद्धात्प्रागेव कुर्वीत वैश्वदेवं तु साग्निकः । एकादशाहिकं मुक्त्वा तत्र चान्ते विधीयते ॥ इति हेमाद्रावुक्तेः ।

तत्रैव परिशिष्टे—सम्प्राप्ते पार्वणश्राद्धे एकोद्दिष्टे तथैव च । अग्रतो वैश्वदेवः स्यात्पश्चादेकादशेऽहनि ॥ स्मार्त्ताग्निमतां तद्रहितानां वाऽग्नौकरणोत्तरं विकिरोत्तरं वा होममात्रं पृथक्पाकेन । भूतयज्ञादि तु श्राद्धान्त एव । अत्र मूलं हेमाद्रिचन्द्रिकादौ स्पष्टम् । सर्वेषां श्राद्धान्ते वा तत्पाकेन वैश्वदेवनित्यश्राद्धादीनीति तृतीयः ॥ श्राद्धं निर्वर्त्य विधिवद्वैश्वदेवादिकं ततः । कुर्याद्भिक्षां ततो दद्याद्धन्तकारादिकं तथा ॥ इति पैठीनसिस्मृतेः ।

ततः श्राद्धशेषात् । श्राद्धाह्नि श्राद्धशेषेण वैश्वदेवं समाचरेदिति चतुर्विंशतिमताच्च । एवं वैश्वदेवस्य कालत्रयस्य आशाऽर्के शाङ्खायनेन परिशिष्टमुदाहृत्यैव व्यवस्थोक्ता । आदौ वृद्धौ क्षये चान्ते दर्शे मध्ये महालये । एकोद्दिष्टे निवृत्ते तु वैश्वदेवो विधीयते ॥ इति बहुस्मृत्युक्तत्वात्सर्वेषां श्राद्धान्त एवेति मेधातिथिस्मृतिरत्नावल्यादयो बहवः । बह्वृचां श्राद्धान्त एवेति बोपदेवः । मध्यपक्षस्त्वन्यशाखापर इति स एवाह । हेमाद्रिस्तु वृद्धावप्यन्त एव वैश्वदेवमाह । कातीयानां तु स्मार्तश्रौताग्निमतामादावेव । अन्येषामन्ते । तैत्तिरीयाणां तु साग्नीनां सर्वत्रादौ । पञ्चयज्ञांश्च अन्ते चेति सुदर्शनभाष्ये । मार्कण्डेयः—ततो नित्यक्रियां कुर्याद्भोजयेच्च ततोऽतिथीन् । ततस्तदन्नं भुञ्जीत सह भृत्यादिभिर्नरः ॥ ततः श्राद्धशेषात् नित्यक्रियां नित्यश्राद्धम् । तत्र पृथक्पाकेन नैत्यकमिति तेनैवोक्तेः पाकैक्ये विकल्पः ।

अथ पक्वाभावे स्मृत्यर्थसारे विशेषः—पक्वाभावे प्रवासे वा तन्दुलानौषधीस्तु वा । पयो दधि घृतं वाऽपि कन्दमूलफलादि वा ॥ योजयेद्देवयज्ञादौ जलं वाऽप्सु जलं पतेत् । इदं स्रुवेण होतव्यं पाणिना कठिनं हविः ॥ इति । स्नातको ब्रह्मचारी वा पृथक्पाकेन वैश्वदेवं कुर्यात् । स्त्री बालश्च कारयेदिति स्मृत्यर्थसारे । तत्रैव—होमाग्रदानरहितं भोक्तव्यं न कथञ्चन । अविभक्तेषु संसृष्टेष्वेकेनापि कृतं तु यत् ॥ देवयज्ञादि सर्वार्थं लौकिकाग्नौ कृतं यदि । इक्षूनपः फलं मूलं ताम्बूलं पय औषधम् ॥ भक्षयित्वाऽपि कर्तव्याः स्नानदानादिकाः क्रिया इति ॥

अथ निरग्निकस्य विशेषः । तत्र याज्ञिकाः पठन्ति—अथातो धर्मजिज्ञासा केशान्तादूर्ध्वंगपत्नीक उत्सन्नाग्निरनग्निको वा प्रवासी वा ब्रह्मचारी वाऽन्वग्निरिति ग्रामादग्निमाहृत्य पृष्ठोदिवीत्यधिष्ठाप्य त्रिभिश्च सावित्रैः प्रज्वाल्य ताꣳसवितुस्तत्सवितुर्विश्वानिदेवसवितरिति पूर्ववदक्षतैर्हुत्वा पाकं पचेत् । तत्र वैश्वदेवो ब्रह्मणे प्रजापतये गृह्याभ्यः कश्यपायानुमतये विश्वेभ्यो देवेभ्योऽग्नये स्विष्टकृत इत्युपस्पृश्य पूर्ववद् बलिकर्मणैवं कृते न वृथा पाको भवति न वृथा पाकं पचेन्न वृथा पाकमश्नीयादत्र पिण्डपितृयज्ञः पक्षाद्याग्र-

यणानि कुर्यादिति । गर्गमते वैश्वदेवे विशेषः । पञ्चाहुतीनामुत्तरं स्विष्टकृद्धोमः । भूतयज्ञे पूर्वं भूतगृह्येभ्यो नम इति बलिं दत्त्वा पर्जन्यादिभ्यो दानम् । विश्वेभ्यश्च भूतेभ्यो भूतानां च पतय इति मन्त्रद्वये चकारपाठः ॥ इति पञ्चमहायज्ञपदार्थक्रमः ॥

अनुवाद—देवताओं को संतुष्ट करने के लिए प्रतिदिन हवन करना चाहिए। अन्न के अभाव में किसी भी द्रव्य से हवन करना चाहिए। पारस्कर के मतानुसार यदि कुछ भी न मिले तो काठ से भी हवन करना चाहिए। मनुष्ययज्ञ और पितृयज्ञ भी जलपात्र से पानी लेकर ही प्रतिदिन करना चाहिए।

टिप्पणी—पञ्चमहायज्ञ की समाप्ति के बाद कौए, कुत्ते, कीट, पतंग, पिपीलिका आदि को भी निम्नलिखित मंत्र पढ़ते हुए बलियाँ दी जायें—

'ऐन्द्रवारुणवायव्याः सौम्या वै नैर्ऋतास्तथा ।
वायसाः प्रतिगृह्णन्तु भूमौ पिण्डं मयार्पितम् ॥ इदं वायसेभ्यो न मम ।
द्वौ श्वानौ श्यामशबलौ वैवस्वतकुलोद्भवौ ।
ताभ्यां पिण्डं प्रदास्यामि स्यातामेतावहिंसकौ ॥ इदं श्वभ्यां न० ।
देवा मनुष्याः पशवो वयांसि सिद्धाश्च यक्षोरगदैत्यसङ्घाः ।
प्रेताः पिशाचास्तरवः समस्ता ये चान्नमिच्छन्ति मया प्रदत्तम् ॥
इदं देवादिभ्यो न० ।
पिपीलिकाः कीटपतङ्गकाद्या बुभुक्षिताः कर्मनिबन्धबद्धाः ।
तृप्त्यर्थमन्नं हि मया प्रदत्तं तेषामिदं ते मुदिता भवन्तु ॥
इदं पिपिलिकादिभ्यो न० ।

द्वितीयकाण्ड में नवम कण्डिका समाप्त ॥

दशमी कण्डिका

उपाकर्म

अथातोऽध्यायोपाकर्म ॥ २।१०।१ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अथा···कर्म' । अथ पञ्चमहायज्ञानन्तरम् अध्यायस्य उत्सृष्टस्य उपाकर्म उपाकरणं व्याख्यास्यत इति शेषः । तच्चाग्निमतोऽध्यापनप्रवृत्तस्यैव भवति । छन्दांस्युपाकृत्याधीयीतेति वचनात् । उपाकरणस्य चावसथ्याग्निसाध्यत्वात् निरग्नेर्नाधिकारः । तथा च छन्दोगपरिशिष्टे कात्यायनः—न स्वेऽग्नावन्यहोमः स्यान्मुक्त्वैकां समिदाहुतिम् । स्वगर्भसंस्कृतार्थञ्च यावन्नासौ प्रजायते ॥ इति । स्वेन आत्मना आहितः आधानसंस्कृतोऽग्निः स्वः तस्मिन् स्वे अग्नौ अन्यस्य सम्बन्धी संस्कारको होमः अन्यहोमो न स्यात् न भवेत् । किं पर्युदस्य एकां समिदाहुतिं समिधामाहुतिः समिदाहुतिः तां मुक्त्वा वर्जयित्वा । सा च समिदाहुतिः उपाकर्मणि आचार्यस्याग्नौ शिष्यकर्तृका भवति, तेनावसथ्याग्नावुपाकर्म भवतीति गम्यते । अतः अध्यापयतोऽपि निरग्नेः साग्नेरपि अनध्यापयतो नाधिकारः । यत्तु लोके ब्रह्मचारिणं पुरस्कृत्य उपाकर्म प्रवर्तते, लौकिकेऽप्यग्नौ तस्याचारं विहाय मूलं न दृश्यते ॥ २।१०।१ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'अथा···कर्म' । व्याख्यास्यत इति सूत्रशेषः । अधीयत इत्यध्यायो वेदः तस्योपाकर्म उपाकरणमुपक्रमः । एवं हि मन्वादयः स्मरन्ति—श्रावण्यां प्रौष्ठपद्यां वाऽप्युपाकृत्य यथाविधि । युक्तश्छन्दांस्यधीयीत मासान् विप्रोऽर्धपञ्चमान् ॥ इति । अर्धेन सह पञ्चमान् । एवं सत्यध्ययनप्रवृत्तस्यैतद्भवति । अत एवाग्निमतोऽध्यापनं भवति । न ह्यनग्निमान् शक्नोत्यग्निसाध्यं कर्म कर्तुमिति । निरग्नेरप्येतदुपाकर्म लौकिकाग्नौ भवतीति गर्गः । न चैतत्कर्कादिसम्मतम् । अध्यायोपाकर्मेति वक्ष्यमाणस्य विधिपूर्वकस्य स्वाध्यायप्रारम्भकर्मणो नामधेयम् । पौषस्य रोहिण्यां मध्यमाष्टकायां वा पाक्षिकोत्सृष्टस्यार्धषष्ठानर्धसप्तमान्वा मासान् शुक्लपक्षे वेदाः कृष्णपक्षेऽङ्गानि इत्येवमधीत्य ततः सर्वथोत्सृष्टस्य पुनरुपाकरणं स्वीकरणमिति जयरामो हरिहरश्च । अपरे तु श्रावण्यां पौर्णमास्यामुपाकृत्यार्धषण्मासानधीत्योत्सर्गं वदन्ति । ततश्च तेषां मते उपाकृतानां वेदानामुत्सर्गः । मिताक्षरादिधर्मशास्त्रनिबन्धेष्वप्येवम् । हरिहरजयरामभाष्ययोरुत्सृष्टस्योपाकरणम् ॥ २।१०।१ ॥

अनुवाद—अब हम पञ्चमहायज्ञ-विधि के वर्णन के बाद अध्ययन के उपाकर्म की व्याख्या करेंगे ।

ओषधीनां प्रादुर्भावे श्रवणेन श्रावण्यां पौर्णमास्यां श्रावणस्य पञ्चमीं-हस्तेन वा ॥ २।१०।२ ॥

(हरिहरभाष्यम्)–'ओष···स्याम्' । ओषधीनामपामार्गादीनां प्रादुर्भावे उत्पत्तौ

सत्यां श्रवणेन युक्तायां श्रावण्यां पौर्णमास्यां श्रावणस्य शुक्लपञ्चदश्याम् । अत्र ओषधिप्रादुर्भावः श्रवणश्च पौर्णमास्या एव विशेषणम् । तत्र तयोः प्रायशः सम्भवात् । एवञ्च सति पौर्णमास्या एव प्राधान्यम् । तस्माद्विशेषणाभावेऽपि पौर्णमास्यां भवति । 'श्राव··· स्तेन वा' । ओषधिप्रादुर्भावस्तु सर्वत्रापेक्षितः श्रावणमासस्य पञ्चमीं हस्तेन युक्तां वा प्राप्य भवति, तत्रापि प्रायेण हस्तो भवति । अतः श्रावणी पूर्णिमा श्रावणपञ्चमी वा विशिष्टा अविशिष्टा वा उपाकर्मणः कालः । अन्ये तु कालचतुष्टयमाहुः । कथं श्रवणेन वा श्रावण्यां पौर्णमास्यां वा श्रावणस्य पञ्चमीं वा हस्तेन वा भवति । ओषधिप्रादुर्भावस्तु सर्वत्रापेक्षितः । ओषधिप्रादुर्भावे सति श्रवणेन इत्यादि ॥ २।१०।२ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'ओष···स्याम्' । एतदुपाकर्म अपामार्गाद्योषधीनां प्रादुर्भावे उत्पत्तौ सति श्रवणेन युक्तायां पौर्णमास्यां श्रावणशुक्लपञ्चदश्यां कुर्यात् । श्रावण्यां हि पौर्णमास्यां श्रवण एव प्रायशो भवति ओषधिप्रादुर्भावश्च । तदेतदुभयं तस्या एव विशेषणम् । अत्र पौर्णमास्या एव प्राधान्यात् विशेषणाभावेऽपि तत्पौर्णमास्यां भवति इति हरिहररेणुकौ । अपरे तु श्रवणयुक्तपौर्णमास्यभावे हस्तयुक्तपञ्चम्यां कार्यमित्याहुः । यदि ग्रहणं सङ्क्रान्तिर्वा पर्वणि भवति तदा पञ्चम्यामुपाकरणम् । तदुक्तं स्मृतिमहार्णवे—सङ्क्रान्तिर्ग्रहणं वाऽपि यदि पर्वणि जायते । तन्मासे हस्तयुक्तायां पञ्चम्यां वा तदिष्यते ॥ तथा च—सङ्क्रान्तिर्ग्रहणं वाऽपि पौर्णमास्यां यदा भवेत् । उपाकृतिस्तु पञ्चम्यां कार्या वाजसनेयिभिः ॥ मदनरत्नेऽपि—यदि स्याच्छ्रावणं पर्व ग्रहसङ्क्रान्तिदूषितम् । स्यादुपाकरणं शुक्लपञ्चम्यां श्रावणस्य तु ॥ तत्रापि प्रयोगपारिजाते वृद्धमनुकात्यायनौ—अर्धरात्रादधस्ताच्चेत्सङ्क्रान्तिर्ग्रहणं तदा । उपाकर्म न कुर्वीत परतश्चेन्न दोषकृत् ॥ इति । अत्र प्रयोगपारिजाते—वेदोपाकरणे प्राप्ते कुलीरे संस्थिते रवौ । उपाकर्म न कर्तव्यं सिंहयुक्ते तदिष्यते ॥ इति वचनं देशान्तरविषयम् । नर्मदोत्तरभागे तु कर्तव्यं सिंहयुक्तके ॥ कर्कटे संस्थिते भानावुपाकुर्यात्तु दक्षिणे ॥ इति बृहस्पतिवचनात् । पराशरमाधवीयेऽप्येवम् । सामगानां सिंहस्थे रवावुक्तेस्तद्विषय इदं पुरोडाशचतुर्धाकरणवदुपसंह्रियत इति त्वन्ये । एतच्च शुक्रास्तादावपि कार्यम् । उपाकर्मोत्सर्जनं च पवित्रदमनार्पणमित्युक्तेः । पर्वणि ग्रहणे सति पूर्वं त्रिरात्रादिवेधाभाव उक्तः प्रयोगपारिजाते—नित्ये नैमित्तिके जप्ये होमयज्ञक्रियासु च । उपाकर्मणि चोत्सर्गे ग्रहवेधो न विद्यते ॥ इति । प्रथमारम्भस्तु न भवति । तत्रैव कश्यपः—गुरुभार्गवयोर्मौढ्ये बाल्ये वा वार्धकेऽपि वा । तथाऽधिमाससङ्क्रान्तौ मलमासादिषु द्विजः ॥ प्रथमोपाकृतिर्न स्यात्कृतं कर्म विनाशकृदिति । एतच्च पूर्वाह्णे कार्यम् । तथा च प्रचेतोवचः—भवेदुपाकृतिः पौर्णमास्यां पूर्वाह्ण एव त्विति । दीपिकाऽपि—अस्य तु विधेः पूर्वाह्णकालः स्मृत इति । यत्तु—अध्यायानामुपाकर्म कुर्यात्कालेऽपराह्णके । पूर्वाह्णे तु विसर्गः स्यादिति वेदविदो विदुः ॥ इति गोभिलवचस्तत्सामगविषयम् । तेषामपराह्णस्योक्तत्वात् । तेन वाजसनेयिभिः पूर्वाह्णव्यापिनी तिथिर्ग्राह्या । दिनद्वये पूर्वाह्णव्याप्तौ एकदेशस्पर्शे वा तैत्तिरीयव्यतिरिक्तानां पूर्वैवेति हेमाद्रिः । मदनपारिजातेऽपि—पूर्वविद्धायां श्रावण्यां वाजसनेयिनामुपाकर्मेत्युक्तम् । मदनरत्ने तु—पर्वण्यौदयिके कुर्युः श्रावणं तैत्तिरीयका इति बह्वृच-

परिशिष्टे तैत्तिरीयकपदम् अनुवादत्वात्तस्य च प्रात्यधीनत्वात् प्राप्तेश्च यजुर्वेदिमात्र-परत्वात्सर्वयजुर्वेद्युपलक्षणार्थमित्युक्तम्। तथैवानन्तभट्टीयेऽपि। कारिकायां तु—पूर्णिमा प्रतिपद्युक्ता तत्रोपाकर्मणः क्रिया। उक्तोऽर्थोऽयं प्रसङ्गेन भविष्योत्तरसंज्ञके ॥ वस्तुतस्तु हेमाद्रिमतमेव युक्तम्। पराशरमाधवीये—श्रावणी पौर्णमासी तु सङ्गवात् परतो यदि। तदैवौदयिकी ग्राह्या नान्यदौदयिकी भवेत् ॥ कालादर्शेऽपि—श्रावण्यां प्रौष्ठ-पद्यां वा प्रतिपत्षण्मुहूर्तकैः। विद्धा स्याच्छन्दसां तत्रोपाकर्मोत्सर्जनं भवेत् ॥ प्रयोगपारि-जाते—उपाकर्मोत्सर्जनं च वनस्थानामपीष्यते। धारणाध्ययनाङ्गत्वाद् गृहिणां ब्रह्म-चारिणाम् ॥ उत्सर्जनं च वेदानामुपाकर्म तथैव च। अकृत्वा वेदजप्येन फलं नाप्नोति मानवः ॥ 'श्राव···न वा'। श्रावणस्य शुक्लपञ्चमीं हस्तेन युक्तां प्राप्य वा भवति। तत्रापि प्रायशो हस्त एव भवति। अतः कालद्वयस्योपाकरणकर्मणो विकल्पोऽयम्। भर्तृयज्ञास्तु कालचतुष्टयं वर्णयन्ति। वासुदेवदीक्षिता अपि ॥ २।१०।२ ॥

अनुवाद—चिचड़ा आदि औषधियों के उग आने पर श्रवण नक्षत्र युक्त श्रावण महीने की पूर्णिमा के दिन अथवा श्रावण महीने की पञ्चमी के दिन उपाकर्म अर्थात् वेदपाठ प्रारम्भ करने के पूर्व किया जानेवाला एक संस्कार (उपाकर्म) करना चाहिए।

आज्यभागाविष्ट्वाज्याहुतीर्जुहोति ॥ २।१०।३ ॥

पृथिव्याऽअग्नय इत्यृग्वेदे ॥ २।१०।४ ॥

अन्तरिक्षाय वायव इति यजुर्वेदे ॥ २।१०।५ ॥

दिवे सूर्याय इति सामवेदे ॥ २।१०।६ ॥

दिग्भ्यश्चन्द्रमस इत्यथर्ववेदे ॥ २।१०।७ ॥

ब्रह्मणे छन्दोभ्यश्चेति सर्वत्र ॥ २।१०।८ ॥

प्रजापतये देवेभ्य ऋषिभ्यः श्रद्धायै मेधायै सदसस्पतयेऽनुमतय इति च ॥ २।१०।९ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'आज्य···तय इति च'। आज्यभागाविष्ट्वा आज्यभाग-होमानन्तरमाज्याहुतीर्जुहोति। तत्र ऋग्वेदे अधीयमाने पृथिव्यै अग्नय इति द्वे आहुती जुहोति। यजुर्वेदे अधीयमाने अन्तरिक्षाय वायव इतिद्वे। सामवेदे अधीयमाने दिवे सूर्यायेति द्वे। अथर्ववेदे अधीयमाने दिग्भ्यश्चन्द्रमस इति द्वे। ब्रह्मणे छन्दोभ्यश्चेति द्वे आहुती सर्वत्र प्रतिवेदमावर्तयेत् सर्वेषु वेदेषु अधीयमानेषु एकतमे वा, तथा प्रजापतय इत्यादिकाश्च सप्त। चशब्दात्सर्वत्र। एवमेकैकशो वेदाध्ययनोपाकरणपक्षे। यदा पुन-श्चतुर्णामपि वेदानां तन्त्रेणोपाकरणकर्म तदा ब्रह्मणे छन्दोभ्यश्चेति प्रतिवेदमाहुतिद्वय-मावर्तयेत्। प्रजापतये देवेभ्य इत्याद्यास्तन्त्रेणैव योगविभागसामर्थ्यात् ॥ २।१०।३-९ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'आज्य···य इति च'। आज्यभागानन्तरमाज्याहुतीर्जुहोति ऋग्वेदे अधीयमाने पृथिव्यै स्वाहा अग्नये स्वाहेति द्वे आहुती जुहोति। अन्तरिक्षाय वायवे इति द्वे यजुर्वेदे अधी०। दिवे सूर्यायेति द्वे सामवेदे अधी०। दिग्भ्यश्चन्द्रमस इति द्वे अथर्ववेदे अधी०। सर्वेषु वेदेष्वधीयमानेषु ब्रह्मणे छन्दोभ्यश्चेति द्वे आहुती सर्वत्र

प्रतिवेदमावर्तयेत् । चशब्दात्प्रजापतय इत्यादिकाश्च सप्त सर्वत्र । पृथक् योगकरणं चतुर्णामपि वेदानां तन्त्रेणोपाकरणे ब्रह्मणे छन्दोभ्यश्चेत्याहुतिद्वयं प्रतिवेदमावर्तनीयम् । प्रजापतय इत्येवमाद्यास्तन्त्रेणैव योगविभागसामर्थ्यात् ॥ २।१०।३-९ ॥

अनुवाद—अग्नि और सोम जन्य आहुतियाँ देने के बाद घी की आहुतियाँ दी जाय । यदि ऋग्वेद पढ़ना हो तो 'ॐ पृथिव्यै स्वाहा' तथा 'ॐ अग्नये स्वाहा' इन मंत्रों से पृथ्वी और अग्नि के नाम से दो आहुतियाँ दी जाय । यदि यजुर्वेद पढ़ना हो तो 'ॐ अन्तरिक्षाय स्वाहा' तथा 'ॐ वायवे स्वाहा' इन दो मंत्रों से अंतरिक्ष और वायु के नाम दो आहुतियाँ डालें । यदि सामवेद पढ़ना हो तो 'ॐ दिवे स्वाहा' तथा 'ॐ सूर्याय स्वाहा' कहकर दो आहुतियाँ दें । यदि अथर्ववेद पढ़ना हो तो 'ॐ दिग्भ्यः स्वाहा' तथा 'ॐ चन्द्रमसे स्वाहा' कहकर दो आहुतियाँ दें । 'ॐ ब्रह्मणे स्वाहा' तथा 'ॐ छन्दोभ्यः स्वाहा' इन दो मंत्रों से प्रत्येक वेद के उपाकर्म में आहुति दें । इतना ही नहीं, प्रत्युत 'प्रजापतये स्वाहा, देवेभ्यः स्वाहा, ऋषिभ्यः स्वाहा, श्रद्धायै स्वाहा, मेधायै स्वाहा, सदसस्पतये स्वाहा, अनुमतये स्वाहा' इन सात मन्त्रों से भी प्रत्येक वेद के आरम्भ में आहुतियाँ दें ।

एतदेव व्रतादेशनविसर्गेषु ॥ २।१०।१० ॥

(**हरिहरभाष्यम्**)—'एव…र्गेषु' । एतत् उपाकर्मणि विहितं पृथिव्या इत्यादि अनुमतय इत्यन्तं होमकर्म, व्रतादेशनं वेदारम्भः विसर्गः समावर्तनं व्रतादेशनानि च विसर्गश्च व्रतादेशनविसर्गास्तेषु भवति ॥ २।१०।१० ॥

(**गदाधरभाष्यम्**)—'एत…सर्गेषु' । एतदेव आज्याहुतिनवकमेव कर्म व्रतादेशेषु वेदारम्भव्रतेषु विसर्गे समावर्तने च । व्रतादेशनानि च विसर्गश्च व्रतादेशनविसर्गास्तेषु भवति ॥ २।१०।१० ॥

अनुवाद—उपाकर्म में विहित यह पृथिवी से अनुमति तक होमकर्म वेदारम्भ और समावर्तन में भी होता है ।

सदसस्पतिमित्यक्षतधानास्त्रिः ॥ २।१०।११ ॥

सर्वेऽनुपठेयुः ॥ २।१०।१२ ॥

हुत्वा हुत्वौदुम्बर्यस्तिस्रस्तिस्रः समिध आदध्युरार्द्राः सपलाशा घृताक्ताः सावित्र्या ॥ २।१०।१३ ॥

(**हरिहरभाष्यम्**)—'सद……वित्र्या' । सदसस्पतिमित्यनेन मन्त्रेण अक्षताश्च (ताः) धानाश्च अक्षतधानाः ता आचार्यो जुहोति त्रिस्त्रिवारम् । सर्वे च शिष्या एतं मन्त्रमनु सह पठेयुः । तथा हुत्वा हुत्वा एकैकामाहुतिं दत्त्वा औदुम्बरीः उदुम्बरवृक्षोद्भवास्तिस्रस्तिस्र आर्द्राः सरसाः सपलाशाः पत्रसहिता घृताक्ता आज्यलिप्ताः समिधः सर्वे आचार्यप्रमुखाः शिष्या आदध्युः अग्नौ सावित्र्या प्रसिद्धया प्रक्षिपेयुः भेदेन न तु युगपत् ॥ २-१०।११-१३ ॥

(**गदाधरभाष्यम्**)—'सद…वित्र्या' । धानानां च श्रपणानुपदेशात्सिद्धानामेवो-

पादानम् । अक्षताश्च ता धानाश्च अक्षतधानास्ताः सदसस्पतिमिति मन्त्रेण आचार्यस्त्रिर्जुहोति । सर्वे शिष्या अनु सहैवानुवर्तमानाः सदसस्पतिमिति मन्त्रं त्रिः पठेयुः । किं कृत्वा ? हुत्वा हुत्वा एकैकामक्षतधानाहुतिम् उदुम्बरवृक्षोद्भवास्तिस्रस्तिस्र आर्द्राः पत्रसहिताः घृतलिप्ताः समिध आचार्यसहिताः शिष्याः सावित्र्या तत्सवितुरिति मन्त्रेणादध्युरग्नौ प्रक्षिपेयुः । न यौगपद्येन । आदुम्बरीस्तिस्र इति पाठ इति हरिहरजयरामौ । औदुम्बर्यं इति तु कर्कभर्तृयज्ञाः । तिस्रस्तिस्र इति वीप्सा आधातृपुरुषविषया न समिद्विषयेति हरिहरः । अतश्च प्रत्याहुतिम् एकैकामेवादध्युः ॥ २।१०।११-१३ ॥

अनुवाद—'सदसस्पति' इत्यादि मंत्र पढ़ते हुए आचार्य स्वयं तीन बार अक्षत और धानों से हवन करे । सभी शिष्य इस मंत्र का एक साथ मिलकर पाठ करे । एक-एक आहुति डालने के बाद गूलर की तीन-तीन गीले पत्तों वाली तथा घी चुपड़ी हुई समिधाओं की आचार्य के संरक्षण में सभी शिष्य सावित्री मंत्र पढ़कर आहुतियाँ डालें ।

(मन्त्र)—सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम् ।
सनिं मेधामयासिषꣳ स्वाहा ॥ (यजु० ३२।१३)

ब्रह्मचारिणश्च पूर्वकल्पेन ॥ २।१०।१४ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'ब्रह्म···ल्पेन' । तत्र ये ब्रह्मचारिणः शिष्यास्ते पूर्वकल्पेन समिदाधानोक्तमन्त्रेण आदध्युः । अत्र तिस्रस्तिस्र इति वीप्सा न संमिद्विषया किन्तु आधातृपुरुषविषया तेन प्रत्याहुतिमेकैकामादध्युः ॥ २।१०।१४ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'ब्रह्म···ल्पेन' । तत्र ये ब्रह्मचारिणः शिष्यास्ते पूर्वकल्पेन प्रागुपदिष्टाग्निपरिचरणसमिदाधानमन्त्रेणादध्युः ॥ २।१०।१४ ॥

अनुवाद—इसके बाद ब्रह्मचारी उपनयनकर्म में की गई विधि से आहुति डाले ।

शन्नो भवन्त्वित्यक्षतधाना अखादन्तः प्राश्नीयुः ॥ २।१०।१५ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'शन्नो···श्नीयुः' । शन्नो भवन्तु वाजिन इत्यनयर्चा अक्षतधाना अखादन्तः दन्तैरनवखण्डयन्तः प्राश्नीयुः भक्षयेयुः ॥ २।१०।१५ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'शन्नो···श्नीयुः' । शन्नो भवन्तु वाजिन इति मन्त्रेण अक्षतधाना यवानां धाना अनवखण्डयन्तः दन्तैरचर्वयन्तः प्राश्नीयुः सर्वे आचार्यसहिताः बहुवचनोपदेशात् ॥ २।१०।१५ ॥

अनुवाद—इसके बाद 'शन्नो भवन्तु' इत्यादि मन्त्र पढ़कर जौ और चावलों को बिना चबाये शिष्यगण निगल जायें ॥ २।१०।१५ ॥

(मन्त्र)—शं नो भवन्तु वाजिनो हवेषु देवताता मितद्रवः स्वर्काः ।
जम्भयन्तोऽहिं वृकꣳ रक्षाꣳसि सनेम्यस्मद्युयवन्नमीवाः ॥
(यजु० ९।१६)

दधिक्राव्ण इति दधि भक्षयेयुः ॥ २।१०।१६ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'दधि···येयुः' । दधिक्राव्णो अकारिषमित्यृचा दधि भक्षयेयुः ॥ २।१०।१६ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'दधि···येयुः' सर्वे ॥ २।१०।१६ ॥

अनुवाद—'दधिक्राव्णो' इत्यादि मंत्र पढ़ते हुए दही खाये ।

(मन्त्र)—दधिक्राव्णोऽकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः ।
सुरभि नो मुखा करत्प्र ण आयूᳬंषि तारिषत् ॥
(य० सं० २३।३२)

स यावन्तं गणमिच्छेत् तावतस्तिलानाकर्षफलकेन जुहुयात् सावित्र्या, शुक्रज्योतिरित्यनुवाकेन वा ॥ २।१०।१७ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'स या···केन वा' । स आचार्यो यावन्तं यावत्सङ्ख्याकं शिष्याणां गणं समूहमिच्छेत् तावत्सङ्ख्याकान् तिलान् आकर्षफलकेन औदुम्बर्येण बाहुमात्रेण सर्पाकृतिना सावित्र्या सवितृदेवतया गायत्रिछन्दस्कया प्रसिद्धया जुहुयात् यद्वा शुक्रज्योतिरित्यनुवाकेन जुहुयात् । गुणफलमेतत् । अतो धानाभ्यः स्विष्टकृते हुत्वा महाव्याहृत्यादिनवाहुतीर्हुत्वा ॥ २।१०।१७ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'स या···केन वा' । स आचार्यो यावन्तं यावत्सङ्ख्याकं शिष्याणां गणं समूहमिच्छेत्तावतस्तावत्सङ्ख्याकान् तिलान् आकर्षफलकेन औदुम्बरेण बाहुप्रमाणेन सर्पाकृतिना तत्सवितुरित्यनया जुहुयात् । शुक्रज्योतिरित्यनुवाकेन वा जुहुयात् । ततो धानाभिः स्विष्टकृत् । कृष विलेखने धातुस्तस्यैतद्रूपम् । आ समन्तात्कृष्टं फलं यस्य तत् । अथवा आकर्षयतीत्याकर्षः फलमेव फलकं तेन जुहुयात् तच्च वैकङ्कतमिति कारिकायाम् ॥ २।१०।१७ ॥

अनुवाद—गुरु जितने शिष्यों को चाहे उनकी संख्या के अनुसार तिल गिनकर आकर्षक फलक में अर्थात् गूलर के बने सर्पाकार चमस से उन तिलों की गायत्री मंत्र से आहुति दे अथवा 'शुक्रज्योतिः' इस अनुवाक से आहुति दे ।

प्राशनान्ते प्रत्यङ्मुखेभ्यः उपविष्टेभ्यः ओङ्कारमुक्त्वा त्रिश्च सावित्रीमध्यायादीन् प्रब्रूयात् ॥ २।१०।१८ ॥

ऋषिमुखानि बह्वृचानाम् ॥ २।१०।१९ ॥

पर्वाणि छन्दोगानाम् ॥ २।१०।२० ॥

सूक्तान्यथर्वणानाम् ॥ २।१०।२१ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'प्राश···नाम्' । संस्रवप्राशनानन्तरं प्रत्यङ्मुखेभ्य आसीनेभ्यः शिष्येभ्यः सामर्थ्यात् स्वयं प्राङ्मुख उपविष्ट ॐकारं प्रणवमुक्त्वा उच्चार्य तत्सवितुरित्यादिकां च सावित्रीं त्रिरुक्त्वा मन्त्रब्राह्मणयोः अध्यायानामादीन् प्रब्रूयात् अध्यापयेत् इति यजुर्वेदोपाकरणे । ऋग्वेदोपाकरणे तु ऋषिमुखानि मण्डलादीन् प्रब्रूयात् बह्वृचानां शिष्याणाम् । छन्दोगानां सामगानां शिष्याणां सामवेदोपाकरणे पर्वाणि पर्वणामादीन् प्रब्रूयात् । अथर्वणानां शिष्याणामथर्ववेदोपाकरणे सूक्तानि सूक्तादीन् प्रब्रूयात् ॥ २।१०।१८-२१ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'प्राश···णानाम्' । संस्रवभक्षणान्ते स्वयं प्राङ्मुखः प्रत्यङ्मुखोपविष्टेभ्यः शिष्येभ्यो यजुर्वेदोपाकरणे ॐकारमुक्त्वा उच्चार्य तत्सवितुरिति सावित्रीं

त्रिरुक्त्वा मन्त्रब्राह्मणयोरध्यायादीन् प्रब्रूयात् अध्यापयेत् । बह्वृचानां शिष्याणाम् ऋग्वेदोपाकरणे ऋषिमुखानि मण्डलादीनि प्रब्रूयात् । छन्दोगानां शिष्याणां सामवेदोपाकरणे पर्वाणि पर्वणामादीन्प्रब्रूयात् । अथर्वणानां शिष्याणामथर्ववेदोपाकरणे सूक्तानि सूक्तादीन् ॥ ३।१०।१८-२१ ॥

अनुवाद—संस्रवप्राशन के बाद आचार्य स्वयं पूर्व की ओर मुख करके बैठ जाय, सामने पश्चिम की ओर मुख किए बैठे शिष्यों को प्रणव मंत्र अर्थात् 'ॐ' का उच्चारण करते हुए तीन बार सावित्री मंत्र का उच्चारण कर, यजुर्वेद के उपाकर्म मंत्र-ब्राह्मणात्मक अध्यायों का प्रारंभिक अंश पढाये । ऋग्वेदियों के लिए प्रत्येक मण्डल का पहला मंत्र बोले । सामवेदियों के लिए प्रत्येक पर्व का आदि मंत्र बोले । अथर्ववेद के उपाकरण में सूक्त का अध्यापन किया जाय ।

सर्वे जपन्ति—

सह नोऽस्तु सह नोऽवतु सह न इदं वीर्यवदस्तु ब्रह्म

इन्द्रस्तद्वेद येन यथा न विद्विषामह इति ॥ २।१०।२२ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—सर्वे'''मह इति' । सर्वे आचार्यशिष्याश्च सहनोऽस्त्वित्यमुं मन्त्रं जपन्ति ॥ २।१०।२२ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'सर्वे'''मह इति' । आचार्यसहिताः सर्वे शिष्याः सह नोऽस्त्विति मन्त्रं जपन्ति । मन्त्रार्थः—इदं ब्रह्म साङ्गोऽयं वेदः अध्ययनार्थं सहभावं प्राप्तानां समवेतानां नोऽस्माकम् अस्मद्हृदये अस्तु स्थिरं भवतु । ततश्च सह मिलितान्नोऽस्मानवतु पायात् रक्षतु । तथाऽत्र मिलितानां नोऽस्माकम् अनध्यायादावध्ययने शूद्रादिश्रवणादिना उपहतमपि इदं ब्रह्म वीर्यवत् अयातयाममस्तु । इन्द्रः प्रजापतिः तत् यथावत् वेद वेदयतु । येन वेदनेन परस्परं न विद्विषामहे न द्विष्मः ॥ २।१०।२२ ॥

अनुवाद—आचार्य सहित सभी शिष्य 'सहनोऽस्तु' मंत्र का एक साथ पाठ करें ।

मंत्रार्थ—(ऋषि प्रजापति, छन्द यजुष्, देवता वेद) यह वेद हम सबों में समान रूप से सुस्थिर हों, एक साथ हमारी रक्षा करें, यह हमारे मन को सशक्त बनाये रखें, हमारा मन कभी दुर्बल न हो । अन्तर्यामी इन्द्र जानते हैं, कि वेदज्ञान के कारण हम किसी से द्वेष नहीं करते ।

त्रिरात्रं नाधीयीरन् ॥ २।१०।२३ ॥

लोमनखानामनिकृन्तनम् ॥ २।१०।२४ ॥

एके प्रागुत्सर्गात् ॥ २।१०।२५ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'त्रिरा'''र्गात्' । उपाकर्मानन्तरं त्रिरात्रं नाधीयीरन् अध्ययनं न कुर्युः । त्रिरात्रमेव लोम्नां नखानां च अनिकृन्तनमच्छेदनम् । एके आचार्याः लोमनखानामनिकृन्तनं प्रागुत्सर्गात् उत्सर्गकर्मतः अर्वाक् इच्छन्ति । उत्सर्गश्च अर्धपञ्चान्मासानधीत्योत्सृजेयुरित्येवं वक्ष्यमाण इति सूत्रार्थः ॥ २।१०।२३-२५ ॥

अथ पद्धतिः । श्रावण्यां पौर्णमास्यां श्रवणयुक्तायामयुक्तायां वा श्रवणस्य शुक्ल-

पञ्चम्यां हस्तयुक्तायामयुक्तायां वा उपाकर्म अध्यायोपाकर्म भवति। तच्च अध्यापनं कुर्वतः औपासनिकस्य न त्वन्यस्य। तत्र प्रथमप्रयोगविहितमातृपूजापूर्वकं श्राद्धम् आचार्य आवंसथ्याग्नौ ब्रह्मोपवेशनाद्याज्यभागान्ते विशेषमनुतिष्ठेत्। तण्डुलस्थाने अक्षतधाना आसादयेत् प्रोक्षणकाले प्रोक्षेच्च।

तथोपकल्पयति। औदुम्बरीः समिधः दधि आकर्षफलकं तिलान् भक्षार्थं धानाः। तत आज्यभागान्ते वेदाहुत्यादीनामनुमत्यन्तानां वेदारम्भवद्धोमं विदध्यात्। एकदा सर्ववेदोपाकरणे प्रतिवेदं स्वस्वाहुतिद्वयं हुत्वा हुत्वा ब्रह्मणे छन्दोभ्य इत्याहुतिद्वयं पुनः पुनर्जुहुयात्। प्राजापत्याद्या अनुमत्यन्ताः सप्ताहुतीस्तन्त्रेण। अथ सदसस्पतिमित्यनयर्चा तत आसादिताभिरक्षतधानाभिः स्रुवेणैकामाहुतिमाचार्यो जुहोति इदं सदसस्पतये०। शिष्या अपि मन्त्रमनु पठन्ति। तत आचार्यः शिष्याश्च सर्वे औदुम्बरीमार्द्रां सपलाशां घृताक्ताम् एकैकां समिधं तत्सवितुरित्यादिकया सावित्र्या अग्नावादध्युः ब्रह्मचारिणश्च शिष्या अग्निकार्यमन्त्रेण तथैव समिधमादध्युः। एवं द्विरपरं धानाहोमं विधाय एकैकां समिधमादध्युः।

तत आचार्यः शिष्याश्च उपकल्पितधानाभ्यस्तिस्रस्तिस्रोऽक्षतधाना दन्तैरनवखण्डयन्तो भक्षयेयुः शन्नो भवन्तु वाजिन इत्यनयर्चा। तत आचम्य ततो दधिक्राव्णो अकारिषमित्यनयर्चा दधि भक्षयेयुः। तत आचमनानन्तरमाचार्यो यावन्तं शिष्यगणं कामयेत तावतस्तिलानाकर्षफलकेनादाय सावित्र्या जुहुयात्। इदं सवित्रे०। शुक्रज्योतिरित्यनेनानुवाकेन वा तिलान् जुहुयात्। तत्रेदं मरुद्भ्य इति त्यागः। ततो हुतशेषधानाभ्यः स्विष्टकृते हुत्वा महाव्याहृत्यादिप्राजापत्यान्ता नवाहुतीर्हुत्वा संस्रवप्राशनं ब्रह्मणे दक्षिणादानं यथोक्तं कुर्यात्। ततः प्रत्यङ्मुखोपविष्टेभ्यः शिष्येभ्यः प्राङ्मुख आचार्य उपविष्ट ॐकारमुक्त्वा त्रिवारं च सावित्रीमुक्त्वा इषे त्वा कृष्णोऽसीत्येवं मन्त्रस्य अध्यायानामादीन्प्रतीकान्ब्रूयात्। तथा च व्रतमुपैष्यन् स वै कपालान्येवान्यतर उपदधातीत्येवं च ब्राह्मणस्य।

ऋग्वेदानां मण्डलादीन् छन्दोगानां पर्वादीन् अथर्वणानां सूक्तादीन् प्रब्रूयात्। ततः सर्वे आचार्याः शिष्याश्च जपन्ति— सह नोऽस्तु सह नोऽवतु सह न इदं वीर्यवदस्तु ब्रह्म। इन्द्रस्तद्वेद येन यथा न विद्विषामह इति अमुं मन्त्रम्। तदनन्तरं त्रिरात्रमनध्यायं कुर्युः। यतः—"अनध्यायेष्वध्ययने प्रज्ञामायुः प्रजां श्रियम्। ब्रह्मवीर्यं बलं तेजो निकृन्तति यमः स्वयम्॥ मन्त्रवीर्यक्षयभयादिन्द्रो वज्रेण हन्ति च। ब्रह्मराक्षसतां चैति नरकश्च भवेद् ध्रुवम्"॥ लोमनखानां निकृन्तनं न कारयेयुः त्रिरात्रमेव। प्रागुत्सर्गाद्वा लोमनखनिकृन्तनं वर्जयेयुः। अतो मन्त्रब्राह्मणयोः शुक्लकृष्णपक्षे उत्सर्जनं यावत् निरन्तरं मन्त्रं ब्राह्मणं च अधीयीरन्नाचार्येण अध्याप्यमानाः शिष्याः। इत्युपाकर्म॥

(गदाधरभाष्यम्)—'त्रिरा···न्तनम्'। उपाकर्मोत्तरं त्रिरात्रं नाधीयीरन् सर्वे अध्ययनं न कुर्युः। लोम्नां नखानां च छेदनं त्रिरात्रं न कुर्युः। 'एके···र्गात्'। एके आचार्याः प्रागुत्सर्गाल्लोमनखानामनिकृन्तनमिच्छन्ति। उत्सर्गश्चार्धषण्मासानधीत्योत्सृजेयुरिति वक्ष्यते॥ २।१०।२३-२५॥

अथ पदार्थक्रमः । तत्र प्रथमप्रयोगे आचार्येण मातृपूजापूर्वकं नान्दीश्राद्धं कार्यम् । कारिकायाम्—ततो नान्दीमुखं श्राद्धं मातृपूजनपूर्वकम् । गुरोस्तदात्मसंस्कारान्न शिष्याणां परार्थतः ॥ आचार्यस्यावसथ्याग्नौ कर्म । ब्रह्मोपवेशनाद्याज्यभागान्ते विशेषः । तण्डुलस्थाने अक्षतधानानामासादनम् । प्रोक्षणं च । उपकल्पनीयानि—औदुम्बर्यः समिधः दधि आकर्षफलकं तिलाः भक्ष्यार्थं धानाः आज्यभागान्ते वेदाहुतीनामनुमत्यन्तानां होमो वेदारम्भवत् ।

एकदा सर्ववेदोपाकरणं चेत्प्रतिवेदमाहुतिद्वयं हुत्वा ब्रह्मणे छन्दोभ्य इत्याहुतिद्वयं पुनः पुनर्होतव्यम् । प्रजापत्याद्या अनुमत्यन्ताः सप्ताहुतयस्तन्त्रेण । ततः सदसस्पतिमित्यनयर्चाऽक्षतधानाहोमः । सदसस्पतिमिति मन्त्रं शिष्या अपि अनु पठेयुः । तत आचार्यः शिष्याश्च सर्वे औदुम्बरीस्तिस्रस्तिस्रः समिध आर्द्राः घृताक्ता आदध्युस्तत्सवितुरित्यनयर्चा । ये तु ब्रह्मचारिणः शिष्यास्तेषामग्निकार्यमन्त्रेणैव समिदाधानं भवति । एवं द्विरपरं धानाहोमः समिदाधानं च ।

तत आचार्यः शिष्याश्च तिस्रस्तिस्रोऽक्षतधाना अनवखण्डयन्तः प्राश्नीयुः शन्नो भवन्त्वित्यनयर्चा । ततः सर्वेषां दधिक्राव्ण इत्यृचा दधिभक्षणम् । आचमनं च । ततो यावन्तं शिष्यगणमिच्छेदाचार्यस्तावतस्तिलानाकर्षफलकेन जुहुयात्सावित्र्या । इदं सवित्रे० । शुक्रज्योतिरित्यनुवाकेन वा । ततो धानाभिः स्विष्टकृत् । ततो नवाहुतयः । ततः संस्रवप्राशनम्, मार्जनं पवित्रप्रतिपत्तिः, दक्षिणादानं ब्रह्मणे, प्रणीताविमोकः । ततः प्रत्यङ्मुखेभ्य उपविष्टेभ्यः शिष्येभ्यः प्राङ्मुख आचार्य ॐकारमुक्त्वा त्रिश्च सावित्रीमुक्त्वा इषे त्वेत्याद्यध्यायादीन्प्रब्रूयात् । बह्वृचादीनां यथोक्तम् । सहनोऽस्त्विति मन्त्रपाठ आचार्यसहितानां शिष्याणाम् । ततस्त्रिरात्रमनध्यायः । लोमनखानामनिकृन्तनं च त्रिरात्रमेव । प्रागुत्सर्गाद्वा लोमनखानामनिकृन्तनम् । ततः परं मन्त्रब्राह्मणयोरध्ययनं प्रागध्यायोत्सर्गात् । इत्युपाकर्मणि पदार्थक्रमः । ततो वैश्वदेवः ॥

अत्र रक्षाबन्धनमुक्तं हेमाद्रौ—ततोऽपराह्णसमये रक्षापोटलिकां शुभाम् । कारयेदक्षतैः शस्तैः सिद्धार्थैर्हेमभूषितैः ॥ इति । इदं भद्रायां न कार्यम् । भद्रायां द्वे न कर्तव्ये श्रावणी फाल्गुनी तथा । श्रावणी नृपतिं हन्ति ग्रामं दहति फाल्गुनी ॥ इति सङ्ग्रहवचनात् । भद्रासत्वे तु रात्रावपि तदन्ते कुर्यादिति निर्णयामृते । तत्र मन्त्रः—येन बद्धो बली राजा दानवेन्द्रो महाबलः । तेन त्वामपि बध्नामि रक्षे मा चल मा चल ॥ ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैः शूद्रैरन्यैश्च मानवैः । कर्तव्यो रक्षिकाचारो द्विजान्सम्पूज्य शक्तितः ॥ इति ।

अनुवाद—उपाकर्म के बाद तीन दिन तक अध्ययन न करे । तीन दिन तक नख-बाल भी न कटायें । कुछ आचार्यों की दृष्टि में समावर्त्तन-संस्कार से पहले नख-बाल न काटे जायें ।

द्वितीयकाण्ड में दशम कण्डिका समाप्त ॥

एकादशी कण्डिका

अनध्याय

वातेऽमावास्यायाᳬं सर्वानध्यायः ॥ २।११।१ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—त्रिरात्रं नाधीयीरन् इत्यनध्यायप्रसङ्गादनध्यायानाह—'वाते···ध्यायः'। वाते वायौ प्रचण्डे वाति सति। वातमात्रस्य सर्वदा विद्यमानत्वात् नानध्यायनिमित्तता। अमावास्यायां दर्शे च सर्वानध्यायः सर्वत्र वेदेषु वेदाङ्गेषु चानध्यायः अध्ययननिवृत्तिः सर्वानध्यायः। मतान्तरे तु यद् गुरुमुखाच्छिक्ष्यते शिल्पश्रमादि तत्राप्यनध्यायः। यतः शिल्पिनः स्थपत्यादयः श्रमिणो मल्लादयः अनध्यायं मन्यमाना दृश्यन्ते। अतो यत्किञ्चिदुपाध्यायादधीयते श्रूयते वा शिक्ष्यते वा तत्र सर्वत्रानध्यायः। स चानध्यायः गुरोः सकाशात् अनधीताध्ययने अध्यापकधर्मप्रकरणात् न गुणनेऽपि। केचित्तु सर्वशब्दस्य गुणनादिविषयतां मन्यन्ते तन्मते नापूर्वाध्ययनं नाधीतस्याभ्यसनमपि ॥ २।११।१ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'वाते···ध्यायः'। वाते वायौ प्रचण्डे सति वातस्य सर्वदा विद्यमानत्वादतिशयितोऽत्र ग्राह्यः। सर्वशब्दाच्चाङ्गानामपि न छन्दसामेव। यद्यदुपाध्यायसकाशाद् गृह्यते शिल्पाद्यपि तत्सर्वग्रहणेन गृह्यते। शिल्पिनामपि हि अनध्यायप्रसिद्धिरस्ति। अनध्यायश्च प्रकृतत्वाद् गुरुमुखाद्यच्छिक्ष्यते तत्रैव भवति न गुणनेऽपीति। अपरे तु सर्वविषयतामिच्छन्ति ॥ २।११।१ ॥

अनुवाद—प्रचण्ड वायु के बहने पर तथा अमावास्या के दिन अनध्याय होगा।

श्राद्धाशने चोल्कावस्फूर्जद्भूमिचलनाग्न्युत्पातेष्वृतुसन्धिषु चाऽऽकालम् ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'श्राद्धाश···कालम्'। न केवलममावस्यायाम् अपितु श्राद्धाशने च श्राद्धान्नस्य भोजने अशने भक्षणे च उल्का ज्वालाकृतिः पतन्ती तारका, अवस्फूर्जन्ती विद्योतमाना विद्युत्, भूमिः पृथिवी तस्याश्चलनं कम्पः भूमिचलनम्, अग्निः प्रसिद्धः, उल्का च अवस्फूर्जं च भूमिचलनं च अग्निश्च उल्कावस्फूर्जद्भूमिचलनाग्नयः तेषामुत्पातः उत्पतनं तस्मिन् ऋतुसन्धिषु ऋतूनां सन्धयः अन्तरालानि ऋतुसन्धयः तेषु सर्वानध्याय इत्यनुवर्तते। किं यावत् आकालं यस्मिन्काले यस्य निमित्तस्य उल्कादेरापतनम् अपरदिने तावत्कालपर्यन्तमाकालम्। केचित्तु श्राद्धाशने यावदन्नं जीर्यते तावदनध्यायमाहुः। ऋतुसन्धिशब्देन एकस्य ऋतोः अन्ते अपरस्य यावदप्रवृत्तिः स काल उच्यते तत्राकालिकता नोपपद्यते। ततश्च पूर्वस्यर्तोः अन्त्या रात्रिः उत्तरस्य आद्यमहः तावाननध्यायः ॥ २।११।२ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'श्राद्धा···कालम्'। आकालिका एते अनध्यायाः। आकालं यस्मिन्काले उल्कादेरापतनम् अपरदिने तावत्कालपर्यन्तं श्राद्धाशने श्राद्धान्नभोजने

श्राद्धान्नेऽजीर्णे इत्यपरे। उल्का ज्वालाकृतिः पतन्ती तारका। अवस्फूर्जत् विद्योतमाना विद्युत्। भूमिचलनं भूमेः कम्पः। अग्निर्ग्रामदाहः। एषामुत्पात उत्पतनं तस्मिन्। ऋतुसन्धिशब्देन एकस्य ऋतोरन्तः अपरस्य यावदप्रवृत्तिः स काल उच्यते। तत्र चाकालिकता नोपपद्यते। ततश्च पूर्वस्यान्तोऽन्त्या रात्रिः उत्तरस्याद्यमहस्तावान-नध्यायः ॥ २।११।२ ॥

अनुवाद—श्राद्धान्न खाने पर, तारे टूट कर गिरने पर, बिजली चमकने पर, भूकम्प होने पर, आग लगने पर, ऋतुओं के सन्धिकाल में अध्ययन-अध्यापन बन्द कर देना चाहिए।

उत्सृष्टेष्वभ्रदर्शने सर्वरूपे च त्रिरात्रं त्रिसन्ध्यं वा ॥ २।११।३ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'उत्सृ···न्ध्यं वा'। उत्सृष्टेषु छन्दःसु वक्ष्यमाणेन पुनर्विधिना छन्दसामुत्सर्गे कृते अनध्यायः। अभ्रस्य मेघस्य अतिशयितस्य दर्शने आविर्भावे विद्यु-दभ्रवायुवृष्टिगर्जितानां युगपत्प्रवृत्तिः सर्वरूपं तस्मिन् सर्वरूपे च त्रिरात्रं त्रीण्यहोरात्राणि वा त्रिसन्ध्यं सन्ध्यात्रयमनध्याय इति चकारेणानुगृह्यते। अन्येषां पक्षे (?) अभ्रदर्शने त्रिसन्ध्यं सर्वरूपे त्रिरात्रमिति व्यवस्थितो विकल्पः ॥ २।११।३ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'उत्सृ···वा'। उत्सृष्टेषु छन्दःसु वेदानामुत्सर्गे कृते अभ्र-दर्शनमत्रातिशयितं गृह्यते सर्वकालमभ्रस्य विद्यमानत्वात्। विद्युदभ्रवायुवृष्टिगर्जितानां युगपत्प्रवृत्तिः सर्वरूपम्। तत्रापि त्रिरात्रमनध्यायः। त्रिसन्ध्यं वेति विकल्पः। अभ्रद-र्शने त्रिसन्ध्यं सर्वरूपे च त्रिरात्रमिति व्यवस्थितविकल्प इत्यन्ये ॥ २।११।३ ॥

अनुवाद—वेदाध्ययन के समाप्ति काल में, वर्षा होते समय, एक साथ बिजली, बादल, हवा, वर्षा या आकाश के गरजने पर तीन दिन तक या तीन संध्यावेला में अध्ययन स्थगित कर देना चाहिए।

भुक्त्वाऽऽर्द्रपाणिरुदके निशायाꣳ सन्धिवेलयोरन्तःशवे ग्रामेऽन्तर्दिवा-कीर्त्ये ॥ २।११।४ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'भुक्त्वा···याम्'। भुक्त्वाऽशित्वा यावदार्द्रपाणिस्तावदन-ध्याय इत्यनुषङ्गः। उदके यावत्तिष्ठति तावत् निशायां महानिशायां 'महानिशा च विज्ञेया मध्यस्थं प्रहरद्वयमि'ति स्मरणात् रात्रेः पूर्वोत्तरौ यामौ वेदाभ्यासेन तौ नयेदिति वचनेन रात्रेः पूर्वचतुर्थयामयोर्वेदाभ्यासविधानाद् द्वितीयतृतीयप्रहरयोः परिशेषादनध्याय इत्यर्था-न्महानिशा लभ्यते। 'सन्धिवेलयोः' अहोरात्रयोः सन्धिवेले तयोः सन्ध्याकालयोरित्यर्थः। 'अन्त···ग्रामे'। अन्तर्मध्ये शवः मृतशरीरं यस्य सः तस्मिन् ग्रामे तावदनध्यायः। 'अन्त···कीर्त्ये'। दिवाऽह्नि कीर्त्यं पठनीयं यत् प्रवर्ग्यादि तद्दिवाकीर्त्यं तस्मिन् दिवाकीर्त्ये विषये अन्तर्ग्राममध्ये अनध्यायः। पक्षान्तरे तु अन्तः सन्निहितो दिवाकीर्त्यश्चण्डालो यत्र सोऽन्तर्दिवाकीर्त्यो देशः तत्रानध्यायः ॥ २।११।४ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'भुक्त्वा···कीर्त्ये'। भुक्त्वा यावदार्द्रपाणिस्तावन्नाधीयीत।

तथोदके यावत्तिष्ठति तावत् । निशायां स्मृत्यन्तरान्निशाशब्देनार्द्धरात्रमुच्यत इति कर्कः । महानिशा च विज्ञेया मध्यस्थं प्रहरद्वयमिति स्मरणात् । रात्रेः पूर्वोत्तरौ यामौ वेदाभ्यासेन तौ नयेदिति वचनेन रात्रेः पूर्वचतुर्थयामयोर्वेदाभ्यासविधानाद् द्वितीयतृतीययोः परिशेषादनध्याय इति हरिहरः । सन्धिवेलयोः अहोरात्रयोः सन्ध्याकालयोः । अन्तःशवे ग्रामे ग्राममध्ये यावच्छवं मृतशरीरं भवति तावन्नाधीयीत । अन्तर्दिवाकीर्त्ये । दिवा अह्नि कीर्त्यं पठनीयं यत् प्रवर्ग्यादि तद्दिवाकीर्त्यं तस्मिन्विषये ग्रामे अनध्यायः । तद्ग्राममध्ये न पठनीयम् । सूत्रयोजनायां ग्रामपदं काकाक्षिगोलकन्यायेनोभयत्र योजनीयम् । ग्रामेऽन्तर्दिवाकीर्त्ये इति अन्ये तु अन्तः सन्निहितो दिवाकीर्तिश्चाण्डालो यत्र सोऽन्तर्दिवाकीर्त्यो देशस्तत्रानध्यायः ॥ २।११।४ ॥

अनुवाद—खाने के बाद जब तक हाथ सूख न जाय तब तक अध्ययन न करे। जब तक पानी में रहे, रात के मध्य के दो पहरों में, दिन-रात की सन्धिवेला में, गाँव में जब तक मुर्दा पड़ा रहे, चाण्डालयुक्त स्थान पर अनध्याय मानना चाहिए।

धावतोऽभिशस्तपतितदर्शनाश्चर्याभ्युदयेषु च तत्कालम् ॥ २।११।५ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'धाव···त्कालम्' । धावतः शीघ्रं गच्छतः अभिशस्तः ब्रह्महत्यादिपापेनाभियुक्तः पतितो ब्रह्महत्यादिना पापेन । अभिशस्तश्च पतितश्च अभिशस्तपतितौ तयोर्दर्शनम् । आश्चर्यमद्भुतम् । अभ्युदयः पुत्रजन्मविवाहादि । एतेषु धावनादिनिमित्तेषु तत्कालं यावन्निमित्तं तावत्कालमनध्यायः ॥ २।११।५ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—धाव···त्कालम्' । धावतः शीघ्रं गच्छतः । अभिशस्तो ब्रह्महत्यादिपापेनाभियुक्तः पतितो ब्रह्महत्यादिपापेन अभिशस्तपतितयोर्दर्शनम् । आश्चर्यमद्भुतमिन्द्रजालादि । अभ्युदयः पुत्रजन्मविवाहादि । एषु धावनादिनिमित्तेषु तत्कालं यावन्निमित्तं तावत्कालमनध्यायः ॥ २।११।५ ॥

अनुवाद—दौड़ते हुए, किसी पापी या अपराधी को देखने पर, बाजीगरों के खेल-तमाशे देखते समय, विवाह-पुत्रजन्म प्रभृति आभ्युदयिक कर्म में तात्कालिक अवकाश रखना चाहिए।

नीहारे वादित्रशब्द आर्तस्वने ग्रामान्ते श्मशाने श्वगर्दभोलूकशृगालसामशब्देषु शिष्टाचरिते च तत्कालम् ॥ २।११।६ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'नीहा···त्कालम्' । नीहारे धूमरिकायां वादित्राणां मृदङ्गादीनां शब्दे आर्तस्य दुःखितस्य स्वने शब्दे ग्रामस्यान्ते सीम्नि श्मशाने प्रेतभूमौ श्वा च गर्दभश्च उलूकश्च शृगालश्च साम च श्वगर्दभोलूकशृगालसामानि तेषां शब्दे श्रूयमाणे शिष्टाचरिते च शिष्टस्य श्रोत्रियस्य आचरिते आगमने तत्कालं यावत् तन्निमित्तं तावत्कालमनध्यायः ॥ २।११।६ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'नीहा····ते च' । नीहारे धूमरिकायां वादित्राणां मृदङ्गादीनां शब्दे । आर्तस्य दुःखितस्य स्वने शब्दे । ग्रामस्यान्ते सीम्नि । श्मशाने मृतकदाह-

भूमौ। श्वा च गर्दभश्च उलूकश्च श‍ृगालश्च साम च श्वगर्दभोलूकश‍ृगालसामानि तेषां शब्दे श्रूयमाणे। शिष्टाचरिते च शिष्टस्य श्रोत्रियस्याचरिते आगमने चकारात् तत्कालं यावन्निमित्तमनध्यायः ॥ २।११।६ ॥

अनुवाद—कुहरा लगने पर, बाजे या नगाड़े बजने पर, किसी दुःखी के आर्त्तनाद पर, गाँव की सीमा पर, श्मशान में कुत्ते, उल्लू या सियार के चिल्लाने पर, जब सामवेद की ध्वनि हो, उतनी देर अनध्याय रखना चाहिए।

गुरौ प्रेतेऽपोऽभ्यवेयाद्दशरात्रं चोपरमेत् ॥ २।११।७ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'गुरौ···मेत्'। गुरौ आचार्ये प्रेते मृते अपो जलम् अभ्यवेयात् प्रविशेत्। स्नानपूर्वकमुदकदानाय दशरात्रं दशाहानि अध्ययनादुपरमेत् ॥ २।११।७ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'गुरौ···मेत'। गुरौ आचार्ये प्रेते मृते अप उदकमभ्यवेयात् प्रविशेत्। स्नानपूर्वकमुदकदानाय दशरात्रं दशाहानि स्वाध्यायादध्ययनादुपरमेत् ॥ २।११।७ ॥

अनुवाद—गुरु की मृत्यु होने पर स्नान कर जलदान करे, फिर दस दिनो तक अनध्याय रखे।

सतानूनप्त्रिणि सब्रह्मचारिणि च त्रिरात्रम् ॥२।११।८॥

(हरिहरभाष्यम्)—'सता···त्रम्'। तानूनप्त्रं नाम सोमयागे ऋत्विजां दीक्षितस्य च आज्याभिमर्शनलक्षणं कर्म समानं तानूनप्त्रं यस्यास्तीति स सतानूनप्त्री तस्मिन् सतानूनप्त्रिणि प्रेते। समाने तुल्ये ब्रह्मणि वेदे चरति स सब्रह्मचारी तस्मिन् सब्रह्मचारिणि सहाध्यायिनि समानाचार्ये प्रेते त्रिरात्रमनध्यायः ॥ २।११।८॥

(गदाधरभाष्यम्)—'सता···रात्रम्'। तानूनप्त्रं ध्रौवं व्रतप्रदाने श‍ृह्णात्यापतय इति द्विश्च स्थाल्याः स्रुवेण तानूनप्त्रमेतद्दक्षिणस्यां वेदिश्रोणौ निधायावमृशत्यृत्विजो यजमानश्चानाधृष्टमसीति ज्योतिष्टोमे विहितम्। सह तानूनप्त्रमाज्यं येन स्पृष्टं स सतानूनप्त्री तस्मिन् सतानूनप्त्रिणि प्रेते। समाने तुल्ये ब्रह्मणि वेदे चरतीति सब्रह्मचारी तस्मिन् सब्रह्मचारिणी सहाध्यायिनि समानाचार्ये च प्रेते त्रिरात्रं स्वाध्यायादुपरमेत् ॥ २।११।८ ॥

अनुवाद—'तानूनप्त्र' तथा सहपाठी ब्रह्मचारी की मृत्यु हो जाने पर तीन दिन तक अनध्याय रखना चाहिए।

टिप्पणी—तानूनप्त्र उसे कहते हैं, जो सोमयाग में एक साथ दीक्षित हो या ऋत्विजों के आज्यालम्भन को साथ ही स्पर्श करने वाला हो।

एकरात्रमसब्रह्मचारिणि ॥ २।११।९ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'एक···रिणि'। न सब्रह्मचारी असब्रह्मचारी तस्मिन् असब्रह्मचारिणि भिन्नाचार्ये सहाध्यायिनि प्रेते एकरात्रमनध्यायः ॥ २।११।९ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'एक···रिणि'। न सब्रह्मचारी असब्रह्मचारी तस्मिन् भिन्नाचार्ये प्रेते एकरात्रमनध्यायः ॥ २।११।९ ॥

अनुवाद—जो अपना सहपाठी न हो, किन्तु उसी विद्यालय में भिन्न गुरु से पढ़ता हो, ऐसे ब्रह्मचारी की मृत्यु पर एक दिन का अनध्याय होना चाहिए।

अर्धषष्ठान्मासानधीत्योत्सृजेयुः ॥ २।११।१० ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अर्द्ध···जेयुः'। अर्द्धः षष्ठो मासो येषां मासानां ते अर्द्धषष्ठा मासाः तान् मासानधीत्य पठित्वा उत्सृजेयुः। पूर्वं श्रावण्यादौ उपाकृतानि छन्दांसि ॥ २।११।१० ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'अर्द्ध····जेयुः'। अर्द्धः षष्ठो मासो येषां ते अर्द्धषष्ठा मासास्तानर्द्धषष्ठान्मासानधीत्य पठित्वोत्सृजेयुः। पूर्वमुपाकृतानि स्वीकृतानि छन्दांसि उत्सृजेयुः। उत्सर्गश्छन्दसामेव। अङ्गानि पुनरधीयीत ॥ २।११।१० ।

अनुवाद—साढ़े छः महीने तक अध्ययन कर फिर विराम रखा जाय।

अर्द्धसप्तमासान् वा ॥ २।११।११ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अर्द्ध···न्वा'। अर्द्धः सप्तमो येषान्ते अर्द्धसप्तमाः तान् अर्द्धसप्तमान् मासान् वा अधीत्य छन्दांसि उत्सृजेयुरिति पूर्वोक्तेन सम्बन्धः। अत्र छन्दसामुत्सर्गोपदेशात् अङ्गाध्ययनमनुज्ञायते ॥ २।११।११ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'अर्द्ध···न्वा'। अधीत्योत्सृजेयुरिति शेषः। अर्द्धसप्तमो मासो येषु ते अर्द्धसप्तमासाः ॥ २।११।११ ॥

अनुवाद—अथवा साढ़े सात महीने तक वेदों का अध्ययन कर विराम करना चाहिए।

अथेमामृचं जपन्ति—

उभा कवी युवा यो नो धर्मः परापत ।
परिसख्यस्य धर्मिणो विसख्यानि विसृजामहे इति ॥ २।११।१२ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अथे···इति'। आचार्येण सह शिष्याः उभाकवीयुवा इतीमामृचं जपन्ति उभाकवीयुवायोनो धर्मः परापतत्। परिसख्यानि धर्मिणो विसख्यानि विसृजामहे इति इमामृचं जपन्ति ॥ २।११।१२ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'अथेमा···महे इति'। उत्सर्गानन्तरमाचार्येण सह शिष्या उभा कवी इतीमामृचं जपन्ति। उच्चारयन्ति। मन्त्रार्थः—हे अश्विनौ ! युवाम् उभा उभौ यतः कवी क्रान्तदर्शनौ। युवा युवानौ। युष्मत्सम्पादितो धर्मो नोऽस्माकं परिसख्यस्य सुमित्रभावस्य परापतत् रक्षणार्थमागतः। तेन धर्मेण विसख्यानि विद्वेषादीनि विषमाध्ययनादीनि वा विसृजाम त्यजाम। किम्भूतस्य सख्यस्य ? धर्मिणः उपकारादिधर्मवतः परस्परमनुकूलस्येत्यर्थः ॥ २।११।१२ ॥

अनुवाद—आचार्य के साथ शिष्य भी वेदोत्सर्गकाल में 'उभा कवी···' इत्यादि मन्त्र का एक साथ जप करे।

मन्त्रार्थ—(ऋषि परमेष्ठी, छन्द अनुष्टुप्, देवता अश्विनीकुमार ।) हे अश्विनी-कुमारो ! तुम दोनों क्रान्तद्रष्टा और तरुण हो । तुम्हारी कृपा से हमने जो धर्म प्राप्त किया है, वह हमारी मित्रता की रक्षा करे । हम परस्पर मित्रता के धर्म में बँधकर एक-दूसरे के प्रति विद्वेष करना छोड़ दें ।

त्रिरात्रᳪ सहोष्य विप्रतिष्ठेरन् ॥ २।११।१३ ॥

(**हरिहरभाष्यम्**)—'त्रिरा···रन्' । त्रिरात्रं सह एकत्र उषित्वा विप्रतिष्ठेरन् विप्रवासं कुर्युः विशेषेण प्रवासं कुर्युरिति सूत्रार्थः ॥ २।११।१३ ॥

(**गदाधरभाष्यम्**)—'त्रिर···रन्' । अत्र त्रिरात्रं सह एकस्मिन् गृहे आचार्य-सहिताः शिष्या निवासं कृत्वा विप्रतिष्ठेरन् विविधं प्रवासं कुर्युः । त्रिरात्रं सहवासनि-यमः । विप्रतिष्ठात्र विद्यत एव ॥२।११।१३ ॥

अनुवाद—इसके बाद तीन दिन और तीन रात गुरु और शिष्य एक साथ बिता कर यथाभिलषित स्थान की ओर प्रस्थान करें ।

टिप्पणी—चौथे सूत्र में जो 'निशायां' का प्रयोग किया है, कर्काचार्य ने उसके सम्बन्ध में कहा है—'निशाशब्देन अर्धरात्रमुच्यते'—'महानिशा च विज्ञेया मध्यस्थं प्रहरद्वयम् ।'

तीसरे सूत्र में प्रयुक्त 'सर्वे' शब्द की व्याख्या करते हुए कर्काचार्य ने कहा है—"गुरुमुख से पठित सभी विषयों का अनध्याय । कुछ आचार्यों के अनुसार न केवल नवीन विषयों का अनध्याय, अपितु अधीत विषयों का भी अध्ययन स्थगित रखना चाहिए । इसी प्रकार छठे सूत्र में 'शिष्ट' शब्द का प्रयोग है, जिसका अर्थ भाष्यकार ने 'श्रोत्रिय' किया है, जब कि इसका तात्पर्य 'श्रेष्ठ पुरुष' होना चाहिए ।

द्वितीयकाण्ड में एकादश कण्डिका समाप्त ॥

द्वादशी कण्डिका

उत्सर्ग

पौषस्य रोहिण्यां मध्यमायां वाऽष्टकायामध्यायानुत्सृजेरन् ॥२।१२।१॥

(हरिहरभाष्यम्)—'पौष···रन्' । पौषमासस्य रोहिणीनक्षत्रे मध्यमायां पौष्या ऊर्ध्वाष्टकायाम् अष्टम्यां वा अध्यायान्स्वाध्यायानुत्सृजेरन् पूर्वमुपाकृतान् पुनरुपाकरणं यावन्नाधीयीरन्नित्यर्थः ॥ २।१२।१ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'पौष···रन्' । पौषमासस्य रोहिण्यां रोहिणीनक्षत्रे । मध्यमायामष्टकायाम् । पौष्या ऊर्ध्वमष्टम्यां वा अध्यायान् वेदान् उत्सृजेरन् पूर्वमुपाकृतान् पुनरुपाकरणं यावन्नाधीयीरन् ॥ २।१२।१ ॥

अनुवाद—पूस महीने के रोहिणी नक्षत्र अथवा कृष्णपक्ष की अष्टमी में पूर्व स्वीकृत वेदाध्ययन का उत्सर्ग कर दिया जाय अर्थात् जब तक पुनः उपाकर्म न हो तब तक अध्ययन प्रारम्भ न किया जाय ।

उदकान्तं गत्वाद्भिर्देवाँश्छन्दाᳬसि वेदानृषीन् पुराणाचार्यान् गन्धर्वानितराचार्यान् संवत्सरं च सावयवं पितॄनाचार्यान् स्वांश्च तर्पयेयुः ॥ २।१२।२ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'उद···येयुः' । कथमुत्सृजेरन्नित्यपेक्षायामुच्यते—उदकान्तं नद्याद्युदकसमीपे गत्वा उदकसमीपगमनात् स्नानं लक्ष्यते । ननु—मासद्वयं श्रावणादि सर्वा नद्यो रजस्वलाः । तासु स्नानं न कुर्वति वर्जयित्वा समुद्रगाः ॥ इति छन्दोगपरिशिष्टे नदीस्नानस्य निषेधात् कथं नद्याद्युच्यते ? सत्यम् । उपाकर्मणि चोत्सर्गे प्रेतस्नाने तथैव च । चन्द्रसूर्योपरागे च रजोदोषो न विद्यते ॥ इत्यपवादवचनान्न दोषः । ततो यथाविधि स्नात्वा माध्याह्निकं कर्म देवागातु विद इत्येतत्प्राक् निर्वर्त्य सप्तर्षिपूजावंशानुपठनानन्तरं देवास्तृप्यन्तां छन्दांसि तृप्यन्तामित्येवमाचार्यान्तान् यज्ञोपवीतिनस्तर्पयेयुः आचार्यसहिताः शिष्याः ततः प्राचीनावीतिनो दक्षिणामुखा नामगोत्रोच्चारणपूर्वकं स्वांश्च पितृपितामह-प्रपितामहान् तर्पयेयुः अनन्तरं स्नानवस्त्रं निष्पीड्याचम्य देवागातु विद इत्यनयर्चा समापयेयुः ॥ २।१२।२ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—उत्सर्गप्रकारमाह—'उद···येयुः' । नद्याद्युदकान्तम् उदक-समीपं गत्वा तत्र स्नात्वाऽद्भिर्देवादींस्तर्पयेयुराचार्यसहिताः शिष्याः । उदकान्तगमनेन च स्नानं लक्ष्यते । अत्र नदीरजोदोषो न भवति । तदुक्तम्—उपाकर्मणि चोत्सर्गे प्रेतस्नाने तथैव च । चन्द्रसूर्योपरागे च रजोदोषो न विद्यत इति ॥ २।१२।२ ॥

अनुवाद—उत्सर्ग की विधि बतलाते हैं—किसी नदी या तालाब के पास जाकर आचार्य सहित सभी ब्रह्मचारी जल से देवताओं, छन्दों, वेदों, ऋषियों, पौराणिक

आचार्यों, गन्धर्वों, दिन-रात, मास, ऋतु तथा सभी अवयवों से युक्त संवत्सर, पितरों, अपने आचार्यों तथा अन्य आचार्यों का भी तर्पण करे।

सावित्रीं चतुरनुद्रुत्य विरताः स्म इति प्रब्रूयुः ॥ २।१२।३ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'सावि···ब्रूयुः'। ततः सावित्रीं तत्सवितुरित्यादिकां चतुः-कृत्वोऽनुद्रुत्य पठित्वा विरताः स्म इत्याचार्यप्रमुखा शिष्याः सर्वेऽनुब्रूयुः ॥ २।१२।३ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'सावि···ब्रूयुः'। तर्पणस्यान्ते आचार्यसहिताः सर्वे शिष्याः सावित्रीं तत्सवितुरित्यृचं चतुःकृत्वोऽनुद्रुत्य पठित्वा विरताः स्म इति मन्त्रं ब्रूयुः ॥ २।१२।३ ॥

अनुवाद—इसके बाद सावित्री मंत्र का चार बार उच्चारण कर 'विरताः स्मः' अर्थात् हम उत्सर्ग का काम समाप्त कर चुके हैं—यह कहे।

क्षपणं प्रवचनं च पूर्ववत् ॥ २।१२।४ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'क्षप···वत्'। क्षपणम् अनध्ययनं लोमनखानामनिकृन्तनं च प्रवचनम् अध्यायादीनां पठनं पूर्ववत् उपाकरणकालवत्। ततस्त्रिरात्रानन्तरं शुक्लपक्षेषु छन्दांस्यधीयीरन् कृष्णपक्षेष्वङ्गानि। ततः पुनरर्द्धसप्तमासान्वाऽधीत्य एवमेवोत्सर्गं विधाय उभाकवी युवेत्यादिकाम् ऋचं जपित्वा त्रिरात्रमेकरात्रं वाऽवस्थाय यथेष्टं विप्रतिष्ठेरन् पृथक् पृथक् गच्छेयुः। ततः पुनरुपाकरणकाले उत्सृष्टान् वेदानुपाकृत्य अध्ययनं यावदुत्सर्गमिति सूत्रार्थः ॥ २।१२।४ ॥

(गदाधरभाष्यम्) 'क्षप···वत्'। ततः क्षपणम् अनध्ययनं लोमनखानामनिकृन्तनं च प्रवचनं चाध्यायादीनां पठनं पूर्ववत् उपाकर्मकालवत्। ततस्त्रिरात्रानन्तरं शुक्ल-पक्षेषु छन्दांस्यधीयीरन् कृष्णपक्षेष्वङ्गानि। ततोऽर्द्धषष्ठान्मासार्द्धसप्तमान्वा मासानेवमेवा-धीत्य सर्वत उत्सृज्य उपाकृत्य चाधीयीतेति सिद्धम् ॥ २।१२।४ ॥

अथ पदार्थक्रमः। पौषस्य रोहिण्यां मध्यमाष्टकायां वा पौषस्यैवाध्यायोत्सर्गः। तत्र मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकं श्राद्धम्। उदकान्तगमनम्। स्नात्वाऽद्भिर्देवादितर्पणम्। देवा-स्तृप्यन्तु छन्दांसि तृप्यन्तु वेदास्तृप्यन्तु ऋषयस्तृप्यन्तु पुराणाचार्यास्तृप्यन्तु गन्धर्वास्तृ-प्यन्तु इतराचार्यास्तृप्यन्तु संवत्सरः सावयवस्तृप्यतु पितरस्तृप्यन्तु आचार्यास्तृप्यन्तु। नामगोत्रोच्चारणपूर्वकं स्वांश्च पित्रादींस्तर्पयेयुः। जीवपितृकाणां तु पितामहादितर्पणम्। ततस्तत्सवितुरित्यस्याः सावित्र्याश्चतुरनुद्रवणम्। विरताः स्म इति सकृत् ब्रूयुः। उपा-कर्मवदध्यायादीनां पठनम्। त्रिरात्रमनध्यायः। लोमनखानामनिकृन्तनं च त्रिरात्रम्।

ततस्त्रिरात्रादूर्ध्वं शुक्लपक्षेषु छन्दांसि अधीयीरन् कृष्णपक्षेष्वङ्गानि। ततः पुनरर्द्ध-षष्ठमासानधीत्यार्द्धसप्तमासान्वाऽधीत्य एवमेवोत्सर्गं विधाय उभाकवीत्यादिकामृचं जपित्वा त्रिरात्रमेकत्रावस्थाय पश्चाद्यथेष्टं पृथक् गच्छेयुः। ततः पुनरुपाकरणकाले उत्सृ-ष्टान्वेदानुपाकृत्याध्ययनं यावदुत्सर्गम्। वृद्धाचारकारिकायां विशेषः—पौषस्य रोहि-ण्यामृक्षे वाऽष्टकां प्राप्य मध्यमाम्। उदकान्तं समासाद्य वेदस्योत्सर्जनं बहिः ॥ स्नातव्यं

विधिवत्तत्र स्थापयेदृष्यरुन्धती । प्रवरांश्च ततो धीमान् कुर्यात्तेषां प्रतिष्ठितिम् ।। इमावे-वेति यजुषा नामान्येषां विनिर्दिशेत् । अद्भिस्तान् स्थापयेत्तत्र सप्तऋषय इत्यृचा ।। अर्घ-स्तेभ्यः प्रदातव्यः पूजनं चन्दनादिभिः । नैवेद्यैर्विविधैः पूज्या वेदस्य हितमिच्छता ।। ऋषीणां प्रीतये दद्यादुपवीतान्यनेकशः । प्रणम्य च मुनीन् भक्त्या पश्चात्तर्पणमाचरेत् ।। देवाश्छदांसि वेदाश्च ऋषयश्च सनातनाः ।

तथा—पुराणाचार्यान् गन्धर्वानितराचार्यांस्तथैव च । अहोरात्राण्यर्द्धमासा मासा ऋतव एव च ।। संवत्सरोऽवयवैः सार्द्धमयं पुरश्च पञ्चभिः । मन्त्रैर्द्वाभ्यामूर्द्धेति माछन्द-स्तिस्र एव च ।। एवं षोडशभिर्मन्त्रैः सप्तऋषय इत्येकया । चतुर्भिस्तर्पयेद् वंशैरिमाववे-त्यनेन च ।। सावित्रीं पाठयेच्छिष्यान् चतुःकृत्वो गुरुः स्वयम् । विरताः स्मेति पठेयुस्ते प्रणवं योजयेत्कविः ।। सावित्रीं त्रिः समुच्चार्य अध्यायांश्च प्रपाठकान् । शतस्थानान्यनु-स्मृत्य कण्डिकाश्च तथान्तिमाः ।। अन्तिमाः फक्किका ब्रूयादग्निमीळे पुरोहितम् । इषे त्वेत्यग्न आयाहि शन्नो देवीरभिष्टयः ।। सहनोऽस्त्विवति मन्त्रं च पश्चादुभाकवीति च । इति ।। इति पदार्थक्रमः ।

अनुवाद—उपाकर्म की तरह अनध्याय होगा, नख-बाल नहीं काटे जायेंगे, अध्यायों का प्रवचन चलता रहेगा ।

टिप्पणी—तर्पण-विधि—नदी अथवा जलाशय में विधिवत् स्नान कर मध्याह्न-कालीन कर्म से निवृत्त हो 'देवागातु विद' इत्यादि मंत्र पढ़कर फिर 'देवास्तृप्यन्ताम्, छन्दांसि तृप्यन्ताम्, वेदास्तृप्यन्ताम्' इत्यादि पढ़कर तर्पण करे। तर्पण करने के पश्चात् स्नान-वस्त्र निचोड़ कर 'देवागातु विद' इत्यादि ऋचा पढ़कर अनुष्ठान समाप्त कर दिया जाय ।

अब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि सावन-भादों के महीनों में नदियाँ रजस्वला होती हैं, अतः उनमें स्नान कैसे किया जाय ? इस सन्दर्भ में छन्दोगपरिशिष्ट में कहा गया है—

'मासद्वयं श्रावणादि सर्वा नद्यो रजस्वलाः ।
तासु स्नानं न कुर्वीत वर्जयित्वा समुद्रगाः' ।।

किन्तु इस वचन का प्रतिषेध भी किया गया है। उपाकर्म, उत्सर्ग, मृतकस्नान, चन्द्र और सूर्यग्रहण में रजोदोष का विचार नहीं किया जाता है। जैसे—

'उपाकर्मणि चोत्सर्गे प्रेतस्नाने तथैव च ।
चन्द्रसूर्योपरागे च रजोदोषो न विद्यते' ।।

द्वितीयकाण्ड में द्वादश कण्डिका समाप्त ।।

त्रयोदशी कण्डिका

लाङ्गलयोजन

पुण्याहे लाङ्गलयोजनं ज्येष्ठया वेन्द्रदैवत्यम् ॥ २।१३।१ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'पुण्या···जनम्' । प्रथमं कृषिप्रवृत्तस्यैतत्कर्मोच्यते । पुण्याहे उदगयनशुक्लपक्षादिव्युदासेन चन्द्रतारानुकूले दिवसे लाङ्गलस्य हलस्य योजनं प्रवर्तनम् । 'ज्येष्ठ···त्यम्' । पक्षान्तरमाह—यद्वा अपुण्याहेऽपि ज्येष्ठया नक्षत्रेण युते लाङ्गलयोजनम् । कुतः ? इन्द्रदैवत्या ज्येष्ठा यतः इन्द्रायत्ता च कृषिरिति । एतच्च मातृपूजाभ्युदयिकश्राद्धपूर्वकम् ॥ २।१३।१ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'पुण्या···जनम्' । यस्य कृषिकर्मण्यधिकारस्तस्येदमुच्यते । पुण्याहे उदगयने शुक्लपक्षे चन्द्राद्यनुकूलदिने लाङ्गलस्य हलस्य योजनं प्रवर्तनं भवति । प्रथमकृषिप्रवृत्तस्यैतत्कर्म भवति । उदगयने आपूर्यमाणपक्षे पुण्याह इत्यनेनैव प्राप्तत्वादत्र पुण्याहग्रहणमग्रिमसूत्रे अपुण्याहत्वद्योतनार्थम् । पक्षान्तरमाह—'ज्येष्ठ···त्यम्' । अथवा अपुण्याहेऽपि ज्येष्ठया नक्षत्रेण युते दिने लाङ्गलयोजनं भवति । प्रथमकृषिप्रवृत्तस्यैतत्कर्म भवति । उदगयन इन्द्रदैवत्यं ज्येष्ठानक्षत्रं यतः इन्द्राधीनं च कृषिकर्म वृष्टिनिमित्तत्वात् । ज्येष्ठया वेति हेतौ तृतीया । ज्येष्ठायामिन्द्रदैवत्यं वेति भर्तृयज्ञपाठः ॥ २।१३।१ ॥

अनुवाद—किसी पुण्य दिन में लाङ्गल (हल) जोतें । अथवा किसी पुण्य दिन के अभाव में भी यदि ज्येष्ठा नक्षत्र आ जाय तो हल जोतना चाहिए; क्योंकि ज्येष्ठा नक्षत्र के देवता इन्द्र हैं ।

इन्द्रं पर्जन्यमश्विनौ मरुत उदलाकाश्यपꣳ स्वातिकारीꣳसीतामनुमतिं च दध्ना तण्डुलैर्गन्धैरक्षतैरिष्ट्वाऽनडुहो मधुघृते प्राशयेत् ॥ २।१३।२ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'इन्द्रं···येत्' । तत्र इन्द्रादीननुमत्यन्तान् अष्टौ देवताविशेषान् दध्ना तण्डुलैर्गन्धैरक्षतैश्च अक्षताः यवाः इष्ट्वा नमोऽन्तैर्नाममन्त्रैर्बलिहरणेन सम्पूज्य अनडुहो वृषभान् मधुघृते मिलिते प्राशयेत् । तद्यथा—दधितण्डुलगन्धाक्षतान् पात्रे कृत्वा शुचिराचान्तः प्राङ्मुख उपविश्य कृषिक्षेत्रैकदेशे गोमयोपलिप्ते हस्तेन गृहीत्वा । इन्द्राय नमः, पर्जन्याय नमः, अश्विभ्यां नमः, मरुद्भ्यो नमः, उदलाकाश्यपाय नमः, स्वातिकार्यै नमः, सीतायै नमः, अनुमत्यै नमः । यथामन्त्रं त्यागाः । इदमादिका नमोरहिताः । इत्यष्टौ बलीन् प्राक्संस्थान् दत्वा ततो बलीवर्दान् मधुघृते पात्रे कृत्वा तूष्णीं प्रत्येकं प्राशयेत् लेहयेत् ॥ २।१३।२ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'इन्द्रं···येत्' । यागशब्देन देवतोद्देशेन बल्युपहार उच्यते । इन्द्रादिदेवताविशेषान्दध्ना तण्डुलैर्गन्धैरक्षतैर्यवैश्चेष्ट्वा नमोऽन्तैर्नाममन्त्रैर्बलिहरणेन सम्पूज्य अनडुहो बलीवर्दान्मधुघृते पात्रे कृत्वा तूष्णीं प्रत्येकं प्राशयेत् ॥ २।१३।२ ॥

अनुवाद—इन्द्र, पर्जन्य, दोनों अश्विनीकुमार, मरुत्, उदलाकाश्यप, स्वातिकारी, सीता और अनुमति नाम के आठ देवता-विशेषों को 'इन्द्राय नमः' इस प्रकार मंत्रोच्चारपूर्वक दही, चावल, गन्ध और जौ का होम करे तथा प्रत्येक बैल को शहद और घी बिना मंत्र के ही चटायें।

सीरा युञ्जन्तीति योजयेत् ॥ २।१३।३ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'सीरा···लभेत'। सीरायुञ्जन्तीत्यनयर्चा वृषभौ हले योजयेद्दक्षिणोत्तरक्रमेण शुनꣳ सुफाला इत्यनचर्या भूमिं कृषेत् ॥ २।१३।३ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'सीरा···लभेत'। यागानन्तरं सीरायुञ्जन्तीत्यनेन मन्त्रेण वृषभो हले योजयेद्दक्षिणोत्तरक्रमेण ॥ २।१३।३ ॥

अनुवाद—'सीरा युञ्जन्ति···' इत्यादि ऋचा का पाठ कर बैलों को हल में जोते।

(मन्त्र)—'सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वितन्वते पृथक्। धीरा देवेषु सुम्नया ॥
(य० सं० १२।६७)

शुनꣳसुफाला इति कृषेत् फालं वा लभेत ॥ २।१३।४ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—यद्वा शुनꣳ सुफाला इति फालमभिमृशेत्। उभयलिङ्गत्वान्मन्त्रस्य ॥ २।१३।४ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—ततः शुनꣳ सुफाला इति भूमिं कृषेत्। अथवा शुनꣳ सुफाला इति फालं हलमुखमायसमभिमृशेत्। उभयलिङ्गत्वान्मन्त्रस्य ॥ २।१३।४ ॥

अनुवाद—'शुनꣳसुफाला···' इत्यादि ऋचा को पढ़कर धरती जोते अथवा फाल का स्पर्श करे।

(मन्त्र)—'शुनꣳसुफाला विकृषन्तु भूमिꣳ शुनं कीनाशा अभियन्तु वाहैः।
शुनासीरा हविषा तोशमाना सुपिप्पला ओषधीः कर्त्तनास्मे' ॥
(य० सं० १२।६९)

नवाऽन्युपदेशाद्वपनानुषङ्गाच्च ॥ २।१३।५ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'न वा...शात्'। न वा एतौ योजने कर्षणे च मन्त्रौ भवतः। कुतः ? अग्नौ अग्निचयने एतयोरुपदेशात्। न च अग्निप्रकरणे आम्नातयोरत्रोपदेशः न वाऽतिदेशः। 'वपनानुषङ्गाच्च'। इतोऽपि मन्त्रौ न भवतः। अग्निप्रकरणे बीजवपने ये मन्त्रा या ओषधीरित्याद्या विनियुक्तास्तेषामप्यत्रानुषङ्गः स्यात्। यदि लिङ्गमात्रेणोपदेशातिदेशाभावेऽपि विनियुज्यते तदा वपनमन्त्रा अपि तल्लिङ्गत्वाद्विनियोजनीया भवेयुः। न चैतदिष्यते ॥ २।१३।५ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'नवा····शात्'। न चैतौ मन्त्रौ विनियोक्तव्यौ। किङ्कारणम् ? अग्निचयन एतावुपदिष्टौ। न चाग्निप्रकरणपठितयोरिहोपदेशो नातिदेशः। किञ्च 'वंन···च्च'। अग्निचयनप्रकरणे अन्नवपने ये मन्त्रा या ओषधीरित्यादयो

विनियुक्तास्तेषामप्यनुषङ्गः प्राप्नोति । यदि लिङ्गमात्रेण विनियोगः स्यात् । न चैतदिष्यते ॥ २।१३।५ ॥

अनुवाद—अथवा इन दोनों मंत्रों का विनियोग योजन अथवा कर्षण कर्म में न किया जाय, क्योंकि अग्निचयन में ये मंत्र उपदिष्ट हैं । अग्नि-प्रकरण में 'आमन्नात्…' का न तो यहाँ उपदेश है और न अतिदेश ही । 'वपनानुषङ्ग' से भी यह मंत्र विनियुक्त नहीं होते हैं । (अग्निप्रकरणगत बीजवपन में विनियुक्त मंत्रों का यहाँ भी अनुवर्त्तन होना चाहिए ? नहीं, क्योंकि उपदेश और अतिदेश के अभाव में भी यदि लिङ्ग मात्र से विनियोग होने लगे तो वपन मंत्र भी लिङ्ग के आधार पर विनियोज्य हो जायेगा, जो इष्ट नहीं है ।)

अग्र्यमभिषिच्याकृष्टं तदा कृषेयुः ॥ २।१३।६ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अग्र्य…षेयुः' । अग्र्यं श्रेष्ठं बलीवर्दं अभिषिच्य गन्धमाल्यादिभिर्भूषयित्वा अकृष्टमविलिखितं यत्तत्क्षेत्रमाकृषेयुः विलिखेयुः ॥ २।१३।६ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'अग्र्य…षेयुः' । अग्र्यं वल्लभं बलीवर्दमभिषिच्य घुर्घुरमालादिना भूषयित्वा अकृष्टमविलिखितं यत्क्षेत्रं तत्कृषेयुः ॥ २।१३।६ ॥

अनुवाद—उत्तम बैल को घंटी आदि से विभूषित कर पहले बिना जोती गई धरती को जोता जाय ।

स्थालीपाकस्य पूर्ववद्देवता यजेदुभयोर्व्रीहियवयोः प्रवपन् सीतायज्ञे च ॥ २।१३।७ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—अथ साग्निकस्य कृषिकर्मणि विशेषमाह—'स्थाली…यज्ञे च' । स्थालीपाकस्य चरोः पूर्ववल्लाङ्गलयोजनोक्तदेवता इन्द्रादिका । यजेत किं कुर्वन् ? प्रवपन् सीरामुप्तिं कुर्वन् कयोः व्रीहियवयोः व्रीहियवयोर्वपनकाले । अत्र स्थालीपाकस्य श्रपणोपदेशाभावात् सिद्धस्योपादानम् । इति सूत्रार्थः ॥ २।१३।७ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'स्थाली…यज्ञे च ।' इदमपरं कर्मान्तरम् । स्थालीपाकस्य श्रपणानुपदेशादत्र सिद्धस्यैव ग्रहणम् । स्थालीपाकस्य चरोः पूर्ववल्लाङ्गलयोजनोक्ता देवता इन्द्रादिका यजेत् । किङ्कुर्वन् ? प्रवपन् उप्तिं कुर्वन् । कयोः ? व्रीहियवयोर्वपनकाले ॥ २।१३।६ ॥

अनुवाद—धान और जौ को बोते समय तथा सीतायज्ञ के अवसर पर स्थालीपाक से पहले की तरह इन्द्र से लेकर अनुमति तक के देवताओं का यजन करे ।

ततो ब्राह्मणभोजनम् ॥ २।१३।८ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'ततो………नम्' । इति लाङ्गलयोजनम् । इति सूत्रार्थः ॥ २।१३।८ ॥

अथ प्रयोगः । तत्र प्रथमप्रयोगे मातृपूजाभ्युदयिकानन्तरमावसथ्याग्नौ ब्रह्मोपवेशनादिप्राशनान्ते तण्डुलस्थाने पूर्वसिद्धं स्थालीपाकमासाद्य प्रोक्षणकाले प्रोक्षेत । तत

आज्यभागानन्तरं स्थालीपाकेन लाङ्गलयोजनदेवताभ्यो जुहुयात्। तद्यथा—इन्द्राय स्वाहा इदमिन्द्राय०। तथा—पर्जन्याय स्वाहा इदं पर्जन्याय०। अश्विभ्याᳪ स्वाहा इदमश्विभ्यां०। मरुद्भ्यः स्वाहा इदं मरुद्भ्यो०। उदलाकाश्यपाय स्वाहा इदमुदलाकाश्यपाय०। स्वातिकार्यै स्वाहा इदं स्वातिकार्यै०। सीतायै स्वाहा इदं सीतायै०। अनुमत्यै स्वाहा इदमनुमत्यै०। ततोऽग्नये स्विष्टकृते स्वाहेति हुत्वा आज्येन नवाहुतीश्च हुत्वा प्राशनब्रह्मणे दक्षिणादानब्राह्मणभोजनादि कुर्यात्। इति व्रीहियववपनकर्म। सीतायज्ञे च एता एव देवताः स्थालीपाकेन यजेदित्यतिदेशः ॥

(गदाधरभाष्यम्)—ततो ब्राह्मणस्य भोजनं कार्यम् ॥ २।१३।८ ॥

अथ पदार्थक्रमः। पुण्याहे लाङ्गलयोजनम्। उदगयनाद्यभावेऽपि ज्येष्ठानक्षत्रे वा मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकश्राद्धम्। ततो दध्याद्यादाय लाङ्गलयोजनदेशे गमनं तत्र स्थण्डिलानुलेपनम्। तत्र दधितण्डुलगन्धाक्षतमिश्रितैरिन्द्रादिभ्यो बलिहरणम्। हस्तेनैव। इन्द्राय नमः, पर्जन्याय नमः, अश्विभ्यां नमः, मरुद्भ्यो नमः, उदलाकाश्यपाय नमः, स्वातिकार्यै नमः, सीतायै नमः, अनुमत्यै नमः। यथा दैवतं त्यागाः। अनडुहो मधुघृते प्राशयेत्। ततः प्रथमबलीवर्दस्य मण्डनम्। ततोऽकृष्टे देशे कर्षणम्।

ततो ब्राह्मणभोजनम्। अथ व्रीहियवयोर्वपनकाले मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकं कृत्वाऽऽवसथ्येऽग्नौ कर्म भवति। तत्र ब्रह्मोपवेशनादिप्राशनान्ते विशेषः। तण्डुलस्थाने सिद्धस्य चरोरासादनं प्रोक्षणं च। आज्यभागान्ते स्थालीपाकेन लाङ्गलयोजनदेवताभ्यो होमः। इन्द्राय स्वाहा, पर्जन्याय स्वाहा, अश्विभ्यां स्वाहा, मरुद्भ्यः स्वाहा, उदलाकाश्यपाय स्वाहा, स्वातिकार्यै स्वाहा, सीतायै स्वाहा, अनुमत्यै स्वाहा। यथादैवतं त्यागाः। ततश्चरुणा स्विष्टकृत्। ततो भूरादिनवाहुतयः। संस्रवप्राशनम्। मार्जनम्। पवित्रप्रतिपत्तिः। दक्षिणादानम्। प्रणीताविमोकः ॥

अनुवाद—इसके वाद यथाशक्ति ब्राह्मणभोजन कराना चाहिए।

टिप्पणी—कृषिकर्म के लिए आश्वलायनगृह्यसूत्र में उत्तराफाल्गुनी और रोहिणी नक्षत्र को श्रेष्ठ माना गया है। शाङ्खायनगृह्यसूत्र में भी कृषिकर्म प्रारम्भ करने के लिए रोहिणी नक्षत्र की प्रशस्ति है। मानवगृह्यसूत्र में सीतायज्ञ और खलयज्ञ के पूरक रूप में आयोजन का विधान है। मानवगृह्यसूत्र में भी इसका उल्लेख है। गोभिलगृह्यसूत्र में इसे हलाभियोग कहा गया है। इसमें इन्द्र, मरुद्गण, पर्जन्य, अश्विनौ (देवयुग्म) और भर्ग को स्थालीपाक की आहुतियाँ देने को कहा गया है। सीता, आशा, अवदा एवं अनघ को घी की आहुतियाँ देने का विधान है। एक आहुति आखुराज को देने का भी उल्लेख मिलता है। यहाँ आखुराज से चूहे का सम्बन्ध है। सीतायज्ञ, खलयज्ञ, प्रवचन, प्रलवण तथा प्रयजन में भी इन्हें आहुतियाँ मिलती हैं।

द्वितीयकाण्ड में त्रयोदश कण्डिका समाप्त ॥

चतुर्दशी कण्डिका

श्रवणाकर्म

अथातः श्रवणाकर्म ॥ २।१४।१ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अथा···कर्म' । अथेदानीमावसथ्याग्निसाध्यकर्मणां प्रकृतत्वात् श्रावणाकर्मोच्यत इति शेषः ॥ २।१४।१ ।

(गदाधरभाष्यम्)—'अथा···कर्म' । श्रवणाकर्मेति वक्ष्यमाणस्य कर्मणो नामधेयम् । व्याख्यास्यत इति सूत्रशेषः ॥ २।१४।१ ॥

अनुवाद—अब श्रवणाकर्म की विधि बतलाई जाती है ।

श्रावण्यां पौर्णमास्याम् ॥ २।१४।२ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'श्राव···स्याम्' । तच्च श्रावणमासस्य शुक्लपञ्चदश्यां कर्तव्यम् ॥ २।१४।२ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'श्राव···स्याम्' । तत्कर्म श्रावणशुक्लपञ्चदश्यां भवति । अस्य कर्मणो गौणकालो न भवति । तदुक्तं कारिकायाम्—श्रावण्यामेव तत्कार्यमभावाद् गौणकालतः । परिसङ्ख्योक्तितः सूत्रकारस्यान्यस्मृतेर्बलात् ॥ यावज्जीवं पाकयज्ञानुष्ठानं सकृद्वेति तत्रैवोक्तम् । वचनात्सूत्रकारस्य सकृदस्य क्रिया भवेत् । एवमेवोत्तरेषां स्यादावृत्तिर्वा स्मृतेर्बलात् ॥ सकृत्करणमिच्छन्ति तत्रावृत्तिः सतां मतात् । तथा—यावज्जीवं पाकयज्ञैर्यजेत्संवत्सरणे चेति ॥ २।१४।२ ॥

अनुवाद—इसका अनुष्ठान श्रावणशुक्ल पूर्णिमा को करना चाहिए ।

स्थालीपाकꣳ श्रपयित्वाऽक्षतधानाश्चैककपालं पुरोडाशम् ॥२।१४।३॥

(हरिहरभाष्यम्)—'स्थाली···शम्' । स्थालीपाकं चरुम् अक्षतधानाः अक्षतानां सतुषाणां यवानां धानाः अक्षतधानाः ताश्च श्रपयित्वा एककपालमेकस्मिन्कपाले श्रप्यत इत्येककपालं तं पुरोडाशं श्रपयित्वेत्यनुषज्यते अन्यथा तद्भूतोपादानं स्यात् । अतश्च धानापुरोडाशयोः श्रपणोपदेशात् भर्जनकपालयोरपि आसादने प्रोक्षणे भवतः, अर्थवतां प्रोक्षणमविशेषेणोपदिश्यते ॥ २।१४।३ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'स्थाली···शम्' । स्थालीपाकं चरुं श्रपयित्वा अक्षतानां सतुषयवानां धाना अक्षतधानास्ताश्च श्रपयित्वा एकस्मिन् कपाले श्रप्यत इत्येककपालस्तं च पुरोडाशं श्रपयित्वा । चरुधानापुरोडाशानां सिद्धानामुपादानं माभूदिति श्रपयित्वेति ग्रहणम् । भर्जनैककपालयोरप्यासादनप्रोक्षणे भवतः, अर्थवदासाद्यार्थवत्प्रोक्ष्येत्यविशेषोपदेशात् । पुरोडाशस्य श्रपणमात्रोपदेशात्पेषणानुपदेशाच्च लौकिकपिष्टानामासादनम् ॥ २।१४।३ ॥

अनुवाद—स्थालीपाक और भूँसी लगे हुए जौ को एक बर्तन में पकाकर उस हवि को तैयार करे।

धानानां भूयसीः पिष्ट्वाऽऽज्यभागाविष्ट्वाऽऽज्याहुती जुहोति।

अपश्वेतपदा जहि पूर्वेण चापरेण च। सप्त च वारुणीरिमाः प्रजाः सर्वाश्च राजबान्धवैः स्वाहा ॥ २।१४।४॥

न वै श्वेतस्याध्याचारेऽहिर्ददर्श कञ्चन। श्वेताय वैदर्व्याय नमः स्वाहेति ॥ २।१४।५ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'धाना···स्वाहेति'। धानानां भर्जितानां यवानां मध्ये भूयसीः बह्वीः पिष्ट्वा सक्तुत्वमापाद्य आज्यभागौ हुत्वा अपश्वेतपदा जहि न वै श्वेतस्याद्धयाचार इति द्वाभ्यां मन्त्राभ्यां द्वे आज्याहुती जुहोति ॥ २।१४।४-५ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'धाना···स्वाहेति'। धानानां मध्ये भूयसीर्बह्वीर्धानाः पिष्ट्वा पेषणेन सक्तुत्वं सम्पाद्याज्यभागौ हुत्वा आज्येनाहुती द्वे जुहोत्यपश्वेतपदाजहीति द्वाभ्यां मन्त्राभ्याम्। तत्रापश्वेतपदा जहीति प्रथमां, न वै श्वेतस्येति द्वितीयाम्। मन्त्रार्थः—हे श्वेतपद ! त्वमिमा मदीयाः प्रजाः मम निवासभूमेः पूर्वेण भागेन अपरेण च पश्चाद्भागेन च जहि स्वजातिजनितमालिन्यधर्मात् परित्यज। अस्मात् स्थानाच्च स्थानान्तरं व्रज। किम्भूताः प्रजाः ? सप्त च सपिण्डसगोत्रसोदकत्वभेदेन सप्तसप्तपुरुषसम्बन्धाः सप्त कुलजा वा। तद्यथा पिता माता च भार्या च दुहिता भगिनी तथा। पितृष्वसा मातृष्वसा सप्त गोत्राण्यमूनि वै ॥ इति। वारुणैर्वरुणायत्तैर्नागैर्मदीयाः प्रजाः परित्यज। सर्वाः सेवकपश्वादिरूपाः राजबान्धवैर्नागैः राजा तक्षको वासुकिः शेषो वा तस्य ये बान्धवास्तैः सह त्यज। एतैः सह सदा तुभ्यं सुहुतमस्तु हविःसम्पादनमस्तु।१। पूर्वोक्तमेव द्रढयति। वै निश्चयेन। श्वेतस्य नागस्याध्याचारे आधिपत्ये अहिः सर्पजातीयः कश्चन लोकं प्राणिजातीयं न पश्यतिस्म पापदृष्ट्या। अनेन कर्मणा स्थानत्यागात् तदर्थं श्वेताय शुद्धाय नागाय नमस्कारपूर्वकं सुहुतमस्तु। किम्भूताय नागाय ? वैदर्व्याय विदर्वापत्याय ॥ २।१४।४-५ ॥

अनुवाद—उस हवि को यथेष्ट जौ की ढेरी के साथ पीसकर अग्नि और सोम की आहुतियाँ डाले। इसके बाद 'अपश्वेतपदा जहि···' तथा 'न वै श्वेतस्य···' इत्यादि मंत्रों को पढ़ते हुए घी की आहुतियाँ प्रदान करे।

मन्त्रार्थ—(ऋषि प्रजापति, छन्द अनुष्टुप्, देवता सर्प।) ओ गुप्तचरण सर्प ! तुम वासुकि आदि अपने सारे राजबन्धुओं के साथ अपनी सात पीढ़ियों तक हम से हमारे अपने लोगों से बहुत दूर चले जाओ। हमारे आस-पास रहना छोड़ दो। हमारे स्वजनों पर वरुणों की कृपा है, उनका वरदहस्त है।

मन्त्रार्थ—(ऋषि प्रजापति, छन्द गायत्री, देवता सर्प।) विशाल फण वाले, पवित्र और प्रसन्न, सफेद पैर वाले साँप को मैं बार-बार नमस्कार करता हूँ। उनके अधीन रहने वाले कोई भी साँप मुझे पापदृष्टि से न देखें।

स्थालीपाकस्य जुहोति—विष्णवे श्रवणाय श्रावण्यै पौर्णमास्यै वर्षाभ्यश्चेति ॥ २।१४।६ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'स्थाली···भ्यश्चेति' । अनन्तरं स्थालीपाकस्य चरोश्चतस्र आहुतीर्जुहोति । यथा विष्णवे स्वाहेत्येवमादिभिश्चतुर्भिर्मन्त्रैः ॥ २।१४।६ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'स्थाली···श्चेति' । ततो विष्णवे स्वाहेत्येवमादिभिश्चतुर्भिर्मन्त्रैः स्थालीपाकस्य चरोश्चतस्र आहुतीर्जुहोति ॥ २।१४।६ ॥

अनुवाद—इसके बाद स्थालीपाक चरु की चार आहुतियाँ विष्णु, श्रवणा इत्यादि के उद्देश्य से 'विष्णवे···' प्रभृति चार मंत्रों को पढ़कर डाली जाय ।

धानावन्तमिति धानानाम् ॥ २।१४।७ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'धाना···नाम्' । धानावन्तं करम्भिणमित्यनयर्चा धानानामेकामाहुतिं जुहोति ॥ २।१४।७ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'धाना···नाम्' । ततो धानावन्तं करम्भिणमित्यनयर्चा स्रुवेण धानानामेकाहुतिं जुहोति ॥ २।१४।७ ॥

अनुवाद—'धानावन्तं···' इत्यादि मंत्र पढ़कर पीसे हुए धानों की एक आहुति डाली जाय ।

(मन्त्र)—धानावन्तं करम्भिणमपूपवन्तमुक्थिनम् । इन्द्र प्रातर्जुषस्व नः ॥
(य० सं० २०।२९)

घृताक्तान् सक्तून् सर्पेभ्यो जुहोति ॥ २।१४।८ ॥
आग्नेयपाण्डुपार्थिवानाᳬं सर्पाणामधिपतये स्वाहा ।
श्वेतवायवान्तरिक्षाणाᳬं सर्पाणामधिपतये स्वाहा ।
अभिभूः सौर्यदिव्यानाᳬं सर्पाणामधिपतये स्वाहेति ॥ २।१४।९ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'घृता···स्वाहेति' । घृतेन आज्येन अक्ताः अभिघारिताः घृताक्ताः तान् सक्तून् सर्पेभ्य आग्नेयपाण्डुपार्थिवेत्यादिभिर्मन्त्रैः प्रतिमन्त्रमेकैकामेवं तिस्र आहुतीर्जुहोति ॥ २।१४।८-९ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'घृता···स्वाहेति' । घृतेनाक्तान् अभिघारितान् सक्तून् सर्पेभ्यो मन्त्रोक्तेभ्य आग्नेयपाण्डुपार्थिवानामिति त्रिभिर्मन्त्रैस्तिस्र आहुतीर्जुहोति । मन्त्रार्थः—आग्नेयाः अग्निदेवत्याः पाण्डवाः पाण्डुजातीयाः पार्थिवा पृथिवीविहारिणः तेषां सर्पाणामधिपतये शेषाय वासुकये वा स्वाहा सुहुतमस्तु ॥ १ ॥ श्वेताः श्वेतजातीयाः वायवाः वायुदेवत्या इति यावत् । आन्तरिक्षा अन्तरिक्षविहारास्तेषामधिपतय इति प्राग्वत् ॥ २ ॥ तथा अभिभवन्ति सर्वानित्यभिभुवः सौर्याः सूर्यदेवत्याः दिव्या दिवि विहारास्तेषाम् । अभिभूरिति विसर्गश्छान्दसः ॥ ३ ॥ २।१४।८-९ ॥

अनुवाद—'आग्नेयपाण्डु···' इत्यादि तीन मंत्रों को पढ़कर घी मिले सत्तू की तीन आहुतियाँ सर्पों को दे।

मन्त्रार्थ—(ऋषि परमेष्ठी, छन्द यजुष्, देवता सर्पाधिपति।) अग्निदेव के पाण्डु नामक और धरती पर विचरण करने वाले विषधरों के लिए, सफेद रंग वाले, वायुदेव के और अन्तरिक्ष में घूमने वाले सर्पाधिपों के लिए सभी को अभिभूत करने वाले, सूर्यनारायण के और द्युलोक में बसने वाले सर्पाधिपतियों के लिए।)

सर्वहुतमेककपालं ध्रुवाय भौमाय स्वाहेति ॥ २।१४।१० ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'सर्वं···स्वाहेति'। तत एककपालं पुरोडाशं सर्वहुतं यथा भवति तथा ध्रुवाय भौमाय स्वाहेत्यनेन मन्त्रेण जुहोति। ततः स्थालीपाकधानासक्तुभ्यः स्विष्टकृद्धोमः ॥ २।१४।१० ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'सर्वं···स्वाहेति'। सक्तुहोमोत्तरमेककपालं पुरोडाशं सर्वंहुतं सम्पूर्णं हुतं यथा भवति तथा ध्रुवाय भौमाय स्वाहेत्यनेन मन्त्रेण जुहोति। ततः स्विष्टकृद्धोमः स्थालीपाकधानासक्तुभ्यः। सर्वहुत एककपाल इति परिभाषितत्वादत्रावाच्यं सर्वहुतमेककपालमिति। वाच्यं वा पाकयज्ञेष्ववत्तस्यासर्वहोम इति सूत्रेण संस्रवनिधानं प्राप्तं तद्व्युदासार्थम् ॥ २।१४।१० ॥

अनुवाद—'ध्रुवाय भौमाय स्वाहा' यह मंत्र पढ़कर एक वर्तन में रखे सम्पूर्ण हवि का एक साथ हवन करे।

प्राशनान्ते सक्तूनामेकदेशꣳ शूर्पे न्युप्योपनिष्क्रम्य बहिःशालायाः स्थण्डिलमुपलिप्योल्कायां ध्रियमाणायां माऽन्तरागमतेत्युक्त्वा वाग्यतः सर्पानवनेजयति ॥ २।१४।११ ॥

आग्नेयपाण्डुपार्थिवानाꣳ सर्पाणामधिपतेऽवनेनिक्ष्व। श्वेतवायवान्तरिक्षाणाꣳ सर्पाणामधिपतेऽवनेनिक्ष्व। अभिभूः सौर्यदिव्यानाꣳ सर्पाणामधिपतेऽवनेनिक्ष्वेति ॥ २।१४।१२ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'प्राश····येति'। प्राशनान्ते संस्रवप्राशनानन्तरं सक्तूनामेकदेशं बलित्रयपर्याप्तं शूर्पे शरेषिकावंशान्यतममये इच्छापरिमाणे न्युप्य कृत्वा उपनिष्क्रम्य शालायाः सकाशान्निर्गत्य बहिरङ्गणे स्थण्डिलं भूमिं स्वयमेव गोमयेनोपलिप्य। अत्र सर्पानवनेजयतीत्यस्याः क्रियाया उपलेपनक्रियायाश्चैककर्तृकत्वेन पूर्वकालीनस्योपलेपनस्य ल्यबन्तत्वम्। समानकर्तृकयोः पूर्वकाले इति पाणिनिना ल्यपः स्मरणात्। तेनात्र स्थण्डिलस्य स्वयं पूर्वमुपलेपनम्। उल्कायां ध्रियमाणायां ज्वलति काष्ठेऽन्येन ध्रियमाणे माऽन्तरागमत आवसथ्यस्य मम चान्तराले मागच्छत इत्युक्त्वा अभिधाय वाग्यतो मौनी सर्पान् आग्नेय श्वेत अभिभूरित्यादिभिस्त्रिभिर्मन्त्रैरवनेनिक्ष्वेत्येतदन्तैः प्राक्संस्थानवनेजयति अवनिक्तान् शुचीन् करोति ॥ २।१४।११-१२ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'प्राश···निक्ष्वेति' । संस्रवप्राशनान्ते पूर्वंकृतसक्तूनामेकदेशं बलित्रयपर्याप्तं नडवेणुशरेषीकान्यतममये शूर्पे न्युप्य कृत्वा उपनिष्क्रम्य शालायाः सकाशान्निर्गत्य बहिः प्राङ्गणे स्थण्डिलभूमिं गोमयेनोपलिप्योल्कायां ध्रियमाणायां ज्वलत्काष्ठे अन्येन ध्रियमाणे माऽन्तरागमतेत्यभिधाय वाग्यतः आग्नेयपाण्डुपार्थिवानामिति त्रिभिर्मन्त्रैः सर्पान् प्राक्संस्थान् अवनेजयति भूमावुदकप्रक्षेपेणावनिक्तान् शुचीन् करोति । माऽन्तरागमत आवसथ्यस्य मम चान्तराले मा गच्छतेत्यर्थः । अत्र शूर्पं चर्मतन्तुबद्धमपि ग्राह्यमेव शूर्पस्वरूपस्य तथा प्रसिद्धत्वात् । उल्का च लौकिकाग्निना कार्या । विषये लौकिकमुपयुक्तत्वादिति कात्यायनोक्तेः ॥ २।१४।११-१२ ॥

अनुवाद—संस्रव प्राशन के बाद थोड़ा सत्तू सूप में लेकर फिर यज्ञशाला के बाहर निकल आये । बाहर आँगन की धरती को अपने हाथ से गोवर से लीप दे । लीपी हुई धरती पर आग के अंगारे रख दिए जायें । फिर 'मान्तरागमत' अर्थात् आग और मेरे बीच कोई न आए—यह कहकर चुपचाप 'आग्नेय···' इत्यादि तीन मंत्रों से साँपों को आचमन कराए ।

मंत्रार्थ—(ऋषि परमेष्ठी, छन्द यजुष्, देवता सर्पाधीश ।) जिन मंत्रों से प्रोक्षण करे, वे—'आग्नेय०' 'श्वेतवायव०' तथा 'अभिभूः०' इत्यादि तीन मंत्र हैं, इन्हें प्रोक्षण के समय बोले ।

यथाऽवनिक्तं दर्व्योपघातꣳ सक्तून् सर्पेभ्यो बलिꣳ हरति ।।२।१४।१३।।
आग्नेयपाण्डुपार्थिवानाꣳ सर्पाणामधिपत एष ते बलिः ।
श्वेतवायवान्तरिक्षाणाꣳ सर्पाणामधिपत एष ते बलिः ।
अभिभूः सौर्यदिव्यानाꣳ सर्पाणामधिपत एष ते बलिरिति ।२।१४।१४।

(हरिहरभाष्यम्)—'यथा···लिरिति' । यथाऽवनिक्तं येषु देशेषु अवनेजनं कृतं यथाऽवनिक्तम् अवनिक्तमनतिक्रम्येत्यर्थः । दर्व्या प्रादेशमात्रया द्व्यङ्गुष्ठपर्वविस्तीर्णया पलाशाद्यन्यतमयज्ञियवृक्षोद्भवया उपघातमुपहृत्योपहृत्य गृहीत्वा आग्नेयेत्यादिभिस्त्रिभिर्मन्त्रैरेष ते बलिरित्येतदन्तैः प्रतिमन्त्रं सर्पेभ्यो बलिं हरति ददाति । उपघातमिति णमुल्प्रत्ययान्तः उपपूर्वो हन्तिर्ग्रहणार्थः । अथ स्रुवेणोपहत्याज्यमितिवत् ॥ २।१४।१३-१४ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'यथा···लिरिति' । येषु देशेषु अवनेजनं कृतं तदनतिक्रम्य यथाऽवनिक्तं दर्व्या प्रसिद्धया उपघातम् उपहृत्योपहृत्य गृहीत्वा आग्नेयेत्यादिभिर्मन्त्रैः प्रतिमन्त्रं सर्पेभ्यो बलिं हरति ददाति । उपपूर्वो हन्तिर्ग्रहणार्थः । अथ स्रुवेणोपहत्याज्यमितिवत् ॥ २।१४।१३-१४ ॥

अनुवाद—जहाँ अवनेजन हुआ है, उसे विना लाँघे 'आग्नेय पाण्डु···' प्रभृति तीन मंत्रों से लकड़ी के चम्मच से साँपों को सतुए की बलियाँ प्रदान करे ।

अवनेज्य पूर्ववत् कङ्कतैः प्रलिखति ।। २।१४।१५ ।।
आग्नेयपाण्डुपार्थिवानाꣳ सर्पाणामधिपतये प्रलिखस्व ।

श्वेतवायवान्तरिक्षाणाᳬं सर्पाणामधिपते प्रलिखस्व ।
अभिभूः सौर्यदिव्यानाᳬं सर्पाणामधिपते प्रलिखस्वेति ॥ २।१४।१६ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अव···खस्वेति' । इत्यन्तम् । अवनेज्य अवनेजनं दत्वा कथं पूर्ववत्कङ्कतैर्वै प्रादेशमात्रैस्त्रिभिरेकतोदन्तैः समुच्चितैराग्नेयेत्यादिभिस्त्रिभिर्मन्त्रैः प्रलिखस्वेत्यन्तैर्यथासङ्ख्यं प्रतिबलिं प्रलिखति कण्डूयति ॥ २।१४।१५-१६ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'अव···खस्वेति' । तत आग्नेयेत्यादिमन्त्रैः पूर्ववदवनेजनं कृत्वा कङ्कतैस्त्रिभिर्वैकङ्कतीयैः प्रादेशप्रमाणैरेकतोदन्तैः समुच्चितैराग्नेयेत्यादित्रिभिर्मन्त्रैर्यथासङ्ख्यं दत्तबलिं प्रलिखति कण्डूयति ॥ २।१४।१५-१६ ॥

अनुवाद—अवनेजन कराकर 'आग्नेय पाण्डु···' प्रभृति तीन मंत्रों को पढ़कर पहले की ही तरह तीन कंघियों से खुजलाये ।

अञ्जनानुलेपनᳬं स्रजश्चाञ्जस्वानुलिम्पस्व स्रजोऽपि नह्यस्वेति ।२।१४।१७।

(हरिहरभाष्यम्)—'अञ्ज···स्वेति' । अञ्जनं कज्जलं लौकिकदीपजं त्रैककुदं सौवीरमिति प्रसिद्धं वा । अनुलेपनं सुरभिचन्दनादि स्रजः पुष्पमालाः आग्नेयेत्यादिभिस्त्रिभिर्मन्त्रैरञ्जस्व अनुलिम्पस्व स्रजोऽपिनह्यस्वेत्यन्तैः प्रतिमन्त्रं प्रतिबलिहरणमेकैकं यथाक्रमं ददाति ॥ २।१४।१७ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'अञ्ज···ह्यस्वेति' । अञ्जनं सौवीराञ्जनं लौकिकदीपजं कज्जलं वा । अनुलेपनं चन्दनादि । स्रजः पुष्पमालाः । आग्नेयेत्यादित्रिभिर्मन्त्रैरञ्जस्वानुलिम्पस्व स्रजोऽपिनह्यस्वेत्यन्तैः प्रतिमन्त्रै प्रतिबलि यथाक्रममेकैकं ददाति ॥ २।१४।१७ ॥

अनुवाद—'आग्नेय पाण्डु···' प्रभृति तीनों मन्त्रों के अन्त में क्रमशः 'अञ्जस्व' 'अनुलिम्पस्व', 'स्रजोऽपिनह्यस्व' जोड़कर काजल लगाये और पुष्पमालाएँ पहनाए ।

सक्तुशेषᳬं स्थण्डिले न्युप्योदपात्रेणोपनिनीयोपतिष्ठते—नमोऽस्तु सर्पेभ्य इति तिसृभिः ॥ २।१४।१८ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'सक्तु····तिसृभिः' । सक्तुशेषं यच्छूर्पे न्युप्यानीतं बल्यर्थं बलिदानायोपलिप्तैकदेशे न्युप्य शूर्पेणैव क्षिप्त्वा उदपात्रेण जलपात्रेण उपनिनीय प्रवाह्य नमोऽस्तु सर्पेभ्य इति तिसृभिर्ऋग्भिः सर्पानुपतिष्ठते । बल्यभिमुखस्तिष्ठन् प्राङ्मुखस्तिष्ठन् सर्पानुपतिष्ठते स्तौति ॥ २।१४।१८ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'सक्तु···तिसृभिः' । सक्तुशेषं बल्यर्थं यत्पूर्वं शूर्पे कृत्वा आनीतं बलिदानावशिष्टं तत्स्थण्डिले उपलिप्तायां भूमौ शूर्पेणैव न्युप्य प्रक्षिप्योदपात्रेणोपनिनीय आप्लाव्य नमोऽस्तु सर्पेभ्य इति तिसृभिर्ऋग्भिः बलिमुपतिष्ठते । बलिसमीपे तिष्ठन् मन्त्रं पठतीत्यर्थः ॥ २।१४।१८ ॥

अनुवाद—बचे हुए सत्तू को बलि के लिए लीनी गई धरती पर डाल दे, फिर

जलपात्र से पानी बहाकर 'नमोस्तु सर्पेभ्यः···' इत्यादि तीन मन्त्रों से साँपों की स्तुति करे।

(मन्त्र)—नमोस्तु सर्पेभ्यो ये के च पृथिवीमनु।
ये अन्तरिक्षे ये दिवि तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः॥
या इषवो यातुधानानां ये वा वनस्पतीꣳ१रनु।
ये वाऽवटेषु शेरते तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः॥
ये वामी रोचने दिवो ये वा सूर्यस्य रश्मिषु।
येषामप्सु सदस्कृतं तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः॥ (य० सं० १३।६-८)

स यावत् कामयेत न सर्पा अभ्युपेयुरिति तावत् सन्ततयोदधारया निवेशनं त्रिः परिषिञ्चन् परीयादपश्वेतपदा जहीति द्वाभ्याम् ॥२।१४।१९॥

(हरिहरभाष्यम्)—'स या···द्वाभ्यां'। स गृहपतिः यावद् यावन्तं देशं सर्पाः नागाः नाभ्युपेयुर्न सञ्चरेयुरिति कामयेत इच्छेत् तावत् तावन्तं देशं सन्ततया अनवच्छिन्नया उदधारया सलिलधारया निवेशनं गृहं परिषिञ्चन् त्रिः परीयात् त्रीन्वारान् गृहस्य समन्तात्प्रादक्षिण्येन परिक्रम्य गच्छेत्, कथम्? अपश्वेतपदा जहीति द्वाभ्यां मन्त्राभ्याम्॥ २।१४।१९॥

(गदाधरभाष्यम्)—'स या···द्वाभ्याम्'। स यजमानो यावद् यावन्तं देशं सर्पा नाभ्युपेयुर्नागच्छेयुरिति कामयेत इच्छेत् तावत् तावन्तं देशं भूभागं सन्ततया अनवच्छिन्नया जलधारया निवेशनं गृहमपश्वेतपदा जहीति पूर्वोक्ताभ्यां मन्त्राभ्यां परिषिञ्चन् त्रिः परीयात्। त्रीन् वारान् गृहस्य परितः प्रादक्षिण्येन गच्छेत्। सकृन्मन्त्रेण परिगमनम्। द्विस्तूष्णीम्। तत इतरथावृत्तिः। कर्त्रन्तरस्यानुपदेशात्स्वयंकर्तृकाणि स्मार्तानि कर्माणि तत्र स इत्युच्यमाने तस्यैव प्राप्नुवन्ति। काम्येषु तु पुनर्ग्रहणं नियमार्थम्। काम्यं नियमेन स्वयं कर्तव्यम्। यत्त्वकामसंयुक्तं कालनिमित्ते चोद्यते तदागते काले अवश्यं कर्तव्यम्। असन्निहिते च यजमाने अन्येनापि कारयितव्यमिति भर्तृयज्ञः॥२।१४।१९॥

अनुवाद—वह गृहस्वामी जितने हिस्से में सर्प का आवागमन न चाहे, घर के उस भाग को तीन बार जल से सींचे और तीन बार उसकी परिक्रमा करे। साथ ही 'अपश्वेतपदा जहि' इत्यादि पूर्वोक्त मन्त्रद्वय का पाठ भी करता जाय।

दर्वीं शूर्पञ्च प्रक्षाल्य प्रतप्य प्रयच्छति॥ २।१४।२०॥

(हरिहरभाष्यम्)—'दर्वीं···यच्छति'। दर्वीं पूर्वोक्ता शूर्पं च प्रक्षाल्य क्षालयित्वा प्रतप्य सकृत्तापयित्वा सन्निधानादुल्कायामेव प्रयच्छति ददाति उल्काधाराय सन्निधानादेव॥ २।१४।२०॥

(गदाधरभाष्यम्)—'दर्वीं·····यच्छति'। यया बलिदानं कृतं तां दर्वीं शूर्पं च प्रक्षाल्य प्रतप्य सन्निधानादुल्कायामेव सकृत्तापयित्वा प्रयच्छति उल्काधाराय सन्निधानात्॥ २।१४।२०॥

अनुवाद—करछुल और सूप को धोकर एक बार तपाने के बाद उसे मशालची के हाथ में दे दे।

द्वारदेशे मार्जयन्त आपोहिष्ठेति तिसृभिः ॥ २।१४।२१ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'द्वार···तिसृभिः'। द्वारदेशे शालायाः द्वारे आपोहिष्ठेति तिसृभिर्ऋग्भिः मार्जयन्ते। बहुवचनोपदेशाद् ब्रह्मयजमानोल्काधाराः मार्जयन्ते अद्भि-रात्मानमभिषिञ्चन्ति ॥ २।१४।२१ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'द्वार···तिसृभिः'। ऋग्भिः बहुवचनाद् ब्रह्मयजमानोल्का-धाराः शालाया द्वारे आपोहिष्ठेति तिसृभिर्ऋग्भिर्मार्जयन्ते अद्भिरात्मानमभि-षिञ्चन्ति ॥ २।१४।२१ ॥

अनुवाद—'आपोहिष्ठा' इत्यादि तीन मन्त्रों से ब्रह्मा, यजमान और मशालची तीनों अपना-अपना मार्जन करे।

अनुगुप्तमेतꣳ सक्तुशेषं निधाय ततोऽस्तमितेऽस्तमितेऽग्निं परिचर्य दर्व्योपघातꣳ सक्तून् सर्पेभ्यो बलिꣳ हरेदाग्रहायण्याः ॥ २।१४।२२ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अनु···यण्याः'। एतं प्रकृतं सक्तुशेषं होमावशिष्टान् सक्तून् अनुगुप्तं सुरक्षितं यथा भवति तथा निधाय स्थापयित्वा ततस्तस्मात् श्रवणाकर्मकालात् प्रभृति अस्तमिते सूर्ये प्रतिदिनमग्निमावसथ्यं परिचर्य सायंहोमेन आराध्य दर्व्योपघातं शूर्पे न्युप्तान् सक्तून्सर्पेभ्य उक्तप्रकारेणैव बलिं हरति, किमवधि ? आऽऽग्रहायण्याः आग्रहा-यणीं पौर्णमासीं यावत्। अथवा आग्रहायणीशब्देन तत्कालावधिकमाग्रहायणीकर्म लक्ष्यते तत्र हि बलीनामुत्सर्गस्य वक्ष्यमाणत्वात्। भाष्यकारस्तु तत इति तेभ्यः सक्तुभ्यः दर्व्योपहत्योपहत्यास्तमितेऽस्तमिते अग्निपरिचरणं कृत्वा बलिं हरेदाग्रहायणीं यावदि-त्याह स्म। बलिहरणं च अवनेजनदानप्रत्यवनेजनैः कङ्कतविलेखनान्तैरेव ॥२।१४।२२॥

(गदाधरभाष्यम्)—'अनु···यण्याः'। एतं प्रकृतं सक्तुशेषमनुगुप्तं सुगुप्तं यथा भवति तथा स्थापयित्वा ततस्तेभ्यः सक्तुभ्योऽस्तमितेऽस्तमिते सूर्ये प्रत्यहमक्षतहो-मानन्तरं दर्व्योपघातं दर्व्योपहत्योपहत्य सक्तून्सर्पेभ्यो बलिं हरेदाग्रहायणीं पौर्णमासीं यावत् ॥ २।१४।२२ ॥

अनुवाद—बचे सत्तू को किसी बर्तन में सुरक्षित रखकर श्रवणा कर्म से लेकर प्रतिदिन सूर्यास्त होने पर आवसथ्याग्नि की परिचर्या करे। लकड़ी के चम्मच (स्रुवा) से सत्तू को सूप में निकाल कर अगहन पूर्णिमा तक साँपों को बलि दी जाय।

तꣳ हरन्तन्नान्तरेण गच्छेयुः ॥ २।१४।२३ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'तꣳ···च्छेयुः'। तं गृहपतिं बलीन् हरन्तम् आवसथ्याग्निम् अन्तरेण मध्ये न गच्छेयुः प्राणिनः ततः श्वादयोऽपि निवार्याः ॥ २।१४।२३ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'तꣳ···च्छेयुः'। तमावसथ्याग्निं बलिं हरन्तं यजमानं चान्तरा मध्ये न गच्छेयुर्लोकाः। श्वादयोऽपि निवार्याः ॥ २।१४।२३ ॥

अनुवाद—जिस समय गृहपति बलि के लिए सत्तू निकाल रहा हो, उस समय होमाग्नि और उसके बीच कोई न आए।

दर्व्याचमनं प्रक्षाल्य निदधाति ॥ २।१४।२४ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'दर्व्या···धाति'। दर्व्या आचमनं मुखं प्रक्षाल्य निदधाति स्थापयति प्रत्यहं दर्वीमुखप्रक्षालनोपदेशाच्छूर्पप्रक्षालनाभावः ॥ २।१४।२४ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'दर्व्या···धाति'। ततो दर्व्या आचमनं मुखं प्रक्षाल्य निदधाति प्रतिदिनम्। अत्र न शूर्पप्रक्षालनमनुक्तत्वात् ॥ २।१४।२४ ॥

अनुवाद—उस करछुल से आचमन कर उसे रख दे। (प्रतिदिन करछुल के पानी से मुँह तो धोना चाहिए, परन्तु सूप नहीं धोना चाहिए)।

धानाः प्राश्नन्त्यसꣳस्यूताः ॥ २।१४।२५ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'धाना···स्यूताः'। धाना भर्जितान् यवान् प्राश्नन्ति भक्षयन्ति बहुवचनोपदेशाद् ब्रह्मयजमानोल्काधाराः। कथम्भूताः धानाः ? असꣳस्यूताः दन्तैरलग्ना अचर्वयन्त इत्यर्थः ॥ २।१४।२५ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'धाना···स्यूताः'। श्रावण्यां पौर्णमास्यां संस्थिते श्रवणाकर्मणि धाना अश्नन्ति दन्तैरचर्वयन्तो ब्रह्मयजमानोल्काधाराः ॥ २।१४।२५ ॥

अनुवाद—ब्रह्मा, यजमान तथा उल्काधारी तीनों भुने हुए जौ को बिना चबाये ही खाये।

ततो ब्राह्मणभोजनम् ॥ २।१४।२६ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'ततो ब्राह्मणभोजनम्'। इति सूत्रार्थः ॥ २।१४।२६ ॥

अथ प्रयोगः। तत्र श्रावण्यां पूर्णिमायां श्रवणाकर्म। तस्य प्रथमप्रयोगे मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकं विधायावसथ्याग्नौ कर्म कुर्यात्। तद्यथा ब्रह्मोपवेशनादिप्राशनान्ते अयं विशेषः—चरुस्थाल्यनन्तरं भर्जनकर्परं तत एकं कपालं तथा तण्डुलानन्तरं यवान् ततस्तण्डुलपिष्टान्यासादयेत्। प्रोक्षणकाले यथासादितं प्रोक्षेत् उपकल्पितं च दृषदुपले शूर्पोल्के उदपात्रदर्व्यौ कङ्कतत्रयमञ्जनमनुलेपनं स्रजश्चेति। ततः पवित्रकरणादिप्रोक्षणीनिधानान्ते चरुदेशस्योत्तरतो भर्जनमधिश्रित्य तदुत्तरतः कपालमुपधाय आज्यं निरुप्य चरुपात्रे प्रणीतोदकासेचनपूर्वकं तण्डुलप्रक्षेपं कृत्वा प्रणीतोदकेन पिष्टं संयूय पुरोडाशं कृत्वा ब्रह्मद्वारा आज्यमधिश्रित्य स्वयं चरुमन्येन भर्जने यवान् अपरेणैककपाले पुरोडाशमधिश्रित्य पुरोडाशं प्रथयित्वा यावत्कपालं, सर्वेषां पर्यग्निकरणं कुर्यात्।

ततः स्रुवं संस्कृत्याज्यमुद्वास्य चरुं चोद्वास्याज्यस्योत्तरतः स्थापयित्वा धाना उद्वास्य चरोरुत्तरतो निधाय पुरोडाशमुद्वास्य धानानामुत्तरतः स्थापयेत्। तत आज्योत्पवनावेक्षणप्रोक्षण्युत्पवनानि कृत्वा धानानां भूयसीर्धाना दृषदुपलाभ्यां पिष्ट्वा अल्पाः पृथक् स्थापयित्वा घृतेन सक्तून् अक्त्वा उपयमनकुशादानाद्याज्यभागान्तं कर्म कुर्यात्। तत आज्येन अपश्वेतपदा जहि पूर्वेण चापरेण च। सप्त च वारुणीरिमाः प्रजाः सर्वाश्च

राजबान्धवैः स्वाहेति इदं श्वेतपदे इति त्यागं विधाय, न वै श्वेतस्याद्ध्याचारेऽहिर्ददर्श कञ्चन श्वेताय वैदर्व्याय नमः स्वाहेति मन्त्रेण द्वितीयामाहुतिं हुत्वा इदं श्वेताय वैदर्व्यायेति त्यक्त्वा स्थालीपाकेन चतस्र आहुतीर्जुहोति। तद्यथा—विष्णवे स्वाहा इदं विष्णवे० श्रवणाय स्वाहा इदं श्रवणाय० श्रावण्यै पौर्णमास्यै स्वाहा इदं श्रावण्यै पौर्णमास्यै० वर्षाभ्यः स्वाहा इदं वर्षाभ्यो० इति। अथ धानावन्तं करम्भिणमित्यृचा धानानामेकाहुतिं हुत्वा इदमिन्द्रायेति त्यक्त्वा सक्तूनामाहुतित्रितयं जुहुयात्। तद्यथा आग्नेयपाण्डुपार्थिवानाꣳ सर्पाणामधिपतये स्वाहा। इदंशब्दयुक्तः स्वाहाकाररहितो मन्त्र एव त्यागः। एवं त्रिषु। श्वेतवायवान्तरिक्षाणाꣳ सर्पाणामधिपतये स्वाहा। अभिभूः सौर्यदिव्यानाꣳ सर्पाणामधिपतये स्वाहा। ततो ध्रुवाय भौमाय स्वाहेति सर्वं पुरोडाशं स्रुवे कृत्वा जुहुयात्। इदं ध्रुवाय भौमायेति त्यक्त्वा चरुधानासक्तुभ्य उत्तरतः किञ्चित्किञ्चिदादाय स्विष्टकृतं विधाय महाव्याहृतिहोमं संस्रवप्राशनं ब्रह्मणे दक्षिणादानान्तं कुर्यात्।

अथ हुतशेषसक्तूनामेकदेशं शूर्पे प्रक्षिप्योदपात्रं दर्वीकङ्कतत्रयाञ्जनानुलेपनस्रजश्च। शालाया बहिर्निष्क्रम्य ब्रह्मणा उल्काधारेण च सह स्वाङ्गणे हस्तमात्रं स्थण्डिलं स्वयमुपलिप्य लौकिकाग्न्युल्कायां ध्रियमाणायां माऽन्तरागमतेति प्रैषमुच्चार्य वाग्यतः स्थण्डिले उदपात्रमादायाग्नय इत्यादिना अधिपतेऽवनेनिक्ष्वेत्यन्तेन मन्त्रेण एकत्रावनेजनार्थं जलं दत्वा श्वेतवायवेत्यादिना अधिपतेऽवनेनिक्ष्वेत्यन्तेन द्वितीयम्, अभिभूःसौर्येत्यादिना तथैव तृतीयं, सर्पानवनेजयति। ततोऽवनेजनस्थानेषु अवनेजनक्रमेण एतैरेव मन्त्रैरेषते बलिरित्यन्तैस्त्रिभिः प्रतिमन्त्रं बलिं हरति। ततः पूर्ववदवनेज्य कङ्कतत्रयेण प्रलिखस्वेत्यन्तैरेतैरेव मन्त्रैः प्रतिबलि प्रतिमन्त्रं प्रलिखति। ततोऽञ्जस्वेत्यन्तैरुक्तमन्त्रैः प्रतिबलि प्रतिमन्त्रमञ्जनं ददाति तथैवानुलिम्पस्वेत्यनुलेपनम्। एवमेव स्रजोऽपिनह्यस्वेति पुष्पमालां दत्वा सक्तुशेषं स्थण्डिले क्षिप्त्वा उदपात्रजलेन प्रसम्प्लाव्य नमोऽस्तु सर्पेभ्य इत्यादिभिस्तिसृभिर्ऋग्भिस्तिष्ठन् सर्पानुपतिष्ठते।

ततः स गृहपतिरेतावन्तं देशं सर्पा न प्रविशेयुरिति यावन्तं कामयेत तावन्तं देशं सन्ततोदकधारया त्रिःपरिषिञ्चन् गृहं परीयात् अपश्वेतपदाजहीति पूर्वोक्तमन्त्राभ्यां सकृत् द्विस्तूष्णीम्। ततो दर्वी शूर्पं च प्रक्षाल्योल्कायां सकृत्प्रतप्योल्काधाराय प्रयच्छति। अथ शालाद्वारि आपोहिष्ठेति तृचेन ब्रह्मयजमानोल्काधारा मार्जयन्ते जलेनात्मानम्। ततो धानाः प्राश्नन्ति ब्रह्मयजमानोल्काधारा अनवखण्डयन्तः। ततो ब्राह्मणभोजनम्। एतावच्छ्रवणाकर्म॥

अथ प्रत्यहं बलिहरणप्रयोगः। सक्तुशेषं सुगुप्ते भाण्डे स्थापयित्वा ततोऽस्तमिते सूर्ये कृतसायंहोमः शूर्पे सक्तुदर्वीकङ्कतत्रयं निधायोदपात्रं गृहीत्वा सोल्काधारः शालाया बहिरुपलेपनादि परिलेखनान्तं बलिहरणमनुदिनं पूर्ववत्कुर्यात् आग्रहायणीं यावत्। मान्तरागमतेति प्रैषाभावेऽपि कश्चिदन्तरा न गच्छेत् दर्वीमुखमेव प्रक्षालयेदिति। इत्यहरहर्बलिदानविधिः।

(गदाधरभाष्यम्)—'ततो ब्राह्मणभोजनम्' ॥ २।१४।२६ ॥

अथ पदार्थक्रमः । तत्र प्रथमप्रयोगे मातृपूजापूर्वकं नान्दीमुखं श्राद्धं कृत्वा आवसथ्ये कर्म कार्यम् । ब्रह्मोपवेशनादिदक्षिणादानान्ते विशेषः । चरुपात्रानन्तरं भर्जनखर्परस्यासादनम् । तत एककपालम् । तण्डुलानन्तरं यवानामासादनम् । ततः पिष्टानां प्रोक्षणं च यथासादितानाम् । उपकल्पनीयानि—दृषदुपले शूर्पमुल्का उदपात्रं दर्वी कङ्कतत्रयमञ्जनमनुलेपनं स्रजश्चेति । उल्काधारकः मार्जनीयोदकं धानाः प्राशनार्था लौकिका इति त्रयमधिकमुपकल्पनीयमिति रेणुकः । ततः पवित्रकरणादिप्रोक्षणीनिधानान्ते चरुदेशस्योत्तरतो भर्जनखर्पराधिश्रयणम् । अत्र सव्याशून्येऽङ्गारकरणमिति रेणुकः । भर्जनस्योत्तरत एककपालोपधानमाज्यनिर्वापश्चरुपात्रे तण्डुलप्रक्षेपः प्रणीतोदकेन पिष्टसंयवनं ब्रह्मण आज्याधिश्रयणं तदुत्तरतश्चरोरधिश्रयणं यजमानस्य, चरोरुत्तरतः खर्परे यवाधिश्रयणमुल्काधारस्य, कपाले पुरोडाशमधिश्रित्यैककपालं प्रथयेदितरः, सर्वेषां पर्यग्निकरणं, स्रुवसंस्कारः, तत आज्यादीनामुद्वासनमुदक्संस्थमाज्योत्पवनमवेक्षणं प्रोक्षण्युत्पवनं, धानानां भूयसीः पिष्ट्वा अल्पानां स्थापनम्, आज्येन सक्तूनामञ्जनम् । तत उपयमनकुशादानाद्याज्यभागान्ते आज्याहुतिद्वयं कुर्यात् । तत्र अपश्वेतपदेति प्रथमाम् । इदं श्वेतपदे० । नवै श्वेतस्येति द्वितीयाम् इदं श्वेतपदाय वैदर्व्याय० । ततः स्थालीपाकेनाहुतिचतुष्टयम् । विष्णवे स्वाहा० । श्रवणाय स्वाहा० । श्रावण्यै पौर्णमास्यै० । वर्षाभ्यः० ॥ इदं विष्णवे न ममेत्यादित्यागः ॥

धानावन्तमित्यृचा धानानामेकाऽऽहुतिः । इन्द्राय स्वाहा इदमिन्द्राय न० । ततः सक्तूनामाहुतित्रयं जुहुयात् । आग्नेयपाण्डुपार्थिवानामिति प्रथमाम् । श्वेतवायवान्तरिक्षाणामिति द्वितीयाम् । अभिभूरिति तृतीयाम् । यथा (देवतं) मन्त्रान्ते त्यागाः स्वाहाकारवर्जिता इदंशब्दादयः । ततो ध्रुवाय भौमाय स्वाहेति पुरोडाशं सकलं जुहोति । इदं ध्रुवाय भौमाय० । ततश्चरुधानासक्तुभ्य उत्तरतः स्विष्टकृत् । ततो नवाहुतयः । संस्रवप्राशनादिदक्षिणादानान्तम् । सक्तुशेषैकदेशस्य शूर्पे प्रक्षेपः । शालाया वहिर्निष्क्रमणम् । बहिरेव स्थण्डिलोपलेपनम् । तत उल्काधारणम् । माऽन्तरागमतेति प्रैषः । वाग्यतः स्थण्डिले सर्पानवनेजयति आग्नेयपाण्डुपार्थिवानाᳯ सर्पाणामधिपतेऽवनेनिक्ष्वेति त्रिभिर्मन्त्रैः प्रतिमन्त्रम् । ततोऽवनेजनस्थानेष्ववनेजनक्रमेणैतैरेव मन्त्रैरेष ते बलिरित्यन्तैस्त्रिभिः प्रतिमन्त्रं बलिं हरति । अत्र यथादैवतं त्यागा इति गर्गः । नेत्यपरे । नाञ्जनादौ त्याग इति रेणुकः ।

ततः पूर्ववत्पुनरवनेजनम् । एतैरेव मन्त्रैः प्रलिखस्वेत्यन्तैः कङ्कतत्रयेण प्रतिबलि प्रतिमन्त्रं प्रलिखति । ततोऽञ्जस्वेत्यन्तैरुक्तमन्त्रैः प्रतिबलि प्रतिमन्त्रमञ्जनं ददाति । तथैवानुलिम्पस्वेत्यनुलेपनप्रदानम् । स्रजोऽपि नह्यस्वेत्यन्तैः पुष्पमालादानम् । ततः सक्तुशेषं स्थण्डिले न्युप्योदपात्रनिनयनं सक्तुशेषस्योपरि । नमोऽस्तु सर्पेभ्य इति तिसृभिरुपस्थानम् । स यावन्तं कामयेत एतावन्तं देशं न सर्पा अभ्युपेयुरिति तावन्तं गृहदेशमुदधारया सन्ततया त्रिः परिषिञ्चन्परीयादपश्वेतपदा जहीति द्वाभ्याम् । अत्र स्वाहाकारो नेति गर्गरेणुकौ । सकृन्मन्त्रेण परिगमनम् । द्विस्तूष्णीम् । तत इतरथावृत्तिरिति रेणुकः ।

दर्वीं शूर्पं च प्रक्षाल्योल्कायां प्रतप्योल्काधाराय प्रयच्छति। ततो जलेन मार्जनं द्वारदेशे आपोहिष्ठेति तिसृभिर्ब्रह्मयजमानोल्काधाराणाम्। ततो धानानां प्राशनं तेषामेव। ततो ब्राह्मणभोजनम्। सक्तुशेषस्थापनं सुगुप्ते भाण्डे। ततोऽस्तमिते अक्षतहोमानन्तरमुल्काधारणादिबलिहरणकङ्कतपरिलेखान्तं पूर्ववत्। माऽन्तरागमतेति प्रैषाभावेऽपि नान्तरागमनम्। दर्वीमुखप्रक्षालनम्। शूर्पदर्व्योः प्रक्षालनमिति वासुदेवरेणुकौ। एवमन्वहं बलिहरणमाग्रहायणीं यावत्। इति पदार्थक्रमः॥

अथ गर्गमते विशेषः। पात्रासादने—चरुस्थाली आज्यानन्तरं यवाः तण्डुलाः पिष्टं कर्परिका कपालं बर्हिः दर्वी उल्का उल्काधारश्च शूर्पं कङ्कतास्त्रयः अञ्जनमनुलेपनं स्रजश्च उदकं दृषदुपले वरश्च। ततः स्फ्योपहितमोषधिकरणम्। ततो ग्रहणम्। विष्णवे श्रवणाय श्रावण्यै पौर्णमास्यै वर्षाभ्यो जुहोति। तण्डुलानां ग्रहणम्। इन्द्राय जुष्टं गृह्णामीति यवानां ध्रुवाय भौमाय जु० पिष्टस्य ग्रहणम्। प्रोक्षणे त्वधिकः। प्रोक्षणीनिधानान्ते भर्जनाधिश्रयणादिपर्यग्निकरणान्ते स्रुवप्रतपनादिबर्हिस्तरणान्तम्। धाना उद्वास्याल्पानां पेषणं कृत्वा चर्वादीनामुद्वासनमिति गर्गमतमिति तत्पद्धतौ। स्तरणान्ते आज्योद्वासनादिधानोद्वासनान्तम्। अल्पानां धानानां पृथक्करणम्। भूयिष्ठानां पेषणम्। ततः सर्वेषामभिघारणम्। बर्हिष्यासादनं च। तत उपयमनादानाद्याज्यभागान्तम्।

ततः स्विष्टकृदादि दर्वीं शूर्पं प्रक्षाल्य प्रतप्य प्रदानान्तं समानम्। बलिहरणादौ सक्तुहोमवद्यथोद्देशं त्यागाः। परिषेचनमन्त्रयोः स्वाहाकारवर्जितयोरुच्चारणमिति गर्गपद्धतौ। मार्जनं यजमानपत्न्युल्काधाराणाम्। सक्तूनां स्थापनम्। ततो धानाप्राशनं स्वामिब्रह्मोल्काधाराणाम्। ततो बर्हिर्होमादिब्राह्मणभोजनान्तम्। ततोऽस्तमिते उल्काधारणादिपरिलेखान्तं पूर्ववत्। यथोक्ता एव त्यागाः। एवं प्रत्यहमाग्रहायणीं यावत्। इति गर्गमते। कारिकायां विशेषः श्रवणाकर्माकरणे—श्रवणाकर्म लुप्तं चेत्कथञ्चित्सूतकादिना। आग्रहायणिकं कर्म बलिवर्जमशेषतः॥ अकृत्वाऽन्यतमं यज्ञं पञ्चानामधिकारतः। उपवासेन शुध्यन्ति पाकसंस्थां तथैव च॥ पाकसंस्थासु लुप्तासु श्रवणाकर्म आदितः। प्राजापत्यं चरेत्कृच्छ्रं वचनात्तु प्रजापतेः॥ स्वयं होमाश्च यावन्तो न कृताश्चेत्प्रमादतः। तावतोऽपि बलींश्चायं हरेत्तदहरेव तु॥ एकैकं परिलेखान्तमेकमेवोदपावकम्। प्रक्षालनं तदन्ते स्याच्छूर्पदर्व्योर्भवेदिति॥

अनुवाद—इसके बाद यथाशक्ति ब्राह्मण-भोजन कराना चाहिए।

टिप्पणी—अग्रहायन शब्द से हरिहर ने अगहन में किये जाने वाले कर्म की ओर संकेत किया है; जिसमें बलि-प्रदान ही प्रधान कर्म है। क्योंकि इस कार्य के लिए किसी गौण कार्य का उल्लेख कहीं नहीं मिलता है।

'श्रावण्यामेव तत्कार्यमभावाद् गौणकालतः।
परिसङ्ख्योक्तितः सूत्रकारस्यान्यस्मृतेर्बलात्॥'

द्वितीयकाण्ड में चतुर्दश कण्डिका समाप्त॥

पञ्चदशी कण्डिका

इन्द्रयज्ञ

प्रौष्ठपद्यामिन्द्रयज्ञः ।। २।१५।१ ।।

(हरिहरभाष्यम्)—'प्रौष्ठ···यज्ञः'। प्रौष्ठपदी भाद्रपदी प्रकरणात् पौर्णमासी। तस्याम् इन्द्रयज्ञनामधेयं कर्म भवति औपासनाग्नौ ।। २।१५।१ ।।

(गदाधरभाष्यम्)—'प्रौष्ठ···यज्ञः'। इन्द्रयज्ञ इति कर्मणो नामधेयम्। प्रौष्ठपदी च भाद्रपदी पौर्णमासी तस्यामेतत्कर्मावसथ्येऽग्नौ भवति ।। २।१५।१ ।।

अनुवाद—भादों की पूर्णिमा में इन्द्रयज्ञ करना चाहिए।

पायसमैन्द्रꣳ श्रपयित्वाऽपूपाँश्चापूपैस्तीर्त्वाऽऽज्यभागाविष्ट्वाऽऽज्याहुतीर्जुहोतीन्द्रायेन्द्राण्या अजायैकपदेऽहिर्बुध्न्याय प्रौष्ठपदाभ्यश्चेति ।।२।१५।२।।

(हरिहरभाष्यम्)—'पाय···पांश्च'। पायसं पयसा सिद्धं चरुमैन्द्रमिन्द्रदेवत्यं श्रपयित्वा यथाविधि पक्त्वा अपूपाँश्च श्रपयित्वा तांश्च चतुरः प्रतिदिशं संस्तरणार्थम्। ऐन्द्रमित्यनेन देवतातद्धितेन इन्द्राय स्वाहेति होमलक्षणा। उपरि होमस्य मन्त्रान्तरस्य चानुक्तत्वात्। अत्र पायसश्रपणोपदेशात् पयश्च प्रणीयते। 'अपू···श्चेति'। अपूपैः प्रतिदिशमग्निं स्तीर्त्वा परिस्तीर्य आज्यभागौ हुत्वा इन्द्रायेत्यादिभिः स्वाहान्तैः पञ्चभिर्मन्त्रैः प्रतिमन्त्रं पञ्चाज्याहुतीर्जुहोति। अत्रानुक्तोऽपि पायसेन इन्द्राय स्वाहेत्येकाहुतिहोमः। अन्यथा पायसश्रपणमदृष्टार्थं स्यात् ।। २।१५।२ ।।

(गदाधरभाष्यम्)—'पाय···पांश्च'। पायसं पयसि पक्वं चरुमैन्द्रमिन्द्रदेवत्यं यथाविधि श्रपयित्वा अपूपाँश्च चतुरः श्रपयित्वा। ऐन्द्रग्रहणाद् इन्द्राय स्वाहेति होमो लभ्यते। अत्रापां क्षीरस्य च प्रणयनं कार्यम्। 'अपूपैः···भ्यश्च'। अग्नेः प्रतिदिशमपूपैः स्तीर्त्वा प्रदक्षिणं परिस्तीर्य आज्यभागानन्तरमिन्द्रायेत्यादिभिः स्वाहाकारान्तैः पञ्चमन्त्रैः प्रतिमन्त्रं पञ्चाज्याहुतीर्जुहोति। आज्याहुत्यन्ते इन्द्राय स्वाहेति पायसेन होमः। ततः स्विष्टकृदादि ।। २।१५।२ ।।

अनुवाद—इन्द्रयज्ञ के लिए खीर और पुए पकाए। पुंए बिछाकर अग्नि और सोम की आहुतियाँ डाले। 'इन्द्राय···' इत्यादि पाँच मन्त्र पढ़कर घी की आहुतियाँ डाले। इसके बाद इन्द्र के लिए खीर की एक आहुति दे।

प्राशनान्ते मरुद्भ्यो बलिꣳ हरत्यहुतादो मरुत इति श्रुतेः ।।२।१५।३।।

(हरिहरभाष्यम्)—'प्राश···श्रुतेः'। ततः स्विष्टकृदादिप्राशनान्ते मरुद्भ्य एकोनपञ्चाशत्सङ्ख्येभ्यो देवताभ्यो बलिं ददाति। ननु मरुतां देवतात्वे सति कथं होम-

सम्बन्धरहितत्वं बलिदानार्हत्वं च । शृणु । अहुतादो मरुत इति श्रुतेः । अहुतमदन्तीत्य-हुतादः मरुतो देवा इति श्रुतेः वेदवचनात् ।। २।१५।१३ ।।

(गदाधरभाष्यम्)—'प्राश···श्रुतेः' । संस्रवप्राशनान्ते मरुद्भ्यो देवताभ्यो बलिं ददाति । ननु होमासम्बन्धे कथमेषां देवतात्वं बलिकर्मार्हत्वं च ? उच्यते—अहुतादो मरुत इति श्रुतेः । अहुतमदन्तीत्याहुतादो मरुत इति श्रुतेः । अत एव बलिदानमेव न तु होमः ।। २।१५।१३ ।।

अनुवाद—संस्रवप्राशन के बाद मरुद्गण के लिए बलि अवश्य प्रदान करे, क्योंकि वेद का वचन है कि जो होम नहीं करता, उसे मरुद्गण खाते हैं ।

आश्वत्थेषु पलाशेषु मरुतोऽश्वत्थे तस्थुरिति वचनात् ।। २।१५।१४ ।।

(हरिहरभाष्यम्)—'आश्व···नात्' । मरुद्भ्यो बलिं-हरतीत्युक्तं तस्याधिकरण-मुच्यते । अश्वत्थस्य इमानि आश्वत्थानि तेषु पिप्पलोद्भवेषु पत्रेषु बलिं हरतीति शेषः । ननु बलिहरणं भूमौ अन्यत्र दृश्यते इह कस्मादश्वत्थपत्रेष्विति शङ्कते । आह मरुतः शुक्रज्योतिप्रभृतयो यस्मात् अश्वत्थे तस्थुः स्थितवन्त इति वचनात् श्रुतेः ।। २।१५।१४ ।।

(गदाधरभाष्यम्)—तच्चाश्वत्थेषु पत्रेषु कार्यम् । कुतः ? यस्मान्मरुत अश्वत्थे तस्थुः स्थितवन्तः । अत एवाश्वत्थपत्राणां सदैव चाञ्चल्यम् । अश्वत्थस्येमानि आश्व-त्थानि पर्णानि तेषु बलिं हरतीत्यर्थः ।। २।१५।१४ ।।

अनुवाद—मरुतों के लिए बलिहरण पीपल या पलाश के पत्ते पर ही किया जाय । क्योंकि वैदिक वचनानुसार मरुद्गण प्रायः पीपल के पत्ते पर ही रहते हैं ।

शुक्रज्योतिरिति प्रतिमन्त्रम् ।। २।१५।१५ ।।
विमुखेन च ।। २।१५।१६ ।।
मनसा ।। २।१५।१७ ।।
नामान्येषामेतानीति श्रुतेः ।। २।१५।१८ ।।

(हरिहरभाष्यम्)—'शुक्र···श्रुतेः' । मन्त्रापेक्षायामाह शुक्रज्योतिरित्येवमादिभि-र्मन्त्रैर्नमस्कारान्तैः प्रतिमन्त्रं विमुखेन च उग्रश्च भीमश्चेत्येवमादिना अध्येतृप्रसिद्धेन मनसा मनोव्यापारेण बलिं हरतीति शेषः । कुत एभिर्मन्त्रैर्बलिहरणम् ? एषां मरुतामे-तानि शुक्रज्योतिश्च चित्रज्योतिश्चेत्येवमादीनि विक्षिप इत्यन्तानि नामानि इति श्रुतेः वेदवचनात् ।। २।१५।१५-१८ ।।

(गदाधरभाष्यम्)—'शुक्र···श्रुतेः' । यद्बलिहरणं तच्छुक्रज्योतिरित्येवमादिभिः षड्भिर्मन्त्रैर्नमस्कारान्तैः प्रतिमन्त्रं कार्यम् । चकाराद् बलिहरणं विमुखेन उग्रश्च भीमश्चेत्यध्येतृप्रसिद्धेन मन्त्रेण मनसोच्चारितेन । एतैर्मन्त्रैरिति कुतः ? नामान्येषामेता-नीति श्रुतेः । एषां मरुतामेतानि शुक्रज्योतिरित्यादीनि नामानि श्रूयन्ते ।।२।१५।१५-१८।।

अनुवाद—'शुक्रज्योतिः···' इत्यादि छः मंत्र पढ़कर प्रति मंत्र में एक बलि दी जाय । 'उग्रश्च भीमश्च···' इत्यादि सातवाँ मंत्र मन ही मन पढ़कर कुल सात

बलियाँ दी जायें। वेदवाक्यानुसार 'शुक्रज्योतिः' तथा 'चित्तज्योतिः' इत्यादि मरुतों के नाम हैं।

'शुक्रज्योति' इत्यादि मंत्रों का प्रयोग—

(१) शुक्रज्योति० नमः। इदं शुक्रज्योतिषे चित्रज्योतिषे सत्यज्योतिषे ज्योतिष्मते शुक्राय ऋतपसेऽत्यंहसे च न मम॥

(२) इदृङ् चान्यादृङ् च० दा नमः। इदमीदृशेऽन्यादृशे सदृशे प्रतिसदृशे मिताय सम्मिताय सभरे च न ममं॥

(३) ऋतश्च० रयो नमः। इदमृताय सत्याय ध्रुवाय धरुणाय धर्त्रे विधर्त्रे विधारयाय च न मम॥

(४) ऋतजिच्च० गणे नमः। इदमृतजिते सत्यजिते सेनजिते सुषेणायान्तिमित्राय दूरे अमित्राय गणाय च न मम॥

(५) ईदृक्षास० अस्मिन्नमः। इदमीदृक्षेभ्य एतादृक्षेभ्यः सदृक्षेभ्यः प्रतिसदृक्षेभ्यो मितेभ्यः सम्मितेभ्यः सभरेभ्यो न मम॥

(६) स्वतवांश्च० ज्जेषी नमः। इदं स्वतवसे प्रघासिने सान्तपनाय गृहमेधिने क्रीडिने शाकिणे उज्जेषिणे च न मम॥

(७) उग्रश्च भीमश्च…पः स्वाहा नमः। मनसा। इदमुग्राय भीमाय ध्वान्ताय धुनये सासह्वते अभियुग्वने विक्षिपाय च न मम॥

इन्द्रं दैवीरिति जपति॥ २।१५।९॥

(हरिहरभाष्यम्)—'इन्द्रं…जपति'। बलिहरणान्ते इद्रं दैवीरित्येतामृचं जपति॥ २।१५।९॥

(गदाधरभाष्यम्)—'इन्द्रं…जपति'। बलिहरणानन्तरमिन्द्रं दैवीरित्येतामृचं जपति॥ २।१५।९॥

अनुवाद—बलिहरण के बाद 'इन्द्रं दैवी…' इत्यादि ऋचा जपनी चाहिए।

(मन्त्र)—इन्द्रं दैवीर्विशो मरुतोऽनुवर्त्मानोऽभवन् यथेन्द्रं दैवीर्विशो मरुतोऽनुवर्त्मानोऽभवन्। एवमिमं यजमानं दैवीश्च विशो मानुषीश्चानुवर्त्मानो भवन्तु।

(य० सं० १७।८६)

ततो ब्राह्मणभोजनम्॥ २।१५।१०॥

(हरिहरभाष्यम्)—ततो ब्राह्मणभोजनम्। इति सूत्रार्थः॥ २।१५।१०॥

अथ प्रयोगः। भाद्रपदपौर्णमास्यां प्रथमप्रयोगे मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकं विधायावसथ्याग्नौ इन्द्रयज्ञाख्यं कर्म कुर्यात्। तत्र ब्रह्मोपवेशनादिप्राशनान्ते विशेषः। सक्षीरं प्रणयनं मूलदेशे पयः इतरत्र जलं प्रक्षिप्य प्रणयेत्। उपकल्पनीयानि। तण्डुलपिष्टं सप्ताश्वत्थपर्णानि। तत आज्यनिर्वापानन्तरं प्रणीताभ्यः क्षीरमुत्सिच्य चरुपात्रे तण्डुलान्

प्रक्षिप्य प्रणीतोदकेनं पिष्टं सम्पूय चतुरोऽपूपान्निर्माय्याज्यमधिश्रित्य तदुत्तरतश्चरुं तदुत्तरतः कर्परे चतुरोऽपूपानधिश्रयति । आसादनक्रमेणोद्वासनादि ।

तत उपयमनकुशादानात्पूर्वमपूपैरग्नेः पुरस्ताद् दक्षिणतः पश्चिमत उत्तरतश्च एकैकेन परिस्तरणं कृत्वा आज्यभागान्ते पञ्चाज्याहुतीर्जुहोति । इन्द्राय स्वाहा इदमिन्द्राय० इन्द्राण्यै स्वाहा इदमिन्द्राण्यै० अजायैकपदे स्वाहा इदमजायैकपदे० अहिर्बुध्न्याय स्वाहा इदमहिर्बुध्न्याय० प्रौष्ठपदाभ्यः स्वाहा इदं प्रौष्ठपदाभ्यो० । ततः पायसेन इन्द्राय स्वाहेत्येकामाहुतिं हुत्वा इदमिन्द्रायेति त्यक्त्वा पायसेनैव स्विष्टकृद्धोमं विधाय महाव्याहृत्यादिहोमसंस्रवप्राशनदक्षिणादानानि कुर्यात् । अथाग्नेरुत्तरतः प्राक्संस्थानि प्रागग्राणि सप्ताश्वत्थपत्राणि निधाय तेषु मरुद्भ्यो बलीन् हरति पायसशेषं स्रुवेणादायादाय शुक्रज्योतिरित्येवमादिभिः षड्भिर्मन्त्रैर्नमस्कारान्तैरुग्रश्च भीमश्चेत्येतेनैव सप्तमेन च मनसोच्चारितेन च प्रतिमन्त्रं सप्तसु पत्रेषु यथाक्रमम् ।

स्पष्टार्थं प्रयोग उच्यते त्यागश्च । शुक्रज्योतिश्चेत्यारभ्य ऋतपाश्चात्य६ंहा नमः इदं शुक्रज्योतिषे चित्रज्योतिषे सत्यज्योतिषे ज्योतिष्मते शुक्राय ऋतपसेऽत्य६ंहसे च० । इदृङ्चान्यादृङ्चेत्यादि सभरा नमः इदमीदृशे अन्यादृशे सदृशे प्रतिसदृशे मिताय सम्मिताय सभरसे च० । ऋतश्चेत्यादि विधारयो नमः इदमृताय सत्याय ध्रुवाय धरुणाय धर्त्रे विधर्त्रे विधारयाय च० । ऋतजिच्चेत्यारभ्य गणो नमः इदमृतजिते सत्यजिते सेनजिते सुषेणाय अन्तिमित्राय दूरे अमित्राय गणाय च० । ईदृक्षास इत्यारभ्य यज्ञे अस्मिन्नमः इदमीदृक्षेभ्यः एतादृक्षेभ्यः सदृक्षेभ्यः प्रतिसदृक्षेभ्यो मितेभ्यः सम्मितेभ्यो सभरेभ्यः मरुद्भ्यश्च० । स्वतवाँश्चेत्यादि उज्जेषी नमः इदं स्वतवसे प्रघासिने सान्तपनाय गृहमेधिने क्रीडिने शाकिने उज्जेषिणे च० । उग्रश्चेत्यारभ्य विक्षिपः स्वाहा नमः मनसा । इदमुग्राय भीमाय ध्वान्ताय धुनये सासह्वतेऽभियुग्वने विक्षिपाय चेत्यपि मनसा । तत इन्द्रं दैवीरित्येतामृचं जपति यजमानः । ततो ब्राह्मणभोजनमिति ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'ततो ब्राह्मणभोजनम्' ॥ २।१५।१० ॥

अथ पदार्थक्रमः । प्रथमप्रयोगे मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकं श्राद्धम् । ब्रह्मोपवेशनादिदक्षिणादानान्ते विशेषः । सक्षीरं प्रणयनम् । उपकल्पनीयानि । यवपिष्टं व्रीहिपिष्टं वा । सप्ताश्वत्थपत्राणि पोतकं कर्पूरमपूपार्थं, निरुप्याज्यं प्रणीताभ्यः पोतकेन क्षीरं गृहीत्वा चरुपात्रे कृत्वा तण्डुलप्रक्षेपः । प्रणीतोदकेन पिष्टसंयवनं लौकिकेनेति रेणुकः । आज्याधिश्रयणं ततश्चतुर्णामपूपानामधिश्रयणमुपयमनादानात्पूर्वमग्नेरपूपैस्तरणं पुरस्तात् प्रथमं प्रदक्षिणम् । आज्यभागान्ते पञ्चाज्याहुतयः । इन्द्राय स्वाहा । इन्द्राण्यै स्वाहा । अजायैकपदे स्वाहा । अहिर्बुध्न्याय स्वाहा । प्रौष्ठपदाभ्यः स्वाहा । सुगमास्त्यागाः । ततः पायसेन इन्द्राय स्वाहा इदमिन्द्राय० । ततो नवाहुतयः स्विष्टकृच्च । संस्रवप्राशनम् । मार्जनम् । पवित्रप्रतिपत्तिः प्रणीताविमोको दक्षिणादानम् ।

प्राक्संस्थान्युदक्संस्थानि वा सप्ताश्वत्थपत्राणि कृत्वा तेषु मरुद्भ्यो बलिहरणं पायसशेषेणैव स्रुवेण शुक्रज्योतिरिति षड्भिरुग्रश्चेत्यनेन सप्तमेन च प्रतिमन्त्रम् । शुक्र-

ज्योति० नमः । इदं शुक्रज्योतिषे चित्रज्योतिषे सत्यज्योतिषे ज्योतिष्मते शुक्राय ऋतपसेऽत्यꣳहसे च न मम ॥ १ ॥ ईदृङ्चान्यादृङ्च० रा नमः । इदमीदृशेऽन्यादृशे सदृशे प्रतिसदृशे मिताय सम्मिताय सभरसे च न० ॥ २ ॥ ऋतश्च० रयो नमः । इदमृताय सत्याय ध्रुवाय धरुणाय धर्त्रे विधर्त्रे विधारयाय च न० ॥ ३ ॥ ऋतजिच्च० गणो नमः । इदमृतजिते सत्यजिते सेनजिते सुषेणायान्तिमित्राय दूरे अमित्राय गणाय च न० ॥ ४ ॥ ईदृक्षास० अस्मिन्नमः । इदमीदृक्षेभ्य एतादृक्षेभ्यः सदृक्षेभ्यः प्रतिसदृक्षेभ्यो मितेभ्यः सम्मितेभ्यः सभरेभ्यो न० ॥ ५ ॥ स्वतवांश्च० ज्जेषी. नमः । इदं स्वतवसे प्रघासिने सान्तपनाय गृहमेधिने क्रीडिने शाकिने उज्जेषिणे च० ॥ ६ ॥ उग्रश्च भीमश्च० पः स्वाहा नमः । मनसा । इदमुग्राय भीमाय ध्वान्ताय धुनये सासह्वते अभियुग्वने विक्षिपाय चेत्यपि मनसा ॥ ७ ॥ इन्द्रं दैवीरित्यस्याः कण्डिकाया जपः ।

ततो विप्रभुक्तिः मुख्यकालाभावे गौणेऽप्येतत्कार्यम् । अभावान्मुख्यकालस्य गौणकालेऽपि शस्यत इति कारिकोक्तेः । गर्गमते—ग्रहणे इन्द्राय जुष्टम् । प्रोक्षणे त्वधिकः । इन्द्रं दैवीरित्यस्याः कण्डिकाया जपान्ते बर्हिर्होमादिब्राह्मणतर्पणान्तम् । ततो वैश्वदेवः । अन्यत्समानम् । इति पदार्थक्रमः ।

अनुवाद—इसके वाद यथाशक्ति ब्राह्मण-भोजन कराना चाहिए ।

द्वितीयकाण्ड में पञ्चम कण्डिका समाप्त ॥

षोडशी कण्डिका

आश्वयुज्यां पृषातकाः ॥ २।१६।१ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'आश्व···तकाः' । पृषातका इति संज्ञकं कर्म भवति । तच्च आश्वयुज्यां पूर्णिमायां भवति ॥ २।१६।१ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'आश्व···तकाः' । पृषातका इति वक्ष्यमाणकर्मणो नामधेयम् । तच्चावसथ्ये आश्वयुज्यां पौर्णमास्यां भवति । आश्वयुजी ·आश्विनी पूर्णिमा ॥ २।१६।१ ॥

अनुवाद—आश्विनपूर्णिमा को 'पृषातक' नामक कर्म का अनुष्ठान करना चाहिए । (घी मिले हुए दही को पृषातक कहा जाता है ।)

पायसमैन्द्रꣳ श्रपयित्वा दधिमधुघृतमिश्रं जुहोतीन्द्रायेन्द्राण्या अश्विभ्यामाश्वयुज्यै पौर्णमास्यै शरदे चेति ॥ २।१६।२ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'पाय····होति' । तत्र ऐन्द्रमिन्द्रदैवत्यं पायसं चरुं संसाध्य दधिमधुघृतैर्मिश्रं कृत्वा आवसथ्याग्नौ जुहोति । केभ्यः ? इत्याह—'इन्द्रा···चेति' । इन्द्रायेत्यादिभिः पञ्चभिर्मन्त्रैः स्वाहाकारान्तैः प्रतिमन्त्रं पञ्चाहुतीर्जुहोति । यथामन्त्रं त्यागः ॥ २।१६।२ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'पाय···दे चेति' । ऐन्द्रमिन्द्रदैवत्यं पायसं पयसि श्रृतं चरुं श्रपयित्वा यथाविधि पक्त्वा दधिमधुघृतैर्मिश्रितं पायसं चरुम् इन्द्रायेत्यादिभिः पञ्चमन्त्रैः प्रतिमन्त्रं पञ्चाहुतीर्जुहोति ॥ २।१६।२ ॥

अनुवाद—इन्द्र के निमित्त खीर बनाकर उसमें दही, मधु और घी मिलाकर 'इन्द्राय···' प्रभृति पाँच मन्त्र पढ़कर क्रम से पाँच आहुतियाँ दी जायें ।

प्राशनान्ते दधिपृषातकमञ्जलिना जुहोति—ऊनं मे पूर्यतां पूर्णं मे मा व्यगात् स्वाहेति ॥ २।१६।३ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'प्राश···स्वाहेति' । ततः स्विष्टकृत्प्रभृति प्राशनान्ते पृषातकं पृषदाज्यमञ्जलिना ऊनं मे इत्यादिना मन्त्रेण जुहोति । पृषदाज्यं घृते दधिप्रक्षेपाद् भवति । दुग्धेनापि तत्सम्भवाद्दधिग्रहणम् ॥ २।१६।३ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'प्राश···स्वाहेति' । संस्रवप्राशनान्ते दधिपृषातकं दध्ना मिश्रितं स्थाल्याज्यमञ्जलिना जुहोति ऊनं मे पूर्यतामिति मन्त्रेण । दधिपृषातकशब्दः पृषदाज्यवाची । अत्राग्निर्देवतेति गर्गवासुदेवजयरामकारिकाकाराः । आज्यं द्रव्यमनादेशे जुहोतिषु विधीयते । मन्त्रस्य देवतायाश्च प्रजापतिरिति स्थितिः ति छन्दोगपरिशिष्टपरिभाषावचनाद्वाक्येन प्राकरणिकीमिन्द्रदेवतां बाधित्वा प्रजापतिर्देवतेति हरिहरः । तच्चिन्त्यम् । अनादिष्टदेवतालिङ्गेष्वपि मन्त्रेषु देवतापेक्षायां सत्यां किं यत्किञ्चि-

द्वेवतान्तरं परिकल्प्यतामुत प्रकृतैव गृह्यतामिति तत्र प्रकृतपरिग्रहो न्याय्यः सन्निधानात्। अप्रकृतोपादाने पुनरसन्निधानात् सन्देह इति। तथा च नैरुक्ताः—तथा येऽनादिष्टदेवता मन्त्रास्तेषु देवतोपपरीक्षा। यद्देवतः स यज्ञो वा यज्ञाङ्गं वा तद्देवता भवन्तीति। तत्रापि मुख्यत्वादिन्द्र एव। अयमर्थो दर्शितः कर्केणापि पिष्टलेपाञ्जुहोतीति सूत्रे। मन्त्रार्थः—हे इन्द्र! मे मम यदूनं तदनेन होमेन पूर्यतां पूर्णं क्रियताम्। यच्च पूर्णं तन्माव्यगात् विपरीतभावमपूर्णतां मा गच्छतु॥ २।१६।३॥

अनुवाद—संस्रवप्राशन के बाद दही और घी मिली हुई आहुति का 'ऊनं मे···' मन्त्र पढ़कर अंजलि से होम करे।

मन्त्रार्थ—(ऋषि गार्ग्य, छन्द गायत्री, देवता अज्ञात।) हे प्रजापति! मेरी कमी को पूरा कीजिए। जो पूर्ण है, वह अपूर्णता में न बदले।

टिप्पणी—'ऊनं मे पूर्यतां···' इस मन्त्र से भावी हवन के अधिष्ठाता देवता कौन हैं? इसका ज्ञान नहीं होता। किसी मन्त्र के देवता का ज्ञान उसमें प्रयुक्त तद्धित चतुर्थी विभक्ति, मन्त्र, लिङ्ग, वाक्य और प्रकरण से होता है। 'दधिपृषातकमञ्जलिना जुहोति' में केवल पृषातक कीं सूचना है। चतुर्थी विभक्ति या तद्धित का पूर्णतः अभाव है। देवता, ज्ञापक लिङ्ग और वाक्य का भी अभाव है। बची बात प्रकरण की तो—'ऐन्द्रं पायसं श्रपयित्वा' के तद्धित से पता चलता है कि इस अनुष्ठान के देवता इन्द्र हैं। किन्तु छन्दोगपरिशिष्ट में दी गई परिभाषा के अनुसार इसके देवता प्रजापति प्रतीत होते हैं—

> 'आज्यं द्रव्यमनादेशे जुहोतिषु विधीयते।
> मन्त्रस्य देवतायाश्च प्रजापतिरिति स्थितिः'॥

दधिमधुघृतमिश्रममात्या अवेक्षन्त आयात्विन्द्र इत्यनुवाकेन।२।१६।४।

(हरिहरभाष्यम्)—'दधि···केन'। ततो दधिमधुघृतमिश्रं हुतशेषं पायसममात्या अमा च गृहं तत्र भवा अमात्या यजमानस्य गृह्याः भ्रातृपुत्रादयः अवेक्षन्ते आयात्विन्द्रोऽवस उप न इत्यारभ्य यूयं पात स्वस्तिभिः सदा न इत्यन्तेन अनुवाकेनावेक्षन्ते पश्यन्ति॥ २।१६।४॥'

(गदाधरभाष्यम्)—'दधि···केन'। अमा गृहं तत्र भवा अमात्या यजमानगृह्या भ्रातृपुत्रादयः दधिमधुघृतैर्मिश्रितं चरुशेषम् आयात्विन्द्र इत्यनुवाकेन स्वस्तिभिः सदान इत्यन्तेनावेक्षन्ते विलोकयन्ति॥ २।१६।४॥

अनुवाद—यजमान के भाई और पुत्र तथा परिजन 'आयातु···' इत्यादि अनुवाक को पढ़कर दही, मधु और घी मिली खीर को देखें।

(मन्त्र)—आयात्विन्द्रोऽवस उप न इह स्तुतः सधमादस्तु शूरः।
वावृधानस्तविषीर्यस्य पूर्वीर्द्यौर्न क्षत्रमभिभूति पुष्यात्॥
(य० सं० २०।४७)

यहाँ से लेकर 'यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥ (य० सं २०।५४) यहाँ तक।

मातृभिर्वत्सान् सꣳसृज्य ताꣳ रात्रिमाग्रहायणीं च ॥ २।१६।५ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'मातृ ''रात्रिम्' । तामाश्वयुजीसम्बन्धिनीं रात्रिं वत्सांस्तर्णकान् मातृभिर्जननीभिर्धेनुभिः संसृज्य संसृष्टान् कृत्वा तां रात्रिमिति 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' इत्युपपदविभक्तिर्द्वितीया तेन सन्ध्यायां वत्सान् संसृज्य सकलां रात्रिं न बध्नीयात् । 'आग्रहायणीं च' न केवलं तामेव रात्रिं वत्ससंसर्गः आग्रहायणीं च मार्गशीर्षसम्बन्धिनीमपि रात्रिम् ॥ २।१६।५ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'मातृ'''रात्रिम्' । वत्सान् धेनुभिः संसृज्य संसृष्टान्कृत्वा तस्यां रात्रौ संसृष्टा एव वसन्ति । तामिति कालाध्वनोरत्यन्तसंयोग इत्युपपदविभक्तिर्द्वितीया । तेन सम्पूर्णां रात्रिं वसन्ति । अधिकारमुपजीवन्नाह—'आग्र'''णीं च' । आग्रहायणीं मार्गशीर्षसम्बन्धिनीं रात्रिं संसृष्टा एव वत्साः वसन्ति ॥ २।१६।५ ॥

अनुवाद—उस आश्विन पूर्णिमा की रात और अगहन पूर्णिमा की रात में बछड़ों को उनकी माताओं (गायों) के साथ ही रहने देना चाहिए ।

ततो ब्राह्मणभोजनम् ॥ २।१६।६ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—ततो ब्राह्मणभोजनम् । इति सूत्रार्थः ॥ २।१६।६ ॥

अथ प्रयोगः । तत्र आश्वयुज्यां पौर्णमास्यां पृषातकाख्यं कर्म भवति । तद्यथा—प्रथमप्रयोगे मातृपूजाभ्युदयिकपूर्वकमावसथ्याग्नौ ब्रह्मोपवेशनादिप्राशनान्ते विशेषः । सक्षीराः प्रणीताः प्रणयेत् दधिमधुनी उपकल्पयेत् प्रणीताक्षीरेण पायसं श्रपयेत् । तत उपयमनकुशादानादर्वाक् पायसे दधिमधुघृतानि आवपेत् । आज्यभागानन्तरं दधिमधुघृतमिश्रेण पायसेन इन्द्राय स्वाहा इदमिन्द्राय० इन्द्राण्यै स्वाहा इदमिन्द्राण्यै० अश्विभ्याꣳस्वाहा इदमश्विभ्यां० आश्वयुज्यै पौर्णमास्यै स्वाहा इदमाश्वयुज्यै पौर्णमास्यै० शरदे स्वाहा इदं शरदे० । एवं पञ्चाहुतीर्हुत्वा तत एव पायसात् स्विष्टकृते हुत्वा महाव्याहृत्यादिदक्षिणादानान्ते स्थाल्यामाज्यं दधि आसिच्य पृषदाज्यं कृत्वा अञ्जलिनाऽऽदाय ऊनं मे पूर्यतां पूर्णं मे मा व्यगात्स्वाहेति मन्त्रेणैकामाहुतिं जुहोति इदमग्नये० । ऊनं मे पूर्यतामित्यस्य होमस्य का देवतेत्यत्र सन्देहः । देवतात्वं तद्धितचतुर्थीमन्त्रलिङ्गवाक्यप्रकरणैः प्रतीयते ।

अत्र तु दधिपृपातकमञ्जलिना जुहोतीति होमविधिपरे वाक्ये पृषातकं द्रव्यमात्रं श्रूयते न तद्धितो न चतुर्थी वा । मन्त्रेऽपि न देवताप्रकाशकं लिङ्गमस्ति न च वाक्यम् । ततः प्रकरणमवशिष्यते तच्च ऐन्द्रं पायसमैन्द्रꣳश्रपयित्वेति तद्धितात् अस्य यज्ञस्येन्द्रो देवतेति । तर्हि किं प्राकरणिकत्वात् अस्य होमस्य इन्द्रो देवता ततः—आज्यं द्रव्यमनादेशे जुहोतिषु विधीयते । मन्त्रस्य देवतायाश्च प्रजापतिरिति स्थितिरिति छन्दोगपरिशिष्टपरिभाषातः प्रजापतिः । तत्र वाक्यप्रकरणयोर्वाक्यस्य बलीयस्त्वात्प्रकरणबाधः । तेनेह प्रजापतिरेव देवता । वासुदेवदीक्षितास्तु स्वपद्धतावग्नय इति लिखितवन्तः तत्कुतः ? इति न ज्ञायते । ततो दधिमधुघृतमिश्रं हुतशेषं पायसममात्याः पुत्रादयः

आयात्विन्द्र इत्यनुवाकेन यूयं पातस्वस्तिभिः सदा न इत्यन्तेन अवेक्षन्ते । ततो ब्राह्मण-भोजनम् । कृतैतत्कर्माङ्गतया ब्राह्मणमेकं भोजयिष्ये ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'ततो ब्राह्मणभोजनम्' ॥' २।१६।६ ॥

अथ पदार्थक्रमः । प्रथमप्रयोगे मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकं श्राद्धम् । ब्रह्मोपवेशनादि-दक्षिणादानान्ते विशेषः । सक्षीरं प्रणयनम् । दधिमधुनोरुपकल्पनम् । प्रणीताक्षीर-मुत्सिच्य पायसश्रपणम् । प्रागुपयमनादानात्पायसे दधिमधुघृतावपनम् । आज्यभागान्ते दधिमधुघृतमिश्रेण पायसेन पञ्चाहुतयः । इन्द्राय स्वाहा० । इन्द्राण्यै० । आश्विभ्यांॐ स्वाहा । आश्वयुज्यै पौर्णमास्यै० । शरदे० । यथामन्त्रं त्यागाः । ततः पायसादेव स्विष्टकृत् । ततो महाव्याहृत्यादिनवाहुतयः । संस्रवप्राशनादिदक्षिणान्तम् । ततः स्थाल्याज्ये दध्यासिच्य तत्पृषदाज्यमञ्जलिना जुहोति ऊनं मे पूर्यतामिति इदमिन्द्राय० । ततो दधिमधुघृतमिश्रं चरुशेषं यजमानगृह्याः पुत्रादयोऽवेक्षन्ते आयात्विन्द्र इत्यनुवाकेन यूयं पातस्वस्तिभिः सदा न इत्यन्तेन मन्त्रेण ।

ततो ब्राह्मणभोजनम् । रात्रौ वत्ससंसर्गः । गौणकालेऽपीदं कार्यम् । पृषातकमिदं कर्म गौणकालेऽपि शस्यत इति कारिकोक्तेः । गर्गमते विशेषः । ब्रह्मासनाद्याज्य-भागान्ते बर्हिःसादनानन्तरं दधिमधुघृतानामासादनं पयसश्च । ग्रहणे इन्द्राय जुष्टं गृह्णामि । इन्द्रायेन्द्राण्यै अश्विभ्यामाश्वयुज्यै पौर्णमास्यै शरदे, जुष्टमिति केचित् । आज्यभागान्ते पायसे दध्याद्यावपनम् । स्विष्टकृदन्ते पृषदाज्यहोमः । इदमग्नय इति त्यागः । ततो महाव्याहृत्यादिदक्षिणान्तम् । ततो गृह्याणां चर्ववेक्षणम् । ततो बर्हि-र्होमादिविप्रभुक्त्यन्तम् । ततो वैश्वदेवः । रात्रौ वत्ससंसर्ग इति ॥

अनुवाद—इसके बाद यथाशक्ति ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिए ।

द्वितीयकाण्ड में षोडश कण्डिका समाप्त ॥

सप्तदशी कण्डिका

सीतायज्ञ

अथ सीतायज्ञः ॥ २।१७।१ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अथ सीतायज्ञः'। अथेदानीं सीतायज्ञकर्म व्याख्यास्यत इति शेषः। तत्र कृषिप्रवृत्त औपासनिकोऽधिक्रियते ॥ २।१७।१ ॥

(गदाधरभाष्यम्) – 'अथ सीतायज्ञः'। व्याख्यास्यत इति सूत्रशेषः। सीतायज्ञ इति कर्मनाम। स चायं कृषिप्रवृत्तस्य साग्नेर्भवति ॥ २।१७।१ ॥

अनुवाद—अब सीतायज्ञ की विधि बतलाई जा रही है।

व्रीहियवानां यत्र यत्र यजेत तन्मयꣳ स्थालीपाकꣳ श्रपयेत् ॥२।१७।२॥

(हरिहरभाष्यम्)—'व्रीहि···येत्'। तत्र सीतायज्ञे व्रीहयश्च यवाश्च व्रीहियवास्तन्मध्ये यत्र यत्र यस्मिन् यस्मिन् व्रीहिकाले यवकाले वा यजेत सीतायज्ञेन तत्र तत्र तन्मयं व्रीहिमयं व्रीहिकाले यवमयं यवकाले स्थालीपाकं चरुं श्रपयेत् ॥ २।१७।२ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'व्रीहि···येत्'। व्रीहयश्च यवाश्च व्रीहियवाः। तेषां मध्ये यत्र यत्र यस्मिन् यस्मिन्काले व्रीहिकाले यवकाले वा सीतायज्ञेन यजेत तत्र तन्मयं व्रीहिकाले व्रीहिमयं यवकाले यवमयं स्थालीपाकं चरुं श्रपयेत् ॥ २।१७।२ ॥

अनुवाद—धान और जौ में से जिस-जिस काल में अर्थात् धान-काल शरद् ऋतु में और जौ-काल वसन्त ऋतु में जब-जब सीतायज्ञ करना हो, तब-तब धान के समय में चावल की और जौ के समय में जौ की खीर पकाकर चरु बनायें।

कामादीजानोऽन्यत्रापि व्रीहियवयोरेवान्यतरꣳ स्थालीपाकꣳ श्रपयेत् ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'कामा···येत्'। कामात् इच्छातः अन्यत्रापि पक्षादिप्रभृतिषु ईजानो यागं कुर्वन् व्रीहियवयोरेवान्यतरं स्थालीपाकं श्रपयेत् ॥ २।१७।३ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'कामा···येत्'। कामादिच्छया अतोऽन्यत्रापि ईजानो यागं कुर्वन् पक्षादिप्रभृतिषु व्रीहियवयोरेवान्यतरं स्थालीपाकं श्रपयेत् ॥ २।१७।३ ॥

अनुवाद—पक्षादि कर्म में भी अपनी इच्छा के अनुसार धान और जौ में से ही किसी एक का स्थालीपाक बनाना चाहिए।

न पूर्वचोदितत्वात् सन्देहः ॥ २।१७।४ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'न पू···न्देहः'। अत्र व्रीहियवयोरन्यतरस्य यागमात्रसाधनद्रव्यत्वे न सन्देहः। कुतः ? पूर्वचोदितत्वात् पूर्वोपदिष्टत्वात्। कुत्रेति चेत् व्रीहीन् यवान्वा हविषी इत्यत्र कल्पे अतो न सन्देहः ॥ २।१७।४ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'न पू····न्देहः' । व्रीहियवयोरन्यतरस्य यागसाधनत्वे नैव सन्देहः । कुतः ? परिभाषासूत्रे व्रीहीन् यवान्वा हविषी इति पूर्वं चोदितत्वात् पूर्वमुपदिष्टत्वात् । अतोऽर्थादपि च व्रीहिभिर्यवैर्वा यागः प्राप्नोतीति न वक्तव्यमेतत् ॥

अनुवाद—यहाँ एक सन्देह है कि धान और जौ से यज्ञ का विधान तो 'आश्वलायनश्रौतसूत्र (१।९।१) में पहले से विहित था। जब यह असंदिग्ध रूप में यज्ञ का साधन धान और जौ था ही तो फिर अलग से इसका विधान क्यों किया गया ?

असम्भवाद् विनिवृत्तिः ॥ २।१७।५ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'असं···वृत्तिः' । ननु यावस्य चरोर्विनिवृत्तिर्दृश्यते कथमन्यतरं स्थालीपाकं श्रपयेदिति चेत् उच्यते—यावचरोर्या विनिवृत्तिः सा असम्भवात् न शास्त्रात् अतो नायमसम्भवविनिवृत्तस्य यावस्य चरोः प्रतिप्रसवः । यतः सामान्यशास्त्रविहितं क्वचिच्छास्त्रान्तरेण प्रतिषिद्धं पुनर्विधीयमानं हि प्रतिप्रसवमुच्यते । इदं त्वसम्भवात्प्रतिषिद्धम् । कथमसम्भव इति चेत् अनवस्रावितान्तरोष्मपक्वे ईषदसिद्धे तण्डुलपाके चरुशब्दप्रयोगप्रत्ययात् । अतो वाचनिको यावस्थालीपाको यत्र तत्र गुलिकाभिः सम्पाद्यते यत्र पुनर्विकल्पः तत्रासम्भवाद्विनिवृत्तिरिति ॥ २।१७।५ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—ननु यावस्य चरोर्विनिवृत्तिदर्शनात्कथमन्यतरं चरुं श्रपयेत् तत्राह—'असं···वृत्तिः' । यावस्य चरोरसम्भवाद्विनिवृत्तिरधस्तनस्य शास्त्रान्तरस्य तेन यवानां स्थालीपाकं कुर्यादिति पुनरारम्भः । असम्भवश्चानवस्रावितान्तरोष्मपाकविशदविषयसिद्धे तण्डुलपाके चरुशब्दस्य प्रयोगप्रत्ययात् । अतः सर्वत्र स्थालीपाको व्रीहीणामेव ॥ २।१७।५ ॥

अनुवाद—असम्भव होने के कारण जौ का हव्यान्न निवृत्त हो जाता है। इसीलिए धान का हव्यान्न बनाना चाहिए।

क्षेत्रस्य पुरस्तादुत्तरतो वा शुचौ देशे कृष्टे फलानुपरोधेन ॥२।१७।६॥

(हरिहरभाष्यम्)—'क्षेत्र···धेन' । क्षेत्रस्य सस्यवतः पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि उत्तरतो वा उदीच्यां वा शुचौ अमेध्यद्रव्यरहिते देशे कृष्टे फालेन विलिखिते फलस्य सस्यस्य अनुपरोधः अबाधः फलानुपरोधस्तेन फलानुपरोधेन सीतायज्ञः कर्तव्यः ॥ २।१७।६ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'क्षेत्र···धेन' । सस्ययुक्तस्य क्षेत्रस्य पूर्वस्यां दिशि उदीच्यां वा अमेध्यरहिते देशे कृष्टे सीरेण विलिखिते फलस्य सस्यस्यानुपरोधेन अबाधेनोक्ते देशे सीतायज्ञः कार्यः ॥ २।१७।६ ॥

अनुवाद—खेत के उत्तर या पूरब में किसी पवित्र स्थान पर पहले से ही जुती हुई फसल को बिना किसी तरह की क्षति पहुँचाए सीतायज्ञ का अनुष्ठान करना चाहिए।

ग्रामे वोभयसम्प्रयोगादविरोधात् ॥ २।१७।७ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'ग्रामे···धात्' । यद्वा ग्रामे कर्तव्यः कुतः ? उभयसम्प्रयोगात् । उभयं क्षेत्रं ग्रामश्च सम्प्रयोक्तुमधिकरणतया सम्बोद्धुं शक्यते फलानुपरोधेन कृष्टत्वेन वा । पुरस्तादुत्तरतो वा शुचौ देशे कृष्टे इति ग्रामस्यापि विशेषणत्वेन सम्बध्यते अविरोधात् । ननु क्षेत्रग्रामयोः एकतरोपादानेन अन्यतरस्य बाधः प्रसज्येत ततो विरोध इति चेत् न । 'अविरोधात्' न विरोधः अविरोधस्तस्मादविरोधाद् विकल्पादेकतरोपादानं न दोषः । व्यवस्थासम्भवे हि अष्टदोषदुष्टोऽपि विकल्प आश्रीयते न्यायविद्भिः ॥ २।१७।७ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'ग्रामे···धात्' । अथवा सीतायज्ञो ग्रामे वा कार्यः । उभयं हि सम्प्रयोक्तुं शक्यते । कुतः ? फलानुपरोधः कृष्टं च । न चात्र विरोधः । अतो वा शब्दो विकल्पार्थः ॥ २।१७।७ ॥

अनुवाद—अथवा गाँव में भी सीतायज्ञ का अनुष्ठान किया जा सकता है । क्योंकि दोनों ही एक-दूसरे के विरोधी नहीं हैं । अतः सीतायज्ञ गाँव या खेत में कहीं भी किया जा सकता है ।

यत्र श्रपयिष्यन्नुपलिप्त उद्धतावोक्षितेऽग्निमुपसमाधाय तन्मिश्रैर्दर्भैस्तीर्त्वाऽऽज्यभागाविष्ट्वाऽऽज्याहुतीर्जुहोति ॥ २।१७।८ ॥

१. पृथिवी द्यौः प्रदिशो दिशो यस्मै द्युभिरावृता ।
तमिहेन्द्रमुपह्वये शिवा नः सन्तु हेतयः स्वाहा ॥

२. यन्मे किञ्चिदुपेप्सितमस्मिन् कर्मणि वृत्रहन् ।
तन्मे सर्वꣳ समृध्यतां जीवतः शरदः शतꣳ स्वाहा ॥

३. सम्पत्तिर्भूतिर्भूमिर्वृष्टिर्ज्यैष्ठ्यꣳ श्रैष्ठ्यꣳ श्रीः प्रजामिहावतु स्वाहा ॥

४. यस्याभावे वैदिकलौकिकानां भूतिर्भवति कर्मणाम् । इन्द्रपत्नीमुपह्वये सीताꣳ सा मे त्वनपायिनी भूयात् कर्मणि कर्मणि स्वाहा ॥

५. अश्वावती, गोमती, सूनृतावती, बिभर्ति या प्राणभृतो अतन्द्रिता । खलमालिनीमुर्वरामस्मिन् कर्मण्युपह्वये ध्रुवाꣳ सा मे त्वनपायिनी भूयात् स्वाहेति ॥ २।१७।९ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'यत्र···होति' । यत्र क्षेत्रे ग्रामे वा चरुं श्रपयिष्यन् भवति श्रपयितुमिच्छा भवति तत्र उपलिप्ते गोमयोदकेन उद्धते स्फ्येनोल्लिखिते अवोक्षिते मणिकोदकेन सिक्ते अग्निमावसथ्यं स्थापयित्वा । अत्र पुनरुपलेपनाद्युपदेशः कृष्टेऽपि प्राप्त्यर्थः न पुनः परिसमूहनोद्धरणनिवृत्त्यर्थः । तन्मिश्रैर्दर्भैः स्तीर्त्वा तैर्व्रीहिभिर्यवैर्वा मिश्रा मिलिता दर्भास्तैस्तन्मिश्रैर्दर्भैरग्निं स्तीर्त्वा परिस्तीर्य आज्यभागयागानन्तरं वक्ष्यमाणमन्त्रैः पृथिवी द्यौरित्यादिभिः पञ्चभिर्मन्त्रैः क्रमेण पञ्चाज्याहुतीर्जुहोति ।२।१७।८-९।

(गदाधरभाष्यम्)—'यत्र · स्वाहेति' । यत्र क्षेत्रे ग्रामे वा चरुं श्रपयिष्यन्

भवति तत्रोपलिप्ते उद्धते उल्लिखिते अवोक्षिते जलेनाभ्युक्षिते देशेऽग्निमावसथ्यमुपसमाधाय स्थापयित्वा तन्मिश्रैर्दर्भैर्व्रीहिकाले व्रीहिसस्यमिश्रैर्यवकाले यवसस्यमिश्रैर्दर्भैरग्निं परिस्तीर्याज्यभागयागानन्तरमाज्येन पञ्चाहुतीर्जुहोति पृथिवी द्यौरित्यादिभिः पञ्चमन्त्रैः प्रतिमन्त्रम्। उपलेपनोद्धतावोक्षितग्रहणं कृष्टेऽपि पञ्चसंस्कारप्रज्ञप्त्यर्थम्। नेतरपरिसङ्ख्यार्थम्। मन्त्रार्थः—पृथिव्यादिदेवता यस्मै इन्द्राय इन्द्रमुपासितुं स्थिताः। प्रदिशः दिशश्च 'किम्भूताः'? द्युभिः कान्तिभिरावृताः पूर्णाः। तमिन्द्रम् इह यज्ञे उपह्वये समीपमाह्वये। इन्द्रस्य हेतयो वज्राद्यायुधानि शिवाः कल्याणकारिण्यः सन्तु। तस्मै च सुहुतमस्तु ॥ १ ॥ हे वृत्रहन्! अस्मिन्कर्मणि सीतायज्ञे यत्किञ्चिन्मे ममोपेप्सितमिष्टं तत्सर्वं मे मम समृध्यतां सम्पद्यताम्। किम्भूतस्य? शतं शरदो वत्सरान् जीवतः। तुभ्यं स्वाहेति सर्वत्र समानम् ॥ २ ॥ सम्पत्तिर्धनाद्युपचयः। भूतिरैश्वर्यम्। भूमिराश्रयः। वृष्टिरभीष्टस्य। ज्यैष्ठ्यं जेष्ठत्वम्। श्रैष्ठ्यं श्रेष्ठत्वम्। श्रीः प्रतिष्ठा-सम्पत्त्यादिगणः इह यज्ञे प्रीतः सन् मदीयां प्रजां पुत्रादिवर्गमवतु रक्षतु। इन्द्रो वा एतैर्युक्तां प्रजामवत्विति ॥ ३ ॥ यस्याः सीतायाः सह वैदिकलौकिकानां श्रौत-स्मार्तानां कर्मणां भूतिः सम्पत्तिर्भवति। तामिन्द्रपत्नीं सीतामुपह्वये। सा सीता मे मम अनपायिनी अदनीयादिवृद्धिकर्त्री कर्मणि कर्मणि प्रतिकर्म भूयात् भवतु। तस्यै स्वाहा ॥ ४ ॥ तामेव विशिनष्टि। अश्वावती अश्वादिसम्पत्तिकर्त्री। एवं गोमत्यादौ। सूनृता मधुरवाक्। अतन्द्रिता सावधाना सती या प्राणभृतो जीवान् बिभर्ति पुष्णाति। किम्भूता? खलमालिनी धान्यराशिवती। उर्वरा सर्वसस्यानां सम्पत्। तां ध्रुवां स्थिरामस्मिन्कर्मण्युपह्वये। उपहूता च सा मे मम अनपायिनी दुःखध्वंसिनी भवतु। तस्यै स्वाहा ॥ २।१७।८-९ ॥

अनुवाद—जब स्थालीपाक बनाना चाहे, तब उस स्थान में वहाँ की मिट्टी को उस मूल से रेखांकित कर हटाए। जल से उसे सींच दें। उस पर औपासनाग्नि की स्थापना कर फिर जौ या चावलों में से जिसका हव्यान्न बनाना चाहे, उससे कुशों को लपेट दे और उन दोनों कुशों से वेदी को झाड़-पोंछ कर साफ कर दे, फिर घी की दो आहुतियाँ दें।

('पृथिवी द्यौ' से लेकर 'भूयात् स्वाहेति' तक इन पाँच मन्त्रों का अनुवाद इस प्रकार है—)

(१) **मन्त्रार्थ**—(ऋषि प्रजापति, छन्द अनुष्टुप्, देवता इन्द्र।) धरती, आकाश, दिशाएँ और विदिशाएँ जिस देवराज के तेज से प्रभामयी बनी हैं, हम उस इन्द्र का आह्वान करते हैं। उनके वज्रादि आयुध हमारी रक्षा करें।

(२) **मन्त्रार्थ**—(ऋषि प्रजापति, छन्द अनुष्टुप्, देवता इन्द्र।) हे वृत्रहन्ता इन्द्र! मैंने जो यह अनुष्ठान किया है, इसमें मेरी जो कुछ इच्छाएँ हैं, उसकी सम्पूर्त्ति आप करें। मुझे सौ वर्ष की आयु प्रदान करें।

(३) **मन्त्रार्थ**—(ऋषि प्रजापति, छन्द प्रतिष्ठा, देवता लिङ्गोक्त।) हे

हलाधिपति देवतागण ! आप ऐश्वर्य, समृद्धि, आश्रय, स्थान, वर्षा, ज्येष्ठता, श्रेष्ठता और सौन्दर्य के प्रदाता हैं। आप हमारी सन्तानों एवं आश्रित जनों की रक्षा करें।

(४) **मन्त्रार्थ**—(ऋषि प्रजापति, छन्द पंक्ति, देवता सीता।) सभी वैदिक और लौकिक अनुष्ठानों में जिनकी उपस्थिति रहने पर सम्पूर्ण भौतिक ऐश्वर्यों की प्राप्ति होती है; मैं उसी इन्द्र की पत्नी सीता का आह्वान करता हूँ। वे मेरे प्रत्येक अनुष्ठान में अन्न के भण्डार को भर दें।

(५) **मन्त्रार्थ**—(ऋषि प्रजापति, छन्द जगती, देवता लिङ्गोक्त।) मैं इस अनुष्ठान में धरती की उर्वरा शक्ति बढ़ानेवाली, अन्न की शक्ति और शोभा बढ़ाने वाली उस अटल देवी का आह्वान करता हूँ, जिनके पास अनन्त गाएँ और असंख्य घोड़े हैं। जो सदा सत्य एवं प्रिय बोलती हैं, जो सम्पूर्ण जीवों का निरन्तर भरण-पोषण करती हैं, वे हमारे दुःख को भी नष्ट करें।

स्थालीपाकस्य जुहोति सीतायै यजायै शमायै भूत्या इति ॥२।१७।१०॥

(हरिहरभाष्यम्)—'स्थाली···त्या इति'। स्थालीपाकस्येत्यवयवलक्षणा षष्ठी। तस्य सीताद्याभ्यश्चतसृभ्यो देवताभ्यश्चतस्र आहुतीः क्रमेण तन्नामभिरेव चतुर्थ्यन्तैः स्वाहाकारान्तैश्च जुहोति ॥ २।१७।१० ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'स्थाली···त्या इति'। सीताया इति चतुर्भिर्मन्त्रैः प्रतिमन्त्रं स्थालीपाकेन चतस्र आहुतीर्जुहोति। अवयवलक्षणा षष्ठी स्थालीपाकस्येति ॥२।१७।१०॥

अनुवाद—'सीतायै····' इत्यादि चार मन्त्रों को पढ़कर स्थालीपाक की चार आहुतियाँ डालें।

मन्त्रवत् प्रदानमेकेषाम् ॥ २।१७।११ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—एकेषामाचार्याणां मते मन्त्रवदेव प्रदानं होमः न स्वाहाकारः ॥ २।१७।११ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'मन्त्र···श्रुतेः'। एकेषामाचार्याणां मते मन्त्रवत्प्रदानम्, यथामन्त्रं होमो न तु स्वाहाकारेण ॥ २।१७।११ ॥

अनुवाद—कुछ आचार्यों के विचार से मन्त्र जैसा है उसी तरह बिना स्वाहाकार शब्द जोड़े होम करना चाहिए।

स्वाहाकारप्रदाना इति श्रुतेर्विनिवृत्तिः ॥ २।१७।१२ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—किं कारणम्? 'स्वाहा···श्रुतेः'। स्वाहाकारेण प्रदानं येषु ते स्वाहाकारप्रदानाः जुहोतय इति श्रुतेः श्रुतौ श्रौतकर्मणि स्वाहाकारप्रदानत्वम् इदं तु स्मार्तं कर्म ॥ वषट्कारेण वा स्वाहाकारेण वा देवेभ्योऽन्नं प्रदीयते इति सामान्यवचनात् गार्ह्येऽपि प्रवर्ततामिति चेत् न चात्र वषट्कारस्य प्रवृत्तिः किमिति याज्यापुरोनुवाक्यावत्वे वषट्कारस्य श्रवणात्। तेन सह पाठाच्च स्वाहाकारोऽप्यत्र निवर्तते। 'विनिवृत्तिः' मन्त्रवत्प्रदानमित्येतस्य पक्षस्य विनिवृत्तिः निरासः अप्रवृत्तिरिति यावत्। कुतः?

स्मार्तेऽपि कर्मणि स्मृतिकारैः स्वाहाकारस्य विधानात्। तत् यथा छन्दोगपरिशिष्टे कात्यायनः—स्वाहाकारवषट्कारनमस्कारा दिवौकसाम्। हन्तकारो मनुष्याणां स्वधाकारः स्वधाभुजाम् ॥ इति। अथ सीतायज्ञ इत्यनेन सूत्रेणातिदिष्टाभ्यो लाङ्गलयोजनदेवताभ्यः तद्भूतोपात्तस्थालीपाकेनास्मिन्नवसरे जुहुयात्। कुतः? ततः स्थालीपाकहोमाधिकारात्। ततः स्विष्टकृदादि ॥ २।१७।१२ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—कुतः? स्वाहाकारप्रदाना इति श्रुतेः। श्रुतौ हि जुहोतीनां स्वाहाकारप्रदानता श्रूयते। इदं तु स्मार्तं कर्म। ननु वषट्कारेण वा स्वाहाकारेण वा देवेभ्योऽन्नं प्रदीयत इति सामान्येनोक्तेरत्रापि तत्प्रवर्ततामिति चेत्। न चात्र वषट्कारप्रवृत्तिः। याज्यापुरोनुवाक्यावत्त्वे च वषट्कारश्रवणम्। तत्सहपाठात्स्वाहाकारोऽप्यत्र न प्रवर्तते। 'विनिवृत्तिः' पूर्वोक्तपक्षस्य मन्त्रवत्प्रदानमित्यस्य विनिवृत्तिर्निरासः। स्मार्तेऽपि कर्मणि—स्वाहाकारवषट्कारनमस्कारा दिवौकसाम्। हन्तकारो मनुष्याणां स्वधाकारः स्वधाभुजाम् ॥ इति कात्यायनस्मृतौ विधानात्। सीतायज्ञे चेत्यतिदेशादस्मिन्नवसरे लाङ्गलयोजनदेवताभ्यः तद्भूतोपात्तेन स्थालीपाकेन होमः। स्थालीपाकहोमाधिकारात्। ततः स्विष्टकृदादि ॥ २।१७।१२ ॥

अनुवाद—श्रौतकर्मों के यज्ञों में स्वाहाकार किया जाता है। उक्त १२ नियमों की यहाँ निवृत्ति समझनी चाहिए। स्मार्तकर्मों में भी स्वाहाकार का विधान है। तथा हि—

'स्वाहाकारवषट्कारनमस्कारा　　दिवौकसाम्।
हन्तकारो मनुष्याणां स्वधाकारः स्वधाभुजाम् ॥' इति।

स्तरणशेषकुशेषु सीतागोप्तृभ्यो बलिं हरति पुरस्ताद् ये त आसते—सुधन्वानो निषङ्गिणः। ते त्वा पुरस्ताद् गोपायन्त्वप्रमत्ता अनपायिनो नम एषां करोम्यहं बलिमेभ्यो हरामीममिति ॥ २।१७।१३ ॥

अथ दक्षिणतोऽनिमिषा वर्मिण आसते। ते त्वा दक्षिणतो गोपायन्त्वप्रमत्ता अनपायिनो नम एषां करोम्यहं बलिमेभ्यो हरामीममिति ॥ १४ ॥

अथ पश्चादाभुवः प्रभुवो भूतिर्भूमिः पार्ष्णिः शुनङ्कुरिः। ते त्वा पश्चाद् गोपायन्त्वप्रमत्ता अनपायिनो नम एषां करोम्यहं बलिमेभ्यो हरामीममिति ॥ २।१७।१५ ॥

अथोत्तरतो भीमा वायुसमा जवे। ते त्वोत्तरतः क्षेत्रे खले गृहेऽध्वनि गोपायन्त्वप्रमत्ता अनपायिनो नम एषां करोम्यहं बलिमेभ्यो हरामीममिति ॥ २।१७।१६ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'स्तर''आसत इत्यादि'। तत्र पुरस्ताद्य इत्यादिभिश्चतुर्भिर्मन्त्रैः स्तरणे शेषभावमुपसर्जनत्वं गताः प्राप्ताः त एव कुशास्तेषु स्तरणशेषकुशेषु बलिं हरति, केभ्यः? सीतागोप्तृभ्यः सीता लाङ्गलपद्धतिः ताः गोपायन्ति पालयन्ति ये ते

सीतागोप्तारस्तेभ्यः सीतागोप्तृभ्यः (स्तरणशेषकूर्चाः) प्राच्यादिषु चतसृषु दिक्षु यथालिङ्गम् ॥ २।१७।१३-१६ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'स्तरण···ममिति'। अग्नेः परिस्तरणे ये कुशा व्रीहिसस्यमिश्रा यवसस्यमिश्रा वा शेषभावमङ्गभावं प्राप्तास्त एव कूर्चाः आसनानि तेषु बलिं हरति। सीतागोप्तृभ्यः सीता लाङ्गलपद्धतीर्ये गोपायन्ति पालयन्ति ते सीतागोप्तारस्तेभ्यः। तत्र पुरस्तात्प्राच्यां ये त आसत इति मन्त्रेण। मन्त्रार्थः—हे सीते ! ये देवाः सुधन्वानः शोभनधनुष्मन्तः निषङ्गिणः सतूणीराः ते तव पुरस्तात् आसते तिष्ठन्ति ते त्वां पुरस्तात्प्राच्यां दिशि गोपायन्तु रक्षन्तु। किम्भूताः ? अप्रमत्ताः सावधानाः। अनपायिनः कष्टहराः। अहं चैषां नमस्करोमि। बलिमेवमेभ्यो हरामि ददामि। 'अथ द···ममिति'। अथ पुरस्ताद् बल्यनन्तरमग्नेर्दक्षिणपार्श्वे कूर्चेषु बलिं हरति। अनिमिषा इति मन्त्रेण। मन्त्रार्थः—ये अनिमिषाः निमेषरहिताः वर्मिणः सन्नद्धाः शेषं पूर्ववत्। 'अथ प···ममिति'। अथाग्नेः पश्चिमायां दिशि आभुव इति बलिं ददाति। मन्त्रार्थः—आ समन्ताद्भुवाः। तानेवाह—भूतिर्भूमिः पार्ष्णिः शुनङ्करिरित्येवं नामानः शेषं व्याख्यातम्। 'अथोत्त···ममिति'। अथोत्तरपार्श्वे बलिं ददाति। भीमा इति मन्त्रेण। मन्त्रार्थः—भीमाः भीषणाः जवे वेगे वायुना समास्तुल्याः क्षेत्रे खले गृहे अध्वनि वा वर्तमानं त्वा त्वां गोपायन्तु शेषं समानम् ॥ २।१७।१३-१६ ॥

अनुवाद—अंगभाव को प्राप्त कुशासनों पर सीतागोप्ता देवताओं को 'पुरस्ताद् ये त···' प्रभृति चार मन्त्र पढ़कर क्रमशः पूरब, दक्षिण, पश्चिम एवं उत्तर दिशाओं में बलि प्रदान करे।

मन्त्रार्थ—(ऋषि परमेष्ठी, छन्द यजुष्, देवता लिङ्गोक्त।) हे सीते ! श्रेष्ठ धनुर्धर देवता जो तरकस लिए तुम्हारे पूरब में खड़े हैं, वे आलस्य रहित होकर पूर्व दिशा में तुम्हारी रक्षा करें। तुम्हारे कष्ट दूर करें। मैं उन्हें नमस्कार कर बलि अर्पित करता हूँ।

मन्त्रार्थ—(ऋष्यादि पूर्वोक्त।) हे सीते ! तुमसे दक्षिण दिशा में बिना पलक बन्द किये जो देवता तुम्हारी ओर देख रहे हैं, वे तुम्हारी रक्षा करें। मैं उन्हें नमस्कार कर बलि अर्पित करता हूँ।

मन्त्रार्थ—(ऋष्यादि पूर्वोक्त।) हे सीते ! जो देवता तुमसे पश्चिम में खड़े हैं, वे सभी प्रकार से प्रभावी हैं। भूति, भूमि, पार्ष्णि और शुनंकरि आदि उनके नाम हैं; मैं उन्हें नमस्कार कर बलि अर्पित करता हूँ।

मन्त्रार्थ—(ऋष्यादि पूर्वोक्त।) हे सीते ! तुमसे उत्तर में जो देवता खड़े हैं, वे अत्यन्त भयानक हैं। वायु की तरह वे वेगवान् हैं। मैं उन्हें नमस्कार कर तुम्हारी रक्षा हेतु बलि अर्पित करता हूँ।

प्रकृतादन्यस्मादाज्यशेषेण च पूर्ववद् बलिकर्म ॥ २।१७।१७ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'प्रकृ···कर्म'। प्रकृतात्प्रधानदेवतासम्बन्धिनो व्रैह्याद्यावाद्वा

स्थालीपाकात् अन्यो यः सिद्धोपात्तश्चरुस्तस्मात् स्थाल्येनाज्यशेषेण च पूर्ववत् लाङ्गल-योजनवत् बलिकर्म इन्द्रपर्जन्यादिभ्यो बलिहरणं कर्तव्यम् ॥ २।१७।१७ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'प्रकृ···कर्म'। प्रकृतात्प्रधानयागदेवतासम्बन्धिनः स्थालीपाकादन्यो यः सिद्धो गृहीतश्चरुस्तस्मात्स्थाल्याज्येनाज्यशेषेण च पूर्ववत् इन्द्रपर्जन्यादिभ्यो लाङ्गलयोजनदेवताभ्यो बलिहरणं कार्यम् ॥ २।१७।१७ ॥

अनुवाद—प्रधान मन्त्र सम्बन्धी स्थालीपाक से भिन्न जो पकी-पकायी खीर है उससे तथा बचे हुए घी से पहले की तरह 'इन्द्रं पर्जन्य···' आदि मन्त्र (तेरहवीं कण्डिका के द्वितीय मन्त्र) से उक्त लाङ्गलयोजन देवताओं को भी बलि अर्पित की जाये।

स्त्रियश्चोपयजेरन्नाचरितत्वात् ॥ २।१७।१८ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'स्त्रिय···त्वात्'। स्त्रियश्च भार्यादिकाः उपयजेरन् बलिकर्मणा ताभ्य एवं देवताभ्यः पूजां कुर्युः। कुतः ? एतद् आचरितत्वात्। प्राचीनाभिः स्त्रीभिर्बलिकर्मणः कृतत्वात् ॥ २।१७।१८ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'स्त्रिय···त्वात्'। ततः स्त्रियो भार्यादिका उपयजेरन् बलिहरणं कुर्युः इन्द्रादिभ्योऽन्येभ्यश्च क्षेत्रपालादिदेवताभ्यो वृद्धव्यवहारेण। कुतः ? आचरितत्वात्। प्राचीनाभिः कृतत्वात् बलिकर्मणः ॥ २।१७।१८ ॥

अनुवाद—इसके बाद गृहस्वामी की पत्नी-प्रभृति घर की औरतें इन्द्र और क्षेत्रपाल प्रभृति को बलि प्रदान करें, क्योंकि पूर्वज स्त्रियाँ ऐसा करती आई हैं।

सꣳस्थिते कर्मणि ब्राह्मणान् भोजयेत् सꣳस्थिते कर्मणि ब्राह्मणान् भोजयेत् ॥ २।१७।१९ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'सꣳ···जयेत्'। संस्थिते समाप्ते सीतायज्ञाख्ये कर्मणि ब्राह्मणान् विप्रान् त्रिप्रभृतीन् भोजयेत् आशयेद्भक्ष्यभोज्यादिभिः। द्विरुक्तिरत्र काण्डसमाप्तिनिबन्धना। इति सूत्रार्थः ॥ २।१७।१९ ॥

अथ प्रयोगः। अथ सीतायज्ञः। कृषिं कुर्वतः साग्नेः व्रीहिनिष्पत्तिकाले यवनिष्पत्तिकाले च भवति। तत्र प्रथमप्रयोगे मातृपूजाभ्युदयिके भवतः। अनन्तरं क्षेत्रस्य पूर्वत उत्तरतो वा कृष्टे शुचौ देशे यत्र सस्यानि न नश्यन्ति तत्रेदं कर्म कुर्यात्। यद्वा ग्रामे पूर्वत उत्तरतो वा शुचिदेशस्य कर्षणं विधाय तत्र कर्तव्यम्। एवं देशद्वयान्यतरे देशे पञ्च भूसंस्कारान् कृत्वा औपासनाग्निमुपसमाधाय ब्रह्मोपवेशनादि कुर्यात्। तत्र विशेषः व्रीहिकाले व्रीहिसस्यमिश्रैर्दर्भैरग्निं परिस्तृणाति यवकाले यवसस्यमिश्रैः। तत्र व्रीहिकाले व्रीहिमयमेकमेव चरुं यवकाले यवमयं श्रपयति। अपरं स्थालीपाकं सिद्धमेवासादयति तण्डुलानन्तरमुपकल्पयति बलिपटलकं, बलिपटलकमिति शूर्पादिकं वैणवं पात्रं कुल्माषौदनयुक्तमुच्यते। तण्डुलानन्तरं सिद्धं चरुं प्रोक्षति। आज्यभागानन्तरं पञ्चाज्याहुतीर्जुहोति।

तद्यथा—पृथिवी द्यौः प्रदिशो दिशो यस्मै द्युभिरावृताः। तमिहेन्द्रमुपह्वये शिवा नः सन्तु हेतयः स्वाहा। इदमिन्द्राय०। यन्मे किञ्चिदुपेप्सितमस्मिन्कर्मणि वृत्रहन्। तन्मे

सर्वꣳ समृध्यतां जीवतः शरदः शतꣳ स्वाहा । इदमिन्द्राय० । सम्पत्तिर्भूतिर्भूमिर्वृष्टि-र्ज्यैष्ठ्यꣳ श्रैष्ठ्यꣳ श्रीः प्रजामिहावतु स्वाहा । इदमिन्द्राय० । यस्या भावे वैदिकलौकि-कानां भूतिर्भवति कर्मणाम् । इन्द्रपत्नीमुपह्वये सीताꣳ सा मे त्वनपायिनी भूयात्कर्मणि कर्मणि स्वाहा । इदमिन्द्रपत्न्यै० । अश्वावती गोमती सूनृतावती बिभर्त्ति या प्राणभृतो अतन्द्रिता । खलमालिनीमुर्वरामस्मिन्कर्मण्युपह्वये ध्रुवाꣳ सा मे त्वनपायिनी भूयात् स्वाहा । इदं सीतायै० ।

अथ प्रकृतस्य स्थालीपाकस्य चतस्र आहुतीर्जुहोति । यथा सीतायै स्वाहा इदं सीतायै० यजायै स्वाहा इदं यजायै० शमायै स्वाहा इदं शमायै० भूत्यै स्वाहा इदं भूत्यै० । अथ सिद्धेन स्थालीपाकेन लाङ्गलयोजनदेवताभ्योऽष्टाहुतीर्जुहोति । यथा इन्द्राय स्वाहा इदमिन्द्राय० पर्जन्याय स्वाहा इदं पर्जन्याय० अश्विभ्याꣳ स्वाहा इद-मश्विभ्यां० मरुद्भ्यः स्वाहा इदं मरुद्भ्यो० उदलाकाश्यपाय स्वाहा इदमुदलाकाश्य-पाय० स्वातिकार्यै स्वाहा इदं स्वातिकार्यै० सीतायै स्वाहा इदं सीतायै० अनुमत्यै स्वाहा० इदमनुमत्यै० । यथादैवतं त्यागः । प्रकृतात्सिद्धान्नचरोः स्विष्टकृत् ।

ततो महाव्याहृत्यादि ब्रह्मणे दक्षिणादानान्तं कृत्वा क्षेत्रस्य पुरस्तादारभ्य प्रतिदिशं स्तरणशेषकुशतृणान्यास्तीर्य तेषु मुख्येन चरुणा यथास्तरणं वक्ष्यमाणमन्त्रैर्बलीन् हरति । यथा पुरस्ताद्ये त आसते सुधन्वानो निषङ्गिणः । ते त्वा पुरस्ताद् गोपायन्त्वप्रमत्ता अनपायिनो नम एषां करोम्यहं बलिमेभ्यो हरामीममिति पुरस्ताद् बलिहरणमन्त्रः । इदं सुधन्वभ्यो निषङ्गिभ्यो० । अथ दक्षिणतोऽनिमिषा वर्मिण आसते । ते त्वा दक्षिणतो गोपायन्त्वप्रमत्ता अनपायिनो नम एषां करोम्यहं बलिमेभ्यो हरामीममिति दक्षिणतो बलिहरणमन्त्रः । इदमनिमिषेभ्यो वर्मिभ्यो० । अथ पश्चादाभुवः प्रभुवो भूतिर्भूमिः पार्ष्णिः शुनङ्कुरिः । ते त्वा पश्चाद्गोपायन्त्वप्रमत्ता अनपायिनो नम एषां करोम्यहं बलिमेभ्यो हरामीममिति पश्चिमतो बलिहरणमन्त्रः । इदमाभूभ्यः प्रभूभ्यो भूत्यै भूम्यै पार्ष्ण्यै शुनङ्कुर्यै० । अथोत्तरतो भीमा वायुसमा जवे । ते त्वोत्तरतः क्षेत्रे खले गृहेऽध्वनि गोपायन्त्वप्रमत्ता अनपायिनो नम एषां करोम्यहं बलिमेभ्यो हरामीममिति उत्तरतो बलिहरणमन्त्रः । इदं भीमेभ्यो वायुसमाजवेभ्यो० ।

अथ सिद्धचरुशेषं स्थाल्येनाज्यशेषेण सन्नीय तेनेन्द्रादिभ्योऽनुमत्यन्तेभ्यो लाङ्गल-योजनदेवताभ्यो बलीन् हरति । ततो बलिपटलकेन स्त्रियश्चेन्द्रादिभ्यो हलयोजन-देवताभ्यः अन्येभ्यश्च वृद्धव्यवहारसिद्धेभ्यः क्षेत्रपालादिभ्यो बलिदानं कुर्युः । ततो ब्राह्म-णान् भोजयेत् ।

इत्यग्निहोत्रिहरिहरविरचितायां पारस्करगृह्यसूत्रव्याख्यानपूर्विकायां
प्रयोगपद्धतौ द्वितीयः काण्डः समाप्तः ॥ २ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'सꣳस्थि···येत्' । समाप्ते स्त्रीकर्तृकबल्यनन्तरं त्रीन्ब्राह्म-णान्भोजयेत् । द्विरभ्यासः काण्डसमाप्तिसूचनार्थः ॥ २।१७।१९ ॥

अथ पदार्थक्रमः । प्रथमप्रयोगे मातृश्राद्धम् । उक्ते देशे आवसथ्याग्नेः स्थापनम् । ब्रह्मोपवेशनादिदक्षिणान्ते विशेषः । सस्यमिश्रैर्दर्भैरग्नेः परिस्तरणम् । एकश्चरुः श्रप्यते । अपरः सिद्ध एव तण्डुलानन्तरमासादनीयः । उपकल्पनीयानि—बलिपटलकं शूर्पादि वैणवं पात्रम् । कुल्माषौदनयुक्तं बलिपटलकमित्युच्यते । तण्डुलोत्तरं सिद्धचरोः प्रोक्षणम् । आज्यभागान्ते पञ्चाहुतयः । पृथिवीद्यौ० इदमिन्द्राय० १ यन्मे० इदमिन्द्राय० २ सम्पत्ति० इदमिन्द्राय० ३ यस्याभावे० इदमिन्द्रपत्न्यै० ४ अश्वावती० इदं सीतायै० ५ ॥ प्रकृतचरुणा आहुतिचतुष्टयम् । सीतायै स्वाहा० यजायै स्वाहा० । शमायै० भूत्यै० ६ ॥ एवं त्यागाः । ततः सिद्धचरुणा लाङ्गलयोजनदेवताभ्यो होमः । इन्द्राय स्वाहा० १ पर्जन्याय० २ अश्विभ्याᳬ० ३ मरुद्भ्यः० ४ उदलाकाश्यपाय० ५ स्वातिकार्यै० ६ सीतायै० ७ अनुमत्यै स्वाहा० ८ । स्विष्टकृदुभयोः महाव्याहृत्यादिदक्षिणान्तम् । प्रतिदिशं प्रदक्षिणं पुरस्तात्प्रथमं ये त इति प्रतिमन्त्रं बलिचतुष्टयदानम् । त्यागाः—इदं सुधन्वभ्यो निषङ्गिभ्यो० १ इदमनिमिषेभ्यो वर्मिभ्यो० २ इदमाभूभ्यः प्रभूभ्यो भूत्यै भूम्यै पार्ष्ण्यै शुनङ्कुर्यै० ३ इदं भीमाभ्यो वायुसमाजवेभ्यो० ४ चरोराज्यस्य च मिश्रणम् । तेन लाङ्गलयोजनदेवताभ्य इन्द्रादिभ्योऽनुमत्यन्तेभ्यो बलिहरणम् । ततो बलिपटलकेन स्त्रियश्च बलिहरणं कुर्युः इन्द्रादिभ्योऽन्येभ्यश्च क्षेत्रपालादिदेवताभ्यो वृद्धाचारेण । ततो ब्राह्मणत्रयभोजनम् ॥

इति श्रीत्रिरग्निचित्सम्राट्स्थपतिश्रीमहायाज्ञिकवामनात्मजदीक्षित-
गदाधरकृते गृह्यसूत्रभाष्ये द्वितीयकाण्डं समाप्तम् ॥ २ ॥

अनुवाद—कर्मानुष्ठान समाप्त होने पर तीन या दस ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिए ।

टिप्पणी - अन्तिम सूत्र की निरुक्ति काण्ड-समाप्ति की सूचना है ।

इस प्रकार पारस्करगृह्यसूत्र में द्वितीयकाण्ड की डॉ० जगदीशचन्द्र मिश्र
विरचित 'विमला'-हिन्दीव्याख्या समाप्त ॥ २ ॥

तृतीयकाण्डम्

प्रथमा कण्डिका

नवान्नप्राशनम्

अनाहिताग्नेर्नवप्राशनम् ॥ ३।१।१ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अना·· शनम्' । अनाहिताग्निरावसथिकः तस्य नवान्न-प्राशनाख्यं कर्म व्याख्यास्यत इति सूत्रशेषः । नवप्राशनमिति संज्ञाऽन्वर्था ततश्चैतत्कृत्वा नवं प्राश्यते नाकृत्वा । अत्र किं नवमात्रनिषेधः उत कतिपयानामित्यपेक्षिते गृह्यसङ्ग्रह-कारः—नवयज्ञाधिकारस्थाः श्यामाका व्रीहयो यवाः । नाश्नीयात्तानहुत्वैवमन्येष्वनि-यमः स्मृतः ॥ ऐक्षवः सर्वशुङ्गाश्च नीवाराश्चणकास्तिलाः ॥ अकृताग्रयणोऽश्नीयात्तेषां नोक्ता हरिर्गुणाः ॥ इति । न चास्याग्रयणशब्दवाच्यता । तेन पौर्णमास्याममावस्याया-मिति नियमो नास्ति । व्रीहियवपाकोचितत्वात् शरद्वसन्तावाद्रियेते ॥ ३।१।१ ॥

अनुवाद—जो व्यक्ति अनाहिताग्नि हो, उसे नवीन अन्न-भक्षण की विधि बतलाते हैं ।

नवꣳस्थालीपाकꣳ श्रपयित्वाऽऽज्यभागाविष्ट्वाऽऽज्याहुती जुहोति ।
शतायुधाय शतवीर्याय शतोतये अभिमातिषाहे ।
शतं यो नः शरदोऽजीजानिन्द्रो नेषदति दुरितानि विश्वा स्वाहा ॥
ये चत्वारः पथयो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी वियन्ति ।
तेषां योऽज्यानिमजीजिमावहात्तस्मै नो देवाः परिधत्तेह सर्वे स्वाहेति ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'नवꣳ···धायेति' । नवं शरदि नूतनं व्रीहिमयं वसन्ते नूतनं यवमयं स्थालीपाकं चरुं पक्त्वाऽऽज्यभागयोनरन्ते शतायुधायेति ये चत्वार इत्येताभ्यां प्रतिमन्त्रं द्वे आज्याहुती जुहोति ॥ ३।१।२-३ ॥

अनुवाद—शरद् और वसन्त काल में उत्पन्न नवान्न का स्थालीपाक बनाकर अग्नि और सोम की आहुतियाँ देने के बाद 'शतायुधाय···' और 'ये चत्वारः···' इत्यादि दो मन्त्रों का उच्चारण करते हुए घी की दो आहुतियाँ डाली जायें ।

मन्त्रार्थ—(ऋषि प्रजापति, छन्द त्रिष्टुप्, देवता इन्द्र ।) यह आहुति उस इन्द्र-देव के लिए है, जिनके पास अनगिनत हथियार हैं, जिनकी शक्ति निस्सीम हैं, असंख्य रक्षा-साधन जिनके पास हैं, जो शत्रुओं को पराजित करने वाले हैं, वे देवराज इन्द्र हमारे सारे दुःखों और दुर्व्यसनों को दूर कर दें । वे हमें सौ वर्ष की लम्बी आयु प्रदान करें ।

मन्त्रार्थ—(ऋषि प्रजापति, छन्द अनुष्टुप्, देवता विश्वेदेव ।) हे अशेष देवताओ ! आकाश की तरह निर्मल जो चार देवमार्ग धरती और आकाश के बीच

में हैं, जिन मार्गों से देवगण विविध दिशाओं में विचरण करते हैं; उनमें जो ग्लानि और हानि-रहित हैं तथा प्रजेय बनाने वाली हैं, आप सभी मुझे उसी मार्ग का निर्देश करें।

स्थालीपाकस्याऽऽग्रयणदेवताभ्यो हुत्वा जुहोति स्विष्टकृते च—
स्विष्टमग्ने अभितत्पृणीहि विश्वांश्च देवः पृतना अविष्यत्।
सुगन्नु पन्थां प्रदिशन्न एहि ज्योतिष्मद्धेह्यजरन्न आयुः स्वाहेति॥

(हरिहरभाष्यम्)—'स्थाली···मग्न इति'। अथ स्थालीपाकस्य आग्रयणदेवताभ्य इन्द्राग्नी विश्वेदेवा द्यावापृथिवी इत्येताभ्यः प्रत्येकमेकैकामाहुतिं हुत्वा स्विष्टमग्न इत्यनेन मन्त्रेण स्विष्टकृद्धोमात्पूर्वं चकारात् पश्चाच्चाज्याहुतिं जुहोति। मध्ये स्थालीपाकेन सौविष्टकृतम्॥ ३।१।३॥

अनुवाद—इसके बाद स्थालीपाक से आग्रयण देवताओं (इन्द्राग्नि, विश्वेदेव और द्यावापृथिवी) में से प्रत्येक को एक-एक आहुति प्रदान कर 'स्विष्टमग्ने···' इत्यादि मन्त्र पढ़कर घी की एक आहुति दे, फिर स्विष्टकृत अग्नि को स्थालीपाक से 'स्विष्टकृते स्वाहा' कहकर एक आहुति देकर पुनः 'स्विष्टमग्ने···' इत्यादि मन्त्र से घी की आहुति डालें।

मन्त्रार्थ—(ऋषि प्रजापति, छन्द विराट्, देवता अग्नि।) हे अग्निदेव! स्विष्टकृत के निमित्त दी गई इस आहुति में जो कुछ भी कमी रह गई हो, आप उसे पूरा कर दें। शत्रु की सेना से मेरी तथा मेरे सम्पूर्ण परिवार की रक्षा करें। हमें अर्चि-प्रभृति ज्योतिर्मय सुगम मार्ग दिखलाते हुए आप यहाँ आकर अजर-अमर होने का आशीर्वाद दें।

अथ प्राश्नाति—

अग्निः प्रथमः प्राश्नातु स हि वेद यथा हविः।
शिवा अस्मभ्यमोषधीः कृणोतु विश्वचर्षणिः।
भद्रान्नः श्रेयः समनैष्ट देवास्त्वयाऽवशेन समशीमहि त्वा।
स नो मयोऽभूः पितो आविशस्व शं तोकाय तनुवे स्योन इति॥३।१।४॥
अन्नपतीयया वा॥ ३।१।५॥

(हरिहरभाष्यम्)—ततो महाव्याहृत्यादिप्राजापत्यान्ते—'अथ प्राश्नाति'। अग्निः प्रथम इत्यनेन मन्त्रेण संस्रवं प्राश्नाति। अत्र हुतशेषप्राशने गुणविधिरयं मन्त्रेण। 'अन्नपतीयया वा'। अन्नपतिरिति अन्नं पतिर्देवता यस्याः सा अन्नपतीया ऋक् तया अन्नपतीयया ऋचा अन्नपतेऽन्नस्येत्यादिकया वा विकल्पेन प्राश्नाति। यद्वा अन्नपति-शब्दो यस्यामृचि अस्ति साऽन्नपतीया॥ ३।१।४-५॥

अनुवाद—शेष नौ आहुतियों से होम कर 'अग्निः प्रथमः···' इत्यादि मन्त्र अथवा 'अन्नपते···' इत्यादि ऋचा को पढ़ते हुए संस्रवप्राशन करे।

मन्त्रार्थ—(ऋषि प्रजापति, छन्द अनुष्टुप् व त्रिष्टुप्, देवता जाठर एवं अग्नि ।) सभी धनधान्यों के अधिपति हे अग्निदेव ! आप हमारे इस हविष्य से सुपरिचित हैं। सबसे पहले आप इसे खाकर औषधियों और वनस्पतियों को हमारे लिए सुखद बनायें। हे इन्द्रादि देव ! आप सभी हमें कल्याणकारी श्रेय का भाजन बनाते हुए आरोग्य प्रदान करें। हे सबके पालक अन्नदेव ! हम तुम्हारा सेवन संस्कृत रूप में करें। आप हमारे भीतर प्रविष्ट होकर सुखरूप, शान्तिरूप, पुष्टिरूप और प्रजनन सामर्थ्य प्रदान करने वाले सिद्ध हों।

अथ यवानाम्—

एतमुत्यं मधुना संयुतम् । यवꣳ सरस्वत्या अधिवनाय चकृषुः ।
इन्द्र आसीत् सीरपतिः शतक्रतुः कीनाशा आसन्मरुतः सुदानव इति ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अथ य···त्यमिति' । अथ व्रीहिप्राशनमन्त्राभिधानानन्तरं यवानां प्राशने मन्त्रमाह । एतमुत्यमित्यादि सुदानव इत्यन्तं मन्त्रम् । यवप्राशने पैठीनसिः अग्निमेवोपासीत नान्यदैवतम् । अग्निर्भूम्यामिति विज्ञायते न प्रवसेत् यदि प्रवसेदुक्तमुपस्थानं यजमानस्य प्राशितमग्नौ जुहुयात् । नवेष्टचामेवौपासनिकस्य ॥३।१।६॥

अनुवाद—अब जब प्राशन करे 'एतमुत्यं···' इत्यादि मन्त्र का जप करे।

मन्त्रार्थ—(ऋषि परमेष्ठी, छन्द बृहती, देवता लिङ्गोक्त ।) इस प्रत्यक्ष और परोक्ष माधुर्ययुक्त यवान्न को सरस्वती नदी की तटवर्ती वन्यभूमि के कृषक तथा सुन्दर भागों को प्रदान करने वाले मरुद्गण ने हलाधिपति और सैकड़ों यज्ञों को सम्पन्न करने वाले इन्द्र के मार्गदर्शन में खेती कर उत्पन्न किया गया है।

ततो ब्राह्मणभोजनम् ॥ ३।१।७ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'ततो ब्राह्मणभोजनम्' ! इति सूत्रार्थः ॥ ३।१।७ ॥

अथ प्रयोगः । तत्र शरदि वसन्ते च अनाहिताग्नेर्नवप्राशनं कर्म भवति तत्र प्रथमप्रयोगे मातृपूजाभ्युदयिके विदध्यात् । आवसथ्याग्नौ ब्रह्मोपवेशनादिप्राशनान्ते विशेषः । नवस्थालीपाकं श्रपयित्वा आज्यभागानन्तरमाज्याहुतिद्वयं जुहोति ।

तद्यथा—शतायुधाय शतवीर्याय शतोतये अभिमातिषाहे । शतं यो नः शरदोऽजीजानिन्द्रो नेषदति दुरितानि विश्वा स्वाहा । इदमिन्द्राय० । ये चत्वारः पथयो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी वियन्ति । तेषां योज्यानिमजीजिमावहत्तस्मै नो देवाः परिधत्तेह सर्वे स्वाहा । इदꣳ सर्वेभ्यो देवेभ्यो० । इन्द्राग्नी विश्वेदेवा द्यावापृथिवी स्थालीपाकेनाग्रयणदेवताः । इन्द्राग्निभ्याꣳ । उपांशु । विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा इदं विश्वेभ्यो देवेभ्यो० । उपांशु । द्यावापृथिवीभ्याꣳस्वाहा इदं द्यावापृथिवीभ्यां० । इति तिस्र आहुतीर्हुत्वा स्विष्टमग्ने अभितत् पृणीहि विश्वांश्च देवः पृतना अविष्यत् । सुगन्नु पन्थां प्रदिशन्न एहि ज्योतिष्मद्ध्ये ह्यजरन्न आयुः स्वाहेत्यनेन मन्त्रेण आज्याहुतिं जुहोति इदमग्नये इति त्यागः । ततः स्थालीपाकात् अग्नये स्विष्टकृते स्वाहेति हुत्वा त्यक्त्वा च पुनः स्विष्टमग्न इत्यादिनाऽऽज्याहुतिं जुहोति । इदमग्नय इति त्यागः ।

ततो महाव्याहृत्यादि प्राजापत्यहोमान्तं कृत्वा । अग्निः प्रथमः प्राश्नातु स हि वेद यथा हविः । शिवा अस्मभ्यमोषधीः कृणोतु विश्वचर्षणिः । भद्रान्नः श्रेयः समनैष्ट देवास्त्वयाऽवशेन समशीमहि त्वा । स नो मयोऽभूः पितो आविशस्व शन्तोकाय तनुवे स्योन इत्यनेन मन्त्रेण संस्रवं प्राश्नाति । अन्नपतेऽन्नस्य नो देहीत्यनयर्चा वा प्राश्नाति । यवान्नप्राशने तु एतमुत्यं मधुना संयुतं यव६ सरस्वत्या अधिवनाय चक्रुषुः इन्द्र आसीत्सीरपतिः शतक्रतुः कीनाशा आसन्मरुतः सुदानव इत्यनेन यवसंस्रवं प्राश्नाति । ततो ब्राह्मणभोजनमिति ॥

अनुवाद—उसके बाद ब्राह्मणों को यथाशक्ति भोजन कराना चाहिए ।

टिप्पणी—साँवाँ धान और जौ प्राशन के सन्दर्भ में ही गृह्यसंस्कार ने इस कर्म की सार्थकता निम्न प्रकार से बतलायी है—

नवयज्ञाधिकारस्थाः श्यामाका व्रीहयो यवाः ।
नाश्नीयात्तानहुत्वैवमन्येष्वनियमः स्मृतः ॥
ऐक्षवः सर्वशुङ्गाश्च नीवाराश्चणकास्तिलाः ।
अकृताग्रयणोऽश्नीयांत्तेषां नोक्ता हविर्गुणाः ॥

तृतीयकाण्ड में प्रथम कण्डिका समाप्त ॥

द्वितीया कण्डिका

आग्रहायणी कर्म

मार्गशीर्ष्यां पौर्णमास्यामाग्रहायणी कर्म ॥ ३।२।१ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'मार्ग···कर्म' । मार्गशीर्ष्यामाग्रहायण्यां पौर्णमास्यामाग्रहायणीसंज्ञं कर्म भवति ॥ ३।२।१ ॥

अनुवाद—अगहन की पूर्णिमा को आग्रहायणी कर्म का अनुष्ठान करना चाहिए ।

स्थालीपाकꣳ श्रपयित्वा श्रवणवदाज्याहुती हुत्वाऽपरा जुहोति—

१. यां जनाः प्रतिनन्दन्ति रात्रीं धेनुमिवायतीम् ।
संवत्सरस्य या पत्नी सा नो अस्तु सुमङ्गली स्वाहा ॥

२. संवत्सरस्य प्रतिमा या ताꣳ रात्रीमुपास्महे ।
प्रजाꣳ सुवीर्यां कृत्वा दीर्घमायुर्व्यश्नवै स्वाहा ॥

३. संवत्सराय परिवत्सरायेदावत्सरायेद्वत्सराय वत्सराय कृणुते बृहन्नमः ।
तेषां वयꣳ सुमतौ यज्ञियानां ज्योग्जीता अहताः स्याम स्वाहा ॥

४. ग्रीष्मो हेमन्त उत नो वसन्तः शिवा वर्षा अभया शरन्नः ।
तेषामृतूनाꣳ शतशारदानां निवात एषामभये वसेम स्वाहेति ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'स्थाली···जुहोति' । यां जना इत्यादि । तत्र चरुं श्रपयित्वा श्रवणाकर्मणि यथा द्वे आज्याहुती जुहोति तथाऽत्र अपश्वेतपदाजहीति द्वाभ्यां मन्त्राभ्यां हुत्वा ततोऽनन्तरमपराः यां जना इत्यादिभिश्चतस्र आज्याहुतीर्जुहोति ॥ ३।२।२ ॥

अनुवाद—स्थालीपाक पकाकर श्रवणाकर्म की तरह 'अपश्वेतपदा जहि' दो मन्त्र पढ़कर यहाँ भी घी की दो आहुतियाँ देकर 'यां जनाः···' इत्यादि चार मन्त्र पढ़कर घी की अन्य चार आहुतियाँ डाले ।

(१) मन्त्रार्थ—(ऋषि प्रजापति, छन्द अनुष्टुप्, देवता रात्रि ।) जंगल से लौटती गाय की तरह आगमनशील जिस रात को देखकर जनमन हर्षविह्वल हो उठता है, प्रजापति की पत्नीरूप वह रात हमारे लिए मंगलमयी हो ।

(२) मन्त्रार्थ—(ऋष्यादि पूर्वोक्त ।) संवत्सर (प्रजापति) की प्रतिमारूप उस रात्रि की हम उपासना कर सुबल पुत्र-पौत्रादि और दीर्घायु प्राप्त करें ।

(३) मन्त्रार्थ—(ऋषि विराट्, छन्द त्रिष्टुप्, देवता संवत्सरादि ।) हे स्तोताओ ! संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, इद्वत्सर और वत्सर नामक यज्ञभागभोक्ता—इन पाँच विशिष्ट देवताओं को मेरा प्रणाम है । इनकी कृपा से हमारी बुद्धि सुन्दर हो, हम अजेय बने रहें और हमारा अस्तित्व सदैव अक्षुण्ण हो ।

(४) **मन्त्रार्थ**—(ऋषि विराट्, छन्द त्रिष्टुप्, देवता ऋतु-अधिष्ठाता ।) ग्रीष्म, हेमन्त, वसन्त, वर्षा और शरद् ऋतुएँ हमारे लिए कल्याणकारिणी बनें, हमें अभय बनायें। इन ऋतुओं के अधिष्ठाता देवगण हम पर कृपालु हों। हमें रहने के लिए निर्विघ्न स्थान एवं निश्चिन्त जीवन दें।

स्थालीपाकस्य जुहोति—

सोमाय मृगशिरसे मार्गशीर्ष्यै पौर्णमास्यै हेमन्ताय चेति ॥ ३।२।३ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'स्थाली…चेति'। ततः स्थालीपाकेन सोमायेत्यादिभिश्चतुर्भिर्मन्त्रैः स्वाहान्तैश्चतस्र आज्याहुतीर्जुहोति इति चकारः समुच्चयार्थः।। ३।२।३ ॥

अनुवाद—'सोमाय' इत्यादि चार मन्त्र पढ़कर स्थालीपाक से हव्यान्न लेकर चार आहुतियों का हवन करे।

प्राशनान्ते सक्तुशेषꣳ शूर्पे न्युप्योपनिष्क्रमणप्रभृत्यामार्जनात् ॥ ३।२।४ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'प्राश…र्जनात्'। ततः स्विष्टकृत्प्रभृति प्राशनान्ते बलिहरणार्थं सक्तुशेषं शूर्पे कृत्वा उपनिष्क्रमणादि आमार्जनात् द्वारदेशे मार्जनं यावत् श्रवणाकर्मवत्कुर्यात् ॥ ३।२।४ ॥

अनुवाद—संस्रवप्राशन के उपरान्त बलिहरण के लिए बचे सत्तू को सूप में लेकर दरवाजे पर श्रवणाकर्म की तरह ही उपनिष्क्रमण से मार्जन तक की क्रिया का सम्पादन करे।

मार्जनान्त उत्सृष्टो बलिरित्याह ॥ ३।२।५ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'मार्ज…त्याह'। मार्जनस्यान्ते अवसाने उत्सृष्टो बलिरिति वचनं ब्रूयात्। एतावदाग्रहायणीकर्म ॥ ३।२।५ ॥

अनुवाद—मार्जन के बाद 'उत्सृष्टो बलिः' शब्द का उच्चारण करे।

पश्चादग्नेः स्रस्तरमास्तीर्य्याहतं च वास आप्लुता अहतवाससः प्रत्यवरोहन्ति दक्षिणतः स्वामी जायोत्तरा यथाकनिष्ठमुत्तरतः ॥ ३।२।६ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—अथान्यत्कर्माभिधीयते—'पश्चा…हन्ति'। पश्चादग्नेरावसथ्यस्य पश्चिमप्रदेशे स्रस्तरं प्रागग्रैः कुशैः स्रस्तरमास्तीर्य विरचय्य। तच्चास्तरणमग्निशालातो गृहान्तरे युज्यते। अग्निशालायां ह्यौपवसथ्यरात्रिमन्तरेण शयनप्रतिषेधात्। अहतं च वसनं सकृत्प्रक्षालितं वस्त्रं तदुपरि आस्तीर्येति सम्बन्धः। आप्लुताः स्नाताः अहते नवे सदशे सकृत्प्रक्षालिते प्रत्येकं वाससी येषां ते अहतवाससः स्वामिप्रभृतयः प्रत्यवरोहन्ति स्रस्तरं निविशन्ते। 'दक्षि…रतः'। कथं प्रत्यवरोहन्ति सर्वेषां दक्षिणतः स्वामी गृहपतिर्भवति तस्योत्तरा जाया पत्नी तस्या उत्तरतः अपत्यानीति शेषः। कथं यथाकनिष्ठं यो यस्मात् कनिष्ठः स तदुत्तरत इति ।। ३।२।६ ॥

अनुवाद—होमाग्नि के पश्चिम में कुश का आसन फैला दे। उस पर एक बार का धुला वस्त्र बिछाकर स्नान के बाद नवीन वस्त्र या एक बार धुली हुई धोती पहन कर गृहपति उस आसन पर बैठे। सबसे दाहिने गृहपति बैठे, गृहपति के उत्तर में उसकी पत्नी, गृहपत्नी के उत्तर में क्रमशः घर के अन्य छोटे लोग बैठें।

दक्षिणतो ब्रह्माणमुपवेश्योत्तरत उदपात्रꣳ शमीशाखासीतालोष्ठाश्मनो निधायाग्निमीक्षमाणो जपति—

अयमग्निर्वीरतमोऽयं भगवत्तमः सहस्रसातमः ।
सुवीर्योऽयꣳ श्रैष्ठ्ये दधातु नाविति ॥ ३।२।७ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'दक्षि···जपति' । अयमग्निर्वीरतम इति । तत्र स्वामी स्रस्तरं प्रत्यवरोक्ष्यन् दक्षिणतोऽग्नेर्ब्रह्माणं यथाविध्युपवेश्य उत्तरत उदपात्रं जलपूर्णभाजनं शमीवृक्षस्य शाखां सीतालोष्ठं हलपद्धतिभवं मृच्छकलमश्मानं प्रस्तरं निधाय स्थापयित्वा अग्निमीक्षमाणः आवसथ्यं पश्यन् अयमग्निर्वीरतम इत्येतं मन्त्रं जपति ॥ ३।२।७ ॥

अनुवाद—होमाग्नि के दाहिने ब्रह्मा को बैठाए और उत्तर की ओर जलपूर्ण कलश, शमी वृक्ष की डाल, हल जोतने से निकली हुई मिट्टी का ढेला और पत्थर का टुकड़ा रख दें। फिर गृहपति होमाग्नि की ओर देखते हुए 'अयमग्नि···' इस मंत्र का जप करे।

मन्त्रार्थ—(ऋषि प्रजापति, छन्द अनुष्टुप्, देवता अग्नि।) यह आवसथ्याग्नि अत्यन्त शक्तिसम्पन्न है। षड् ऐश्वर्यों से युक्त है। हजारों अन्न के दानों की अधिष्ठातृ है। ये महान् पराक्रम करने वाली हैं। अतः हम पति-पत्नी श्रेष्ठ कर्म करने के उद्देश्य से इनकी स्थापना करते हैं।

पश्चादग्नेः प्राञ्चमञ्जलिं करोति—दैवीं नावमिति तिसृभिः ॥३।२।८॥

(हरिहरभाष्यम्)—'पश्चा···सृभिः' । अग्नेः पश्चिमतः स्थित्वा प्रागग्रमञ्जलिं करसम्पुटं विदधाति दैवीं नावमित्यारभ्य मध्वारजाꣳसि सुक्रतू इत्यन्ताभिस्तिसृभिर्ऋग्भिः ॥ ३।२।८ ॥

अनुवाद—होमाग्नि के पश्चिम खड़े होकर पूरब की ओर मुँह करके हाथों में अंजलि बाँधकर—'दैवी नावम्···' इत्यादि तीन ऋचाओं का पाठ करे।

(मन्त्र)—**दैवीं नावꣳ स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमारुहेमा स्वस्तये ।**
सुनावमारुहेयमस्रवन्तीमनागसम् । शतारित्राꣳ स्वस्तये ।
आ नो मित्रावरुणा घृतैर्गव्यूतिमुक्षतम् । मध्वारजाꣳसि सुक्रतू ।
(य० सं० २१।६-८)

स्रस्तरमारोहन्ति ॥ ३।२।९ ॥

ब्रह्माणमामन्त्रयते—ब्रह्मन् प्रत्यवरोहामेति ॥ ३।२।१० ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'स्रस्त···हामेति' । स्रस्तरं यथोक्तमारोहन्ति साम्प्रतं स्वामिप्रभृतयः पूर्वं यत्प्रत्यवरोहन्तीत्युक्तं तद्विधानार्थमिदम् । तत्र स्वामी ब्रह्माणमामन्त्रयते पृच्छति । कथं ब्रह्मन् प्रत्यवरोहामेति वाक्येन ॥ ३।२।९-१० ॥

अनुवाद—गृहपति के साथ अन्य जन भी विछावन पर आरूढ़ हों। इसके बाद गृहस्वामी ब्रह्मा से पूछे—हे ब्रह्मन्! मैं अब प्रत्यवरोहण करूँ।

ब्रह्मानुज्ञाताः प्रत्यवरोहन्त्यायुः कीर्त्तिर्यशो बलमन्नाद्यं प्रजामिति ॥३।२।११॥

(हरिहरभाष्यम्)—'ब्रह्मा···जामिति'। प्रत्यवरोहध्वमिति वाक्येन ब्रह्मणाऽनुज्ञाताः प्रसूताः प्रत्यवरोहन्ति स्रस्तरमधितिष्ठन्ति आयुःकीर्तिरित्यादिमन्त्रेण। अत्र स्त्रीणामपि मन्त्रपाठः॥ ३।२।११॥

अनुवाद—ब्रह्मा से आदेश प्राप्त करने के बाद स्त्री-पुरुष सभी मिलकर 'आयुः कीर्त्तिः···' इत्यादि मंत्र पढ़ते हुए बिछावन से नीचे उतरे।

उपेता जपन्ति—

सुहेमन्तः सुवसन्तः सुग्रीष्मः प्रतिधीयतान्नः।
शिवा नो वर्षाः सन्तु शरदः सन्तु नः शिवा इति ॥ ३।२।१२ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'उपेता जपन्ति'। सुहेमन्तः सुवसन्त इत्यादिकम्। तत्र ये उपेता उपनीतास्ते स्रस्तरमारुह्य सुहेमन्त इत्यादिकं मन्त्रं जपन्ति॥ ३।२।१२॥

अनुवाद—उनमें से जिनका यज्ञोपवीत संस्कार हो चुका है, वे बिछावन पर चढ़कर 'सुहेमतः····' मंत्र का पाठ करें।

मन्त्रार्थ—(ऋषि आश्वलायन, छन्द पंक्ति, देवता ऋतु।) हेमन्त, वसन्त और ग्रीष्म हमारे लिए कल्याणकारी बनें। इसी प्रकार वर्षा और शरद् भी हमारे लिए शुभ सम्पादित कर कल्याणकारी बनें। हमारे हित का सदैव सम्पादन करें।

स्योना पृथिवि नो भवेति दक्षिणपार्श्वैः प्राक्शिरसः संविशन्ति ॥३।२।१३॥

(हरिहरभाष्यम्)—'स्योना···शन्ति'। स्रस्तरमारुह्य स्योना पृथिवीत्यनेन मन्त्रेण स्वामी जायापत्यानि प्राक् पूर्वस्यां दिशि शिरो येषां ते प्राक्शिरसः दक्षिणापार्श्वैः उदङ्मुखाः संविशन्ति स्वपन्ति शेरते स्रस्तरोपरीत्यर्थः॥ ३।२।१३॥

अनुवाद—'स्योना पृथिवी···' इत्यादि मंत्र पढ़ते हुए गृहपति अपने परिजनों के साथ स्रस्तर (बिछावन) पर चढ़कर पूरब की ओर सिर और उत्तर की ओर मुँह करके सोयें।

उपोदुत्तिष्ठन्ति—उदायुषा स्वायुषोत्पर्जन्यस्य वृष्टचा पृथिव्याः सप्तधामभिरिति ॥ ३।२।१४ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'उपो···भिरिति'। उप स्रस्तरसमीपे उदुतिष्ठन्ति उत्थाय उत्तिष्ठन्तीत्यर्थः। उपपदमनर्थकम्। उदायुषा स्वायुषोत्पर्जन्यस्येत्यादिमन्त्रेण स्रस्तरात्॥ ३।२।१४॥

अनुवाद—'उदायुषा···' यह मंत्र पढ़कर बिछावन से उठे।

मन्त्रार्थ—(ऋषि गौतम, छन्द गायत्री, देवता अग्नि) हम दीर्घायु बनें। हमारा जीवन उत्कृष्ट हो। हमारी फसलों के लिए समय पर वर्षा हो। हमारी धरती के सात धामों पर हमारा अधिकार हो।

एवं द्विरपरं ब्रह्मानुज्ञाताः॥ ३।२।१५॥

(हरिहरभाष्यम्)—'एवं'''ज्ञाताः' । एवमुक्तप्रकारेण ब्रह्मन्प्रत्यवरोहामेत्यारभ्य उत्थानपर्यन्तं ब्रह्मानुज्ञाताः सन्तो द्विरपरमपरमन्यत्स्रस्तरमारोहन्ति संविशन्ति उत्तिष्ठन्ति च ॥ ३।२।१५ ॥

अनुवाद—इसी प्रकार दूसरे लोग भी दो बार ब्रह्मा की आज्ञा से लेकर उठने तक का कर्म सम्पादित करें।

अधः शयीरँश्चतुरो मासान्यथेष्टं वा ॥ ३।२।१६ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अध'''ष्टं वा' । अत ऊर्ध्वं चतुरो मासान्पौषादीन् अधः खट्वां व्युदस्य भूमौ शयीरन् गृहपतिप्रमुखाः यथेष्टं वा अथवा इष्टमनतिक्रम्य यथेष्टं यथाकामम् अधो वा खट्वायां वा शयीरन्निति विकल्पः । इति सूत्रार्थः ॥ १३।२।१६ ॥

अथ पद्धतिः । मार्गशीर्ष्यां पौर्णमास्यामाग्रहायणीकर्म भवति । तत्र प्रथमप्रयोगे मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकश्राद्धं विधाय आवसथ्याग्नौ ब्रह्मोपवेशनादिप्राशनान्ते विशेषः । शूर्पं सक्तूनुल्कामुदपात्रं दर्वीं कङ्कतत्रयमञ्जनमनुलेपनं स्रजश्चेत्युपकल्पः ।

तत आज्यभागानन्तरमपश्वेतपदाजहीत्याज्याहुतिद्वयं श्रवणाकर्मवद्धुत्वा अपराश्चतस्र आज्याहुतीर्जुहोति वक्ष्यमाणैश्चतुर्भिर्मन्त्रैः प्रतिमन्त्रम् । तद्यथा—यां जनाः प्रतिनन्दन्ति रात्रीं धेनुमिवायतीम् । संवत्सरस्य या पत्नी सा नो अस्तु सुमङ्गली स्वाहा । इदꣳ रात्र्यै० १ ॥ संवत्सरस्य प्रतिमा या ताꣳ रात्रीमुपास्महे । प्रजाꣳ सुवीर्यां कृत्वा दीर्घमायुर्व्यश्नवै स्वाहा । इदꣳ रात्र्यै० २ ॥ संवत्सराय परिवत्सरायेदावत्सरायेद्वत्सराय वत्सराय कृणुते बृहन्नमः । तेषां वयꣳ सुमतौ यज्ञियानां ज्योग्जीता अहताः स्याम स्वाहा । इदं संवत्सराय परिवत्सरायेदावत्सरायेद्वत्सराय वत्सराय च० ३ ॥ ग्रीष्मो हेमन्त उतनो वसन्तः शिवा वर्षा अभया शरन्नः । तेषामृतूनाꣳ शतशारदानां निवात एषामभये वसेम स्वाहा । इदं ग्रीष्माय हेमन्ताय वसन्ताय वर्षाभ्यः शरदे च० ४ ॥ ततः स्थालीपाकेन चतस्र आहुतीर्जुहोति । तद्यथा—सोमाय स्वाहा इदं सोमाय० मृगशिरसे स्वाहा इदं मृगशिरसे० । मार्गशीर्ष्यै पौर्णमास्यै स्वाहा इदं मार्गशीर्ष्यै पौर्णमास्यै० । हेमन्ताय स्वाहा इदं हेमन्ताय० । ततः स्थालीपाकेन स्विष्टकृतं हुत्वा महाव्याहृत्यादिदक्षिणादानान्ते सक्तुशेषं शूर्पे न्युप्योपनिष्क्रमणप्रभृतिमार्जनपर्यन्तं श्रवणाकर्मवत्कृत्वा मार्जनान्ते उत्सृष्टो बलिरित्युच्चैर्ब्रूयात् । ततस्तां रात्रीं वत्सान् स्वमातृभिः सह संसृजेत् । इत्याग्रहायणीकर्म ॥

अथ स्रस्तरारोहणम् । तत्र प्रथमप्रयोगे मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकश्राद्धं विधाय स्रस्तरास्तरणप्रदेशगृहे सर्वमावसथ्याग्निं नीत्वा पञ्चभूसंस्कारपूर्वकं स्थापयित्वा अग्नेः पश्चिमायां दिशि कुशैः स्रस्तरास्तरणं कुर्यात् । स्रस्तरास्तरणमग्निशालाया गृहान्तरे युज्यते । अग्निशालायामौपवसथ्यरात्रिमन्तरेण शयननिषेधात् । तस्योपरि नूतनं सकृत्प्रक्षालितमुदग्दशं वासः संस्तरेत् । अग्निं दक्षिणेन ब्रह्माणमुपवेश्य उत्तरत उदपात्रं शमीशाखां सीतालोष्ठमश्मानं च निधाय स्रस्तरपश्चिमतः स्वामी स्थित्वा तमुत्तरेण पत्नी तामुत्तरेणापत्यानि यथाकनिष्ठम् । तत्र गृहपतिरग्निमीक्षमाणो जपति

अयमग्निर्वीरतमोऽयं भगवत्तमः सहस्रसातमः सुवीर्योऽयᳯश्रैष्ठचे दधातु नावित्येतं मन्त्रम् । ततः पश्चादग्नेः प्राञ्चमञ्जलिं करोति । दैवीं नाव६ स्वरित्रामनागसमित्यादिमध्वारजाᳯसिसुक्रतू इत्यन्ताभिस्तिसृभिऋग्भिः ।

ततो ब्रह्मन् प्रत्यवरोहामेति ब्रह्माणमामन्त्र्य प्रत्यवरोहध्वमिति ब्रह्मणा प्रत्यनुज्ञाताः सर्वे स्नाताः अहतवासस आयुः कीर्तिर्यशो बलमन्नाद्यं प्रजामित्यनेन मन्त्रेण स्रस्तरमारोहन्त्यधितिष्ठन्ति स्त्रियोऽपि मन्त्रेण । तमारुह्य तेषु ये उपनीतास्ते सुहेमन्तः सुवसन्तः सुग्रीष्मः प्रतिधीयतान्नः । शिवा नो वर्षाः सन्तु शरदः सन्तु शिवा इत्यमुं मन्त्रं जपन्ति । अथ स्योना पृथिवीत्यनयर्चा स्वामिप्रभृतयः स्त्रिय उपनीता अनुपनीताश्च सर्वे यथोक्तक्रमेण दक्षिणपार्श्वैः प्राक्शिरसः संविशन्ति स्वपन्ति । तत उदायुषा स्वायुषोत् पर्जन्यस्य वृष्टचा पृथिव्याः सप्तधामभिरित्यनेन मन्त्रेणोत्तिष्ठन्ति सर्वे । ततः स्रस्तरादुत्तीर्य ब्रह्मानुमन्त्रणप्रत्यवरोहणोपेतजपसंवेशनोत्थानानि वारद्वयमेव कुर्युः ।

तत आरभ्य चतुरो मासान् सर्वेऽधः शयीरन् कामतो वा शय्यायाम् । पुनरावसथ्यं पञ्चभूसंस्कारपूर्वकं स्वस्थाने स्थापयेत् । इति स्रस्तरारोहणम् । मुख्यकाले यदावश्यं कर्म कर्तुं न शक्यते । गौणकालेऽपि कर्तव्यं गौणोऽप्यत्रेदृशो भवेत् ॥ १ ॥ आ सायमाहुतेः कालात्कालोऽस्ति प्रातराहुतेः । प्रातराहुतिकालात्प्राक् कालः स्यात्सायमाहुतेः ॥२॥ पौर्णमासस्य कालोऽस्ति पुरा दर्शस्य कालतः । पौर्णमासस्य कालात्प्राक् दर्शकालोऽपि विद्यते ॥ ३ ॥ वैश्वदेवस्य कालोऽस्ति प्राक् प्रघासविधानतः । प्रघासानां च कालः स्यात्साकमेधीयकालतः ॥ ४ ॥ स्यात्साकमेधकालोऽप्या शुनासीरीयकालतः । शुनासीरीयकालोऽपि आ वैश्वदेवकालतः ॥ ५ ॥ श्यामाकैर्व्रीहिभिश्चैव यवैरन्योन्यकालतः । प्राग्यष्टुं युज्यतेऽवश्यं न त्वत्राग्रयणात्परः ॥ ६ ॥ दक्षिणायनकाले वा पशिवज्या चोत्तरायणे । अन्योन्यकालतः पूर्वं यष्टुं युक्ते उभे अपि ॥ ७ ॥ एवमागामियागीयमुख्यकालदधस्तनः । स्वकालादुत्तरो गौणः कालः पूर्वस्य कर्मणः ॥ ८ ॥ यद्वाऽऽगामिक्रियामुख्यकालस्याप्यन्तरालवत् । गौणकालस्तमिच्छन्ति केचित्प्राक्तनकर्मणि ॥ ९ ॥ गौणेष्वेतेषु कालेषु कर्म चोदितमाचरेत् । प्रायश्चित्तप्रकरणे प्रोक्तां निष्कृतिमाचरेत् ॥१०॥ प्रायश्चित्तमकृत्वाऽपि गौणकाले समाचरेत् । नित्येष्टिमग्निहोत्रं च भारद्वाजीयभाष्यतः ॥ ११ ॥ मुख्यकाले हि मुख्यं चेत्साधनं नैव लभ्यते । तत्कालद्रव्ययोः कस्य मुख्यत्वं गौणताऽपि वा ॥ १२ ॥ मुख्यकालमुपाश्रित्य गौणमप्यस्तु साधनम् । मुख्यद्रव्यलोभेन गौणकालप्रतीक्षणम् ॥ १३ ॥ एकपक्षगतो यावान् होमसङ्घो विपद्यते । पक्षहोमविधानान्तं हुत्वा तन्तुमतीं यजेत् ॥ १४ ॥

अनुवाद—इसके बाद चार महीने तक धरती पर सोये अथवा इच्छानुसार पलंग पर भी सोये ।

टिप्पणी—इस कण्डिका में आग्रहायणी कर्म की विधि का वर्णन केवल पाँचवें मंत्र तक ही है । इसके बाद तो स्रस्तरारोहण कर्म का ही निष्पादन हुआ है ।

तृतीयकाण्ड में द्वितीय कण्डिका समाप्त ॥

तृतीया कण्डिका

ऊर्ध्वमाग्रहायण्यास्तिस्रोऽष्टकाः ॥ ३।३।१ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'ऊर्ध्वं···ऽष्टकाः' । ऊर्ध्वमुपरि आग्रहायण्याः मार्गशीर्ष्याः पूर्णिमायाः तिस्रः अष्टकाः त्रीणि अष्टकाख्यानि कर्माणि भवन्ति । तानि च सकृत् संस्कारकर्मत्वात् । कुतः ? संस्कारकर्मतेति चेत् सुमन्तुगौतमादिभिः 'अष्टकाः पार्वणः श्राद्धं श्रावण्याग्रहायणी चैत्र्याश्वयुजीति पाकयज्ञसंस्थाः' इत्यादिना अष्टकादीनां संस्कारत्वेन स्मरणात् । ननु संस्कारकर्मणामपि पञ्चमहायज्ञपार्वणस्थालीपाकपार्वण-श्राद्धानां कुतोऽसकृत्करणम् । अभ्यासश्रवणात् । तथाहि अहरहः स्वाहा कुर्यादाकाष्ठा-दित्यादिना पञ्चमहायज्ञादीनां मासि मासि वोशनमिति श्राद्धस्य पक्षादिष्विति बहु-वचनात् स्थालीपाकस्य । न तथाऽष्टकानामभ्यासः श्रूयते येन ताः पुनः पुनरनुष्ठीयेरन् । एवञ्च सति चत्वारिंशत्संस्कारकर्मणां मध्ये येषामभ्यासः श्रूयते तान्यसकृद्भवन्ति इत-राणि तु सकृदिति निर्णयः ॥ ३।३।१ ॥

अनुवाद—अगहन की पूर्णिमा के बाद उसी से सम्बद्ध तीन अष्टका नामक श्राद्ध-कर्म होते हैं ।

ऐन्द्री वैश्वदेवी प्राजापत्या पित्र्येति ॥ ३।३।२ ॥

अपूपमांसशाकैर्यथासङ्ख्यम् ॥ ३।३।३ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'ऐन्द्री···सङ्ख्यम्' । एवमष्टकाकर्माणि कर्तव्यत्वेनाभिधाय तत्र च द्रव्यदेवतापेक्षायां द्रव्याणि देवताश्चाभिधत्ते । तत्र प्रथमा ऐन्द्री इन्द्रो देवता अस्या इति ऐन्द्री इन्द्रदैवत्येत्यर्थः । द्वितीया वैश्वदेवी विश्वेदेवा देवता अस्या इति वैश्वदेवी विश्वेदेवदैवत्येत्यर्थः । तृतीया प्राजापत्या प्रजापतिर्देवता अस्या इति प्राजापत्या प्रजापतिदैवत्येति यावत् । चतुर्थी पित्र्या पितरो देवता अस्या इति पित्र्या पितृदैवत्येत्यर्थः । अपूपश्च मांसं च शाकश्च अपूपमांसशाकास्तैः अपूपमांसशाकैः यथासङ्ख्यं यस्याः या यथासङ्ख्या तामनतिक्रम्य यथासङ्ख्यं यजेतेत्यध्याहारः । एतदुक्तं भवति प्रथमायामपूपेनेन्द्रं यजेत द्वितीयायां मध्यमागवेति वक्ष्यमाणत्वात् गोमांसेन विश्वान् देवान् तृतीयायां शाकेन प्रजापतिमिति । अत्र तिस्र उपक्रम्य पित्र्येत्यनेन चतुर्थ्या अभिधानमयुक्तमिति चेत् न । उपक्रान्तानां तिसृणां देवताभिधानावसरे चतुर्थ्या अपि देवताया आचार्यस्य बुद्धिस्थत्वात् तदभिधानं न दोषः । अत्राष्टकाशब्दः कर्मवचनोऽपि कालोपलक्षकः । यथा वार्त्रघ्नी पौर्णमासी वृधन्वती अमावास्येत्यत्र कर्माभिधायकौ पौर्णमास्यमावास्याशब्दौ कालस्याप्युपलक्षकौ । अन्यथा आग्रहायण्या ऊर्ध्वं तिस्रोऽष्टका इत्यनेन प्रतिपद्येवाष्टकाकर्मप्राप्तिः स्यात् । तस्मादष्टकाशब्देन अष्टम्युपलक्ष्यते । तथा च श्रुतिः । द्वादशपौर्णमास्यो द्वादशाष्टका द्वादशामावास्या इति । आश्वलायनस्मृतिश्च । हेमन्तशिशिरयोश्चतुर्णामपरपक्षाणामष्टमीष्वष्टका इति ॥ ३।३।२-३ ॥

अनुवाद—इन्द्रदेवता वाली, विश्वेदेवदेवता वाली, प्रजापतिदेवता वाली तथा पितृदेवता वाली चार अष्टकाएँ होती हैं। इनका पुए, मांस और शाक से यजन करे।

टिप्पणी—ऐन्द्री अष्टका पौषकृष्ण अष्टमी को, विश्वेदेवदेवी अष्टका माघ-कृष्ण अष्टमी को, प्राजापत्या फाल्गुनकृष्ण अष्टमी को, पितृया चैत्रकृष्ण अष्टमी को करनी चाहिए। चालीस संस्कारों में से जिसकी आवृत्ति है; जैसे अष्टका की, उसे उतनी बार करे, शेष कर्म एक-एक बार करे। बुद्धिस्थ होने से चतुर्थ अष्टका का भी कथन किया जाय।

प्रथमाऽष्टका पक्षाष्टम्याम् ॥ ३।३।४ ॥

स्थालीपाकꣳ श्रपयित्वाऽऽज्यभागाविष्ट्वाऽऽज्याहुतीर्जुहोति—

१. त्रिꣳशत्स्वसार उपयन्ति निष्कृतꣳ समानं केतुं प्रतिमुञ्चमानाः।
ऋतूँस्तन्वते कवयः प्रजानतीर्मध्ये छन्दसः परियन्ति भास्वतीः स्वाहा ॥

२. ज्योतिष्मती प्रतिमुञ्चते नभो रात्री देवी सूर्यस्य व्रतानि।
विपश्यन्ति पशवो जायमाना नानारूपा मातुरस्या उपस्थे स्वाहा ॥

३. एकाष्टका तपसा तप्यमाना जजान गर्भं महिमानमिन्द्रम्।
तेन दस्यून्व्यसहन्त देवा हन्ताऽसुराणामभवच्छचीभिः स्वाहा ॥

४. अनानुजामनुजां मामकर्त्त सत्यं वदन्त्यन्विच्छ एतत्।
भूयासमस्य सुमतौ यथा यूयमन्यावो अन्यामति मा प्रयुक्त स्वाहा ॥

५. अभून्मम सुमतौ विश्ववेदा आष्ट प्रतिष्ठामविदद्धि गाधम्।
भूयासमस्य सुमतौ यथा यूयमन्यावो अन्यामति मा प्रयुक्त स्वाहा ॥

६. पञ्च व्युष्टीरनु पञ्चदोहा गां पञ्चनाम्नीमृतवोऽनुपञ्च।
पञ्च दिशः पञ्चदशेन क्लृप्ताः समानमूर्ध्नीरधिलोकमेकꣳ स्वाहा ॥

७. ऋतस्य गर्भः प्रथमा व्यूषिष्यपामेका महिमानं बिभर्त्ति।
सूर्यस्यैका चरति निष्कृतेषु घर्मस्यैका सवितैकान्नियच्छतु स्वाहा ॥

८. या प्रथमा व्यौच्छत्सा धेनुरभवद्यमे।
सा नः पयस्वती धुक्ष्वोत्तरामुत्तराꣳ समाꣳ स्वाहा ॥

९. शुक्रऋषभा नभसा ज्योतिषागाद्विश्वरूपा शबली अग्निकेतुः।
समानमर्थꣳ स्वपस्यमाना बिभ्रती जरामजर उष आगाः स्वाहा ॥

१०. ऋतूनां पत्नी प्रथमेयमागादह्नां नेत्री जनित्री प्रजानाम्।
एका सती बहुधोषो व्यौच्छत्साऽजीर्णा त्वं जरयसि सर्वमन्यत्स्वाहेति ॥

(हरिहरभाष्यम्)—एवमष्टकाकर्मसु द्रव्यदेवते अभिधायेदानीमुद्देशक्रमेण तदि-तिकर्तव्यतामाह—'प्रथ'''होति'। त्रिꣳशत्स्वसार इत्यादि। प्रथमा आद्या अष्टका अष्टकाख्यं कर्म भवतीति शेषः। कदा ? पक्षाष्टम्याम्। अत्र सौरादिभेदेन मासानामनेक-त्वादष्टम्योऽप्यनेका इति किं माससम्बन्धिन्यामष्टम्यामष्टकानामधेयं कर्मेति सन्देहापत्तौ

पक्षाष्टम्यामित्याह। पक्षेऽपरपक्षे पौर्णमास्या ऊर्ध्वमिति वचनसामर्थ्यात् पक्षाष्टमी कृष्णाष्टमी न पुनः सौरसावननाक्षत्रमाससम्बन्धिनी तेषां शुक्लकृष्णपक्षत्वाभावात्। तस्यां पक्षाष्टम्याम्। कथं ? स्थालीपाकं चरुं श्रपयित्वा उक्तविधिना संसाध्य आज्यभागौ आहुतिविशेषौ हुत्वा दशाज्याहुतीः त्रिꣳशत्स्वसार इत्यादिभिर्दशभिर्मन्त्रैः प्रतिमन्त्रं जुहोति ॥ ३।३।४-५ ॥

अनुवाद—कृष्णपक्ष की अष्टमी तिथि को पहली अष्टका का अनुष्ठान करना चाहिए। तत्पश्चात् स्थालीपाक बनाकर अग्नि और सोम की आहुतियाँ डालकर 'त्रिꣳशत्स्वसार····' इत्यादि दस मंत्रों को पढ़कर घी की दस आहुतियाँ डाले।

(१) **मंत्रार्थ**—(ऋषि प्रजापति, छन्द त्रिष्टुप्, देवता लिङ्गोक्त।) अष्टका अधिष्ठित देवी की तिथिरूपा तीस बहनें हैं। वे शुद्धस्वरूप धारण कर ऋतुओं का विस्तार करती हुई हविष्यान्न ग्रहण करने के लिए अष्टका के पास आती हैं। ये सभी क्रान्तदर्शिनी हैं, इन्हें अतीत का ज्ञान है। ये तेजोमयी हैं। ये संवत्सर को आच्छादित करती हैं।

(२) **मंत्रार्थ**—(ऋष्यादि पूर्वोक्त।) नक्षत्रों से सुशोभित ज्योतिर्मयी, कान्तिमयी दानादि गुणयुक्त रात्रि को मैं नमस्कार करता हूँ। ये आकाशमंडल को आच्छादित कर दिन के कर्मों को भी नहीं होने देती। रात में अनेक पशु-समुदाय मातृस्वरूपा धरती पर खड़े होकर ऊपर के क्रिया-कलापों को विशेष रूप से देखते रहते हैं।

(३) **मंत्रार्थ**—(ऋष्यादि पूर्वोक्त।) चौथी अष्टका ने अपनी तपःपूत काया से परमप्रतापी ऐश्वर्यवान् इन्द्र को जन्म दिया। उसी इन्द्र की छत्रछाया में संगठित होकर देवताओं ने असुरों का विनाश किया। अतः अपने कर्मों से इन्द्र दैत्यहन्ता कहलाए।

(४) **मंत्रार्थ**—(ऋष्यादि पूर्वोक्त।) ओ रात की देवियो ! हम चारों अष्टकाएँ यह सत्य कहती हैं कि तुम हमसे छोटी हो। फिर भी तुमने हमें श्रेष्ठता प्रदान की है। हम सभी इसे स्वीकार करते हैं। हम-तुम सभी एकजुट होकर इस यजमान को श्रेष्ठ बुद्धि प्रदान करें। तुम्हारे बीच की कोई रात इस यजमान के किसी अनुष्ठान को खण्डित न करे। वे सभी एक साथ मिलकर प्रेमपूर्वक इस यजमान के सम्पूर्ण अनुष्ठान में उसे सिद्धि दें।

(५) **मंत्रार्थ**—(ऋष्यादि पूर्वोक्त।) ओ बहनो ! मेरी सुमति के निर्देशन में रहते हुए यह यजमान सम्पूर्ण धन, ज्ञान, प्रतिष्ठा, प्रगति और अपने निश्चित ध्येय को प्राप्त करे।

(६) **मंत्रार्थ**—(ऋष्यादि पूर्वोक्त।) इस यजमान को पाँच तरह के अधिकार देनेवाली पाँच रातें उषा की अनुगामिनी हैं। इस धरती पर हमारे यजमान के मंगल हेतु संवत्सररूपा पाँच नामों वाली गायें हैं और पाँच ऋतुएँ उनके बछड़ों जैसी हैं। इनके अतिरिक्त आदित्य रूप के समान मस्तक वाली पन्द्रह यज्ञों की शक्ति से समन्वित पाँच दिशाएँ हैं।

टिप्पणी—पाँच गायों के नाम—संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, इदवत्सर, वत्सर अथवा नन्दा, भद्रा, सुरभि, सुशीला और सुमना। पाँच दिशाओं के नाम—पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण तथा ऊर्ध्व।

(७) मंत्रार्थ—(ऋष्यादि पूर्वोक्त।) एक रात यज्ञ, सत्य और वेद का संरक्षण करती है। दूसरी रात चन्द्रोदय के रूप में अन्धकार को दूर हटाकर जल की महिमा का बखान करती है। सूर्य के अस्त होने के बाद तीसरी आती है और चौथी धूप ढलते ही तैयार होती है। भगवान् भुवनभास्कर उसी एक रात को सुखद बना दें ताकि अन्य रातें स्वयं सुखद हो जायें।

(८) मंत्रार्थ—(छन्द अनुष्टुप्।) यमराज ने जब पहली गाय को अपने पाश मे बाँधा तब वह गाय बन गई। वही पयस्विनी गौ सारी जिन्दगी हमें हमारी अभिलषित वस्तु प्रदान कर हमारे मनोरथों की सिद्धि प्रदान करे।

(९) मन्त्रार्थ—(ऋष्यादि पूर्वोक्त।) हे चिरतरुणी उषे! तुम सबके लिए समान रूप से हितसाधिका हो, जो व्यक्ति उषःकाल में जागता है, उसे यह उषा देवी दीर्घायु प्रदान करती है। यह कान्तिपूर्णा, वृष्टिमयी, श्रेष्ठ और बहुविधरूप सजाने वाली है। वह आकाश के तेजोमय प्रदीप्त नक्षत्रों के साथ आई है। उषःकाल में होनेंवाले यज्ञों की अग्निशिखा उसे प्रदीप्त करती है।

(१०) मन्त्रार्थ—(ऋष्यादि पूर्वोक्त।) ऋतुओं की पालनकर्त्री हे उषस्! तुम दिन का आविर्भाव करने वाली हो। प्रसुप्त जन-जीवन में तुम जागरण का मंत्र फूंकती हो। तुम अकेली हो, फिर भी सम्पूर्ण विश्व के अनेक पदार्थों को प्रोद्भासित करती हो। तुम स्वयं सदा युवती हो, परन्तु संसार के सभी प्राणियों को वृद्धावस्था तक निर्दुष्ट जीवन प्रदान करती हो।

स्थालीपाकस्य जुहोति—

शान्ता पृथिवी शिवमन्तरिक्षꣳ शन्नो द्यौरभयं कृणोतु।
शन्नो दिशः प्रदिश आदिशो नोऽहोरात्रे कृणुतं दीर्घमायुर्व्यश्नवै स्वाहा॥
आपो मरीचीः परिपान्तु सर्वतो धाता समुद्रो अपहन्तु पापम्।
भूतं भविष्यदकृन्तद् विश्वमस्तु मे ब्रह्माभिगुप्तः सुरक्षितः स्याꣳ स्वाहा॥
विश्वे आदित्या वसवश्च देवा रुद्रा गोप्तारो मरुतश्च सन्तु।
ऊर्जं प्रजाममृतं दीर्घमायुः प्रजापतिर्मयि परमेष्ठी दधातु नः स्वाहेति च॥

अष्टकायै स्वाहेति॥ ३।३।७॥

मध्यमा गवा॥ ३।३।८॥

(हरिहरभाष्यम्)—'स्थाली'''शान्ता पृथिवीत्यादि'। स्थालीपाकस्य चरोर्जुहोति शान्ता पृथिवीत्यादिभिश्चतुर्भिर्मन्त्रैश्चतस्र आहुतीर्जुहोति प्रतिमन्त्रम्। अत्र ऐन्द्री प्रथमाऽष्टकेति प्राधान्यमिन्द्रस्योक्तम्। अपूपेत्यनेन हविषः। यागावसरश्च नोक्तः सूत्र-

कृता, अतः सन्देहः कुत्र क्रियतामिति । किन्तावत्प्राप्तं साधनत्वात्प्रधानत्वादाज्यभागानन्तरं क्रियतामिति । न । तत्र आज्यभागाविष्ट्वाऽऽज्याहुतीर्जुहोतीति सूत्रकृताऽऽज्याहुतिविधानात् । तर्हि तदन्तेऽस्तु । न । तत्रापि स्थालीपाकस्य जुहोतीत्याज्यहोमानन्तरं स्थालीपाकहोमविधानात् । तस्मादनन्तरमेव युज्यते । ततः अपूपेन इन्द्राय स्वाहेत्येकामाहुतिं जुहुयात् । एवमुत्तरत्रापि । एवं प्रथमाष्टकेतिकर्तव्यतामनुविधायाधुना इयमेवोत्तरास्वप्यष्टकास्वितिकर्तव्यता इत्यभिप्रेत्य एतासां विशेषमात्रमनुविधत्ते मध्यमागवेत्यादिभिः सूत्रैः । मध्यमा तिसृणां द्वितीयेत्यर्थः । सा च गवा गोपशुना कर्तव्या इति सूत्रशेषः । अत्राचार्येण यद्यपि गोपशुरुक्तस्तथापि 'अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं धर्ममप्याचरेन्न तु' इति स्मरणात्, तथा 'देवरेण सुतोत्पत्तिर्वानप्रस्थाश्रमग्रहः । दत्ताक्षतायाः कन्यायाः पुनर्दानं परस्य च ॥ समुद्रयानंस्वीकारः कमण्डलुविधारणम् । महाप्रस्थानगमनं गोपशुश्च सुराग्रहः ॥ अग्निहोत्रहवण्याश्च लेहो लीढापरिग्रहः । असवर्णासु कन्यासु विवाहश्च द्विजातिषु ॥ वृत्तस्वाध्यायसापेक्षमघसङ्कोचनं तथा । अस्थिसञ्चयनादूर्ध्वमङ्गस्पर्शनमेव च ॥ प्रायश्चित्ताभिधानं च विप्राणां मरणान्तिकम् । संसर्गदोषः पापेषु मधुपर्के पशोर्वधः ॥ दत्तौरसेतरेषां तु पुत्रत्वेन परिग्रहः । शामित्रं चैव विप्राणां सोमविक्रयणं तथा ॥ दीर्घकालं ब्रह्मचर्यं नरमेधाश्वमेधकौ । कलौ युगे त्विमान्धर्मान् वर्ज्यानाहुर्मनीषिणः ॥' इति स्मरणात् । गोपशोरस्वर्ग्यत्वाल्लोकविद्विष्टत्वात्कलौ विशेषतो वर्जनीयत्वाच्च न गवालम्भः कर्तव्यः । किं तु अनिषिद्धपश्वन्तरेणावश्यकर्तव्याष्टकादिकर्म निर्वर्त्तनीयम् ॥ ३।३।६-८ ॥

अनुवाद—स्थालीपाक पकाकर इसके बाद 'शान्ता पृथिवी...' इत्यादि मन्त्र पढ़कर तीन आहुतियाँ डाले । तत्पश्चात् 'अष्टकायै स्वाहा' यह मंत्र पढकर चौथी आहुति डालनी चाहिए । यह मध्यमा अष्टका गौ से सम्पन्न होनी चाहिए ।

टिप्पणी—'मध्यमा गवा' कहकर पारस्कर ने स्पष्ट रूप से यहाँ गोमांस का विधान किया है । किन्तु यह प्रक्रिया लोकाचार के विरुद्ध होने के कारण अमान्य है । इस समस्या का समाधान करते हुए हरिहर ने यह कहा है कि गवालम्भन न कर किसी अन्य अनिन्दित पशु के मांस से अष्टका-कर्म सम्पन्न करना चाहिए—

'गोपशोरस्वर्ग्यत्वाल्लोकविद्विष्टत्वात्कलौ विशेषतो वर्जनीयत्वाच्च न गवालम्भः कर्त्तव्यः । किन्तु अनिषिद्धपश्वन्तरेणावश्यकर्तव्याष्टकादिकर्म निर्वर्तनीयम् ।'

विश्वनाथ ने भी गोमांस की जगह छागमांस को विहित माना है । यदि छाग न मिले या यजमान को किसी तरह के मांस से आपत्ति हो तो विश्वनाथ की दृष्टि में केवल चरु से भी यह कार्य सम्पन्न हो सकता है । इससे पूर्व भी पारस्कर ने गवालम्भन' शब्द का प्रयोग किया है । इससे यह सिद्ध होता है कि पारस्कर के युग में भी गोमांस की प्रथा थी ।

तस्यै वपां जुहोति—वह वपां जातवेदः पितृभ्य इति ॥ ३।३।९ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'तस्यै...पितृभ्य इति' । 'तस्यै इति षष्ठीस्थाने चतुर्थी । तस्याः गोर्वपां वहवपामित्यनेन मन्त्रेण जुहोति पुनर्विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहेत्यवदानानि

जुहोति। शेषं पशुकल्पं पशुश्चेदाप्लाव्येत्यादिना उपरिष्टाद्वक्ष्यति। रूपं कालोऽनु- निर्वापः श्रपणं देवता तथा। आदौ ये विधृताः पक्षास्त इमे सर्वदा स्मृताः॥ इत्येतस्य संहितासु अदर्शनात्। समूलत्वे त्वनुनिर्वापादिसमभिव्याहारेण श्रौतमात्रविषयत्वात्। वस्तुतस्तु नान्यस्य तन्त्रे प्रततेऽन्यस्य तन्त्रं प्रतीयत इति प्रायिकम्, सान्तपनीयाधि- करणेऽन्यतन्त्रमध्येऽग्निहोत्रदर्शनात्॥ ३।३।९॥

अनुवाद—'वपां…' इत्यादि मंत्र पढ़कर गौ की वपा (चर्बी) से होम करे।

अथ अन्वष्टका

श्वोऽन्वष्टकासु सर्वासां पार्श्वसक्थिसव्याभ्यां परिवृते पिण्डपितृ- यज्ञवत्॥ ३।३।१०॥

(हरिहरभाष्यम्)—'श्वोऽन्व…ज्ञवत्'। श्वः अष्टम्यामुत्तरेद्युः अन्वष्टकासु अष्टका अनु पश्चाद्भवन्तीत्यन्वष्टकाः तासु सर्वासां चतसृणामष्टकानां कर्म. भवतीति शेषः। केन द्रव्येणेत्यत आह—पार्श्वसक्थिसव्याभ्याम्। पार्श्वं च सक्थि च पार्श्व- सक्थिनी ते च सव्ये च पार्श्वसक्थिसव्ये ताभ्यां पार्श्वसक्थिसव्याभ्याम्। अत्र तुल्या- धिकरणविशेषणीभूतस्य सव्यशब्दस्योत्तरपदत्वं छान्दसम्। परिवृते सर्वतः प्रच्छादिते आवसथ्याग्निसदने। इतिकर्तव्यतापेक्षायामाह पिण्डपितृयज्ञवत्। अपराह्णे पिण्डपितृयज्ञ इत्याद्युक्तपिण्डपितृयज्ञविधिना॥ ३।३।१०॥

अनुवाद—दूसरे दिन नवमी को पिण्डपितृयज्ञ की तरह बाद में होने वाली सभी अष्टकाओं का अनुष्ठान पार्श्व और सक्थि; सव्य (पशुओं) के मांस से बिलकुल ढँकी जगह में करना चाहिए।

स्त्रीभ्यश्चोपसेचनञ्च कर्षूषु सुरया तर्पणेन चाञ्जनानुलेपनꣳ स्रजश्च॥ ३।३।११॥

(हरिहरभाष्यम्)—'स्त्रीभ्यश्च'। पिण्डपितृयज्ञवत् इत्यनेन पितृपितामहप्रपिता- महानामेव पिण्डदानं प्राप्तं ततोऽधिकमुच्यते स्त्रीभ्यः मातृपितामहीप्रपितामहीभ्यः पिण्डान्दद्यादिति चकारेण समुच्चीयते। अत्र सामान्योऽपि स्त्रीशब्दः पित्रादिसन्निधानात् मात्रादिपरोऽवसीयते। 'उप…स्रजश्च'। न केवलं स्त्रीभ्यः पिण्डान्दद्यात् किं तु उपसेचनं च कुर्यात्। कया? सुरया मद्येन। कासु? कर्षूषु अवटेषु न केवलं सुरया तर्पणेन च तर्पयत्यनेनेति तर्पणसाधनं सक्त्वादि तेन। चकार उपसेचनक्रियासमुच्चयार्थः करणाधि- करणयोश्चेति ल्युडन्तोऽत्र तर्पणशब्दः। त्रैककुदं सौवीराञ्जनमिति प्रसिद्धं तदलाभे लौकिकं कज्जलम् अनुलेपनं सुगन्धिद्रव्यं चन्दनादि, स्रजः अप्रतिषिद्धसुरभिपुष्पमालाः। चकारो दद्यादिति क्रियासमुच्चयार्थः॥ ३।३।११॥

अनुवाद—स्त्रियों अर्थात् माँ, दादी और परदादी को भी पिण्डदान करना चाहिए। इनके पिण्डदान में सुरा और सत्तू भी अर्पित किये जायें। सुरा किसी बर्त्तन में दी जाय। काजल और मालाएँ भी दी जायें।

आचार्यायान्तेवासिभ्यश्चानपत्येभ्य इच्छन् ॥ ३।३।१२ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'आचा'' च्छन्' । यदि कामयेत तदा आचार्याय अन्तेवासिभ्यश्च शिष्येभ्यः पिण्डान् दद्यात् । यदि ते अनपत्याः स्युः ॥ ३।३।१२ ॥

अनुवाद—इच्छानुसार सन्तान रहित आचार्य एवं शिष्य को भी पिण्डदान किया जा सकता है ।

मध्यावर्षे च तुरीया शाकाष्टका ॥ ३।३।१३ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'मध्या ''काष्टका' । एवमष्टकात्रयं सामान्यतो विशेषतश्चानुविधाय पित्र्येत्युद्देशक्रमप्राप्तां विशेषतश्चतुर्थीमष्टकामाह—मध्या मध्ये वर्षे वृष्टिकाले प्रौष्ठपद्या उर्ध्वमष्टमीत्यर्थः । तुरीया चतुर्थी शाकाष्टका शाकेन कालशाकाख्येन निर्वर्त्या अष्टका शाकाष्टका । इति सूत्रार्थः ॥ ३।३।१३ ॥

अथाष्टकाकर्मपद्धतिः । तत्र मार्गशीर्ष्या उर्ध्वं कृष्णाष्टम्यां मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकश्राद्धं विधाय आवसथ्याग्नौ कर्म कुर्यात् । केषाञ्चिन्मते अष्टकाकर्मसु आभ्युदयिकं नास्ति । नाष्टकासु भवेच्छ्राद्धमिति वचनात् । तत्र ब्रह्मोपवेशनादिप्राशनान्ते विशेषः । तण्डुलानन्तरं पूर्वमौपासनाग्निसिद्धस्यैवापूपस्यासादनं प्रोक्षणं च प्रोक्षणकाले । तत्राज्यभागान्तं कर्म कृत्वा त्रिꣳशत्स्वसार इत्येवमाद्या दशाहुतीर्हुत्वा स्थालीपाकेन शान्ता-पृथिवीत्यादिभिश्चतुर्भिर्मन्त्रैश्चतस्र आहुतीर्हुत्वा अपूपादिन्द्राय स्वाहेत्येकामाहुतिं दत्त्वा स्थालीपाकादपूपाच्च स्विष्टकृते जुहोति ।

तद्यथा आज्यभागानन्तरं 'त्रिꣳशत्स्वसार उपयन्ति निष्कृतꣳसमानं केतुं प्रतिमुञ्चमानाः । ऋतूंस्तन्वते कवयः प्रजानतीर्मध्ये छन्दसः परियन्ति भास्वतीः स्वाहा इदं स्वसृभ्यो० । ज्योतिष्मती प्रतिमुञ्चते नभो रात्री देवी सूर्यस्य व्रतानि । विपश्यन्ति पशवो जायमाना नानारूपा मातुरस्या उपस्थे स्वाहा इदꣳरात्र्यै० । एकाष्टका तपसा तप्यमाना जजान गर्भं महिमानमिन्द्रम् । तेन दस्यून्व्यसहन्त देवा हन्तासुराणामभवच्छचीभिः स्वाहा इदमष्टकायै० । अनानुजामनुजां मामकर्त्त सत्यं वदन्त्यन्विच्छ एतत् । भूयासमस्य सुमतौ यथा यूयमन्या वो अन्यामतिमाप्रयुक्त स्वाहा । इदꣳरात्रीभ्यो० अभून्मम सुमतौ विश्ववेदा आष्ट प्रतिष्ठामविदद्धि गाधम् । भूयासमस्य सुमतौ यथा यूयमन्यावो अन्यामतिमाप्रयुक्त स्वाहा । इदꣳरात्रीभ्यो० । पञ्चव्युष्टीरनुपञ्चदोहा गां पञ्चनाम्नीमृतवोऽनुपञ्च । पञ्चदिशः पञ्चदशेन क्लृप्ताः समानमूर्ध्नीरधिलोकमेकꣳस्वाहा । इदꣳरात्रीभ्यो० । ऋतस्य गर्भः प्रथमा व्युषिष्यपामेका महिमानं बिभर्ति । सूर्यस्यैका चरति निष्कृतेषु घर्मस्यैका सवितैकां नियच्छतु स्वाहा । इदꣳरात्र्यै० । या प्रथमा व्यौच्छत्सा धेनुरभवद्यमे । सा नः पयस्वती धुक्ष्वोत्तरामुत्तराꣳसमाꣳस्वाहा ॥ इदꣳरात्र्यै० ॥ शुक्रऋषभा नभसा ज्योतिषागाद्विश्वरूपा शबलीरग्निकेतुः । समानमर्थꣳस्वपस्यमाना बिभ्रती जरामजर उष आगात्स्वाहा । इदꣳरात्र्यै० । ऋतूनां पत्नी प्रथमेयमागादह्नां नेत्री जनित्री प्रजानाम् । एका सती बहुधोषो व्यौच्छत्सा जीर्णा त्वं जरयसि सर्वमन्यत्स्वाहा । इदꣳरात्र्यै० ॥ १० ॥

अथ स्थालीपाकेनाहुतीश्चतस्रः शान्ता पृथिवीत्यादिभिश्चतुर्भिर्मन्त्रैर्जुहोति प्रतिमन्त्रम् । तद्यथा—शान्ता पृथिवी शिवमन्तरिक्ष९शं नो द्यौरभयं कृणोतु । शं नो दिशः प्रदिश आदिशो नोऽहोरात्रे कृणुतं दीर्घमायुर्व्यश्नवै स्वाहा । इदं पृथिव्यै अन्तरिक्षाय दिवे दिग्भ्यः प्रदिग्भ्य आदिग्भ्योऽहोरात्राभ्यां च० । आपो मरीचीः परिपान्तु सर्वतो धाता समुद्रो अपहन्तु पापम् । भूतं भविष्यदकृन्तद्विश्वमस्तु मे ब्रह्माभिगुप्तः सुरक्षितः स्या९स्वाहा । इदमद्भ्यो मरीचिभ्यो धात्रे समुद्राय ब्रह्मणे च० । विश्वे आदित्या वसवश्च देवा रुद्रा गोप्तारो मरुतश्च सन्तु । ऊर्जं प्रजाममृतं दीर्घमायुः प्रजापतिर्मयि परमेष्ठी दधातु नः स्वाहा । इदं विश्वेभ्य आदित्येभ्यो वसुभ्यो देवेभ्यो रुद्रेभ्यो मरुद्भ्यः प्रजापतये परमेष्ठिने च० । अष्टकायै स्वाहा इदमष्टकायै० । अथ अपूपादेकाहुतिः । इन्द्राय स्वाहा इदमिन्द्राय० । स्थालीपाकादपूपाच्च स्विष्टकृत् ।

ततो महाव्याहृत्यादिप्राजापत्यान्तं होमं विधाय प्राशनादि समापयेत् । श्वोऽन्वष्टकाकर्मावसथ्याग्नावेव । तत्र नित्यवैश्वदेवानन्तरमपराह्णे प्राचीनावीती नीवीबन्धनं कृत्वा दक्षिणामुखः परिवृतेऽग्निसमीपे अग्नेरुत्तरत उपविश्य आग्नेयादिदक्षिणान्तमप्रदक्षिणमग्निं दक्षिणाग्रैः कुशैः परिस्तीर्य अग्नेः पश्चिमतो दक्षिणसंस्थानि पात्राण्येकैकश आसादयति । तद्यथा—स्रुचं चरुस्थालीं वा स्रुक्पक्षे तु स्रुगनन्तरं चरुस्थालीमुदकमाज्यं मेक्षणं स्फ्यमुदपात्रं सकृदाच्छिन्नानि क्रीतयोर्लब्धयोर्वा छागस्य पार्श्वसक्थ्नोर्मांसं सुरां सक्तूनञ्जनमनुलेपनं स्रजः सूत्राणि च । ततः पार्श्वसक्थ्नोर्मांसं श्लक्ष्णमणुशश्छित्वा प्रक्षिप्तासादितोदकायां चरुस्थाल्यां प्रक्षिप्याग्नावधिश्रित्याप्रदक्षिणं मेक्षणेन चालयित्वा श्रृतमांसमासादितेन घृतेनाभिघार्यं दक्षिणत उद्वास्य पूर्वेणाग्निमानीयोत्तरतः स्थापयेत् । ततः सव्यं जान्वाच्य मेक्षणेन मांसमादाय अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहेत्येकामाहुतिं हुत्वा इदमग्नये कव्यवाहनायेति त्यागं विधाय पुनर्मेक्षणेन मांसमादाय सोमाय पितृमते स्वाहेति द्वितीयामाहुतिं हुत्वा इदं सोमाय पितृमत इति त्यागं विधाय मेक्षणमग्नौ प्रास्याग्नेर्दक्षिणतः पश्चाद्वा दक्षिणामुख उपविश्य सव्यं जान्वाच्य भूमिमुपलिप्य तत्र स्फ्येन अपहता असुरारक्षा९सि वेदिषद इति मन्त्रेण लेखां दक्षिणसंस्थामुल्लिख्य तथैव द्वितीयाम् ।

उदकमुपस्पृश्य ये रूपाणीत्युल्मुकं प्रथमलेखाग्रे निधाय तथैव द्वितीयलेखाग्रे । उदकमुपस्पृश्य उदकपात्रमादाय प्रथमलेखायां पितृतीर्थेनामुकसगोत्रास्मत्पितरमुकशर्मन्नवनेनिक्ष्वेत्येवं पितामहप्रपितामहयोरवनेजनं दत्त्वा द्वितीयलेखायामेवमेवामुकसगोत्रेऽस्मन्मातरमुकिदेवि अवनेनिक्ष्वेत्येवं पितामहीप्रपितामह्योरवनेजनं दत्त्वा सकृदुपमूललूनानि दक्षिणाग्राणि बर्हींषि लेखयोरास्तीर्य तत्रावनेजनक्रमेणामुकसगोत्रास्मत्पितरमुकशर्मन्नेतत्ते मांसं स्वधा नम इति मांसपिण्डं दत्त्वा पितामहप्रपितामहयोश्चैवं प्रदायापरलेखायाममुकसगोत्रेऽस्मन्मातरमुकि देवि एतत्ते मांसं स्वधा नम इति मांमपिण्डं दत्त्वा पितामहीप्रपितामह्योरप्येवं पिण्डद्वयं प्रदाय प्रतिपिण्डदानम् इदं पित्रे इदं पितामहाय इदं प्रपितामहाय इदं मात्रे इदं पितामह्यै इदं प्रपितामह्यै इति त्यागान् विधाय इच्छया

स्त्रीपिण्डसमीपेऽवनेजनसकृदाच्छिन्नास्तरणपूर्वकमनपत्येभ्य आचार्यान्तेवासिभ्यश्च यथाक्रमं मांसपिण्डान् दद्यात् । चकारादन्येभ्योऽपि सपिण्डादिभ्यो दद्यात् ।

स्त्रीपिण्डसन्निधौ अवटत्रयं खात्वा तेषु अमुकसगोत्रेऽमुकि देवि सुरां पिबस्वेत्येकत्रावटे सुरां प्रसिच्य तथैव पितामहीप्रपितामह्योरितरयोरवटयोरासिच्य सक्तूनादायामुकसगोत्रेऽमुकि देवि तृप्यस्वेति मातृप्रभृतिभ्यः सक्तून्प्रत्यवटं प्रक्षिप्य ततस्तथैवाञ्जस्वेति मातृप्रभृतिभ्योऽञ्जनं दत्त्वा अनुलिम्पस्वेत्यनुलेपनं च दत्त्वा स्रजोऽपिनह्यस्वेति स्रजो दत्त्वा अत्र पितर इत्यर्द्धर्चं जपित्वा पराङावृत्य वायुं धारयन्नातमनादुदङ्मुख आसित्वा तेनैवावृत्यामीमदन्तेत्यर्द्धर्चं जपित्वा पूर्ववदवनेज्य नीवीं विस्रस्य नमो व इति प्रतिमन्त्रमञ्जलिं करोति । गृहान्न इत्याशिषं प्रार्थ्य एतद्व इति प्रतिपिण्डं सूत्राणि दत्त्वा ऊर्जमिति पिण्डेष्वपो निषिच्य पिण्डानुत्थाप्य उषायामवधायावघ्राय सकृदाच्छिन्नान्यग्नौ प्रास्योल्मुकं प्रक्षिप्योदकं स्पृष्ट्वाऽऽचम्य आन्वष्टक्यं श्राद्धं कुर्यात् । उषा ताम्रमयी मृन्मयी वा । शिल्पिभ्यः स्थपतिभ्यश्च आददीत मतीः सदा । उषा मांससान्नाय्योषा चयनोषा पशूषा पिण्डपितृयज्ञोषा । इति प्रथमाष्टका ॥

पौष्या ऊर्ध्वं कृष्णाष्टम्यां द्वितीयाष्टका वैश्वदेवी । तत्र प्रथमप्रयोगे मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकं श्राद्धं कृत्वा आवसथ्याग्नौ कर्म कुर्यात् । तत्र ब्रह्मोपवेशनं प्रणीताप्रणयनं परिस्तरणं च विधाय पात्राण्यासादयेत् । पवित्रच्छेदनानि पवित्रे द्वे प्रोक्षणीपात्रमाज्यस्थाली द्वे चरुस्थाल्यौ सम्मार्गकुशाः उपयमनकुशाः समिधः स्रुवः आज्यं, काश्मर्यमय्यौ हस्तमात्र्यौ वपाश्रपण्यौ शाखाविशाखे, अष्टका चरुतण्डुलाः हस्तमात्रं वारणं शूलं पशुश्रपणार्थमुषा ताम्रमयी मृन्मयी वा पाशुकचरुतण्डुलाश्चेत्येतानि । अथोपकल्पनीयान्युपकल्पयन्ति । प्लक्षशाखा पलाशशाखा त्रिहस्तप्रमाणा, व्याममात्रा कौशी त्रिगुणरशना, उपाकरणतृणम्, एकं दर्भतरुणं, द्विगुणरशना कौशी व्याममात्री, पशुश्छागः, पात्नेजनी उदकपूर्णा स्थाली, असिः शस्त्रम्, हिरण्यशकलानि षट्, पृषदाज्यार्थं दधि चेति । ततः पवित्रकरणादिप्रोक्षणान्ते विशेषः ।

विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यो जुष्टं प्रोक्षामीति पाशुकचरुतण्डुलानां प्रोक्षणम् । आज्यनिर्वापानन्तरमष्टकाचरुपात्रे तण्डुलान्प्रक्षिप्य पाशुकचरुपात्रे तण्डुलप्रक्षेपं कुर्यात् । ततो ब्रह्माज्यं स्वयमष्टकाचरुम् अन्यः पत्नी वा पाशुकचरुं युगपदग्नौ उदक्संस्थमधिश्रयन्ति । ततः पर्यग्निकरणादि प्रोक्षण्युत्पवनान्तं यजमान एव कुर्यात् । अथाग्नेः पश्चाद्दक्षिणत आरभ्य उदक्संस्थाः प्रागग्राः कुशास्तरणोपरि प्लक्षशाखा आस्तीर्याग्नेः प्रादक्षिण्येन पुरस्ताद् गत्वा पलाशशाखामग्निकुण्डलग्नामुदङ्मुख उपविष्टः वितस्तिमात्रं निखाय त्रिगुणरशनामादाय प्रादक्षिण्येन पलाशशाखां त्रिर्वेष्टयति । अथोपाकरणतृणेन विश्वेभ्यो देवेभ्य उपाकरोमीति पशुमुपाकरोति शरीरे स्पृशति ।

ततो द्विगुणरशनया शृङ्गमध्ये तूष्णीं दक्षिणकर्णाधस्ताद् बध्नाति । ततो विश्वेभ्यो देवेभ्यो नियुनज्मीति पलाशशाखायां पशुं नियुनक्ति । ततः प्रोक्षणीरादाय ब्रह्मन्हविः प्रोक्षिष्यामीति ब्रह्माणमामन्त्र्य ॐ प्रोक्षेति ब्रह्मणाऽनुज्ञातो विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यो जुष्टं प्रोक्षामीति पशुं प्रोक्ष्य प्रोक्षणीजलं पशोरास्ये कृत्वा शेषं पशोरधस्तादुपोक्षति सिञ्चति ।

अथ यथागतमागत्य स्वासने उपविश्योपयमनकुशानादाय समिधोऽभ्याधाय पर्युक्ष्य ब्रह्मणाऽन्वारब्ध आघारौ हुत्वा आज्यलिप्तेन स्रुवेण ललाटे अंसयोः श्रोण्योश्च पशुं समनक्ति अञ्जनं करोति । ततोऽसिमादाय स्रुवेणैव संयोज्यासिस्रुवाग्राभ्यां पशोर्ललाटमुपस्पृशति ।

ततोऽग्नेरुल्मुकमादायोत्थाय प्रदक्षिणं परिगच्छन् पशुमाज्यं शाखामग्निं त्रिःपर्यग्निकृत्वोल्मुकमग्नौ प्रास्य तावत्प्रतिपरीत्याप्रादक्षिण्येनागत्य आस्तृततृणद्वयमादाय पशुं शिरस उन्मुच्य कण्ठे बद्ध्वा पलाशशाखात उन्मुच्य रशनया वामकरेण धृत्वा दक्षिणेन वपाश्रपणीभ्यामन्वारब्धमुदङ्नयति । तत्रैकं तृणं भूमौ धृत्वा तस्मिन्प्रत्यक्शिरसं प्राक्शिरसं वा उदक्पादं पशुं निपात्य स्वासने उपविशति यजमानः । अपरः कश्चिन्मुखं सङ्गृह्य संज्ञपयति । संज्ञप्यमाने यजमानः पूर्णाहुतिवदाज्यं संस्कृत्य स्वाहा देवेभ्य इत्येकामाहुतिं हुत्वा इदं देवेभ्य इति त्यक्त्वा संज्ञप्ते देवेभ्यः स्वाहेति तेनैवाज्येन द्वितीयामाहुतिं हुत्वा इदं देवेभ्य इति त्यक्त्वा अपराः पञ्चाहुतीस्तूष्णीं जुहोति इदं प्रजापतये इति त्यागः पञ्चसु । तत उत्थाय पशुं मोचयित्वा वपाश्रपणीभ्यां नियोजनीं त्यजति ।

ततः पान्नेजनीमादाय पशोः प्राणान्स्वयमेव शुन्धति । तद्यथा—पान्नेजनीजलमादाय मुखं दक्षिणोत्तरे नासिके दक्षिणोत्तरे चक्षुषी दक्षिणोत्तरौ कर्णौ नाभिं मेढ्रं पायुमेकीकृत्य पादांश्च क्रमेण शुन्धति । शेषं पशोः पश्चान्निषिञ्चति । ततः पशुमुत्तानं कृत्वा नाभ्यग्रे उदगग्रं तृणं निधायासिधारया तृणमभिनिधाय छिनत्ति । अथ द्विधाभूतस्य तृणस्य मूलमादाय उभयतो लोहितेनाङ्क्त्वा निरस्य वपामुत्खिदति । ततो वपाश्रपण्यावादाय प्रोर्णोति ततश्छिनत्ति वपां तां च प्रक्षाल्याग्नेरुत्तरतः स्थित्वा प्रतप्य शाखान्योरन्तरेणाहृत्याग्नेर्दक्षिणतः स्थित्वा वपां श्रपयति । श्रप्यमाणां च स्रुवेणाज्यं गृहीत्वाऽभिघार्य प्रत्याहृत्य ब्रह्माणं प्रदक्षिणीकृत्य स्वासने उपविश्य स्रुवेणाज्यं गृहीत्वा वपायां प्राणदानं कृत्वा प्लक्षशाखायामासाद्यालभते ।

ततो ब्रह्मान्वारब्ध आज्यभागौ हुत्वा त्रिंशत्स्वसार इति दशाहुतीरनन्वारब्धो हुत्वा अष्टकाचरुणा शान्तापृथिवीत्यादिचतुर्भिर्मन्त्रैश्चतस्र आहुतीर्हुत्वा वपाहोमाय वामहस्तस्थे स्रुवे आज्यमुपस्तीर्य हिरण्यशकलमवधाय वपां द्विधाऽवदाय गृहीत्वा पुनर्हिरण्यशकलमवधाय द्विरभिघार्य वहवपां जातवेदः पितृभ्य इति प्राचीनावीतिनो दक्षिणामुखस्य वपाहोमः । इदं पितृभ्य इति त्यागः इदं जातवेदस इति वा त्यक्त्वा यज्ञोपवीती भूत्वोदकं स्पृष्ट्वा वपाश्रपण्यौ विपर्यस्ते अग्नौ प्रास्य पशुं विशास्ति । तद्यथा—हृदयं जिह्वां क्रोडं सव्यबाहुं पार्श्वे यकृत् वृक्कौ गुदमध्यं दक्षिणश्रोणिमिति सर्वावदानपक्षे । दक्षिणबाहुं गुदतृतीयाणिष्ठं सव्यश्रोणिमिति त्र्यङ्गानि स्विष्टकृद्द्रव्याणि । यदा त्रीणि तदा हृदयं जिह्वां क्रोडमिति त्रीणि । पञ्चावदानपक्षे हृदयं जिह्वां क्रोडं सव्यबाहुं पार्श्वे इति पञ्चावद्यति खण्डयति । तस्मिन्पक्षे शेषान् स्विष्टकृतेऽवद्यति ।

ततोऽवदानानि प्रक्षाल्य शूलेन हृदयं प्रतर्द्य उषामग्नावधिश्रित्य अवदानानि प्रक्षिपति स्वल्पमुदकं च । ततस्त्रिः प्रच्युते हृदयमुपरि कृत्वा पृषदाज्येन हृदयमभिघार्येतराण्यवदानानि त्र्यङ्गवर्जितानि आज्येनाभिघारयति । अथोषामुद्वास्यावदानान्युद्धृत्य

कस्मिंश्चित्पात्रे हृदयादिक्रमेण उदक्संस्थानि निधाय स्रुवेणाज्यमादाय हृदयादीना त्र्यङ्गवर्जितानां क्रमेण प्राणदानं कृत्वा शाखाग्न्योरन्तरेणाहृत्य प्लक्षशाखासु हृदयादि-क्रमेणोदक्संस्थान्यासादयति। ततस्त्र्यङ्गवर्जितान्यालभते। अथ प्रधानहोमार्थं स्रुवेणा-ज्यमुपस्तीर्य हिरण्यशकलमवधाय हृदयादिभ्यः क्रमेण द्विर्द्विरवदाय स्रुवे क्षिप्त्वा स्थाली-पाकाच्च सकृदवदायोपरि क्षिप्त्वा तदुपरि हिरण्यशकलं दत्त्वा सकृदभिघार्य विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहेति जुहुयात्। इदं विश्वेभ्यो देवेभ्य इति त्यक्त्वा स्विष्टकृदर्थं स्रुवमुपस्तीर्य हिरण्यशकलं दत्त्वा त्र्यङ्गेभ्यो द्विर्द्विरवदाय स्रुवे कृत्वा चरुद्वयाच्च सकृत्सकृदवदाय हिरण्यशकलमवधाय द्विर्द्विरभिघार्य अग्नये स्विष्टकृते स्वाहेति जुहुयात् इदमग्नये स्विष्टकृते इति त्यागः। असर्वावदानपक्षे प्रधानावदानशेषात्स्विष्टकृद्धोम इति विशेषः।

ततो महाव्याहृत्यादिप्राजापत्यान्ता नवाज्याहुतीर्हुत्वा ब्रह्मान्वारब्धो हुत्वा संस्रवं प्राश्य ब्रह्मणे पश्वङ्गं दक्षिणां दद्यात्। ततः स्मृत्यन्तरोक्तं पञ्चविंशतिब्राह्मणभोजनं च दद्यात्। अस्यैव पशोः सव्यपार्श्वसक्थिभ्यामपरदिनेऽन्वष्टकाकर्म पूर्ववत्। माघ्या ऊर्ध्वं कृष्णाष्टम्यां तृतीयाष्टका प्राजापत्या। सा यथा प्रथमाष्टका। तत्र अपूपस्थाने कालशाकचरुं तदग्निसिद्धमेवासादनकाले आसाद्य प्रोक्षणकाले प्रोक्षयेत्। ततोऽपूपयाग-स्थाने प्रजापतये स्वाहेति कालशाकं जुहुयात्। शेषं समानम्। कालशाकालाभे वास्तु-कम्। अन्येद्युः पूर्ववदन्वष्टकाकर्मेति। प्रौष्ठपद्या ऊर्ध्वं कृष्णाष्टम्यां चतुर्थी पित्र्या शाकाष्टका। सा च प्रथमाष्टकावत्। एतावान् विशेषः। चरुस्थालीद्वयं तण्डुलानन्तरं कालशाकमासादयेत्। कालशाकचरुसम्बद्धमासादनादि होमान्तं कर्म प्राचीनावीती दक्षिणामुखः कुर्यात्। अन्यद्यज्ञोपवीती पूर्वाभिमुखः। कालशाकचरुसम्बद्धं कर्म कृत्वोदक-मुपस्पृशेत्। अपूपहोमस्थाने पितृभ्यः स्वाहेति शाकचरोरेकामाहुतिं जुहुयात्। प्रात-रन्वष्टकाकर्म पूर्ववदिति।

अनुवाद—वर्ष के बीच में जब जुताई-बुआई शुरु हो तो चौथी अष्टका शाक से सम्पन्न करनी चाहिए।

तृतीयकाण्ड में तृतीया कण्डिका समाप्त॥

चतुर्थी कण्डिका

शालाकर्म

अथातः शालाकर्म ॥ ३।४।१ ॥

(**हरिहरभाष्यम्**)—'अथा···कर्म'। अथान्वष्टकाकर्मानन्तरं यत आवसथ्याधानादीनि कर्माणि शालाग्निसाध्यान्यनुविहितानि शालाकरणं च नोक्तम् अतो हेतोः शालाकर्म शालाया गृहस्य क्रिया व्याख्यास्यत इति सूत्रशेषः ॥ ३।४।१ ॥

अनुवाद—इसके बाद शालाकर्म की विधि बतलाई जा रही है।

टिप्पणी—बिना गृह के गृहाग्नि की स्थापना असम्भव है।

पुण्याहे शालां कारयेत् ॥ ३।४।२ ॥

(**हरिहरभाष्यम्**)—तद्यथा—'पुण्या···येत्'। पुण्यं शुभं मलमासबालवृद्धास्तमितगुरुशुक्रगुर्वादित्यसिंहस्थगुरुक्षयमासदिनत्र्यहक्रूरग्रहाक्रान्तभुक्तभोग्यनक्षत्रादिदोषरहितं ज्योतिःशास्त्रादिनोक्तगृहारम्भविहितमासपक्षतिथिवारनक्षत्रयोगकरणमुहूर्तचन्द्रताराबललग्नादिगुणान्वितमहः पुण्याहं तस्मिन्पुण्याहे शालां गृहं कारयेत् निर्मापयेत्। पुनः पुण्याहग्रहणं तूदगयनशुक्लपक्षयोरनियमार्थम्। शालां कारयेदित्युक्तम्। तच्च शालाकरणं देशमन्तरेण न सम्भवति इति सामान्यतो देशे प्राप्ते—यन्नाम्नातं स्वशाखायां पारक्यमविरोधि यत्। विद्वद्भिस्तदनुष्ठेयमग्निहोत्रादिकर्मवत् ॥ इति वचनात् पारस्कराचार्येणानुक्तमपि गोभिलगृह्यसूत्रोक्तदेशविशेषमविरोधादपेक्षितत्वाच्चात्र लिखामः। तद्यथा—कीदृशे देशे शालां कारयेत्? समे लोमशे अविभ्रंशिनि प्राचीनप्रवणे उदक्प्रवणे वा अक्षीराक्रण्टकाकटुकौषधिवितते विप्रस्य गौरपांसौ क्षत्रियस्य लोहितपांसौ वैश्यस्य कृष्णपांसौ, वास्तुशास्त्रमते वैश्यस्य पीतपांसौ शूद्रस्य कृष्णपांसौ, स्थिराघाते एकवर्णे अशुष्के अनूषरेऽमरौ मरुर्निर्जलो देशः। अक्लिने ब्रह्मवर्चसकामस्य दर्भयुक्ते बलकामस्य बृहत्तृणयुते पशुकामस्य मृदुतृणयुते शादासम्मिते मण्डलद्वीपसम्मिते वा। स्वयंखातश्च भवति वा। यशस्कामस्य बलकामस्य च प्राग्द्वारां पुत्रपशुकामस्योदग्द्वारां सर्वकामस्य दक्षिणद्वारां प्रत्यग्द्वारां मुख्याद्वारसम्मुखात् द्वाररहितां पूर्वादितः प्रदक्षिणक्रमेणाश्वत्थप्लक्षवटौदुम्बरवृक्षवर्जितां कारयेत् ॥ भवनस्य पूर्वादौ वटौदुम्वराश्वत्थप्लक्षाः सार्वकामिकाः। विपरीतास्त्वसिद्धिदा इति मत्स्यपुराणे। तथा—कण्टकी क्षीरवृक्षश्च आसन्नः सफलो द्रुमः। भार्याहानिं प्रजाहानिं कुर्वन्ति क्रमशस्तथा ॥ नछिन्द्याद्यदि तानन्यानन्तरे स्थापयेच्छुभान्। पुन्नागाशोकबकुलशमीतिलकचम्पकान् ॥ दाडिमी पिप्पली द्राक्षा तथा कुसुममण्डपम्। जम्बीस्पूगपनसद्रुममञ्जरीभिजातीसरोजशतपत्रिकमल्लिकाभिः। पुन्नारिकेलकदलीदलपाटलाभिर्युक्तं तदत्र भवनं श्रियमातनोति ॥ ३।४।२ ॥

अनुवाद—ज्योतिषशास्त्र के अनुसार शुभ नक्षत्र में शिल्पियों द्वारा शालाकर्म का प्रारम्भ करना चाहिए।

तस्या अवटमभिजुहोत्यच्युताय भौमाय स्वाहेति ॥ ३।४।३ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'तस्या···स्वाहेति'। तस्याः शालाया अवटं स्तम्भारोपणार्थं खातमभिमुखेन जुहोति, अच्युताय भौमाय स्वाहेति मन्त्रेण। अत्रावटमित्येकवचनमन्येषां त्रयाणामुपलक्षणार्थं संस्कार्यत्वाविशेषात् ग्रहं सम्मार्ष्टीतिवदेकवचनम्। अवटाश्चत्वारः कुत इति चेत् धवलगृहस्य स्तम्भशालारूपस्य च चतुर्षु कोणेषु चत्वारो मूलस्तम्भा भवन्ति, ते च शिलामुच्छ्रीयन्ते शिलाश्चावटेष्विति चत्वारः। अतश्चतुर्ष कोणेपु आग्नेयादिषु चत्वारोऽवटा भवति तेष्वेवाज्येन होमः ॥ ३।४।३ ॥

अनुवाद—भवन के खम्भे रखने के लिए खोदे हुए गढ़े में 'अच्युताय स्वाहा, भौमाय स्वाहा' ये मन्त्र पढ़कर होम करे।

टिप्पणी—यहाँ खम्भे रखने के लिए चारों कोने पर चार गढ़े होंगे। अवट शब्द यहाँ एकवचन है, किन्तु इनका प्रयोग बहुवचनान्त होना चाहिए। यह होम घी से किया जाता है। भवन निर्माण कैसी जगह पर करना चाहिए? इसके लिए गोभिलगृह्यसूत्र (४०७०१–११) में कुछ निर्देश दिया गया है। तदनुसार धरती चौरस, घसीली, ढलुआँ तथा स्थिर होनी चाहिए। इस पर कँटीले पेड़ न हों, दूधिया पेड़ न हो तथा कड़वी वनस्पतियाँ नहीं होनी चाहिए। ब्राह्मण के लिए सफेद मिट्टी, वैश्य के लिए पीली मिट्टी, क्षत्रिय के लिए लाल मिट्टी और शूद्र के लिए काली मिट्टी वाली जमीन उपयुक्त मानी गई है।

जिन्हें यश की कामना हो वे अपने घर का दरवाजा पूरब की ओर रखें, पुत्र और पशु की कामना रखने वाले उत्तर मुँह दरवाजा रखें और सभी तरह की कामना रखने वाले लोगों को दक्षिण की तरफ दरवाजा रखना चाहिए। पश्चिम की ओर घर का दरवाजा दोषपूर्ण माना गया है। वैसे वर्तमान समय में भी दक्षिण मुँह दरवाजा का निषेध क्रिया जाता है।

भवन के पूरब में पीपल का पेड़ नहीं रहना चाहिए। इससे अग्नि का भय होता है। दक्षिण में पाकड़ के पेड़ से गृहपति की आयु क्षीण होती है। पश्चिम में बरगद का पेड़ हो तो गृहपति को हमेशा शस्त्राघात का भय बना रहता है और उत्तर में यदि गूलर का पेड़ हो तो गृहपति की आँखें बैठ जाती हैं। मत्स्यपुराण में भी इसका उल्लेख है, किन्तु तथ्य का विश्लेषण कुछ भिन्न प्रकार का है। इसके अनुसार घर के पूरब में लगे बरगद या गूलर के पेड़ गृहपति की सारी कामनाएँ पूरी करते हैं। किन्तु यदि यही पेड़ विपरीत दिशा में हो तो इससे कोई लाभ नहीं होता है। घर के पास यदि कँटीले पेड़ या दूध वाले पेड़ हों तो पत्नी तथा पुत्र को हानि पहुँचाते हैं। यदि इन्हें काटना न चाहें तो उसे स्थानान्तरित कर देना चाहिए। अनार, पीपल, छुहारा,

नींबू, सुपारी, कटहल, चमेली, नारियल, केला तथा गुलाब के पोधों से घर की शोभा बढ़ती है।

स्तम्भमुच्छ्रयति—

१. इमामुच्छ्रयामि भुवनस्य नाभिं वसोर्धारां प्रतरणीं वसूनाम्।
इहैव ध्रुवान्निमिनोमि शालां क्षेमे तिष्ठतु घृतमुक्षमाणा॥

२. अश्वावती गोमती सूनृतावत्युच्छ्रयस्व महते सौभगाय।
आत्वा शिशुराक्रन्दत्वा गावो धेनवो वाश्यमानाः॥

३. आत्वा कुमारस्तरुण आवत्सो जगदैः सह। आत्वा परिस्रुतः कुम्भ आदध्नः कलशैरुपक्षेमस्य पत्नी बृहती सवासा रयिं नो धेहि सुभगे सुवीर्य्यम्॥

४. आश्वावद्गोमदूर्जस्वत् पर्णं वनस्पतेरिव।
अभिनः पूर्यताꣳ रयिरिदमनुश्रेयो वसानः॥

इति चतुरः प्रपद्यते॥ ३।४।४॥

(हरिहरभाष्यम्)—'स्तम्भ···मीति'। स्तम्भमुच्छ्रयति उत्थापयति अवटे मिनोतीत्यर्थः। केन मन्त्रेण? इमामुच्छ्रयामीत्यादिश्रेयोवसान इत्यन्तेन मन्त्रेण चतुरः। ततोऽनेनैव मन्त्रेण नैर्ऋत्याद्यवटेषु चतुरः स्तम्भानुच्छ्रयति। इतरगृहे तु चतुर्षु कोणेषु शिलान्यास एव भवति अनेनैव मन्त्रेण। 'प्रपद्यते' ततः शालां प्रपद्यते प्रविशति॥३।४।४॥

अनुवाद—'इमामुच्छ्रयामि···' इत्यादि मन्त्रों का उच्चारण करते हुए खम्भे उठाकर अग्निकोण के गढ़े में खम्भे को डाले। इसी प्रकार तीन खम्भों को जहाँ-जहाँ आवश्यकता है, वहाँ मंत्रोच्चारपूर्वक गढ़े में डालकर खम्भा गाड़े। यदि मकान पक्का बनाना हो तो उक्त गढ़े में ही शिलान्यास करें। शिलान्यास का भी यही मंत्र है।

तत्पश्चात् उस निर्मित भवन में प्रवेश करे।

(१) मन्त्रार्थ—(ऋषि विश्वामित्र, छन्द त्रिष्टुप्, देवता लिङ्गोक्त।) मैं धरती या धरती के नीचे शाला की आधारशिला-रूप इस खम्भे को उठाता हूँ। यह खम्भा या शिला धनद है, निधियों का स्रोत है तथा विविध धनों का विस्तारक है। मैं इसी अचल खम्भे (शिला) पर अपने भवन की स्थापना करता हूँ। यह भवन मेरे लिए सुखदायी हो और अपनी जगह निश्चल भाव से निरुपद्रव बना रहे।

(२) मन्त्रार्थ—(ऋषि विश्वामित्र, छन्द पंक्ति, देवता लिङ्गोक्त।) हे भवन! तुम सदा गायें, घोड़े और प्रिय तथा सत्य वचनों से सम्पन्न रहो। तुम्हारा निर्माण हमारे भाग्य के उदय के लिए है। तुम हमेशा बच्चों की किलकारियों से गूँजते रहो। बछड़े वाली और बिना बछड़ेवाली गायों से भरे-पूरे रहो।

(३) **मन्त्रार्थ**—(ऋषि विश्वामित्र, छन्द जगती, देवता लिङ्गोक्त।) हे भवन ! तुममें रहने वाले वेदोच्चारण से इस घर को अनुगुंजित करते रहो। नौकरों की गोद में खेलते हुए बच्चे दूध पीने के लिए माँ को बुलाये। तुम्हारे द्वार पर मंगल-कलश के रूप में जल और दही से भरे कलश ऋद्धि-सिद्धि वाले कलशों के साथ कल-कूजन करें। हे भवन ! तुम हमारे रक्षक हो। तुम भव्य हो, तुममें अनेक गुणों का आधान है। तुम तो स्वयं समृद्ध हो ही, मुझे भी धनधान्य से परिपूर्ण करो। तुम विविध तोरण-पताकाओं से अलंकृत होकर मुझे ओजस्वी, शक्तिशाली और वीर्यवान् बनाओ। तुम हमें हर दृष्टि से सम्पन्न करो, ताकि हम सर्वदा दान करते रहें।

(४) **मन्त्रार्थ**—(ऋषि विश्वामित्र, छन्द अनुष्टुप्, देवता लिङ्गोक्त।) हे भवन ! तुम कल्याण के अधिपति हो। इस भवन में रहते हुए मैं गायें, घोड़े, रस और अन्य सभी प्रकार की धनराशि से पूर्ण हो जाऊँ। ठीक उसी तरह जैसे विभिन्न वनस्पतियों के बीच पलाशदण्ड पल्लवित होते हैं।

अभ्यन्तरतोऽग्निमुपसमाधाय दक्षिणतो ब्रह्माणमुपवेश्योत्तरत उदपात्रं प्रतिष्ठाप्य स्थालीपाकꣳ श्रपयित्वा निष्क्रम्य द्वारसमीपे स्थित्वा ब्रह्माणमामन्त्रयते ब्रह्मन् प्रविशामीति ॥ ३।४।५ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अभ्यन्त···शामीति'। अभ्यन्तरतः अर्द्धनिष्पन्नायाः शालाया मध्ये अग्निमावसथ्यमुपसमाधाय पञ्च भूसंस्कारपूर्वकं स्थापयित्वा दक्षिणतः अग्नेर्दक्षिणपार्श्वे ब्रह्माणमुपवेश्य उत्तरतः अग्नेरुत्तरप्रदेशे उदपात्रं जलपूर्णं ताम्रादिभाजनं प्रतिष्ठाप्य निधाय। अत्र पुनर्ब्रह्मोपवेशनमुदपात्रप्रतिष्ठापनावसरविज्ञापनार्थम्। स्थालीपाकं चरुं श्रपयित्वा यथाविधि पक्त्वा ब्रह्माणं प्रथममृत्विजमामन्त्रयते सम्बोधयति। कथं ? ब्रह्मन्प्रविशामीति ॥ ३।४।५ ॥

अनुवाद—भवन के भीतर पंच भू-संस्कार से धरती पवित्र कर वहाँ अग्नि की स्थापना करे। तत्पश्चात् गृह्याग्नि के दाहिने ब्रह्मा को आसन पर बैठाये। अग्नि के उत्तर में जलपूर्ण कलश की स्थापना करे। फिर उस आग पर हविष्यान्न पका ले। घर से बाहर निकल कर दरवाजे पर खड़े होकर ब्रह्मा से पूछे—हे ब्रह्मन् ! अब मैं घर में प्रवेश करूँ ?

ब्रह्मानुज्ञातः प्रविशत्यृतं प्रपद्ये शिवं प्रपद्य इति ॥ ३।४।६ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'ब्रह्मा···प्रपद्य इति'। तत आमन्त्रितेन ब्रह्मणा प्रविशस्वेत्यनुज्ञातः प्रसूतः प्रविशति, ऋचं प्रपद्ये शिवं प्रपद्य इति मन्त्रेण शाला प्रपद्यते ॥ ३।४।६ ॥

अनुवाद—ब्रह्मा से अनुज्ञात होने पर 'ऋतं प्रपद्ये शिवं प्रपद्ये' इत्यादि मंत्र का पाठ करते हुए घर में प्रवेश करे।

मन्त्रार्थ—हे भवन ! तुम सत्य की प्रतिमूर्त्ति हो, तुम मंगलमय हो, मैं तुम में प्रवेश करता हूँ।

आज्यꣳ संस्कृत्येहरतिरित्याज्याहुती हुत्वाऽपरा जुहोति—

१. वास्तोष्पते प्रतिजानीह्यस्मान्स्वावेशो अनमीवो भवानः।
यत्त्वेमहे प्रति तन्नो जुषस्व शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे स्वाहा॥

२. वास्तोष्पते प्रतरणो न एधि गयस्फानो गोभिरश्वेभिरिन्दो।
अजरासस्ते सख्ये स्याम पितेव पुत्रान् प्रति तन्नो जुषस्व।
शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे स्वाहा॥

३. वास्तोष्पते शग्मया सꣳसदा ते सक्षीमहि रण्वया गातुमत्या।
पाहि क्षेम उत योगे वरन्नो यूयम्पात स्वस्तिभिः सदा नः स्वाहा॥

४. अमीवहा वास्तोष्पते विश्वारूपाण्याविशन्।
सखा सुशेव एधि नः स्वाहेति॥ ३।४।७॥

(हरिहरभाष्यम्)—'आज्यꣳ···होति'। वास्तोष्पत इत्यादि। अत्र प्राप्तमप्याज्यसंस्कारविधानमाघारादर्वाक् इहरतिरिति आज्यस्य होमप्राप्त्यर्थम्। आज्यसंस्कारानन्तरं पर्युक्षणान्ते इहरतिरित्यादि इह स्वधृतिः स्वाहेत्यन्तेन मन्त्रेणैकाम्। उपसृजमित्यादिसुदीधरत्स्वाहेत्यन्तेन मन्त्रेण द्वितीयामाहुतिं हुत्वा वास्तोष्पत इति चतसृभिर्ऋग्भिरपराश्चतस्र आज्याहुतीर्जुहोति। तत आघारावाज्यभागौ हुत्वा॥ ३।४।७॥

अनुवाद—आज्य-संस्कार कर 'इहरतिः·····' इत्यादि मंत्र पढ़कर घी की एक आहुति डाले। फिर निम्नलिखित दूसरा मंत्र पढ़कर दूसरी, तीसरा मंत्र पढ़कर तीसरी, पुनः चौथी घी की आहुतियाँ डाले। चार आहुतियों के बाद आघार और आज्य भाग का होम करे।

(१) मन्त्रार्थ—(ऋषि वशिष्ठ, छन्द त्रिष्टुप्, देवता इन्द्र।) हे गृहाधिपति इन्द्र! मैं इस नये भवन में प्रवेश करता हूँ। मेरा यह प्रवेश मंगलमय हो। हमारी रक्षा का भार तुम पर है। इसके लिए तुम प्रतिज्ञा करो। मेरी देह को श्रेष्ठ, नीरोग और स्वस्थ बनाकर तुम हमें इस घर में प्रवेश कराओ। हमें जिस वस्तु की अभिलाषा हो, उसे पाने के लिए हम तुम से प्रार्थना करें। तुम यथाशीघ्र हमारी अभिलषित वस्तु प्रदान करो। हम मनुष्यों के लिए कल्याणकारी हों। उसी तरह पशुओं के लिए भी शुभद हों।

(२) मन्त्रार्थ—(ऋष्यादि पूर्वोक्त।) हे इन्द्र! तुम गोधन-रूपी चलसम्पत्ति और अश्वसाध्य पराक्रमों से हम पर आने वाली हर विपत्तियों का विनाश करो। हमारी प्राणशक्ति का तुम सदैव अभिवर्द्धन करो। तुम मित्रभाव से हमारी सम्पत्ति का संवर्द्धन करो। हम चिरतरुण बने रहे, इसकी व्यवस्था करो। जैसे पिता पुत्र से स्नेह करता है, उसी तरह तुम मुझ से स्नेह करो, प्रीति की डोर में बाँधो। तुम मनुष्य और पशु दोनों के लिए समान रूप से हितकारी हो।

(३) मन्त्रार्थ—(ऋष्यादि पूर्वोक्त।) हे गृहपति इन्द्र! यह घर यज्ञमय हो।

वेदत्रय की ऋचाओं से सतत अनुगुंजित हो। शास्त्रीय ध्वनि से अनुपूरित हो। इस सुखद भवन से हम सतत सम्बद्ध रहें। हमारे योगक्षेम का तुम वहन करो। अप्राप्त की प्राप्ति तथा प्राप्त का तुम संरक्षण करो। हे इन्द्र के अनुचरो ! हमारे कर्मजन्य अभीष्ट फलों से तुम हमारी रक्षा करो।

(४) मन्त्रार्थ—(छन्द गायत्री, अन्य पूर्वोक्त।) हे वास्तोष्पति ! तुमने हमारा पाप और ताप दोनों नष्ट कर दिया है, अतः तुम हमारे बन्धु हो। तुम अनेक शरीरों में आविष्ट हो। तुम हमारे अनुकूल सुख का कारण बनो।

स्थालीपाकस्य जुहोति—

१. अग्निमिन्द्रं बृहस्पतिं विश्वान् देवानुपह्वये।
सरस्वतीं च वार्जीं च वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा॥
२. सर्पदेवजनान्त्सर्वान् हिमवन्तꣳ सुदर्शनम्।
वसूँश्च रुद्रानादित्यानीशानं जगदैः सह।
एतान्त्सर्वान् प्रपद्येऽहं वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा॥
३. पूर्वाह्णमपराह्णं चोभौ मध्यन्दिना सह।
प्रदोषमर्द्धरात्रञ्च व्युष्टां देवीं महापथाम्।
एतान्त्सर्वान् प्रपद्येऽहं वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा॥
४. कर्त्तारञ्च विकर्त्तारं विश्वकर्माणमोषधींश्च वनस्पतीन्।
एतान्त्सर्वान् प्रपद्येऽहं वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा॥
५. धातारञ्च विधातारं निधीनां च पतिꣳ सह।
एतान्त्सर्वान् प्रपद्येऽहं वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा॥
६. स्योनꣳ शिवमिदं वास्तु दत्तं ब्रह्मप्रजापती।
सर्वाश्च देवताः स्वाहेति॥ ३।४।८॥

(हरिहरभाष्यम्)—'स्थाली···त्यादि'। ततः स्थालीपाकस्य चरोरग्निमिन्द्रमित्यादिभिः षड्भिर्मन्त्रैः षडाहुतीः प्रतिमन्त्रमेकैकां जुहोति॥ ३।४।८॥

अनुवाद—'अग्निमिन्द्रं···' इत्यादि छः ऋचाएँ पढ़कर स्थालीपाकं हविष्यान्न से छः आहुतियाँ डालें।

(१) मन्त्रार्थ—(ऋषि विश्वामित्र, छन्द अनुष्टुप्, देवता लिङ्गोक्त।) हे अग्नि ! इन्द्र, बृहस्पति और सारे देवगण तथा अन्न की प्रतिमूर्त्ति देवी सरस्वती मैं आप सभी को एक साथ बुलाता हूँ। आपमें प्रभूत वेग है। आइए, मुझे गृहपति बनाइए। साथ ही मुझे अन्न और धन से परिपूर्ण कर दीजिए।

(२) मन्त्रार्थ—(ऋष्यादि पूर्वोक्त।) हे सम्पूर्ण सर्पदेवता ! सुदर्शन हिमालय, वसुगण, रुद्रगण, आदित्यगण, इन सभी देवताओं को मैं उनके अनुचरों के साथ बुलाता हूँ। मैं इन सभी का शरणागत हूँ। आप सभी इस घर में मुझे सुखद वास दें।

(३) मन्त्रार्थ—(ऋष्यादि पूर्वोक्त ।) बहुमुखी प्रतिभा वाली, तेजोमयी उषा देवी ! दिन और रात के सभी प्रहरों एवं प्रदोष काल के अधिष्ठाता देवगण का मैं आह्वान करता हूँ । मैं इन सभी देवताओं का शरणागत हूँ। हमें इस घर में ये देवगण सुखद वास दें ।

(४) मन्त्रार्थ—(ऋष्यादि पूर्वोक्त ।) कर्त्ता, विकर्त्ता, विश्वकर्मा, ओषधियाँ एवं वनस्पतियों के अधिष्ठाता देवतागण का मैं आह्वान करता हूँ । मैं इन सभी का शरणागत हूँ । ये सभी देवता इस घर में हमारा योगक्षेम वहन कर सुखद वास दें ।

(५) मन्त्रार्थ—(ऋष्यादि पूर्वोक्त ।) धाता, विधाता और विभिन्न निधियों के अधिपति देवगण का मैं आह्वान करता हूँ । इन सब का मैं शरणागत हूँ । ये सभी इस घर में सुखपूर्वक निवास करने में हमारे सहायक हों ।

(६) मन्त्रार्थ—(ऋष्यादि पूर्वोक्त ।) ब्रह्मा एवं प्रजापति प्रभृति सभी देवगण मुझे इस सुखद और मंगलमय घर का अधिपति बनायें । मैं इन सभी का शरणागत हूँ ।

प्राशनान्ते काꣳस्ये सम्भारांनोप्यौदुम्बरपलाशानि ससुराणि शाड्वलं गोमयं दधि मधु घृतं कुशान् यवाꣳश्चासनोपस्थानेषु प्रोक्षेत् ।। ३।४।९ ।।

(हरिहरभाष्यम्)—'प्राश…प्रोक्षेत्' । ततः स्विष्टकृदादिसंस्रवप्राशनान्ते कांस्ये कांस्यमये पात्रे सम्भारान् वक्ष्यमाणानोप्य कृत्वा औदुम्बरपत्राणि ससुराणि सक्षीराणि शाड्वलं दुर्वागोमयमरोगिण्यादिगोः शकृत् दधि मधु घृतं यवान् निगदव्याख्यातान् आसनानि च उपस्थानानि च आसनोपस्थानानि वास्तुशास्त्रोपदिष्टानि तेषु प्रोक्षेत् उदुम्बरपलाशादिसम्भारैस्तान्यभिषिञ्चेदित्यर्थः । तत्रासनानि नागदन्तादिमयस्थानानि उपस्थानानि देवतास्थानानि ।। ३।४।९ ।।

अनुवाद—संस्रवप्राशन के बाद काँसे के बर्त्तन में दूध मिले गूलर के पत्ते, दूब, गोबर, दही, शहद, घी, कुश और जौ रखकर उससे नागदंत आदि देवस्थानों का अभिषेक करे ।

पूर्वे सन्धावभिमृशति—

श्रीश्च त्वा यशश्च पूर्वे सन्धौ गोपायेतामिति ।। ३।४।१० ।।

(हरिहरभाष्यम्)—'पूर्वे सन्धावभिमृशति' श्रीश्च त्वेति । ततः शालायाः पूर्वे सन्धौ अभिमृशति पूर्वसन्धिप्रदेशमालभते श्रीश्च त्वेति मन्त्रेण ।। ३।४।१० ।।

अनुवाद—'श्रीश्च त्वा…' इत्यादि मन्त्र पढ़ते हुए पूर्वसन्धि अर्थात् दीवार का स्पर्श करे ।

मन्त्रार्थ—(ऋषि प्रजापति, छन्द यजुः, देवता लिङ्गोक्त ।) हे भवन ! तुम्हारी पूर्वसन्धि अर्थात् दीवारों की रक्षा यशोदेवी और भगवती लक्ष्मी करें ।

दक्षिणे सन्धावभिमृशति—

यज्ञश्च त्वा दक्षिणा च दक्षिणे सन्धौ गोपायेतामिति ।। ३।४।११ ।।

(हरिहरभाष्यम्)—एवं दक्षिणे सन्धौ यज्ञस्य त्वेति मन्त्रेण ॥ ३।४।११ ॥

अनुवाद—'यज्ञश्च…' इत्यादि मन्त्र का उच्चारण करते हुए दाहिनी ओर की दीवार का स्पर्श करे।

मन्त्रार्थ—हे शाला ! यज्ञ और दक्षिणा तुम्हारी दाहिनी ओर की दीवार की रक्षा करें।

पश्चिमे सन्धावभिमृशति—

अन्नञ्च त्वा ब्राह्मणाश्च पश्चिमे सन्धौ गोपायेतामिति ॥ ३।४।१२ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—तथैव पश्चिमे सन्धौ अन्नं च त्वेति ॥ ३।४।१२ ॥

अनुवाद—'अन्नञ्च…' इत्यादि मन्त्र पढ़ते हुए पश्चिम की दीवार का स्पर्श करे।

मन्त्रार्थ—हे भवन ! अन्नदेव और ब्राह्मणगण तुम्हारी पश्चिमी दीवार की रक्षा करें।

उत्तरे सन्धावभिमृशति—

ऊर्क् च त्वा सूनृता चोत्तरे सन्धौ गोपायेतामिति ॥ ३।४।१३ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—तद्वदुत्तरे सन्धौ ऊर्क् च त्वेति ॥ ३।४।१३ ॥

अनुवाद—'ऊर्क् च…' इत्यादि मन्त्र पढ़ते हुए उत्तर दिशा की ओर की दीवार का स्पर्श करे।

मन्त्रार्थ—हे भवन ! तेजोमय प्राण और प्रिय एवं सच्ची बात तुम्हारी उत्तरीय दीवार की रक्षा करे।

निष्क्रम्य दिश उपतिष्ठते—

केता च मा सुकेता च पुरस्ताद् गोपायेतामित्यग्निर्वै केताऽऽदित्यः सुकेता तौ प्रपद्ये ताभ्यां नमोऽस्तु तौ मा पुरस्ताद् गोपायेतामिति ॥ ३।४।१४ ॥

अथ दक्षिणतो—गोपायमानं च मा रक्षमाणा च दक्षिणतो गोपायेतामित्यहर्वै गोपायमानः रात्रीरक्षमाणा ते प्रपद्ये ताभ्यां नमोऽस्तु ते मा दक्षिणतो गोपायेतामिति ॥ ३।४।१५ ॥

अथ पश्चात्—दीदिविश्च मा जागृविश्च पश्चाद्गोपायेतामित्यन्नं वै दीदिविः प्राणो जागृविस्तौ प्रपद्ये ताभ्यां नमोऽस्तु तौ मा पश्चाद्गोपायेतामिति ॥ ३।४।१६ ॥

अथोत्तरतः—अस्वप्नश्च मानवद्राणश्चोत्तरतो गोपायेतामिति चन्द्रमा वा अस्वप्नो वायुरनवद्राणस्तौ प्रपद्ये ताभ्यां नमोऽस्तु तौ मोत्तरतो गोपायेतामिति ॥ ३।४।१७ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'निष्क…ष्ठते'। एवं शालायां पूर्वादिसन्धीनभिमृश्य बहिर्निष्क्रम्य दिशः प्राचीप्रमुखाश्चतस्रः केता च मा सुकेता चेत्यादिभिश्चतुर्भिर्मन्त्रैः प्रदक्षिणक्रमेण प्रतिमन्त्रमुपतिष्ठते स्तौति ॥ ३।४।१४-१७ ॥

अनुवाद—घर से बाहर निकल कर 'केता च मा…' इत्यादि चार मन्त्रों से चारों दिशाओं की स्तुति करे। अब 'गोपायमानं…' इत्यादि मन्त्र पढ़ते हुए दक्षिण दिशा को प्रणाम करे। इसके बाद पश्चिम दिशा की ओर मुड़कर 'दीदिविश्च…' इत्यादि मन्त्र पढ़ते हुए उस दिशा को प्रणाम करे। तत्पश्चात् उत्तर दिशा की ओर मुड़कर उस दिशा के 'अस्वप्नश्च मानवद्राण…' इत्यादि मन्त्र पढ़कर प्रार्थना करनी चाहिए।

मन्त्रार्थ—केता और सुकेता मेरी रक्षा सामने से करे। केता, सुकेता या आदित्य अग्निदेव ही हैं। मैं उनकी शरण में आया हूँ। मैं उन्हें प्रणाम करता हूँ। वे मेरे घर के सामने वाले भाग की सदैव रक्षा करें।

मन्त्रार्थ—दिन और रात्रि के देवता (सूर्य और चन्द्रमा) दक्षिण दिशा की ओर से हमारी रक्षा करने के लिए हमारे साथ रहें। उन दोनों के लिए नमस्कार है। उस दिशा को नमस्कार करे।

मन्त्रार्थ—दीदिवि और जागृवि इन सम्पूर्ण मन्त्रों को पढ़कर इन दोनों मन्त्रों के देवताओं को प्रणाम कर प्रार्थना करे कि ये हमारे पृष्ठभाग की रक्षा करें।

मन्त्रार्थ—अस्वप्न, मानवद्राण अथवा चन्द्रमा इत्यादि सम्पूर्ण मन्त्रों को पढ़कर प्रार्थना करे कि ये देवता उत्तर की ओर से हमारी रक्षा करें। उन दोनों को नमस्कार है।

निष्ठितां प्रपद्यते—
धर्मस्थूणा राजꣳ श्रीस्तूपमहोरात्रे द्वारफलके।
इन्द्रस्य गृहा वसुमन्तो वरूथिनस्तानहं प्रपद्ये सह प्रजया पशुभिः सह॥
यन्मे किञ्चिदस्त्युपहूतः सर्वगणसखायसाधुसंवृतः।
तां त्वा शालेऽरिष्टवीरा गृहान्नः सन्तु सर्वत इति॥ ३।४।१८॥

(हरिहरभाष्यम्)—'निष्ठितां प्रपद्यते धर्मस्थूणेति'। निष्ठितां निर्मितां सम्पूर्णामिति यावत्। प्रपद्यते प्रविशति धर्मस्थूणेत्यादि सन्तु सर्वत इत्यन्तेन मन्त्रेण॥ ३।४।१८॥

अनुवाद—गृह का निर्माण हो जाने के बाद 'धर्मस्थूणा…' तथा 'यन्मे किञ्चि-दस्ति…' इत्यादि दो मन्त्रों को पढ़ते हुए घर में प्रवेश करे।

मन्त्रार्थ—(ऋषि ब्रह्मा, छन्द जगती, देवता लिङ्गोक्त।) धर्म के स्वरूप अति विशाल खम्भे यहाँ सुशोभित हैं। लक्ष्मी का इनमें निवास है। दरवाजे के किवाड़ों में लोकालोकरूप में दिन और रात्रि के अधिष्ठाता देवता यहाँ उपस्थित हैं। ऐसे इन्द्र के घर रक्षा-प्रहरियों से धन-सम्पदा सुरक्षित हैं। मैं अपने पुत्र और पौत्र तथा पशुसमूह के साथ उनका आश्रित हूँ।

मन्त्रार्थ—(ऋषि ब्रह्मा, छन्द बृहती, देवता भवनाधिष्ठित।) हे शाला! मैं अपनी सम्पूर्ण शक्ति से तुम्हारी प्रार्थना करता हूँ। जब कभी मैं तुम्हें बुलाऊँ तुम हमारे परिवार और परिजनों की रक्षा के लिए आओ और सर्वथा हमें रोगमुक्त कर दो।

ततो ब्राह्मणभोजनम् ॥ ३।४।१९ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'ततो ब्राह्मणभोजनम्' । इति सूत्रार्थः ॥ ३।४।१९ ॥

अथ प्रयोगः । अथ शालाकर्मोच्यते । तत्र पुण्याहे मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकं श्राद्धं कृत्वा पूर्णाहुतिवदाज्यं संस्कृत्य स्तम्भस्थानावटेषु चतुर्षु प्रत्यवटमाग्नेयकोणादारभ्य अच्युताय भौमाय स्वाहेत्यनेन मन्त्रेणैकैकामाज्याहुतिं जुहुयात् । इदमच्युताय भौमायेति प्रत्याहुति त्यागः ।

अथ होमाक्रमेणावटेषु तूष्णीं शिलाः स्थापयित्वा तदुपरि 'इमामुच्छ्रयामि भुवनस्य नाभिं वसोर्द्धारां प्रतरणीं वसूनाम् । इहैव ध्रुवां निमिनोमि शालां क्षेमे तिष्ठतु घृतमुक्षमाणा । अश्वावती गोमती सूनृतावत्युच्छ्रयस्व महते सौभगाय । आत्वा शिशुराक्रन्दत्वा गावो धेनवो वाश्यमानाः । आत्वा कुमारतस्तरुण आवत्सो जगदैः सह । आत्वा परिस्रुतः कुम्भ आदध्नः कलशैरुप । क्षेमस्य पत्नी बृहती सुवासा रयिं नो धेहि सुभगे सुवीर्यम् । अश्वावद्गोमदूर्जस्वत्पर्णं वनस्पतेरिव । अभिनः पूर्यताꣳरयिरिदमनुश्रेयो वसान' । इत्यनेन मन्त्रेण होमक्रमेणैव चतुर्षु अवटेषु चतुरः स्तम्भानुच्छ्रयति मिनोति । स्तम्भाभावेऽनेनैव मन्त्रेण प्रत्यवटं शिलां स्थापयेत् । अर्द्धनिष्पन्नायां शालायां तन्मध्यप्रदेशे पञ्चभूसंस्कारपूर्वकमावसथ्याग्निं स्थापयित्वा ब्राह्मणमुपवेश्याग्नेरुत्तरत उदपात्रं प्रतिष्ठाप्य प्रणीताप्रणयनं विधाय कुशकण्डिकापूर्वकं चरुं श्रपयित्वा प्रोक्षण्युत्पवनान्ते बहिर्निष्क्रम्य द्वारसमीपे गृहाभिमुखं स्थित्वा ब्रह्मन्प्रविशामीति ब्रह्माणमामन्त्र्य प्रविशस्वेति ब्रह्मणानुज्ञात ऋतं प्रपद्ये शिवं प्रपद्य इति मन्त्रेण शालां प्रविशेत् ।

अथ स्वासने उपविश्य उपयमनकुशादानसमिदाधानपर्युक्षणानि कृत्वा इह रतिंरिह रमध्वमिह धृतिरिह स्वधृतिः स्वाहेत्येकामाज्याहुतिं जुहुयात्, इदमग्नय इति त्यागं विधाय, उपसृजं धरुणं मात्रे धरुणो मातरं धयन् । रायस्पोषमस्मासु दीधरत्स्वाहेति मन्त्रेण द्वितीयामाज्याहुतिं जुहोति । इदमग्नय इति त्यक्त्वा अपराश्चतस्र आज्याहुतीर्जुहोति । वास्तोष्पते प्रतीजानीह्यस्मान्स्वावेशो अनमीवो भवानः यत्त्वेमहे प्रतितन्नो जुषस्व शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे स्वाहेत्येकाम् इदं वास्तोष्पतये० । वास्तोष्पते प्रतरणो न एधि गयस्फानो गोभिरश्वेभिरिन्दो । अजरासस्ते सख्ये स्याम पितेव पुत्रान्प्रति तन्नो जुषस्व स्वाहेति द्वितीयाम् इदं वास्तोष्पतये० । वास्तोष्पते शग्मया सꣳसदा ते सक्षीमहि रण्वया गातुमत्या । पाहि क्षेम उत योगे वरन्नो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः स्वाहेति तृतीयाम् इदं वास्तोष्पतये० । अमीवहा वास्तोष्पते विश्वारूपाण्याविशन् । सखा सुशेव एधि नः स्वाहेत्यनेन चतुर्थीं जुहुयात् इदं वास्तोष्पतय इति चतसृषु त्यागः ।

तत आघारावाज्यभागौ हुत्वा चरुणा अग्निमिन्द्रमित्यादिभिः षड्भिर्मन्त्रैः षडाहुतीर्जुहुयात् । तद्यथा—अग्निमिन्द्रं बृहस्पतिं विश्वान्देवानुपह्वये । सरस्वतीं च वाजीं च वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहेति प्रथमा । इदमग्नये इन्द्राय बृहस्पतये विश्वेभ्यो देवेभ्यः सरस्वत्यै वाज्यै च० । सर्पदेवजनान् सर्वान् हिमवन्तꣳ सुदर्शनम् । वसूꣳश्च रुद्रानादित्यानीशानं जगदैः सह । एतान्सर्वान्प्रपद्येऽहं वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहेति

द्वितीयाम् । इदं सर्पदेवजनेभ्यो हिमवते सुदर्शनाय वसुभ्यो रुद्रेभ्य आदित्येभ्य ईशानाय जगदेभ्यश्च० । पूर्वाह्णमपराह्णं चोभौ मध्यन्दिना सह । प्रदोषमर्द्धरात्रं च व्युष्टां देवीं महापथाम् ।। एतान्त्सर्वान्प्रपद्येऽहं वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहेति तृतीयाम् । इदं पूर्वाह्णायापराह्णाय मध्यन्दिनाय प्रदोषायार्द्धरात्राय व्युष्टायै देव्यै महापथायै च० । कर्तारं च विकर्तारं विश्वकर्माणमोषधीश्च वनस्पतीन् । एतान्त्सर्वान्प्रपद्येऽहं वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहेति चतुर्थीम् । इदं कर्त्रे विकर्त्रे विश्वकर्मणे ओषधिभ्यो वनस्पतिभ्यश्च० । धातारं च विधातारं निधीनां च पतिꣳ सह । एतान्त्सर्वान्प्रपद्येऽहं वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहेति पञ्चमीम् । इदं धात्रे विधात्रे निधीनां पतये च० । स्योनꣳशिवमिदं वास्तु मे दत्तं ब्रह्मप्रजापती । सर्वाश्च देवताः स्वाहेति षष्ठीम् । इदं ब्रह्मणे प्रजापतये सर्वाभ्यो देवताभ्यश्च० । ततः स्थालीपाकेन स्विष्टकृतं हुत्वा महाव्याहृत्यादिप्राजापत्यान्ता नवाहुतीर्हुत्वा संस्रवान् प्राश्य ब्रह्मणे दक्षिणां दत्वा कांस्यपात्रेऽनुपहते सक्षीराण्यौदुम्बरपर्णानि दूर्वागोमयदधिमधुघृतकुशयवांश्च सम्भारान्कृत्वा आसनानि नागदन्तस्थानानि उपस्थानानि च देवतास्थानानि प्रोक्षेत् तैः पत्रादिसम्भारैः ।

अथ पूर्वे सन्धौ, श्रीश्च त्वा यशश्च पूर्वे सन्धौ गोपायेतामिति मन्त्रेणाभिमर्शनं करोति । ततो दक्षिणे सन्धौ, यज्ञस्य त्वा दक्षिणा च दक्षिणे सन्धौ गोपायेतामिति । अथानन्तरं पश्चिमे सन्धौ, अन्नं च त्वा ब्राह्मणश्च पश्चिमे सन्धौ गोपायेतामिति । अथोत्तरे सन्धौ, ऊर्क् च त्वा सूनृता चोत्तरे सन्धौ गोपायेतामिति । अथ गृहान्निष्क्रम्य वक्ष्यमाणमन्त्रैर्यथालिङ्गं दिश उपतिष्ठते । केता च मा सुकेता च पुरस्ताद्गोपायेतामित्यग्निर्वै केतादित्यः सुकेता तौ प्रपद्ये ताभ्यां नमोऽस्तु तौ मा पुरस्ताद्गोपायेतामिति मन्त्रेण प्राचीं दिशमुपस्थाय, अथ दक्षिणतः, गोपायमानं च मा रक्षमाणा च दक्षिणतो गोपायेतामित्यहर्वै गोपायमानꣳ रात्री रक्षमाणा ते प्रपद्ये ताभ्यां नमोऽस्तु ते मा दक्षिणतो गोपायेतामिति दक्षिणां दिशमुपस्थाय, अथ पश्चाद्दीदिविश्च मा जागृविश्च पश्चाद्गोपायेतामित्यन्नं वै दीदिविः प्राणो जागृविस्तौ प्रपद्ये ताभ्यां नमोऽस्तु तौ मा पश्चाद्गोपायेतामिति मन्त्रेण पश्चिमामुपस्थाय, अथोत्तरतः, अस्वप्नश्च मानवद्राणश्चोत्तरतो गोपायेतामिति चन्द्रमा वा अस्वप्नो वायुरनवद्राणस्तौ प्रपद्ये ताभ्यां नमोऽस्तु तौ मोत्तरतो गोपायेतामिति मन्त्रेणोत्तरामुपतिष्ठते ।

ततः समाप्तायां शालायां ज्योतिर्विदुपदिष्टे पुण्येऽहनि 'प्रवेशे नववेश्मन' इति वचनान्मातृपूजाभ्युदयिकश्राद्धे विधाय ब्राह्मणैः कृतस्वस्त्ययनो मङ्गलतूर्यगीतशान्तिपाठेन सजलकलशब्राह्मणपुरःसरः शुक्लमाल्यानुलेपनस्तादृशसकलपुत्रपौत्रकलत्रादिसमेतः सुशकुनसूचिताभ्युदयस्तोरणाढ्यां शालां द्वारेण प्रविशति । धर्मस्थूणाराजꣳश्रीस्तूपमहोरात्रे द्वारफलके इन्द्रस्य गृहावसुमन्तो वरूथिनस्तानहं प्रपद्ये सह प्रजया पशुभिः सह । यन्मे किञ्चिदस्त्युपहूतः सर्वगणसखायसाधुसंवृतः तां त्वा शालेऽरिष्टवीरा गृहान्नः सन्तु सर्वत इत्यनेन प्रविशेत् । ततो ब्राह्मणभोजनम् ।। इति शालाकर्म ।।

अनुवाद—इसके बाद ब्राह्मणभोजन करायें ।

तृतीयकाण्ड में चतुर्थ कण्डिका समाप्त ।।

पञ्चमी कण्डिका

मणिकावधानम्

अथातो मणिकावधानम् ॥ ३।५।१ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अथा···धानम्'। अथ शालाकर्मानन्तरं यतः शालायां मणिकेन भवितव्यमतो मणिकावधानं वक्ष्यत इति सूत्रशेषः ॥ ३।५।१ ॥

अनुवाद—इसके बाद अब 'मणिकावधान' कर्म का विधान किया जा रहा है।

टिप्पणी—मणि + कन् = मणिक अर्थात् जलकलश; उसका अवधानम् = अव + धा + ल्युट् = अवधानम्—सावधानीपूर्वक स्थापना। मणिक अर्थात् कटोरे के आकार का जलपात्र-विशेष, इसे अलिञ्जर भी कहा जाता है। मणिक की स्थापना भी आवसथ्याधान के बाद ही उसी दिन करने का विधान है, क्योंकि नित्यहोम, पञ्च-महायज्ञ, पाक, पर्युक्षण इत्यादि क्रियाएँ मणिकोदक से ही होती हैं।

उत्तरपूर्वस्यां दिशि यूपवदवटं खात्वा कुशानास्तीर्याक्षतानरिष्टकाँ-(सुमनसः कपर्दिकान्)श्चान्यानि चाभिमङ्गलानि तस्मिन् मिनोति, मणिकꣳ समुद्रोऽसीति ॥ ३।५।२ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'उत्तर···द्रोऽसीति'। तत्र शालाया उत्तरपूर्वस्यामैशान्यां दिशि यूपवत् अभ्र्यादानपरिलेखनपूर्वकमवटं मणिकबुध्नावस्थानपर्यन्तं गर्त्तं खात्वा निखाय ततः प्राचः पांसूनपोह्यावटस्योपरि प्रागग्रान् दीर्घान् कुशानास्तीर्य स्तृत्वा अक्षातान्यवान् अरिष्टकफलानि अन्यानि च सुमङ्गलानि ऋद्धिवृद्धिसिद्धार्थकादीनि तान्यथास्तीर्य ओप्य चकारः समुच्चयार्थः। तस्मिन्नवटे मणिकमुदकधानीं मिनोति स्थापयति 'समुद्रोऽसि नभस्वानार्द्रदानुः शम्भूः' इत्येतावता मन्त्रेण ॥ ३।५।२ ॥

अनुवाद—शाला के उत्तर-पूरब के बीच का कोण अर्थात् ईशानकोण में यज्ञ के खम्भे की तरह ही गड्ढे खोदकर, उसकी मिट्टी पूरब की ओर फेंककर, उस गड्ढे के ऊपर कुशों को बिछाकर उसमें अक्षत, फूल, कौड़ी आदि मांगलिक वस्तुएँ डालकर 'समुद्रोऽसि···' इत्यादि मंत्र पढ़कर उस मणिक अर्थात् मटके को 'गड्ढे' में स्थापित कर दे।

(मन्त्र)—'समुद्रोऽसि नभस्वानार्द्रदानुः शम्भूर्मयोभूरभि मा वाहि स्वाहा।'

(य० सं० १८।४५)

अप आसिञ्चति—

आपो रेवतीः क्षयथा हि वस्वः क्रतुं च भद्रं बिभृथामृतं च।
रायश्च स्थ स्वपत्यस्य पत्नी सरस्वती तद्गृणते वयोधादिति ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'आपो'''वतीरिति' । तस्मिन्मणिके अप अशूद्राहृतनद्याद्युदकमासिञ्चति प्रक्षिपति आपो रेवतीरिति मन्त्रेण ॥ ३।५।३ ॥

अनुवाद—'आपो रेवती'''' इत्यादि मन्त्र पढ़ते हुए उस मटके में जल डाले।

मन्त्रार्थ—(ऋषि प्रजापति, छन्द त्रिष्टुप्, देवता जल।) हे जलदेव समुद्र ! तुम रत्नाकर हो, अतः तुम धनी हो, तुम श्रेष्ठयज्ञ और अमृतफल धारण करते हो। तुम धन और सन्तति दोनों ही किसी को दे सकते हो। अतः हम तुम्हारे इस स्वरूप की स्तुति करते हैं। देवी सरस्वती हमें चिरायु दें।

टिप्पणी—'इस जल को शूद्र न लाये' यह निषेध हरिहर मिश्र का है।

आपोहिष्ठेति च तिसृभिः ॥ ३।५।४ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'आपो'''सृभिः' । आपोहिष्ठा मयोभुव इत्यादिभिस्तिसृभिर्ऋग्भिः पुनर्मणिके सकृदप आसिञ्चति ॥ ३।५।४ ॥

अनुवाद—'आपोहिष्ठा'''' इत्यादि तीन ऋचाएँ पढ़कर उस मटके में फिर एक बार जल डालें।

ततो ब्राह्मणभोजनम् ॥ ३।५।५ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—ततो ब्राह्मणभोजनम् ॥ इति सूत्रार्थः ॥ ३।५।५ ॥

अथ पद्धतिः। ततो मणिकावधाननिमित्तमातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकं श्राद्धं कृत्वा अग्नेरीशानप्रदेशे 'देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। आददे नार्यसि' इति मन्त्रेणाभ्रिमादाय 'इदमहᳬ रक्षसां ग्रीवा अपि कृन्तामीत्यवटं भाण्डानुमानं परिलिख्य उदकं स्पृष्ट्वा गर्त्तं खात्वा प्राचः पांसूनपास्य कुशानास्तीर्य अक्षतानरिष्टकान् ऋद्धिवृद्धिहरिद्रादूर्वासितसर्षपादिमङ्गलद्रव्यं निक्षिप्य तदुपरि 'समुद्रोऽसि नभस्वानार्द्रदानुः शम्भूरि'त्येतावता मन्त्रेण मणिकमवटे निधाय, तत'। आपोरेवतीः क्षयथा हि वस्वः क्रतुं च भद्रं बिभृथामृतं च। रायश्च स्थ स्वपत्यस्य पत्नी सरस्वती तद्गृणते वयोधादित्यनेन मन्त्रेण। तथा आपो हिष्ठामयो भुव इत्यादित्र्यृचेन च सकृन्मणिके अप आसिञ्चति। ततो ब्राह्मणमेकं भोजयेत्। इति मणिकावधानम् ॥

अनुवाद—इसके बाद ब्राह्मण-भोजन कराना चाहिए।

तृतीयकाण्ड में पञ्चम कण्डिका समाप्त ॥

षष्ठी कण्डिका

शीर्षरोगभेषजम्

अथातः शीर्षरोगभेषजम् ॥ ३।६।१ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अथा…जम्' । अथ मणिकावधानानन्तरं यतः शिरोरोगवान् किञ्चित्कर्म कर्तुं न शक्नोति अतो हेतोः शीर्षणि मूर्द्धनि रोगस्तस्य भेषजं प्रतीकारः वक्ष्यत इति सूत्रशेषः ॥ ३।६।१ ॥

अनुवाद—इसके बाद सिरदर्द की चिकित्सा-विधि बतलायी जा रही है ।

पाणी प्रक्षाल्य भ्रुवौ विमार्ष्टि—
चक्षुर्भ्याꣳ श्रोत्राभ्यां गोदानाच्छुबुकादधि ।
यक्ष्मꣳ शीर्षण्यꣳ रराटाद्विवृहामीममिति ॥ ३।६।२ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'पाणी…मीममिति' । यदि स्वस्य परस्य वा पीडा भवति तत्र पाणी स्वकीयौ हस्तौ प्रक्षाल्य अद्भिरवनेज्य भ्रुवौ युगपत्ताभ्यां पाणिभ्यां विमार्ष्टि प्रोक्षति । अन्यस्य वा स्वयं करोति चक्षुर्भ्यामित्यादिविवृहामीममित्यन्तेन मन्त्रेण ॥

अनुवाद—दोनों हाथों को पानी से धोकर 'चक्षुर्भ्यां…' इत्यादि मंत्र को पढ़ते हुए दोनों भौंहों को पानी से धोना चाहिए ।

मन्त्रार्थ—(ऋषि प्रजापति, छन्द अनुष्टुप्, देवता वायु ।) आँखों, कानों, माथे, ठोढ़ी, ललाट प्रभृति अंगों से मैं इस पीड़ादायक शिरोरोग का निवारण करता हूँ ।

अर्द्धं चेदवभेदकविरूपाक्ष श्वेतपक्ष महायशः ।
अथो चित्रपक्ष शिरो मास्याभिताप्सीदिति ॥ ३।६।३ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अर्द्धं…ताप्सीदिति' । अर्द्धं चेत् शीर्षं व्यथते तदा पूर्ववत्पाणी प्रक्षाल्य दक्षिणेन पाणिना यदि शिरसो दक्षिणभागे रुक् तर्हि दक्षिणां वामे वामाम् अवभेदकेत्यादिना मास्याभिताप्सीदित्यन्तेन मन्त्रेणैकां भ्रुवं विमार्ष्टि ॥ ३।६।३ ॥

अनुवाद—यदि आधे सिर में पीड़ा हो रही हो तो 'अवभेदकः….' इत्यादि मन्त्र पढ़ते हुए पहले की तरह हाथों को पानी से धोकर दाहिनी ओर पीड़ा हो तो दाहिने हाथ से तथा बायीं ओर पीड़ा हो तो बाँयें हाथ से पीड़ित भौंह को पोंछे ।

मन्त्रार्थ—(ऋषि प्रजापति, छन्द अनुष्टुप्, देवता विरूपाक्ष ।) शरीर के अवयवों को झुकाकर उनका भेदन करने वाले हे विरूपाक्ष ! तुम श्वेतपक्षधारी हो, महान् यशस्वी हो । तुम्हारी कृपा से इस रोगी का सिर न दुःखे, तुम इसके सिर में दर्द पैदा मत करो ।

क्षेम्यो ह्येव भवति ॥ ३।६।४ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'क्षेम्यो ह्येव भवति' । हि ततः क्षेम्यः शिरोरोगरहित एवासौ भवतीति ॥ ३।६।४ ॥

अनुवाद—इससे वह शिरोवेदना से मुक्त हो ही जायेगा ।

तृतीयकाण्ड में षष्ठ कण्डिका समाप्त ॥

सप्तमी कण्डिका

उतूलपरिमेहः ॥ ३।७।१ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'उतूलपरिमेहः' । उतूलस्य दुर्विनीतस्य दासस्य परि समन्तात् मेहः सेचनं वशीकरणाभिषेक इति यावत्, कर्म कथ्यते ॥ ३।७।१ ॥

अनुवाद—उतूलपरिमेह अर्थात् भ्रमणशील दुर्विनीत दास के वशीकरण हेतु अभिषेक-कर्म की विधि का वर्णन किया जा रहा है ।

स्वपतो जीवविषाणे स्वं मूत्रमासिच्यापसलवि त्रिः परिषिञ्चन्परीयात्—परि त्वा गिरेरहं परिमातुः परिस्वसुः परिपित्रोश्च भ्रात्रोश्च सख्येभ्यो विसृज्याम्यहम् । उतूल परिमीढोऽसि परिमीढः क्व गमिष्यसीति ॥३।७।२॥

(हरिहरभाष्यम्)—तद्यथा—'स्वप···ष्यसीति' । यदा स दासः स्वपिति तदा गवादेः पशोः जीवतो विषाणे शृङ्गे स्वं मूत्रमासिच्य सिक्त्वा तस्य स्वपतो दासस्य अपसलवि अप्रादक्षिण्येन विषाणस्थं मूत्रं परि समन्तात् सिञ्चन् उक्षन् त्रिः त्रीन् वारान् परीयात् परिभ्रमेत् परित्वा गिरेरित्यादि क्व गमिष्यसीत्यन्तेन मन्त्रेण ॥ ३।७।२ ॥

अनुवाद—जब वह दास सो रहा हो, तब जीवित पशु गाय या भैंस की सींग में अपना मूत्र भरकर उस दास की बाईं ओर से दाहिनी ओर की तरफ तीन बार प्रदक्षिणा करे तथा 'परि त्वा···' इत्यादि मन्त्र पढ़कर उसकी देह पर मूत्र का सिंचन करे ।

मन्त्रार्थ—(ऋषि प्रजापति, छन्द अनुष्टुप्, देवता वायु ।) ओ दास ! मैं तुम्हें पहाड़ से खींचकर माँ-बाप, भाई-बहन और मित्र से अलग कर अपने में अनुरक्त करता हूँ । अब तुम मन्त्रशक्ति से पाशबद्ध हो, अब तुम मुझे छोड़कर कहीं नहीं जा सकते हो ।

स यदि भ्रम्याद्दावाग्निमुपसमाधाय घृताक्तानि कुशेण्ड्वानि जुहुयात्—
परि त्वा ह्वलनो ह्वलनिवृत्तेन्द्रवीरुधः ।
इन्द्रपाशेन सित्वा मह्यं मुक्त्वाऽथान्यमानयेदिति ॥ ३।७।३ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'स यदि···येदिति' । स दासो यदि अस्मिन्कर्मणि कृतेऽपि भ्रम्यात् स्वेच्छया विचरेत् तदा तद्वश्यार्थमिदं कर्मान्तरं कुर्यात् । तद्यथा—पञ्चभूसंस्कार-पूर्वकं दावाग्निं वनदहनं स्थापयित्वा ब्रह्मोपवेशनादिपर्युक्षणान्ते आघारावाज्यभागौ महाव्याहृतिसर्वप्रायश्चित्तप्राजापत्यस्विष्टकृदन्ताश्चतुर्दशाहुतीर्हुत्वा कुशेण्ड्वानि कुशानामिण्ड्वानि कुण्डलाकाराणि घृताक्तानि त्रीणि परित्वेत्यादि अथान्यमानयेदित्यन्तेन मन्त्रेण सकृदेव जुहुयात् । इदमिन्द्रायेति त्यागः । ततः संस्रवप्राशनादि ब्रह्मणे दक्षिणादानान्तं कर्म कुर्यात् ॥ ३।७।३ ॥

अनुवाद—इसके बाद भी यदि उसका स्वच्छन्द घूमना बन्द न हो तो फिर उसे वशवर्त्ती बनाने के लिए यह दूसरा कर्म करे। पञ्चभूसंस्कारपूर्वक अरण्याग्नि की स्थापना कर उसमें आघारादि १४ आहुतियां डाले, फिर तीन कुशकुण्डलों को घी में भिगाकर 'परि त्वा ह्वलनो···' इत्यादि मन्त्र पढ़ते हुए आहुति दे।

मन्त्रार्थ—(ऋषि प्रजापति, छन्द अनुष्टुप्, देवता वायु।) अरे ओ चंचल दास! यद्यपि तुम मेरे नियंत्रण से बाहर चले गये हो, अतः यह प्रज्वलित होमाग्नि रूपी इन्द्रपाश से मैं तुम्हें बांधकर दूसरी जगह जहाँ तुम्हारा मन रमा है, वहाँ से हटाकर अपने में तुम्हें केन्द्रित करता हूँ।

क्षेम्यो ह्येव भवति ॥ ३।७।४ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'क्षेम्यो ह्येव भवति'। अस्मिन्कर्मणि कृते हि स्फुटं क्षेम्यः वश्य एव दासो भवति सम्पद्यते ॥ इत्युतूलदासवश्यकर्म ॥ ३।७।४ ॥

अनुवाद—ऐसा करने पर निःसन्देह दास वशवर्त्ती हो ही जायेगा।

तृतीयकाण्ड में सप्तम कण्डिका समाप्त।

अष्टमी कण्डिका

शूलगवः ॥ ३।८।१ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'शूलगवः'। अथ स्वर्गादिकामस्य शूलगवाख्यं कर्म याग-विशेषमनुविधास्यन्नाह—शूलगव इति ॥३।८।१ ॥

अनुवाद—अब स्वर्ग पाने की इच्छा से शूलगव नामक याग-विशेष की विधि बतलाते हैं।

टिप्पणी—बौधायनगृह्यसूत्र के अनुसार 'शूलगव' का नामकरण इस यज्ञ में गोभागों (गवयांनी) को शूलों पर पकाने के कारण हुआ। टीकाकार नारायण के विचार से यह अंश रुद्र को अर्पित किया जाता है। अतः इसका नाम 'शूलगव' पड़ा।

स्वर्ग्यः पशव्यः पुत्र्यो धन्यो यशस्य आयुष्यः ॥ ३।८।२ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'स्वर्ग्यः···युष्यः'। स च स्वर्ग्यः स्वर्गाय हितः पशव्यः पशुभ्यो हितः पुत्र्यः पुत्रेभ्यो हितः धन्यः धनाय हितः यशस्यः यशसे हितः आयुष्यः आयुषे हितः। अयमर्थः—यदा यजमानः स्वर्गपशुपुत्रधनयशआयुषामन्यतमकामो भवति तदाऽनेन शूलगवाख्येन यागेन यजेत। अनेककामानां युगपदुत्पत्त्यसम्भवात् ॥ ३।८।२ ॥

अनुवाद—इसका अनुष्ठान करने पर यजमान को स्वर्ग, पशु, पुत्र, धन, यश और दीर्घ आयु मिलती है।

औपासनमरण्यꣳ हुत्वा वितानꣳ साधयित्वा रौद्रं पशुमालभेत ॥ ३।८।३ ॥

साण्डम् ॥ ३।८।४ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'औपा···साण्डम्'। औपासनमावसथ्याग्निमरण्यमटवीं नीत्वा तत्र वितानं त्रेताग्निविन्यासं साधयित्वा शुल्वोक्तप्रकारेण विरचय्य रौद्रं रुद्रो देवता अस्येति रौद्रं, तं पशुं छागम् आलभेत सञ्ज्ञपयति। कथम्भूतं ? साण्डम् अण्डाभ्यां सह वर्तत इति साण्डस्तम् अनपुंसकमित्यर्थः ॥ ३।८।३-४ ॥

अनुवाद—औपासन अर्थात् आवसथ्याग्नि को जंगल में ले जाकर वहाँ वितान अर्थात् यज्ञीय तम्बू तानकर शुल्बशास्त्र-विधि से रुद्रदेवता के निमित्त छाग की बलि दे। वह पशु बधिया किया हुआ न हो।

गौर्वा शब्दात् ॥ ३।८।५ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'गौर्वा शब्दात्'। वाशब्दः पक्षव्यावृत्तौ। नैव छागः पशू रौद्रः अपितु साण्डो गौः, कुतः ? शब्दात् शूलगव इत्येतस्माच्छब्दात् ॥ ३।८।५ ॥

अनुवाद—अथवा 'शूलगव' कर्म में 'गो' शब्द का उल्लेख है। अतः यहाँ रुद्र-निमित्तक गवालम्भन ही अभीष्ट है, छागबलि नहीं।

वपाᳫं श्रपयित्वा स्थालीपाकमवदानानि च रुद्राय वपामन्तरिक्षाय वसाᳫं स्थालीपाकमिश्राण्यवदानानि जुहोत्यग्नये रुद्राय शर्वाय पशुपतये उग्रायाशनये भवाय महादेवायेशानायेति च ॥ ३।८।६ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'वपाᳫं···नायेति' । वपां पक्त्वा स्थालीपाकमवदानानि च हृदयादीनि सहैव श्रपयित्वा । ननु पशुतन्त्रे विहृत्य शामित्रेऽग्नाववदानश्रपणं वपाश्रपणं चाहवनीये दृष्टम् । अत्र तन्मा भूदिति सहश्रपणमुच्यते स्थालीपाकमवदानानि चेति । तत्र रुद्राय वपां जुहोति अन्तरिक्षाय वसां जुहोति, अत्र जुहोतीत्युभयत्राध्याहारः । स्थालीपाकमिश्राण्यवदानानि । अवदानहोमावसरे हृदयादीन्यवदानानि स्थालीपाकेन चरुणा संयुतानि जुहोति नवकृत्वः अग्नये स्वाहेत्येवमादिभिर्नवभिर्मन्त्रैः प्रतिमन्त्रमग्नौ प्रक्षिपति । कथम् ? अग्नये स्वाहा १ । रुद्राय स्वाहा २ । शर्वाय स्वाहा ३ । पशुपतये स्वाहा ४ । उग्राय स्वाहा ५ । अशनये स्वाहा ६ । भवाय स्वाहा ७ । महादेवाय स्वाहा ८ । ईशानाय स्वाहा ९ । यथामन्त्रं त्यागाः ॥ ३।८।६ ॥

अनुवाद—वपा, वसा या चर्बी को पकाकर, स्थालीपाक और कलेजा प्रभृति अन्य अवयवों को एक साथ पकाकर 'अन्तरिक्षाय वसाम्···' इत्यादि मन्त्र पढ़कर रुद्र के लिए वपा की आहुति दे—अग्नि, रुद्र, शर्व, पशुपति, उग्र, अशनि, भव, महादेव और ईशान के लिए स्थालीपाक मिश्रित हृदयादि के टुकड़ों (मांस-पिंडों) का होम करे ।

आहुतियाँ—(१) अग्नये स्वाहा, (२) रुद्राय स्वाहा, (३) शर्वाय स्वाहा, (४) पशुपतये स्वाहा, (५) उग्राय स्वाहा, (६) अशनये स्वाहा, (७) भवाय स्वाहा, (८) महादेवाय स्वाहा, (९) ईशानाय स्वाहा ।

टिप्पणी—डॉ० हरिदत्त शास्त्री के अनुसार 'वपा' का तात्पर्य यव-बीजों को कूट-पीसकर घी और चीनी में मिलाकर स्थालीपाक तैयार करना है ।

वनस्पतिः ॥ ३।८।७ ॥

स्विष्टकृदन्ते ॥ ३।८।८ ॥

दिग्व्याघारणम् ॥ ३।८।९ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'वन···रणम्' । वनस्पतिश्च स्विष्टकृच्च वनस्पतिस्विष्टकृतौ तयोरन्तः वनस्पतिस्विष्टकृदन्तः तस्मिन् दिशां व्याघारणं कर्तव्यमिति सूत्रशेषः । तत्तु व्याघारणं वसयैव भवति । तत्र वनस्पतिहोमः स्विष्टकृद्धोमादर्वाक् पृषदाज्येन भवति, पशौ तथादृष्टत्वात् । स्विष्टकृद्धोमश्च सर्वावदानपक्षे त्र्यङ्गेभ्यः असर्वावदानपक्षे तेभ्य एवावशिष्टेभ्यः । अत्र सूत्रे व्याघारणमेव निबद्धम्, तत्र द्रव्यदेवतापेक्षायां सर्वपशुप्रकृतिभूताग्नीषोमीये दर्शनात् वसाद्रव्यं दिशो देवता व्याघारणधर्मतया लभ्यते ॥३।८।७-९॥

अनुवाद—वनस्पति और स्विष्टकृत् आहुतियों के बीच में दिशाओं के नाम पर छः आहुतियाँ डाली जायें—(१) दिशः स्वाहा, (२) प्रदिशः स्वाहा, (३) आदिशः स्वाहा, (४) विदिशः स्वाहा, (५) उद्दिशः स्वाहा, (६) दिग्भ्यः स्वाहेति ।

व्याघारणान्ते पत्नीः संयाजयन्तीन्द्राण्यै रुद्राण्यै शर्वाण्यै भवान्या अग्निं गृहपतिमिति ॥ ३।८।१० ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'व्याघा···तिमिति'। व्याघारणं दिशामभिघारणं तस्यान्ते अवसाने पत्नीः पञ्च वक्ष्यमाणाः संयाजयन्ति जाघन्या पश्वङ्गेन। कथम् ? इन्द्राण्यै रुद्राण्यै इत्यादिपञ्चभिर्मन्त्रैः स्वाहाकारान्तैः प्रतिमन्त्रम् ॥ ३।८।१० ॥

अनुवाद—दिशाभिघारण के बाद पशु की जंघा से पत्नी निम्नलिखित पाँच आहुतियाँ दे—१. इन्द्राण्यै स्वाहा, २. रुद्राण्यै स्वाहा, ३. शर्वाण्यै स्वाहा, ४. भवान्यै स्वाहा, ५. अग्नये गृहपतये स्वाहा।

टिप्पणी—इसके बाद महाव्याहृति से प्राजापत्यान्त नौ आहुतियाँ भी आहवनीयाग्नि में डाली जाये; फिर संस्रवप्राशन और दक्षिणा-दान करे।

लोहितं पालाशेषु कूर्चेषु रुद्राय सेनाभ्यो बलिꣳ हरति—

१. यास्ते रुद्र पुरस्तात् सेनास्ताभ्य एष बलिस्ताभ्यस्ते नमः।
२. यास्ते रुद्र दक्षिणतः सेनास्ताभ्य एष बलिस्ताभ्यस्ते नमः।
३. यास्ते रुद्र पश्चात् सेनास्ताभ्य एष बलिस्ताभ्यस्ते नमः।
४. यास्ते रुद्रोत्तरतः सेनास्ताभ्य एष बलिस्ताभ्यस्ते नमः।
५. यास्ते रुद्रोपरिष्टात् सेनास्ताभ्य एष बलिस्ताभ्यस्ते नमः।
६. यास्ते रुद्राधस्तात् सेनास्ताभ्य एष बलिस्ताभ्यस्ते नम इति ॥३।८।११॥

(हरिहरभाष्यम्)—'लोहितं···हरति'। यास्ते रुद्रेत्यादि ततो महाव्याहृत्यादि। लोहितं तस्यैव पशो रुधिरं पालाशेषु पलाशपत्रेषु कूर्चेषु आसनेषु प्राक्संस्थेषु उदक्संस्थेषु वा, रुद्राय सेनाभ्यः रुद्राय देवतायै सेनाः रुद्राय सेनाः अलुक्समासः ताभ्यो बलिमुपहारं हरति ददाति यास्त इत्यादिभिः षड्भिर्मन्त्रैः षट्सु पालाशकूर्चेषु प्रतिमन्त्रमेकैकम् ॥ ३।८।११ ॥

अनुवाद—इसके बाद पशु के रक्त को पलाश के पत्तों और कुशासनों पर डाल कर 'यास्ते····' प्रभृति छः मन्त्रों को पढ़कर रुद्रदेवता की सेना को छः बलियाँ प्रदान की जायें।

ऊवध्यं लोहितलिप्तमग्नौ प्रास्यत्यधो वा निखनति ॥ ३।८।१२ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'ऊवध्यं···नति'। ऊवध्यं पुरीषाधानं पोटीति प्रसिद्धम्। लोहितेन रक्तेन लिप्तं संसृष्टं लोहितलिप्तमग्नौ आहवनीये प्रास्यति प्रक्षिपति अधोभूमौ वा निखनति निदधाति ॥ ३।८।१२ ॥

अनुवाद—रक्त से लथपथ ऊवध्य अर्थात् मलाशय की थैली को आग में डाल दे, या जमीन में गाड़ दे।

अनुवातं पशुमवस्थाप्य रुद्रमुपतिष्ठते, प्रथमोत्तमाभ्यां वाऽनुवाकाभ्याम् ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अनु···काभ्याम्' । अनुवातं वातमनु लक्षीकृत्य वाताभिमुखमित्यर्थः, पशुमवशिष्टं पशुशरीरमवस्थाप्य निधाय रुद्रैनमस्त इत्यध्यायाम्नातै रुद्रमन्त्रैरुपतिष्ठते स्तौति । यद्वा प्रथमोत्तमाभ्यामनुवाकाभ्यां मन्त्रसमुदायाभ्याम् । तत्र प्रथमोऽनुवाको नमस्त इत्यारभ्य षोडशर्चः, उत्तमोऽन्तिमः द्रापे अन्धसस्पत इत्यारभ्य विंशतिकण्डिकात्मकः ।। ३।८।१३ ।।

अनुवाद—पशु के बचे-खुचे शरीरावशेषों को हवा का रुख जिधर हो उधर ही रखकर, रुद्राध्याय के मंत्रों से या उसके प्रथम और अन्तिम अनुवाकों से उसकी स्तुति करे ।

नैतस्य पशोर्ग्रामᳫं हरन्ति ।। ३।८।१४ ।।

(हरिहरभाष्यम्)—'नैत···रति' । एतस्य रौद्रस्य पशोर्मांसं ग्रामं न हरन्ति ग्रामं प्रति न नयन्ति याज्ञिकाः, किन्तु अरण्य एवोत्सृजन्ति ।। ३।८।१४ ।।

अनुवाद—इस रौद्रयज्ञ की बलि अर्थात् पशु के मांस को यज्ञकर्ता जंगल से गाँव में नहीं लाते ।

एतेनैव गोयज्ञो व्याख्यातः ।। ३।८।१५ ।।

(हरिहरभाष्यम्)—'एते···ख्यातः' । एतेनैव शूलगवेनैव यज्ञेन गोयज्ञो गोयज्ञनामधेयो यागो व्याख्यातः कथितः ।। ३।८।१५ ।।

अनुवाद—इसी शूलगव की क्रिया का विधान ही गोयज्ञ की विधि का भी सम्पादन करता है ।

पायसेनानर्थलुप्तः ।। ३।८।१६ ।।

(हरिहरभाष्यम्)—तत्र द्रव्यविशेषमाह—'पाय···लुप्तः' । पायसेन पयसा संसिद्धेन चरुणा अनर्थलुप्तः शूलगवप्रधानदेवताहोमलोपरहितः ।। ३।८।१६ ।।

अनुवाद—इसका तात्पर्य यह नहीं कि शूलगव के देवता का होम पायसचरु से नहीं होता ।

तस्य तुल्यवया गौर्दक्षिणा ।। ३।८।१७ ।।

(हरिहरभाष्यम्)—तस्य···क्षिणा' । तस्य शूलगवपशोर्वयसा तुल्यं समं वयो जन्मातिक्रान्तकालो यस्य गोः सैं तुल्यवया गौः गोपुङ्गवः दक्षिणा परिक्रयद्रव्यं ब्रह्मणे देयमिति सूत्रार्थः ।। ३।८।१७ ।

अथ प्रयोगः । स्वर्गपशुपुत्रधनयशआयुष्कामानां शूलगवपशुबन्धो विहितः, तत्र मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकं श्राद्धं कृत्वा औपासनाग्निमादायारण्यं गच्छेत् । तत्र शुचौ देशे गार्हपत्यायतनं सप्तविंशत्यङ्गुलं वृत्तं विधाय तन्मध्यनिखातशङ्कोरष्टौ एकादश द्वादश वा स्वकीयपदा प्राचीं दिशं गत्वा तदन्ते शङ्कुं निखाय तयोः शङ्क्वोरुभयतः पाशां रज्जुं प्रसार्याहवनीयायतनं रचयेत् ।

तद्यथा—यावत्प्रमाणा रज्जुः स्यात्तावानेवागमो भवेत् । आगमार्द्धे च शङ्कुः स्यात्

तदर्द्धे च निरञ्छनम् ॥ इति शुल्बवचनानुसारेण । अत्रायं रचनाप्रकारः—पूर्वस्माच्छङ्को-र्द्वादशाङ्गुष्ठपर्वपरिमितं देशं पूर्वतः पश्चिमतश्च परित्यज्य तत्र शङ्कुद्वयं निखाय चतुर्विंशत्यङ्गुलां रज्जुं परिमाय तावतीमेवाधिकां गृहीत्वा उभयतः पाशवतीं कृत्वा तस्या रज्जोरागमार्द्धे शङ्कुस्थानं सूत्रादिनाऽङ्कयित्वा अपरागमार्द्धे निरञ्छनम् आकर्षणसूत्रगुणमोप्य पूर्वार्द्धापरार्द्धान्तयोः शङ्क्वोः तस्या रज्जोः पाशद्वयं निक्षिप्य निरञ्छनेन गुणेन दक्षिणत आकृष्य शङ्कुस्थाने शङ्कुं निखनेत् । ततस्तामेव रज्जुमुत्तरतो नीत्वा तथैवाकृष्य शङ्कुस्थाने अपरं शङ्कुं निखनेत् । अथ रज्जोः पाशौ परिवर्त्य पूर्ववन्निरञ्छनगुणेन दक्षिणत आकृष्य शङ्कुस्थाने शङ्कुन्निखाय पुनस्तामेव रज्जुमुत्तरतो नीत्वा तथैवाकृष्य शङ्कुस्थाने शङ्कुं निखनेत् । एवं चतुरस्रं चतुर्विंशत्यङ्गुलायामविस्तारमाहवनीयायतनं सम्पद्यते ।

ततो गार्हपत्याहवनीयान्तरालसम्मितां रज्जुमागमय्य तां च षड्गुणां वा सप्तगुणां विधाय षष्ठांशं सप्तमं वा तत्राधिकं निक्षिप्य प्रसार्य त्रिगुणीकृत्य अपरवितृतीये शङ्कुस्थानज्ञानार्थमङ्कयित्वा गार्हपत्याहवनीयमध्यगतयोः शङ्क्वोः पाशौ प्रतिमुच्य गार्हपत्यायतनाद्दक्षिणत आकृष्य अपरवितृतीयाङ्के शङ्कुं निखाय तस्मिन् शङ्कौ अन्यं रज्जुपाशं प्रतिमुच्य षोडशाङ्गुलानि परिमाय वृत्तं मण्डलं विरचय्य तन्मध्यमशङ्कोश्चत्वार्यङ्गुलान्युत्तरतः परित्यज्य तत्र पूर्वापरायतां मण्डलसम्मितां रज्जुं निपात्य रेखामुल्लिखेत् । एवं धनुषाकृति दक्षिणाग्न्यायतनं सम्पद्यते । तथा तामेव रज्जुं परिवर्त्याहवनीयादुत्तरतो वितृतीयेनाकृष्य वितृतीयस्थाने उत्करं कुर्यात् ।

एवं वितानं साधयित्वा तेषु पञ्चभूसंस्कारान्कृत्वा गार्हपत्यायतने औपासनाग्निं संस्थाप्य मृन्मयेन पात्रेण गार्हपत्यैकदेशमादायाहवनीयायतने आहवनीयं प्रणयेत् । एवमेव गार्हपत्याद्दक्षिणाग्निम् । आहवनीयस्य दक्षिणतो ब्रह्मासनमास्तीर्य शूलगवेन रौद्रेण पशुनाऽहं यक्ष्ये तत्र मे त्वं ब्रह्मा भवेति सुब्राह्मणं प्रार्थ्य भवामीति तेनोक्त आसने तमुपवेश्य उत्तरतः प्रणीताः प्रणीय पवित्रच्छेदनानि पवित्रे प्रोक्षणीपात्रं वज्रमन्तर्द्धानतृणं चेत्येतानि पञ्च आसादयेत् । ततः रज्जुं शङ्कुं शम्यामभ्रिं पुरीषाहरणमुदकं सिकताः आच्छादनवस्त्रमित्यष्टौ उपकल्पयेत् ।

ततः पवित्रे कृत्वा प्रोक्षणीः संस्कृत्य वज्रमन्तर्द्धानतृणं च प्रोक्ष्य प्रोक्षणीं निधाय वज्रमादाय वेदिं मिमीते स्फ्येन । आहवनीयस्य दक्षिणतः प्राचीं त्र्यरत्निं पश्चिमतश्चतुररत्निमुत्तरतस्त्र्यरत्निं पूर्वतश्च त्र्यरत्निमिति एवं परिमितां वेदिं त्रिभिः कुशैः परिसमुह्य उत्तरतो वज्रेणोत्करं परिलिख्य तदन्तिके वज्रं निधाय तदुपरि वेदितृणं कृत्वा सतृणं वज्रमादाय दक्षिणहस्तेन सव्ये पाणावाधाय दक्षिणेनालभ्य तेन वज्रेण पृथिवीमात्मानं वा संस्पृशन् वेद्यामुदगग्रं तृणं निधाय तदुपरि तेन प्रहृत्य तदग्रेण पुरीषमादाय वेदिं प्रेक्ष्य पुरीषमुत्करे कृत्वा पुनस्तथैव प्रहृत्य पुरीषमादाय वेदिं प्रेक्ष्यामुं पुरीषमुत्करे करोति, एवमेव द्वितीयं करोति, पुरीषकरणान्ते दक्षिणोत्तराभ्यां पाणिभ्यामुत्करेऽभिन्यासं करोति ततस्तृतीयं प्रहरणादि तथैव चतुर्थं कृत्वा ब्रह्मन् पूर्वं परिग्रहं परिग्रहीष्यामीत्यामन्त्रितेन ब्रह्मणा परिगृहाणेत्यनुज्ञातः स्फ्येन वेदिं दक्षिणतः

प्राचीं परिगृह्य पश्चिमत उदीचीमुत्तरतः प्राचीं परिगृह्णाति । अथ वेद्यां प्राचीस्तिस्रो लेखा उल्लिख्य अनामिकाङ्गुष्ठाभ्यां दक्षिणाप्रभृतिभ्यो लेखाभ्यः पृथक् पृथक् पुरीषमादायोत्करे प्रक्षिप्य क्रमेण लेखाः सम्मृशति । तत्रैते वेदिमानादिपदार्थाः स्वकर्तृका मन्त्ररहिताश्च, ऋत्विगन्तराभावात्समाम्नायाभावाच्च ।

अथाहवनीयस्य पुरस्तादुत्तरवेदिस्थाने पञ्चभूसंस्कारान्कृत्वा पूर्वार्द्धे शङ्कुं निखाय द्वात्रिंशदङ्गुलां शम्यामादाय चतुरस्रामुत्तरवेदिं शम्यामात्रीं मिमीते, ततस्तथैव शम्यया उत्तरवेदेरुत्तरतश्चात्वालं मिमीते । तद्यथा—पश्चादुदीचीं शम्यां निपात्य स्फ्येन तावतीं लेखामुल्लिख्य तथैव पुरस्तादुदीचीं दक्षिणतः प्राचीं उत्तरतः प्राचीं शम्यां निपात्य लेखामुल्लिखेत् । एवं चतुरस्रशम्याप्रमाणं चात्वालं सम्पद्यते । ततश्चात्वालमध्ये स्फ्याग्रेण प्रहृत्य पुरीषमादायोत्तरवेदौ शङ्कुसमीपे प्रक्षिप्याभिन्यासं विधाय पुनरेवं द्विरपरं प्रहृत्य पुरीषमादायोत्तरवेदौ प्रक्षेपमभिन्यासं च कृत्वा चतुर्थवेलायामभ्र्या चात्वालं खात्वा यावता पुरीषेण शम्यामात्री उत्तरवेदिरूर्द्ध्वा पूर्यते तावत्पुरीषं पुरीषाहरणेन चात्वालादादाय प्रक्षिपेत् ।

एवमुत्तरवेदिं रचयित्वा मध्ये प्रादेशमात्रीं चतुरस्रां नाभिं कृत्वा प्रोक्षणीभिः प्रोक्ष्य सिकतामुपकीर्य वाससाऽऽच्छादयति । अथ गार्हपत्ये पूर्णाहुतिवदाज्यं संस्कृत्य पञ्चगृहीतं गृहीत्वा आज्यप्रोक्षण्या आहवनीये सोपयमनीकाधिश्रृते इध्मस्थाग्नीनुद्यम्य उत्तरवेदिसमीपं गत्वा पुरस्तात्पश्चाद्दक्षिणत उत्तरश्चोत्तरवेदिं प्रोक्षणीभिः प्रोक्ष्य प्रोक्षणीशेषमुत्तरवेदेराग्नेयकोणसमीपे बहिर्वेदीं निनीय पञ्चगृहीतेनाज्येन नाभिं व्याघारयति कोणे हिरण्यं पश्यन् । यथा पूर्ववद्दक्षिणस्यां स्रक्त्यां आघार्योत्तरापरस्यां ततो दक्षिणापरस्यां ततः पूर्वोत्तरस्यां मध्ये चाभिघार्यं शेषमाज्यं स्रुवे उद्यम्योद्ध्वंमुत्क्षिपति । ततो नाभिं पौतुदारवैः परिधिभिः परिदधाति ।

तद्यथा प्रथममुदगग्रेण पश्चिमतः ततः प्रागग्रेण दक्षिणतः ततः प्रागग्रेणोत्तरतः । ततो नाभिमध्ये गुल्गुलुसुगन्धितेजनं वृष्णेस्तुकाः शीर्षण्याः तदभावेऽन्या निदधाति । तदुपरि उपयमनीगतमग्निं स्थापयति उपयमनीं च तत्समीपे निवपति चात्वाले वा, प्रणीयमानमग्निं ब्रह्माऽनुगच्छति । ततो यजमानः प्रणीता उत्तरवेदेरुत्तरेण कुशासने प्रणीयाहवनीयं परिस्तीर्य गार्हपत्यं च पात्राण्यासादयति । आज्यस्थाली सम्मार्गकुशाः सन्नहनावच्छादनानि परिधयः उपयमनकुशाः समिधः स्रुवः आज्यं वपाश्रपण्यौ चरुस्थाली शूलमुखा तण्डुलाः दक्षिणार्थं तुल्यवया गौश्चेति । अथोपकल्पनीयान्युपकल्पयति । बर्हिः प्लक्षशाखा पलाशशाखा त्रिगुणरशना उपाकरणतृणं द्विगुणरशना गोपशुः असिः पात्नेजनीः दधि हिरण्यशकलानि षट् पलाशपत्राणि चेति । तत आसादनक्रमेण पात्राणि प्रोक्षति । रुद्राय त्वा जुष्टं प्रोक्षामीति तण्डुलान् प्रोक्षति आज्यस्थाल्यामाज्यं निरूप्य गार्हपत्येऽधिश्रित्य पर्यग्निकुर्यात् । ततो वेदिं मध्यसङ्गृहीतामभ्र्या खात्वा ब्रह्मन्नुत्तरं परिग्राहं परिग्रहीष्यामीति ब्रह्माणमामन्त्र्य परिगृहाणेति ब्रह्माणाऽनुज्ञातः पूर्ववत्स्फ्येन दक्षिणपश्चिमोत्तरतो वेदिं परिगृह्यानुमार्ष्टि ।

आहवनीयमपरेण प्रोक्षणीरासाद्य प्रणीतोदकेन पाणी अवनिज्य प्रणीतानां पश्चि-

मतः प्रागग्रं स्फ्यं निधाय तदुपरि इध्माबर्हिषी आसादयति। ततः स्रुवं प्रतप्य सम्मृज्याभ्युक्ष्य पुनः प्रतप्य निदध्यात्। आज्यमुद्वास्य प्रोक्षणीनामपरेण कृत्वोत्पूयावेक्ष्य प्रोक्षणीरुत्पूय वेदिं प्रोक्ष्य बर्हिश्च प्रोक्ष्य प्रोक्षण्येकदेशेन बर्हिर्मूलानि सिक्त्वा बर्हिर्विस्रंस्य सन्नहनं च विस्रंस्य दक्षिणस्यां वेदिश्रोणौ निधाय सन्नहनावच्छादनैरवच्छाद्य वेदिं स्तृणाति। तद्यथा बर्हिः पुलकं त्रिधा विभज्य प्रथमं भागं दक्षिणेनोत्थाप्याङ्के कृत्वा द्वितीयं भागं दक्षिणेनोत्थाप्याङ्के कृत्वा तृतीयं भागं दक्षिणेनोत्थापितं सव्येन सङ्गृह्याङ्कस्थितं प्रथमभागं दक्षिणेनादाय वेद्यां स्तृणात्युदक्संस्थम्, तथैव द्वितीयं भागं दक्षिणेनोत्थाप्याङ्के कृत्वा सव्ये स्थितं दक्षिणेनादायाङ्कगयेतं सव्येन सङ्गृह्य पूर्वस्तृतबर्हिर्मूलानि द्वितीयबर्हिर्भागाग्रैश्छादयन् स्तृत्वा तृतीयभागं दक्षिणेनादाय स्फ्योपग्रहेण तथैव स्तृणाति पश्चादपवर्गम्, तदुपरि प्लक्षशाखाः स्तृणाति। अथाहवनीयं कल्पयति। ततो मध्यमदक्षिणोत्तरान्परिधीन् आहवनीये परिदधाति, आहवनीयमवेक्ष्य अग्रेणाहवनीयं परीत्य पलाशशाखां निखनति तां त्रिगुणरशयना त्रिः परिव्ययति तत्र शकलमुपगूहति, रुद्राय त्वोपाकरोमीत्युपाकरणतृणेन पशुमुपाकरोति।

ततो द्विगुणरशयना अन्तराशृङ्गं पशुं बद्ध्वा रुद्राय नियुनज्मीति शाखायां नियुनक्ति। अथ रुद्राय त्वा जुष्टं प्रोक्षामीति पशुं प्रोक्षणीभिः प्रोक्ष्य शेषमास्ये उपगृह्याधस्तादुपोक्षति। तत उपयमनकुशानादाय समिधोऽभ्याधाय प्रोक्षणीभिः पर्युक्ष्य पूर्वाघारमाघार्यं उत्तराघारान्ते स्रुवाग्रेण ललाटांसश्रोणिषु पशुं समनक्ति। ततः स्रुवाग्राक्ताभ्यां स्वर्वसिभ्यां पशोर्ललाटमुपस्पृशति। स्वरुमवगुह्य असिमेकतो घृतेनाभ्यज्य निदध्यात्। अथ चात्वालस्योत्तरतः स्फ्येन शामित्राय परिलिख्याहवनीयस्योल्मुकेन पश्वाज्यशामित्रदेशशाखाचात्वालाहवनीयान् पर्यग्निकुर्यात् त्रिः। पुनरुल्मुकमाहवनीये प्रक्षिप्य तावत्प्रतिगच्छेत् पुनराहवनीयादुल्मुकमादाय पशुं कण्ठे बद्ध्वा वपाश्रपणीभ्यामन्वारभ्य उदङ्नयेत्। तत्र वेदितृणद्वयमादाय शामित्रे उल्मुकं निधाय शासित्रस्य पश्चादेकं तृणमास्तीर्य तत्र पशुं प्राक्शिरसं प्रत्यक्शिरसमुदक्शिरसमुदक्पादं वा निपात्य अवाश्यमानं मुखं सङ्गृह्य तमनेन शामित्रेण संज्ञपयति, सत्यन्यस्मिन्पुरुषे शमितरि यजमान आहवनीयं प्रत्येत्य पूर्णाहुतिवदाज्यं संस्कृत्य स्वाहा देवेभ्य इत्येकामाज्याहुतिमाहवनीये हुत्वा संज्ञप्ते पशौ देवेभ्यः स्वाहेति तेनैवाज्येनापरां हुत्वा तूष्णीमपराः पञ्च जुहोति। अथ वपाश्रपणीभ्यां नियोजनीं चात्वाले प्रास्य पान्नेजनीभिः पशोः प्राणशोधनं स्वयमेव करोति।

तद्यथा—मुखं नासिके चक्षुषी द्वे कर्णौ द्वौ नाभिं मेढ्रं पायुं संहृत्य पादान् एकैकं पान्नेजनीजलेन स्पृशति, शेषेण शिरःप्रभृति कर्णपर्यन्तं पुनस्तथैवाप्याय्य ततोऽङ्गानि निषिच्य शेषं पशोः पश्चादभागे निषिञ्चति। तत उत्तानं पशुं कृत्वा नाभ्यग्रे तृणं निधाय घृताभ्यक्तासिधारयाऽभिनिधाय सतृणां त्वचं छित्वा तृणमूलमुभयतो लोहितेनाङ्क्त्वा तृणं भूमौ निरस्य तदुपरि स्वयं पादौ कृत्वा पुनरागत्योपविश्य वपामुत्खिद्य वपाश्रपणीभ्यां प्रोर्णूय छित्वाऽऽज्येनाभिघार्य प्रक्षाल्य पशुं विशास्ति। हृदयादीनि सर्वाणि त्रीणि वा पञ्च वा यथाकाममवदानान्यवद्य जाघनीं चावद्य श्वभ्रे ऊवध्यमव-

धाय लोहितं चावधाय चरौ तण्डुलानोप्य वपां शामित्रे प्रतप्य आहवनीयस्योत्तरतः स्थित्वा आहवनीये च प्रतप्य शाखाग्न्योरन्तरेणाहृत्य दक्षिणतः स्थित्वा स्रुवेणाज्येनाभिघारयन् श्रपयति गार्हपत्ये स्थालीपाकम् । शामित्रे हृदयाद्यवदानानि प्रतप्य तत्र हृदयं शूले चरुं पर्यग्निकृत्वा वपामभिघारयति, अथ त्रिः प्रच्युते पशोर्हृदयमुपरि कृत्वा पृषदाज्येन हृदयमभिघार्य इतराण्यवदानान्याज्येन सर्वाणि च त्र्यङ्गवर्जमभिघार्य स्थालीपाकमुद्वास्य उखां च वपाया अङ्गानां च प्राणदानं कृत्वा वपादीनि क्रमेणासाद्य अङ्गानि शाखाग्न्योरन्तरेणाहृत्य वेद्यामासाद्य वपामवदानानि चालभ्य ब्रह्मणाऽन्वारब्धं आज्यभागौ हुत्वा वपाहोमार्थं स्रुवे आज्यमुपस्तीर्य हिरण्यशकलमवधाय वपां गृहीत्वा पुनर्हिरण्यशकलं दत्त्वा द्विरभिघार्य रुद्राय स्वाहेति वपां जुहोति, वपाश्रपण्यौ विपर्यस्ते चाग्नौ प्रास्यति, तत उखातो वसां गृहीत्वा अन्तरिक्षाय स्वाहेति जुहुयात् ।

अथावदानहोमार्थं स्रुवे आज्यमुपस्तीर्य हिरण्यशकलमवधाय हृदयाद्यङ्गेभ्यः प्रत्येकं द्विर्द्विरवदाय स्रुवे क्षिप्त्वा स्थालीपाकाच्च सकृदवदाय क्षिप्त्वा उपरि हिरण्यशकलं दत्त्वा सकृदभिघार्य असर्वाणि चेत् क्षताभ्यङ्गं कृत्वा अग्नये स्वाहेति जुहोति । एवं पुनः स्रुवे उपस्तरणहिरण्यशकलावधानद्विर्द्विः प्रधानावदानग्रहणसकृत्स्थालीपाकावदानहिरण्यशकलावधानाभिघारणानि कृत्वा अग्नये रुद्राय शर्वाय पशुपतये उग्राय अशनये भवाय महादेवाय ईशानायेत्येतैर्नाममन्त्रैः स्वाहाकारान्तैरेकैकस्मै जुहोति । एवमग्न्यादयो नव प्रधानहोमाः सम्पद्यन्ते । ततः पृषदाज्येन वनस्पतये स्वाहेति होमं विधाय स्विष्टकृद्धोमार्थं स्रुवमुपस्तीर्य हिरण्यशकलं दत्त्वा सर्वावदानपक्षे त्र्यङ्गेभ्यो द्विर्द्विरवदाय असर्वावदानपक्षे तेभ्य एव प्रधानार्थेभ्यो द्विर्द्विरवदाय सकृच्चरोरवदाय हिरण्यशकलमवधाय द्विर्द्विरभिघार्य अग्नये स्विष्टकृते स्वाहेत्यग्नेरुत्तरप्रदेशे जुहुयात् । यथामन्त्रं सर्वत्र त्यागाः ।

ततः स्रुवेण वसां गृहीत्वा आहवनीयस्य पुरस्ताद्दिशः स्वाहा इदं दिग्भ्यः । दक्षिणतः प्रदिशः स्वाहा इदं प्रदिग्भ्यः । पश्चिमत आदिशः स्वाहा इदमादिग्भ्यः । उत्तरतो विदिशः स्वाहा इदं विदिग्भ्यः । मध्यत उद्दिशः स्वाहा इदमुद्दिग्भ्यः । पूर्वार्द्धे दिग्भ्यः स्वाहा इदं दिग्भ्यः । ततो जाघनीं गृहीत्वा गार्हपत्यं प्रत्येत्य जाघन्याः स्रुवेणावदायावदाय इन्द्राण्यै स्वाहा इदमिन्द्राण्यै रुद्राण्यै स्वाहा इदं रुद्राण्यै शर्वाण्यै स्वाहा इदं शर्वाण्यै भवान्यै स्वाहा इदं भवान्यै अग्नये गृहपतये स्वाहा इदमग्नये गृहपतये, एताः पञ्च पत्नीसंयाजाहुतीर्जुहुयात् । तत आहवनीये महाव्याहृत्यादिप्राजापत्यान्ता नवाहुतीर्हुत्वा संस्रवं प्राश्य शूलगवपशुना तुल्यवयसं वृषं ब्रह्मणे दक्षिणां दद्यात् । ततः पलाशपत्रेषु षट्सु प्राक्संस्थेषु उदक्संस्थेषु वा पशुलोहितेन—'यास्ते रुद्र पुरस्तात्सेनास्ताभ्य एष बलिस्ताभ्यस्ते नमः । यास्ते रुद्र दक्षिणतः सेनास्ताभ्य एष बलिस्ताभ्यस्ते नमः । यास्ते रुद्र पश्चात्सेनास्ताभ्य एष बलिस्ताभ्यस्ते नमः। यास्ते रुद्रोत्तरतः सेनास्ताभ्य एष बलिस्ताभ्यस्ते नमः । यास्ते रुद्रोपरिष्टात्सेनास्ताभ्य एष बलिस्ताभ्यस्ते नमः । यास्ते रुद्राधस्तात्सेनास्ताभ्य एष बलिस्ताभ्यस्ते नमः,। इदं रुद्राय सेनाभ्य इति सर्वबलिषु त्यागाः । ऊवध्यस्य लोहितलिप्तस्याग्नौ प्रक्षेपणमधस्तान्निखननं वा कृत्वा अनुवातं पशु-

मवस्थाप्य रुद्राध्यायेन नमस्त इत्यादिना अस्य प्रथमोत्तमाभ्यामनुवाकाभ्यां वा रुद्रानुपस्थाय उदकमुपस्पृशेत् । एतस्य पशोर्मांसं ग्रामं नानयेत् । इति समाप्तः शूलगवः ॥

अथ गोयज्ञपद्धतिः । तत्र विहितमातृपूजाभ्युदयिकश्राद्धः स्वर्गपशुपुत्रधनयशआयुष्यफलानामन्यतमफलकाम औपासनमरण्यं नीत्वा तत्र परिसमूहनादिभिः संस्कृतायां भूमौ स्थापयेत् । तत्र ब्रह्मोपवेशनान्ते विशेषः । सक्षीरं प्रणयनं कृत्वा पायसं श्रपयित्वा आज्यभागाविष्ट्वा शूलगवदेवताभ्यः अग्निरुद्रशर्वपशुपत्युग्राशनिभवमहादेवेशानेभ्यः स्वाहाकारान्तैर्नामभिश्चतुर्थ्यन्तैर्नवभिर्मन्त्रैः पायसेन प्रत्येकं जुहुयात् । ततः पायसादेव स्विष्टकृते हुत्वा महाव्याहृत्यादिप्राजापत्यहोमान्ते संस्रवं प्राश्य पूर्णपात्रवरयोरन्यतरं ब्रह्मणे दद्यात् ॥ इति गोयज्ञपद्धतिः ।

अनुवाद—'शूलगव' पशु की तरह ही अर्थात् उसी आयु की गाय ब्राह्मण को दक्षिणा में देना चाहिए ।

टिप्पणी—उस तरह की गाय के अभाव में उसका उचित मूल्य दक्षिणा के रूप में ब्राह्मण को देना चाहिए—यह हरिहर का कथन है ।

तृतीयकाण्ड में अष्टम कण्डिका समाप्त ॥

नवमी कण्डिका

वृषोत्सर्गः

अथ वृषोत्सर्गः ॥ ३।९।१ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अथ वृषोत्सर्गः'। अथ शूलगवानन्तरं वृषोत्सर्गः वृषस्य वक्ष्यमाणस्योत्सर्ग उत्सर्जनं वक्ष्यत इति सूत्रशेषः। स च कामाधिकारात्फलस्य वाऽनभिधानात् किं विश्वजिन्न्यायेन स्वर्गफलः कल्प्यते उत पूर्वोक्तशूलगवानन्तराभिधानात् तत्फल इति सन्देह ॥ ३।९।१ ॥

अनुवाद—अब वृषोत्सर्ग का विधान करते हैं।

गोयज्ञेन व्याख्यातः ॥ ३।९।२ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—तत्र विश्वजिन्न्यायस्य सर्वथाऽश्रुतफलकर्मविषयत्वान्नात्र प्रवृत्तिः। कुतः? सन्निधिश्रुतस्य शूलगवफलस्य स्वर्गादिरत्रान्वययोग्यत्वात्, तस्मादयमपि पशुः स्वर्गपशुपुत्रधनयशआयुष्कामस्यैवेत्यभिप्रेत्याह—'गोयज्ञेन व्याख्यातः'। स च गोयज्ञेन गवा रौद्रेण पशुना यज्ञः गोयज्ञस्तेन व्याख्यातः गोयज्ञसाध्यफलेतिकर्तव्यतावानित्यर्थः। ततश्चास्मिन्नपि स्वर्गपशुपुत्रधनयशआयुष्कामस्याधिकारः ॥ ३।९।२ ॥

अनुवाद—इसका फल भी गोयज्ञ की तरह ही जानना चाहिए।

कार्त्तिक्यां पौर्णमास्याᳬ रेवत्यां वाऽऽश्वयुजस्य ॥ ३।९।३ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—स कदा कर्तव्य इत्यपेक्षायामाह—'कार्ति······जस्य'। कार्तिक्यां पूर्णिमायामाश्विनस्य रेवत्यां रेवतीनक्षत्रे वा कर्तव्य इति सूत्रशेषः। शास्त्रान्तरे तु चैत्र्यामाश्वयुज्यां वेति कालान्तरमुक्तम् ॥ ३।९।३ ॥

अनुवाद—कार्त्तिक पूर्णिमा या आश्विन महीने के रेवती नक्षत्र में वृषोत्सर्ग करना चाहिए।

मध्येगवाᳬ सुसमिद्धमग्निं कृत्वाऽऽज्यᳬ संस्कृत्येहरतिरिति षट् जुहोति प्रतिमन्त्रम् ॥ ३।९।४ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'मध्ये···मन्त्रम्'। मध्ये गवां गोष्ठे पञ्चभूसंस्कारपूर्वकमावसथ्याग्निं सुसमिद्धं प्रज्वलितं कृत्वा आज्यं संस्कृत्य पर्युक्षणान्ते इहरतिरित्यादिभिः षड्भिर्मन्त्रैः प्रतिमन्त्रं षडाज्याहुतीर्जुहोति। अत्र मध्येगवामिति देशविशेषनियमानुविधानाद् देशान्तरस्येह यागानङ्गत्वम् ॥ ३।९।४ ॥

अनुवाद—गायों के बीच में आग जलाकर आज्य संस्कार करे। इसके बाद 'इह रति' इत्यादि छः मंत्रों से छः आहुतियाँ दे।

टिप्पणी—'इह रति···' इत्यादि छः मंत्र इस प्रकार है—१. इह रतिः स्वाहा;

२. इह रमध्वं स्वाहा; ३. इह धृतिः स्वाहा; ४. इह स्वधृतिः स्वाहा; ५. उपसृजन् धरुणं मात्रे धरुणो मातरं धयन् स्वाहा; ६. रायस्पोषमस्मासुदीधरत् स्वाहा ।

'पूषा गा अन्वेतु नः पूषा रक्षत्ववंतः । पूषा वाजꣳ सनोतु नः स्वाहा' इति पौष्णस्य जुहोति ।। ३।९।५ ।।

(हरिहरभाष्यम्)—'पूषा···होति' । पौष्णस्य पूषा देवता अस्येति पौष्णस्तस्य चरोः पूषागा इत्यादिमन्त्रेण सकृज्जुहोति होमसङ्ख्यानभिधानात् तस्य च श्रपणानुपदेशात् सिद्ध एवोपादीयते । अयं पौष्णश्चरुः पिष्टमयो भवति । कुतः ? तस्माद्यं पूष्णे चरुं कुर्वन्ति प्रपिष्टानामेव कुर्वन्तीति श्रुतेः ।। ३।९।५ ।।

अनुवाद—'पूषा गा·····' इत्यादि मंत्र पढ़कर एक आहुति पूषन् को दी जाये ।

मन्त्रार्थ—(ऋषि प्रजापति, छन्द गायत्री, देवता पूषन् ।) पूषन् देव हमें अन्न और गायें दें; ये हमारे प्राणों को सर्वथा स्वस्थ बनाये रखें ।

रुद्राञ्जपित्वैकवर्णं द्विवर्णं वा यो वा यूथं छादयति यं वा यूथं छादयेद्रोहितो वैव स्यात् । सर्वाङ्गैरुपेतो जीववत्सायाः पयस्विन्याः पुत्रो यूथे च रूपस्वित्तमः स्यात्तमलङ्कृत्य यूथे मुख्याश्चतस्रो वत्सतर्यस्ताश्चालङ्कृत्य—

एतं युवानं पतिं वो ददामि तेन क्रीडन्तीश्चरथ प्रियेण ।

मा नः साप्तजनुषाऽसुभगा रायस्पोषेण समिषा मदेमेत्येतयैवोत्सृजेरन् ।।

(हरिहरभाष्यम्)—'रुद्रान्·····जेरन्' । रुद्रान्नमस्त इत्यध्यायाम्नातान् जपित्वा जपधर्मेण पठित्वा, अत्र शूलगवातिदेशप्राप्तोऽपि रुद्रजपविधिः प्रथमोत्तमानुवाकजपविकल्पनिवृत्त्यर्थः जपावसरज्ञापनार्थो वा । तन्न । अपूर्व एवायम्, जप्यत्वेनाप्राप्तत्वात् । प्रकृतौ हि रुद्राणां पशूपस्थाने करणत्वेन विहितत्वात् । एक एव शुक्लादिवर्णो रूपं यस्य स एकवर्णः तम् । अथवा द्वौ वर्णौ यस्य स द्विवर्णः तं वृषम् । एवं वर्णविशेषनियममभिधायाधुना वृषस्य परिमाणविशेषनियममाह—यो वृषो यूथं कृत्स्नं वर्गं छादयति स्वपरिमाणेनाधः करोति तं, वा यं वृषं यूथं वर्गश्छादयेत् अधः कुर्यात् तं वा यूथादधिकपरिमाणं वा न्यूनपरिमाणं वेत्यर्थः । रोहितो लोहित एव वा यः स्यात्, एवकारेण लोहितस्य एकवर्णद्विवर्णाभ्यां प्राशस्त्यमुच्यते, पुनः कीदृक् ? सर्वैरङ्गैरुपेतः समन्वितः न पुनर्हीनाङ्गोऽधिकाङ्गो वा, तथा जीवाः प्राणवन्तो वत्साः प्रसूतिर्यस्याः सा जीववत्सा तस्या गोः पुत्रः । तथा पयः क्षीरं बहुलं विद्यते यस्याः सा पयस्विनी तस्या गोः पुत्रः । तथा यूथे वर्गे विषये रूपमस्यास्तीति रूपस्वी अतिशयेन रूपस्वी रूपस्वित्तमः वृषः स्यात् तमुक्तगुणविशिष्टं वृषमलङ्कृत्य वस्त्रमाल्यानुलेपहेमपट्टिकाग्रैवेयकघण्टादिभिर्वृषोचितभूषणैर्भूषयित्वा न केवलं वृषमात्रं ताश्च वत्सतरीरप्यलङ्कृत्य, कीदृशीः ? याः यूथे स्ववर्गे मुख्याः गुणैः श्रेष्ठा वत्सतर्यः, कति ? चतस्रः चतुःसङ्ख्योपेतास्ताः, एवं युवानमित्येतयर्चा उत्सृजेरन् त्यजेयुः ।। ३।९।६ ।।

अनुवाद—पहले रुद्राध्याय के मन्त्रों का जप करे । फिर 'एतं···' इत्यादि मन्त्र

का जप करते हुए गाय की चार बछियों के साथ युवा बैल को अलंकृत कर छोड़ दे। बैल एकरंगा या दुरंगा हो तथा झुण्ड को आच्छादित करने के लिए पूर्ण शक्तिशाली हो। बछिया लाल रंग की हो और शरीर से पूर्ण स्वस्थ हो। उसकी माता सवत्सा हो, दुधारू हो और अपने दल में सर्वाधिक सुन्दर हो।

मन्त्रार्थ—(ऋषि प्रजापति, छन्द त्रिष्टुप्, देवता गौ।) ओ बछियो! इस तरुण और सुपुष्ट बैल के रूप में मैं तुम्हें पति प्रदान करता हूँ। तुम अपने इस पति के साथ उछल-कूद कर क्रीड़ा करती हुई स्वच्छन्द विचरण करो। यह तुम्हारे सात जन्मों का साथी है, तुम सौभाग्यवती हो। तुम मुझ पर दयालु हो, तुम्हारी कृपा से हम भी समृद्धशाली बनें।

नभ्यस्थमभिमन्त्रयते मयोभूरित्यनुवाकशेषेण ॥ ३।९।७ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'नाभ्य····षेण'। नभ्यस्थं वत्सतरीणां मध्ये तिष्ठन्तमभिमन्त्रयते आभिमुख्येन मन्त्रैः स्तौति। केन ? मयोभूरभिमावाहि स्वाहेत्यारभ्य स्वर्णसूर्यः स्वाहेत्यन्तेनानुवाकशेषेणेति वृषोत्सर्गसूत्रार्थः ॥ ३।९।७ ॥

अनुवाद—बछियों के बीच में खड़े उस साँड़ के सामने खड़े होकर 'केन मयोभूः' इत्यादि अनुवाक से स्तुति करे।

टिप्पणी—'केन मयोभूः' मन्त्र शुक्लयजुर्वेद (१८।४५-५०) में द्रष्टव्य। वृषोत्सर्ग विधि इतनी ही है। 'पायसं-प्राशन' कर्म आगे है।

पायस-प्राशनम्

सर्वासां पयसि पायसꣳ श्रपयित्वा ब्राह्मणान् भोजयेत् ॥ ३।९।८ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—अथ पायसप्राशनं नाम कर्मान्तरम्—'सर्वा···जयेत्'। यस्य यावन्तो गावः दोग्ध्र्यः सन्ति स तासां सर्वासां पयसि दुग्धे पायसं परमान्नं श्रपयित्वा पक्त्वा ब्राह्मणान् त्रिप्रभृतीन् यथाशक्ति भोजयेत् तर्पयेत् ॥ ३।९।८ ॥

अनुवाद—जिसके पास जितनी गायें हैं; उन सभी के दूध से खीर बनाकर यथाशक्ति ब्राह्मणभोजन कराये।

पशुमप्येके कुर्वन्ति। तस्य शूलगवेन कल्पो व्याख्यातः ॥ ३।९।९-१० ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'पशु····ख्यातः'। एके आचार्याः पशुमपि छागं च कुर्वन्ति आलभन्ते उक्तविधिना पायसश्रपणपूर्वकं ब्राह्मणान् भोजयन्ति च, तस्य पशोः शूलगवेन शूलगवाख्येन कर्मणा कल्पः इतिकर्तव्यताकलापो व्याख्यातः कथितः। इति सूत्रार्थः ॥ ३।९।९-१० ॥

अथ पद्धतिः। तत्र स्वर्गादीनामन्यतमफलप्राप्तिकामः कार्तिक्यां पौर्णमास्यामाश्वयुजस्य रेवत्यां वा शास्त्रान्तराच्चैत्र्यामाश्वयुज्यां वा मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकश्राद्धं कृत्वा गोष्ठे गत्वा गवां मध्ये पञ्चभूसंस्कारान् कृत्वा आवसथ्याग्निं स्थापयेत्। प्रणीताप्रणयनकाले प्रणीतापात्रमध्ये पिष्टादिना अन्तर्द्धानं विधाय मूलदेशे पयः इतरत्र जलं

प्रक्षिप्य प्रणयेत् । तण्डुलानन्तरं पौष्णं पिष्टमयं चरुं सिद्धमेवासादयेत्, प्रणीतेन पयसा पायसं श्रपयेत्, पर्युक्षणान्ते सुसमिद्धेऽग्नौ 'इहरतिः स्वाहा १ इहरमध्वं स्वाहा २ इहधृतिः स्वाहा ३ इहस्वधृतिः स्वाहा ४ उपसृजं धरुणं मात्रे धरुणो मातरं धयन्स्वाहा ५ । रायस्पोषमस्मासु दीधरत्स्वाहा ६ । इदमग्नये इति षट्सु त्यागाः । एवं षडाहुतीर्हुत्वा आज्यभागान्ते पायसेन शूलगवदेवताभ्योऽग्न्यादिभ्य ईशानान्ताभ्यो नवाहुतीः प्रत्येकं हुत्वा पिष्टचरोः पूषागा अन्वेतु न इत्यादि सनोतु न इत्यन्तेन स्वाहाकारयुतेन मन्त्रेणैकामाहुतिं हुत्वा इदं पूष्णे इति त्यागं विधाय पायसपौष्णाभ्यां स्विष्टकृते हुत्वा महाव्याहृत्यादिहोमसंस्रवप्राशनान्ते पूर्णपात्रवरयोरन्यतरं ब्रह्मणे दक्षिणां दद्यात् ।

अथ नमस्ते रुद्रमन्यव इत्यारभ्यासमाप्ते रुद्राञ्जपित्वा एकवर्णादिगुणविशिष्टं वृषभं चतसृभिर्वत्सतरीभिः सहितं वस्त्रमाल्यानुलेपहेमालङ्कारादिभिरलङ्कृत्य एतं युवानमित्यादि समिषामदेमेत्यन्तया ऋचा उत्सृजेरन् । ततो वत्सतरीमध्ये स्वं वृषभं मयोभूरभिमावाहि स्वाहेत्यारभ्य स्वर्णसूर्यः स्वाहेत्यन्तेनानुवाकशेषेणाभिमन्त्रयते । इति वृषोत्सर्गः ।

अत्र यत्प्रेतकृत्यं तदन्योक्तं लिख्यते । तत्र प्रेतपित्रादिगतनानाविधसमुच्चितस्वर्गादिफलकामस्य स्वगतपुण्यातिशयाशोकमोक्षगतिकामस्य वाऽधिकारः । तत्र प्रथमसंवत्सराभ्यन्तरे कृतसपिण्डीकरणस्याकृतसपिण्डीकरणस्य च मातृस्थापनपूजनाभ्युदयिकश्राद्धानि न भवन्ति । सूतकान्तद्वितीयमहरेवास्य परं वृषोत्सर्गस्य कालो न कार्तिक्यादिः । प्रथमसंवत्सरे काम्यकर्माभ्युदयिकयोरनधिकारात् । कुतः ? 'तथैव काम्यं यत्कर्म वत्सरात्प्रथमादृते' इति वचनात् । सूतकान्ते द्वितीयेऽह्नीति यद्वचनं तत्तथैव काम्यं यत्कर्मेति वचनं बाधित्वैव प्रवर्तते अनन्यविषयत्वात् । कार्तिक्यादिवचनं तु संवत्सरोत्तरकालीनकार्तिक्यादौ सङ्कोच्यम्, अन्यथा बाधसापेक्षत्वाभ्यां वैषम्यापत्तेः । ततश्च संवत्सरानन्तरं कार्तिक्यादिकाले पित्रादिगतनानाविधतृप्त्यादिकामेन क्रियमाणो वृषोत्सर्गो मातृस्थापनपजनश्राद्धपूर्वक एव कर्तव्यः । तस्य च कार्तिकीचैत्र्याश्वयुजीरेवत्यः कालाः ।

अथ फलश्रुतिः—उत्सृष्टो वृषभो यस्मिन् पिबत्यथ जलाशये । शृङ्गेणोल्लिखते भूमिं यत्र क्वचन दर्पितः ॥ पितॄणामन्नपानं तत्तत्प्रभृत्युपतिष्ठते । वृषोत्सर्गादृते नान्यत्पुण्यमस्ति महीतले ॥ तथा—वृषभस्य तु शब्देन पितरः सपितामहाः । आवर्तमाना दृश्यन्ते स्वर्गलोके न संशयः ॥ जले प्रक्षिप्य लाङ्गूलं तोयं यद्धरते वृषः । दशवर्षसहस्राणि पितरस्तेन तर्पिताः ॥ कुलात्समुद्धृता यावच्छृङ्गे तिष्ठति मृत्तिका । भक्ष्यभोज्यमयैः शैलैः पितरस्तेन तर्पिताः ॥ गवां मध्ये यदा चैष वृषभः क्रीडते तु यत् । अप्सरोघसहस्रेण क्रीडन्ति पितरस्ततः ॥ लाङ्गूलमुद्यमं यावत्तोयेषु क्रीडते तु सः । अप्सरोगणसङ्घैश्च क्रीडन्ति पितरः सदा ॥ सहस्ररत्नपात्रेण कनकेन यथाविधि । तृप्तिः स्यात्या पितॄणां वै सा वृषेण समोच्यते ॥ एतानि चार्थवादफलानि समुच्चितान्येव कामनाविषयः ।

अथ वृषस्वरूपम्—जीवद्वत्सायाः पयस्विन्याः पुत्रो मुखपुच्छपादेषु सर्वशुक्लो

नीलो लोहितो वा वृषः । तथा—उन्नतस्कन्धककुद ऋजुलाङ्गूलभूषणः । महाकटितट-स्कन्धो वैडूर्यमणिलोचनः ।। प्रवालगर्भश‍ृङ्गाग्रः सुदीर्घऋजुबालधिः । नवाष्टदशसङ्ख्यैस्तु तीक्ष्णाग्रैर्दशनैः शुभैः ।। मल्लिकाख्यश्च मोक्तव्यस्तथा वर्णेन ताम्रकः । कपिलो वृषभः श्रेष्ठो ब्राह्मणस्य प्रशस्यते ।। श्वेतो रक्तश्च कृष्णश्च गौरः पाटल एव च । तथा—पृथुकर्णो महास्कन्धः सूक्ष्मरोमा च यो भवेत् । रक्ताक्षः कपिलो यश्च रक्तश‍ृङ्गगल-स्तथा ।। श्वेतोदरः कृष्णपृष्ठो ब्राह्मणस्य प्रशस्यते । स्निग्धवर्णेन रक्तेन क्षत्रियस्य प्रशस्यते ।। काञ्चनाभेन वैश्यस्य कृष्णः शूद्रस्य शस्यते । यस्य प्रागायते श‍ृङ्गे स्वमुखा-भिमुखे सदा ।। सर्वेषामेव वर्णानां स वै सर्वार्थसाधकः । तथा—मार्जारपादः कपिल-स्तथा कपिलपिङ्गलः । श्वेतो मार्जारपादः स्यात्तथा मणिनिभेक्षणः । तथा—गौरति-त्तिरिकृष्णतित्तिरिसन्निभौ । तथा—आकर्णमूलात् श्वेतं यस्य मुखं स नान्दीमुखः । विशेषतो रक्तवर्णः । तथा—यस्य जठरं श्वेतवर्णं पृष्ठं च स समुद्रनामा । अतसीवर्णो जघन्यः । तथा—भूमौ कर्षति लाङ्गूलं पुनश्च स्थूलबालधिः । पुरस्तादुन्नतो नीलः स श्रेयान्वृषभः स्मृतः ।। तथा—रक्तश‍ृङ्गाग्रनयनः श्वेतदन्तोदरस्तथा । प्रवालसदृशास्येन वृषो धन्यतरः स्मृतः ।। एते सर्वे धनधान्यविवर्द्धनाः । तथा—चरणाग्रमुखं पुच्छं यस्य श्वेतानि गोपतेः । लाक्षारससवर्णश्च तन्नीलमिति निर्दिशेत् ।। तथा—लोहितो यस्तु वर्णेन मुखे पुच्छे च पाण्डुरः । श्वेतः खुरविषाणाभ्यां स वृषो नील उच्यते ।। तथा नीलाधि-कारे—एवं वृषं लक्षणसम्प्रयुक्तं गृहोद्भवं क्रीतमथापि राजन् । मुक्त्वा न शोचेन्मरणं महात्मा मोक्षे मतिं चाहमतो विधास्ये ।। इति । गाथाऽपि तदर्थेयम् । एष्टव्या बहवः पुत्रा यद्येकोऽपि गयां व्रजेत् । यजेत वाऽश्वमेधेन नीलं वा वृषमुत्सृजेत् ।। अथ वर्जनीया वृषाः—कृष्णताल्वोष्ठदशना रूक्षश‍ृङ्गशफाश्च ये । आसक्तदन्ता ह्रस्वाश्च व्याघ्रभस्म-निभाश्च ये ।। ध्वाङ्क्षगृध्रसवर्णाश्च तथा मूषकसन्निभाः । कुब्जाः काणाश्च खञ्जाश्च केकराक्षास्तथैव च ।। अत्यन्तश्वेतपादाश्च उद्भ्रान्तनयनास्तथा । नैते वृषाः प्रयोक्तव्या गृहे धार्याः कथञ्चन ।। उपादेयश्च वृषस्त्रिहायनः तथा वत्सतर्योऽपि त्रिहायन्य एव ।

अथ स्नात आचान्तः प्रेतपुत्रादिरन्यो वा होता ब्रह्मा च, तत्रान्यपक्षे ॐ अद्या-मुकमासीयामुकतिथौ पित्रादिगतस्वर्गकामो वृषोत्सर्गमहं करिष्ये इति प्रतिज्ञाय अद्य-कर्तव्ये वृषोत्सर्गहोमकर्मणि भवान्मया निमन्त्रितः । तथैव होमकर्मणि कृताकृतावेक्ष-कत्वेन मया भवान्निमन्त्रित इति वस्त्रचन्दनताम्बूलादिभिः होतृब्रह्माणौ वृणुयात् । ततः स्वयं गवां मध्ये गोष्ठे पञ्च भूसंस्कारान्कृत्वा आवसथ्याग्निं स्थापयेत् । होतृब्रह्म-प्रणीतानामासनदानम् । ब्रह्माणमुपवेश्य प्रणीतासु क्षीरोदकप्रणयनम् । उदकमात्रप्रणय-नमिति केचित् । आज्यं तण्डुलाः पौष्णः पिष्टमयः सिद्ध एव चरुः । होतुर्वस्त्रयुगं सुवर्णकांस्यादिदक्षिणा च । ब्रह्मणः पूर्णपात्रं वरो वा दक्षिणा ।।

प्रोक्षण्युदकेन पात्रप्रोक्षणम्, पवित्रस्य च प्रणीतासु निधानं, प्रणीतेन पयसा यथा-विधि पायसचरुश्रपणम्, उद्वासनादि, प्रोक्षण्युदकेन पर्युक्षणान्तमाज्येन इहरतिरित्याद्याः षडाहुतयः इदमग्नय इति षट् त्यागाः । तत आघारावाज्यभागौ, ततः पायसेनाग्नय इत्यादीशानान्तः शूलगवदेवताभ्यो होमः । ततः पिष्टचरुणा पूषा गा अन्वेतु नः पूषा

रक्षत्वर्वतः। पूषा वाजꣳसनोतु नः स्वाहेत्येकाहुतिः पूष्णे। ततः पायसपिष्टचरुभ्यां स्विष्टकृद्धोमः। ततो भूराद्या नवाहुतयः संस्रवप्राशनम्।

दक्षिणान्ते रुद्रान् जपित्वा एकस्मिन्पार्श्वे चक्रेणापरस्मिन् शूलेन वृषभमङ्कयित्वा वत्सतरीर्वृषं च हिरण्यवर्णेति चतसृभिः शन्नोदेवीरिति च स्नापयित्वा लोहघण्टिकानूपुरकनकपट्टादिभिः पश्चाप्यलङ्कृत्य वृषभस्य दक्षिणे कर्णे जपेत्—वृषो हि भगवान्धर्मश्चतुष्पादः प्रकीर्तितः। वृणोमि तमहं भक्त्या स मां रक्षतु सर्वतः॥ इति। तत उत्सर्गः—ॐ अद्यामुकमासीयामुकतिथौ०, एतं युवानं पतिमित्यादिसमिषामदेमेत्यन्तेनैव। पारस्करेण एतयैवोत्सृजेरन्निति एवकारेणान्यनिषेधात्। तथा च ऋगर्थः—हे वत्सतर्यः। वो युष्माकं एतं वृषं युवानं तरुणं पतिं भर्तारं ददामि त्यजामीत्यर्थः। हे वत्सतर्यः! यूयमपि न मयोपयोक्तव्याः, किन्तु तथा त्यक्ताः सत्य उपवनेषु अनेन प्रियेण पत्या सह क्रीडन्तीः क्रीडन्त्यः चरथ स्वच्छन्दं भ्रमत चरत तृणानि खादतेति वा। चर गतिभक्षणयोः। नोऽस्माकं गृहेषु सासजनुषा सप्तजन्मपर्यन्तम् असुभगा मा चरत, किञ्च युष्मत्प्रसादाद्वयं रायस्पोषेण धनपुष्ट्या इषा अन्नेन च सम्मदेम सम्यक् तृप्येम, इत्याशंसा।

तदुक्तम्—ततः प्रमुदितास्तेन वृषभेण समन्विताः। वनेषु गावः क्रीडन्ति वृषोत्सर्गप्रसिद्धिषु॥ ततो वत्सतरीमध्यस्थमभिमन्त्रयते मयोभूरित्यनुवाकशेषेण। ततो यवतिलयुतं जलं पित्रादिभ्यः पितृतीर्थेन दद्यादनेन मन्त्रेण—स्वधा पितृभ्यो मातृभ्यो बन्धुभ्यश्चापि तृप्तये। मातृपक्षाश्च ये केचिद्ये चान्ये पितृपक्षजाः॥ गुरुश्वशुरबन्धूनां ये कुलेषु समुद्भवाः। ये प्रेतभावमापन्ना ये चान्ये श्राद्धवर्जिताः॥ वृषोत्सर्गेण ते सर्वे लभन्तां तृप्तिमुत्तमाम्। दद्यादनेन मन्त्रेण तिलाक्षतयुतं जलम्। उत्सृष्टान्नोपयुञ्जीत स्वामी चान्योऽपि मानव इति। ननु यथा वापीकूपतडागादावुत्सर्गे कृते परस्मिश्चास्वीकारिते निरिष्टिक(?)तज्जलगोचरतया सर्वेषामौपादानिकं स्वत्वं भवति, तथेहापि त्यक्तानां वृषादीनां केनचिदप्यस्वीकृतानां निरिष्टिकानामौपादानिकं स्वत्वं कुतो न भवति? तत्राह—नैवाज्यं न च तत्क्षीरं पातव्यं केनचित्क्वचित्। न वाह्योऽसौ वृषश्चैषामृते गोमूत्रगोमये॥ इति।

ततश्च यथेष्टविनियोगनिषेधान्मतिस्तोकत्वेन (?) किञ्चिदप्युपादानं कार्यम्। ननु औपादानिकस्वत्वानन्तरं विक्रीय कपर्दिकादानमप्यस्त्विति चेन्न। नवाह्य इत्यस्य विनियोगमात्रोपलक्षणत्वात् विक्रयस्यापि यथेष्टविनियोगरूपत्वात्, किन्तु गोपशुविक्रयस्य निषेधश्रुतेः कथं तदर्थमुपादानम्? उल्लङ्घितमर्यादो विक्रयं करोत्विति चेत्, तस्योच्छृङ्खलत्वेन हेयत्वात्, शास्त्राण्यनधिकृत्य शास्त्राप्रवृत्तेः (?) सङ्कल्पविरोधाच्च, तथाह्यनेन प्रियेण वनेष्वनवच्छिन्नकालं चरथेति सङ्कल्पो न तु परोपेतं गोबलीवर्दरूपं मुञ्चतामिति (?)। वाप्यादौ तु सर्वभूतानि स्नानपानावगाहनादि यथेष्टमिह कुर्वन्त्वित्येतावानेव सङ्कल्पः। यदि तु वत्सतरीणामपत्यानि केनचिदुपादाय दोह्यन्ते तदाऽस्य न दोषः। तत्पर्यन्तमेव दोहनवाहननिषेधवाक्यस्य तात्पर्यात् भवेद्वचनमिति न्यायाच्च॥

अथ पायसप्राशनं नाम कर्मान्तरं प्रकरणैक्यात्स्वर्गाद्यन्यतमकामस्याभिधीयते । तत्र कालविशेषानभिधानात्प्रकृतोत्सर्गकाल एव गृह्यते । ततश्च वृषोत्सर्गविहितकार्तिक्या-द्यन्यतमसमये मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकं श्राद्धं कृत्वाऽऽवसथ्याग्नौ स्वकीयानां सर्वासां गवां दोग्ध्रीणां पय आदाय तत्र पयसि तण्डुलान्प्रक्षिप्य पायसं श्रपयित्वा त्रिप्रभृतीन् यथाशक्ति यथासम्भवं ब्राह्मणान्भोजयेत् । अथवा शूलगवविधिना छागं पशुं च कुर्यादिति पायसप्राशनम् ॥ एष वृषोत्सर्गविधिः स्वर्गादिकामस्यौपासनाग्नौ साग्नेर्भवति । यः पुनः प्रेतगतस्वर्गादिफलसाधनभूतो ब्राह्मणादीनां वर्णानामेकादशत्रयोदशषोडशैकत्रिंशत्त-मेष्वस्ति वृषोत्सर्गः स्मृत्यन्तरे विहितः, तत्रापि द्विजातीनां साग्निनिरग्नीनां काण्व-माध्यन्दिनशाखानुसारिणां लौकिकाग्निनाऽनेनैव विधानेन कर्तव्यो मातृपूजाभ्युदयिक-श्राद्धं विना । प्रेतसपिण्डानां प्रथमेऽब्दे काम्याभ्युदयिकयोर्निषेधात् । शूद्रस्य तु मन्त्रवर्जं क्रियामात्रम् । निरग्नीनां तु स्वर्गादिकामानां कार्तिक्याद्यन्यतमकाले लौकिकाग्नौ कर्तव्यो भवतीति विशेषः ।

अत्र केचिदाहुः—एकादशेऽह्नि सम्प्राप्ते यस्य नोत्सृज्यते वृषः । प्रेतत्वं हि स्थिरं तस्य दत्तैः श्राद्धशतैरपि ॥ इत्यादिस्मृतिवचनात्, क्षत्रियवैश्यशूद्रैरप्येकादशेऽह्न्येव आशौचमध्ये नियतकालीनत्वाद् वृषोत्सर्गः कर्तव्य इति । तदयुक्तम् । अत्र प्रकरणे एकादशाहादिशब्दा आशौचसूतकान्तकालोपलक्षकाः । अन्यथा—'अहन्येकादशे नाम' तथा 'आनन्त्यात्कुलधर्माणामायुषश्च परिक्षयात् । अस्थितेश्च शरीरस्य द्वादशाहः प्रशस्यते' ॥ इत्यादिभिर्वचनैर्नामकरणसपिण्डनादिक्रिया क्षत्रियादीनामशुद्धावेवापद्येत । न तदिष्यते । शुचिना कर्म कर्तव्यमिति कर्माधिकारे शुद्धेरपेक्षितत्वात्, सा च शुद्धिः क्षत्रियादीनां त्रयोदशे षोडशे एकत्रिंशत्तमे दिने भवति । तस्मादेकादशाहादिशब्दाः सूतकान्तमुपलक्षयन्ति ॥

अनुवाद—कुछ आचार्यों के विचार से पशु का आलम्भन भी किया जा सकता है । शूलगव के प्रसंग में आलम्भन-विधि का उल्लेख हो चुका है ।

तृतीयकाण्ड में नवम कण्डिका समाप्त ॥

दशमी कण्डिका

अथोदककर्म ॥ ३।१०।१ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अथोदककर्म' । अथ पुरुषसंस्कारकर्मक्रमप्राप्तमुदककर्म उदकेन जलेन कर्म क्रिया अञ्जलिदानमित्यर्थः । वक्ष्यत इति सूत्रशेषः । उपलक्षणमेतत् । येनाशौचादियमनियमा अपि वक्ष्यन्ते ॥ ३।१०।१ ॥

अनुवाद—अब अञ्जलिदान का विधान करते हैं।

अद्विवर्षे प्रेते मातापित्रोराशौचम् ॥ ३।१०।२ ॥
शौचमेवेतरेषाम् ॥ ३।१०।३ ॥
एकरात्रं त्रिरात्रं वा ॥ ३।१०।४ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अद्वि···रात्रं वा' । द्वे वर्षे वयो यस्य स द्विवर्षः न द्विवर्षः अद्विवर्षस्तस्मिन् प्रेते प्रकर्षेण इतो गतः प्रेतो मृतः तस्मिन्निमित्ते माता च पिता च मातापितरौ तयोर्मातापित्रोराशौचमशुद्धिः वर्णाश्रमविहितकर्मानुष्ठानसङ्कोचावस्थेति यावत् । इतरेषां मातापितृभ्यामन्येषां शौचमेव नाशुद्धिः । पित्रोः कियन्तं कालमाशौचम् एकरात्रमेकमहोरात्रम् । अथवा त्रिरात्रम् । अयं विकल्पः प्रेतस्याकृतकृतचूडत्वेन व्यवस्थितः । इतरेषां सद्यःशौचमिति गृह्यकारस्यैव मतम् । स्मृत्यन्तरे तु तेषामप्याशौचस्य विहितत्वात् आदन्तजननात्सद्य इत्यादिना । यच्च पुंस उपनयनात्प्राक् स्त्रियाश्च विवाहात्प्राक् वयोवस्थाविशेषेण सद्य एकरात्रत्रिरात्रादिकमाशौचमुक्तं तत्सर्ववर्णसाधारणम् । विशेषावगमस्याशक्यत्वात् ॥ ३।१०।२-४ ॥

अनुवाद—दो वर्ष से कम उम्र के शिशु की मृत्यु पर माँ-बाप को अशौच लगता है। दूसरे लोगों (परिजनों) को उसी क्षण स्नान करने मात्र से शुद्धि होती है। माता-पिता को एक या तीन रात की अशुद्धि रहती है।

टिप्पणी—वह शिशु, जिसकी मृत्यु चूड़ाकरण के पूर्व हुई हो, उसका अशौच माता-पिता को भी एक दिन का ही होता है और जिसकी मृत्यु चूड़ाकरण के बाद होती है, उसका अशौच तीन दिन तक होता है।

१. 'आदन्तजन्मनः सद्य आचूडा नैशिकी स्मृता ।' (याज्ञवल्क्यस्मृतिः)
२. 'यद्यप्यकृतचूडोऽपि जातदन्तस्य संस्थितः ।
दाहयित्वा तथाप्येनमशौचं त्र्यहमाचरेत्' ॥ (अङ्गिरास्मृतिः)
३. 'अजातदन्तमरणे पित्रोरेकाहमिष्यते ।
जातदन्ते त्रिरात्रं स्यादिति शास्त्रविनिश्चयः ॥' (कौर्मवचनम्)

शरीरमदग्ध्वा निखनन्ति ॥ ३।१०।५ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'शरी···नन्ति' । ऊनद्विवर्षस्य प्रेतस्य शरीरं कुणपमदग्ध्वा अग्निदाहमकृत्वा निखनन्ति गर्ते प्रक्षिपन्ति ।। ३।१०।५ ।।

अनुवाद—दो वर्ष से कम उम्र के शिशु की मृत्यु होने पर उसका अग्निसंस्कार नहीं होता। उसे गढ़ा खोदकर धरती में गाड़ दिया जाता है।

अन्तःसूतके चेदोत्थानादाशौच᳚ सूतकवत् ।। ३।१०।६ ।।

(हरिहरभाष्यम्)—'अन्तः···कवत्' । चेद्यदि अन्तः सूतके सूतकस्य जनननिमित्ताशौचस्य अन्तर्मध्ये उत्थानात् आ उत्थानं सूतकान्तं यावत् आशौचं जननाशौचान्तरमापतति तदा सूतकवत् पूर्वसूतकशेषेणैवोत्तरस्य शुद्धिः । यद्वा अन्तर्मध्ये सूतके सूतकान्तरे जाते उत्थानात् शुद्धिः आशौचं मरणाशौचं सूतकवत् । मरणाशौचमध्ये मरणाशौचे जाते पूर्वशेषेणोत्तरस्य शुद्धिरित्यर्थः । एतच्च सपिण्डविषयम् । मातापित्रोस्तु विशेषः । मातरि पूर्वमृतायां यद्याशौचमध्ये पिता म्रियेत तदा पितृमरणनिमित्ताशौचान्ते शुद्धिः । यदा पुनः पितरि मृते माता म्रियेत तदा पितृमरणनिमित्ताशौचान्तात्पक्षिण्यन्ते द्वादशप्रहरान्ते शुद्धिः । किं च यदि सूतके रात्रिमात्रावशिष्टे सूतकान्तरमापद्येत शावे वा रात्रिमात्रावशिष्टे शावान्तरमापद्येत तदा द्व्यहमधिकं वर्द्धते । यदि पुनर्यामामात्रावशिष्टे सूतके शावे वा सूतकं शावं वा सजातीयमापतति तदा त्र्यहमधिकं वर्द्धते । तथा च स्मृतिः—मातर्यग्रे प्रमीतायामशुद्धौ म्रियते पिता । न पूर्वशेषाच्छुद्धिः स्यान्मातुः कुर्याच्च पक्षिणीम् ।। रात्रिशेषे द्व्यहाच्छुद्धिर्यामशेषे शुचिस्त्र्यहात् इति । अन्ये तु इदं सूत्रमन्यथा व्याचक्षते । अन्तः सूतके चेद्यदि बालस्य मरणमापद्यते तदा आ उत्थानादाशौचमशुद्धिः सूतकवद्भवति नत्वाशौचनिवृत्तिः । बालमरणनिमित्ताशौचस्याल्पकालीनत्वेन वहुकालीनजनननिमित्ताशौचशोधनासमर्थत्वात्, यतः समानजातीयस्य समानकालीनस्यैव पूर्वोत्पन्नस्य अन्तरापतितस्य वा शोधकत्वम् ।।३।१०।६।।

अनुवाद—जननाशौच के बीच में ही यदि अन्य अशुद्धि पूर्व सूतक के उठने तक आ जाय तो पहले सूतक शेष से ही बाद वाले की भी शुद्धि हो जाती है।

टिप्पणी—'बालस्त्वन्तर्दशाहे तु प्रेतत्वं यदि गच्छति ।
सद्यः शौचं सपिण्डानां न प्रेतं नैव सूतकम्' ।। (शङ्खः)

मातृ-पितृजन्य अशौच के विषय में स्मृतिकारों ने अनेक विचार प्रस्तुत किये हैं। यह विचार सामान्य अशौच से कुछ भिन्न है। विषय-विवेचन की दृष्टि से उन्हें स्मृतियों में ही देखना चाहिए। यहाँ उसका सार-संक्षेप इस प्रकार है—

माता के पहले मर जाने पर यदि अशौच के बीच में ही पिता की भी मृत्यु हो जाय तो पिता की मृत्यु के निमित्त हुए अशौच के समाप्त होने पर ही शुद्धि होती है और यदि माँ से पहले पिता की मृत्यु हो तो पिता की मृत्युजन्य अशुद्धि समाप्त होने के बारह प्रहर बाद ही शुद्धि हो जाती है।

नात्रोदककर्म ।। ३।१०।७ ।।

(हरिहरभाष्यम्)—'नात्रोदककर्म' । अत्र ऊनद्विवार्षिके प्रेते उदककर्म उदकाञ्जलिदानं न भवति ॥ ३।१०।७ ॥

अनुवाद—यदि दो वर्ष से कम उम्र के शिशु की मृत्यु हो तो उसे जलाञ्जलि नहीं दी जाती ।

द्विवर्षप्रभृति प्रेतमाश्मशानात् सर्वेऽनुगच्छेयुः ॥ ३।१०।८ ॥

यमगाथां गायन्तो यमसूक्तं च जपन्त इत्येके ॥ ३।१०।९ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'द्विवर्ष···त्येके' । द्विवर्षः द्विवर्षवयस्कः तत्प्रभृतिस्तदादिर्यः प्रेतः तमाश्मशानात् श्मशानावधि सर्वे सपिण्डा अनुगच्छेयुः पश्चाद् व्रजेयुः । श्मशानानुगमनविधानाद् दाह उपलक्ष्यते । श्मशानशब्देन हि प्रेतदाहभूमिरुच्यते । तस्माद्दाहमपि कुर्युः दाहसन्नियोगशिष्टमुदकं च दद्युः । एके आचार्याः यमगाथां यमदैवत्यायामृचि गीतं साम गायन्तः पठन्तः, तथा यमसूक्तं यमदैवत्यानामृचां समुदायं सूक्तशब्दवाच्यं जपन्तोऽनुगच्छेयुरित्याहुः ॥ ३।१०।८-९ ॥

अनुवाद—यदि दो वर्ष की वय वाले शिशु की मृत्यु हो तो उसके सभी सपिण्ड (बान्धव) और सम्बन्धी श्मशान घाट तक जायें; अर्थात् उसका दाहसंस्कार किया जाय । कुछ आचार्यों के मत से यमगाथा गाते हुए और यमसूक्त का जप करते हुए श्मशान तक जाना चाहिए ।

टिप्पणी—यमगाथा—'अहरहर्नयमानो गामश्वं पुरुषं पशुम् ।
वैवस्वतो न तृप्यति सुराप इव दुर्मतिः' ॥

यमसूक्तः—'अपेतो यन्तु···' इत्यादि ।

यद्युपेतो भूमिजोषणादिसमानमाहिताग्नेरोदकान्तस्य गमनात् ॥ ३।१०।१० ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'यद्यु···नात्' । यदि उपेतः उपनीतः प्रेतः स्याद् गृह्योक्तसंस्कारेषु तस्याधिकारात् वैतानिकस्य च मन्त्रब्राह्मणकल्पसूत्रेषु पृथक् संस्काराम्नानात् तदा भूमिजोषणादिकर्म समं तुल्यं, केन ? आहिताग्नेः कर्मणा, यथा आहिताग्नेः औपासनिकस्य भवति, किं पर्यन्तम् ? आ उदकान्तस्य उदकसमीपस्य गमनात्, एतदुक्तं भवति—यद्युपनीतः प्रेतो भवति तदाऽस्याहिताग्नेर्भूमिजोषणादि उदकाञ्जलिदानपर्यन्तं कर्म यथा भवति तथैव कुर्यादिति ॥ ३।१०।१० ॥

अनुवाद—यदि उपनयन-संस्कार के बाद किसी शिशु की मृत्यु हो जाय तो उसके भूमि-संस्कार से लेकर जलाञ्जलि दान तक के सम्पूर्ण कर्म उसी तरह करने चाहिए जैसे आहिताग्नि व्यक्ति के होते हैं ।

शालाग्निना दहन्त्येनमाहितश्चेत् ॥ ३।१०।११ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'शाला···श्चेत्' । चेद्यद्यसौ प्रेत आहितः कृतावसथ्याधानः स्यात् तदैनं प्रेतं शालाग्निना औपासनेन दहन्ति पुत्रादयः ॥ ३।१०।११ ॥

अनुवाद—यदि मृतक अपनी मृत्यु से पूर्व गृह्याग्नि की स्थापना कर चुका है, तो इसका दाहसंस्कार शालाग्नि से ही करना चाहिए ।

टिप्पणी—शालाग्नि के द्वारा मृतकों के दाहसंस्कार के अधिकारी उनके पुत्रादि हैं। दाहसंस्कार के अधिकारी कौन हैं? इसका क्रम विष्णुपुराण में निम्नलिखित रूप में दिया गया है—

'पुत्रः पौत्रः प्रपौत्रो वा भ्राता वा भ्रातृसन्ततिः ॥
सपिण्डसन्ततिर्वापि क्रियार्हो नृप जायते।
तेषामभावे सर्वेषां समानोदकसन्ततिः ॥
मातृपक्षस्य पिण्डेन सम्बद्धा वा जलेन वा।
कुलद्वयेऽपि चोच्छिन्ने स्त्रीभिः कार्या क्रिया नृप ॥
सङ्घातान्तर्गतैर्वापि कार्या प्रेतस्य सत्क्रिया।
उत्सन्नबन्धुरिक्थाद्वा कारयेदवनीपतिः ॥' (३।१३।३०-३३)

तूष्णीं ग्रामाग्निनेतरम् ॥ ३।१०।१२ ॥

(**हरिहरभाष्यम्**)—'तूष्णीं···तरम्'। तूष्णीं मन्त्रवर्जं ग्रामाग्निना लौकिकेन पावकेन इतरमकृतावसथ्याधानं दहन्तीत्यनुषङ्गः ॥ ३।१०।१२ ॥

अनुवाद—जिसने गृह्याग्नि की स्थापना नहीं की है, उसे चुपचाप बिना मंत्र के लौकिक आग दे देनी चाहिए।

संयुक्तं मैथुनं वोदकं याचेरन्नुदकं करिष्यामह इति ॥ ३।१०।१३ ॥

(**हरिहरभाष्यम्**)—'संयु···ह इति'। संयुक्तं केनचित् यौनेन सम्बन्धेन सम्बद्धम्। मैथुनः मिथुनस्यैकदेशलक्षणया मैथुनशब्दवाच्याया भार्यायाः भ्राता श्याल इत्यर्थः, तं वोदकं जलं याचेरन् प्रार्थयेरन् उदकं करिष्यामह इत्यनेन मन्त्रेण ॥ ३।१०।१३ ॥

अनुवाद—कोई यौनतः सम्बद्ध व्यक्ति अर्थात् भार्या का भाई साला हो तो उससे 'उदकं करिष्यामहे' इत्यादि मंत्र पढ़ते हुए बन्धुजन जलदान की आज्ञा माँगे।

कुरुध्वं मा चैवं पुनरित्यशतवर्षे प्रेते ॥ ३।१०।१४ ॥

(**हरिहरभाष्यम्**)—'कुरु···प्रेते'। एवं पृष्टः संयुक्तः श्यालो वा प्रतिब्रूयात्। किं? कुरुध्वं मा चैवं पुनरिति। क्व? अशतवर्षे प्रेते शतवर्षेभ्योऽर्वाक् मृते सति ॥ ३।१०।१४ ॥

अनुवाद—सौ वर्ष से कम उम्र का यदि मृतक हो तो वह कहे—'कुरुध्वं मा चैवं पुनः' अर्थात् ऐसा कर्म तुम्हें पुनः नहीं करना चाहिए।

कुरुध्वमित्येवेतरस्मिन् ॥ ३।१०।१५ ॥

(**हरिहरभाष्यम्**)—'कुरु···स्मिन्'। इतरः शतवर्षप्रभृतिः तस्मिन्मृते कुरुध्वमित्येव एतावदेव प्रतिब्रूयात् न मा चैवं पुनरिति ॥ ३।१०।१५ ॥

अनुवाद—यदि मृतक सौ वर्ष की आयु भोगकर मरा हो तो वह कहे—'कुरुध्वं' अर्थात् करो।

सर्वे ज्ञातयोऽपोभ्यवयन्त्यासप्तमात्पुरुषाद्दशमाद्वा ॥ ३।१०।१६ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'सर्वे···माद्वा'। ज्ञातयः सपिण्डाः समानोदकाश्च सर्वे एव अपोऽभ्यवयन्ति स्नानार्थं नद्यादेर्जलं प्रविशन्ति, किं यावत् आसप्तमात्पुरुषात् सप्तमं पुरुषमभिव्याप्य यावन्तः सपिण्डाः दशमाद्वा दशमं पुरुषमभिव्याप्य वा यावन्तः समानोदकाश्च तावन्त इत्यर्थः ॥ ३।१०।१६ ॥

अनुवाद—ऊपरोक्त विधि से दाह-संस्कार सम्पन्न करने के बाद नदी या सरोवर में जाकर स्नान करे। ७वें या १०वें पुरुष तक सभी सम्बन्धी जल में प्रवेश करें।

समानग्रामवासे यावत्सम्बन्धमनुस्मरेयुः ॥ ३।१०।१७ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'समा···रेयुः'। समाने एकस्मिन् ग्रामे वास अवस्थानं समानग्रामवासः तस्मिन् सति यावत्सम्बन्धं यदवधिसम्बन्धः सापिण्ड्यं समानोदकत्वं सगोत्रत्वं वा अनुस्मरेयुः अस्मिन्पुरुषे वयं सम्बन्ध्यामहे इति जानीयुः तावन्तः अपोभ्यवयन्ति इति सम्बन्धः ॥ ३।१०।१७ ॥

अनुवाद—एक ही गाँव में रहने वाले जितने भी व्यक्ति उस मृतक के सम्बन्धी हों, या सम्बन्ध को मानते हों, उन सभी को स्नान करना चाहिए।

एकवस्त्राः प्राचीनावीतिनः ॥ ३।१०।१८ ॥

सव्यस्यानामिकयाऽपनोद्यापनः शोशुचदघमिति ॥ ३।१०।१९ ॥

दक्षिणामुखा निमज्जन्ति ॥ ३।१०।२० ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'एक···ज्जन्ति'। कथमित्यपेक्षायामाह—एकं परिधानीयमेव वस्त्रं येषां ते एकवस्त्राः। तथा प्राचीनावीतिनः प्राचीनावीतं विद्यते येषां ते प्राचीनावीतिनः कृतापसव्या इत्यर्थः। तथाभूताः सन्तः सव्यस्य वामस्य पाणेरनामिकया उपकनिष्ठिकया जलमपनोद्य अपनः शोशुचदघमित्येतावता मन्त्रेणापसार्य दक्षिणामुखाः याम्यदिगभिमुखा निमज्जन्ति युगपत्सकृत्स्नान्ति ॥ ३।१०।१८-२० ॥

अनुवाद—स्नान करते समय केवल अधोवस्त्र ही पहनना चाहिए। यज्ञोपवीत को अपसव्य अर्थात् बायें कन्धे से हटाकर दाहिने कन्धे पर कर ले। बायें हाथ की अनामिका अँगुली से पानी हटाकर 'अपनः शोशुचदघम्···' इत्यादि (यजु० ३५।६) मंत्र पढ़ते हुए स्नान करना चाहिए। स्नानकर्त्ता दक्षिणमुख होकर ही स्नान करे।

प्रेतायोदकꣳ सकृत्प्रसिञ्चन्त्यञ्जलिनाऽसावेतत्त उदकमिति ॥ ३।१०।२१ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'प्रेता···कमिति'। प्रेताय मृताय उदकं जलं सकृदेकवारं अञ्जलिना प्रसिञ्चन्ति शुद्धायां भूमौ प्रक्षिपन्ति, कथम्? असौ अमुकप्रेत एतत्ते उदकमित्यनेन मन्त्रप्रयोगेण ॥ ३।१०।२१ ॥

अनुवाद—स्नान के बाद 'असौ अमुकप्रेत एतत्त उदकम्' (अर्थात् हे अमुक प्रेत तुम्हारे लिए यह जल अर्पित है) यह मन्त्र पढ़कर मृत व्यक्ति के उद्देश्य से एक बार जलाञ्जलि दे।

उत्तीर्णाञ्छुचौ देशे शाड्वलवत्युपविष्टाँस्तत्रैतानपवदेयुः ॥३।१०।२२॥

(हरिहरभाष्यम्)—'उत्ती···देयुः' । उत्तीर्णान् जलाद् बहिर्निर्गतान् शुचौ देशे मूत्रपुरीषभस्मतुषाङ्गारास्थ्याद्यशुचिद्रव्यरहिते देशे भूभागे, पुनः कीदृशे ? शाड्वलवति शाड्वलं हरिततृणमस्ति यस्मिन्निति शाड्वलवांस्तस्मिन् शाड्वलवति उपविष्टानासीनांस्तत्र तदा अन्ये लोकयात्रिकाः सुहृदः एतान् प्रेतस्य पुत्रादीनपवदेयुः प्रेतगुणानुकथनेनेतिहासपुराणादिविचित्रकथाभिः संसारासारताख्यापनेन तान् शोकरहितान् कुर्युः ॥

अनुवाद—पानी से निकल कर पवित्र, हरी, घसीली धरती पर बैठे हुए मृतक के सम्बन्धियों को दूसरे लोग मृतक के गुणों का उल्लेख करते हुए संसार की अनित्यता का उपदेश देते हुए उसके शोक को दूर करे ।

अनवेक्षमाणा ग्राममायान्ति रीतीभूताः कनिष्ठपूर्वाः ॥ ३।१०।२३ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अन···पूर्वाः' । अनवेक्षमाणाः पश्चादनवलोकयन्तः रीतीभूताः श्रेणीभूताः पङ्क्तीभूताः कनिष्ठपूर्वाः कनिष्ठो लघीयान् पूर्वं अग्रिमो येषां ते स्वस्वकनिष्ठानुसारिण इत्यर्थः । ग्राममायान्ति आगच्छन्ति ॥ ३।१०।२३ ॥

अनुवाद—पीछे मुड़कर देखे बिना छोटे-छोटे लोगों को आगे कर पंक्तिबद्ध होकर सभी गाँव लौट जायें ।

निवेशनद्वारे पिचुमन्दपत्राणि विदश्याचम्योदकमग्निं गोमयं गौरसर्षपाँस्तैलमालभ्याश्मानमाक्रम्य प्रविशन्ति ॥ ३।१०।२४ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'निवे···शन्ति' । निवेशनस्य प्रेतपतिकस्य गृहस्य द्वारे पिचुमन्दस्य निम्बस्य पत्राणि छदान् विदश्य दन्तैरवखण्डच आचम्य स्मार्त्ताचमनं विधाय उदकं जलमग्निं द्वारि घृतं तथा गोमयमार्द्रं सर्षपान् गौरान् तैलं तिलसम्भवमेतानि प्रत्येकमालभ्य स्पृष्ट्वा अश्मानं प्रस्तरमाक्रम्य पादेनालभ्य प्रविशन्ति गृहम् ॥ ३।१०।२४ ॥

अनुवाद—(श्मशान से लौटने के बाद) घर के दरवाजे पर रखे पहले नीम के पत्ते को दाँत से चबाये, उसके बाद आचमन कर ले । पुनः पानी, आग, घी, गोबर, सरसों और तिल के तेल को छूए । पुनः पत्थर को लाँघ कर तब घर में प्रवेश करे ।

त्रिरात्रं ब्रह्मचारिणोऽधःशयिनो न किञ्चन कर्म कुर्युर्न प्रकुर्वीरन् ॥२५॥

(हरिहरभाष्यम्)—'त्रिरा···रन्' । त्रीण्यहोरात्राणि यावद्ब्रह्मचारिणः अकृतस्त्रीप्रसङ्गाः अधः खट्वाव्यतिरेकेण शेरत इत्येवंशीला अधःशायिनः किञ्चन किमपि कर्म गृहव्यापारादि लौकिकं स्वयं न कुर्युः न प्रकुर्वीरन् अन्यैरपि न कारयेयुः । अन्तर्भूतोऽत्र णिच् ज्ञेयः ॥ ३।१०।२५ ॥

अनुवाद—कर्त्ता पुरुष तीन दिन तक धरती पर सोये; ब्रह्मचर्य का पालन करे; स्वयं कोई लौकिक कर्म न करे और किसी दूसरे से भी कोई काम न कराये ।

क्रीत्वा लब्ध्वा वा दिवैवान्नमश्नीयुरमांसम् ॥ ३।१०।२६ ॥

प्रेताय पिण्डं दत्त्वाऽवनेजनदानप्रत्यवनेजनेषु नामग्राहम् ॥३।१०।२७॥

(हरिहरभाष्यम्)—'क्रीत्वा''ग्राह्म्' । क्रीत्वा मूल्येनान्नं गृहीत्वा लब्ध्वा वा अयाचितमन्यतः प्राप्य दिवैव दिवसे एव न रात्रौ अश्नीयुः भुञ्जीरन् । किम्भूतममांसं मांसवर्जितम्, किं कृत्वा ? प्रेताय पिण्डम्, अवयवपूरकं दत्त्वा । कथं ? नामग्राहं प्रेतस्य नाम गृहीत्वा, कुत्र ? अवनेजनदानप्रत्यवनेजनेषु अवनेजनं च दानं च प्रत्यवनेजनं च अवनेजनदानप्रत्यवनेजनानि तेषु त्रिरात्रमयं धर्मः ॥ ३।१०।२६-२७ ॥

अनुवाद—खरीद कर या बिना माँगे दिन में जो कुछ अन्न मिल जाये, उसे दिन में ही खा ले। इस अवधि में मांस-भक्षण न करे। मृतक के नाम का स्मरण कर पिण्डदान की वेदी पर बिछाए हुए कुशों पर जल छिड़के।

टिप्पणी—पिण्डदान और जल-सिंचन की क्रिया जितनी बार होगी, उतनी बार मृतक का नामोच्चारण किया जायेगा। यह कार्य तीन दिन तक चलेगा। इस कार्य का सम्पादन मृतक का पुत्र अथवा जो श्राद्धाधिकारी होगा, वह करेगा। इस प्रसङ्ग में हरिहरमिश्र का कथन है कि दस दिनों तक प्रतिदिन एक-एक पिण्डदान किया जाय। पिण्ड के बाद पूरक पिण्ड भी दिया जाये।

मृन्मये ताᳬं रात्रीं क्षीरोदके विहायसि निदध्युः प्रेतात्र स्नाहीति ।३।१०।२८।

(हरिहरभाष्यम्)—'मृन्म'''हीति' । मृन्मये शरावादौ पात्रे कृत्वा तां यस्मिन्दिने प्रेतोऽभूत् तत्सम्बन्धिनीं रात्रीं क्षीरं च उदकं च क्षीरोदके दुग्धपानीये पात्रैकवचनसामर्थ्यादेकीकृते विहायसि आकाशे निदध्युः स्थापयेयुः । कथं ? प्रेतात्र स्नाहीत्यनेन मन्त्रेण । विज्ञानेश्वराचार्यास्तु द्रव्यद्वयनिधानसामर्थ्याद् द्वयोः पात्रयोर्भेदेन निधानं मन्यन्ते, मन्त्रं चोहति प्रेतात्र स्नाहि पिब चेदमिति ॥ ३।१०।२८ ॥

अनुवाद—जिस दिन व्यक्ति की मृत्यु हुई हो, उस दिन मिट्टी के किसी बर्तन में दूध और पानी एक साथ मिलाकर 'प्रेतात्र स्नाहि.....' इत्यादि मन्त्र पढ़कर आकाश में अर्थात् ऊँचाई पर लकड़ी आदि में उस बर्तन को टाँग दे।

त्रिरात्रᳬंशावमाशौचम् ॥ ३।१०।२९ ॥

दशरात्रमित्येके ॥ ३।१०।३० ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'त्रिरा'''त्येके' । एवं प्रेतस्य मरणदिने पुत्रादीनां कृत्यमभिधायाशौचकालनिर्णयार्थमाह—त्रिरात्रं त्रीण्यहोरात्राणि 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' इत्युपपदविभक्तिर्द्वितीया, तेन सन्ततमाशौचमशुचित्वम् । एके आचार्या मन्वादय उपनयनप्रभृति दशाहं दशाहोरात्राणि मन्यन्ते । अत्र प्रकरणे अहःशब्दो रात्रिशब्दश्च अहोरात्रोपलक्षणपरः । एके त्रिरात्रमेके दशरात्रं चेति व्यवस्थितं वृत्तिस्वाध्यायापेक्षया । यथाह—एकाहाच्छुध्यते विप्रो योऽग्निवेदसमन्वितः । त्र्यहात्केवलवेदस्तु निर्गुणो दशभिर्दिनैः ॥ इति । एतदपि वृत्तिसङ्कोचे व्यवस्थापकम् । तद्यथा—यदा त्र्यहैकोऽश्वस्तनिको वा स्वाध्यायाग्निसम्पन्नो भवति तदा तस्य वृत्तिसम्पादनाय सद्यः शौचं भवति । यदा तु कुशूलकुम्भीधान्यः केवलस्वाध्यायसम्पन्नश्च तदाऽस्य त्रिरात्रम् । यदा पुनर्दशरात्रकुटुम्बवृत्तिपर्याप्तातिरिक्तधान्यो भवति वृत्तस्वाध्यायवांश्च तदाऽस्य दशरात्रं वृत्तस्वाध्याय-

रहितस्य वृत्तिहीनस्यापि सर्वदा दशरात्रमेव । अयं च वृत्तिसङ्कोचात् वृत्तस्वाध्याया-पेक्षया य आशौचकालसङ्कोचः स वृत्तिसम्पादनविषय एव न पुनः कर्मान्तराधिकार-सम्पादनपरः, तेन यस्याशाचिनो या आपद्भवति तदपाकरणार्थं वृत्तस्वाध्यम्यसम्पन्नस्य आशौचसङ्कोचो नेतरेषाम्, जननाशौचेऽप्येवमेव ॥ ३।१०।२९-३० ॥

अनुवाद—मरणाशौच तीन दिन तक रहता है। कुछ आचार्यों के मत से दस रात्रि तक यह अशौच चलता है।

न स्वाध्यायमधीयीरन् ॥ ३।१०।३१ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'न स्वा…रन्' । स्वाध्यायं वेदं नाधीयीरन् न पठेयुः न चाध्यापयेयुः येषां यावदाशौचम् ॥ ३।१०।३१ ॥

अनुवाद—जब तक अशौच समाप्त न हो जाय, तब तक स्वयं वेदों का अध्ययन न करे और न अध्यापन ही कराना चाहिए।

नित्यानि निवर्तेरन्वैतानवर्जम् ॥ ३।१०।३२ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'नित्या…वर्जम्' । नित्यान्यावश्यकानि सन्ध्यावन्दनादीनि निवर्तेरन् अनधिकारान्न प्रवर्तन्ते । कथम् ? वैतानवर्जं वितानो गार्हपत्याहवनीयदक्षिणाग्नीनां विस्तारस्तत्र साध्यमग्निहोत्रादि कर्म तद्वैतानं तद्वर्जयित्वाऽन्यन्निवर्तते इत्यर्थः ॥ ३।१०।३२ ॥

अनुवाद—गार्हपत्यादि अग्निसाध्य कर्म छोड़कर नित्यकर्म अर्थात् संध्या-वन्दन इस स्थिति में भी करना चाहिए।

शालाग्नौ चैके ॥ ३।१०।३३ ॥

अन्य एतानि कुर्युः ॥ ३।१०।३४ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'शाला…कुर्युः' । शालाग्निरावसथ्याग्निः तत्र शालाग्नौ साध्यानि सायंप्रातर्होमस्थालीपाकादीनि तानि वर्जयित्वा नित्यानि निवर्तेरन्नित्येक आचार्याः मन्यन्ते, तस्मिन्पक्षे न स्वयं कुर्युः किन्त्वन्येन कारयेयुः । गृह्यकारपक्षे न कुर्युर्न च कारयेयुः । यथाह कात्यायनः—सूतके मृतके चैव स्मार्तं कर्म निवर्तते । पिण्डयज्ञं चरुं होममसगोत्रेण कारयेत् ॥ वैतानिकं स्वयं कुर्यात् तत्त्यागो न प्रशस्यते । तथा—स्मार्तकर्मपरित्यागो राहोरन्यत्र सूतके । श्रौते कर्मणि तत्कालं स्नातः शुद्धिमवाप्नुयादिति स्मरणात् । राहुदर्शने तु राहोरन्यत्र सूतके इति वचनात् यावद्राहुदर्शनं तावद्राहुदर्शननिमित्तकं स्नानतर्पणदेवतार्चनजपहोमदानादि स्मार्त्तं कर्म कुर्यात् ॥३।१०।३३-३४॥

अनुवाद—कुछ आचार्यों का कथन है शालाग्नि साध्यकर्म स्वयं न करे, अपितु दूसरे से यह कर्म करवाये।

टिप्पणी—इस सन्दर्भ में कात्यायन का दृष्टिकोण इस प्रकार है—

'सूतके मृतके चैव स्मार्त्तं कर्म निवर्त्तते ।
पिण्डयज्ञं चरुं होममसगोत्रेण कारयेत् ।
वैतानिकं स्वयं कुर्यात् तत्त्यागो न प्रशस्यते' ॥ इति ।

प्रेतस्पर्शिनो ग्रामं न प्रविशेयुरानक्षत्रदर्शनात् ॥ ३।१०।३५ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'प्रेत···नात्'। प्रेतस्पर्शो विद्यते येषां ते प्रेतस्पर्शिनः सपिण्डा ग्रामं न प्रविशेयुर्न गच्छेयुः, किं यावत् ? आनक्षत्रदर्शनात् नक्षत्राणां दर्शनं नक्षत्रदर्शनम्, तस्माद् आ अवधेः ॥ ३।१०।३५ ॥

अनुवाद—शव का स्पर्श करने वाले को जब तक नक्षत्र न दिखलायी पड़े, तब तक गाँव में प्रवेश नहीं करना चाहिए।

रात्रौ चेदादित्यस्य ॥ ३।१०।३६ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'रात्रौ···त्यस्य'। चेद्यदि रात्री निशि प्रेतस्पर्शः स्यात्तदा आदित्यस्य सूर्यस्य दर्शनात्प्राक् न प्रविशेयुरित्यनुषङ्गः ॥ ३।१०।३६ ॥

अनुवाद—यदि रात्रि में शव का स्पर्श हो तो सूर्योदय होने से पूर्व घर में प्रवेश न करे।

प्रवेशनादि समानमितरैः ॥ ३।१०।३७ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'प्रवे···तरैः'। प्रवेशनमादौ यस्य निम्बपत्रादिदशंनस्य तत्प्रवेशनादि कर्म इतरैरसपिण्डैः समानं तुल्यं कार्यम्। अयमसपिण्डानां नियमः। यतोऽसपिण्डानामेव 'प्रवेशनादिकं कर्म प्रेतसंस्पर्शिनामपि। इच्छतां तत्क्षणाच्छुद्धिः परेषां स्नानसंयमात्' ॥ इति याज्ञवल्क्योक्तेरिच्छतां विकल्पः। संयमः प्राणायामः ॥

अनुवाद—गृह-प्रवेश के उपरोक्त नियम मृत व्यक्ति के संबंधियों के साथ सामान्य जनों के लिए भी लागू होंगे।

पक्षं द्वौ वाऽऽशौचम् ॥ ३।१०।३८ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—एवं ब्राह्मणस्याशौचमभिधायेदानीमितरवर्णानामाशौचकाल-निर्णयमाह—'पक्षं···चम्'। पक्षं पञ्चदशाहोरात्राणि वैश्यस्याशौचं भवति, द्वौ पक्षौ त्रिंशदहोरात्राणि शूद्रस्य, वाशब्दात् द्वादशाहोरात्राणि क्षत्रियस्याशौचम्। तथा च स्मृत्यन्तरम्—शुध्येद् विप्रो दशाहेन द्वादशाहेन भूमिपः। वैश्यः पञ्चदशाहेन शूद्रो मासेन शुध्यति ॥ इति ॥ ३।१०।३८ ॥

अनुवाद—ब्राह्मणों का अशौच काल दस दिन, क्षत्रियों का बारह दिन, वैश्यों का पन्द्रह दिन तथा शूद्रों का तीस दिन तक रहता है।

टिप्पणी—इस सन्दर्भ में मनु का कथन है—

'शुध्येद् विप्रो दशाहेन द्वादशाहेन भूमिपः।
वैश्यः पञ्चदशाहेन शूद्रो मासेन शुध्यति' ॥ (मनुस्मृति ५।८५)

मिताक्षरा में अङ्गिरा का कथन है—

'सर्वेषामेव वर्णानां सूतके मृतके तथा।
दशाहाच्छुद्धिरेतेषामिति शातातपोऽब्रवीत्' ॥ (याज्ञवल्क्य ३।२२)

आचार्ये चैवम् ॥ ३।१०।३९ ॥

मातामह्योश्च ॥ ३।१०।४० ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'आचा'''योश्च' । आचार्ये उपनयनपूर्वकं वेदाध्यापके चैवमेवोदकदानादि कर्तव्यम्, मातामही च मातामहश्च मातामहौ तयोः, द्विवचनं मातामह्यपेक्षया, चकारादेवमेवोदकदानादि सर्वं कर्तव्यम् ॥ ३।१०।३९-४० ॥

अनुवाद—उपनयनपूर्वक वेदाध्ययन कराने वाले आचार्य की मृत्यु होने पर इसी प्रकार से जलाञ्जलि प्रभृति कर्म करने चाहिए। मातामही और मातामह के मरने पर भी ऐसे ही कर्म करने चाहिए।

स्त्रीणां चाप्रत्तानाम् ॥ ३।१०।४१ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'स्त्रीणां'''नाम्' । अप्रत्तानामपरिणीतानां स्त्रीणां कन्यानां चकारादेवमेव एषैव निखननदहनोदकदानप्रभृतीतिकर्तव्यता । आशौचेऽपि विशेषो नास्ति गृह्यकारमते । अनभिधानात् । स्मृत्यन्तरे तु पुनर्दृश्यते अहस्त्वदत्तकन्यास्विति । एतच्च चूडाकरणानन्तरं दानात्प्राक्, कुतः ? स्त्रीणां चूडात्तथा दानात्संस्कारादप्यधःक्रमात् । सद्यः शौचमथैकाहं त्र्यहं स्यात् पितृबन्धुषु ॥ इति स्मृतेः । तस्मादपरिणीतानां स्त्रीणां चूडाकरणात्प्राक् सद्यः शौचम्, चूडाकरणादुपरि दानात्प्राक् एकाहम्, तत उपरि विवाहात्प्राक् त्र्यहमिति निर्णयः ॥ ३।१०।४१ ॥

अनुवाद—जिन कन्याओं का विवाह न हुआ हो उनके मरने पर भी निखनन, दहन, उदकदान प्रभृति क्रियाएँ करनी चाहिए।

टिप्पणी—इस सन्दर्भ में स्मृतियों में अनेक वचन मिलते हैं। चूड़ाकरण हुए बिना जिस कन्या की मृत्यु हो, उसकी शुद्धि तत्क्षण हो जाती है। और यदि चूड़ाकरण हुआ हो किन्तु कन्यादान से पहले ही उसकी मृत्यु हो जाये तो उससे एक दिन की अशुद्धि होती है। विवाहोपरान्त मरने वाली कन्याओं के सन्दर्भ में तीन दिन का अशौच काल होता है।

प्रत्तानामितरे कुर्वीरन् ॥ ३।१०।४२ ॥

ताश्च तेषाम् ॥ ३।१०।४३ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'प्रत्ता'''षाम्' । प्रत्तानां परिणीतानां स्त्रीणामितरे भर्त्रादयो दाहादि कर्म कुर्युः न पित्रादयः । ताश्च प्रत्ताः स्त्रियः तेषां भर्त्रादीनां यथाधिकारमुदकदानादि कर्म कुर्युः । पित्रादीनामत्र विशेषः—दत्ता नारी पितुर्गेहे सूयते म्रियतेऽपि वा । तद् बन्धुवर्गस्त्वेकेन शुध्यते जनकस्त्रिभिरिति वचनात् प्रत्तानामपि पितुर्बन्धूनां चाशौचापत्तिमात्रम् ॥ ३।१०।४२-४३ ॥

अनुवाद—विवाहित स्त्रियों का दाह-संस्कार उनके पति करें और विवाहित स्त्रियाँ अपने पतियों का दाह-संस्कार करें।

प्रोषितश्चेत्प्रेयाच्छ्रवणप्रभृति कृतोदकाः कालशेषमासीरन् ॥ ३।१०।४४ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'प्रोषि···सीरन्' । प्रोषितः प्रवासङ्गतश्चेद्यदि प्रेयात् म्रियेत तदा तत्पुत्रादयः तन्मरणश्रवणकालमारभ्य कृतं दत्तं स्नानपूर्वकमुक्तविधिना उदकं यैस्ते कृतोदकाः सन्तः कालशेषमाशौचसमयशेषमासीरन् आशौचधर्मेण वर्तेरन्नित्यर्थः ॥

अनुवाद—जिन स्त्रियों के पति प्रवासी हों, उनकी उदकादि क्रियाएँ उनके पुत्र करते हुए अशौच काल बितायें ।

अतीतश्चेदेकरात्रं त्रिरात्रं वा ॥ ३।१०।४५ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अती···त्रं वा' । चेद्यदि आशौचकालोऽतीतः ततः प्रोषित-मरणं च श्रुतं तदा एकरात्रमाशौचं त्रिरात्रं वा । अत्र यद्यपि सामान्येनोक्तं तथापि स्मृत्यन्तराद्विशेषोऽवगन्तव्यः । कथम् ? मासत्रये त्रिरात्रं स्यात् षण्मासे पक्षिणी भवेत् । अहस्तु नवमादर्वाक् सद्यः शौचमतः परम् ॥ तथा—पितरौ चेन्मृतौ स्यातां दूरस्थोऽपि हि पुत्रकः । श्रुत्वा तद्दिनमारभ्य दशाहं सूतकी भवेत् ॥ इति ॥ ३।१०।४५ ॥

अनुवाद—अशौच काल बीत जाने पर यदि प्रोषित-मरण का पता चले तो एक दिन की अथवा तीन दिन की अशुद्धि होती है ।

अथ कामोदकान्यृत्विक्श्वसुरसखिसम्बन्धिमातुलभागिनेयानाम् ॥३।१०।४६॥
प्रत्तानाञ्च ॥ ३।१०।४७ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अथ का···प्रत्तानाम्' । अथ नियमेन कृत्यमभिधायाधुना कामतः कृत्यमाह—कामोदकानि कामेन इच्छया उदकानि उदकदानानि भवन्तीति सूत्रशेषः । केषाम् ? ऋत्विजः याजकाः श्वशुरौ भार्यायाः मातापितरौ सखायो मित्राणि सम्बन्धिनो वैवाह्याः मातुला मातृभ्रातरः भागिनेया भगिनीपुत्राः एतेषां प्रत्तानामूढानां दुहितृभगिन्यादीनां स्त्रीणां चकारादिच्छयोदकदानमतोऽदाने प्रत्यवायो नास्ति ॥

अनुवाद—उक्त कथित नियम सामान्य हैं । विशेष परिस्थिति में विभिन्न स्मृति-कारों का वचन मान्य है । इस सन्दर्भ में कुछ स्वैच्छिक कर्मों का भी विधान है । यज्ञ कराने वाले पुरोहित, सास-ससुर, मामा-भांजे, विवाहित बहन-बेटियाँ, मित्र एवं सम्बन्धियों को जलाञ्जलि देना देनेवाले की इच्छा पर निर्भर है । इसे देने या न देने में किसी तरह का प्रत्यवाय या प्रतिबन्ध नहीं है ।

एकादश्यामयुग्मान् ब्राह्मणान् भोजयित्वा माꣳसवत् ॥ ३।१०।४८ ॥
प्रेतायोद्दिश्य गामप्येके घ्नन्ति ॥ ३।१०।४९ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'एका···घ्नन्ति' । एकादश्यामेकादशेऽहनि ब्राह्मणः कर्ता चेत् अयुग्मान् त्रिप्रभृतिविषमसङ्ख्याकान् द्विजोत्तमान् भोजयित्वा भोजनं कारयित्वा एकोद्दिष्टश्राद्धविधिना मांसवत् मांसेन सहितं पायसौदनादि भवति । एके आचार्याः प्रेतमुद्दिश्य गामपि घ्नन्ति इति । शाखापशुविधानेन तन्मांसेन श्राद्धं कुर्वन्ति तच्छ्राद्ध-मग्रे वक्ष्यति नद्यन्तरे नावं कारयेन्न वेति ॥ ३।१०।४८-४९ ॥

अनुवाद—ग्यारहवें दिन विषम संख्या में ब्राह्मणों को मांस के साथ भोजन कराये । कुछ आचार्यों के मत से गवालम्भन भी प्रेत के उद्देश्य से करना चाहिए ।

टिप्पणी—कुछ आचार्यों के विचार से गोमांस स श्राद्ध करना चाहिए। किन्तु सूत्र में 'अपि' शब्द के प्रयोग से यह पक्ष पारस्कर को स्वीकार नहीं है। गवालम्भ पर पहले भी विचार किया जा चुका है—'कलौ च गवालम्भः निषिद्ध' इति वचनात्।

डॉ० हरिदत्त शास्त्री ने गवालम्भ का अर्थ 'गोदान' तथा घ्नन्ति क्रिया का अर्थ 'पुरोहित के घर पहुँचाना' किया है।

पिण्डकरणे प्रथमः पितृणां प्रेतः स्यात् पुत्रवांश्चेत् ॥ ३।१०।५० ॥

(**हरिहरभाष्यम्**)—'पिण्ड···श्चेत्'। पिण्डानां करणं पिण्डकरणं तस्मिन् अमावास्यायां साग्नेः पुत्रस्य पिण्डपितृयज्ञे तत्र पितृणां प्रथम आद्यः प्रेतः स्यात् तत्प्रभृतिपिण्डदानमित्यर्थः। चेद्यदि स प्रेतः पुत्रवान् अधिकृतेन साग्निना पुत्रेण पुत्री भवति। अयमर्थः—साग्नेः पुत्रस्य यदि पिता म्रियेत तदा पिण्डपितृयज्ञानुष्ठानानुरोधेन द्वादशेऽहनि सपिण्डीकरणं विधाय अमावास्यायां तत्प्रभृति पिण्डपितृयज्ञे पिण्डदानं पिण्डान्वाहार्यके च श्राद्धे; तत्प्रभृति पार्वणमेव श्राद्धं भवतीति। एकोद्दिष्टं तु निरग्निविषयम् ॥

अनुवाद—साग्नि पुत्र के पिता की यदि मृत्यु हो तो पितरों में प्रथम मृतक का उल्लेख करना चाहिए।

टिप्पणी—पिण्डपितृयज्ञानुष्ठान की दृष्टि से बारहवें दिन अमावास्या को सपिण्डीकरण करे और उस दिन से प्रति अमावास्या को पिण्डदान करने का विधान है। इस सन्दर्भ में योगेश्वर का कथन द्रष्टव्य है—

'गन्धोदकतिलैर्मिश्रं कुर्यात्पात्रचतुष्टयम्।
अर्घ्यार्थं पितृपात्रेषु प्रेतमात्रं प्रसेचयेत् ॥
ये समाना इति द्वाभ्यां शेषं पूर्ववदाचरेत्।
एतत्सपिण्डीकरणमेकोदिष्टं स्त्रिया अपि' ॥ (३।२५३-५४)

अपि च—

'ये नराः सन्ततिच्छिन्ना नास्ति तेषां सपिण्डता' इति।

(मिताक्षरा० १।२५४)

निवर्तेत चतुर्थः ॥ ३।१०।५१ ॥

(**हरिहरभाष्यम्**)—'निवर्तेत चतुर्थः'। सपिण्डने कृते पित्रादिभ्यस्त्रिभ्यः पिण्डादिदानं चतुर्थः पिण्डो निवर्तेत पिण्डास्त्रिष्विति श्रुतेः। त्रिषु पिण्डः प्रवर्तत इति स्मृतेश्च ॥ ३।१०।५१ ॥

अनुवाद—सपिण्डीकरण के बाद पिता प्रभृति तीन व्यक्ति तक ही पिण्डदान करे, चौथे की स्वतः निवृत्ति हो जाती है।

संवत्सरं पृथगेके ॥ ३।१०।५२ ॥

(**हरिहरभाष्यम्**)—'संव···गेके'। एके आचार्याः साग्नेरपि पुत्रस्य संवत्सरं यावत् पृथगेकस्यैव पितुः पिण्डदानमिच्छन्ति। संवत्सरे सपिण्डीकरणमिति वचनात्।

न वा असपिण्डीकृतस्येतरैः सह दानं युज्यते, सपिण्डीकरणमिति शब्दः पूर्वजैः सह सपिण्डीकरणं मेलनमिति व्युत्पत्त्या अन्वर्थः। तेन संवत्सरं यावदसपिण्डीकृतस्य पितुः प्रेतस्य पृथग्दानमिच्छन्त्येके ॥ ३।१०।५२ ॥

अनुवाद—कुछ आचार्यों के विचार से एक वर्ष तक उसे अलग से पिण्डदान करना चाहिए।

टिप्पणी—सपिण्डीकरण हुए बिना मृतक का अन्य के साथ पिण्डदान करना युक्तिसंगत नहीं है। पिण्डदान तो केवल पिता के लिए ही होना चाहिए। क्योंकि, सपिण्डीकरण का विधान वर्षान्त में है। तब तक पिता असपिण्डीकृत ही रहता है। पूर्वजों के साथ मिल नहीं पाता, इसीलिए शास्त्रकारों ने उसके लिए अलग से पिण्ड-दान का विधान किया है।

न्यायस्तु न चतुर्थः पिण्डो भवतीति श्रुतेः ॥ ३।१०।५३ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—एवं सति संवत्सरे सपिण्डीकरणमिति स्मृतेरनुग्रहः कृतो भवति, एवं प्राप्त उच्यते—'न्यायस्तु'। तुशब्देन पूर्वपक्षव्यावृत्तिः, नैतदेवं यत्स्मृत्यनुग्रहन्यायेनेदं परिकल्प्यते, कुतः ? श्रुतिविरोधात्। काऽसौ श्रुतिः ? 'न चतु···श्रुतेः'। कथं श्रुतिविरोधः ? शृणु, अधिकृतस्य पुत्रस्य साग्नेः पृथक् क्रियमाणे चतुर्णामपि पिण्ड-निर्वपणेऽधिकारो भवति अमावास्यायां पृथक् प्रेतस्य पार्वणं च त्रयाणामिति भवति श्रुतिविरोधः। तेनाधिकृतस्य साग्नेः पुत्रस्य सपिण्डीकरणादूर्ध्वमेकोद्दिष्टं नैव कर्तव्यं भवति, सपिण्डीकरणं तु द्वादशाह एव नियतमनधिकृतस्य निरग्नेस्तु संवत्सरादिषु सपिण्डीकरणकालेषु कृतसपिण्डनस्यापि पितुः संवत्सरादूर्ध्वमपि प्रतिसंवत्सरमेकोद्दिष्ट-मेव ॥ ३।१०।५३ ॥

अनुवाद—एक वर्ष तक पिता के निमित्त अन्य लोगों से अलग पिण्डदान करना उचित नहीं है। सूत्र में 'तु' का प्रयोग पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ है। इसीलिए अलग पिण्डदान को श्रुति-विरुद्ध माना गया है। श्रुति के वचनानुसार चौथा पिण्ड नहीं होता। पार्वणश्राद्ध में तीन का उल्लेख होने से चौथे पिण्ड का स्वतः निराकरण हो जाता है। जहाँ तक श्रुति-विरोध का प्रश्न है—अधिकारी पुत्र पृथक् कर्म करने पर चारों के पिण्डनिर्वाप का अधिकारी है, किन्तु अमावास्या में पिण्डनिर्वाप तीन का ही होता है—यही श्रुति-विरोध है।

अहरहरन्नमस्मै ब्राह्मणायोदकुम्भं च दद्यात् ॥ ३।१०।५४ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अह···द्यात्'। अहरहः प्रतिदिनमस्मै प्रेतायोद्दिश्य ब्राह्मणाय सम्प्रदानभूताय अन्नं भोजनपर्याप्तमुदकुम्भं च जलपूर्णघटं संवत्सरं च यावद्द्यात् प्रयच्छेत् ॥ ३।१०।५४ ॥

अनुवाद—एक वर्ष तक प्रतिदिन मृतक के निमित्त ब्राह्मण को अन्न और जल से भरे घड़े दान करना चाहिए।

पिण्डमप्येके निपृणन्ति ॥ ३।१०।५५ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'पिण्ड'''णन्ति' । एके आचार्या अहरहः पिण्डनिर्वपणमपीच्छन्ति तच्चानधिकृतनिरग्निविषयम्, अधिकृतस्य हि साग्नेः पार्वणमेव भवति नैकः पिण्डः । न चैतत्प्रतिदिनमन्नोदककुम्भदानं संवत्सरसपिण्डीकरणपक्ष एव प्रागपि संवत्सरात् यदि वा वृद्धिरापद्यत इत्यादिस्मृतिविहितकालान्तरे सपिण्डीकरणेऽपि तदूर्द्ध्वं संवत्सरं यावद्भवत्येव । यतः स्मरन्ति—अर्वाक् संवत्सराद्यस्य सपिण्डीकरणं भवेत् । तस्याप्यन्नं सोदकुम्भं दद्यात्संवत्सरं द्विजे ॥ इति । तस्मात् साग्निना निरग्निना च पुत्रेणाहरहरन्नोदकुम्भदानं कर्तव्यम् । पक्षे यत्पिण्डदानं तन्निरग्नेरेव, इतरस्य तु त्रिभ्यः पिण्डदानं प्रसज्येत एकपिण्डनिर्वपणनिषेधात्, तर्हि त्रिभ्योऽपि ददातु, न, प्रेतस्यैहि तत् स्मर्यते । याज्ञवल्क्यः—मृतेऽहनि तु कर्तव्यं प्रतिमासं तु वत्सरम् । प्रतिसंवत्सरं चैवमाद्यमेकादशेऽहनि ॥ इत्येतदेकोद्दिष्टं साग्नेः सपिण्डीकरणात्प्राक् ऊर्ध्वं तु पार्वणमेव । यथाह मनुः—असपिण्डक्रिया कर्म द्विजातेः संस्थितस्य तु । अदैवं भोजयेच्छ्राद्धं पिण्डमेकं तु निर्वपेत् ॥ तथा—सहपिण्डक्रियायां तु कृतायामस्य धर्मतः । अनयैवावृता कार्यं पिण्डनिर्वपणं सुतैः ॥ इति । स्मृत्यन्तरं च—यः सपिण्डीकृतं प्रेतं पृथक्पिण्डेन योजयेत् । विधिघ्नस्तेन भवति पितृहा चोपजायते ॥ इति । एतच्चौरसक्षेत्रजसाग्निपुत्रविषयम् । यतः स्मरन्ति—औरसक्षेत्रजौ पुत्रौ विधिना पार्वणेन तु । दद्यातामितरे कुर्युरेकोद्दिष्टं सुता दश ॥ इति । अत्राशौचप्रसङ्गात् स्मृत्यन्तरोक्त आशौचापवादो लिख्यते—ऋत्विजां दीक्षितानां च यज्ञियं कर्म कुर्वताम् । सत्रिव्रतिब्रह्मचारिदातृब्रह्मविदां तथा ॥ कारवः शिल्पिनो वैद्या दासीदासास्तथैव च । राजानो राजभृत्याश्च सद्यःशौचाः प्रकीर्तिताः ॥ इति । एतच्च यज्ञादौ आरब्ध एव, कुतः ? 'आरब्धे सूतकं नास्ति अनारब्धे तु सूतकमि'ति वचनात् । आरम्भश्चैवम्—आरम्भो वरणं यज्ञे सङ्कल्पो व्रतसत्रयोः । नान्दीश्राद्धं विवाहादौ श्राद्धे पाकपरिक्रिया ॥ इति । इति सूत्रार्थः ॥ ३।१०।५५ ॥

अथ पद्धतिः । तत्र ऊनद्विवार्षिकं प्रेतमरण्यं नीत्वा भूमौ निखनेत् । द्विवर्षप्रभृति उपनयनात्प्राक् प्रेतं श्मशानं नीयमानं सर्वे सपिण्डा यथाज्येष्ठपुरःसरं पङ्क्तीभूता अनुगच्छन्ति । पक्षे यमगाथां गायन्तो यमसूक्तं च जपन्तः । ततस्तत्र तं प्रेतं भूमिजोषणादिरहितं दग्ध्वा वक्ष्यमाणविधिना स्नात्वा उदकाञ्जलिं च दत्त्वा गृहमागता यथोक्तमाशौचमाचरेयुः । उपनयनादूर्ध्वं भूमिजोषणाद्युदकान्तगमनपर्यन्तं यथाहिताग्नेः कर्म तथैव यथासम्भवं भवति । अत्र चौपासनिकं पुत्रादिरधिकारी दुर्बलं ज्ञात्वा स्नापयित्वा शुद्धवस्त्रेणाच्छाद्य दक्षिणाशिरसं दर्भवत्यां भूमौ सन्निवेशयेत् । पूर्वपक्षे तु रात्रौ चेन्मृत्युशङ्काऽग्निहोत्रिणः । हुतावशिष्टाः पक्षेऽस्मिन् जुहुयात्सकलाहुतीः ॥ दार्शं तत्र पिण्डपितृयज्ञं विना आकृष्य कुर्यान्न तु पौर्णमासं शुक्लपक्षे आकृष्य कुर्यात् । दिवा सायमाहुतिं च । तत्कर्मणोरप्रारब्धत्वात् ।

अथ तत्र वैतरणीं यथाशक्ति यथाश्रद्धं हिरण्यभूम्यादिकं सर्वपापक्षयार्थं दापयित्वा अथ गतासुं ज्ञात्वा घृतेनाभ्यज्य उदकेनाप्लाव्य सवस्त्रमुपवीतिनं चन्दनोक्षितसर्वाङ्गं पुष्पमालाविभूषितं मुखनासिकाचक्षुःश्रोत्ररन्ध्रेषु निक्षिप्तहिरण्यशकलं वस्त्रेणाच्छाद्य

पुत्रादयो निर्हरेयुः । एतच्चावसथ्याग्निसन्निधौ गृहमरणपक्षे । यदा तु गङ्गादितीर्थेऽग्निसन्निधौ अर्द्धजले मरणं तदा तत्राप्येवं स्नपनादि हिरण्यशकलनिधानान्तं कर्म कुर्यात् । निर्हरणपक्षे तु आमपात्रे सन्तापाग्निमादायाग्निपुरःसरं प्रेतं यमगाथां गायन्तो यमसूक्तं च जपन्तः पुत्रादयः श्मशानं नयन्ति, तत्राधिकारी पुत्रादिराप्लुत्य भूमिजोषणपूर्वकं दक्षिणोत्तरायतं दारुचयं विधाय चितौ कृष्णाजिनं प्राग्ग्रीवमुत्तरलोममास्तीर्य तत्रोत्तानं दक्षिणाशिरसमेनं निपात्य दक्षिणनासारन्ध्रे आज्यपूर्णं स्रुवं निधाय पादयोरधरारणिमुरस्युत्तरारणिं च प्रागग्रां पार्श्वयोः सव्यदक्षिणयोः शूर्पचमसौ मुसलमुलूखलं च न्युब्जमूर्वोरन्तराले तत्रैव चात्रमोविलीं च अरुदन् भयरहितो निदध्यात् अपसव्येन वाग्यतो दक्षिणामुखः सन् । अथोपविश्य सव्यं जान्वाच्यौपासनाग्निं गृहीत्वा अस्मात्त्वमधिजातोसीत्यनयर्चा स्वाहान्तया दक्षिणतो मुखे वा शनैरग्निं दद्यात् । अनावसथिकं तु एवमेव ग्रामाग्निना सपिण्डाद्यानीतेनामन्त्रकं दहति । ततो दाहान्ते नद्याद्युदकसमीपं गत्वा समीपस्थितं योनिसम्बद्धं श्यालकं वा उदकं करिष्यामह इत्यनेन मन्त्रेणोदकं याचेरन् सपिण्डादयः । एवं याचिते यदि शतवर्षादर्वाक्प्रेतो भवेत्तदा कुरुध्वं मा चैवं पुनरित्येवं प्रतिवचनं दद्यात्, अथ शतवर्षादूद्र्ध्वं प्रेतो भवेत्तदा कुरुध्वमित्येतावदेव, ततः सप्तपुरुषसम्बन्धिनः सपिण्डा दशपुरुषसम्बन्धाः समानोदकाश्चैकग्रामनिवासे यावत्स्मृतं जलं प्रविशन्ति एकवस्त्राः प्राचीनावीतिनः सन्तः, ततः सव्यहस्तस्यानामिकाङ्गुल्या उदकमपनोद्य अपनः शोशुचदघमित्येतावता मन्त्रेण दक्षिणामुखास्तूष्णीं निमज्जन्ति । ततः प्रेतमुद्दिश्यामुकसगोत्रामुकशर्मन् प्रेत एतत्ते उदकमित्युच्चार्य एकैकमञ्जलिं सकृद् भूमौ प्रक्षिपन्ति । तत उदकादुत्तीर्य शुचौ देशे शाड्वलवत्युपविष्टान् सपिण्डादीनन्ये सुहृद इतिहासपुराणादिविदग्धकथाभिः संसारानित्यतां दर्शयन्तोऽपवदेयुः ।

तथाहि—कृतोदकान्समुत्तीर्णान्मृदुशाड्वलसंस्थितान् । स्नातानपवदेयुस्तानितिहासैः पुरातनैः ।। मानुष्ये कदलीस्तम्भनिःसारे सारमार्गणम् । करोति यः स सम्मूढो जलबुद्बुदसन्निभे ।। पञ्चधा सम्भृतः कायो यदि पञ्चत्वमागतः । कर्मभिः स्वशरीरोत्थैस्तत्र का परिदेवना ।। गन्त्री वसुमती नाशमुदधिर्दैवतानि च । फेनप्रख्यः कथं नाशं मर्त्यलोको न यास्यति ।। श्लेष्माश्रु बान्धवैर्मुक्तं प्रेतो भुङ्क्ते यतोऽवशः । अतो न रोदितव्यं हि क्रियाः कार्याः स्वशक्तितः ।। इति संश्रुत्य गच्छेयुर्गृहं बालपुरःसराः । विदश्य निम्बपत्राणि नियता द्वारि वेश्मनः ।। मा शोकं कुरुतानित्ये सर्वस्मिन्प्राणधारिणि । धर्मं कुरुत यत्नेन यो वः सङ्गतिमेष्यति ।। तथा च विष्णुः—यदुदगयनं तदहर्देवानां दक्षिणायनं रात्रिः संवत्सरो ह्यहोरात्रं तत्त्रिंशता मासो द्वादशवर्षं द्वादशवर्षशतानि दिव्यानि कलियुगं, द्विगुणानि द्वापरं, त्रिगुणानि त्रेतायुगं, चतुर्गुणानि कृतयुगम्, एवं द्वादशसहस्राणि दिव्यानि चतुर्युगम्, तत्सहस्रं तु कल्पः, स च पितामहस्याहस्तावती चास्य रात्रिः । एवंविधेनाहोरात्रेण मासवर्षगणनया सर्वश्रेष्ठस्यैव ब्रह्मणो वर्षशतमायुः, एवं ब्रह्मायुषा च परिच्छिन्नः पौरुषो दिवसस्तस्यान्ते महाकल्पः तावत्येव चास्य निशा, पौरुषाणामहोरात्राणामतीतानां सङ्ख्यैव नास्ति, न च भविष्याणाम् अनाद्यन्तत्वात् कालस्य ।

एवमस्मिन्निरालम्बे काले सन्ततयायिनि । न तद्रूपं प्रपश्यामि स्थितिर्यस्य भवेद् ध्रुवा ॥ गङ्गायाः सिकता धारास्तथा वर्षति वासवे । शक्या गणयितुं लोके न व्यतीताः पितामहाः ॥ चतुर्दश विनश्यन्ति कल्पे कल्पे सुरेश्वराः । सर्वलोकप्रधानाश्च मनवश्च चतुर्दश ॥ बहूनीन्द्रसहस्राणि दैत्येन्द्रनियुतानि च । विनष्टानीह कालेन मनुष्याणां तु का कथा ॥ राजर्षयश्च बहवः सर्वे समुदिता गुणैः । देवर्षयश्च कालेन सर्वे ते निधनं गताः ॥ ते समर्था जगत्त्राणे सृष्टिसंहारकारिणः । तेऽपि कालेन नीयन्ते कालो हि वज्रवत्तरः ॥ आक्रम्य सर्वः कालेन परलोकाय नीयते । कर्मपथ्योदनो जन्तुस्तत्र का परिदेवना ॥ जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च । अर्थे दुःपरिहार्येऽस्मिन् नास्ति शोकसहायता ॥ शोचन्तो नोपकुर्वन्ति मृतस्येह जना यतः । अतो न रोदितव्यं हि क्रियाः कार्याः स्वशक्तितः ॥ सुकृतं दुष्कृतं चोभे सहायौ यस्य गच्छतः । बान्धवैस्तस्य किं कार्यं शोचद्भिरथवा तथा ॥ बान्धवैर्नाम शोचद्भिः स्थितिं प्रेतो न विन्दति । अस्वस्थपतितानेष पिण्डतोयप्रदानतः ॥ अर्वाक् सपिण्डीकरणात् प्रेतो भवति वै मृतः । प्रेतलोकं गतस्यान्नं सोदकुम्भं प्रयच्छति ॥ देवतायतनस्थाने तिर्यग्योनौ तथैव च । मनुष्येषु तथा प्रैति श्राद्धं दत्तं स्वबान्धवैः ॥ प्रेतस्य श्राद्धकर्तुश्च पृथक् श्राद्धे कृते शुभम् । तस्माच्छ्राद्धं सदा कार्यं शोकं त्यक्त्वा निरर्थकम् ॥ एतावदेव कर्तव्यं सदा प्रेतस्य बन्धुभिः । नोपकुर्यान्नरः शोचन् प्रेतस्यात्मन एव च ॥ दृष्ट्वा लोकमनानन्दं म्रियमाणांश्च बान्धवान् । धर्ममेकं सहायार्थे चरयध्वं सदा नराः ॥ मृतोऽपि बान्धवः शक्तो नानुगन्तुं मृतं नरम् । जायावर्जं हि सर्वस्य याम्यः पन्था विभिद्यते ॥ धर्म एकोऽनुयात्येनं यत्र क्वचन गामिनम् । ततोऽसारे त्रिलोकेऽस्मिन्धर्मं कुरुत मा चिरम् ॥ श्वः कार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे वापराह्णिकम् । नहि प्रतीक्षते मृत्युः कृतं वाऽस्य न वाऽकृतम् ॥ क्षेत्रापणगृहासक्तमन्यत्र गतमानसम् । वृकीवोरणमासाद्य मृत्युरादाय गच्छति ॥ न कालस्य प्रियः कश्चिदप्रियो वाऽपि विद्यते । आयुष्ये कर्मणि क्षीणे प्रसह्य हरते जनम् ॥ नाप्राप्तकालो म्रियते विद्धः शरशतैरपि । कुशाग्रेणापि संस्पृष्टः प्राप्तकालो न जीवति ॥ नौषधानि न मन्त्राश्च न होमा न पुनर्जपाः । त्रायन्ते मृत्युनोपेतं जरया वाऽपि मानवम् ॥ यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम् । तथा पूर्वकृतं कर्म कर्तारमनुविन्दति ॥ आगामिनमनर्थं हि प्रतिष्ठानशतैरपि । न निवारयितुं शक्तस्तत्र का परिदेवना ॥ भारते—यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महोदधौ । समेत्य च व्यपेयातां तद्वद् भूतसमागमः ॥ रामायणे च—शोचमानास्तु सस्नेहा बान्धवाः सुहृदस्तथा । पातयन्ति जनं स्वर्गादश्रुपातेन राघव ॥ श्रूयते हि नरव्याघ्र पुरा परमधार्मिकः । भूरिद्युम्नो गतः स्वर्गं राजा पुण्येन कर्मणा ॥ स पुनर्बन्धुवर्गस्य शोकव्याजेन राघव । कृत्स्ने च क्षयिते धर्मे पुनः स्वर्गान्निपातितः ॥ अतः शोकाग्निना दग्धः पिता ते स्वर्गतः प्रभो । शपेत् त्वां मन्युनाऽऽविष्टः तस्मादुत्तिष्ठ मा शुचः ॥

ततः पश्चादनवलोकयन्तः कनिष्ठानग्रतः कृत्वा पङ्क्तीभूता ग्राममायान्ति । आगम्य च गृहद्वारे स्थित्वा निम्बपात्राणि दन्तैरवखण्डयाचम्योदकमग्निं गोमयं गोरसर्षपांस्तैलं चेति क्रमेणालभ्य पादेनाश्मानमाक्रम्य गृहं प्रविशन्ति । ततः प्रभृति त्रिरात्रं यावत्

ज्ञातीनां यमनियमा उच्यन्ते । ब्रह्मचर्यमधःशयनं लौकिककर्माकरणमन्येषां कुर्वित्यप्रेरणं क्रीत्वा लब्ध्वा वा दिवैव भोजनं मांसवर्जम् । एते च नियमा ज्ञातीनां पुत्रादीनां यावदाशौचम् । अथ यस्तेषां मध्ये प्रेतक्रियाधिकारी पुत्रादिः स दशरात्रं यावत्प्रत्यहमेकैकमवयवपूरकं पिण्डं प्रेताय दद्यात् । आशौचदिनह्रानौ वृद्धौ वा दशैव पिण्डान् दिनानि विभज्य दद्यात् । कथममुकसगोत्रामुकशर्मन् प्रेत अवनेनिक्ष्व, ततो दर्भानास्तीर्य अमुकसगोत्रामुकशर्मन् प्रेत एष ते शिरःपूरकः पिण्डो मया दीयत इति पिण्डं दत्वा पूर्ववत्पुनरवनेजनं दत्त्वा ततोऽनुलेपनं ततो पुष्पधूपदीपशीतलतोयोर्णातन्तुदानं पिण्डे स्मृत्यन्तरोक्तमपि कुर्यात् ।

अथ यस्मिन्नहोरात्रे स मृतो भवति तस्यां रात्रौ मृन्मये पात्रे क्षीरोदके कृत्वा यष्टयादिकमवलम्ब्याकाशे धारयेत् प्रेतात्र स्नाहि पिब चेदमिति मन्त्रेण । ततो द्वितीयादिषु प्रत्यहमनेनैव विधिना एकैकं पिण्डमवयवपूरकं दद्याद् ब्राह्मणः । क्षत्रियश्चेन्नवमेऽहनि नवमं पिण्डं दत्वा द्वादशेऽहनि दशमं पिण्डं दद्यात् । वैश्यश्चेत्पञ्चदशेऽहनि शूद्रश्चेत्त्रिंशत्तमे इति विशेषः । तथैव एकैकमञ्जलिमेकैकं जलपात्रम् । वृद्धिपक्षे त्वञ्जलीनां पात्राणां च दिनसङ्ख्यया एकैकं वर्द्धयेत् । तत्र वाक्यम्—अमुकसगोत्रामुकशर्मन् प्रेतैष ते तिलतोयाञ्जलिर्मया दत्तस्तवोपतिष्ठताम् । अमुकसगोत्र प्रेत एतत्ते तिलतोयपात्रं मया दत्तं तवोपतिष्ठताम् । सद्यःशौचपक्षे त्वेकस्मिन्दिन एव क्रमेण दशावयवपूरकान् पिण्डान् तथा पञ्चपञ्चाशत्तोयाञ्जलीन् पञ्चपञ्चाशत्तोयपात्राणि च दद्यात् । त्र्यहाशौचपक्षे तु प्रथमदिने त्रीन् पिण्डान् षडञ्जलीन् षट् पात्राणि च दद्यात् । द्वितीयदिने चतुरः पिण्डान् द्वाविंशत्यञ्जलीन् द्वाविंशतिपात्राणि तृतीयदिने पुनस्त्रीन् पिण्डान् सप्तविंशत्यञ्जलीन् सप्तविंशतिपात्राणि च दद्यात् । यतः स्मरन्ति—प्रथमे दिवसे देयास्त्रयः पिण्डाः समाहितैः । द्वितीये चतुरो दद्यादस्थिसञ्चयनं तथा ॥ त्रींस्तु दद्यात्तृतीयेऽह्नि वस्त्रादि क्षालयेत्तत इति । केचित्तु प्रथमेऽह्नि एकं पिण्डमेकमञ्जलिमेकं पात्रं द्वितीयदिने चतुरः पिण्डान् चतुर्दशाञ्जलीन् चतुर्द्दशपात्राणि तृतीयदिने पञ्चपिण्डान् चत्वारिंशदञ्जलीन् चत्वारिंशत्पात्राणीति मन्यन्ते । एतत्प्रेतकृत्यकरणानन्तरं न पुनः स्नायात् स्मरणाभावात् ।

पिण्डैरवयवपूरणम् । यथा—शिरः प्रथमेन, कर्णाक्षिनासिका द्वितीयेन, गलांसभुजवक्षांसि तृतीयेन, नाभिलिङ्गगुदानि चतुर्थेन, जानुजङ्घापादाः पञ्चमेन, सर्वमर्माणि षष्ठेन, नाडिका सप्तमेन, लोमान्यष्टमेन, वीर्यं नवमेन, शरीरपूर्णत्वं दशमेनेति । एतत् प्रेतनिर्हरणादिकं यतिव्यतिरिक्तानां त्रयाणामाश्रमिणां कुर्यात् । यतेस्तु न किञ्चित् । तथा च स्मृतिः—त्रयाणामाश्रमाणां च कुर्याद्दाहादिकाः क्रियाः । यतेः किंचिन्न कर्तव्यं न चान्येषां करोति सः ॥ इति । तथा—एकोद्दिष्टं जलं पिण्डमाशौचं प्रेतसत्क्रियाम् । न कुर्यात्पार्वणादन्यद् ब्रह्मीभूताय भिक्षवे ॥ अहन्येकादशे प्राप्ते पार्वणं तु विधीयत इति । ब्रह्मचारी तु आचार्योपाध्यायपितृव्यतिरिक्तानां प्रेतानां निर्हरणादिकं न कुर्यात् । यथाह मनुः—आदिष्टी नोदकं कुर्यादा व्रतस्य समापनात् । समाप्ते तूदकं कृत्वा त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् ॥ इति । तथा—आचार्यपित्रुपाध्यायान्निर्हृत्यापि व्रती व्रती ।

सकटान्नं न चाश्नीयान्न च तैः सह संवसेत् ॥ इति । यदि मोहात्करोति तदा ब्रह्मचर्य-व्रताच्च्यवते पुनरुपनयनेन शुद्ध्यति । तथास्थिसञ्चयनं ब्राह्मणस्य चतुर्थेऽहनि, क्षत्रियस्य पञ्चमे, वैश्यस्य षष्ठे, शूद्रस्यैकादशेऽहनि कुर्यात् । त्र्यहाशौचे द्वितीयेऽहनि सर्वेषाम्, सद्यःशौचे पुनर्दाहानन्तरमेव । तत्रास्थिसञ्चयननिमित्तमेकोद्दिष्टश्राद्धं विधाय पुष्प-धूपदीपनैवेद्यानि सम्भृत्य ॐ क्रव्यादमुखेभ्यो देवेभ्यो नम इति मन्त्रेणार्घादिना पूजा-ङ्कुर्यात्, श्मशाने ततो नमः क्रव्यादमुखेभ्यो देवेभ्य इति बलिदानम् । तत्र मन्त्रः—देवा येऽस्मिन् श्मशाने स्युर्भगवन्तः सनातनाः । तेऽस्मत्सकाशाद् गृह्णन्तु बलिमष्टाङ्गमक्ष-यम् ॥ प्रेतस्यास्य शुभाँल्लोकान्प्रयच्छन्त्वपि शाश्वतान् । अस्माकं चायुरारोग्यं सुखं च ददताक्षयम् ॥ इति । एवं बलिं दत्वा विसर्जयेत् । ततोऽपसव्यं कृत्वा पलाशवृन्तेना-स्थीनि परिवृत्याङ्गुष्ठकनिष्ठाभ्यामादाय पलाशपुटे धारयति । तत्र शमीं शैवालं कर्दमं च धारयति । ततो घृतेनाक्तसर्वौषधीमिश्राण्यस्थीनि दक्षिणपूर्वायतान्यवाकारान्कर्षून्खा-त्वा तत्र कुशानास्तीर्य हरिद्रया पीतवस्त्रखण्डमावृत्य तत्र वक्ष्यमाणमन्त्रेण निक्षिपेत्—ॐ वाचा मनसा आर्तेन ब्रह्मणा त्रय्या विद्यया पृथिव्या मक्षिकायामपाꣳ रसेन निव-पाम्यसाविति मन्त्रेण, असौस्थाने प्रेतनामादेशः । ततः कुम्भे तूष्णीं निधाय तं कुम्भ-मरण्ये वृक्षमूले वा भूमौ खात्वा धारयेत् । चितास्थितं भस्म तोये सर्वमेव प्रक्षिपेत्, चिताभूमिं च गोमयेन विलिप्य तत्र तेनैव पूर्वोक्तबलिमन्त्रेण बलिं दद्यात् । तं च बलिं क्षीरेणाभ्यज्य देवता विसर्जयेत् । चिताभूमिच्छादनार्थं तत्र वृक्षं पट्टकं वा कारयेत् । सभाविश्रामार्थं काष्ठपाषाणविन्यासविशेषः पट्टकः । पट्टहर इति कान्यकुब्जे प्रसिद्धः । लोकाचारादेव कुड्यं वा ।

ततः कदाचिदस्थिकुम्भमुत्थाप्यादाय तीर्थं गच्छेत् । अस्थीनि मातापितृवंशजानां नयन्ति गङ्गामपि ये कदाचित् । सद्बन्धवोऽस्यापि दयाभिभूतास्तेषां च तीर्थानि फल-प्रदानि । ततश्च गङ्गां गत्वा स्नात्वा पञ्चगव्येनास्थीनि सिक्त्वा हिरण्यमध्वाज्यतिलैश्च संयोज्य ततो मृत्पिण्डपुटे निधाय दक्षिणां दिशं पश्यन् नमोऽस्तु धर्मायेति वदन् जलं प्रविश्य स मे प्रीतोऽस्तु इत्यभिधाय गङ्गाम्भसि प्रक्षिप्य जलादुत्तीर्य सूर्यमवेक्ष्य विप्र-मुख्याय यथाशक्ति दक्षिणां दद्यात् । एवं कृते प्रेतक्रियाकर्त्रोः स्वर्गः स्यात् । तथा चोक्तम्—विगाह्य गङ्गां समियाय तोयमिहास्थिराशिं सकलैश्च गव्यैः । हिरण्यमध्वा-ज्यतिलैस्तु युक्तं ततस्तु मृत्पिण्डपुटे निधाय ॥ यस्यां दिशि प्रेतगणोपगूढो विलोकयँस्तां सलिले क्षिपेत्तम् । उत्तीर्य दृष्ट्वा रविमात्मशक्त्या सुदक्षिणां द्विजमुख्याय दद्यात् ॥ एवं कृते प्रेतपुरःस्थितस्य स्वर्गे गतिः स्याच्च महेन्द्रतुल्या । क्षीणेषु पुण्येष्वपतन्दिविष्ठा नैवं व्युदस्य च्यवनं द्युलोकात् ॥ यावदस्थि मनुष्याणां गङ्गातोयेषु तिष्ठति । तावद्वर्ष-सहस्राणि ब्रह्मलोके महीयते ॥

तथा यमः—गङ्गातोयेषु यस्यास्थि प्लवते शुभकर्मणः । न तस्य पुनरावृत्तिर्ब्रह्म-लोकात्कदाचन ॥ गङ्गातोयेषु यस्यास्थि नीत्वा सङ्क्षिप्यते नरैः । युगानां तु सहस्राणि तस्य स्वर्गगतिर्भवेत् ॥ मातुः कुलं पितृकुलं वर्जयित्वा नराधमः । अस्थीन्यन्य-कुलोत्थस्य नीत्वा चान्द्रायणाच्छुचिः ॥ एतच्च द्रव्यादिलोभेन नयतो न श्रेयोऽर्थिनः ।

अथ साग्नेः पत्नी यदि जीवद्भर्तृका म्रियेत तदा केचिद्देशाचारात्क्षौरं नाहुः । अन्यो विधिः सर्वोऽप्युक्तो भवति । भर्तरि मृते यदि म्रियेत तदा अरण्यन्तरं सम्पाद्य ततो निर्मन्थ्येनाग्निना पात्रैर्विना तां दहेत् । तदलाभे लौकिकाग्निना । एवं पश्चान्मृतस्य पुंसो भवति । अन्वारोहणे तु पृथगाहुतिस्तन्मुखे इति विशेषः । पात्रासादनं तु यजमानदेह एव, अथ यदि साग्नेः शवस्य दाहे क्रियमाणे वृष्टचाद्युपघातेनाग्निनाशेऽर्द्धदग्धदेहशेषं वृष्टौ शान्तायामर्द्धदग्धारणी निर्मन्थ्य तदलाभेऽर्द्धदग्धकाष्ठं निर्मन्थ्य तदलाभे अश्वत्थादिपवित्रकाष्ठमथनोत्थेनाग्निना पुनर्दहेत् ।

अथ प्रोषिते तु मृतेऽग्निहोत्रिणि तदस्थीन्यानीयोक्तविधिना त्रेतया पुनर्दहेत् । अस्थ्नामप्यलाभे षष्टचधिकत्रिशतमितपलाशवृन्तान्युच्चित्य कृष्णसारचर्मणि पुरुषाकारेण प्रसारिते तदुपरि पुरुषाकारं प्रसार्य तत्र पलाशवृन्तानां चत्वारिंशता शिरः दशभिर्ग्रीवा त्रिंशता उरः विंशत्योदरं शतेन भुजद्वयं दशभिर्हस्ताङ्गुलीः षड्भिर्वृषणौ चतुर्भिः शिश्नं शतेनोरुद्वयं त्रिंशता जानुनी जङ्घे च दशभिः पादाङ्गुलीः परिकल्प्योर्णासूत्रेण सम्यग्बद्ध्वा तेनैव मृगचर्मणा संवेष्टच ऊर्णासूत्रेणैव बद्ध्वा यवपिष्टजलेन सम्प्रलिप्य मन्त्रपूर्वकं पूर्ववत्पात्रैर्दहेत् । एवं पर्णशरे दग्धे त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् । द्वितीयेऽहनि तु तदस्थ्नां वृन्तरूपाणां दग्धानां सञ्चयनम् । एवं मृतबुद्धया पर्णशरे दग्धे तस्य दैवात्पुनरागमने पुनराधानं कृत्वा आयुष्यार्थामिष्टिं कुर्यात् । पर्णशरदाहानन्तरं तु तदस्थ्नां लाभेऽर्द्धदग्धकाष्ठानामलाभे त्वस्थ्नां महाजले प्रक्षेपः । बुद्धिपूर्वमात्मघातिनां तु व्यासोक्तनारायणबल्यनन्तरं संस्कारः । एवं साग्नेर्दहनदिनान्निरग्नेर्मरणदिनाद् गणना ।

अथैषां प्रेतदेहानां रजस्वलादिस्पर्शे मृन्मये कुम्भे पूर्णजले पञ्चगव्यं प्रक्षिप्य कृतस्नानं शवं तेनोदकेनाभिषिञ्चते । आपोहिष्ठेत्यादिभिरब्लिङ्गैर्मन्त्रैर्वामदेव्यादिभिस्त्र्यृग्भिस्तिसृभिरभिषिञ्चेत् । एवं सूतिकां रजस्वलां चापि एकादशे चतुर्थे वाहनि प्रायश्चित्तं कृत्वा पञ्चगव्येन प्रक्षाल्य वाससा संवेष्टच उक्तविधिना दहेदिति ॥

अनुवाद—कुछ आचार्यों के विचार से प्रतिदिन पिण्डदान करना चाहिए ।

टिप्पणी—यह पिण्डदान निरग्निपुत्र ही कर सकता है, क्योंकि साग्निपुत्र के लिए एक पिण्डदान करना निषिद्ध है । वह केवल तीन के लिए ही पिण्ड-निर्वाप कर सकता है ।

तृतीयकाण्ड में दशम कण्डिका समाप्त ॥

एकादशी कण्डिका

अर्घ्यपशु-निरूपणम्

पशुश्चेदाप्लाव्यागामग्रेणाग्नीन्परीत्य पलाशशाखां निहन्ति ॥ ३।११।१ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—एवं तावत्प्रेतायोद्दिश्य गामप्येके घ्नन्तीति सूत्रकृता एकादशेऽहनि प्रेतमुद्दिश्य गोपश्वालम्भोऽभिहितस्तत्प्रसङ्गादन्येऽपि यावन्तोऽर्घ्यपशवस्तत्कर्माभिधातुमिदमारभ्यते—'पशु…हन्ति' । चेद्यदि स्मार्तः पशुः क्रियते तदा तं पशुं गोपशुवर्जमाप्लाव्य स्नापयित्वा नियुञ्ज्यात् गोपशौ आप्लाव्याभावः पशुनियोजनं च यूपे श्रूयते, अस्य तु कुत्रेत्यपेक्षायामाह—अस्य अग्रेण पुरस्तात् अग्नीन् वितानपक्षे गार्हपत्यादीन् आवसथ्यपक्षे एकमग्निं परीत्य प्रादक्षिण्येन गत्वा पलाशस्य ब्रह्मवृक्षस्य शाखां निहन्ति निखनन्ति । आसादनानन्तरं यूपकार्यत्वाच्छाखायाः ॥ ३।११।१ ॥

अनुवाद—यदि पशुकर्म का अनुष्ठान करना हो तो गाय को छोड़कर अन्य पशु को स्नान के बाद सामने से होमाग्नि की प्रदक्षिणा कर उसे पलाश की डाल में बाँध दे ।

परिव्ययणोपाकरणनियोजनप्रोक्षणान्यावृता कुर्याद्यच्चान्यत् ॥ ३।११।२ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'परि…चान्यत्' । परिव्ययणं त्रिगुणरशनया शाखायाः, उपाकरणं तृणेन पशोः स्पर्शनं, नियोजनं द्विगुणरशनया अन्तराश्रृङ्गबद्धस्य पशोः पलाशशाखायां बन्धनं, प्रोक्षणं प्रोक्षणीभिरद्भिः पशोरासेचनम् । एतानि परिव्ययणोपाकरणनियोजनप्रोक्षणानि आवृता पशुप्रकरणविहितेतिकर्तव्यतया मन्त्रवर्जितया क्रियया कुर्यात् विदधीत, न केवलमेतान्येव अन्यदपि यत्पशुसंस्कारकं पशुसमञ्जनं पर्यग्निकरणादिकं तदपि तथैव कुर्यात् ॥ ३।११।२ ॥

अनुवाद—पशु के सामने—परिव्ययण अर्थात् बारह हाथ की रस्सी को तिगुनी कर पलाश की डाल के चारों ओर लपेटना; उपाकरण अर्थात् तिनके से पशु का स्पर्श; नियोजन अर्थात् आठ हाथ की रस्सी को दुगुना कर सींगों के बीच में बँधे पशु को पलाश की डाल में बाँधना; प्रोक्षण अर्थात् प्रोणक्षी पात्र से जल लेकर पशु के शरीर पर छिड़कना—ये सभी क्रियाएँ और अन्य पशु-संस्कार भी पशु-प्रकरण में विहित विधान से मंत्ररहित ही किये जायें ।

परिपशव्ये हुत्वा तूष्णीमपराः पञ्च ॥ ३।११।३ ॥

(हरिहरभाष्यम्)–'परि…पञ्च' । पशुसंज्ञपनं परि उभयतः हूयेते ये द्वे आज्याहुती स्वाहादेवेभ्यः देवेभ्यः स्वाहेति ते परिपशव्ये ते हुत्वा तूष्णीं मन्त्रवर्जमपरा अन्याः पञ्च आज्याहुतीर्जुहुयात् ॥ ३।११।३ ॥

अनुवाद—परिपशव्य नामक घी की दो आहुतियाँ देकर मन्त्ररहित अन्य पाँच आहुतियाँ दें ।

वपोद्धरणं चाभिघारयेत् ॥ ३।११।४ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'वपो···येत्' । पशोर्वपाया उद्धरणं यथोक्तं कृत्वा तां वपामभिघारयेत् उद्धृत्यैव ॥ ३।११।४ ॥

अनुवाद—पशु के नाभि की चर्बी हाथ में लेकर उसे घृतसिक्त करे ।

देवतां चादिशेदुपाकरणनियोजनप्रोक्षणेषु ॥ ३।११।५ ॥

(हरिहरभाष्यम्)–'देव···णेषु' । उपाकरणं च नियोजनं च प्रोक्षणं च उपाकरण-नियोजनप्रोक्षणानि तेषु देवतां यद्देवत्यः पशुर्भवति तां देवतामादिशेत्, अमुष्मै त्वा उपाकरोमि अमुष्मै त्वा नियुनज्मि अमुष्मै त्वा जुष्टं प्रोक्षामीति ॥ ३।११।५ ॥

अनुवाद—उपाकरण, नियोजन तथा प्रोक्षण के समय देवता को आदिष्ट करे ।

स्थालीपाके चैवम् ॥ ३।११।६ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'स्थाली···चैवम्' । स्थालीपाके चरौ च एवं देवतामादिशेत् । चरोरुपाकरणनियोजनाभावात्तण्डुलप्रोक्षणे अमुष्मै त्वा जुष्टं प्रोक्षामीति देवतोद्देशः ॥

अनुवाद—इसी प्रकार चरु में भी 'अमुष्मै त्वा उपाकरोमि' इत्यादि कहकर देवता को आदिष्ट करे ।

वपाꣳ हुत्वाऽवदानान्यवद्यति सर्वाणि त्रीणि पञ्च वा ॥ ३।११।७ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'वपाꣳ···पञ्च वा' । वपां यथोक्तेन विधिना हुत्वा अवदानानि पशोः हृदयादीनि अवद्यति छिनत्ति, कति ? सर्वाणि हृदयं जिह्वां क्रोडं सव्यबाहुं पार्श्वद्वयं यकृत् वृक्कौ गुदमध्यं दक्षिणां श्रोणिमित्येकादश प्रधानार्थानि, दक्षिणबाहुं गुदतृतीयाणिष्ठं सव्यां श्रोणिमिति त्रीणि सौविष्टकृतानि । यद्वा त्रीणि हृदयं जिह्वां क्रोडमिति, अथवा पञ्च हृदयजिह्वाक्रोडसव्यबाहुदक्षिणपार्श्वानि, अत्र पञ्चावदानपक्षे त्र्यवदानपक्षे वा तेभ्य एव स्विष्टकृद्यागः । वपाꣳ हुत्वावदानान्यवद्यतीति वदता सूत्र-कृता पशुपुरोडाशो निरस्तः ॥ ३।११।७ ॥

अनुवाद—प्रथम चर्बी से होम कर के पशु के शेष अंगों में से तीन, पाँच या सभी अंग काटे जायें ।

स्थालीपाकमिश्राण्यवदानानि जुहोति ॥ ३।११।८ ॥

(हरिहरभाष्यम्)–'स्थाली···होति' । स्थालीपाकेन चरुणा मिश्राणि संयुक्तान्य-वदानानि हृदयादीनि जुहोति स्थालीपाकस्य च मिश्रणवचनात्सहैव पाकः ॥३।११।८॥

अनुवाद—इन्हें स्थालीपाक में मिलाकर हवन करे ।

पश्वङ्गं दक्षिणा ॥ ३।११।९ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'पश्वङ्गं दक्षिणा' । पशोः अङ्गं पश्वङ्गम्, अस्य पशुबन्धस्य दक्षिणा ॥ ३।११।९ ॥

अनुवाद—इस होम की दक्षिणा में पशु-अङ्ग ही देना चाहिए ।

यद्देवते तद्दैवतं यजेत्तस्मै च भागं कुर्यात्तं च ब्रूयादिममनुप्रापयेति॥३।११।१०॥

(हरिहरभाष्यम्)—'यद्दे···येति' । एतदर्घ्यपशून्प्रकृत्य कर्माभिहितं, तत्र यस्यार्घ्यस्य आचार्यादेर्या देवता तद्दैवतः स पशुयागस्तस्मिँस्तद्दैवते यागे तद्दैवतम् अर्घ्यदैवतं बृहस्पत्यादिकं च यजेत् । तत्रार्घ्यदेवता, आचार्यस्य बृहस्पतिः, ब्रह्मणश्चन्द्रमाः, उद्गातुः पर्जन्यः, अग्निहोतुः, अश्विनावध्वर्योः, विवाह्यस्य प्रजापतिः, राज्ञ इन्द्रः, प्रियस्य मित्रः, स्नातस्य विश्वेदेवा इन्द्राग्नी वेति । तस्मै चार्घ्यायाचार्यादये भागं पशोः किञ्चिदङ्गं कुर्यात् विभजेत् । तं चार्घ्यमाचार्यादिकमिममनुप्रापयेति ब्रूयात् ॥ ३।११।१० ॥

अनुवाद—जिस किसी भी देवता को प्रसन्न करने के निमित्त यह पशुकर्म किया गया हो, हवन के बाद उनका पूजन करना चाहिए, तत्पश्चात् 'इममनुप्रापय' इत्यादि कहकर उन्हें अर्घ्य देना चाहिए ।

नद्यन्तरे नावं कारयेन्न वा ॥ ३।११।११ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'नद्य···न्नवा' । इदानीं प्रेतोद्देशेन गामप्येके घ्नन्तीति यदुक्तं तत्प्रदेशविधानार्थमाह । नद्यन्तरे नद्या अन्तरे द्वीपे नावं नवम् एकादशाहश्राद्धं तदर्थमिमं नावं गोपशुं कारयेदनुतिष्ठेत् । कोऽर्थः ? प्रेतोद्देशेन गोपशुमेकादशोऽह्नि नद्यन्तरे आलभेत न वा आलभेत इति सूत्रार्थः ॥ ३।११।११ ॥

अनुवाद—इस पशुकर्म का अनुष्ठान यदि करना चाहे तो नदी के बीच किसी 'द्वीप' पर करे, अन्यथा यह कर्म वैकल्पिक है ।

तृतीयकाण्ड में एकादश कण्डिका समाप्त ॥

द्वादशी कण्डिका

अवकीर्णिप्रायश्चित्तम्

अथातोऽवकीर्णिप्रायश्चित्तम् ॥ ३।१२।१ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—एवं तावन्नद्यन्तरे नावं कारयेदित्यनेन नवश्राद्धप्रयोजन-पशुरुक्तस्तत्प्रसङ्गान्नैमित्तिकं पश्वन्तरं व्याख्यातुमाह—'अथा···श्चित्तम्'। अथेदानीं यतः पशुरभिहितः अतस्तत्प्रसङ्गात् अवकीर्णिनः स्खलितब्रह्मचर्यस्य ब्रह्मचारिणः प्रायश्चित्तं शुद्धिसम्पादकं कर्म वक्ष्यत इति सूत्रशेषः ॥ ३।१२।१ ॥

अनुवाद—इसके बाद अब अवकीर्णी अर्थात् ऐसे व्यक्ति के, जिनका ब्रह्मचर्य भंग हो गया हो, प्रायश्चित्त का विधान करते हैं।

अमावास्यायां चतुष्पथे गर्दभं पशुमालभते ॥ ३।१२।२ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अमा···भते'। यो ब्रह्मचारी सन् स्त्रीगमनादवकीर्णी भवति स पुनः प्रायश्चित्तं चिकीर्षुरमावास्यायां कस्याञ्चित् कृष्णपञ्चदश्यां चतुष्पथे चत्वारः पन्थानो यत्र भूभागे स चतुष्पथः तस्मिन् देशे गर्दभं रासभं पशुमालभते संज्ञपयति ॥

अनुवाद—अमावास्या के दिन किसी चौराहे पर गधे का आलम्भन करे।

टिप्पणी—ब्रह्मचर्यव्रत-पालन की जो निश्चित अवधि धर्मशास्त्र में निर्धारित है, उस अवधि के बीच में जो स्त्री-गमन कर अपने व्रत को भंग करता है; उसके लिए ही इस प्रकार के प्रायश्चित्त का विधान किया गया है।

निर्ऋतिं पाकयज्ञेन यजेत ॥ ३।१२।३ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'निर्ऋ···जेत्'। निर्ऋतिं देवतां पाकयज्ञेन पाकयज्ञविधानेन पशुना यजेत। अत्रावकीर्णिनो हविर्यज्ञरूपोऽन्योऽपि पशुरस्ति तेन हेतुना पाकयज्ञेन यजेतेत्युक्तम् ॥ ३।१२।३ ॥

अनुवाद—'निर्ऋति' नामक देवता का पूजन-यजन 'पाकयज्ञ' से करे।

टिप्पणी—इस सन्दर्भ में मनु का कथन भी द्रष्टव्य है—

'अवकीर्णी तु काणेन गर्दभेन चतुष्पथे।
पाकयज्ञविधानेन यजेत निर्ऋतिं निशि ॥' (११।१८)

अप्स्ववदानहोमः ॥ ३।१२।४ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अप्स्व···होमः'। अप्सु जले अवदानानामेव होमः देवतोद्देशेन प्रक्षेपो भवति न त्वग्नौ। अवदानग्रहणादाघारादीनां लौकिकाग्नावेव होमः ॥

अनुवाद—पशु के कटे अङ्गों को देवताओं के निमित्त पानी में फेंक दे।

भूमौ पशुपुरोडाशश्रपणम् ॥ ३।१२।५ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'भूमौ···पणम्'। भूमावेव न कपालेषु पुरोडाशस्य श्रपणं पाको भवति, शाखापशौ पुरोडाशाभावात्। इहापूर्वः पुरोडाशोऽर्थाद्विधीयते तस्य च संस्कार आज्येन सह क्रियते ॥ ३।१२।५ ॥

अनुवाद—धरती पर ही उस पशु पुरोडाश (हविष्य) को पकाये।

तां छविं परिदधीत ॥ ३।१२।६ ॥

ऊर्ध्ववालामित्येके ॥ ३।१२।७ ॥

संवत्सरं भिक्षाचर्यं चरेत् स्वकर्म परिकीर्तयन् ॥ ३।१२।८ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'तां छविं····र्तयन्'। ताम् आलब्धस्य गर्दभस्य छविं कृत्तिं परिदधीत प्रोर्णुवीत आच्छादयीतेति यावत्, एके आचार्याः तामूर्ध्ववालामुपरिपुच्छां परिदधीतेति वर्णयन्ति, अपरे तिर्यग्वालाम्। ततश्च विकल्पः। गर्दभपश्वालम्भानन्तरं तच्छविं परिदधानः संवत्सरं यावद्भिक्षाचर्यं चरेत्, किं कुर्वन्? स्वकर्म स्वीयमवकीर्णित्वं परिकीर्तयन् सर्वतः प्रकथयन् अहमवकीर्णी भवति भिक्षां देहीत्येवमादिना। स्वकर्मपरिख्यापनं कुत इति चेत् निरुक्तं वा एनः कनीयो भवतीति श्रुतेः ॥ ३।१२।६-८ ॥

अनुवाद—मारे गये गदहे की खाल ओढ़ ले। कुछ आचार्यों के विचार से उसकी पूँछ वाला भाग ऊपर की ओर तिरछा रहे। तत्पश्चात् एक वर्ष तक—'मैंने ब्रह्मचर्य-व्रत को भंग किया है, अतः मैं अवकीर्णी हूँ'—यह कहते हुए भीख माँग कर खाये।

अथापरमाऽऽज्याहुती जुहोति—

कामावकीर्णोऽस्म्यवकीर्णोऽस्मि कामकामाय स्वाहा।

कामाभिद्रुग्धोऽस्म्यभिद्रुग्धोऽस्मि कामकामाय स्वाहेति ॥ ३।१२।९ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अथापरम्'। अथेदानीमपरमन्यत्प्रायश्चित्तान्तरमवकीर्णिनोऽभिधीयते तदाह—'आज्या···स्वाहेति'। कामावकीर्णोऽस्मि कामाभिद्रुग्धोऽस्मीत्येताभ्यां मन्त्राभ्यां प्रतिमन्त्रमेकैकामेवमाज्याहुती द्वे जुहोति। इदं कामायेति उभयत्र त्यागः। ते च द्वे आगन्तुत्वाच्चतुर्दशाहुत्यन्ते, आगन्तूनामन्ते निवेश इति न्यायात् ॥

अनुवाद—प्रायश्चित्त के बाद 'कामावकीर्णोऽस्मि····' इत्यादि मंत्र पढ़ते हुए घी की दो आहुतियाँ अग्नि में डाले।

मन्त्रार्थ—हे मदन! तुमने मुझे क्षुब्ध किया है। तुम्हारे ही कारण मैंने व्रत-भंग किया है। तुमने मुझे क्षुब्ध किया है; अतः कामशोधन के लिए हविष्मान् बना हूँ।

अथोपतिष्ठते—

सं मा सिञ्चन्तु मरुतः समिन्द्रः सं बृहस्पतिः।

सं मायमग्निः सिञ्चतु प्रजया च धनेन चेति ॥ ३।१२।१० ॥

एतदेव प्रायश्चित्तम् ॥ ३।१२।११ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अथो···श्चित्तम्'। अथ होमानन्तरमुपतिष्ठते ऊर्ध्वीभूय सं मासिञ्चन्त्वित्यादिना मन्त्रेण लिङ्गोक्ता देवताः प्रार्थयते, संवत्सरमित्यत्राप्यनुवर्तते,

अतः प्रतिदिनं पञ्चभूसंस्कारपूर्वकं लौकिकाग्नि स्थापयित्वा आघारादिस्विष्टकृदन्ता-श्चतुर्दशाज्याहुतीर्हुत्वा कामावकीर्णोऽस्मि कामाभिद्रुग्धोऽस्मीत्येताभ्यां मन्त्राभ्यां प्रति-मन्त्रमाज्याहुतिद्वयं हुत्वा सं मासिञ्चन्त्विति मन्त्रेणोपतिष्ठते संवत्सरं यावत्, एतदेव यदुक्तं गर्दभपश्वालम्भनरूपमाज्याहुतिहोमात्मकं च तदवकीर्णिनः प्रायश्चित्तद्वयं विज्ञेयमिति सूत्रार्थः ।। ३।१२।१०-११ ।।

अनुवाद—होम के बाद एक वर्ष तक मरुद्गण, इन्द्र, बृहस्पति और अग्नि की प्रार्थना करते रहना चाहिए। व्रत-भंग का यही प्रायश्चित्त है।

तृतीयकाण्ड में द्वादश कण्डिका समाप्त ।।

त्रयोदशी कण्डिका

सभाप्रवेशनम्

अथातः सभाप्रवेशनम् ॥ ३।१३।१ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अथा…नम्' । अथावसथ्याग्निसाध्यकर्मविधानानन्तरं साधारणानि कर्माणि अनुविधेयानि यतः, अतो हेतोः सभाप्रवेशनं कर्म वक्ष्यत इति सूत्रशेषः ॥ ३।१३।१ ॥

अनुवाद—अब सभा-प्रवेश कर्म का निरूपण किया जा रहा है ।

सभामभ्येति—

सभाङ्गिरसि नादिर्नामासि त्विषिर्नामासि तस्यै ते नम इति ॥३।१३।२॥

(हरिहरभाष्यम्)—'सभा…नम इति' । यदा द्विजः सभां गच्छति तदा सभामभि आभिमुख्येन एति गच्छति । केन मन्त्रेण ? सभाङ्गिरसीत्यादिना मन्त्रेण ॥ ३।१३।२ ॥

अनुवाद—ब्राह्मण सामने से 'सभाङ्गिरसि…' इत्यादि मन्त्र पढ़ते हुए सभा में प्रवेश करे ।

मन्त्रार्थ—(ऋषि अङ्गिरा, छन्द गायत्री, देवता सभाधिष्ठित ।) हे अङ्गिरादेव ! तुम कान्तिपूर्ण तथा शब्दशील सभा के अधिष्ठाता हो, अतः तुम्हें प्रणाम है ।

अथ प्रविशति—

सभा च मा समितिश्चोभे प्रजापतेर्दुहितरौ सचेतसौ ।
यो मा न विद्यादुपमा स तिष्ठेत्स चेतनो भवतु शꣳसथे जन इति ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अथ…जन इति' । अथाभिमुखमेत्य सभाचमासमित्यादिना मन्त्रेण सभां प्रविशति ॥ ३।१३।३ ॥

अनुवाद—'सभा च…' इत्यादि मन्त्र पढ़ते हुए सभा में प्रवेश करे ।

मन्त्रार्थ—(ऋषि प्रजापति, छन्द त्रिष्टुप् ।) प्रजापति की दो पुत्रियाँ—सभा और समिति हैं । ये उन्नत और प्राणवन्त अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान देने वाली हैं । सभा अपने सभासदों से कहती है—ऐसे व्यक्ति जिन्हें सभा के शिष्टाचार का ज्ञान नहीं है, वे सभा में न बैठें । सभा में बैठने वाले व्यक्ति की बुद्धि तीक्ष्ण होनी चाहिए तथा उन्हें संभाषण में प्रवीण होना चाहिए ।

पर्षदमेत्य जपेत्—

अभिभूरहमागमविराडप्रतिवाश्याः ।
अस्याः पर्षद ईशानः सहसा सुदुष्टरो जन इति ॥ ३।१३।४ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'परि…जन इति' । परिषदं सभामेत्य प्रविश्य अभिभूरहमिति मन्त्रं जपेद् ॥ ३।१३।४ ॥

अनुवाद—सभा में प्रवेश करने के बाद 'अभिभूरहम्' इत्यादि मन्त्र का जप करे।

मन्त्रार्थ—(ऋषि प्रजापति, छन्द अनुष्टुप्।) अन्य जनों को आक्रान्त करने वाला, अप्रतिहत शक्तिवाला, प्रतिवादशून्य मैं अब इस सभा में आ गया हूँ। इस सभा का अध्यक्ष यदि दुष्ट प्रकृति वाला हो तब भी वह मुझसे शिष्टतापूर्वक व्यवहार करे।

स यदि मन्येत क्रुद्धोऽयमिति तमभिमन्त्रयते—

या त एषा रराट्या तनूर्मन्योः क्रोधस्य नाशनी। तां देवा ब्रह्मचारिणो विनयन्तु सुमेधसः। द्यौरहं पृथिवी चाहं तौ ते क्रोधं नयामसि गर्भमश्वतर्यसहासाविति॥ ३।१३।५॥

(हरिहरभाष्यम्)—'स यदि···सांविति'। स सभां प्रविष्टः यदि चेन्मन्येत जानीयात् अयं सभापतिः क्रुद्ध इति तं क्रुद्धमभिलक्षीकृत्य क्रोधापनयनाय मन्त्रयते यात एषेत्यादिना मन्त्रेण। असाविति क्रुद्धस्य नाम॥ ३।१३।५॥

अनुवाद—किसी कारण-विशेष से यदि सभापति क्रुद्ध हो तो उसके क्रोध को शान्त करने के लिए 'या त एषा···' इत्यादि मन्त्र का प्रयोग करे।

मन्त्रार्थ—(ऋषि प्रजापति, छन्द अनुष्टुप्।) हे सभापति, तुम्हारे तमतमाये चेहरे पर अभिव्यक्त क्रोध की रेखाओं को मेधावी और ब्रह्मचर्यव्रती देवगण मिटा दें। मैं धरती और आकाश की सम्मिलित शक्ति का प्रतीक हूँ। मैं अपनी मन्त्र-शक्ति से तुम्हारे क्रोध को उसी तरह दूर हटा रहा हूँ, जैसे असह्य गर्भ-भार को सहन करने में असमर्थ खच्चरी दूर हटा देती है।

अथ यदि मन्येत द्रुग्धोऽयमिति तमभिमन्त्रयते—

तां ते वाचमास्य आदत्ते हृदय आदधे यत्र यत्र निहिता वाक् तां ततस्तत आददे यदहं ब्रवीमि तत् सत्यमधरो मत्तांद्यस्वेति॥ ३।१३।६॥

एतदेव वशीकरणम्॥ ३।१३।७॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अथ···करणम्'। अथ यदि द्रुग्धो द्रोहकर्ताऽयमिति मन्येत तर्हि तमभिमन्त्रयते तां ते वाचमित्यादिमन्त्रेण। एतदेव अवशस्य वशीकरणम्। इति सूत्रार्थः॥ ३।१३।६-७॥

अनुवाद—और, यदि वे कुछ अनिष्ट करना चाहें तो 'तां ते वाचमास्य···' इत्यादि मन्त्र से अभिमन्त्रित करे। यही वशीकरण मन्त्र है।

मन्त्रार्थ—(ऋषि प्रजापति, छन्द अनुष्टुप्, देवता ईश।) ओ सभापति ! मेरे लिए अनिष्टकर वाणी का प्रयोग मत करो। अपने हृदय से द्रोह की भावना को मिटा दो। तुम्हारा कल्याण भी इसी में है कि तुम मेरे प्रति द्रोह की भावना हटाकर अपनी नीचता छोड़ दो और तुम मेरे अपने हो जाओ।

तृतीयकाण्ड में त्रयोदश कण्डिका समाप्त॥

चतुर्दशी कण्डिका

रथारोहणम्

अथातो रथारोहणम् ।। ३।१४।१ ।।

(हरिहरभाष्यम्)—'अथा···हंणम्' । अथेदानीं कार्यार्थं जिगमिषोर्द्विजस्य यतो यानमपेक्षितमतो हेतो रथारोहणाख्यं कर्म वक्ष्यत इति सूत्रशेषः ।। ३।१४।१ ।।

अनुवाद—अब रथारोहण कर्म का विवेचन करते हैं ।

युङ्क्तेति रथं सम्प्रेष्य युक्त इति प्रोक्ते सा विराडित्येत्य चक्रे अभिमृशति ।।
रथन्तरमसीति दक्षिणम् ।। ३।१४।३ ।।
बृहदसीत्युत्तरम् ।। ३।१४।४ ।।

(हरिहरभाष्यम्)—'युङ्क्ते···त्तरम्' । तत्र युङ्क्तेति सारथिं सम्प्रेष्याज्ञाप्य ततः प्रेषितेन सारथिना युक्तो रथ इति प्रोक्ते सति साविराडित्येतेन मन्त्रेण एत्य रथ-समीपमागत्य चक्रे रथाङ्गे अभिमृशति, कथं ? रथन्तरमसीत्यनेन मन्त्रेण दक्षिणं, बृहद-सीत्यनेनोत्तरं चक्रं बृहद्रथन्तरे सामनी ।। ३।१४।२-४ ।।

अनुवाद—'रथ जोतो' यह आज्ञा देकर सारथी को रथ तैयार करने को भेजे । जब सारथी यह सूचना दे कि रथ तैयार है, तब 'सा विराट्···' यह मन्त्र पढ़कर रथ के पास, आकर रथ के चक्के को छुए; उसके बाद 'रथन्तरम्···' इत्यादि मन्त्र पढ़कर दाहिने चक्के का, तत्पश्चात् 'बृहदसि···' इत्यादि मन्त्र पढ़कर बायें पहिये का स्पर्श करे ।

वामदेव्यमसीति कूबरीम् ।। ३।१४।५ ।।

(हरिहरभाष्यम्)—'वाम···बरीम्' । वामदेव्यमसीत्यनेन मन्त्रेण कूबरीमीषा-दण्डाग्रमभिमृशतीत्यनुवर्तते ।। ३।१४।५ ।।

अनुवाद—'वामदेव्यमसि' यह मन्त्र पढ़ते हुए रथ के जुए को छुए ।

हस्तेनोपस्थमभिमृशति—
अङ्कौ न्यङ्कावभितो रथं यौ ध्वान्तं वाताग्रमनुसञ्चरन्तम् ।
दूरेहेतिरिन्द्रियवान्पतत्रि ते नोऽग्नयः पप्रयः पारयन्त्विति ।। ३।१४।६ ।।
नमो माणिचरायेति दक्षिणं धुर्यं प्राजति । गवां मध्ये स्थापयति ।। ७ ।।

(हरिहरभाष्यम्)—'हस्ते···शति' । उपस्थं रथमध्यम् उपवेशनस्थानमिति यावत् । अभिमृशति आलभते हस्तेनेति सर्वत्र सम्बध्यते । अत्र मन्त्रः—'अङ्कौ···पयति' । नमो माणिचरायेत्यनेन दक्षिणं धुर्यं दक्षिणधुरायां युक्तमश्वं वृषभं वा प्राजति प्रतोदेन प्रेरयति तूष्णीं वामम् । एवं गवां मध्ये रथं स्थापयति ।। ३।१४।६-७ ।।

अनुवाद—'अङ्कौ···' इत्यादि मन्त्र को पढ़ते हुए हाथ से रथ के बीच का भाग

छुए। तत्पश्चात् 'नमो माणिचराय' मन्त्र पढ़कर दाहिनी धुरी में जुते हुए घोड़े को आगे बढ़ने के लिए ठोकर दे और बायें घोड़े को चुपचाप आगे बढ़ाये।

मन्त्रार्थ—(ऋषि प्रजापति, छन्द त्रिष्टुप्।) रक्षक के रूप में रथ के चारों ओर आगे-आगे रहने वाली अङ्क और न्यङ्क नामक अग्नि, बृहज्ज्वाल और इन्द्ररथ नामक अग्नि, पक्षिकुल को अनुगृहीत करने वाली सभी अग्नियाँ हमारे रथ को सकुशल अपने गन्तव्य तक पहुँचायें।

अप्राप्य देवताः प्रत्यवरोहेत्सम्प्रति ब्राह्मणान्मध्ये गा अभिक्रम्य पितॄन्॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अप्रा···पितॄन्'। अप्राप्य अनासाद्य दूरत एव देवता हरिहरब्रह्मादिकाः प्रत्यवरोहेत् रथादवतरेत्। सम्प्रति ब्राह्मणान् विप्रान् सम्प्रति निकटे प्रत्यवरोहेत्। मध्ये गाः सुरभीः प्राप्य मध्ये प्रत्यवरोहेत्। अभिक्रम्य पितॄन् पित्रादीन् मान्यान् अभिक्रम्य अभिमुखमेत्य प्रत्यवरोहेत्॥ ३।१४।८॥

अनुवाद—देवमन्दिरों को दूर से देखकर ही रथ से उतर जाये। ब्राह्मणों के पास आने पर, गौ के झुण्डों के बीच तथा पितरों के सामने आने पर रथ से उतर जाये।

न स्त्रीब्रह्मचारिणौ सारथी स्याताम्॥ ३।१४।९॥

(हरिहरभाष्यम्)—'न स्त्री···स्याताम्'। स्त्री नारी ब्रह्मचारी उपकुर्वाणको नैष्ठिकश्च स्त्रीब्रह्मचारिणौ सारथी न स्यातां न भवेताम्॥ ३।१४।९॥

अनुवाद—स्त्री और ब्रह्मचारी को सारथी नहीं बनाये।

मुहूर्त्तमतीयाय जपेदिहरतिरिहरमध्वम्। ३।१४।१०॥
एके मास्त्विहरतिरिति च॥ ३।१४।११॥

(हरिहरभाष्यम्)—'मुहू···रिति च'। मुहूर्तं क्षणमतीयाय अत्येत्य जपेत् इहरतिरित्यादिकं मन्त्रम्॥ ३।१४।१०-११॥

अनुवाद—सम्माननीय जनों के सामने एक क्षण के लिए रथ से उतर कर 'इहरति' इत्यादि मन्त्र का जप करे। कुछ आचार्यों के विचार से 'इहरति' मन्त्र का जप आवश्यक नहीं है।

स यदि दुर्बलो रथः स्यात् तमास्थाय जपेत्—
अयं वामश्विना रथो मा दुर्गे मास्तरोरिषदिति॥ ३।१४।१२॥
स यदि भ्रम्यात् स्तम्भमुपस्पृश्य भूमिं वा जपेत्—
एष वामश्विना रथो मा दुर्गे मास्तरोरिषदिति॥ ३।१४।१३॥

(हरिहरभाष्यम्)—'स यदि···पेत्'। स रथी यदि चेदध्वानं गच्छन् दुर्बलः क्षीणो रथोऽस्येति दुर्बलरथः स्याद्भवेत् तदा तं रथमास्थायारुह्य वक्ष्यमाणमन्त्रं जपेत्—'अयं···षदिति'। स रथो यदि पुनर्भ्रम्यात् चलने कुटिलो भवेत्तदा स्तम्भं रथध्वजदण्डं भूमिं वा उपस्पृश्य जपेत् एष वामश्विना रथ इति मन्त्रम्॥ ३।१४।१२-१३॥

अनुवाद—मार्ग में यदि रथ कमजोर पड़ जाय तो रथारोही 'अयं वामश्विना···' इत्यादि मन्त्र का जप करे। चलते हुए यदि रास्ते में वह रथ टेढ़ा हो जाय तो रथ के ध्वजदण्ड या धरती का स्पर्श कर 'एष वामश्विना···' मन्त्र का जप करे।

तस्य न काञ्चनार्त्तिर्न रिष्टिर्भवति ॥ ३।१४।१४ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'तस्य···वति'। तस्य रथिनः न काचन अर्तिः पीडा न च रिष्टिरुपसर्गो भवति य एवं दुर्बलरथ् उद्भ्रान्तरथो वा जपति ॥ ३।१४।१४ ॥

अनुवाद—इसके बाद उस रथी को किसी प्रकार का कष्ट या पीड़ा नहीं होती।

या त्वाऽध्वानं विमुच्य रथं यवसोदके दापयेदेष उ ह वाहनस्यापह्नव इति श्रुते ॥ ३।१४।१५ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'यात्वा···श्रुतेः'। यात्वा गत्वा अध्वानं मार्गं विमुच्य मुक्त्वा, किं ? रथं रथयुक्तं वाहं यवसं च उदकं च यवसोदके घासपानीये ते दापयेत् अश्वेभ्यो यवसोदके दीयेतामिति भृत्यान् प्रेषयेत्। कुतः ? एष उ वाहनस्य अश्वादेर-पह्नवः क्षमापनमिति श्रुतेः श्रवणात्, एष कः तस्माद्येन वाहनेन धावयेत्तद्विमुच्य ब्रूयात् पाययतैनं सुहितं कुरुतेति सूत्रार्थः ॥ ३।१४।१५ ॥

अनुवाद—अभीप्सित गन्तव्य स्थल पर पहुँच कर राह छोड़कर रथ से उतर जाये। नौकरों से कहकर घोड़े को दाना-पानी दे। श्रुति-वचनानुसार इससे घोड़े की थकान दूर होती है।

तृतीयकाण्ड मे चतुर्दश कण्डिका समाप्त ॥

पञ्चदशी कण्डिका

हस्त्यारोहणम्

अथातो हस्त्यारोहणम् ।। ३।१५।१ ।।

(हरिहरभाष्यम्)—'अथा'''हणम्' । अथ रथारोहणानन्तरं यतोऽधिकृतस्य हस्त्यारोहणमप्यपेक्षितं भवति अतो हेतोः हस्त्यारोहणं वक्ष्यत इति सूत्रशेषः ।।३।१५।१।।

अनुवाद—अब हाथी पर आरूढ़ होने का कर्म-विधान है ।

एत्य हस्तिनमभिमृशति—हस्तियशसमसि हस्तिवर्चसमसीति ।। ३।१५।२।।

(हरिहरभाष्यम्)—'एत्य'''सीति' । एत्य हस्तिसमीपमागत्य हस्तिनं गजम् अभिमृशति आलभते हस्तियशसमसीति मन्त्रेण ।। ३।१५।२ ।।

अनुवाद—हाथी के पास जाकर 'हस्तियशस'''' इत्यादि मंत्र पढ़ते हुए हाथी का स्पर्श करे ।

मन्त्रार्थ—ओ गजराज ! तुम ऐरावत की तरह शक्तिशाली और सुन्दर हो ।

अथारोहति—इन्द्रस्य त्वा वज्रेणाभितिष्ठामि स्वस्ति मा सम्पारयेति ।।

(हरिहरभाष्यम्)—'अथा'''रयेति' । अथाभिमर्शनानन्तरमारोहति हस्तिनं इन्द्रस्यत्वेति मन्त्रेण ।। ३।१५।३ ।।

अनुवाद—'इन्द्रस्य त्वा'''' इत्यादि मंत्र पढ़ते हुए गजराज की पीठ पर आरूढ़ हो ।

मन्त्रार्थ—अपने को इन्द्र समझते हुए इन्द्रायुध के साथ मैं तुम पर सवार होता हूँ । कल्याणकामना के साथ तुम मुझे गन्तव्य तक पहुँचाओ ।

एतेनैवाश्वारोहणं व्याख्यातम् ।। ३।१५।४ ।।

(हरिहरभाष्यम्)—'एते''''ख्यातम्' । एतेनैव हस्त्यारोहणेनैव अश्वारोहणं व्याख्यातं कथितम् अतश्चाश्वसमीपं गत्वाऽश्वमभिमृशति अश्वयशसमस्यश्ववर्चसमसीति मन्त्रेण । ततोऽश्वमारोहति, इन्द्रस्य त्वा वज्रेणाभितिष्ठामि स्वस्ति मा सम्पारयेत्यनेन मन्त्रेण ।। ३।१५।४ ।।

अनुवाद—इतना ही कर्म अश्वारोहण में भी होता है । वहाँ केवल हस्ति की जगह अश्व शब्द का प्रयोग करना चाहिए ।

उष्ट्रमारोक्ष्यन्नभिमन्त्रयते—त्वाष्ट्रोऽसि त्वष्टृदेवत्यः स्वस्ति मा सम्पारयेति ।

(हरिहरभाष्यम्)—'उष्ट्र'''रयेति' । उष्ट्रं क्रमेलकम् आरोढुमिच्छन्नभिमन्त्रयते त्वाष्ट्रोऽसीत्यादिना मन्त्रेण ।। ३।१५।५ ।।

अनुवाद—ऊँट पर चढ़ना चाहे तो 'त्वाष्ट्रोऽसि···' यह मंत्र पढ़कर ऊँट का स्पर्श करे।

रासभमारोक्ष्यन्नभिमन्त्रयते–शूद्रोऽसि शूद्रजन्माग्नेयो वै द्विरेताः स्वस्ति मा सम्पारयेति ॥ ३।१५।६ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'रास···रयेति'। रासभं गर्दभमारोढुमिच्छन् शूद्रोऽसीत्यादिना मन्त्रेणाभिमन्त्रयते अभिमुखः सन् मन्त्रं पठति। रासभोऽत्राश्वतरः प्रतीयते मन्त्रलिङ्गात् ॥ ३।१५।६ ॥

अनुवाद—यदि गदहे पर चढ़ना हो तो 'शूद्रोऽसि···' मंत्र पढ़कर उसका स्पर्श करे।

मन्त्रार्थ—(ऋषि विश्वामित्र, छन्द पंक्ति, देवता रासभ।) हे गदहे! तुम शूद्र हो। तुम्हारा जन्म शोकावह नहीं है। अतः तुम अग्निदेवता से संबद्ध हो। घोड़े के वीर्य से और गदही की योनि से तुम्हारी उत्पत्ति है। इसलिए तुम्हारे शरीरों में दो नसलों का अंश है। अतः तुम मुझे सकुशल गन्तव्य तक पहुँचाओ।

चतुष्पथमभिमन्त्रयते–नमो रुद्राय पथिषदे स्वस्ति मा सम्पारयेति ॥७॥

(हरिहरभाष्यम्)—'चतु···रयेति'। चतुष्पथम्। चत्वारः पन्थानो यस्मिन्स चतुष्पथः चतुर्मार्गाभिसरणप्रदेशस्तमभिमन्त्रयते नमो रुद्राय पथिषदे इत्यादिमन्त्रेण ॥ ३।१५।७ ॥

अनुवाद—'नमो रुद्राय···' मंत्र पढ़कर चौराहे को अभिमंत्रित कर उससे कहे कि तुम मेरा कल्याण करो।

नदीमुत्तरिष्यन्नभिमन्त्रयते–नमो रुद्रायाप्सुषदे स्वस्ति मा सम्पारयेति ॥८॥

(हरिहरभाष्यम्)—'नदी···रयेति'। नदीं स्रवन्तीमुत्तरिष्यन् पारं जिगमिषन् नमो रुद्रायाप्सुषद इति मन्त्रेणाभिमन्त्रयते ॥ ३।१५।८ ॥

अनुवाद—यदि नदी पार करना हो तो 'नमो रुद्राय···' मंत्र पढ़कर नदी के जल का स्पर्श करे।

नावमारोक्ष्यन्नभिमन्त्रयते–सुनावमिति ॥ ३।१५।९ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'नाव··मिति'। नावं तरीम् आरोढुमिच्छन् सुनावमारोहेत्यनयर्चाऽभिमन्त्रयते ॥ ३।१५।९ ॥

अनुवाद—यदि नाव पर चढ़कर नदी पार करना हो तो 'सुनावम्···' इत्यादि मंत्र से नाव को अभिमंत्रित करे।

(मंत्र)—सुनावमारुहेयमस्रवन्तीमनागसम्। शतारित्राᳬ स्वस्तये ॥

(य० सं० २१।७)

उत्तरिष्यन्नभिमन्त्रयते सुत्रामाणमिति ।। ३।१५।१० ।।

(हरिहरभाष्यम्)—'उत्त···णमिति' । उत्तरिष्यन्नुत्तर्तुं प्रत्यवरोढुमिच्छन् तामेवाभिमन्त्रयते सुत्रामाणमित्यनयर्चा ।। ३।१५।१० ।।

अनुवाद—नौका से नदी पार करने के बाद उससे उतरते समय 'सुत्रामाणम्···' इत्यादि मन्त्र से नौका का अभिमंत्रण करे ।

(मंत्र)—सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसꣳसुशर्माणमदितिꣳ सुप्रणीतिम् ।
दैवीं नावꣳ स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमारुहेमा स्वस्तये ।। (यं० सं० २१।६)

वनमभिमन्त्रयते—नमो रुद्राय वनसदे स्वस्ति मा सम्पारयेति ।। ११ ।।

(हरिहरभाष्यम्)—'वन···रयेति' । वनं काननं प्रवेष्टुमिच्छन् नमो रुद्राय वनसद इत्यादिनाऽभिमन्त्रयते ।। ३।१५।११ ।।

अनुवाद—यदि जंगल में प्रवेश करने की इच्छा हो तो 'नमो रुद्राय वनसदे···' इत्यादि मंत्र से अभिमंत्रण करे ।

गिरिमभिमन्त्रयते—नमो रुद्राय गिरिषदे स्वस्ति मा सम्पारयेति ।।१२।।

(हरिहरभाष्यम्)—गिरि···रयेति' । गिरिं पर्वतमारोढुकामोऽभिमन्त्रयते नमो रुद्राय गिरिषद इति मन्त्रेण ।। ३।१५।१२ ।।

अनुवाद—यदि पर्वत पर चढ़ना हो तो 'नमो रुद्राय गिरिषदे····' इत्यादि मंत्र से अभिमंत्रित करे ।

श्मशानमभिमन्त्रयते—नमो रुद्राय पितृषदे स्वस्ति मा सम्पारयेति ।। १३ ।।

(हरिहरभाष्यम्)—'श्मशा···रयेति' । श्मशानं प्रेतदहनभूमिं कार्यवशात्प्राप्य नमो रुद्राय पितृषदे इति मन्त्रेणाभिमन्त्रयते ।। ३।१५।१३ ।।

अनुवाद—'नमो रुद्राय पितृषदे···' मंत्र पढ़कर श्मशान-भूमि में प्रवेश करना चाहिए ।

गोष्ठमभिमन्त्रयते—नमो रुद्राय शकृत्पिण्डसदे स्वस्ति मा सम्पारयेति ।।१४।।

(हरिहरभाष्यम्)—'गोष्ठ···रयेति' । गोष्ठं गोवाटं कार्यवशात्प्राप्य नमो रुद्राय शकृत्पिण्डसद इत्यादिमन्त्रेणाभिमन्त्रयते ।। ३।१५।१४ ।।

अनुवाद—'नमो रुद्राय···' प्रभृति मंत्र पढ़कर गोशाला में प्रवेश करे ।

यत्र चान्यत्रापि नमो रुद्रायेत्येव ब्रूयाद्रुद्रो ह्येवेदꣳसर्वमिति श्रुतेः ।।१५।।

(हरिहरभाष्यम्)—'यत्र···श्रुतेः' । यत्र च येषु अन्यत्रापि अन्येष्वपि अनुक्तकार्येषु पूर्वन्नमो रुद्रायेत्येव ब्रूयात् । पश्चात्तानि कर्माणि कुर्यात् । कुतः ? हि यतः इदं विश्वं रुद्र एवेति श्रुतेर्वेदवचनात् ।। ३।१५।१५ ।।

अनुवाद—जहाँ कहीं भी जाये, 'नमो रुद्राय' इत्यादि मंत्र पढ़कर ही किसी कार्य को प्रारम्भ करे। क्योंकि वेद के प्रमाण से इन सारे तथ्यों के अधिष्ठाता रुद्र ही हैं।

नैमित्तिकदोषनिवारणम्

सिचाऽवधूतोऽभिमन्त्रयते—सिगसि न वज्रोऽसि नमस्तेऽअस्तु मा माहिꣳसीरिति ॥ ३।१५।१६ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'सिचा···सीरिति'। सिचा वस्त्रप्रान्तेनावधूतः तद्वाताहतस्तदा तां सिचमभिमन्त्रयते सिगसीत्यादिमन्त्रेण ॥ ३।१५।१६ ॥

अनुवाद—आपस्तम्ब के अनुसार हवा में वस्त्र का छोर उड़ना अमंगलसूचक है। ऐसी स्थिति में 'सिगसि न वज्रोऽसि' मंत्र पढ़कर दोष-शमन करना चाहिए।

स्तनयित्नुमभिमन्त्रयते—
शिवा नो वर्षाः सन्तु शिवा नः सन्तु हेतयः।
शिवा नस्ताः सन्तु यास्त्वꣳ सृजसि वृत्रहन्निति ॥ ३।१५।१७ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'शिवा···न्निति'। स्तनयित्नुं मेघं गर्जन्तं शिवानो वर्षा इत्यादिमन्त्रेणाभिमन्त्रयते ॥ ३।१५।१७ ॥

अनुवाद—यदि मेघ गरजता हो तो 'शिवा नो वर्षाः' इत्यादि मंत्र का जप करना चाहिए।

मन्त्रार्थ—(ऋषि प्रजापति, छन्द अनुष्टुप्, देवता इन्द्र।) हे देवराज! यह मेघ हमारे लिए कल्याणकारी हो, तुम्हारे हथियार हमारे लिए मंगलमय हों, तुम्हारी सारी रचनाएँ हमारे लिए परम कल्याणकारिणी हों।

शिवां वाश्यमानामभिमन्त्रयते—शिवो नामेति ॥ ३।१५।१८ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'शिवां···नामेति'। शिवां शृगालीं वाश्यमानां शब्दं कुर्वाणां शिवो नामेत्यादि मामाहिꣳसीरित्यन्तेन मन्त्रेणाभिमन्त्रयते ॥ ३।१५।१८ ॥

अनुवाद—यदि गीदड़ों की अमंगलकारी आवाज सुनाई पड़े तो 'शिवो नाम' इत्यादि मंत्र का जप करे।

शकुनिं वाश्यमानमभिमन्त्रयते—
हिरण्यपर्णशकुने देवानां प्रहितङ्गम।
यमदूत नमस्तेऽस्तु किन्त्वाकाक्कारिणोऽब्रवीदिति ॥ ३।१५।१९ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—शकु···वीदिति'। शकुनिं पक्षिणं कृष्णकाकमिति यावत्। वाश्यमानं कूजन्तं हिरण्यपर्णेत्यादिमन्त्रेणाभिमन्त्रयते ॥ ३।१५।१९ ॥

अनुवाद—कौए की काँव-काँव की कर्कश आवाज सुनाई पड़े तो 'हिरण्येति···' इत्यादि मंत्र पढ़कर उसे अभिमंत्रित करे।

मन्त्रार्थ—(ऋषि प्रजापति, छन्द अनुष्टुप्, देवता लिंगोक्त ।) हे द्रुतगामी सोनपंखी पखेरु ! तुम मृत्यु के देवता यमराज के दूत हो । देवताओं का आदेश पाकर हमें शुभ या अशुभ का ज्ञान कराते हो । तुम्हें मेरा प्रणाम है । व्यर्थ ही कांव-कांव क्यों करते हो ? यमराज का संदेश क्या है ? बोलो न ।

लक्षण्यं वृक्षमभिमन्त्रयते—

मा त्वाऽशनिर्मा परशुर्मा वातो मा राजप्रेषितो दण्डः । अङ्कुरास्ते पुरोहन्तु निवाते त्वाऽभिवर्षतु ।। अग्निष्टेमूलं माहिꣳसीत्स्वस्ति तेऽस्तु वनस्पते स्वस्ति मेऽस्तु वनस्पत इति ।। ३।१५।२० ।।

(हरिहरभाष्यम्)—'लक्ष···स्पत इति' । लक्षण्यं वृक्षं मङ्गल्यं तरुमाम्रादिकमभिमन्त्रयते मा त्वाशनिरित्यादिमन्त्रेण ।। ३।१५।२० ।।

अनुवाद—माङ्गलिक वृक्षों को 'मा त्वा···' इत्यादि मंत्रों से अभिमंत्रित करे ।

मन्त्रार्थ—(ऋषि प्रजापति, छन्द अनुष्टुप्, देवता वनस्पति ।) हे वृक्षराज ! वज्र तुम्हें क्षति न पहुँचाए । कुल्हाड़ी तुम्हें न काटे । राजा तुम्हें दण्ड न दे । तूफान तुम्हें कोई नुकसान न पहुँचाए । तुमसे फूटकर अंकुर निकले । तुम्हें अनुकूल वातावरण मिले । समय पर वर्षा कर इन्द्र तुम्हें बढ़ने में सहयोग करे । आग से तुम्हारी जड़ सुरक्षित रहे । ओ वनस्पति ! तुम्हारे साथ हमारा भी सर्वथा कल्याण हो ।

प्रतिग्रहविधानम्

स यदि किञ्चिल्लभेत तत् प्रतिगृह्णाति—द्यौस्त्वा ददातु पृथिवी त्वा प्रतिगृह्णात्विति । साऽस्य न ददतः क्षीयते भूयसी च प्रतिगृहीता भवति ।।२१।।

(हरिहरभाष्यम्)—'स यदि···त्विति' । स द्विजः यदि चेत् किञ्चित् गोभूहिरण्यादिकं लभेत प्राप्नुयात् तदा द्यौस्त्वेति मन्त्रेण तत्प्रतिगृह्णाति स्वीकुरुते । 'साऽस्य··· वति' । सा दक्षिणा एवंविधाय दीयमाना अस्य ददतः दातुः उपयुज्यमानाऽपि न क्षीयते न ह्रसति प्रत्युत एवं प्रगृहीता सती भूयसी च उत्तरोत्तरमभिवर्धमाना भवति ।। ३।१५।२१ ।।

अनुवाद—ब्राह्मण को यदि दक्षिणा के रूप में धरती या सोना मिले तो 'द्यौस्त्वा····' इत्यादि मंत्र पढ़कर उसे ग्रहण करे । ऐसी दक्षिणा दाता और प्रतिगृहीता दोनों के लिए शुभद है । इस रीति से दी गई दक्षिणा से दाता का धन घटता नहीं, अपितु बढ़ता ही है । और जिसे ऐसी दक्षिणा मिलती है, उसके पास प्रचुर हो जाती है ।

मन्त्रार्थ—(ऋषि प्रजापति, छन्द उष्णिक्, देवता लिङ्गोक्त ।) आकाशाभिमानी देवता तुम्हें दक्षिणा दें । यह सर्वसहा धरती तुम्हारी दक्षिणा स्वीकार करे । यदि वह नहीं देती है, तो उसकी सम्पत्ति क्षीण होती है । और वह फिर उसे ग्रहण करती है ।

अथ यद्योदनं लभेत तत् प्रतिगृह्य द्यौस्त्वेति तस्य द्विः प्राश्नाति—ब्रह्मा त्वाऽश्नातु ब्रह्मा त्वा प्राश्नातु इति ।। ३।१५।२२ ।।

(हरिहरभाष्यम्)—'अथ···त्विति'। अथ कदाचित् ओदनं भक्तं यदि लभेत प्राप्नुयात्तदा तत्प्रतिगृह्य आदाय द्यौस्त्वा ददात्विति मन्त्रं पठेत्, मन्त्रपाठस्तु आदानान्तरं सर्वत्र स्वसत्तापत्तये। तस्य लब्धस्यौदनस्य द्विः द्विवारं प्राश्नाति भक्षयति। कथं ? ब्रह्मा त्वाऽश्नात्विति प्रथमं ब्रह्मा त्वा प्राश्नात्विति द्वितीयम् ॥ ३।१५।२२ ॥

अनुवाद—यदि ब्राह्मण को पका हुआ चावल (भात) मिले तो भी उसे 'द्यौस्त्वा···' प्रभृति तीन मन्त्र पढ़कर स्वीकार करे।

अथ यदि मन्थं लभेत तं प्रतिगृह्य द्यौस्त्वेति तस्य त्रिः प्राश्नाति—'ब्रह्मा त्वाऽश्नातु' 'ब्रह्मा त्वा प्राश्नातु' 'ब्रह्मा त्वा पिबत्वि'ति ॥ ३।१५।२३ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अथ यदि···त्विति'। स द्विजः यदि मन्थं दधिमन्थं लभेत प्राप्नुयात्तदा तं प्रतिगृह्यादाय द्यौस्त्वा ददात्विति मन्त्रेण स्वीकृत्य तस्य दधिमन्थस्य त्रिस्त्रिवारं प्राश्नाति, कथम् ? ब्रह्मा त्वाऽश्नातु इति प्रथमं, ब्रह्मा त्वा प्राश्नात्विति द्वितीयं, ब्रह्मा त्वा पिबत्विति तृतीयमिति त्रिभिर्मन्त्रैः ॥ ३।१५।२३ ॥

अनुवाद—ब्राह्मण को यदि मट्ठा मिले तो उसे लेकर उपरोक्त 'द्यौस्त्वा···' इत्यादि मन्त्र पढ़कर प्रथमतः स्वीकार करे। फिर 'ब्रह्मा त्वा···' प्रभृति तीन मन्त्र पढ़कर तीन बार पिये।

अधीताविस्मरणोपायः

अथातोऽधीत्याधीत्यानिराकरणम्—
प्रतीकं मे विचक्षणं जिह्वा मे मधु यद्वचः।
कर्णाभ्यां भूरिशुश्रुवे मा त्वꣳ हार्षीः श्रुतं मयि ॥

(हरिहरभाष्यम्)—'अथा··णम्'। अथेदानीं यतो द्विजानां प्रतिदिनमध्ययनं विहितमतः कारणात् अधीत्याधीत्य पठित्वा पठित्वा अनिराकरणम् अपरित्यागः कर्तव्यः वक्ष्यमाणनिगदेन। तद्यथा—'प्रती···ष्ठतु' अस्यार्थः। प्रतीकं मुखं मे मम विचक्षणं साधुशब्दोच्चारणसमर्थमस्त्विति सूत्रशेषः। मे मम जिह्वा यद्वचो वचनं मधु मधुरं रसवत् तद्वदत्विति शेषः। एवमभीप्सितः शेषः सर्वत्र पूरणीयः। कर्णाभ्यां भूरि बहु शुश्रुवे शृणुयाम्। मयि विषये यत् श्रुतमधीतं पठितं वर्तते तत्त्वं मा हार्षीः मापनय।

अनुवाद—नित्य अध्ययन करने के बाद उसका परित्याग न करते हुए 'प्रतीकं मे' इत्यादि मन्त्र का जप करे।

मन्त्रार्थ—(ऋषि परमेष्ठी, छन्द गायत्री, देवता लिङ्गोक्त।) हे वेदपुरुष ! मेरे मुँह से शब्दों का शुद्ध उच्चारण हो, जीभ मधुमयी हो, शब्द सरस हों, कानों में सुनने की शक्तिः पूर्ण रूप से अक्षुण्ण बनी रहे। मेरी अर्जित विद्या को तुम मत छीनो।

ब्रह्मणः प्रवचनमसि ब्रह्मणः प्रतिष्ठानमसि, ब्रह्मकोशोऽसि सनिरसि शान्तिरस्यनिराकरणमसि ब्रह्मकोशं मे विश। वाचा त्वा पिदधामि वाचा त्वा पिदधामीति (तिष्ठ प्रतिष्ठ)।

(हरिहरभाष्यम्)—मयि विषये ब्रह्मणो वेदस्य प्रवचनं पाठनं व्याख्यानं वा असि भवेत्यर्थः । तथा ब्रह्मणो वेदस्य प्रतिष्ठानं प्रतिष्ठा स्थितिरित्यर्थः असिः । मयीत्यनुवर्तते । ब्रह्मकोशोऽसि ब्रह्मणः शब्दरूपस्य कोशः गोपनगृहं गुप्तिस्थानं मयि असि । तथा सनिः समं जीवनमसि । तथा शान्तिः अनिष्टस्य अनिष्टहेतोश्च शमनमसि । तथा निराकरणं परित्यागः न निराकरणमनिराकरणमसि । मे मम ब्रह्मकोशं हृदयं विश । सर्वेषां वेदानाᳬ हृदयमेकायनमिति श्रुतेः । वाचा गिरा त्वा त्वामपिदधामि छादयामि । 'तिष्ठ प्रतिष्ठेति' आवृत्तिरादरार्था ।

मन्त्रार्थ—तुम वेद की प्रतिष्ठानभूमि हो । तुम शब्दकोष हो । तुम मेरे समजीवन हो । तुम मेरे सम्पूर्ण अनिष्ट के प्रशमनकर्त्ता हो । तुम मेरे विद्याकोश में घुसकर मेरी विद्या को नष्ट होने से बचाओ । मैं तुम्हें अपनी वाणी से आवृत्त करता हूँ । (तुम यहाँ सुप्रतिष्ठित रहो ।)

स्वरकरणकण्ठ्यौरसदन्त्यौष्ठ्यग्रहणधारणोच्चारणशक्तिर्मयि भवतु । आप्यायन्तु मेऽङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रं यशो बलम् ।।

(हरिहरभाष्यम्)—स्वरा उदात्तानुदात्तस्वरिताः करणानि शब्दस्य उत्पत्तेरभिव्यक्तेर्वा साधनानि उरःकण्ठशिरोजिह्वामूलदन्तनासिकोष्ठतालूनीत्यष्टौ । कण्ठे भवाः कण्ठ्याः अवर्णकेवलहकारकवर्गविसर्गाः । उरसि भवा औरसाः सहकारवर्गपञ्चमान्तस्थाः, दन्तेषु भवाः दन्त्याः लृवर्णतवर्गसकाराः, ओष्ठे भवा औष्ठ्याः उवर्णपवर्गोपध्मानीयाः । स्वराश्च करणानि च कण्ठ्याश्च औरसाश्च दन्त्याश्च औष्ठ्याश्च स्वरकरणकण्ठ्यौरसदन्त्यौष्ठ्याः एतेषां ग्रहणम् उपादानं धारणं स्थिरीकरणमुच्चारणं प्रयोगः, ग्रहणं च धारणं च उच्चारणं च ग्रहणधारणोच्चारणानि तेषु शक्तिः स्वरादीनां धारणादिसामर्थ्यं मय्यस्तु । मे मम अङ्गानि गात्राणि आप्यायन्तु वर्द्धन्ताम् । न केवलमङ्गानि किन्तु वाक् गीः प्राणः प्राणवायुः सूत्रात्मेति यावत्, चक्षुर्नयनेन्द्रियं श्रोत्रं श्रवणेन्द्रियं यशः कीर्तिः बलं शारीरमोजः । एतान्यपि वागादीनि आप्यायन्त्वित्यनुषङ्गः ।

मन्त्रार्थ—मुझमें उदात्त-अनुदात्त-स्वरित स्वर, वाणी के आठ उत्पत्ति स्थानों, यथा—हृदय-कण्ठ-शिर-जिह्वामूल-दन्त-नासिका-ओष्ठ-तालु में ध्वनियों को ग्रहण करने तथा उनके उच्चारण करने की क्षमता बनी रहे । मेरे अङ्ग, वाणी, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, यश और बल सुरक्षित अर्थात् भरे-पूरे रहें ।

यन्मे श्रुतमधीतं तन्मे मनसि तिष्ठतु तिष्ठतु ।। ३।१५।२४ ।।

इति पारस्कराचार्यकृतं कातीयगृह्यसूत्रं समाप्तम् ।।

(हरिहरभाष्यम्)—यन्मे मया श्रुतं मीमांसादि अधीतम् ऋगादि तत्सर्वं मे मनसि तिष्ठतु सुस्थिरमस्तु । वीप्सात्रार्थभूयस्त्वप्रतिपादनपरा ग्रन्थसमाप्तिज्ञापनार्था वा । इति सूत्रार्थः ।। ३·१५।२४ ।।

अथ परिशिष्टोक्तं पृष्टोदिविविधानं लिख्यते—केशान्तादूर्ध्वमपत्नीक उत्सन्नाग्निरनग्निको वा प्रवासी ब्रह्मचारी वा मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकं श्राद्धं कृत्वा अन्वग्निरित्यनयर्चाऽग्निमाहृत्य पञ्चभूसंस्कारान्कृत्वा पृष्टोदिविपृष्टो अग्निः पृथिव्यामित्यनयर्चाऽग्नेः स्थापनम्। तत्सवितुः ताꣳ सवितुः विश्वानि देवसवितरित्येताभिस्तिसृभिः सावित्रीभिः प्रज्वालनमग्नेः। अथ तस्मिन्नग्नौ सायम्प्रातर्होमपञ्चमहायज्ञपिण्डपितृयज्ञपक्षाद्याग्रयणादि कुर्यात्। मणिकावधानादिसर्वंमावसथ्याधानादिवत्। अनुदिते च होमः। एवं कृते न वृथा पाको भवति। न वृथा पाकं पचेन्न वृथा पाकमश्नीयान्न वृथा पाकमश्नीयादिति॥

इत्यग्निहोत्रिहरिहरविरचितायां पारस्करगृह्यसूत्रव्याख्यानपूर्विकायां प्रयोगपद्धतौ तृतीयः काण्डः समाप्तः॥ ३॥

मन्त्रार्थ—मैंने जो ज्ञान सुनकर अर्जित किया है और मैंने जो विद्या पढ़कर प्राप्त की है, वह यथावत् रूप से मेरे ज्ञानकोष में सदैव विद्यमान रहे। वह भी नष्ट न हों।

इस प्रकार पारस्करगृह्यसूत्र में तृतीयकाण्ड की डॉ० जगदीशचन्द्र मिश्र विरचित 'विमला'-हिन्दी व्याख्या समाप्त॥ ३॥

चन्द्राङ्कनिधिचन्द्रेऽब्दे वैशाखस्याऽसिते दले।
चतुर्थ्यां गुरुवारे च व्याख्येयं पूर्णतां गता॥

परिशिष्टानि

अथ वापी-कूप-तडागादि-स्थापनविधिः

अथातो वापीकूपतडागारामदेवतायतनानां प्रतिष्ठापनं व्याख्यास्यामः । तत्रोदगयन आपूर्यमाणपक्षे पुण्याहे तिथिवारनक्षत्रकरणे च गुणान्विते तत्र वारुणं यवमयं चरुꣳ श्रपयित्वाऽऽज्यभागाविष्ट्वाऽऽज्याहुतीर्जुहोति त्वं नो अग्न इमं मे वरुण तत्त्वायामि ये ते शतमयाश्चाग्न उदुत्तममुरुꣳ हि राजा वरुणस्योत्तम्भनमग्नेरनीकमिति दशर्चꣳ हुत्वा स्थालीपाकस्य जुहोत्यग्नये स्वाहा सोमाय स्वाहा वरुणाय स्वाहा यज्ञाय स्वाहोग्राय स्वाहा भीमाय स्वाहा शतक्रतवे स्वाहा व्युष्टयै स्वाहा स्वर्गाय स्वाहेति यथोक्तꣳ स्विष्टकृत् प्राशनान्ते जलचराणि क्षिप्त्वाऽलङ्कृत्य गां तारयित्वा पुरुषसूक्तं जपन्नाचार्याय वरं दत्वा कर्णवेष्टकौ वासाꣳसि धेनुर्दक्षिणा ततो ब्राह्मणभोजनम् ।

दीक्षितकामदेवकृतं गृह्यपरिशिष्टकण्डिकाभाष्यं प्रयोगपद्धतिसहितम्

'अथा'' स्यामः' । अथशब्दो मङ्गलार्थः आनन्तर्यस्य पाठादेव सिद्धेः । अतःशब्दो हेत्वर्थः यतोऽप्रतिष्ठितं वाप्यादिकमश्रेयस्करं अतः प्रतिष्ठापनं व्याख्यास्याम इति प्रतिज्ञा शिष्यबुद्धिसमाधानार्था ॥ 'तत्रो'''कमिति' । तत्रेति तस्मिन् प्रतिष्ठापने उदगयनादिकाले यथोक्तं चरुं कुशकण्डिकोक्तप्रकारेण श्रपयित्वा आघारावाज्यभागौ हुत्वोक्तैर्दश-भिर्मन्त्रैर्दशाज्याहुतीर्जुहोति । उदगयनमुत्तरायणमापूर्यमाणपक्षः शुक्लपक्षः पुण्याह इति शास्त्रान्तरोक्तकाले । तिथिवारनक्षत्रकरणानां गुणान्वितत्वं शास्त्रान्तरविहितत्वम् । तच्च किञ्चित्सङ्क्षेपेण प्रदर्श्यते ।

यथा मदनरत्नोदाहृतवह्निपुराणे—वापीकूपतडागानां तस्मिन्काले विधिः स्मृतः । सुदिने शुभनक्षत्रे प्रतिष्ठा शुभदा स्मृता ॥ १ ॥ कर्कटे पुत्रलाभश्च सौख्यं तु मकरे भवेत् । मीने यशोऽर्थलाभश्च कुम्भे वसुबहूदकम् ॥ २ ॥ वृषे च मिथुने वृद्धिर्वृश्चिकेऽल्पजलं भवेत् । पितृतृप्तिस्तु कन्यायां तुलायां शाश्वती गतिः ॥ सिंहो मेषो धनुर्राशिं लक्ष्म्याश्च द्विज यच्छतीति । तत्रैव भविष्योत्तरेऽपि—तस्मिन् सलिलसम्पूर्णे कार्तिके च विशेषतः । तडागस्य विधिः कार्यः स्थिरनक्षत्रयोगतः ॥ १ ॥ मुनयः केचिदिच्छन्ति व्यतीतेऽप्युत्तरायणे । न कालनियमस्तत्र सलिलं तत्र कारणम् ॥ इति । एवमादिग्रन्थान्तरादगवन्तव्यं विस्तरभयान्न लिख्यंते । चकारात् योगेऽपि गुणान्विते वैधृतिव्यतीपातादिवर्जिते इत्यर्थः ॥ यवमयं चरुं श्रपयित्वेत्येतावतैव सिद्धे यद्वारुणग्रहणं तद्वरुणस्य प्राधान्यज्ञापनार्थम् । ततश्च तदन्तराये पुनः स्थालीपाकस्योत्पत्तिः । कृतोऽपि देवतान्तरहोमः पुनरावर्तनीयः । तदुक्तं छन्दोगपरिशिष्टे कात्यायनाचार्यैः—प्रधानस्याक्रिया

यत्र साङ्गं तत्क्रियते पुनः । तदङ्गस्याक्रियायां तु नावृत्तिर्नैव तत्क्रिया ।। इति । देवतान्तरान्तराये तु प्राक्समाप्तेरनादिष्टप्रायश्चित्तपूर्वकं स्थालीपाकात्तस्य होमः । तदलाभे त्वाज्येनैव । उर्ध्वं समाप्तेस्तु विष्णुस्मरणमेवेति प्रयोजनम् ।

श्रीमदनन्तदेवस्वामिचरणैस्तु प्रयोजनान्तरमुक्तम् । वारुणमिति तद्धितेन वरुणस्यैव चरुदेवतात्वावगमे वक्ष्यमाणाहुतिषु यथालिङ्गमग्न्यादिशब्दैर्वरुणं ध्यात्वेदमग्नये इत्येव त्यागो बोध्यः । आग्नेया इति तु स्थितिरिति नैरुक्तविधिवशेन प्रयाजेषु समिदादिशब्दैरग्निध्यानपूर्वकमिदं समिद्भ्य इत्यादि त्यागवदिति ।। दशर्चं६ '''स्वाहा' । दशर्चं७ हुत्वेत्ययमनुवाद आहुतीनामपि मन्त्रसमसङ्ख्यत्वप्राप्त्यर्थः । ततश्च समं स्यादश्रुतत्वादिति न्यायेन एकैकेन मन्त्रेणैकैकाहुतिः । यद्वा वरुणस्योत्तम्भनमित्यत्र पञ्चानामपि वाक्यानां मन्त्रैकत्वज्ञापनार्थम् । तदित्थम्—ऋचो यजूंषि सामानि निगदा मन्त्रा इति भगवता कात्यायनाचार्येण ऋगादीनां चतुर्णां पृथक् मन्त्रत्वमुक्तम् । ततश्च सामान्यत एका ऋक् एको मन्त्रः । एकं यजुरेकः । एकं सामैकः । एको निगदश्चैकः । तत्र तेषां वाक्यं निराकाङ्क्षं मिथः सम्बद्धमिति तेन, भगवता जैमिनिना च अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकाङ्क्षं चेद्विभागे स्यादिति वाक्यलक्षणमप्युक्तम् । अत्र च पञ्चस्वप्याख्यातभेदेन लक्षणस्य विद्यमानत्वात्पञ्चवाक्यान्येतानि । ततश्च पञ्चैते मन्त्राः । अत एवानुक्रमणिकाकारेण वरुणस्य पञ्च वारुणानीति पञ्चसङ्ख्याविशिष्टो यजुर्भेद उक्तः । एवं च सति न्यायतः करणमन्त्राणां समुच्चयाभावाद्वाचनिकोऽयं समुच्चयः चतुर्भिरादत्त इतिवत् । ततश्च प्रकृते नव ऋचो नव मन्त्राः । पञ्चभिर्मिलितैर्यजुर्भिश्चैकः । एवं दशैते मन्त्राः । किञ्च स्मार्त्ते कर्मणि सवत्रोत्सर्गतः कण्डिकान्तो मन्त्र इत्याचारोऽप्यनुगृहीत एव ।

तथा च गृह्यकारिकाकारः—गृह्यकर्मसु ये मन्त्रा ज्ञेयाः स्वाध्यायपाठतः । किञ्च मध्यमवृत्त्या ते न द्रुता न विलम्बिता ।। इति । ऋक्पदं तु कण्डिकापरम्, यथा—गौतमादीनृषीन्सप्त कृत्वा दर्भमयान्पुनः । पूजयित्वा विधानेन तर्पयेदृचमुद्धरन् । इत्यत्र बौधायनीयवाक्ये ऋक्पदमृग्यजूभयसाधारण्येन कण्डिकापरमित्यङ्गीकृतमुत्सर्गकारिकाकारेण । मन्त्रैर्द्वाभ्यां च मूर्द्धेति मा छन्दस्त्रितयेन च । एवः षोडशभिर्मन्त्रैः सप्तर्षय इत्येकया इत्यादिना । एवमत्रापि ज्ञेयमित्यलं विस्तरेण । स्थालीपाकस्येत्यवयवलक्षणा षष्ठी, स्थालीपाकस्यावयवं जुहोतीत्येवम् । यद्वा कर्मणि षष्ठी । 'यथोक्तंस्विष्टकृत्' । स्विष्टकृदादि गृह्योक्तप्रकारेण कर्तव्यमित्यर्थः । 'प्राश''पन्' । स्विष्टकृद्धोमानन्तरं भूरादिप्राजापत्यन्ता नवाहुतीर्हुत्वा संस्रवप्राशनं च कृत्वा पूर्णपात्रवरयोरन्यरद् ब्रह्मणे दत्त्वा जलचराणि मत्स्यादीनि प्रत्यक्षाणि प्रतिमारूपाणि वा जलमध्ये प्रक्षिप्य सौवर्णशृङ्गाद्यलङ्कृतां गां सहस्रशीर्षेति षोडशर्चं पुरुषसूक्तं त्रैस्वर्येण पठन् ऐशानाभिमुखीं जलेऽवगाह्य ब्राह्मणाय प्रतिपादयेत् ।

अत्र मदनरत्ने मत्स्यपुराणोक्तो विशेषः—जलाशयं च त्रिवृता सूत्रेण परिवेष्टयेत् । पात्रीमादाय सौवर्णीं पञ्चरत्नसमन्विताम् ।। ततो निक्षिप्य मकरं मत्स्यादींस्तांश्च सर्वतः । धृता चतुर्भिर्विप्रैस्तु वेदवेदाङ्गपारगैः ।। महानदीजलोपेतां दध्यक्षतविभूषिताम् ।

उत्तराभिमुखो न्युब्जां जलमध्ये तु कारयेत् ॥ आथर्वणेन साम्ना तु पुनर्मामेत्यृचेति च । आपोहिष्ठेति मन्त्रेण क्षिप्त्वाऽऽगत्य च मण्डपम् ॥ इति । आथर्वणं साम शन्नोदेवीरित्यस्यामृचि गीतमिति व्याख्यातं च । भविष्योत्तरेऽपि—सामान्यं सर्वभूतेभ्यो मया दत्तमिदं जलम् । रमन्तु सर्वभूतानि स्नानपानावगाहनैः ॥ एवं जलं जले क्षिप्त्वा पूजयेज्जलमातरः । तोष्याः कर्मकराः सर्वे कुद्दालानि च पूजयेत् ॥ इति । बह्वृचगृह्यपरिशिष्टे तु जलावतारितगोदानान्ते, तत उत्सर्गं कुर्यात् । देवपितृमनुष्याः प्रीयन्तामिति यश्चोत्सृजत इत्याह शौनक इत्युत्सर्ग उक्तः । मत्स्यादीनां विशेषोऽपि मदनरत्न एव—सौवर्णौ कूर्ममकरौ राजतौ मत्स्यदुन्दुभौ । ताम्रौ कुलीरमण्डूकावायस्कः शिशुमारकः ॥ दुन्दुभो राजिलः । एते स्वर्णपात्र्यां स्थाप्या इति । 'वासो'''क्षिणा च' । चकारो द्रव्यसमुच्चयार्थः, वासोयुग्मं धेनुश्च दक्षिणेति यावत् । इयं च दक्षिणा आचार्यस्यैव । ततश्च तस्यापि वरणम् । ब्रह्मणस्तु पूर्णपात्रादिकैव । तथा च पाठान्तरम् । गां तारयित्वाऽऽचार्याय वरं दत्वा कर्णवेष्टकौ वासांसि धेनुर्दक्षिणा चेति । यद्वा स्मार्ते कर्मणि यजमानस्यैव कर्तृत्वमिति भाष्यकारीयसिद्धान्तात् उपदिष्टेनातिदिष्टं बाध्यत इति न्यायात्पूर्णपात्रादिकं बाधित्वैव प्रवर्तते धुर्यौ दक्षिणेतिवत् । अत एव प्राशनान्ते जलचराणि क्षिप्त्वेत्यत्र प्राशनान्तग्रहणं प्राकृतकालविशिष्टदक्षिणाबाधार्थम् । जलचरप्रक्षेपादेरपूर्वत्वेन न्यायात्प्राशनान्त एव प्राप्तत्वात्पश्चादग्नेमर्द्रपीठ इत्यादिवत् ।

पाठान्तरपक्षे तु वैवाहिकवरदानवदुपद्रष्टृविषया स्वकीयाचार्यविषया वा इयमधिका अन्यैव । 'ततो ब्राह्मणभोजनम्' । कर्तव्यमिति सूत्रशेषः दशैकादश वाऽवश्यं भोजनीयाः । गर्भाधानादिभिर्यज्ञैर्ब्राह्मणान् भोजयेद्दशेति परिशिष्टकारोक्तेः । ततः सहस्रं विप्राणामथवाऽष्टशतं तथा । भोजयेच्च यथाशक्त्या पञ्चाशद्वाऽथ विंशतिम् ॥ इति मत्स्यपुराणोक्तवचनं तु समर्थविषयम् । इति श्रीदीक्षितकामदेवकृतं गृह्यपरिशिष्टकण्डिकाया भाष्यं समाप्तम् ।

अथ प्रयोगः । तत्र कालविशेषो मदनरत्ने—अनधिकालुप्तसंवत्सरे असिंहमकरस्थगुरौ अगुर्वादित्ये अमलमासक्षयमासे अलुप्तदिनद्वये पक्षे अनवमदिनादौ भूकम्पाशन्युल्काद्यद्भुतदोषरहिते काले उत्तरायणे माघफाल्गुनचैत्रवैशाखज्येष्ठाषाढान्यतममासे रविशुद्धावयनद्वयविषुवद्वयकन्यामीनधनुरन्यतमसङ्क्रान्तौ शुक्लपक्षे द्वितीयातृतीयापञ्चमीसप्तमीदशमीत्रयोदशीपौर्णमासीनामन्यतमतिथौ शनिमङ्गलान्यवारेषु भरणीकृत्तिकार्द्रापुनर्वस्वाश्लेषामघापूर्वाफाल्गुनीविशाखाव्यतिरिक्तनक्षत्रेषु विष्कम्भातिगण्डव्याघातवज्रव्यतीपातपरिघवैधृतिव्यतिरिक्तकरणेषु यजमानस्य चन्द्रताराविशुद्धौ बुधशुक्रगुरुचन्द्रनिरीक्षिते लग्ने जलाशयोत्सर्गं कुर्यादिति ।

एवमुक्तकाले जलाशयस्योदगैशान्यप्राक्पश्चिमान्यतमदिशि समीपे एव प्रागुदक्प्रवणे सुसमे भूभागे पूर्वं दशहस्तादिमण्डपं विधायालङ्कृत्य तत्र स्वासने प्राङ्मुख उपविश्य पवित्रपाणिः स्वाचान्तः प्राणानायम्य श्रीविष्णुस्मरणपूर्वकं देशकालादिसङ्कीर्तनान्ते श्रीपरमेश्वरप्रीत्यर्थं तडागप्रतिष्ठापनमहं करिष्ये । एवमारामादिष्वप्यूहेन सङ्कल्पं कृत्वा

तदङ्गत्वेन गणपतिपूजानान्दीश्राद्धनवग्रहयज्ञांश्च करिष्ये इति पुनः सङ्कल्पक्रमेणैतानि कुर्यात् ऋत्विग्वरणानन्तरं वा पुण्याहवाचनम् ।

ततो ग्रहमखानन्तरं प्रधानाङ्गत्वेन पुनराचार्यस्य ब्रह्मणश्च वरणं कुर्यात् । तत्र वाक्यम्—कर्तव्यामुकजलाशयप्रतिष्ठापनेऽमुकगोत्रामुकशर्मन् त्वमाचार्यो भवेति । भवामीति प्रतिवचनम् । एवं ब्रह्मा भवेति । ततो यथाशक्ति तयोः पूजनं क्रमेण प्रार्थनञ्च—आचार्यस्तु यथा स्वर्गे शक्रादीनां बृहस्पतिः । तथा त्वं मम यज्ञेऽस्मिन्नाचार्यो भव सुव्रत ॥ यथा चतुर्मुखो ब्रह्मा सर्ववेदविशारदः । तथा त्वं मम यज्ञेऽस्मिन् ब्रह्मा भव द्विजोत्तम ॥ इति । सदस्यवरणं कृताकृतम् । पक्षे आचार्यवरणस्याप्यभावः । ततो वृतश्चेदाचार्यः अथवा यजमानः स्थण्डिले पञ्चभूसंस्कारपूर्वकमग्निं स्थापयित्वा वारुणं यवमयं चरुं यथाविधि श्रपयित्वा आज्यभागान्ते आज्येनैव त्वं तो अग्न इत्यादिभिर्दशभिर्मन्त्रैः प्रतिमन्त्रं दशाहुतीर्जुहुयात् ।

तद्यथा—ॐ प्रजापतये स्वाहा इदं प्रजापतये० १ । ॐ इन्द्राय स्वाहा इदमिन्द्राय० २ । ॐ अग्नये स्वाहा इदमग्नये० ३ । ॐ सोमाय स्वाहा इदं सोमाय० ४ । त्वं नो अग्न इति वामदेवऋषिः अग्नीवरुणौ देवते त्रिष्टुप्छन्दः आज्याहुतिहोमे वि० । ॐ त्वं नो अग्ने० प्रमुमुग्ध्यस्मत्स्वाहा । इदमग्नीवरुणाभ्यां न मम । सत्वं इति वामदेवऋषिः अग्नीवरुणौ देवते त्रिष्टुप्छन्दः आज्याहु० । ॐ सत्वं नो० एधि स्वाहा इदमग्नीवरुणाभ्यां० २ । इमं म इति शुनःशेप० वरुणो दे० गायत्री० आज्या० । ॐ इमं मे० चके स्वाहा इदं वरुणाय० ३ । तत्त्वायामीति शुनःशेप० वरुणो दे० त्रिष्टुप्० आज्या० । ॐ तत्त्वायामि० प्रमोषीः स्वाहा इदं वरुणाय० ४ । ये ते शतमिति वामदेव० त्रिष्टुप्० वरुणःसविताविष्णुर्विश्वेदेवामरुतःस्वर्का देवताः आज्या० । ॐ ये ते शतं वरुण ये सहस्रं यज्ञियाः पाशा महान्तः । तेभिर्नो अद्य सवितोत विष्णुर्विश्वे मुञ्चन्तु मरुतः स्वर्क्काः स्वाहा । इदं वरुणाय सवित्रे विष्णवे विश्वेभ्यो देवेभ्यो मरुद्भ्यः स्वर्क्केभ्यश्च न मम ५ । अयाश्चाग्ने इति वामदेव० त्रिष्टुप्० अग्निर्देवता आज्या० ॐ अयाश्चाग्नेऽस्यनभिशस्तिपाश्च सत्यमित्वमया असि । अयानो यज्ञं वहास्ययानो धेहि भेषजꣳ स्वाहा इदमग्नये० ६ अयसे इत्यधिकमिति केचित् । उदुत्तममिति शुनःशेप० वरुणो दे० त्रिष्टुप्० आज्या० । ॐ उदुत्तमं० स्याम स्वाहा । इदं वरुणाय न मम ७ । उरुꣳ हिराजेति शुनःशेप० त्रिष्टुप्० वरुणो दे० आज्या० । ॐ उरुꣳ हि राजा० श्चित् स्वाहा इदं वरुणाय न मम ८ । वरुणस्योत्तम्भनमिति पञ्चयजुषां प्रजापति० वरुणो० यजूꣳषि आज्या० । ॐ वरुणस्योत्तम्भन० मासीद स्वाहा० इदं वरुणाय० ९ । अग्नेरनीकमिति प्रजापति० अग्निर्दे० त्रिष्टुप्० आज्या० । ॐ अग्नेरनीक० रण्यत्स्वाहा इदमग्नये० १० । अभिघार्य स्थालीपाकं जुहुयात् । तत्र मन्त्राः—ॐ अग्नये स्वाहा इदमग्नये० १ । ॐ सोमाय स्वाहा इदं सोमाय० २ । ॐ वरुणाय स्वाहा इदं वरुणाय० ३ । ॐ यज्ञाय स्वाहा इदं यज्ञाय० ४ । ॐ भीमाय स्वाहा इदं भीमाय ५ । ॐ उग्राय स्वाहा इदमुग्राय० ६ । ॐ शतक्रतवे स्वाहा इदं शतक्रतवे० ७ । ॐ व्युष्टचै स्वाहा इदं व्युष्टचै० ८ । ॐ स्वर्गाय स्वाहा इदं स्वर्गाय० ९ । अथ ब्रह्मणाऽन्वारब्ध

ॐ अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा इदमग्नये स्विष्टकृते० १०। तत आज्येन भूरादिप्राजापत्यान्ता नवाहुतीर्जुहुयात्। तद्यथा—ॐ भूः स्वाहा इदमग्नये० १। ॐ भुवः स्वाहा इदं वायवे० २। ॐ स्वः स्वाहा इदं सूर्याय० ३। ॐ त्वन्नो अग्ने ४। ॐ सत्वं नो अग्ने ५। ॐ अयाश्चाग्ने ६। ॐ ये ते शतं ७। ॐ उदुत्तमं ८। ॐ प्रजापतये स्वाहा इदं प्रजापतये० ९। ततः संस्रवप्राशनम् १। पवित्राभ्यां मार्जनम् २। पवित्रप्रतिपत्तिः ३। प्रणीताविमोकः ४। ब्रह्मणे पूर्णपात्रदानम्। कृतैतदुत्सर्गहोमसाङ्गतासिद्ध्यर्थमिदं पूर्णपात्रं ब्रह्मन् तुभ्यमहं सम्प्रददे। तेन श्रीकर्माङ्गदेवता प्रीयताम्॥

अथ शास्त्रान्तराज्जलाशयं त्रिवृता सूत्रेण ईशानादिप्रादक्षिण्येन परिवेष्ट्य तत्र जलचराणि प्रक्षिपेत्। तत्र प्रकारविशेषो यथा मदनरत्ने मत्स्यपुराणोक्तः—पञ्चरत्नसमन्वितां संस्थापितमकरादिकां सौवर्णीं पात्रीं समादाय जलाशयसमीपे प्राङ्मुखस्तिष्ठन् दक्षहस्तेनैव पूर्वं मकरं प्रक्षिप्य ततः सर्वतो मत्स्यादीन् प्रक्षिपेत्। तेऽपि—सौवर्णौ कूर्ममकरौ राजतौ मत्स्यदुन्दुभौ। ताम्रौ कुलीरमण्डूकावायसः शिशुमारकः॥ इति द्रव्यविशेषतो ज्ञेयाः। ततस्तां पात्रीं गङ्गादिमहानदीजलोपेतां दध्यक्षतविभूषितां कृत्वा उत्तराभिमुखस्तिष्ठन् आपोहिष्ठेति तिसृभिर्ऋग्भिर्जलमध्ये न्युब्जां कुर्यात्। आपोहिष्ठेति तिसृणां सिन्धुद्वीप ऋषिः आपो देवता गायत्री छन्दः पात्रीन्युब्जीकरणे विनियोगः। ॐ आपोहिष्ठा० चनः इति तां न्युब्जीकुर्यात्। ततः सुवर्णशृङ्गादियथाशक्त्यलङ्कृतां गां पुरुषसूक्तं जपन् तारयेत्। विशेषः पाराशरस्मृतौ—अरोगां वत्ससंयुक्तां सुरूपां भूषणान्विताम्। गोवत्सौ वस्त्रबद्धौ तावाग्नेय्यां दिशि संस्थितौ॥ वायव्याभिमुखौ तत्र तारयेद्वारिमध्यत इति। पुरुषसूक्तस्य नारायणः पुरुष ऋषिः जगद्बीजं पुरुषो देवता पञ्चदशानामनुष्टुप्छन्दः षोडश्यास्त्रिष्टुप् छन्दः जले गोरवतारणे विनियोगः। ॐ सहस्रशीर्षा० देवाः। ततो यजमानो नित्यतर्पणवद्देवर्षिपितृतर्पणं गोपुच्छाग्रे कुर्यात्।

प्राङ्मुखः स्वयमुदक्स्थितायाः पुच्छाग्रे नित्यतर्पणं कृत्वा ततो 'ब्रह्माद्या देवताः सर्वे ऋषयो मुनयस्तथा। असुरा यातुधानाश्च मातरश्चण्डिकास्तथा। दिक्पाला लोकपालाश्च ग्रहदेवाधिदेवताः। ते सर्वे तृप्तिमायान्तु गोपुच्छोदकतर्पिताः। विश्वेदेवास्तथादित्याः साध्याश्चैव मरुद्गणाः। क्षेत्रपीठोपपीठानि नदा नद्यश्च सागराः। ते स०। पातालनागकन्याश्च नागाश्चैव सपर्वताः। पिशाचा गुह्यकाः प्रेता गन्धर्वा गणराक्षसाः। ते०। पृथिव्यापश्च तेजश्च वायुराकाशमेव च। दिवि भुव्यन्तरिक्षे च ये च पातालवासिनः। ते०। शिवः शिवास्तथा विष्णुः सिद्धिर्लक्ष्मी सरस्वती। तपोवनानि भगवानव्यक्तः परमेश्वरः। ते स०। क्षेत्रौषधिलता वृक्षा वनस्पत्यधिदेवताः। कपिलः शेषनागश्च तक्षकोऽनन्त एव च। ते०। अन्ये जलचरा जीवा असङ्ख्यातास्त्वनेकशः। चतुर्दश यमाश्चैव ये चान्ये यमकिङ्कराः। ते०। सर्वेऽपि यक्षराजानः पक्षिणः पशवश्च ये। स्वेदजोद्भिज्जजा जीवा अण्डजाश्च जरायुजाः। ते०। अन्येऽपि वनजीवा ये दिवा निशि विहारिणः। अजागोमहिषीरूपा ये चान्ये पशवस्तथा। शान्तिदाः शुभदास्ते स्युर्गोपुच्छोदकतर्पिताः। आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं ये चान्ये गोत्रिणो मृताः। ते०। सर्पव्याघ्रहता

ये च शस्त्रघातमृताश्च ये । संस्काररहिता ये च रौरवादिषु गामिनः । ते० । वृक्षत्वं च गताः केचित् तृणगुल्मलताश्च ये । यातनासु च घोरासु जातीषु विविधासु च । ते० । नरकेषु च । घोरेषु पतिताः स्वेन कर्मणा । देवत्वं मानुषत्वं वा तिर्यक्प्रेतपिशाचताम् । कृमिकीटपतङ्गत्वं याता ये च स्वकर्मभिः । ते० । पितृवंशे० ज्ञाता २ कुले मम । ते पिबन्तु मया दत्तं गोपुच्छस्य तिलोदकम् । ये बान्धवा २ वा येऽन्यजन्मनि बान्धवाः । ते० गोपुच्छस्य तिलोदकैः । आब्रह्मस्तं० इदमस्तु तिलोदकम् ॥ गोप्रार्थना । पञ्चगावः समुत्पन्ना मथ्यमाने महोदधौ । तासां मध्ये तु या नन्दा तस्यै देव्यै नमो नमः ॥ १ ॥ चन्दनपुष्पैः पूजयेत् । यथा—पृष्ठे ब्रह्मणे नमः १ गले विष्णवे नमः २ मुखे रुद्राय नमः ३ मध्ये देवगणेभ्यो नमः ४ रोमकूपे महर्षिभ्यो नमः ५ पुच्छे नागेभ्यो नमः ६ खुराग्रे कुलपर्वतेभ्यो नमः ७ मूत्रे गङ्गादिनदीभ्यो नमः ८ नेत्रयोः शशिभास्कराभ्यां नमः ९ एते यस्याः स्तनौ देवाः सा धेनुर्वरदाऽस्तु मे ॥ २ ॥

अथ दानम् । केचिदीशानकोणमार्गेण तां निष्काश्य ब्राह्मणाय दद्यादित्याहुः, तत्र वचनमन्वेषणीयम् । आज्यपात्रं करे कृत्वा कनकेन समन्वितम् । निक्षिप्य पुच्छं तस्मिंस्तु घृतदग्धिं प्रगृह्य च ॥ सतिलं विप्रपाणौ तु प्रागग्रं तन्निधाय च । सतिलं सकुशं चापि गृहीत्वा दानमाचरेत् ॥ ततो गोपुच्छं हस्ते गृहीत्वा कुशयवजलान्यादाय अद्येत्यादि दशपूर्वदशपरात्मीयपुरुषसहितात्मनः सम्भावितनरकोद्धरणपूर्वकम् ऐहिकसकलसमृद्धि-प्राप्तिपूर्वकसवत्सगोरोमसमसङ्ख्यवर्षस्वर्गप्राप्तिकामः इमां गां रुद्रदैवतां सुवर्णशृङ्गीं रौप्य-खुरां ताम्रपृष्ठीं कांस्यदोहां मुक्तादामघण्टाचामरविभूषितां रत्नपुच्छीं सुवस्त्राच्छादितां कृतैतदुत्सर्गसाङ्गतासिद्धयर्थममुकगोत्रायामुकशाखाध्यायिनेऽमुकशर्मणे ब्राह्मणाय तुभ्य-महं सम्प्रददे न मम इति प्रागग्रं पुच्छं विप्रहस्ते दद्यात् । ॐ स्वस्ति इति विप्रः । ततः कामस्तुतिं पठेत् कोदादिति मन्त्रः । गोदानसाङ्गतासिद्धयर्थं दक्षिणां दद्यात् । कूपवाप्यो-स्तूपरि गोस्त्रिर्भ्रामणमिति निबन्धकाराः ॥

अथात्र सूत्रानुक्तमपि पौराणिकमुत्सर्गादिकं फलाधिक्यात्कर्तव्यम् । तद्यथा—यजमानः कुशाक्षतजलान्यादाय प्राङ्मुखः सन् पठेत्—सामान्यं सर्वभूतेभ्यो मया दत्त-मिदं जलम् । रमन्तु सर्वभूतानि स्नानपानावगाहनैः ॥ १ ॥ इति जलमध्ये जलप्रक्षेपेणो-त्सर्गं कुर्यात् । यद्वा देवपितृमनुष्याः प्रीयन्तामित्युत्सर्गमन्त्रः । ततो जलाशये गङ्गोद-कादितीर्थोदकानि । जलाशयं स्पृष्ट्वा पञ्चमन्त्रान् पठेत्—कुरुक्षेत्रं गया गङ्गा प्रभासः पुष्कराणि च । एतानि पञ्चतीर्थानि तडागे निवसन्तु मे ॥ १ ॥ वितस्ता कौशिकी सिन्धुः सरयूश्च सरस्वती । एतानि पञ्च० ॥ २ ॥ दशार्णा मुरला सिन्धुरयावर्त्तदृषद्वती । एतानि पञ्च तीर्थानि० ॥ ३ ॥ यमुना नर्मदा रेवा चन्द्रभागा च वेदिका । एतानि पञ्च० ॥ ४ ॥ गोमती वाङ्मती शोणो गण्डकी सागरस्तथा । एतानि पञ्च० ॥ ५ ॥ कूपोत्सर्ग-पक्षे निपाने निवसन्तु मे इत्यूहः । प्रवाप्यां निवसन्त्विति च वाप्यामूहः । ततो जलमातृ-पूजा चन्दनपुष्पादिना । सा यथा—ॐ ह्रियै नमः १ ॐ श्रियै नमः २ ॐ शच्यै नमः ३ ॐ मेधायै नमः ४ ॐ विश्वायै नमः ५ ॐ लक्ष्म्यै नमः ६ इत्येतैर्मन्त्रैर्जल-

मातृभ्यो नम इत्यनेन वा जलमातृपूजनं कृत्वा, तोष्याः कर्मकराः सर्वे कुद्दालानि च पूजयेत् इति । ततो मण्डपमागत्य वस्त्रयुग्मं धेनुं च दक्षिणामाचार्याय दद्यात् । अत्र पाराशरस्मृतौ विशेषः—अर्द्धं शतं शतं वाऽपि विंशमष्टोत्तरं शतम् । गोसहस्रं शतं वाऽपि शतार्द्धं वा प्रदीयते ।। अलाभे चैव गां दद्यादेकामपि पयस्विनीम् । अरोगां वत्ससंयुक्तां सुरूपां भूषणान्विताम् ।। इति । पाठक्रमादर्थक्रमो बलीयान् तथासत्येवं ११०० वा १५० वा १०८ वा १०० वा ५० वा २० वा १ । कृतस्यामुकजलाशयस्य प्रतिष्ठाकर्मणः साङ्ग-तासिद्धयर्थम् इदं बार्हस्पत्यं वासोयुग्मं रुद्रदैवतां धेनुं च दक्षिणामाचार्याय तुभ्यमहं सम्प्रददे न मम तेन श्रीकर्माङ्गदेवताः प्रीयन्तामिति । ततः—शरण्यं सर्वलोकानां लज्जाया रक्षणं परम् । सुवेषधारि त्वं यस्माद्वासः शान्तिं प्रयच्छ मे ।। १ ।। धेनो त्वं पृथिवी सर्वा यस्मात्केशवसन्निभा । सर्वमापहरा नित्यमतः शान्तिं प्रयच्छ मे ।। २ ।। इति दानमन्त्रौ पठेत् । ॐ द्यौस्त्वा ददातु पृथिवी त्वा प्रतिगृह्णातु इत्याचार्यस्य प्रतिग्रहमन्त्रः ।

पाराशरीये—वस्त्रयुग्मानि विप्रेभ्यश्छत्रिका मुद्रिकाः शुभाः । दद्याद्विप्रेभ्यः सन्तोष्य छत्रोपानहमेव च ।। सुहेमपुरुषयुक्तां शय्यां दद्याच्च शक्तितः । सुहेमपुरुषो लक्ष्मीनारा-यणप्रतिमा । आसनानि च शस्तानि भाजनानि निवेदयेत् । प्रसादयेद् द्विजान्भक्त्या इच्छन् पूर्तफलं नरः ।। कृताञ्जलिपुटो भूत्वा विप्राणामग्रतः स्थितः । ब्रूयाद्देवा भवन्तो-ऽत्र सर्वे विप्रवपुर्धराः ।। तटं यूयं तारयध्वं संसारार्णवतो द्विजाः । आगता मम पुण्येन पूर्तधर्मप्रसाधकाः ।। इति विप्रप्रार्थना । ततः सहस्रं विप्राणामथवाऽष्टशतं तथा । भोज-येच्च यथाशक्त्या पञ्चाशद्वाऽथ विंशतिम् ।। इति मात्स्यवचनम् । यद्वा—गर्भाधानादि-भिर्यज्ञैर्ब्राह्मणान् भोजयेद्दशेति परिशिष्टकारोक्तेः दशावरान् ब्राह्मणान् भोजयिष्ये इति सङ्कल्पः । ततस्तानविलम्बेन भोजयेत् । दीनानाथेभ्यो भूयसीञ्च दत्त्वा कर्म ईश्वरार्पणं कुर्यात् । कृतैतत्कर्म लक्ष्मीनारायणार्पितमस्तु । तत आचारप्राप्तं तिलकाशीर्वादादि । आरामप्रतिष्ठायां तु वृक्षाणां वस्त्रैरभावे सूत्रैर्वेष्टनम् । जलमातृकापूजास्थाने वनस्पतिभ्यो-नम इति वृक्षेषु वनस्पतिपूजनम् । देवपितृमनुष्याः प्रीयन्तामित्यनेनैव पाक्षिक उत्सर्गः । कृतस्यारामप्रतिष्ठापनकर्मणः साङ्गतासिद्धयर्थमिति दक्षिणादानादौ प्रयोगः । गोर्भ्रमणं मध्ये । उत्तरतो निष्कासनम् । जलचरप्रक्षेपस्य जलाशयस्पर्शजपादेश्चाभावः । एवं देवालयप्रतिष्ठायां सूत्रादिना वेष्टनम् । आचारादुपरि ध्वजबन्धनम् । अमुकदेवाय-तनाय नम इति पूजनं च । कृतस्य देवायतनप्रतिष्ठाकर्मणः साङ्गतासिद्धयर्थमिति दक्षिणादानादौ प्रयोगः ।

चतुःषष्टिपदवास्तुपूजनमपीति विशेषः । अन्यत्सर्वं पूर्ववत् । यजमानस्य स्वकर्तृत्व-पक्षे तु आचार्यवरणाभावः । दक्षिणादानं ब्रह्मणे पूर्णपात्रादिस्थाने । यद्वा वैवाहिकवर-दानवदुपद्रष्ट्रे । उपनयनपूर्वकवेदाध्यापकाचार्याय वा । ग्रहयज्ञस्य प्रधानेन सह समान-तन्त्रता वा । तत्राज्यभागान्ते वरुणस्योत्तम्भनमिति कण्डिकया आज्याहुतिरेका । ततः समिद्धोमः । ततो दशर्चेन । ग्रहचरुहोमपूर्वको वरुणचरुहोमः । ततस्तिलहोमादि । एव-मासादनादावपि क्रमो बोद्धव्यः । ग्रहयज्ञाङ्गत्वेन मण्डपकरणपक्षे तु शतपदं वास्तु बलि-

दानमण्डपप्रतिष्ठादिकमप्यधिकम् । प्रासादप्रतिष्ठायां तु मण्डपाभावपक्षेऽपि नियमेन चतुःषष्टिपदो वास्तुरित्युक्तमित्यलं ग्रन्थगौरवेण ॥

इति श्रीमदग्निचिद्दीक्षितविश्वामित्रात्मजदीक्षितकामदेवकृता गृह्यपरिशिष्टस्य षष्ठिकण्डिकायाः सभाष्यपद्धतिः समाप्ति पफाण ॥

अनुवाद—इसके बाद बावली, कुआँ, तालाब, बगीचे और मन्दिरों के प्रतिष्ठापन के विधान का वर्णन करेंगे। इनकी स्थापना के कार्य किसी शुभ दिन में करने चाहिए। कामदेवदीक्षित के अनुसार जब सूर्य उत्तरायण में हो, तब महीने के शुक्लपक्ष में, शुभ तिथि, दिन, नक्षत्र और करण का विचार कर जौ की टिकिया पकाकर, कुशकण्डिका में बतलाई गई विधि से अग्नि और सोम के निमित्त आहुतियाँ दे। इसके बाद 'त्वं नो अग्ने' इत्यादि दस मन्त्रों को पढ़कर घी की दस आहुतियाँ दे। इसके बाद 'अग्नये स्वाहा' प्रभृति दस मन्त्रों से स्थालीपाक हविष्यान्न से दस आहुतियां दे। इसके बाद 'भू' से लेकर 'प्रजापति' तक घी की नौ आहुतियाँ डालें। इसके बाद संस्रवप्राशन करे। फिर ब्रह्मा को दक्षिणा दे। तदनन्तर मछली या अन्य जलचर जीवों को पानी में डाल दे। फिर गौ की सींगों को सोने से एवं खुर को चाँदी से अलंकृत कर दे। पुनः पुरुषसूक्त का पाठ करते हुए जल में प्रविष्ट होकर स्नान करे; उसके बाद उपस्थित ब्राह्मणों को भरपूर दान देकर आचार्य का वरण कर उसे यथेष्ट सम्मानित करे। दक्षिणा में सोना, चाँदी, वस्त्र एवं गाय का दान करे। इसके बाद यथेच्छ ब्राह्मण-भोजन कराए।

टिप्पणी—इस सन्दर्भ में मदनरत्न में उद्धृत अग्निपुराण का अंश भी द्रष्टव्य है—

'कर्कटे पुत्रलाभश्च सौख्यं तु मकरे भवेत्।
मीने यथोऽर्थलाभश्च कुम्भे वसुबहूदकम् ॥
वृषे च मिथुने वृद्धिर्वृश्चिकेऽल्पजलं भवेत्।
पितृतृप्तिस्तु कन्यायां तुलायां शाश्वती गतिः।
सिंहे मेषे धनुर्राशं लक्ष्म्याश्च द्विज यच्छति ॥'

मछलियों को पालने की विधि का उल्लेख मत्स्यपुराण में इस प्रकार किया गया है—

'जलाशयञ्च त्रिवृता सूत्रेण परिवेष्टयेत्।
पात्रीमादाय सौवर्णीं पञ्चरत्नसमन्विताम् ॥
ततो निक्षिप्य मकरं मत्स्यादींस्ताँश्च सर्वतः।
धृता चतुर्भिर्विप्रैस्तु वेदवेदाङ्गपारगैः ॥
महानदीजलोपेतां दध्यक्षतविभूषिताम्।
उत्तराभिमुखो न्युब्जां जलमध्ये तु कारयेत् ॥

आथर्वणेन साम्ना तु पुनर्मामेत्यृचेति च ।
आपो हिष्ठेति मन्त्रेण क्षिप्त्वाऽऽगत्य च मण्डपम्' ॥

पारस्कर ने गृह्यसूत्र में अपनी विधि को दक्षिणा-दान तक ही सीमित रखा है, किन्तु इस सन्दर्भ में कामदेवदीक्षित की मान्यता है कि मनुष्य फलाभिलाषी होता है । अधिक फल की कामना वाले व्यक्ति को गृह्यसूत्र तक ही सीमित नहीं रहना है, प्रत्युत् पुराणों में बतलाई गई विधि के अनुसार उत्सर्ग आदि कर्मों का अनुष्ठान भी करना चाहिए । तदनुसार अक्षत, तिल, जल और कुश लेकर पूरब की ओर मुखकर बैठकर निम्नलिखित मन्त्र पढ़े—

'सामान्यं सर्वभूतेभ्यो मया दत्तमिदं जलम् ।
रमन्तु सर्वभूतानि स्नानपानावगाहनैः ॥'

इसके बाद नवनिर्मित कूप या तालाब में गंगा आदि पवित्र तीर्थ जलों को निम्नलिखित मन्त्र पढ़कर उन्हें आहूत करते हुए उस जल में मिलावे—

'कुरुक्षेत्रं गया गङ्गा, प्रभासः पुष्कराणि च ।
एतानि पञ्च तीर्थानि तडागे निवसन्तु मे ॥ १ ॥
वितस्ता कौशिकी सिन्धुः सरयूश्च सरस्वती ।
एतानि पञ्च··· ··· ··· ॥ २ ॥
दशार्णा मुरला सिन्धुरयावर्त्तादृषद्वती । एतानि पञ्च० ॥ ३ ॥
यमुना नर्मदा रेवा चन्द्रभागा च वेदिका । एतानि पञ्च० ॥ ४ ॥
गोमती वाङ्मती शोणा गण्डकी सागरस्तथा । एतानि पञ्च० ॥ ५ ॥

इसके बाद मजदूरों को भरपूर मजदूरी देनी चाहिए तथा उनके औजारों की पूजा करनी चाहिए ।

इस प्रकार वापी-कूप-तडागादि विधि समाप्त ॥

अथ कात्यायनकृतं परिशिष्टशौचसूत्रम्

अथातः शौचविधिं व्याख्यास्यामो दूरं गत्वा दूरतरं गत्वा यज्ञोपवीतं शिरसि दक्षिणकर्णे वा धृत्वा तृणमन्तर्धानं कृत्वोपविश्याहनीत्युत्तरतो निशायां दक्षिणत उभयोः सन्ध्ययोरुदङ्मुखो नाग्नौ न गोसमीपे नाप्सु नागे वृक्षमूले चतुष्पथे गवाङ्गोष्ठे देवब्राह्मणसन्निधौ दहनभूमिं भस्माच्छन्नं देशं फालकृष्टभूमिं च वर्जयित्वा मूत्रपुरीषे कुर्यात् । ततः शिश्नं गृहीत्वोत्थायाद्भिः शौचं गन्धलेपहरं विदध्यात् । लिङ्गे देया सकृन्मृद्वै त्रिवारं गुदे दशधा वामपाणावुभयोः सप्तवारं मृत्तिकां दद्यात् । करयोः पादयोः सकृत्सकृदेव मृत्तिका देयेति शौचं गृहस्थानां द्विगुणं ब्रह्मचारिणां त्रिगुणं वनस्थानां चतुर्गुणं यतीनामिति ।। यद्दिवा विहितं शौचं तदर्धं निशायां भवति मार्गे चेत्तदर्धमार्त्तश्चेद्यथाशक्ति कुर्यात् ।। १ ।। प्रक्षालितपाणिपादः शुचौ देश उपविश्य नित्यं बद्धशिखी यज्ञोपवीती प्रागुदङ्मुखो वा भूत्वा जान्वोर्मध्ये करौ कृत्वाऽशूद्रानीतोदकैर्द्विजातयो यथाक्रमं हृत्कण्ठतालुगैराचामन्ति । न तद्भिन्नोष्ठेन न विरलाङ्गुलिभिर्न तिष्ठन्नैव हसन्नापि फेनबुद्बुदयुतम् । ब्रह्मतीर्थेन त्रिः पिबेत् द्विः परिमृजेत् । ब्राह्मणस्य दक्षिणहस्ते पञ्चतीर्थानि भवन्ति अङ्गुष्ठमूले ब्रह्मतीर्थं कनिष्ठिकाङ्गुलिमूले प्रजापतितीर्थं तर्जन्यङ्गुष्ठमध्यमूले पितृतीर्थमङ्गुल्यग्रे देवतीर्थं मध्येऽग्नितीर्थमित्येतानि तीर्थानि भवन्ति ।। २ ।। प्रथमं यत्पिबति तेन ऋग्वेदं प्रीणाति द्वितीयं यत्पिबति तेन यजुर्वेदं प्रीणाति तृतीयं यत्पिबति तेन सामवेदं प्रीणाति चतुर्थं यदि पिबेत् तेनाथर्ववेदेतिहासपुराणानि प्रीणाति यदङ्गुलिभ्यः स्रवति तेन नागयक्षकुबेराः सर्वे वेदाः प्रीणन्ति यत्पादाभ्युक्षणं पितरस्तेन प्रीणन्ति यन्मुखमुपस्पृशत्यग्निस्तेन प्रीणाति यन्नासिके उपस्पृशति वायुस्तेन प्रीणाति यच्चक्षुरुपस्पृशति सूर्यस्तेन प्रीणाति यच्छ्रोत्रमुपस्पृशति दिशस्तेन प्रीणन्ति यन्नाभिमुपस्पृशति ब्रह्मा तेन प्रीणाति यद्धृदयमुपस्पृशति तेन परमात्मा प्रीणाति यच्छिर उपस्पृशति रुद्रस्तेन प्रीणाति यद्बाहू उपस्पृशति विष्णुस्तेन प्रीणाति मध्यमानामिकया मुखं तर्जन्यङ्गुष्ठेन नासिकां मध्यमाङ्गुष्ठेन चक्षुषी अनामिकाङ्गुष्ठेन श्रोत्रं कनिष्ठिकाङ्गुष्ठेन नाभिं हस्तेन हृदयं सर्वाङ्गुलिभिः शिर इत्यसौ सर्वदेवमयो ब्राह्मणो देहिनामित्याह इत्येवं शौचविधिं कृत्वा ब्रह्मलोके महीयते इत्याह भगवान् कात्यायनः ।।

इति कात्यायनकृतं परिशिष्टशौचसूत्रं समाप्तम् ।।

अनुवाद—इसके बाद अब हम पवित्रता के विधान की व्याख्या करेंगे। घर से कुछ दूर या अधिकतर दूर हट कर यज्ञोपवीत को दाहिने कान या शिर पर चढ़ाकर, घास-फूस की ओट में बैठकर मल-मूत्र का त्याग करे। दिन में उत्तरमुख, रात में दक्षिणमुख तथा सन्धिकाल में उत्तरमुख बैठना चाहिए। पानी में, गायों के पास, या आग के नजदीक मल-मूत्र का त्याग न करे। साँपों की बाँबी, पेड़ों की जड़, चौराहे, चरागाह, कब्रिस्तान या श्मशान-भूमि, देवालय की समीपवर्त्ती भूमि, ब्राह्मण की सन्निधि, राख की ढेर या जोती गई धरती पर मल-मूत्र का त्याग नहीं करना चाहिए। इसके बाद उठकर जननेन्द्रिय को जल से धोकर साफ करना चाहिए। फिर लिंग को एक बार, गुदा को तीन बार, बायें हाथ को दस बार, दोनों हाथों को मिलाकर सात बार मिट्टी लगाकर साफ करना चाहिए। पुनः दोनों हाथों और पैरों में एक बार मिट्टी लगाकर अच्छी तरह साफ कर लेना चाहिए। पवित्रता की यह प्रक्रिया केवल गृहस्थों के लिए है। ब्रह्मचारियों के लिए इसकी दुगुनी, वानप्रस्थियों के लिए तिगुनी और सन्यासियों के लिए चौगुनी होती है। दिन के लिए विहित यह शौच-प्रक्रिया रात में आधी, रास्ते में उसकी भी आधी और बीमारी में जो कुछ हो सके, उतनी ही करनी चाहिए। सायं-प्रातः प्रतिदिन हाथ-पैर धोकर, शिखा बाँधकर एकान्त एवं पवित्र स्थान में पूरब या उत्तर मुँह बैठकर, दोनों घुटनों के बीच हाथों को रखकर पवित्र जल से आचमन करे। फेनिल या बुलबुले वाले पानी से आचमन न करे। अलग-अलग होठों से, विरल अँगुलियों से, खड़े-खड़े या हँसते हुए आचमन कदापि न करे। अँगूठे के मूल से तीन बार आचमन करे, दो बार उसे धोकर साफ करे। ब्राह्मणों के दाहिने हाथ में पाँच तीर्थों का वास है। उनके अँगूठे की जड़ में ब्रह्मतीर्थ, कनिष्ठिका की जड़ में प्रजापति, तर्जनी और अँगूठे के बीच के भाग में पितृतीर्थ, अँगुली के अग्रभाग में देवतीर्थ और बीच में अग्नितीर्थ हैं। पहले से जो पानी पीता है, उससे ऋग्वेद प्रसन्न होते हैं, उसी प्रकार दूसरे से यजुर्वेद, तीसरे से सामवेद, चौथे से अथर्ववेद, इतिहास और पुराण प्रसन्न होते हैं। अँगुलियों से पानी चुआने पर नाग, यक्ष, कुबेर और सभी वेद प्रसन्न होते हैं। पैरों के अभ्युक्षण से पितर प्रसन्न होते हैं। मुख-स्पर्श से अग्निदेव प्रसन्न होते हैं। नाक के छिद्र के स्पर्श से वायु प्रसन्न होते हैं। आँखों के स्पर्श से सूर्य प्रसन्न होते हैं। कानों के स्पर्श से दिशाएँ खुश होती हैं। नाभि के स्पर्श से ब्रह्मा, हृदय के स्पर्श से परमात्मा, शिर के स्पर्श से रुद्र और भुजाओं के स्पर्श से विष्णुदेव प्रसन्न होते हैं। मध्यमा और अनामिका से मुख का, तर्जनी और अँगूठे से नाक का, मध्यमा और अँगूठे से आँखों का, अनामिका और अँगूठे से कानों का, कनिष्ठा और अँगूठे से नाभि का, हाथ से हृदय का और सभी अँगुलियों से सिर का उपस्पर्श करना चाहिए। सभी देहधारियों में ब्राह्मण को सर्वदेवमय कहा गया है। कात्यायन के विचार से जो ब्राह्मण इस शौच-विधि का नियमतः पालन करता है, उसकी महिमा ब्रह्मलोक में प्रतिष्ठापित होती है।

इस प्रकार कात्यायनकृत परिशिष्ट-शौचसूत्र समाप्त ॥

श्रीकात्यायनोक्तं त्रिकण्डिकास्नानसूत्रम्

अथ नित्यस्नानसूत्रम्

अथातो नित्यस्नानं नद्यादौ मृद्गोमयकुशतिलसुमनस आहृत्योदकान्तं गत्वा शुचौ देशे स्थाप्य प्रक्षाल्य पाणिपादं कुशोपग्रहो बद्धशिखी यज्ञोपवीत्याचम्योरुदृहीति तोयमामन्त्र्यावर्तयेद्येतेशतमिति 'सुमित्रियान इत्यपोऽञ्जलिनादाय दुर्मित्रिया इति द्वेष्यं प्रति निषिञ्चेत्कटिं बस्त्यूरू जङ्घे चरणौ करौ मृदा त्रिस्त्रिः प्रक्षाल्याचम्य नमस्योदकमालभेदङ्गानि मृदेदं विष्णुरिति सूर्याभिमुखो निमज्जेदापो अस्मानिति स्नात्वोदिदाभ्य इत्युन्मज्य निमज्योन्मज्याचम्य गोमयेन विलिम्पेन्मानस्तोक इति ततोऽभिषिञ्चेदिमम्मे वरुणेति चतसृभिर्माप तदुत्तमं मुञ्चन्त्ववभृथेत्यन्ते चैतन्निमज्योन्मज्याचम्य दर्भैः पावयेदापो हिष्ठेति तिसृभिरिदमापो हविष्मतीर्द्देवीराप इति द्वाभ्यामपोदेवाद्रुपदादिव शन्नो देवीरपाᳪ रसमपोदेवीः पुनन्तुमेति नवभिश्चित्पतिर्मेत्योङ्कारेण व्याहृतिभिर्गायत्र्या चादावन्ते चान्तर्जलेऽघमर्षणं त्रिरावर्त्तयेद् द्रुपदादिवायङ्गौरिति वा तृचं प्राणायामं वा सशिरसमोमिति वा विष्णोर्वा स्मरणम् ॥ १ ॥

अग्निहोत्रिहरिहरविरचितं त्रिकण्डिकास्नानसूत्रव्याख्यानम् ।

श्रीगणेशाय नमः ॥ प्रणतोऽस्मि हरेरङ्घ्रिसरसीरुहमादरात् । यज्जगत्पावनं पाथः प्रासोष्टामरसैन्धवम् ॥ १ ॥ कात्यायनकृतस्नानविधेर्व्याख्यापुरःसराम् । विधास्ये पद्धतिं विद्वत्सदाचारद्विजप्रियाम् ॥ २ ॥ 'अथातो नित्यस्नानम्' अथ श्रौतस्मार्तक्रियाविधानानन्तरं यतस्ताः क्रियाः स्नानपूर्विका अतो हेतोर्नित्यं सन्ध्योपासनपञ्चमहायज्ञादिनित्यक्रियानुष्ठानाधिकारसम्पादकत्वेनावश्यकं स्नानं बहिः सर्वाङ्गजलसंयोगं विधास्यते इति 'सूत्रशेषः । तत्स्नानं कुत्र विधेयमित्यपेक्षायामाह—'नद्यादौ' । ननु 'मासद्वयं श्रावणादि सर्वा नद्यो रजस्वलाः । तासु स्नानं न कुर्वीत वर्जयित्वा समुद्रगाः' ॥ इति छन्दोगपरिशिष्टे नदीस्नाननिषेधात् कथं नद्याद्युच्यते ? सत्यम् । 'उपाकर्मणि चोत्सर्गे प्रेतस्नाने तथैव च । चन्द्रसूर्योपरागे च रजोदोषो न विद्यते' ॥ इत्यपवादवचनात् न दोषः । नदी आदिः प्रथमा मुख्या यस्य स्नानाधिकरणस्य देवखाततडागसरोगर्तह्रदप्रस्रवणादेरकृत्रिमजलाशयस्य स नद्यादिः तस्मिन्नद्यादावकृत्रिमजलाशये स्नानं कुर्यादिति यावत् । तत्र नदी कूलद्वयान्तर्गतयोजनाधिकभूभागप्रवाससलिला लोके नदीशब्देन प्रसिद्धा च । देवखातो देवनिर्मितत्वेन प्रसिद्धः ब्रह्मह्रदः । तडागो गदालोलप्रभृतिः । सर उत्तरार्कदण्डखातादि । गर्तो योजनभूभागपर्याप्तजलप्रवाहः । ह्रदोऽगाधोऽशोष्यो जलराशिरवस्थितः । प्रस्रवणं पर्वतादेः स्वतःप्रवृत्तो निर्झरः । अकृत्रिमासम्भवे पञ्चमृत्पण्डो-

द्धरणपूर्वकं कृत्रिमेऽपि जलाशये स्नायात् । एवं स्नानं तदधिकरणं चानुविधायेदानीं स्नानोपकरणपूर्वकं स्नानेतिकर्तव्यताविधानमुपक्रमते 'मृद्गोमयकुशतिलसुमनस आहृत्य' गोमयं च कुशाश्च तिलाश्च सुमनसश्च मृद्गोमयकुशतिलसुमनसस्ता आहृत्य स्वयमानीय शूद्रादन्येन वाऽऽहार्य तत्र मृदं शुचिदेशस्थां शर्कराश्मादिरहितामाखुकृष्टवल्मीकपांसुल-कर्दमवर्जितां, गोमयमरोगिण्यादिगवां शकृत्, कुशान् यवादि शुचिक्षेत्रादिसम्भवान्, तिलान् ग्राम्यान् आरण्यान्वा, सुमनसः पुष्पाणि सुगन्धीनि अगन्धोग्रगन्धप्रतिषिद्धवर्जि-तानि शतपत्रादिकानि बिल्वतुलसीप्रभृतिपत्राणि च । 'उदकान्तं गत्वा शुचौ देशे स्थाप्य' । उदकस्य पूर्वोक्तनद्यादिसम्बन्धिनः अन्तं समीपं गृहात् गत्वा तत्राप्यपद्रव्यरहिते शुचौ देशे वस्त्राद्यन्तर्हितायां भूमौ स्थाप्य मृदादीनि । अत्रासमासेऽपि ल्यप्प्रयोगश्छान्दसः, छन्दोवत्सूत्राणि भवन्तीति वचनात् । 'प्रक्षाल्य पाणिपादम्' प्रक्षाल्य मृदा जलेन च प्रकर्षेण क्षालयित्वा, किं, पाणी च पादौ च पाणिपादं द्वन्द्वश्च प्रणितूर्यसेनाङ्गानामिति सूत्रेणैकवचनम् । अत्र पाण्योरभ्यर्हितत्वात् पाणिशब्दस्य पूर्वनिपातः तेन विप्रो दक्षिण-पादोपक्रमेण पादौ प्रक्षाल्य तथैव पाणी प्रक्षालयेन्न पाठक्रमेण । 'कुशोपग्रहो बद्धशिखी यज्ञोपवीत्याचम्य' कण्ठादुत्तार्य सूत्रं तु कर्त्तव्यं क्षालनं द्विजैः । अन्यच्च सङ्ग्रहे— अभ्यङ्गे चोदधिस्नाने मातापित्रोः क्षयेऽहनि । कण्ठादुत्तार्य सूत्रं तु क्षालयेत्परिशो-धयेत् ॥ कुशाः त्रिप्रभृतयो दर्भस्तम्बा उपग्रहाः सव्यहस्ते धृता येन स कुशोपग्रहः । उपग्रहः पवित्रमप्युपलक्षयति । सव्यः सोपग्रहः कार्यो दक्षिणः सपवित्रक इति स्मृतेः ॥ तेनानन्तर्गर्भसाग्रप्रादेशमात्रदर्भदलद्वयात्मकपवित्रालङ्कृतदक्षिणहस्तो बहुकुशोपग्रहान्वित-सव्यहस्तः सन् । बद्धा शिखा चूडाऽस्यास्तीति बद्धशिखी । यज्ञोपवीतं ब्रह्मसूत्रम-स्यास्तीति यज्ञोपवीती । अत्र सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन चेति कात्यायन-स्मृतेर्बद्धशिखित्वयज्ञोपवीतित्वे प्राप्ते पुनर्वचनं केशबन्धनोत्तरीयवाससोर्निवृत्त्यर्थम् ।

यत्तु प्रेतस्पर्शिनां स्नाने एकवस्त्रा प्राचीनावीतिन इति पारस्करगृह्यस्मरणं न तत्स्नानान्तरे द्विवस्त्रताज्ञापकं यतोऽशुचिस्पर्शादिनिमित्तके स्नाने सवासा जलमाविशे-दित्यादिवचनैः प्रेतस्पर्शिनामपि स्नानेऽनेकवस्त्रताप्राप्तौ तत्पुन(रे ? रने)कवस्त्रतापरि-सङ्ख्यानार्थं न पुनः प्रेतस्नानव्यतिरिक्तस्नाने द्विवस्त्रताज्ञापकम् । यतो वक्ष्यति निष्पीड्य वस्त्रमिति । योगियाज्ञवल्क्योऽपि निष्पीड्य स्नानवस्त्रं त्विति स्नानवस्त्र-स्यैकत्वं स्मरति । अतः साधूक्तं यज्ञोपवीतीति पुनर्वचनमुत्तरीयवस्त्रव्युदासार्थमिति । तस्मान्नैमित्तिक एव स्नानेऽनेकवस्त्रता नान्यत्रेति स्थितम् ॥ आचम्य यथाशास्त्रमाच-मनं कृत्वा—'उरु६ हीति तोयमामन्त्र्यावर्तयेद्ये ते शतमिति' उरु६ हि राजेत्यनयर्चा तोयं सलिलमामन्त्र्याभिमुखीकृत्य ये ते शतमित्येतयर्चा तत्तोयं दक्षिणहस्तेन प्रदक्षिणं सकृदावर्त्तयेत् आलोडयेत् । 'सुमित्रियान इत्यपोऽञ्जलिनादाय दुर्मित्रिया इति द्वेष्यं प्रति निषिञ्चेत्' सुमित्रियान आप इति यजुषा अपो जलमञ्जलिना करद्वयपुटेनादाय उद्धृत्य दुर्मित्रियास्तस्मै सन्त्विति यजुषा द्वेष्यं शत्रुं प्रति निषिञ्चेत् । शत्रुं मनसा ध्यात्वा भूमौ प्रक्षिपेदित्यर्थः । द्वेष्याभावे कामाद्यरिषड्वर्गान्मनसाऽभिध्याय निषिञ्चेत् । 'कटिं बस्त्यूरू जङ्घे चरणौ करौ मृदा त्रिस्त्रिः प्रक्षाल्य' । कटिर्नाभिः पृष्टवंशस्य च समन्तात् ।

तस्या अधोभागो बस्तिः गुदमेढ्रयोरन्तरालम् । ऊरू बस्तितोऽधस्ताज्जानुपर्यन्तौ । जङ्घे जानुतोऽधस्तात् गुल्फपर्यन्ते । चरणौ गुल्फतोऽधस्तात् तलमभिव्याप्य पादौ । करौ मणिबन्धादारभ्य अन्तर्बहिरङ्गुल्यग्रावधी । मृदा सव्यहस्तगृहीतया तावत्कटिं सकृदालिप्य । प्रक्षालनशब्दसामर्थ्यात् अद्भिः सकृत्प्रक्षाल्य । तथैव द्वितीयम् । तथैव तृतीयम् । कटिं क्षालयित्वा । एवमेव त्रिर्बस्तिप्रभृतीनि क्रमेणैकैकशः प्रक्षाल्य । 'आचम्य नमस्योदकमालभेदङ्गानि मृदेदं विष्णुरिति' कटयाद्यधमाङ्गप्रक्षालनसम्भवात्प्रायश्चित्त(?)-शुद्धयर्थमाचमनं कृत्वा उदकाय नम इत्युदकं नमस्य नत्वा इदं विष्णुरित्येतयर्चा दक्षिणहस्ते गृहीतया मृदा मुखप्रभृतिनाभिपर्यन्तानि सव्यहस्तेस्थया नाभिमारभ्य पादपर्यन्तानि अङ्गानि गात्राणि आलभेत् अनुलिम्पेत् । अत्र नमस्येति छान्दसो ल्यप् । अत्रालभेदिति परस्मैपदं छान्दसम् । छन्दोवत् सूत्राणि भवन्तीति वचनात् । सूर्यस्याभिमुखो निमज्जेत् । ततः शनैर्जलाशयं प्रविश्य नाभिमात्रे स्थितः सूर्यस्याभिमुखः सन्निमज्जेत् । शिरसा जलमवगाहेत । इदं कात्यायनमतम् । यत्तु प्रवाहाभिमुखो मज्जेत् इति स्मृत्यन्तरं तदन्यशाखीयविषयम् । ननु कात्यायनवचनं स्थावरजलमज्जनविषयं स्मृत्यन्तरं तु प्रवाहजलविषयमिति व्यवस्था किं न स्यात् । मैवम् । यतः कात्यायनः स्नानं नद्यादावित्युपक्रम्य सूर्यस्याभिमुखो मज्जेदिति सामान्येन स्मरति । योगियाज्ञवल्क्योऽपि भास्कराभिमुखो मज्जेदिति । षट्त्रिंशन्मते, प्रवाहाभिमुखो मज्जेद् बह्वृचोऽथर्वसामगाः । यजुषां चैव सर्वेषां सूर्याभिमुखमज्जनम् । तस्मात्कात्यायनयोगियाज्ञवल्क्यमतानुवर्त्तिनां वाजसनेयिनां सर्वत्रोदकाशये स्नाने सूर्याभिमुखत्वम् ।

मज्जनप्रकारमाह—'आपो अस्मा···चम्य' । आपो अस्मान्मातर इति मन्त्रेण स्नात्वा मज्जित्वा । उदिदाभ्य इति मन्त्रान्ते उन्मज्ज्य उत्क्रम्य निमज्ज्य पुनः तूष्णीं स्नात्वा । उन्मज्ज्य तथैवोपक्रम्याचम्य उपस्पृश्य । 'गोमयेन विलिम्पेन्मानस्तोक इति' । दक्षिणकरगृहीतेन गोमयेन मूर्द्धप्रभृतिनाभिपर्यन्तं वामहस्तगृहीतेन नाभ्यादिपादपर्यन्तं शरीरं विलिम्पेत् । रौद्रमन्त्राभिधानादुदकं स्पृशेत् । 'ततोऽवभृथेति' ततोऽभिषिञ्चेदिमं मे वरुणेत्येवमादिभिः ४ सूत्रपाठक्रमेण पठितैरष्टाभिर्मन्त्रैः प्रतिमन्त्रं मूर्द्धानमभिषिञ्चेत् । अत्र पाठादेव गोमयानुलेपनानन्तरमभिषेके प्राप्ते ततः शब्देनानुलिप्तगात्रस्यैवाभिषेक इति गम्यते । अन्ते चैतत् एतदष्टर्चाभिषेचनमन्ते च भवति । सन्निधेरभिषेकोत्तरत्रानुष्ठेयस्य पावनस्यान्ते इत्यर्थः । निमज्ज्योन्मज्ज्याचम्य दर्भैः पावयेत् निमज्ज्य तूष्णीं स्नात्वाऽऽचम्य स्नानानन्तरं विहितमाचमनं कृत्वा दर्भैः त्रिभिः कुशस्तम्बैर्दक्षिणहस्तोपात्तैः प्रादक्षिण्येन नाभित ऊर्ध्वं पुनर्नाभि यावत्पावयेत् । पावनमन्त्रानाह—'आपो ··वन्ते च' । आपोहिष्ठेत्यादिभिश्चित्पतिर्मेत्यन्तैर्मन्त्रैः पावयेदित्यन्वयः । किञ्च ॐकारेण प्रणवेन व्याहृतिभिस्तिसृभिः गायत्र्या च तत्सवितुरित्येतयर्चा पावयेत् । कुत्र ? आदौ आपोहिष्ठेत्यादेः पावनस्य । तथाऽन्ते च, चित्पतिर्मा पुनात्वित्यस्यावसाने । अन्तर्जलेऽघमर्षणं त्रिरावर्त्तयेत् अन्तर्जले जलस्य मध्ये निमग्नः अघमर्षणम् ऋतञ्च सत्यञ्चेत्येतत्सूक्तं त्रीन्वारानावर्त्तयेत् अनुच्छ्वसन् जपेत् । 'द्रुपदास्मरणम्' यद्वा द्रुपदादिवेत्यादिकामृचं आयङ्गौरित्यादिकां वा तृचं प्राणायामं वा वक्ष्यमाणलक्षणम् । कथ-

म्भूतं सशिरसं सह शिरसा वर्त्तमानम् , आपोज्योतिरिति मन्त्रः शिरः । अनेन शिरोरहितोऽपि प्राणायामोऽस्तीति गम्यते । ॐ इति वाऽन्तर्जले त्रिरावर्त्तयेदित्यनुषङ्गः । अत्रैषां पक्षाणां शक्तिश्रद्धापेक्षया विकल्पः । उत्तमाधिकारिणं प्रत्याह । विष्णोर्वा स्मरणम् । विष्णोः परमात्मरूपेण सर्वव्यापकस्य स्मरणं ध्यानं वा कुर्यात् । इति स्नानविधेः प्रथमकण्डिकासूत्रार्थः ।। १ ।।

अथ पद्धतिः । तत्राष्टधा विभक्तस्याह्नश्चतुर्थे भागे मृदादीनि स्नानोपकरणान्याहृत्य नद्याद्युदकाशयं गत्वा तत्र तीरं प्रक्षाल्य मृद्गोमयकुशतिलसुमनसो निधाय मृद्भिरद्भिश्च पादौ हस्तौ च प्रक्षाल्य दक्षिणकरे साग्नं प्रादेशमात्रमनन्तर्गर्भं द्विपत्रं कृत्वा वामकरे त्रिप्रभृतिबहून् कुशानुपग्रहं धृत्वा बद्धशिखी यज्ञोपवीती एकवासा आचमनं कृत्वा उरु६ हिराजा इत्यादिकया विधश्चिदित्यन्तया शुनःशेपदृष्टया वरुणदेवतया त्रिष्टुभा ज्योतिष्टोमावभृथे यजमानवाचने विनियुक्तया तीर्थतोयमामन्त्र्य येतेशतमित्यादिकया स्वाहान्तया शुनःशेपदृष्टया वारुण्या त्रिष्टुभा तत्तोयमावर्त्तयेत् । सुमित्रियान इति यजुषा प्रजापतिदृष्टेनाब्दैवतेन तोयमञ्जलिना गृहीत्वा दुर्मित्रिया इति यजुषा प्रजापतिदृष्टेनाब्दैवतेनाञ्जलिस्थं जलं द्वेष्यं मनसा स्मृत्वा द्वेष्याभावे कामादीन् स्मृत्वा निषिञ्चेत् । ततो मृदं त्रेधा विभज्य एकस्माद्भागादल्पां मृदं वामकरेणादाय कटिमनुलिप्याद्भिः प्रक्षाल्य तथैव पुनर्द्विवारं प्रक्षाल्य एवमेव बस्तिम् ऊरू जङ्घे चरणौ करौ चैकैकशः प्रक्षाल्याचम्य उदकाय नम इति तीर्थोदकं नत्वा इदं विष्णुरित्यृचा मेधातिथिदृष्टया गायत्र्या वैष्णव्या दक्षिणपाणिगृहीतया मृदा मुखतो नाभिपर्यन्तं वामकरगृहीतया नाभितः पादपर्यन्तमङ्गान्यालिप्य शनैर्नाभिमात्रं जलं प्रविश्य सूर्याभिमुखं स्थित्वा आपो अस्मानिति मन्त्रेण प्रजापतिदृष्टेनात्यष्टिछन्दस्केनाब्दैवतेन दीक्षायां यजमानस्नाने विनियुक्तेन जले मज्जनम् । उदिदाम्य इति मन्त्रेण तद्दैवतर्षिछन्दस्केनोन्मज्जनम्, पुनस्तूष्णीं निमज्ज्योन्मज्ज्याचम्य पाणिभ्यां गोमयमादाय मानस्तोक इत्यृचा कुत्सदृष्टया ऐकरौद्रचा जगत्या शतरुद्रिये जर्तिलहोमे विनियुक्तया दक्षिणपाणिस्थेन गोमयेन मुखादिनाभ्यन्तं वामकरस्थेन नाभितोऽङ्घ्रिपर्यन्तं शरीरं विलिम्पेत् । इमं मे वरुणेत्यृचा शुनःशेपार्षया गायत्र्या वारुण्या चुलुकेन मूर्द्धानमभिषिच्य तथैव तत्त्वायामीति शुनःशेपदृष्ट्या त्रिष्टुभा वारुण्या तथा त्वन्नः सत्वन्न इत्येताभ्यां वामदेवर्षिभ्यां त्रिष्टुब्भ्यामाग्निवारुणीभ्यां प्रत्यृचम् मापोमौषधीर्हि६सीरित्येतावता यजुषा प्रजापतिदृष्टेन हृदयशूलदैवतेन उदुत्तममिति शुनःशेपदृष्टया त्रिष्टुभा वारुण्या मुञ्चन्तुमेति बन्धुदृष्टया अनुष्टुभा ओषधिदेवतया अवभृथनिचुम्पुण इति प्रजापतिदृष्टया यजुषा यज्ञदेवतयाऽभिषिञ्चेत् । ततस्तूष्णीं निमज्ज्याचम्य त्रिभिर्दर्भैर्दक्षिणकरधृतैः सोदकैर्नाभिमारभ्य प्रदक्षिणं नाभिपर्यन्तं वक्ष्यमाणैः प्रणवादिभिर्मन्त्रैरात्मानं पावयेत् ।

तत्र प्रणवस्य ब्रह्मऋषिः परमात्मादेवता गायत्रीछन्दः ब्रह्मारम्भविरामसर्वकर्मादिषु विनियोगः, व्याहृतीनां प्रजापतिऋषिरग्निवायुसूर्या देवता दैवानि गायत्र्युष्णिग्गायत्रीसंज्ञानि छन्दांसि (गायत्र्युष्णिगनुष्टुप्छन्दांसि) अग्न्याधाने विनियोगः । गायत्र्या विश्वामित्र ऋषिः सवितादेवता गायत्रीछन्दः गार्हपत्यस्योपस्थाने वि० । आपोहिष्ठेति

तिसृणां सिन्धुद्वीपऋषिः आपोदेवता गायत्रीछन्दः उषासम्भरणे पर्णकषायपक्वोदकासेके वि० । इदमाप इति प्रजापतिर्ऋषिः आपोदेवता त्र्यवसाना महापङ्क्तिश्छन्दः अन्त्यपादः पावमानः पशौ चात्वाले मार्जने वि० । हविष्मतीरिमा इति प्रजापतिर्ऋषिः आपो यजमानाध्वरसूर्याश्च देवता अनुष्टुप्छन्दः वसतीवरीणामपां ग्रहणे वि० । देवीरापो अपान्नपादिति प्रजापतिर्ऋषिः आपो देवता पङ्क्तिश्छन्दः अप्सु चतुर्गृहीताज्यहोमे वि० । कार्षिरसीति प्रजापतिर्ऋषिः आज्यमापश्च देवता अनुष्टुप्छन्दः आज्यप्रप्लावने वि० । अपोदेवा इति वरुणऋषिः आपो देवता त्रिष्टुप्छन्दः राजसूयेऽभिषेचनीयोषासम्भरणे वि० । द्रुपदादिवेति प्रजापत्यश्विसरस्वत्य ऋषयः आपोदेवता अनुष्टुप्छन्दः वासोऽपासने विनियोगः । शन्नोदेवीरिति दध्यङ्ङाथर्वण ऋषिरापो देवता गायत्रीछन्दः शान्तिकरणे वि० । अपा৺ रसमिति बृहस्पतिरिन्द्रश्च ऋषिः रसो देवता अनुष्टुप्छन्दश्चतुर्थवाजपेयग्रहणे वि० । अपोदेवीरिति सिन्धुद्वीपऋषिरापो देवता न्यङ्कुसारणीछन्द उत्खातोखानिर्माणार्थं मृद्भूमावपांसेके वि० । पुनन्तुमेति द्वयोः प्रजापत्यश्विसरस्वत्य ऋषयः पितरो देवता अनुष्टुप्छन्दः सौत्रामण्यां सुराग्रहशेषप्रतिपत्तिसमनन्तरं पवित्रहिरण्यसुराभिः ऋत्विग्यजमानानामात्मपावने वि० । अग्न आयू৺षीति प्रजापतिर्वैखानस ऋषिरग्निर्देवता गायत्रीछन्दः पुनन्तुमेति प्रजापत्यश्विसरस्वत्य ऋषयः देवजना धियो विश्वाभूतानि जातवेदाश्च देवता अनुष्टुप्छन्दः पवित्रेणेत्यादीनां पञ्चानां प्रजापत्यश्विसरस्वत्य ऋषयः प्रथमाया अग्निर्देवता गायत्रीछन्दः द्वितीयाया अग्निर्ब्रह्मा वा देवता तृतीयपादस्य ब्रह्मैव देवता गायत्रीछन्दः तृतीयायाः सोमो देवता गायत्रीछन्दः चतुर्थ्याः सवितादेवता गायत्रीछन्दः पञ्चम्या विश्वेदेवादेवता त्रिष्टुप्छन्दः पूर्वोक्तपावने वि० । चित्पतिर्मा वाक्पतिर्मा देवोमेति त्रयाणां यजुषाम् प्रजापतिर्ऋषिर्द्वयोः प्रजापतिर्देवता तृतीयस्य सवितादेवता दीक्षणीयायां यजमानपावने वि० । ॐकारादीनां पूर्ववत् अत्र पावने विनियोगः । उक्तरीत्या ऋष्यादीन् स्मृत्वा ॐपुनातु ॐभूः पुनातु ॐभुवः पुनातुः ॐस्वः पुनातु गायत्र्यन्ते सर्वं पुनातु ।

तत आपोहिष्ठेति प्रभृतिभिर्वैश्वदेवीपुनतीत्यन्ताभिर्ऋग्भिः प्रत्यृचं पावयित्वा चित्पतिर्मा पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः । तस्य ते पवित्रपते पवित्रपूतस्य यत्कामः पुने तच्छकेयमित्येवं पावयित्वा वाक्पतिर्मा पुनात्वच्छिद्रेणेत्यादि तच्छकेयमित्यन्तेन देवो मा सविता पुनात्वच्छिद्रेणेत्यादि तच्छकेयमित्यन्तेन पावयेत् । तत ॐपुनात्विति पूर्ववत्पावयित्वा पावनकुशान् परित्यज्य पूर्ववदिमं मे वरुणेत्याद्याभिरवभृथेत्यन्ताभिरष्टाभिर्ऋग्भिरभिषिच्यान्तर्जले निमग्न ऋतं च सत्यञ्चेति सूक्तमघमर्षणदृष्टं भाववृत्तिदैवतामानुष्टुभमश्वमेधावभृथे विनियुक्तं त्रिर्जपेत् । द्रुपदादिवेति प्रजापत्यश्विसरस्वतीदृष्टमापमानुष्टुभं सौत्रामण्यावभृथे वासोऽपासने विनियुक्तम् आयङ्गौरित्यृकं सार्पराज्ञीदृष्टामाग्नेयीं गायत्रीं प्राणायामं वा शिरःसहितम् ॐइति वा त्रिर्जपेत् । यद्वा परमात्मानमव्ययं विष्णुं स्मरेत् । ततस्तद्विष्णोरित्येतया मेधातिथिदृष्टया वैष्णव्याः गायत्र्या चषालोद्वीक्षणे विनियुक्तया त्रिः स्नात्वाऽऽचम्य निर्गच्छेत्, इति स्नानप्रयोगपद्धतिः ॥ १ ॥

अनुवाद—अब सूत्रकार प्रतिदिन स्नान करने की विधि का व्याख्यान करते हैं—यदि स्नाता किसी नदी में स्नान करना चाहे तो कुश, तिल, फूल, गोबर और मिट्टी लेकर जलाशय के समीप जाये। वहाँ तटवर्त्ती किसी पवित्र स्थान में हाथ के सभी सामानों को रख दे, फिर पानी से पैरों और हाथों को धोकर पवित्र होकर बायें हाथ में कुश की पंवित्री धारण करे, तत्पश्चात् शिखा बाँधकर शास्त्रोक्त विधि से आचमन कर 'उरुं हि राजा···' इत्यादि ऋचा को पढ़ते हुए जल के सामने जाये। फिर 'ये ते शतम्···' इस ऋचा को पढ़ते हुए दाहिने हाथ से प्रदक्षिणा विधि से पानी को हिलोरे। 'सुमित्रियान आपः···' प्रभृति मंत्र पढ़कर अञ्जलि में जल उठाये। पुनः 'दुर्मित्रियास्तस्मै···' इत्यादि मंत्र पढ़ते हुए मन ही मन अपने शत्रु का ध्यान करते हुए अञ्जलि के जल को धरती पर छिड़क दे। फिर कमर, पेड़ू, घुटने, जंघाओं, पैरों और हाथों को मिट्टी लगाकर तीन बार धोये। आचमन के बाद 'उदकाय नमः' कहकर जल को प्रणाम करे। 'इदं विष्णु···' इत्यादि ऋचा का पाठ करते हुए ढोंढ़ी से पैरों तक दाहिने हाथ से मिट्टी का लेप करे। इसके बाद धीरे-धीरे पानी में प्रवेश करे। 'आपो अस्मान्···' प्रभृति मंत्र पढ़ते हुए सूर्य की ओर मुँह कर स्नान करे। 'उदिदाभ्य···' इत्यादि मंत्रपाठ के बाद पानी से बाहर निकल आये। फिर चुपचाप जल में यथेच्छ स्नान करे। स्नानोपरान्त आचमन करे। फिर दायें-बायें दोनों हाथों में गोबर लेकर दायें हाथ के गोबर से कमर से ऊपर तथा बायें हाथ के गोबर से कमर के नीचे सभी अंगों में लेप करे। गोबर को देह में लगाते समय 'मानस्तोके···' इत्यादि मंत्र का पाठ करे। फिर चुल्लू में जल लेकर 'इमं मे वरुण···' इत्यादि मंत्र पढ़ते हुए सिर का अभिसिञ्चन करे। पुनः 'तत्त्वायामि' 'त्वन्नो अग्ने' 'सत्वन्नो अग्ने' 'आपो मौषधीर्हिंसी' 'उदुत्तमम्' 'मुञ्चन्तु मा' 'अवभृथनिचुम्पुण' प्रभृति ऋचाओं और यजुषों से अभिसिंचन करे। इस प्रकार सविधि स्नान कर जल से बाहर निकल आये। फिर मौनभाव से स्नानकर तीन कुशाओं को लेकर पहले नाभि से नीचे पुनः ऊपर अपने को पवित्र करे। इसके बाद 'आपो हिष्ठा' से लेकर 'चित्पतिर्मा' तक तथा ॐकार एवं तीन व्याहृतियों से युक्त 'तत्सवितुः' प्रभृति गायत्री मंत्र को 'आपो हिष्ठा' को आगे तथा 'चित्पतिर्मा' को पीछे रखकर पढ़े। जल के बीच में अघमर्षण सूक्त की तीन आवृत्तियों का पाठ करे। अथवा 'द्रुपदादिव' ऋचा को या 'आयङ्गौ' इस ऋचा को पढ़े। फिर प्राणायाम करे या केवल तीन बार 'ॐ' का ही जप करे। अथवा मात्र परमपिता परमात्मा विष्णु का ध्यान करे।

नित्यस्नान-विधि समाप्त।

अथ ब्रह्मयज्ञविधिः

उत्तीर्य धौते वाससी परिधाय मृदोरू करौ प्रक्षाल्याचम्य त्रिराचम्यासून् पुष्पाण्यम्बुमिश्राण्यूर्ध्वं क्षिप्त्वोर्ध्वबाहुः सूर्यमुदीक्षन्नुद्वयमुदुत्यं चित्रं तच्चक्षु-

रिति गायत्र्या च यथाशक्ति विभ्राडित्यनुवाकपुरुषसूक्तशिवसङ्कल्पमण्डलब्राह्मणैरित्युपस्थाय प्रदक्षिणीकृत्य नमस्कृत्योपविशेत् दर्भेषु दर्भपाणिः स्वाध्यायञ्च यथाशक्त्यादावारभ्य वेदम् ॥ २ ॥

(हरिहरभाष्यम्)—ततः किं कुर्यादित्याह—उत्तीर्य धौते वाससी परिधाय। एकपङ्क्त्युपविष्टानां भोजनेन पृथक् पृथक्। यद्येको लभते नीलीं सर्वे तेऽशुचयः स्मृताः ॥ यस्य पट्टे शुचौ तन्तुर्नीली रक्तो हि दृश्यते। त्रिरात्रोपोषणं देयं शेषाश्चैकोपवासिनः। एवमुक्तविधिना स्नात्वा उत्तीर्य जलाद् बहिर्निष्क्रम्य धौते अरजकप्रक्षालिते सदशे शुष्के शुक्ले अनग्निदग्धे अच्छिद्रे अस्यूते अमलिने गैरिकादिरागेणाविकृते कार्पासवाससी अन्तरीयोत्तरीये द्वे वस्त्रे परिधाय धृत्वा। अत्र यथादेशाचारं परिधानस्य विन्यासविशेषः प्रान्तद्वयगोपनेन। धौताभावे शाणक्षौमाविककुतपानामन्यतमे अभ्युक्षिते। द्वितीयवस्त्राभावे तृतीयमुपवीतं योगपट्टं वा कुशरज्जुं वा सूत्रं वा परिधानीयस्योत्तरार्धं वा उत्तरीयं कुर्यात्। 'मृदोरू करौ प्रक्षाल्याचम्य'। मृदा उदकेन च ऊरू पाणी च क्रमेण प्रक्षाल्याचम्य प्राङ्मुख उदङ्मुखो वा उपविश्य कुशपवित्रोपग्रहपाणिर्ब्राह्मतीर्थेन त्रिरप आचम्य सोदकेनाङ्गुष्ठमूलेन द्विर्मुखं प्रमृज्य सर्वाङ्गुलीभिरोष्ठौ स्पृष्ट्वा तर्जन्यङ्गुष्ठाभ्यां दक्षिणोत्तरे नासारन्ध्रे अनामिकाङ्गुष्ठाभ्यां दक्षिणोत्तरे अक्षिणी ताभ्यामेव दक्षिणोत्तरौ कर्णौ कनिष्ठाङ्गुष्ठाभ्यां नाभिं पाणितलेन हृदयं च कराग्रेण मूर्धानं दक्षिणोत्तरभुजमूले चोपस्पृशेत्। एवं द्विराचमनं विधाय शिष्टाचारपरिप्राप्तं गङ्गादितीर्थमृत्तिकयोर्ध्वपुण्ड्रं तिलकं ललाटे कुर्यात्। 'त्रिरायम्यासून्'। त्रिः त्रीन् वारान् असून् प्राणान् आयम्य सन्निरुध्य। प्राणनियमप्रकारश्च 'गायत्रीं शिरसा सार्धं जपेद् व्याहृतिपूर्विकाम्। प्रतिप्रणवसंयुक्तां त्रिरयं प्राणसंयमः' इति योगीश्वरेणोक्तो द्रष्टव्यः। 'पुष्पाण्यम्बुमिश्राण्यूर्ध्वं क्षिप्त्वा'। पुष्पाणि कुसुमानि तदभावे विल्वादिपत्राणि अम्बुना उदकेन मिश्राणि संयुक्तानि अञ्जलिनाऽऽदाय उत्थाय ऊर्ध्वमुपरि सूर्याभिमुखं क्षिप्त्वा उत्सृज्य प्रणवव्याहृतिपूर्विकया गायत्र्या। शौनकः—उभौ पादौ समौ कृत्वा पूरयेदुदकाञ्जलीन्। गोशृङ्गानूर्ध्वमुद्धृत्य जलमध्ये जलं क्षिपेत् ॥

पक्षान्तरे—ईषन्नम्रः प्रभातेषु मध्याह्ने ऋजुसंस्थितः। द्विजोऽर्घं प्रक्षिपेद्देव्या सायं तूपविशन् भुवि ॥ प्रातर्मध्याह्निकां सन्ध्यां तिष्ठन्नेव समापयेत्। उपविश्य तु सायाह्ने जले ह्यर्घं विनिक्षिपेत् ॥ 'ऊर्ध्ववाहुः···विशेत्'। ऊर्ध्वौ सूर्याभिमुखौ बाहू यस्य स ऊर्ध्वबाहुः सन् सूर्यमादित्युमुदीक्षन् पश्यन् उद्वयमित्यादिनोक्ताभिश्चतसृभिर्ऋग्भिस्तथा गायत्र्या यथाशक्ति सहस्रादिसङ्ख्यया आवृत्तया विभ्राडित्यनुवाकेन पुरुषसूक्तेन सहस्रशीर्षेत्यादिषोडशर्चेन शिवसङ्कल्पेन यज्जाग्रत इत्यादिना षड्चेन मण्डलब्राह्मणेन यदेतन्मण्डलं तपतीत्यादिनोपस्थाय सूर्यं स्तुत्वा तमेव प्रदक्षिणीकृत्य नमस्कृत्य कायवाङ्मनोभिः प्रणम्योपविशेत् आसीत। एवं त्रिरायम्यासून् इत्यारभ्य उपविशेदित्यन्तेन सूत्रसन्दर्भेण कात्यायनाचार्येण सन्ध्योपासनमुक्तं तत् काण्वमाध्यन्दिनानां स्वगृह्योक्तत्वात् शास्त्रानुष्ठानसिद्धिकरम्। यत्पुनः शाखान्तराधिकरणन्यायेनेदमेव कल्पतरुकारप्रभृतिभिर्निबन्धकारैराह्निकपद्धतिकारैश्च स्मृत्यन्तरोक्तसन्ध्योपासनविधिसमुच्चितं लिखितं

तत्सर्वशाखाध्येतृसाधारणत्वात्सर्वशाखिनामनुष्ठानमुचितम् । 'दर्भेषु···वेदम्' । दर्भेषु प्रशस्तदारुनिर्मितासनोपरिनिहितेषु प्रागग्रेषु उदगग्रेषु वा त्रिषु कुशेषु आसीनः प्राङ्मुख उदङ्मुखो वा दर्भपाणिः दर्भाः पवित्रोपग्रहव्यतिरिक्ताः पाण्योर्यस्यासौ दर्भपाणिः स्वाध्यायं ब्रह्मयज्ञं यथाशक्ति शक्तिमनतिक्रम्य कुर्यात् । किं ? कृत्वा आरम्य उपक्रम्य, कम् ? वेदं मन्त्रब्राह्मणात्मकम् । कुतः ? आरम्य आदौ आदितः इषेत्वोर्जेत्वेत्यस्मात् । अत्र वेदमित्येकवचनादनेकवेदाध्यायिनोऽप्येकं वेदमारभ्य प्रतिदिनं उपर्युपर्यध्ययनेन समाप्यान्यं वेदमारभ्य तथैव समाप्य अथर्वपुराणेतिहासादीन्यपि तथैवादित आरभ्यैकैकं समाप्यापरमपरमारभ्य समापयेत् न पुनर्यदृच्छया एकदेशमेकदेशम्, आदावारभ्येति नियमात् वेदशब्दोऽत्रोपलक्षणार्थः । यथाह याज्ञवल्क्यः—वेदाथर्वपुराणानि सेतिहासानि शक्तितः । जपयज्ञप्रसिद्ध्यर्थं विद्याञ्चाध्यात्मिकीं जपेत् ॥ इति । स चायं जपयज्ञः कालान्तरेऽपि स्मर्यते । यश्च श्रुतिजपः प्रोक्तो ब्रह्मयज्ञस्तु स स्मृतः । स चार्वाक् तर्पणात्कार्यः पश्चाद्वा प्रातराहुतेः । वैश्वदेवावसाने वा नान्यत्रेत्यनिमित्तिकादिति छन्दोगपरिशिष्टोक्तेः । इति द्वितीयकण्डिकासूत्रार्थः ॥ २ ॥

अथ प्रयोगः । निर्गम्य पादौ जले स्थले च कृत्वा द्विराचम्य धौते वस्त्रे परिधाय मृदाऽद्भिश्च ऊरू करौ प्रक्षाल्य श्रीपर्णादिप्रशस्तदारुनिर्मिते कुशत्रयाच्छन्ने सुप्रक्षालिते आसने प्रागास्य उदगास्यो वाऽऽसीन उक्तलक्षणपवित्रोपग्रहः सुवर्णरौप्यालङ्कृतपाणियुगल उक्तेन विधिना द्विराचम्य भगवन्तं परमात्मस्वरूपं नारायणं संस्मृत्य सन्ध्योपासनमारभेत् । तद्यथा—ॐकारस्य ब्रह्माऋषिः परमात्मादेवता गायत्रीछन्दः सर्वकर्मारम्भे विनियोगः । भूरादिसप्तव्याहृतीनां प्रजापतिर्ऋषिः अग्निर्वायुः सूर्यो बृहस्पतिर्वरुण इन्द्रो विश्वेदेवा देवताः गायत्र्युष्णिगनुष्टुप्बृहतीपङ्क्तित्रिष्टुप्जगत्यश्छन्दांसि, तत्सवितुरिति विश्वामित्रऋषिः सवितादेवता गायत्रीछन्दः, आपोज्योतिरिति प्रजापतिर्ऋषिः ब्रह्माग्निवायुसूर्या देवताः द्विपदागायत्रीछन्दः सर्वेषां प्राणायामे विनियोगः । इत्युक्त्वा प्राणवायुं नियम्य ॐभूः ॐभुवः ॐस्वः ॐमहः ॐजनः ॐतपः ॐसत्यम् ॐतत्सवि॰ दयात् ॐआपोज्योतीरसोऽमृतं ब्रह्मभूर्भुवः स्वरोम् । एवं नवधावृत्य ॐउपात्तदुरितक्षयाय मध्याह्नसन्ध्यामहमुपास्ये इति प्रतिज्ञाय । ॐआयाहि वरदे देवि त्र्यक्षरे रुद्रवादिनि । सावित्रिच्छन्दसां माता रुद्रयोने नमोऽस्तु ते ।

इति मन्त्रेण सन्ध्यामावाह्य । आपः पुनन्त्विति मारीचकश्यपऋषिः आपो देवता अनुष्टुप्छन्दः आचमने विनि॰ । आपः पुनन्तु पृथिवीं पृथिवी पूता पुनातु माम् । पुनन्तु ब्रह्मणस्पतिर्ब्रह्मपूता पुनातु माम् । यदुच्छिष्टमभोज्यं यद्वा दुश्चरितं मम । सर्वं पुनन्तु मामापोऽसताञ्च प्रतिग्रहꣳस्वाहा इत्यनेन मन्त्रेण सकृदप आचम्य स्मार्त्तमाचमनं कृत्वा कुशानादाय । आपोहिष्ठेति तृचस्य सिन्धुद्वीपऋषिः आपोदेवता गायत्रीछन्दः पर्णकषायपक्वोदकासेके वि॰ इति स्मृत्वा कुशाग्रेण ताभिरद्भिः आपोहिष्ठामयोभुव इत्यादितृचस्य नवभिः पादैः प्रतिपादं शिरोऽभिषिञ्चेत् । ततो द्रुपदादिवेति प्रजापत्यश्विसरस्वत्य ऋषयः आपो देवता अनुष्टुप्छन्दः सौत्रामण्यवभृथे वासोपासने वि॰ इत्यभिधाय चुलुकेन जलमादाय तस्मिन्नासाग्रं निधाय द्रुपदादिवमुमुचान॰ मैनस इति जपित्वा

तज्जलं भूमावुत्सृज्य, ऋतञ्चसत्यञ्चेति अघमर्षणऋषिः भाववृत्तिर्देवता अनुष्टुप्छन्दः अश्वमेधावभृथे वि० इत्युक्त्वा चुलुकजले नासाग्रमाधाय 'ॐऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत। ततो रात्रिरजायत ततः समुद्रो अर्णवः। समुद्रादर्णवादधिसंवत्सरो अजायत। अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी। सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः' इति जपित्वा जलं भूमावुत्सृज्य पुष्पाणि पत्राणि वा अम्बुमिश्राण्यञ्जलिनाऽऽदायोत्थाय सप्रणवव्याहृतिकां गायत्रीं पठित्वा आदित्याभिमुखान्यूर्ध्वं क्षिप्त्वा बाहू सूर्याभिमुखावुत्क्षिप्य उद्वयमिति प्रस्कण्वऋषिः सूर्यो देवता अनुष्टुप्छन्दः जलादुत्क्रमणे वि०। उदुत्यमिति प्रस्कण्वऋषिः सूर्यो देवता गायत्रीछन्दः दक्षिणहोमे वि०। चित्रंदेवानामिति कुत्स आङ्गिरस ऋषिः सूर्यो देवता त्रिष्टुप्छन्दः दक्षिणहोमे वि०। तच्चक्षुरिति दध्यङ्ङाथर्वणऋषिः सूर्यो देवता एकाधिकाब्राह्मीत्रिष्टुप् व्यूहेनात्यष्टिर्वा छन्दः महावीरशान्तिकरणे वि० इत्यभिधाय उद्वयमुदुत्यं चित्रं तच्चक्षुरित्येताभिर्ऋग्भिः सूर्यमुपस्थाय, तेजोऽसीति यजुः परमेष्ठी प्रजापतिर्ऋषिः आज्यं देवता आज्यावेक्षणे गायत्र्यावाहने वि० इत्युक्त्वा गायत्र्यस्येकपदी द्विपदी त्रिपदी चतुष्पद्यपदसि नहिपद्यसे नमस्ते तुरीयाय दर्शताय पदाय परोरजसे सावदोमा प्रापदिति गायत्रीमुपस्थाय, प्रणवस्य परब्रह्मऋषिः परमात्मादेवता गायत्रीछन्दः व्याहृतीनां प्रजापतिर्ऋषिः अग्निवायुसूर्या देवता दैवानि गायत्र्युष्णिग्गायत्रीसंज्ञानि छन्दांसि गायत्र्या विश्वामित्रऋषिः सवितादेवता गायत्रीछन्दः अग्निर्मुखं ब्रह्मा हृदयं विष्णुः शरीरं साङ्ख्यायनगोत्रं सर्वपापक्षयार्थे जपे वि० इत्युक्त्वाऽर्कमीक्षमाणो मन्त्रार्थमनुस्मरन् अविक्षिप्तचित्तः स्फटिकपद्माक्षरुद्राक्षपुत्रजीवकुशग्रन्थिहस्तपर्वणां पूर्वपूर्वाभावे उत्तरोत्तरया जपमालया प्रणवव्याहृतिपूर्वां प्रणवान्तां गायत्रीं सहस्रकृत्वः शतकृत्वो वा शक्तितो जपित्वा विभ्राडित्यादीनाञ्चतुर्दशानां विभ्राट्प्रस्कण्वागस्त्यश्रुतकक्षसुकक्षप्रस्कण्वकुत्सजमदग्निनृमेधकुत्सहिरण्यस्तूपाङ्गिरसा ऋषयः सूर्यदैवता प्रथमा जगती आद्यास्तिस्रो गायत्र्यः आनस्त्रिष्टुप् यद्द्येति बृहद्गायत्री तरणिर्विश्वतत्सूर्यस्य द्वे त्रिष्टुभौ बण्महां द्वे बृहतीसतोबृहत्यौ श्रायन्त बृहती अद्या देवागायत्री आकृष्णेन त्रिष्टुप् तम्प्रत्नथेति प्रतीकोक्तानां द्वयोः प्रजापतिर्ऋषिस्तृतीयायाः कुत्सः प्रथमाजगती द्वितीयातृतीये त्रिष्टुभौ सर्वमेधे सूर्यसंस्तवे तृतीये हविर्ग्रहणे वि०।

सहस्रशीर्षेति षोडशानां नारायणपुरुष ऋषिः पुरुषो देवता पञ्चदशानामनुष्टुभ् षोडश्यास्त्रिष्टुप्छन्दः पुरुषमेधे पशुत्वेन नियुक्तानां पुरुषाणां ब्रह्मणा प्रयुक्ताभिष्टवे वि०। यज्जाग्रत इति षण्णां शिवसङ्कल्पऋषिः मनो देवता त्रिष्टुप् छन्दः अनारभ्याधीतत्वात्कात्यायनवचनाच्च आदित्योपस्थाने वि०। मण्डलब्राह्मणस्य ब्राह्मणत्वादच्छन्दस्कस्यादित्योपस्थाने वि०। इत्यभिधाय विभ्राडित्यनुवाकपुरुषसूक्तशिवसङ्कल्पमण्डलब्राह्मणैरुपांशु पठित्वा सूर्यमुपस्थाय प्रदक्षिणीकृत्य नमस्कृत्योपविशेदिति स्मृत्यन्तरोक्तसमुच्चयेन कात्यायनसूत्रविहितं मध्याह्नसन्ध्योपासनम्। केवलकात्यायनसूत्रविहितं तु प्राणायामाञ्जलिप्रक्षेपादित्योपस्थानं त्रिकण्डिकासूत्रमात्रानुसारिणां शास्त्रार्थानुष्ठानमात्रकरणम्। बह्वल्पं वा स्वगृह्योक्तं यस्य यावत्प्रकीर्तितम्। तस्य तावति शास्त्रार्थे

कृते सर्वः कृतो भवेत् ॥ इति स्मृतेः । अथ ब्रह्मयज्ञं कुर्यात् । आसनोपरि न्यस्तेषु प्रागग्रेषु दर्भेषु प्राङ्मुख उपविष्टः पाणिभ्यां दर्भानादाय इषेत्वेत्यादिकस्य खं ब्रह्मान्तस्य माध्यन्दिनीयस्य वाजसनेयकस्य यजुर्वेदाम्नायस्य विवस्वानृषिः वायुर्देवता गायत्र्यादीनि सर्वाणि छन्दांसि ब्रह्मयज्ञे वि० । इत्यभिधाय प्रणवं व्याहृतीर्गायत्रीमाम्नायस्वरेणाधीत्य इषेत्वोर्जेत्वेत्यादितो वेदमारभ्यानुवाकशोऽध्यायशो यजुषो वा संहितां ब्राह्मणं चाध्यायशो ब्राह्मणशो वा प्रणवावसानं यथाशक्ति प्रत्यहमधीयानो मन्त्रं ब्राह्मणं च समाप्य पुनरेवमेवारभ्य समापयेत् । प्रणवव्याहृतिगायत्रीपूर्वकं तु प्रतिदिनं पठेत् । एवमितिहासपुराणादीन्यपि ब्रह्मयज्ञसिद्धये जपेत् । तत्राप्याध्यात्मिकीं जपेदिति योगीश्वरेण पृथगभिधानात् । अत्रानध्यायो नास्ति । नास्ति नित्येष्वनध्याय इति वचनात्, नित्यश्च ब्रह्मयज्ञः । इति ब्रह्मयज्ञविधिः ॥

अनुवाद—इस प्रकार स्नानोपरान्त पानी से बाहर निकल कर धुली हुई धोती और दुपट्टा धारण करे । मिट्टी लगाकर हाथ-पैर को पुनः धो ले। फिर तीन बार आचमन कर तीन प्राणायाम करे । अञ्जलि में जल-फूल लेकर अर्पण-विधि से सूर्य-दर्शन करने के बाद हाथ के उस फूल व जल को धरती पर गिरा दे । पुनः दोनों बाँहें ऊपर उठाकर भगवान् सूर्य को देखते हुए 'उद्वयन्त०' 'उदुत्यम्०' 'चित्रं द्यावा०' 'तच्चक्षुः०' इत्यादि चार ऋचाओं का पाठ करे । इसके बाद यथेच्छ गायत्रीमंत्र का जप करे । इसके बाद 'विभ्राड्०' अनुवाक, पुरुषसूक्त, शिवसंकल्पसूक्त तथा यदेतन्मण्डलं तपति, प्रभृति मंत्रोच्चार करते हुए सूर्य की स्तुति करे । फिर सूर्य की प्रदक्षिणा कर उन्हें प्रणाम करे । तत्पश्चात् पूर्व या उत्तर की ओर मुँह कर कुश की चटाई पर बैठ जाये तथा हाथ में कुश कि अँगूठी पहन कर वेदाध्ययन से यथाशक्ति निज स्वाध्याय अर्थात् ब्रह्मयज्ञ करे ।

ब्रह्मयज्ञ-विधि समाप्त ।

अथ तर्पणविधिः

ततस्तर्पयेद् ब्रह्माणं पूर्वं विष्णुꣳ रुद्रं प्रजापतिं देवाँश्छन्दाꣳसि वेदानृषीन् पुराणाचार्यान् गन्धर्वानितराचार्यान्त्संवत्सरञ्च सावयवं देवीरप्सरसो देवानुगान्नागान्सागरान्पर्वतान्सरितो मनुष्यान् यक्षान् रक्षाꣳसि पिशाचान्त्सुपर्णान् भूतानि पशून् वनस्पतीनोषधीर्भूतग्रामश्चतुर्विधस्तृप्यतामिति ॐकारपूर्वं ततो निवीती मनुष्यान् । सनकञ्च सनन्दनं तृतीयञ्च सनातनम् । कपिलमासुरिञ्चैव वोढुं पञ्चशिखं तथा । ततोऽपसव्यं तिलमिश्रं कव्यवाडनलꣳ सोमं यममर्यमणमग्निष्वात्तान् सोमपो बर्हिषदो यमांश्चके । यमाय

धर्मराजाय मृत्यवे चान्तकाय च। वैवस्वताय कालाय सर्वभूतक्षयाय च। औदुम्बराय दध्नाय नीलाय परमेष्ठिने। वृकोदराय चित्राय चित्रगुप्ताय वै नम इति 'एकैकस्य तिलैर्मिश्राँस्त्रींस्त्रीन्दद्याज्जलाञ्जलीन्। यावज्जीवकृतं पापं तत्क्षणादेव नश्यति, जीवत्पितृकोऽप्येतानन्याँश्चेतर उदीरतामङ्गिरस आयन्तु न ऊर्ज्जं वहन्ती पितृभ्यो ये चेह मधुव्वाता इति तृचञ्जपन् प्रसिञ्चेत्तृप्यध्वमिति त्रिर्नमो व इत्युक्त्वा मातामहानाञ्चैवं गुरुशिष्यर्त्विग्ज्ञातिबान्धवानर्तर्पिता देहाद्रुधिरं पिबन्ति वासो निष्पीड्याचम्य ब्राह्मवैष्णवरौद्रसावित्रमैत्रवारुणैस्तल्लिङ्गैरर्चयेददृश्रं हंस इत्युपस्थाय प्रदक्षिणीकृत्य दिशश्च देवताश्च नमस्कृत्योपविश्य ब्रह्माग्निपृथिव्योषधिवाग्वाचस्पतिविष्णुमहद्भ्योऽद्भ्योऽपाम्पतये वरुणाय नम इति सर्वत्र संवर्चसेति मुखं विमृष्टे देवागातुविद इति विसर्जयेदेष स्नानविधिरेष स्नानविधिः ॥३॥

इति श्रीकात्यायनोक्तं त्रिकण्डिकास्नानसूत्रं समाप्तम्।

(हरिहरभाष्यम्)—एवं कृतब्रह्मयज्ञः किं कुर्यादित्यत आह—'ततस्तर्पयेद् ब्रह्माणं पूर्वमित्यादि'। तर्पयेत् प्रीणयेत् कम्? ब्रह्माणम्, कथम्? पूर्वम् आदौ, केषाम्? विष्णुमित्यादीनां भूतग्रामान्तानां देवानाम्। अत्र तर्पयेद् ब्रह्माणमिति तर्पणक्रियायाः कर्मभूतान् ब्रह्मादीनुद्देश्यत्वेन द्वितीयया अभिधाय भूतग्रामश्चतुर्विधस्तृप्यतामिति प्रथमया प्रयोगमाचार्यो दर्शयति, ततश्च ॐब्रह्मा तृप्यतामित्येवं तर्पणप्रयोगः। 'ततो निवीती मनुष्यान्'। ततो देवतर्पणानन्तरं निवीती कण्ठसंसक्तब्रह्मसूत्रः सन् मनुष्यान् दिव्यान् मानवान् तर्पयेदिति पूर्वोक्तेनाख्यातेनानुषङ्गः। के ते मनुष्याः? इत्यपेक्षायामाह—सनकञ्चेत्यादिना श्लोकेन सप्त। 'ततोऽपसव्यं तिलमिश्रम्'। ततो मनुष्यतर्पणानन्तरमपसव्यं प्राचीनावीतं कृत्वा तिलमिश्रं तिलैः संयुक्तं जलं गृहीत्वा तर्पयेदिति सम्बन्धः। कांस्तर्पयेदित्याह कव्यवाडनलमित्यादिना बर्हिषद इत्यन्तेन सूत्रेण पठितान्। तत्र कव्यं पित्र्यं हविर्वहतीति कव्यवाड् अनलोऽग्निः कव्यवाट् चासौ अनलश्चेति कव्यवाडनलस्तम्। अत्र केचित् कव्यवाहमनलमिति द्वे देवते मन्यन्ते। तदयुक्तम्। हव्यवाहनो वै देवानां कव्यवाहनः पितॄणामिति श्रुतेः कव्यवाड्गुणविशिष्टोऽनलः पितॄणामन्तर्गत इति कव्यवाडनल एकैव देवता। 'यमांश्चैके'। एके आचार्याः यमांश्च तर्पयेदित्याहुः। तद्यथा—यमाय धर्मराजायेत्येवमादिनोक्तान्। पितृतर्पणेऽञ्जलिसङ्ख्यामाह—एकैकस्य तिलैर्मिश्रान् त्रींस्त्रीन्दद्याज्जलाञ्जलीन्। 'यावज्जीवकृतं पापं तत्क्षणादेव नश्यति'। एकैकस्य प्रत्येकं कव्यवाडनलादेः तिलैः कृष्णैः मिश्रान् संयुक्तान् त्रींस्त्रीन् त्रित्वसङ्ख्योपेतान् जलाञ्जलीन् जलेन पूर्णा अञ्जलयो जलाञ्जलयस्तान्। अस्य तर्पणस्य नित्यत्वेऽप्यानुषङ्गिकं फलमाह—यावज्जीवकृतं जन्मत आरभ्य यावत्तर्पणदिनं कृतम् आचरितं पापम् अशुभं कर्म तत्क्षणादेव तर्पणसमनन्तरमेव नश्यति क्षीयते। 'जीवत्पितृको-

ऽप्येतानन्यांश्चेतरः' । जीवन् विद्यमानः पिता जनको यस्य सोऽपि एतान् पूर्वोक्तान्ब्रह्मादीन् चित्रगुप्तान्तान् तर्पयेदिति गतेन सम्बन्धः ।

इतरः जीवत्पितृकादन्यो मृतपितृकः अन्यान् एतेभ्योऽपरान् पित्रादीन् चकारादेतान् ब्रह्मादींस्तर्पयेत् । तर्पणवाक्यानि प्रयोगे वक्ष्यन्ते । तत्र पितृपितामहप्रपितामहान् तर्पयित्वा प्रसेकाख्यं कर्म कुर्यादित्याह—'उदीरतामङ्गिरस आयन्तुन उर्जं वहन्ती पितृभ्यो ये चेह मधुव्वाता इति तृचञ्जपन् प्रसिञ्चेत्' उदीरतामित्यादिप्रतीकोक्ताः षडृचः मधुव्वाता इति तृचः एवन्नवर्चो जपन् उपांशु आम्नायस्वरेण पठन् प्रसिञ्चेत्, अञ्जलिगृहीता अपः पितृतीर्थेन तर्पणजलाधिकरणे प्रक्षिपेत् । तृप्यध्वमिति त्रिः । तथा तृप्यध्वमिति प्रसेकमुक्त्वा त्रिः प्रसिञ्चेत् । अत्र केचिदुदीरतामित्यादिकानामृचां पित्रादितर्पणे अञ्जलिदानकरणत्वं मन्यन्ते । तदसाम्प्रतम् । सूत्रार्थपर्यालोचनेन करणताया अप्रतीतेः, कथं जपन् प्रसिञ्चेदित्यत्र जपन्निति शतृप्रत्ययेन मन्त्रान् जपता सता सततं जलप्रसेकः कार्यं इति हि सूत्रार्थः प्रतीयते । करणत्वे तु मन्त्रान्तैः कर्मा(न्तः ? दिः) सन्निपात्य इति परिभाषया मन्त्रे समाप्तेऽञ्जलिर्देयः, तथा च सति जप(न्)-शब्दस्य शतृप्रत्ययस्य वानर्थक्यप्रसङ्गः प्रत्येकशब्दस्य दानार्थताकल्पना च तस्मात्प्रसेकाख्यमिदं कर्मान्तरम् ।

तथा च योगियाज्ञवल्क्यः—पितॄन् ध्यायन्प्रसिञ्चेद्वै जपन्मन्त्रान् यथाक्रममिति । 'नमोव' इत्युक्त्वा मातामहानाञ्चैवं गुरुशिष्यर्त्विग्ज्ञातिबान्धवान् । नमोवः पितरो रसायेत्यादीन्यष्टौ यजूंषि उक्त्वा पठित्वा मातामहानां मातुः पितृपितामहप्रपितामहानां च एवम् एकैकस्य तिलैर्मिश्रमञ्जलित्रयेण तर्पणं कृत्वा गुर्वादयोऽपि एकैकाञ्जलिना तर्प्याः । तत्र गुरुम् आचार्यमुपनयनपूर्वकवेदाध्यापकम् । मनुः—उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः । साङ्गञ्च सरहस्यञ्च तमाचार्यम्प्रचक्षते ॥ इति । ऋत्विजो याजकान् ज्ञातीन् पितृव्यभ्रात्रादिसपिण्डसगोत्रान् बान्धवान् मातुलेयपैतृष्वसेयमातृष्वसेयादीन् । 'अतर्पिता देहाद्रुधिरं पिबन्ति' । एते पूर्वोक्ता ब्रह्मादयः अतर्पिताः सन्तः देहात् अतर्पयितुः शरीरात् रुधिरं पिबन्ति तर्पणाकरणजप्रत्यवायाद् देहस्य रुधिरशोषणं भवतीत्यर्थः । एतदनिष्टापत्तिवचनं तर्पणस्यावश्यकरणीयत्वज्ञापनार्थम् । 'वासो निष्पीड्याचम्य वृहत्पाराशरः' । निष्पीडयेत्स्नानवस्त्रं तिलदर्भसमन्वितम् । न पूर्वं तर्पणाद्वस्त्रं नैवाम्भसि न पादयोः ॥ इति । स्नानवासो निष्पीड्य आचम्य पूर्ववत्, एवं तर्पणं विधाय तदन्ते स्थले वासो निष्पीड्याचम्य । निष्पीडयति यः पूर्वं स्नानवस्त्रमतर्पिते । निराशाः पितरो यान्ति शापं दत्वा सुदारुणम् ॥ द्वादश्यां पञ्चदश्याञ्च सङ्क्रान्तौ श्राद्धवासरे । वस्त्रं निष्पीडयेन्नैव न च क्षारेण योजयेत् ॥ एतत्तु तर्पणं प्रातःस्नानानन्तरं प्रातःकार्यम् । तदा न कृतञ्चेन्मध्याह्नस्नानानन्तरङ्कार्यम् । मध्याह्ने मन्त्रस्नानं न कृतञ्चेत् तदाऽपराह्णादिषु स्नानङ्कृत्वा कुर्यात् ।

पूर्वाह्णो वै देवानां मध्यन्दिनो मनुष्याणामपराह्णः पितृणामिति श्रुतिस्तर्पणातिरिक्तविषया । प्रातश्चेत्कृतं तर्पणं मध्याह्नादिषु न कर्तव्यमेव । स्नानाङ्गतर्पणं तु वैध-

स्नानानन्तरङ्कार्यम् । देवतापूजामाह—'ब्राह्म'''येत्' । ब्राह्मश्च वैष्णवश्च रौद्रश्च सावित्रश्च मैत्रश्च वारुणश्च ब्राह्मवैष्णवरौद्रसावित्रमैत्रवारुणास्ते तथा । कीदृशैस्तल्लिङ्गैः तेषां ब्रह्मादीनां लिङ्गं प्रकाशनसमर्थं पदं येषु ते तल्लिङ्गाः तैस्तल्लिङ्गैः । ननु ब्राह्मेत्यादिना देवतातद्धितेन तल्लिङ्गत्वे प्राप्ते पुनस्तल्लिङ्गैरिति किमर्थम् ? उच्यते । श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्याभिमन्त्राद्यङ्गविनियोगो भवति सर्वत्र, अत्र तु लिङ्गमेव विनियोजकं येषां ते ग्राह्या इत्यर्थकम् । तल्लिङ्गैरिति मन्त्रैरर्चयेत् ब्रह्मविष्णुरुद्रसवितृमित्रवरुणान् पृथक् पूजयेत् आवाहनादिभिरुपचारैः । 'अदृ'''येत्' । अदृश्रमस्य केतव इति हृ६-सः शुचिषदित्येताभ्यामृग्भ्यामादित्यं भगवन्तं विवस्वन्तमुपस्थाय प्रदक्षिणमावृत्य दिशः प्राच्याद्या देवताश्च सन्निधानाद्दिशामधिष्ठात्रीरिन्द्राद्या नमस्कृत्य मन्त्राणामनभिधानान्नाममन्त्रैर्नमोयोगाच्चतुर्थ्यन्तैः प्रणम्य उपविश्य आसित्वा ब्रह्मादिवरुणान्तेभ्यो देवेभ्यो नमस्कृत्य योगियाज्ञवल्क्यवचनादुदकदानसहितं संवर्चसेति मन्त्रेणाञ्जलिना जलमादाय मुखमास्यं विमृष्टे शोधयति, देवागातुविद इति मन्त्रेण स्नानादिकर्माङ्गभूता देवता विसर्जयेत् स्वस्थानं गमयेत् ।

'एष स्नानविधिः'—अत्राचार्यो माध्याह्निकक्रियाङ्गस्नानेतिकर्तव्यतामभिधाय इदानीमेष स्नानविधिरित्यनेन स्नानान्तरेऽपि मलापकर्षणाशुचिस्पर्शनादिनैमित्तिकस्नानव्यतिरिक्ते एष एव विधिरितिकर्तव्यतेत्यतिदिशति, स च नद्यादौ जलाशये वा । यथाऽऽह कात्यायनश्छन्दोगपरिशिष्टे—यथाऽहनि तथा प्रातर्नित्यं स्नायादनातुरः । दन्तान् प्रक्षाल्य नद्यादौ गेहे चेत्तदमन्त्रवत् ।। इति । अत्र माध्याह्निकस्नानविधिं प्रातःस्नानेऽतिदिशन्नद्यादौ निगमयति । गेहे चेत्तदमन्त्रवदिति जलाशयादन्यत्र स्नाने मन्त्रनिवृत्तिं प्रतिपादयति । अतो यदि गृहे उद्धृतोदकेन उष्णेन वा स्नाति तदा न कश्चिद्विधिः अमन्त्रवदिति वचनात् । मन्त्रोऽस्यास्तीति मन्त्रवत् मन्त्रसहितं न मन्त्रवत् अमन्त्रवत् । अथवा अमन्त्रो मन्त्राभाववान् शूद्रो यथा तूष्णीं स्नाति तद्वत्स्नायादित्यर्थः । तद्यथा शुचौ देशे उपविष्टः पादौ करौ मृज्जलैः प्रक्षाल्य कुशपवित्रोपग्रह आचम्यादित्याभिमुखस्ताम्रादिप्रशस्तपात्रस्थं प्रशस्तञ्जलं गङ्गादितीर्थजलबुद्धया आदाय पादादिस्वशिरःप्रभृति बहिः सर्वाङ्गेन स्नायात् आवश्यकसन्ध्योपासनाग्निहोमादिकर्मानुष्ठानाधिकारार्थम् ।

यतः स्मरन्ति—स्नातोऽधिकारी भवति दैवे पित्र्ये च कर्मणि । पवित्राणां तथा जप्ये दाने च विधिचोदिते ।। इदं वारुणं स्नानं मुख्यम् अस्यासम्भवे प्रशस्तभस्मना सर्वाङ्गोद्धूलनमाग्नेयम् । गवां खुरोत्खातरजसां शरीरेण ग्रहणं वायव्यम् । आपोहिष्ठादिभिर्द्रुपदादिव शन्नोदेवीरिदमापःप्रवहतेत्येतल्लिङ्गैर्मन्त्रैः प्रतिमन्त्रं कुशाग्रेण मूर्धनि जलाभिषेको मान्त्रम् । आर्द्रेण वाससा सर्वशरीरमार्जनं कापिलम् । आपोहिष्ठेति ब्राह्मम् । मृदालम्भनं पार्थिवम् । अद्भिरातपवर्षाभिर्दिव्यं स्नानम् । सच्चिदानन्दघनात्मकजगत्कारणविश्वव्यापकवासुदेवस्मरणं मानसम् । दक्षिणावर्त्तशङ्खेन ताम्रपात्रगतोदकस्य शिरसा प्रतिग्रहः, अपरार्कोक्तेश्च विष्णुप्रतिमाशालग्रामशिलास्नानोदकेन च शिरोभिषिञ्चनमित्येतेषां स्नानानुकल्पानामन्यतमेन नित्यकर्मानुष्ठानाधिकारसम्पत्तये शुचौ देश उपविश्य मृदम्भोभिः पादौ पाणी च प्रक्षाल्य कुशोपग्रहपवित्रपाणिराचम्य

सूर्याभिमुखः स्नायात् । एते च स्नानानुकल्पाः सर्ववर्णाश्रमाणां सर्ववेदशाखाध्यायिनाञ्च मन्त्रस्नानं विहाय साधारणाः ।

प्रातःस्नानं नित्यम्—चाण्डालशवयूपरजस्वलाः स्पृष्ट्वा स्नानार्हाः स्नान्ति तन्नैमित्तिकं स्नानम् । दैवज्ञविधिचोदितं पुष्पस्नानादिकं काम्यम् । जपयज्ञदेवपितृपूजनार्थं नद्यादितीर्थेषु यत्स्नानं तत् क्रियाङ्गम् । अभ्यङ्गपूर्वकमलापकर्षणं देवखातादितीर्थेषु च स्नानं क्रियास्नानम् । कात्यायनोक्तस्नानविधिस्तु काण्वमाध्यन्दिनानां नियतः, इतरेषाञ्चानुक्तस्नानविधिविशेषाणां बह्वृचानां मत्स्यपुराणादिविहितेन स्नानविधिना विकल्पितो बोद्धव्यः । एवञ्च सति यथोक्तविधिस्नानमालस्यादिना अकुर्वतो न कर्माधिकारः । न च फलवतः क्रियास्नानादेः फलावाप्तिः प्रत्युत विहिताकरणात्प्रत्यवायसम्भवो गृहस्थस्यैव, यतेश्च तद्धर्मविधौ द्रष्टव्यः । ब्रह्मचारिणो याज्ञवल्क्येनोक्तो यथा । स्नानमब्दैवतैर्मन्त्रैरिति । अत्र एष स्नानविधिरिति वचनात् यथाऽहनि तथा प्रातरिति वचनाच्च प्रातःस्नानेऽप्यस्य विधेः प्राप्तौ छन्दोगपरिशिष्टे विशेषः—अल्पत्वाद्धोमकालस्य महत्वात्स्नानकर्मणः । प्रातर्न तनुयात्स्नानं होमलोपो विगर्हितः ॥ इति । ततश्च साग्निः पादप्रक्षालनादिगोमयविलेपनान्तं विधाय मुञ्चन्तु मेति अभिषिच्य निमज्ज्याचम्य दर्भैः प्रणवव्याहृतिगायत्रीभिः प्रतिमन्त्रं पावयित्वा मुञ्चन्तु मेति पुनरभिषिच्यान्तर्जलेऽघमर्षणादीनामन्यतममावर्त्त्याचम्य निर्गच्छेत् । निरग्निस्तु कृत्स्नमनुतिष्ठेत् । सङ्कोचनिमित्तस्य होमस्याभावात् । जटिनः शिरोरोगिणश्चाकण्ठमज्जनं स्नानम् । सभर्तृकयोषिताञ्च । ग्रहणादिनिमित्तं गङ्गादितीर्थसङ्क्रान्त्यादिपर्वनिमित्तञ्च फलप्रदं जटयादीनामपि सशिरस्कमेव । स्त्रीशूद्राणां सर्वत्र तूष्णीम् । यथाऽऽह योगियाज्ञवल्क्यः—ब्राह्मणक्षत्रियविशां स्नानं मन्त्रवदिष्यते । तूष्णीमेव तु शूद्रस्य सनमस्कारकं स्मृतम् ॥ बौधायनश्च—अम्भोऽवगाहनं स्नानं विहितं सार्ववर्णिकम् । मन्त्रवत्प्रोक्षणं वाऽपि द्विजादीनां विशिष्यते ॥ इति । नमस्कारश्च नमो नारायणायेति ॥

इति श्रीअग्निहोत्रिहरिहरविरचितं कात्यायनस्नानविधिसूत्रविवरणं समाप्तम् ॥ ३ ॥

अथ प्रयोगः । एवं ब्रह्मयज्ञं विधाय तान्दर्भानुत्तरतो निरस्याचम्य यज्ञोपवीती प्राङ्मुखस्त्रीन्दर्भान् प्रागग्रान्दक्षिणपाणिनाऽऽदाय विश्वेदेवास आगतेति गृत्समददृष्टया वैश्वदेव्या गायत्र्या वैश्वदेवग्रहणे विनियुक्तया देवानावाह्य विश्वेदेवाः शृणुतेममित्येतां सुहोत्रदृष्टां वैश्वदेवीं त्रिष्टुभं सर्वमेधे वैश्वदेवग्रहणे विनियुक्तां जपित्वा सव्यकारान्वारब्धसकुशदक्षिणकरेणापो गृहीत्वा ॐब्रह्मा तृप्यतामित्यभिधाय जलमध्ये करस्था अपः प्रक्षिप्य एवं विष्णुस्तृप्यताम्, रुद्रस्तृप्यताम्, प्रजापतिस्तृप्यताम्, देवास्तृप्यन्ताम्, छन्दाᳬसि तृ० वेदास्तृ० ऋषयस्तृ० पुराणाचार्यास्तृ० गन्धर्वास्तृ० इतराचार्यास्तृ० संवत्सरःसावयवस्तृ० देव्यस्तृ० अप्सरसस्तृ० देवानुगास्तृ० नागास्तृ० सागरास्तृ० पर्वतास्तृ० सरितस्तृ० मनुष्यास्तृ० यक्षास्तृ० रक्षाᳬसि तृ० पिशाचास्तृ० सुपर्णास्तृ० भूतानि तृ० पशवस्तृ० वनस्पतयस्तृ० ओषधयस्तृ० भूतग्रामश्चतुर्विधस्तृप्यतामिति प्रत्येकमेकैकेनाञ्जलिना तर्पयित्वा उत्तराभिमुखो निवीती अञ्जलौ तिरश्चः कुशान् कृत्वा अञ्जलिनाऽपो गृहीत्वा ॐसनकस्तृप्यतामित्यभिधाय प्रजापतितीर्थेन जलाञ्जलिञ्जले

दत्वा पुनरेवं द्वितीयमञ्जलिं दत्वा सनन्दनस्तृ० सनातनस्तृ० कपिलस्तृ० आसुरिस्तृ० वोढुस्तृ० पञ्चशिखस्तृ० एवं द्वौ द्वावञ्जली एकैकस्मै दत्वा दक्षिणामुखः प्राचीनावीती सव्यं जान्वाच्य तानेव दर्भान्मध्ये भुग्नान् सव्याङ्गुष्ठेन तिलानादाय दक्षिणे पाणौ गृहीत्वा द्विगुणीकृत्य सव्यकरे धृत्वा पितृतीर्थेनाद्भिरञ्जलिं प्रपूर्य ॐकव्यवाडनलस्तृप्यतामित्यभिधाय त्रीनञ्जलीन् दक्षिणे दद्यात्, एवं सोमस्तृ० यमस्तृ० अर्यमातृ० अग्निष्वाताः पितरस्तृप्यन्ताम् सोमपाः पितरस्तृ० बर्हिषदः पितरस्तृ०, ॐयमाय नमः धर्मराजाय० मृत्यवे० अन्तकाय० वैवस्वताय कालाय० सर्वभूतक्षयाय० औदुम्बराय० दध्नाय० नीलाय० परमेष्ठिने० वृकोदराय० चित्राय० चित्रगुप्ताय नम इति प्रतिदैवतं त्रींस्त्रीनञ्जलीन् दद्यात् ।

अमुकगोत्रः अस्मत्पिता अमुकशर्मा तृप्यतामिदञ्जलं तस्मै स्वधा नम इत्येकमञ्जलिं दत्वा एवमपरमञ्जलिद्वयं पित्रे दद्यात् । ततोऽमुकगोत्रः अस्मत्पितामहः अमुकशर्मा तृप्यतामिदञ्जलं तस्मै स्वधा नमः एवमपरमञ्जलिद्वयं पितामहाय दत्वा, अमुकगोत्रः अस्मत्प्रपितामहः अमुकशर्मा तृप्यतामिदञ्जलं तस्मै स्वधा नमः एवमपरमञ्जलिद्वयं प्रपितामहाय दत्वा, अमुक गोत्रः अस्मन्मातामहः अमुकशर्मा तृप्यतामिदञ्जलं तस्मै स्वधा नमः एवमपरमञ्जलिद्वयं मातामहाय दत्वा प्रमातामहाय वृद्धप्रमातामहाय च तथैव त्रींस्त्रीनञ्जलीन् दत्वा अमुकगोत्रा अस्मन्माता अमुकदेविदा तृप्यतामिदञ्जलं तस्यै स्वधा नम इत्येकमञ्जलिं मात्रे दत्वा पुनरञ्जलिद्वयं दद्यात् । पितामहीप्रपितामहीभ्यामेवमेकैकमञ्जलिं दत्वा पुनरञ्जलिद्वयं दद्यात् । पितृव्यतत्पत्नीभ्रातृतत्पत्नीभगिनीमातुलमातुलानीपितृष्वसृपैतृष्वस्रीयमातृष्वसृमातृष्वस्रीयमातुलेयादिपितृमातृसपिण्डेभ्य एकैकमञ्जलिं दत्वा समानोदकसगोत्राचार्यश्वशुरर्त्विक्शिष्ययाज्यादिभ्यः सवर्णेभ्य एकैकमञ्जलिं दद्यात् ।

एकैकमञ्जलिं देवा द्वौ द्वौ तु सनकादयः । अर्हन्ति पितरस्त्रींस्त्रीन् स्त्रियश्चैकैकमञ्जलिमित्यत्र स्त्रीपदं मात्रादित्रयेतरपरमित्यवगम्यते । यतो नागदेवाचारप्रदीपे शालङ्कायनः—मातृमुख्याश्च यास्तिस्रस्तासां दद्याज्जलाञ्जलीन् । त्रींस्त्रींश्चैव ततश्चान्यास्तासामेकैकमञ्जलिम् ॥ पुनस्तत्रैव—माता पितामही चैव तथैव प्रपितामही ॥ एतासां पितृवद्दद्याच्छेपास्त्वेकैकमञ्जलिम् ॥ येऽबान्धवा बान्धवा वा येऽन्यजन्मनि बान्धवाः । ते तृप्तिमखिलां यान्तु यश्चास्मत्तोऽभिवाञ्छति ॥ इति मन्त्रेण भूमावेकमञ्जलिं प्रक्षिप्य 'ये चास्माकं कुले जाता अपुत्रा गोत्रिणो मृताः । ते गृह्णन्तु मया दत्तं वस्त्रनिष्पीडनोदकम्' ॥ इति मन्त्रेण स्नानवस्त्रं भूमौ निष्पीड्य यज्ञोपवीती भूत्वा तर्पणार्थकुशान् परित्यज्याचम्य जले ब्रह्मादिदेवानावाह्य यथासम्भवमुपचारैर्ब्रह्मविष्णुरुद्रसवितृमित्रवरुणान् तत्तल्लिङ्गैर्मन्त्रैरर्चयेत् ।

तद्यथा—ब्रह्मजज्ञानम्प्रथमं पुरस्तादित्येतयर्चा प्रजापतिदृष्टया त्रिष्टुभा ब्रह्मदेवतया रुक्मोपधाने विनियुक्तया ब्रह्माणमावाहनाद्युपचारैरभ्यर्च्य, इदं विष्णुरिति मेधातिथिदृष्टया गायत्र्या विष्णुदेवतया सोमयागे पत्नीपाणौ हविर्धानाञ्जलार्थाज्यसंस्रवानयने विनियुक्तया विष्णुमभ्यर्च्य, नमस्ते रुद्रमन्यव इति परमेष्ठिदृष्टया गायत्र्या

ऐकरौद्रचा शतरुद्रियहोमकर्मणि जर्तिलहवने विनियुक्तया रुद्रमभ्यर्च्य, तत्सवितुरिति विश्वामित्रदृष्टया गायत्र्या सवितृदेवतयाऽग्निहोत्रे गार्हपत्योपस्थाने विनियुक्तया सवितारमभ्यर्च्य, मित्रस्य चर्षणीधृत इति विश्वामित्रदृष्टया गायत्र्या मित्रदेवतया पच्यमानोखायाः श्रपणप्रक्षेपणे विनियुक्तया मित्रमभ्यर्च्य, इमम्मे वरुणेति शुनःशेपदृष्टया गायत्र्या वारुण्या सौत्रामण्यां विनियुक्तया वरुणमर्चयित्वोत्थाय, अदृश्रमस्य केतव इति प्रस्कण्वसूर्यदृष्टया सौर्या गायत्र्या सूर्यातिग्राह्यग्रहणे विनियुक्तया, हꣳसः शुचिषदिति वामदेवदृष्टयाऽतिजगत्या सौर्या राजसूये रथारूढस्य यजमानस्यावरोहणे विनियुक्तया च सूर्यमुपस्थाय प्रदक्षिणमावृत्य, प्राच्यै दिशे नमः इति प्राचीं दिशं नमस्कृत्य तद्दिग्देवता-मिन्द्राय नम इति प्रणम्य आग्नेय्यै दिशे नमः अग्नये नमः दक्षिणायै दिशे नमः यमाय नमः नैर्ऋत्यै दिशे नमः निर्ऋतये नमः प्रतीच्यै दिशे नमः वरुणाय नमः वायव्यै दिशे नमः वायवे नमः उदीच्यै दिशे नमः सोमाय नमः ईशान्यै दिशे नमः ईशानाय नमः ऊर्ध्वायै दिशे नमः ब्रह्मणे नमः अधरायै दिशे नमः अनन्ताय नमः इति दिशो देवताश्च नमस्कृत्योपविश्य, ॐब्रह्मणे नमः अग्नये नमः पृथिव्यै नमः ओषधीभ्यो नमः वाचे नमः वाचस्पतये नमः विष्णवे नमः महद्भ्यो नमः अद्भ्यो नमः अपाम्पतये नमः वरुणाय नमः इत्येकैकस्मै जलाञ्जलिन्दत्वा, संवर्चसा पयसा सन्तनूभिरिति परमेष्ठिप्रजापतिदृष्टया त्रिष्टुभा त्वष्टृदेवतया दर्शपूर्णमासयागे पूर्णपात्रस्थजलप्रतिग्रहे विनियुक्तया अञ्जलिनाऽपो गृहीत्वा मुखं विमृश्य, देवागातुविद इति मनसस्पतिदृष्टया वातदेवतया विराट्छन्दस्कया समिष्टयजुर्होमे विनियुक्तया स्नानादिकर्माङ्गदेवता विसर्जयेत् ।। इति माध्याह्निकस्नानकर्मपद्धतिः ।।

अथ प्रातराह्निकम् । तत्र ब्राह्मे मुहूर्ते प्रबुध्य आत्मस्वास्थ्यं विचिन्त्योत्थाय द्विराचम्य ततः सोपानत्कः सकमण्डलुर्नैर्ऋतीं दिशं गत्वा अयज्ञियैस्तृणैरफालकृष्टा भूमिमन्तर्धाय दिवासन्ध्ययोश्चोदङ्मुखो रात्रौ दक्षिणमुखो दक्षिणकर्णकृतोपवीतो मूत्रपुरीषोत्सर्गं विधाय गृहीतमेहन उत्थाय स्थानान्तरे उपविश्य अर्द्धप्रसृतिमात्रां मृदं सव्येन पाणिनाऽऽदाय पाणौ निधाय जलेन प्रक्षाल्य दशकृत्वो मृज्जलैर्वामपाणिं प्रक्षाल्य सप्तभिर्दक्षिणञ्च एकया मृदा शिश्नं त्रिर्वामं द्विर्दक्षिणं पाणिं प्रक्षाल्योत्थाय बद्धकक्षः शुचौ देशे प्राङ्मुखो वोदङ्मुखो वोपविश्य मृज्जलैस्त्रिः पादौ करौ च प्रक्षाल्य त्रिरपोऽविकृताः फेनादिरहिता वीक्षिता ब्रह्मतीर्थेनाचम्य खानि चाद्भिरुपस्पृश्य यथोक्तदन्तधावनविधिं विधाय गृहमागत्य स्नानोपकरणान्यादाय नद्यादिजलाशयं गत्वा उक्तविधिना स्नात्वा वासःपरिधानाचमनानन्तरं पूर्ववत्प्राणायामत्रयं कृत्वा सूर्यश्च मेति नारायण ऋषिः सूर्यो देवता गायत्र्युपरिष्टाद्बृहतीच्छन्दः आचमने विनियोगः, इत्यभिधाय 'सूर्यश्च मा मन्युश्च मन्युपतयश्च मन्युकृतेभ्यः पापेभ्यो रक्षन्तां यद्रात्र्या पापमकार्षं मनसा वाचा हस्ताभ्यां पद्भ्यामुदरेण शिश्ना रात्रिस्तदवलुम्पतु यत्किञ्च दुरितं मयि इदमहं माममृतयोनौ सूर्ये ज्योतिषि जुहोमि स्वाहा' इति मन्त्रेण सकृदाचम्य स्मार्तमाचमनङ्कृत्वा एवं पूर्ववद् गायत्रीजपान्तं कृत्वा प्रदक्षिणमावृत्य भगवन्तं सवितारं नमस्कृत्योपविश्य देवागातुविद इति विसर्जयेत् ।

सायंसन्ध्यायान्तु प्राणायामान्ते अग्निश्चमेति नारायणऋषिः गायत्र्युपरिष्टाद् बृहतीच्छन्दः अग्निर्देवता आचमने विनियोगः, इत्युक्त्वा—'अग्निश्च मा मन्युश्च मन्युपतयश्च मन्युकृतेभ्यः पापेभ्यो रक्षन्तां यदह्ना पापमकार्षं मनसा वाचा हस्ताभ्यां पद्भ्यामुदरेण शिश्ना अहस्तदवलुम्पतु यत्किञ्च दुरितं मयि इदमहं माममृतयोनौ सत्ये ज्योतिषि जुहोमि स्वाहा' इति मन्त्रेणाचम्य मार्जनाद्यघमर्षणान्ते सोदकाञ्जलिरुत्थाय प्रत्यङ्मुखोऽञ्जलिम्प्रक्षिप्य प्राञ्जलिः पूर्ववदुपविश्य यावन्नक्षत्रोदयं गायत्रीञ्जपित्वोत्थाय प्रदक्षिणीकृत्य नमस्कृत्योपविश्य देवागातुविद इति विसर्जयेत् ॥ ताताम्बात्रितयं सपत्नजननी मातामहादित्रयं सस्त्रि स्त्री तनयादि तातजननीस्वभ्रातरः सस्त्रयः। ताताम्बात्मभगिन्यपत्यधवयुक् जायापिता सद्गुरुः शिष्याप्ताः पितरो महालयविधौ तीर्थे तथा तर्पणे ॥

इति श्रीमिश्राग्निहोत्रिहरिहरकृतौ कात्यायनोक्तस्नानविधिसूत्रव्याख्यानपूर्विका स्नानपद्धतिः समाप्ता ॥

अनुवाद—ब्रह्मयज्ञ समाप्त करने के बाद यहाँ तर्पण का विधान किया जा रहा है। सर्वप्रथम ब्रह्मा से तर्पण का प्रारम्भ करना चाहिए। तत्पश्चात् विष्णु, रुद्र, प्रजापति, इनका तर्पण करना चाहिए; फिर देवताओं, छन्दों, वेदों, ऋषियों, पुराणाचार्यों, गन्धर्वों, अन्य आचार्यों साङ्ग संवत्सर, देवियों, अप्सरारों, देवानुयायियों, नागों, सागरों, पर्वतों, नदियों, मनुष्यों, यक्षों, राक्षसों, पिशाचों, सुपर्णों, भूतों, पशुओं, वनस्पतियों, औषधियों और बारह प्रकार के भूत-समूहों का तर्पण करना चाहिए। इसके बाद यज्ञोपवीत को कण्ठ में लपेट कर दिव्य मानवों का तर्पण करना चाहिए। ये दिव्य मानव—सनक, सनन्दन, सनातन, कपिल, आसुरि, बोढुं और पञ्चशिख हैं। इसके बाद अपसव्य होकर अर्थात् दाहिने कन्धे पर यज्ञोपवीत रखकर तिल-जल लेकर पितरों को हवि पहुँचाने वाले कव्यवाह, अग्नि, सोम, यम, अर्यमा, अग्निवात, पितरों, सोमरस पीने वाले पितरों तथा कुश पर सोने वाले पितरों का तर्पण करना चाहिए। कुछ आचार्यों के विचार से 'यमाय नमः धर्मराजाय नमः···' इस मंत्र में पठित या परिगणित यम का भी तर्पण करना चाहिए। प्रत्येक को तिल मिले जल की तीन-तीन अञ्जलियाँ देनी चाहिए। ऐसा करने से जन्म लेने के बाद के क्षण से शुरू होकर तर्पण करते समय तक किये गये अशुभ कर्मों के अमंगलदायक फल तत्क्षण नष्ट हो जाते हैं। जिस व्यक्ति के पिता जीवित हों, उन्हे भी पूर्वोक्त ब्रह्मा से लेकर चित्रगुप्त तक का तर्पण करना ही चाहिए। और जिस व्यक्ति के पिता की मृत्यु हो गई हो, उन्हें ब्रह्मा से लेकर पिता प्रभृति तक सभी का तर्पण करना चाहिए। उदीरताम् इत्यादि प्रतीक के रूप में कही गई छः ऋचाओं तथा मधुव्वांता इत्यादि तृच का उपांशु पाठ करते हुए प्रसेक करे अर्थात् अंजलि में जल लेकर तर्जनी और अँगूठे के बीच मूल से तर्पणजल को तर्पण के जलपात्र में तृप्यध्वम्' कहकर तीन बार गिरा दे। 'नमो वः पितरो रसाय' इत्यादि आठ यजुषों को पढ़कर माता के पिता, पिता-

मह, प्रपितामह का भी उसी प्रकार तिल मिले जल की तीन अंजलियों से तर्पण करे। एक अंजलि से गुरु, ऋत्विक्, सपिण्ड और सगोत्री, संबंधियों तथा बान्धवों का भी तर्पण कर देना चाहिए। यदि इन पूर्वोक्त ब्रह्मादि का तर्पण नहीं किया जाता है तो ये उनके शरीर का रक्त पीते हैं। अतः प्रत्येक व्यक्ति को तर्पण अवश्य करना चाहिए। इसके बाद स्नान किये गये वस्त्र को निचोड़कर आचमन करने के बाद ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, सविता, मित्र और वरुण का उनके लिङ्गवाले मंत्रों से आवाहन-पूजन करे। इसके बाद 'अदृश्यमस्य केतव' तथा 'हंसः शुचिषद्' इत्यादि दो ऋचाओं से भगवान् सूर्य की पूजा और प्रदक्षिणा करे। इसके बाद दिशाओं और देवताओं के नाम चतुर्थी विभक्ति में लेकर आगे नमः शब्द लगाकर, जैसे—रामाय नमः, इत्यादि कहकर प्रणाम करे। फिर बैठकर ब्रह्मा से लेकर वरुण तक के देवताओं को प्रणाम करे। फिर 'संवर्चसा' मंत्र पढ़कर अंजलि में पानी लेकर मुँह को धोये। फिर 'देवागातु-विद्' मंत्र पढकर स्नानकर्म के अंगभूत सभी देवताओं का विसर्जन करे।

तर्पण-विधि समाप्त।

इस प्रकार कात्यायनोक्त त्रिकण्डिकास्नानसूत्र समाप्त॥

कात्यायनोक्तं पारस्करगृह्यसूत्रस्य परिशिष्टम्

अथ श्राद्धसूत्रम्

आपरपक्षिकश्राद्धविधिः

अपरपक्षे श्राद्धं कुर्वीतोद्ध्वं वा चतुर्थ्या यदहः सम्पद्येत तदहर्ब्राह्मणानामन्त्र्य पूर्वेद्युर्वा स्नातकानेके यतीन् गृहस्थान् साधून् वा श्रोत्रियान् वृद्धाननवद्यान्स्वकर्मस्थानभावेऽपि शिष्यान्स्वाचारान् द्विर्नग्नशुक्लविक्लिधश्यावदन्तविद्धप्रजननव्याधितव्यङ्गिश्वित्रिकुष्ठिकुनखिवर्जमनिन्द्येनामन्त्रितो नापक्रामेदामन्त्रितो वाऽन्यदन्नं न प्रतिगृह्णीयात्स्नाताञ्छुचीनाचान्तान् प्राङ्मुखानुपवेश्य दैवे युग्मानयुग्मान्यथाशक्ति पित्र्ये एकैकस्योदङ्मुखान्द्वौ वा दैवे त्रीन् पित्र्य एकैकमुभयत्र वा मातामहानाञ्चैवं तन्त्रं वा वैश्वदेविकम् । श्रद्धान्वितः श्राद्धं कुर्वीत शाकेनापि नापरपक्षमतिक्रामेन्मासि मासि वोशनमिति श्रुतेस्तदहः शुचिरक्रोधनोऽत्वरितोऽप्रमत्तः सत्यवादी स्यादध्वमैथुनश्रमस्वाध्यायान्वर्जयेदावाहनादि वाग्यत उपस्पर्शनादामन्त्रिताश्चैवम् ।।१।।

दीक्षितगदाधरकृतं श्राद्धसूत्रभाष्यम्

श्रीगणेशाय नमः ।। शिवं च विघ्नहर्तारङ्गुरूंश्चै वामनं तथा । अम्बिकां शारदाञ्चापि वन्दे विघ्नोपशान्तये ।। १ ।। कात्यायनकृते श्राद्धसूत्रे व्याख्यापुरःसराम् । प्रयोगपद्धतिं कुर्वे याज्ञवल्क्यादिसम्मताम् ।। २ ।। तत्र पूर्वां पौर्णमासीमुत्तरां वोपवसेदित्यादिना श्रौतकर्माण्युपदिश्य 'अथातो गृह्यस्थालीपाकानाङ्कर्म' इत्यादिना स्मार्तान्यपि व्याख्यायावशिष्टं श्राद्धं कर्म कर्तव्यमित्यत आह—'अपरपक्षे श्राद्धं कुर्वीत' । श्राद्धमिति कर्मणो नामधेयम् । तत्र कर्कमते पिण्डदानस्यैव श्राद्धमिति नामधेयम् । ततश्च पिण्डदानाकरणेऽभ्यावृत्तिः । पिण्डदानब्राह्मणभोजनाग्नौकरणत्रयाणां कर्मणां समुदायस्येत्यन्ये । श्राद्धशब्दः स्फुटीकृतो ब्रह्माण्डे । देशे काले च पात्रे च श्रद्धया विधिना च यत् । पितॄनुद्दिश्य विप्रेभ्यो दानं श्राद्धमुदाहृतम् ।। इति । अपरपक्ष इति कृष्णपक्ष इत्युच्यते समाचारात्, समाचरन्ति हि कृष्णपक्षे श्राद्धमिति । लिङ्गाच्च, योऽपक्षीयते स पितर इति । अत्र यद्यपि समस्तमासम्बन्ध्यपरपक्षस्य श्राद्धकालत्वं प्रतीयते तथाऽपि स्मृत्यन्तरे दर्शनात् कन्याकुम्भसम्बधिनो विशिष्टत्वम्, तत्रापि कन्यासम्बन्धिनः पुण्यतमत्वम् । तथा च मनुः—"अनेन विधिना श्राद्धं त्रिरब्दस्येह निर्वपेत् । हेमन्तग्रीष्मवर्षासु पाञ्चयज्ञिय्मन्वहम्" ।। ऋत्वपेक्षया हेमन्तग्रीष्मवर्षास्विति यदुक्तं तद्विवेचितम् मत्स्यपुराणे । अनेन विधिना श्राद्धन्त्रिरब्दस्येह निर्वपेत् । कन्याकुम्भवृषस्थेऽर्के कृष्णपक्षेषु सर्वदा ।। कन्यासम्बन्धिनि ऋतुपक्षेऽयं विशेषः । तस्या उभयथा सङ्कीर्तनमस्ति क्वापि प्रौष्ठपदाद्यपरपक्षत्वेन क्वाप्याश्वयुक्कृष्णपक्षत्वेन । तथा च विष्णुधर्मोत्तरे मार्कण्डेयः—उत्तरात्त्वयनाच्छ्राद्धे श्रेष्ठं स्याद्दक्षिणायनम् । चातुर्मास्यञ्च तत्रापि प्रसुप्ते

केशवेऽधिकम् ।। प्रौष्ठपद्यपरः पक्षस्तत्रापि च विशेषतः । पञ्चम्यूर्ध्वं ततश्चापि दशम्यूर्ध्वं ततोऽप्यति ।। शस्ता त्रयोदशी राजन् मघायुक्ता ततोऽधिका । शङ्खेनाप्युक्तम्—प्रौष्ठपद्यामतीतायां मघायुक्तां त्रयोदशीम् । प्राप्य श्राद्धं हि कर्तव्यं मधुना पायसेन तु ।। ब्रह्मपुराणे—आश्वयुक्कृष्णपक्षस्य श्राद्धं कार्यंन्दिने दिने । त्रिभागहीनं पक्षं वा त्रिभागं त्वर्द्धमेव वा ।। आश्वयुज्याश्च कृष्णायां त्रयोदश्यां मघासु च । प्रावृडृतौ यमः प्रेतान् पितॄंश्चापि यमालयमिति । त्रिभागहीनमिति प्रतिपदादिचतुष्टयं चतुर्दशीञ्च विहाय पञ्चम्यादिपक्ष उक्तः । त्रिभागमिति पक्षतृतीयभागम् अनेन दशम्यादिरुक्तः । अर्द्धमिति अष्टम्यादि यथाशक्ति कुर्यादपरपक्षिकमिति । प्राच्यास्तु—पञ्चम्यूर्ध्वंञ्च तत्रापि दशम्यूर्ध्वं ततोऽप्यति इति विष्णुधर्मोत्तरवाक्यैकवाक्यत्वाय त्रिभागहीनं षष्ठ्यादिविभागमेकादश्यादीत्याहुः । यत्तु तैरर्द्धमित्यस्य तृतीयभागार्द्धं त्रयोदश्यादीत्येवं व्याख्यानङ्कृतम्, तत्पक्षमित्यस्यानन्वयदोषापत्तेरुपेक्ष्यमिति कमलाकरभट्टाः । सूत्रे कुर्वीतेति विधायकं पदम् । अथेदानीं विचार्यते—किं श्राद्धे साग्निकस्यैवाधिकार उत निरग्निकस्यापीत्यत्र कर्काचार्येण निर्णीतम् । अग्नौकरणरूपस्याङ्गस्याग्न्यधिकरणत्वात्तदुपसंहारे साग्निकस्यैव शक्तिर्नेतरस्य; 'न पैतृयज्ञियो होमो लौकिकेऽग्नौ विधीयते' इति निषेधात् । अत्र च दारसङ्ग्रहपूर्वकङ्कर्मावसथ्याधानं तत्पूर्विका च कर्मान्तरप्रवृत्तिरित्यतोऽपि नानग्निमतोऽधिकार इति । यत्तूक्तम् अग्न्यभावेऽपि विप्रस्य पाणावेवोपपादयेदिति तदप्यकृतावसथ्याभ्युदयिकविषयम् । अनग्निमतोऽपि श्राद्धेऽधिकार इत्येवंविधा प्रसिद्धिस्तु इह वृक्षे यक्षस्तिष्ठतीतिवदनिश्चितमूलेति नानग्निमतः श्राद्धाधिकारे प्रमाणमिति । तदिदमनुपपन्नम् । नित्यनैमित्तिकेषु हि यथा शक्नुयात्तथा कुर्यादिति न्यायात्सर्वाङ्गोपसंहाराशक्तस्याप्यधिकारात् । अग्न्यभावे तु पाणौ होमविधानात् । अस्य विधानस्य चोक्तविषयविशेषव्यवस्थायाः प्रमाणशून्यत्वात् । सन्ति चाग्नौकरणरहितानि श्राद्धानि तेष्वधिकारानिवृत्तेश्च । स्त्रीशूद्रानुपनीतानामपि श्राद्धोपदेशात्साग्निकानग्निकोभयाधिकारेण विहितं श्राद्धं सिद्धमिति हेमाद्रिः ।

अपरपक्षे प्रतिपत्प्रभृतिदर्शान्तं प्रत्यहङ्कर्तव्यमित्युक्त्वाऽधुना पक्षान्तरमाह—'ऊर्ध्वं वा चतुर्थ्याः' । वाशब्दो विकल्पार्थः । चतुर्थ्या ऊर्ध्वमुत्तरकालं पञ्चमीप्रभृति वा कुर्यात् । तदुक्तङ्गौतमेन—अथ श्राद्धममावास्यायां पञ्चमीप्रभृति वाऽपरपक्षस्येति । मनुस्मृतौ विशेषः—कृष्णपक्षे दशम्यादौ वर्जयित्वा चतुर्दशीम् । श्राद्धे प्रशस्तास्तिथयो यथैता न तथेतरा ।। इति ।

तिथिविषयकं पक्षान्तरमाह—'यदहः सम्पद्येत तदहर्ब्राह्मणानामन्त्र्य पूर्वेद्युर्वा' । तत्र चतुर्दशीं विना सर्वासु तिथिषु पञ्चम्यादिषु वा तदहर्यस्मिन्नहनि द्रव्यब्राह्मणयोः सम्पत्तिः स्यात्तदहस्तस्मिन्नहनि यथोदितान्ब्राह्मणानामन्त्र्य श्राद्धं कुर्यात् । अथ वा यद्दिने मृताहसंज्ञिका तिथिरपरपक्षे स्यात्तदहे पूर्वेद्युर्वा ब्राह्मणान्निमन्त्र्य श्राद्धं कुर्यादिति सम्बन्धः । तथा च पुराणसमुच्चये—या तिथिर्यस्य मासस्य मृताहे तु प्रवर्तते । सा तिथिः प्रेतपक्षस्य पूजनीया प्रयत्नतः ।। इति । यदहरिति विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । 'नपुंसकादन्यतरस्यामि'ति (न) टच्प्रत्ययः । ब्राह्मणग्रहणं क्षत्रियादिप्रतिषेधार्थम् । पूर्वे-

द्युर्वेति व्यवस्थितविकल्पः। असम्भावितमैथुनान् यत्यादींस्तदहरामन्त्रयेत्। अङ्गानां प्रधानधर्मत्वादिति न्यायेन। सम्भावितमैथुनान् पूर्वेद्युरेवेति व्यवस्था। एतच्च व्यक्तीकृतं मार्कण्डेयपुराणे—निमन्त्रयेत्तु पूर्वेद्युः पूर्वोक्तांस्तु द्विजोत्तमान्। अप्राप्तौ तद्दिने वाऽपि हित्वा योषित्प्रसङ्गिनम्॥ इति। स्मृतिः—प्रार्थयीत प्रदोषान्ते भुक्त्वा नशयितान्द्विजान्। सर्वायासविनिर्मुक्तैः कामक्रोधविवर्जितैः॥ भवितव्यम्भवद्भिश्च श्वोभूते श्राद्धकर्मणि। अयुग्मानपसव्येन पितृपूर्वन्निमन्त्रयेत्॥ इति। पितृपूर्वकन्निमन्त्रणं त्वन्यशाखाविषयकम्। कात्यायनमतानुवर्तिनां देवानान्निमन्त्रणम्पूर्वम्, दैवपूर्वकꣳ श्राद्धमिति वक्ष्यमाणत्वात्। पितृपूर्वन्निमन्त्रणमिति श्राद्धकाशिकाकारः। मात्स्ये विशेषः—दक्षिणञ्जानुमालभ्य त्वं मयात्र निमन्त्रितः। एवन्निमन्त्र्य नियमान्पैतृकाञ्छ्रावयेद् बुधः॥ इति। राजन्यवैश्ययोश्च पुरोहितादिर्निमन्त्रणं कुर्यात् ऋत्विग्राजन्यवैश्ययोरिति वचनात्। प्रतिदिनमपरपक्षश्राद्धकरणे स्मृत्यन्तरोक्ततिथ्यादिदोषो नास्ति। तथा च कार्ष्णाजिनिः—नभस्यापरपक्षे तु श्राद्धं कार्यं दिने दिने। नैव नन्दादिवर्ज्यं स्यान्नैव निन्द्या चतुर्दशी॥ दशम्यादिपक्षत्रये तु चतुर्दशी वर्जनीया। कृष्णपक्षे दशम्यादावित्यादि मनुवचनं प्रागुक्तम्।

'स्नातकान्' आमन्त्र्य श्राद्धं कुर्यादिति शेषः। त्रयः स्नातका भवन्तीत्यादिना स्नातकलक्षणञ्चोक्तं कात्यायनेन। अयञ्चापत्नीकनिमन्त्रणप्रतिषेधे प्रतिप्रसवः। विभार्यो वृषलीपतिरित्यत्रिणा निषिद्धत्वात्।

'एके यतीन्' निमन्त्रयन्ति। तदुक्तम्—सम्पूजयेद्यतिं श्राद्धे पितॄणां पुष्टिकारकम्। ब्रह्मचारी यतिश्चैव पूजनीयो हि नित्यशः॥ तत्कृतं सुकृतं यत्स्यात्तस्य षड्भागमाप्नुयात्। मार्कण्डेयोऽपि—भिक्षार्थमागतान्वाऽपि काले संयमिनो यतीन्। भोजयेत्प्रणताद्यैस्तु प्रसादोद्यतमानसः॥ इति। यतिस्तु त्रिदण्डी। एकदण्डिनां श्राद्धे निरस्तत्वात्। तथाहि—मुण्डान् जटिलकाषायान् श्राद्धे यत्नेन वर्जयेत्। शिखिभ्यो धातुरक्तेभ्यस्त्रिदण्डिभ्यः प्रदापयेत्॥ यतिं कुटीचरं बहूदकञ्च। इतरयोः कलौ निषिद्धत्वात्। तथाहि—दीर्घकालम्ब्रह्मचर्यं वानप्रस्थाश्रमं तथा। हंसः परमहंसश्च कलौ नैतच्चतुष्टयम्॥ इति।

'गृहस्थान्साधून्वा'। वाशब्दो विकल्पार्थः। पाक्षिकयतिनिमन्त्रणनिषेधार्थो वाशब्द इति केचित्। तथा च जाबालिः—अश्नन्ति ये तु मांसानि भार्याहीनाश्च ये द्विजाः। ये च मातुलसम्बन्धा न ताञ्छ्राद्धे निवेशयेत्॥ साधून् क्षीणदोषान् गृहस्थान् निमन्त्रयेत्। तथा च विष्णुपुराणे—साधवः क्षीणदोषास्त्विति। पुराणसमुच्चये—गृहस्था कुलसम्पन्नाः प्रख्याताः कुलगोत्रतः। स्वदारनिरताः शान्ता विज्ञेयाः पङ्क्तिपावना॥ इति।

'श्रोत्रियान्' निमन्त्रयेदिति शेषः। श्रोत्रियलक्षणमाह देवलः—एकशाखां सकल्पाञ्च षड्भिरङ्गैरधीत्य च। षट्कर्मनिरतो विप्रः श्रोत्रियो नाम धर्मवित्॥ कल्पस्य पृथग्ग्रहणमादरार्थम्। तथा हि—जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्कारैर्द्विज उच्यते। विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते॥

'वृद्धान्' । ज्ञानतपोवयोवृद्धान्निमन्त्रयेदित्यर्थः ।

'अनवद्यान्स्वकर्मस्थान्' । पितृमातृवंशद्वयविशुद्धान् स्वयमपि लोकापवादरहितान् स्वकर्मस्थान् स्वजातिविहितकर्मानुष्ठानरतान्निमन्त्रयेत् ।

एवं मुख्यकल्पं दर्शयित्वाऽनुकल्पं दर्शयति—'अभावेऽपि शिष्यान्स्वाचारान्' । पूर्वोक्तानां ब्राह्मणानामभावे शिष्यानपि स्वाचारान्निमन्त्रयेत् । शिष्या ब्रह्मचारिणः । स्वाचारानिति अग्निपरिचरणगुरुशुश्रूषाभिरतान् तेषाञ्चैकान्ननिषेधेऽपि वाचनिकं श्राद्धभोजनम् । व्यासः—अनिन्द्यामन्त्रितः श्राद्धे विप्रोऽद्याद् गुरुणोदितः । एकान्नमविरोधेन व्रतानां प्रथमाश्रमी ।। इति । अत्रिः—ऋत्विक्पुत्रादयो ह्येते सकुल्या ब्राह्मणा द्विजाः । वैश्वदेवे नियोक्तव्या यद्येते गुणवत्तरा ।। इति ।

एवन्निमन्त्रणीयानुक्त्वाऽथ वर्ज्यानाह—'द्विर्न···र्जम्' । द्विर्नग्नः दुश्चर्मा स च जन्मान्तरे गुरुतल्पगो भूतः, अथवोभयोर्गोत्रयोर्वेदस्याग्नेश्च विच्छेदः स द्विर्नग्नः । तदुक्तम्—यस्य वेदश्च वेदी च विच्छिद्येत त्रिपूरुषम् । द्विर्नग्नः स तु विज्ञेयः श्राद्धकर्मणि निन्दितः ।। इति । शुक्लोऽतिगौरो मण्डलकुष्ठी वा । विक्लिधो दन्तुरः । तथोक्तं मनुना—यस्य नैवाधरोष्ठाभ्यां छाद्यते दशनावलिः । विक्लिधः स तु विज्ञेयो ब्राह्मणः पङ्क्तिदूषणः ।।, विक्लिधः पूतिगन्धिघोण इति गोभिलीयश्राद्धकल्पभाष्ये । श्यावदन्त इति स्वभावात्कृष्णदन्तः, विद्धप्रजननश्छिन्नलिङ्गचर्मा दाक्षिणात्ये प्रसिद्धः, व्याधितो व्याधियुक्तः, व्यङ्गो हीनाङ्गोऽधिकाङ्गो विरुद्धाङ्गसंस्थितश्चेति, अतः कुब्जवक्रमुखहस्तपादादीनाञ्च प्रतिषेधः सिध्यति । हीनाङ्गोऽधिकाङ्गश्च हीनातिरिक्ताङ्ग इति स्मृतेः ।। श्वित्री श्वेतकुष्ठी, कुष्ठी कुष्ठगलिताङ्गः, कुनखी कुत्सितनखः, एतान्वर्जयित्वा निमन्त्रयेत् ।। नन्वेतावतैवान्येषां वर्जनं भविष्यति यदेते उपवेष्टव्या इत्युक्तम्, किमत्र द्विर्नग्नादीनान्निषेधः कृतोऽनधिकारार्थत्वात् । उच्यते—सत्यं भवत्येवार्थान्निषेधो, यदा विहिता उक्ताः स्युस्तदा तद्व्यतिरिक्तानामर्थान्निषेधः, किन्तु विहितानां ब्राह्मणानामप्राप्तौ निषिद्धातिरिक्तान्तरालिकब्राह्मणप्राप्त्यर्थन्द्विर्नग्नादिवर्जनम् । अन्यथा विहितब्राह्मणालाभे तदतिरिक्तसमस्तवर्जनं, तदा श्राद्धकर्मलोपः स्यात्, तस्मात्साधूक्तं द्विर्नग्नादिवर्जमिति, शास्त्रान्तरगृहीतानप्युपवेशयेत् ।।

'अनिन्द्येनामन्त्रितो नापक्रामेत्' । अनिन्द्यो लोकापवादरहितः, तेन श्राद्धार्थन्निमन्त्रितो विप्रो न व्यतिक्रमं कुर्यात्, तथा चाग्निष्टोमप्रकरणेऽध्वरकाण्डे श्रुतिः सहोवाचानिन्द्या वै मावृषत सोऽनिन्द्यैर्वृतो नाशकमपक्रमितुमिति तस्मादुहानिन्द्यस्य वृतो नापक्रामेदिति । मनुरतिक्रमे दोषमाह—केतितस्तु यथान्यायं हव्यकव्ये द्विजोत्तमः । कथञ्चिदप्यतिक्रामन् पापः सूकरतां व्रजेत् ।। न केवलं ब्राह्मणस्य व्यतिक्रमे दोषो यजमानस्यापि ब्राह्मणव्यतिक्रमे दोषः स्यात् ।। तथा हि यमः—आमन्त्र्य ब्राह्मणं यस्तु यथान्यायन्न पूजयेत् । अतिकृच्छ्रासु घोरासु तिर्यग्योनिषु जायत ।। इति ।

'आमन्त्रितो वाऽन्यदन्नं न प्रतिगृह्णीयात्' । निमन्त्रितो विप्रोऽन्यदन्नं श्राद्धादिरूपमामान्नं सिद्धं वा न प्रतिगृह्णीयात् भोजनान्तरं वा न कुर्यात् ।। यथाह देवलः—पूर्वन्निमन्त्रितोऽन्यस्य यदि कुर्यात्प्रतिग्रहम् । भुक्ताहारोऽपि वा भुङ्क्ते सुकृतं तस्य

नश्यति ।। अन्येनामन्त्रितस्यान्यश्राद्धग्रहणे दोषमाह मार्कण्डेयपुराणे व्यासः—भुङ्क्ते श्राद्धन्तु योऽन्यस्य नरोऽन्येन निमन्त्रितः । दैवे वाऽप्यथ वा पित्र्ये स तु निष्कृष्यते खगैः ।। यमोऽपि—आमन्त्रितश्च यो विप्रो भोक्तुमन्यत्र गच्छति । नरकाणां शतङ्गत्वा चाण्डालेष्वभिजायत ।। इति ।

अथोपवेशनमाह—'स्नाताञ्छुचीनाचान्तान्प्राङ्मुखानुपवेश्य दैवे युग्मानयुग्मान्यथाशक्ति पित्र्ये' । उपवेशयेदिति वाक्यशेषः । कीदृशानुपवेशयेत् ? स्नातान् कृताप्लवान्, पुनः कीदृशान् ? शुचीन् सूतकादिरहितान्, पुनः कीदृशान् ? आचान्तान् यथाशास्त्रमाचान्तान्, न यथाकथञ्चित् एवम्भूतान्, दैवे वैश्वदेवार्थं युग्मानिति बहुवचनाच्चतुःषडादीन् प्रागग्रेषु कुशेषु प्राङ्मुखानुपवेश्य यथाशक्त्ययुग्मान् त्रिपञ्चादीन् पित्रर्थमुपवेशयेत् द्विगुणमुदगग्रेषु कुशेषु, अयुग्मत्वञ्च नवभ्योऽर्वाग्वेदितव्यम् । तथा च गौतमः—नवावरान् भोजयेदयुजो यथोत्साहञ्चेति । ब्रह्माण्डपुराणेऽपि—सामर्थ्येऽपि नवभ्योऽर्वाग्भोजयीत सति द्विजान् । नोर्द्ध्वं कर्त्तव्यमित्याहुः केचिद्दोषस्य दर्शनादिति । अत्र स्नानग्रहणङ्गौणस्नाननिषेधार्थम्, अथवा स्मृतिप्राप्तमेवानुवदति, अथ वा विशिष्टविधिः । तथा च वायुपुराणे—सुरभीणि तु स्नानानि गन्धवन्ति तथैव हि । श्राद्धेष्वेतानि यो दद्यादश्वमेधफलं लभेत् ।। इति । देवलोऽपि—ततो निवृत्ते मध्याह्ने कृत्तलोमनखान् द्विजान् । अभिगम्य यथापूर्वम्प्रयच्छेद्दन्तधावनम् ।। तैलमुद्वर्त्तनं स्नानं स्नानीयञ्च पृथग्विधम् । पात्रैरौदुम्बरैर्दद्याद्वैश्वदेवस्य पूर्वकम् ।। इति । आचमने विशेषो विष्णुपुराणे—उपस्पर्शस्तु कर्तव्यो मण्डलस्योत्तरे दिशि । कर्त्राऽथ वा द्विजैर्वापि विधिवद्वाग्यतैः सदा ।। मण्डलस्योत्तरे भागे कुर्यादाचमनन्द्विजः । सोमपानफलं प्राहुर्गर्गकाश्यपगौतमाः ।। इति । तथा चापस्तम्बे—कुर्युराचमनं विप्रा उदीच्यां मण्डलाद् बहिः । अन्यदिक्षु यदा कुर्यान्निराशाः पितरो गताः ।। इति ।

अविशेषे प्राप्ते विशेषमाह—'एकैकस्योदङ्मुखान्' । एकैकस्य पित्रादित्रयस्य यथाशक्ति प्रतिपुरुषमुदङ्मुखानयुग्मानुपवेशयेत् ।।

पक्षान्तरमाह—'द्वौ वा दैवे त्रीन् पित्र्ये' । द्वौ वा दैवे देवेभ्यो द्वौ वा । पित्र्ये, अत्र 'वाय्वृतुपित्रुषसो यदि'त्यनेन कर्मार्थे यत्प्रत्ययः । 'रीङ् ऋतः' इति रीङादेशः । 'यस्येति चे'ति ईकारलोपः । पितरो देवता अस्येति पित्र्यं तस्मिन्पित्र्ये कर्मणि त्रीन् पितुरेकम्पितामहस्यैकम्प्रपितामहस्य चैकम् । याज्ञवल्क्यः—द्वौ दैवे प्राक् त्रयः पित्र्य उदगेकैकमेव वेति । मनुर्विशेषमाह—द्वौ दैवे पितृकृत्ये त्रीनेकैकमुभयत्र वा । भोजयेत्सुसमृद्धोऽपि न प्रसज्येत विस्तरम् ।। सत्क्रियां देशकालौ च शौचं ब्राह्मणसम्पदः । पञ्चैतान्विस्तरो हन्ति तस्मान्नेहेत विस्तरम् ।। ब्राह्मेऽपि—यस्माद् ब्राह्मणबाहुल्याद्दोषो बहुतरो भवेत् । श्राद्धनाशो मौननाशः श्राद्धतन्त्रस्य विस्मृतिः ।। उच्छिष्टोच्छिष्टसंसर्गो निन्दा दातृषु भोक्तृषु । इति ।।

देशकालधनाभावे पक्षान्तरमाह—'एकैकमुभयत्र वा' । शेषान्वित्तानुसारेण भोजयेदन्यवेश्मनीति' । स्मृतिः—अयुग्मानपसव्येन पितृपूर्वं निमन्त्रयेत् । पित्रादेः सप्त पञ्च त्रीनेकैकस्यैकमेव वा ।। दैवे षट् चतुरो द्वौ वाऽप्येकैकमुभयत्र वेति ।।

'मातामहानामप्येवम्'। मातामहानामप्येवं सर्वे पक्षा भवेयुरित्यर्थः। तत्र केचिदिदमुपदेशं मन्यमाना पृथक्कृत्य मातामहश्राद्धमिच्छन्ति। यदा मातामहेभ्यो ददाति तदैत्रमिति, तदेतदुपेक्षणीयम्। अपरे तु—पार्वणं कुरुते यस्तु केवलम्पितृहेतुतः। मातामहं न कुरुते पितृहा सोऽपि जायते॥ इति स्कन्दपुराणवचनात् पितॄणामिव मातामहानामपि तस्मिन्नेव प्रयोगे दानमिच्छन्ति, तच्चातीव युक्ततरम्। तथा च—पितरो यत्र पूज्यन्ते तत्र पूज्यन्ते तत्र मातामहा ध्रुवमिति।

'तन्त्रं वा वैश्वदेविकम्'। विश्वेदेवास्तन्त्रेण वा य एव पितृभ्यो मातामहेभ्योऽपि त एव, स चायमन्यः पक्षः। तथाऽन्यदपि ब्राह्मणाभावे—एक एव यदा विप्रो द्वितीयो नोपपद्यते। पितॄणां ब्राह्मणो योज्यो दैवे त्वग्निन्नियोजयेत्॥ प्रणीतापात्रमुद्धृत्य ततः श्राद्धं समारभेदिति। तथा हि—यद्येकम्भोजयेच्छ्राद्धे दैवन्तत्र कथम्भवेत्। अन्नम्पात्रे समुद्धृत्य सर्वस्य प्रकृतस्य च॥ देवतायतने स्थाप्यं ततः श्राद्धम्प्रकल्पयेत्। प्रास्येदग्नौ तदन्नं तु दद्याद्वा ब्रह्मचारिणे॥ इति।

'श्रद्धान्वितः श्राद्धं कुर्वीत'। नात्र श्रद्धा निमित्तत्वेनोच्यते। यच्छ्राद्धं कुर्वीत स्वकाले तच्छ्रद्धयेत्यर्थः।

'शाकेनापि नापरपक्षमतिक्रामेत्'। यद्यन्नं न लभेत तदा शाकेनाप्यपरपक्षे श्राद्धं कुर्यात्। तथा च ब्रह्मपुराणे—पयोमूलफलैः शाकैः कृष्णपक्षे तु सर्वदा। पराधीनः प्रवासी च निर्द्धनो वापि मानवः॥ मनसा भावशुद्धेन श्राद्धे दद्यात् तिलोदकम्। इति। अनेनावश्यं कर्त्तव्यताऽभिहिता।

तत्र हेतुमाह—'मासि मासि वोशनमिति श्रुतेः'।

अथ धर्मानाह—'तदहः शुचिरक्रोधनोऽत्वरितोऽप्रमत्तस्सत्यवादी स्यादध्वमैथुनश्रमस्वाध्यायान्वर्जयेत्'। तदहस्तस्मिन्नहनि श्राद्धदिने एते नियमाः—शुचिर्बाह्याभ्यन्तररक्तवसनरक्तस्रावाद्यशुद्धिरहितः। अथ वा शुक्लवासाः शुचिः काषायादेः प्रतिषिद्धत्वात्॥ तथा च हारीतः—शुचयः शुचिवाससः स्युरिति। अप्रमत्त इति स्मृत्युक्तकालादिषु सावधानः। स्वाध्यायः श्राद्धमन्त्रजपादिव्यतिरिक्तवेदपाठः। मैथुनम्पूर्वदिनेऽपि। सुगममन्यत्। अन्येऽपि दातृभोक्त्रोर्नियमाः स्मृत्युक्ता ग्राह्याः। यमः—पुनर्भोजनमध्वानं भाराध्ययनमैथुनम्। सन्ध्यां प्रतिग्रहं होमं श्राद्धभोक्ताऽष्ट वर्जयेत्॥ मत्स्यपुराणे—पुनर्भोजनमध्वानम्पानमायासमैथुनम्। श्राद्धकृच्छ्राद्धभुक् चैव सर्वमेतद्विवर्जयेत्॥ स्वाध्यायं कलहञ्चैव दिवास्वापन्तथैव च। पानं सुरापानम्, तच्च यस्य प्राप्तन्तस्यैव निषेधः। दन्तधावनताम्बूलं स्निग्धस्नानमभोजनम्। रत्यौषधपरान्नञ्च श्राद्धकृत्सप्त वर्जयेत्॥ इति। दन्तानां धावने प्रायश्चित्तञ्चोक्तं विष्णुरहस्ये—श्राद्धोपवासदिवसे खादित्वा दन्तधावनम्। गायत्रीशतसम्पूतमम्बु प्राश्य विशुध्यति॥ इति। अध्वादिगमने दोषमाह यमः—आमन्त्रितस्तु यः श्राद्धे अध्वानम्प्रतिपद्यते। भ्रमन्ति पितरस्तस्य तं मासं पांसुभोजिनः॥ याज्ञवल्क्यः—अध्वनीनो भवेदश्वः पुनर्भोजी तु वायसः। होमकृन्नेत्ररोगी स्यात्पाठादायुः प्रहीयते॥ दानन्निष्फलतामेति प्रतिग्राही दरिद्रताम्। कर्मकृज्जायते दासो मैथुनी शूकरो भवेत्॥ इति। मैथुनञ्चाष्टविधम्। दक्षः—स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणङ्गुह्यभाषणम्। सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च॥ इति।

शातातपः—श्राद्धं कृत्वा परश्राद्धे भुञ्जते ये तु मोहिताः । पतन्ति पितरस्तेषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥ अन्ये च नियमास्तत्र तत्र वक्ष्यन्ते, ते च श्राद्धप्राधान्ये गौणत्वे च न्यायबाधिताः क्वापि केऽपि न भवन्ति । यथा—तीर्थश्राद्धेऽध्वा उपवासश्च न दोषाय । गर्भाधाननिमित्ते श्राद्धे मैथुनम् । अग्निहोत्रनिमित्ते श्राद्धे होमः । स्वद्वितीयविवाहश्राद्धे प्रतिग्रहः । एवं कन्यादानाभ्युदयिके दानम् । तीर्थयात्राऽऽरम्भसमाप्त्योरप्यध्वानमेव तेषाम्परतन्त्रत्वात्, एवं च सर्वत्र स्वयमूहनीयम् ।

'आवाहनादि वाग्यत ओपस्पर्शनात्' । आवाहनादि आवाहनादारभ्य आ उपस्पर्शनाद्भोक्तुराचमनपर्यन्तं यजमानो वाग्यतो भवेत्, वाग्यमनलोपे वैष्णवमन्त्रजपो विष्णुस्मरणं वा प्रायश्चित्तम् । तथा च याज्ञवल्क्यः—यदि वाग्यमलोपः स्याज्जपादिषु कथञ्चन । व्याहरेद्वैष्णवं मन्त्रं स्मरेद्वा विष्णुमव्ययम् ॥ अज्ञानाद्यदि वा मोहात्प्रच्यवेताध्वरेषु यत् । स्मरणादेव तद्विष्णोः सम्पूर्णं स्यादिति श्रुतिः ॥ तथा च शतपथश्रुतिः—अथ यद्वाचंयमो व्याहरति तस्मादुहैष विसृष्टो यज्ञः पराङावर्तते तत्र वैष्णवीमृचं वा यजुर्वा जपेदित्यादि ।

'आमन्त्रिताश्चैवम्' । आमन्त्रिता ये ब्राह्मणास्तेऽपि एवमेवानुष्ठानं कुर्युरित्यर्थः ।

इति श्रीगदाधरविनिर्मिते कातीयश्राद्धसूत्रभाष्ये प्रथमा कण्डिका ॥ १ ॥

अनुवाद—कृष्णपक्ष की प्रतिपदा से लेकर अमावास्या तक प्रतिदिन श्राद्ध करना चाहिए; अथवा पंचमी से आगे, किन्तु चतुर्दशी छोड़कर सभी तिथियों में जिस दिन द्रव्य और ब्राह्मण सुलभ हो जायें, उसी दिन ब्राह्मणों को आमंत्रित कर श्राद्ध कर ले, अथवा मृत्यु की जो तिथि हो या उससे एक दिन पूर्व भी श्राद्ध किया जा सकता है । श्राद्ध में कैसे लोगों को निमंत्रण दिया जाय ? इस सम्बन्ध में कहते हैं—त्रिविध स्नातकों को, कुछ आचार्यों के मत से यतियों को, या निर्दोष गृहस्थों को, या ज्ञानी एवं तपोनिष्ठ वृद्धों को तथा अपने कर्म में अहर्निश संलग्न एवं अनिन्दित श्रोत्रिय ब्राह्मण को श्राद्ध में निमंत्रित करना चाहिए । यदि ऐसे ब्राह्मणों का अभाव हो तो गुरु की सेवा में निरन्तर रत नैष्ठिक शिष्यों को भी आमंत्रित किया जा सकता है । अब ऐसे लोगों के सम्बन्ध में कहा जाता है, जिन्हें श्राद्ध में नहीं बुलाना चाहिए—जिनके मातृ-पितृ दोनों कुलों में वेदाध्ययन और अग्निहोत्र नहीं होता हो उन्हें नहीं बुलाना चाहिए; जो अधिक गौर वर्ण का आदमी हो उसे नहीं बुलाना चाहिए; जिसके दाँत होठों से बाहर निकले हों, जिसका सुन्नत हुआ हो तथा रोगी, विकलाङ्ग, सफेद दाग वाले, गलित कुष्ठ वाले, कुत्सित नाखूनों वाले बाह्मणों को छोड़कर अन्य ब्राह्मणों को श्राद्ध में निमंत्रिति करना चाहिए । यदि कोई व्यक्ति निमंत्रित निर्दोष ब्राह्मण को व्यतिक्रम करे तो दोष लगता है । यदि निर्दोष व्यक्ति को निमंत्रित नहीं किया जाता तो दोष लगता है । स्नान किये तथा शुद्ध पवित्र आचमन कर चुके ब्राह्मणों को वैश्वदेव के लिए चार, छः, आठ जैसी युग्म संख्या में पहले आगे के कुशों पर पूरब की ओर मुख करके बैठा दे; उसके बाद तीन, पाँच, सात जैसी अयुग्म संख्या में बैठाकर पितरों के लिए श्राद्ध करना चाहिए । श्राद्ध संबंधी यह सामान्य नियम हुआ । अब विशेष नियम बतलाते हैं ।

पितृकर्म में प्रत्येक के लिए एक, तीन, पांच, सात ब्राह्मणों को उत्तर मुँह बैठाकर श्राद्ध करना चाहिए। इसका दूसरा विकल्प भी है। देवकर्म में दो, पितृकर्म में तीन अथवा दोनों कर्मों में एक-एक ब्राह्मण बैठाकर श्राद्ध करना चाहिए। शेष ब्राह्मणों को अपनी सामर्थ्य के अनुसार दूसरे घरों में बैठाकर भोजन करा देना चाहिए। मातामह आदि के श्राद्धकर्म में भी ऐसा ही करना चाहिए। 'वैश्वदैविक' श्राद्ध-प्रक्रिया दोनों ही पक्षों के लिए एक जैसी होनी चाहिए। श्रद्धा से युक्त होकर श्राद्ध करना चाहिए। कृष्णपक्ष में यदि अन्न न जुटे तो शाक से भी श्राद्ध करना चाहिए। वेद में ऐसा वचन प्राप्त होता है कि 'प्रजापति ने पितरों से कहा कि तुम्हारे निमित्त भोजन की व्यवस्था की गयी है'। श्राद्ध के दिन भीतर-बाहर दोनों ओर से पवित्र रहना चाहिए, क्रोध नहीं करना चाहिए, शीघ्रता नहीं करनी चाहिए, सावधान रहना चाहिए, सत्य बोलना चाहिए, कहीं आना-जाना नहीं चाहिए, स्त्री-प्रसंग नहीं करना चाहिए, परिश्रम का कार्य नहीं करना चाहिए, स्वाध्याय भी नहीं करना चाहिए। श्राद्ध करने वाले को आवाहन से लेकर चुलुकदान तक सभी कर्म मंत्र रहित चुपचाप करना चाहिए। पवित्रता और सभी विधि एवं निषेधों का पालन करना चाहिए। आमंत्रितों को भी श्राद्धकर्त्ता की तरह पवित्र रहना चाहिए॥ १॥

दैवपूर्वꣳ श्राद्धं पिण्डपितृयज्ञवदुपचारः पित्र्ये द्विगुणास्तु दर्भाः पवित्रपाणिर्दद्यादासीनः सर्वत्र प्रश्नेषु पङ्क्तिमूर्द्धन्यं पृच्छति सर्वान्वासनेषु दर्भानास्तीर्य विश्वान्देवानावाहयिष्य इति पृच्छत्यावाहयेत्यनुज्ञातो विश्वेदेवास आगतेत्यनयाऽऽवाह्यावकीर्य विश्वेदेवाः शृणुतेममिति जपित्वा पितॄनावाहयिष्य इति पृच्छत्यावाहयेत्यनुज्ञात उशन्तस्त्वेत्यनयाऽऽवाह्यावकीर्यायन्तु न इति जपित्वा यज्ञियवृक्षचमसेषु पवित्रान्तर्हितेष्वेकैकस्मिन्नप आसिञ्चति शन्नोदेवीरित्येकैकस्मिन्नेव तिलानावपति तिलोऽसि सोमदैवत्यो गोसवो देवनिर्मितः। प्रत्नमद्भिः पृक्तः स्वधया पितॄँल्लोकान् प्रीणाहि नः स्वाहेति सौवर्णराजतौदुम्बरखड्गमणिमयानां पात्राणामन्यतमेषु यानि वा विद्यन्ते पत्रपुटेषु वैकैकस्यैकैकेन ददाति सपवित्रेषु हस्तेषु या दिव्या आपः पयसा सम्बभूवुर्या अन्तरिक्षा उत पार्थवीर्याः। हिरण्यवर्णा यज्ञियास्ता न आपः शिवाः शꣳस्योनाः सुहवा भवन्त्वित्यसावेषतेऽर्घ इति प्रथमे पात्रे सꣳस्रवान्त्समवनीय पितृभ्यः स्थानमसीति न्युब्जं पात्रं निदधात्यत्र गन्धपुष्पधूपदीपवाससां च प्रदानम्॥ २॥

(गदाधरभाष्यम्)—'दैवपूर्वꣳश्राद्धम्'। आ उपस्पर्शनादित्यनुवर्तते निमन्त्रणादि आचमनपर्यन्तं श्राद्धे यत्किञ्चित्क्रियते तत्सर्वं दैवपूर्वकं कर्तव्यमित्यर्थः। तथा च देवलः—यद्यत्र क्रियते कर्म पैतृकं ब्राह्मणान्प्रति। तत्सर्वं तत्र कर्तव्यं वैश्वदेवस्य पूर्वकम्॥ इति।

'पिण्डपितृयज्ञवदुपचारः पित्र्ये'। पितृकर्मणि पिण्डपितृयज्ञवत्करणं भवतीत्यर्थः।

अनेनापसव्यदक्षिणामुखवामजानुपाताद्यतिदिष्टम् । अतश्च नीवीबन्धनादिपिण्डोत्थापनपर्यन्तं पिण्डपितृयज्ञोक्तधर्मो भवतीति । एतदपवादः—अपसव्येन कर्तव्य सर्वं श्राद्धं यथाविधि । सूक्तस्तोत्रजपं मुक्त्वा विप्राणां च विसर्जनम् । अपि च—सूक्तस्तोत्रजपं मुक्त्वा पिण्डाघ्राणं च दक्षिणाम् । आह्वानस्वागते चैव विना च परिवेषणम् ॥ विसर्जनं सौमनस्यमाशिषां प्रार्थनं तथा । विप्रप्रदक्षिणाञ्चैव स्वस्तिवाचनकं विना ॥ पित्र्यमन्यत्प्रकर्तव्यं प्राचीनावीतिना सदेति जभदग्निः ।

'द्विगुणास्तु दर्भाः' । पित्र्ये इत्यनुवर्तते, तु पुनः पित्र्ये हविरुत्सर्गादौ द्विगुणीकृता दर्भा भवन्ति, अर्थाद्दैवे ऋजव इति । अत्राह बौधायनः—प्रदक्षिणं तु देवानां पितॄणामप्रदक्षिणम् । देवानामृजवो दर्भा. पितॄणां द्विगुणाः स्मृताः ॥ कात्यायनस्मृतौ विशेषः—सपिण्डीकरणं यावदृजुदर्भैः पितृक्रिया । सपिण्डीकरणादूर्ध्वं द्विगुणैर्विधिवद्भवेत् ॥ इति । दर्भलक्षणं चोक्तं यज्ञपार्श्वे—कीदृशा यज्ञिया दर्भाः कीदृशाः पाकयज्ञियाः । कीदृशाः पितृदेवत्याः कीदृशा वैश्वदेविकाः ॥ हरिता यज्ञिया दर्भाः पीतकाः पाकयज्ञियाः । समूला पितृदेवत्याः कल्माषा वैश्वदेविकाः ॥ अप्रसूताः स्मृता दर्भाः प्रसूतास्तु कुशाः स्मृताः । अमूलाः कुतपा ज्ञेया इत्येषा नैगमी श्रुतिः ॥ प्रादेशादधिका दर्भास्त्रिपत्रादियुताश्च ये । कुशास्ते याज्ञिकैः प्रोक्ताः स्नानादिषु पवित्रकाः ॥ दर्भाः किमर्थं दीयन्ते श्राद्धकालेषु किं तिलाः । किमर्थं वेदविच्छ्राद्धे किमर्थं यतिरुच्यते ॥ रक्षन्ति राक्षसान्दर्भास्तिला रक्षन्ति चासुरान् । वेदविद्रक्षयेच्छ्राद्धं यतीनां दत्तमक्षयम् ॥ इति । दर्भाभावे काशादि गृहीत्वा कर्म कुर्यात् । तथा च स्मृतौ—दर्भाभावे तु काशाः स्युः काशाः कुशसमाः स्मृताः । काशाभावे ग्रहीतव्या अन्ये दर्भा यथोचिताः ॥ दर्भाभावे स्वर्णरूप्यताम्रैः कर्मक्रिया सदा । कुशकाशशरा दूर्वा यवगोधूमबल्वजाः ॥ सुवर्णं रजतं ताम्रं दश दर्भाः प्रकीर्तिताः । स्नाने दाने तथा होमे स्वाध्याये तर्पणेऽपि च ॥ इति ।

'पवित्रपाणिर्दद्यादासीनः सर्वत्र' । सर्वत्रग्रहणाद्दैवे पित्र्ये च यत्किञ्चिद्ददाति तत्सर्वमासीनः पवित्रपाणिः सन्दद्यात् । पवित्रपाणिः कुशपाणिः पवित्रशब्दोऽत्र कुशवचनः पवित्रेस्थ इति मन्त्रलिङ्गात् । अथ वा स्मृतिप्राप्तं पवित्रपाणित्वमासीनत्वं चात्र सार्थकत्वेनानुवदति । तेन वामहस्ते कुशादानं पितॄणामावाहनेष्वासीनत्वं निषेधतीत्यर्थः । तथा च पठन्ति—वामहस्तधृतान्दर्भान् गृहे रङ्गवलींस्तथा । ललाटे तिलकं दृष्ट्वा निराशाः पितरो गताः ॥ इति । किञ्चावाहनेनागच्छत्सु पितृषु कर्तुरासीनत्वं न युक्तम् । तथा च पुराणोक्तं लिङ्गम् । अथ प्राञ्जलिरुत्थाय स्थित्वा चावाहयेत्पितॄनिति ।

'प्रश्नेषु पङ्क्तिमूर्द्धन्यं पृच्छति सर्वान्वा' । वाशब्दो विकल्पार्थः, वक्ष्यमाणेषु आवाहनादिप्रश्नेषु पङ्क्तिमूर्धन्यं पङ्क्तेराद्यं ब्राह्मणं पृच्छेत् सर्वान्वा पृच्छेत् । तुल्यविकल्पस्याष्टदोषदुष्टत्वात् व्यवस्थितविकल्पोऽयमिति श्राद्धकाशिकाकारः । तुल्यविकल्प एवायमिति कर्काचार्यादयः ।

'आसनेषु दर्भानास्तीर्य विश्वान्देवानावाहयिष्य इति पृच्छति' । आसनेऽत्र पीठेषु दर्भानास्तीर्याच्छादनं कृत्वा विश्वान्देवानावाहयिष्ये इति पृच्छेत् पङ्क्तिमूर्द्धन्यं सर्वान्वा । आसनान्याह स्मृतिः—शमीकाष्मर्यशल्लाश्च कदम्बो वारणस्तथा । पञ्चा-

सनानि शस्तानि श्राद्धे वा देवतार्चने। तथा च 'श्रीपर्णी वरुणक्षीरी जम्बूकाम्र-कदम्बजम्। सप्तमं वाकुलं पीठं पितॄणां दत्तमक्षयत्॥ इति'। आसनेषु दर्भानास्तीर्येति वदता हस्ते विष्टरवद्दानं निराकृतम्। कर्काचार्यास्त्वेवमाहुः—एतदास्तरणं सामर्थ्यात्पूर्वमुपवेशनाद् द्रष्टव्यम्। पाठक्रमादर्थक्रमस्य बलिष्ठत्वात्।

'आवाह...पृच्छति'। ततो ब्राह्मणरावाहयेत्यनुज्ञातो विश्वेदेवास आगतेत्यनया ऋचा आवाह्य वैश्वदेवब्राह्मणपुरतो यवान्प्रादक्षिण्येनावकीर्य विश्वेदेवाः शृणुतेममितीमं मन्त्रं पठित्वा पितॄनावाहयिष्य इति पृच्छति। अत्र तिलैरवकिरणमिति कर्काचार्या आहुः। अन्ये तु यवैरन्ववकीर्येति याज्ञवल्क्यवचनाद्यवैः कुर्वन्ति। द्विजानेकत्वेऽपि न प्रतिद्विजमावाहनावृत्तिः, सकृदावाहनेनैवानेकब्राह्मणाधिष्ठाने देवताध्यासनसम्भवात्।

'आवाह...देवीरिति'। आवाहयेति ब्राह्मणैराज्ञापित उशन्तस्त्वेति मन्त्रेण पितॄनावाह्य पितृब्राह्मणानामग्रतस्तिलान्प्रादक्षिण्येनावकीर्यायन्तु नः पितर इति पठेत्। यज्ञमर्हन्तीति यज्ञियाः पालाशादयः, 'यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञावि'त्ति घप्रत्ययः। ते वै पालाशाः स्युरित्युपक्रम्य एते हि वृक्षा यज्ञिया इति हविर्यज्ञकाण्डे श्रुतिः। एषामन्यतमेषु चमसेषु अनन्तर्गर्भसाग्रप्रादेशमात्रकुशद्वयसहितेषु शन्नो देवीरभिष्टय इत्यनेन एकैकस्मिन्नपो निषिञ्चेत्। चमसानां लक्षणं चोक्तं यज्ञपार्श्वे—चमसानां तु वक्ष्यामि दण्डाः स्युश्चतुरङ्गुलाः। त्र्यङ्गुलन्तु भवेत्खातं विस्तारश्चतुरङ्गुलः॥ वैकङ्कतमयाः श्लक्ष्णास्त्वग्बिलाश्चमसाः स्मृताः। अन्योन्यावपि कार्याः स्युरिति। तत्रैवोक्तम्—प्रादेशायामा इति च। पवित्रलक्षणं छन्दोगपरिशिष्टे—अनन्तर्गर्भिणं साग्रं कौशं द्विदलमेव च। प्रादेशमात्रं विज्ञेयं पवित्रं यत्र कुत्रचित्॥ इति। अत्र देवपात्रे द्वे पवित्रे पितृपात्रे त्रीणि त्रीणि भवन्ति। तदुक्तं चतुर्विंशतिमते—द्वे द्वे शलाके देवानां तिस्रस्तिस्रस्तु पार्वणे। एकोद्दिष्टे शलाकैका श्राद्धेष्वर्घेषु निक्षिपेत्॥ इति। अत्र याज्ञवल्क्यवचनेनावाहनार्घपूरणदानानां यद्यपि काण्डानुसमयः प्रतीयते, तथापि पदार्थानुसमयो बोद्धव्यः। तुल्यसमवाये सामान्यपूर्वमानुपूर्व्ययोगादिति परिभाषितत्वात्। अस्यार्थः—तुल्यानां प्रधानानां समवाये एकप्रयोगानुष्ठाने यत्साधारणमङ्गजातं तत्सर्वेषां पूर्वं भवति, तथासत्यानुपूर्व्येण पदार्थाः कृता भवन्ति। यथा—श्राद्धे पित्रादिषड्यागा एकत्र प्रयोगे क्रियन्ते तत्र निमन्त्रणादयः सर्वेषां क्रमेण पदार्था अनुष्ठिता भवन्ति। अन्यथा एकैकस्य पित्रादेः सर्वयागस्य परिसमाप्तौ द्वितीयोपक्रमे क्रमभङ्गः स्यात्। प्रथमस्य विसर्जने द्वितीयस्यामन्त्रणमापद्येत, तथासत्यानुपूर्वीभङ्गः प्रसज्येत। तच्च निषिद्धम्। तस्मादेकैकं पदार्थजातं सर्वेषामपि निर्वाह्य द्वितीयादिनिर्वाहः कार्यः। एवमपि बहुभिः पदार्थैर्व्यवधानं भवति, तच्च न दोषाय। न हि सजातीयैर्व्यवधानमिष्यते। तस्मात्सर्वेषां निमन्त्रणपाद्यादि। एवमावाहनेऽपि, आवाहनावकिरणजपसमुदायरूपम्। जपेऽप्यायन्तुन इति मन्त्रलिङ्गात्। अत एव हि एकोद्दिष्टतीर्थश्राद्धनित्यश्राद्धसाङ्कल्पिकश्राद्धेषु आवाहननिवृत्तौ त्रयमपि निवर्तते। कात्यायनस्य पदार्थानुसमय एवाभिमतः देवावाहनानन्तरं पित्रावाहनोक्तेः। एकैकस्मिन्नप आसिञ्चतीति सर्वपात्रेषु जलप्रक्षेपावगमात्। तदनन्तरमेकैकस्मिन्नेव तिलानावपतीति विधानात्। अत एकैकत्रार्घपात्रे जलादिपुष्पान्तं

प्रक्षिप्यार्घदानान्तं वा निर्वर्त्य पात्रान्तरपूरणमितिमतं न युक्तम्। किञ्च पदार्थानां क्रमानुरोधादपि पदार्थानुसमय एवार्हति। अतो निमन्त्रणादावपि पदार्थानुसमय एव।

'एकैक...स्वाहेति'। तिलोऽसीत्यनेन एकैकस्मिन्पात्रे तिलानावपति प्रक्षिपति आदौ देवपात्रे प्रक्षिप्य ततः पितृपात्रेषु प्रक्षेपः। ननु एकैकस्मिन्नित्यनुवर्तमाने पुनरेकैकस्मिन्निति ग्रहणं किमर्थम्? उच्यते—तिलोऽसीति मन्त्रे पितॄन्प्रीणाहीति बहुवचनान्तेन पितृशब्देनैकद्रव्यत्वादनूहित सकृन्मन्त्रः प्राप्नोति, तन्माभूदित्येकैकस्मिन्निति पुनर्ग्रहणम्।

'सौवर्ण...विद्यन्ते'। उदुम्बरं ताम्रमुच्यते। उदुम्बरवृक्षस्य तु यज्ञियवृक्षचमसेष्वित्यनेनैवोक्तत्वात्। मणिमयानि शङ्खशुक्तिस्फटिकादिपात्राणि। एषां मध्ये एकस्य पात्राणि क्रियन्ते यानि वा विद्यन्ते इति निषिद्धेतराणि मृन्मयादीन्युच्यन्ते। तथा च छन्दोगपरिशिष्टे—आसुरेण तु पात्रेण यस्तु दद्यात् तिलोदकम्। पितरस्तस्य नाश्नन्ति दशवर्षाणि पञ्च च॥ कुलालचक्रनिष्पन्नमासुरं मृन्मयं स्मृतम्। तदेव हस्तघटितं स्थाल्यादि दैविकं भवेत्॥ इति। राजतं तु पित्र्य एव। तदुक्तं वायुपुराणे—तथाऽर्घपिण्डभोज्येषु पितॄणां राजतं मतम्। अमङ्गल्यं तु यत्नेन देवकार्येषु वर्जयेत्॥ इति।

'पत्रपुटेषु वा'। वाशब्दो विकल्पार्थः। पूर्वसूत्रोक्तविहितप्रतिषिद्धनिषेधार्थं इति श्राद्धकाशिकाकारः। पूर्वोक्तानामलाभे पालाशादियज्ञियवृक्षपत्रपुटेषु वाऽर्घं पूरयेत्। तथा चोक्तं ब्रह्मपुराणे—अथ पत्रपुटे दत्वा मुनीनां वल्लभो भवेदिति। तानि च पात्राणि पितृभ्यो मातामहेभ्यश्च त्रीणि त्रीणि क्रियन्ते। यत आह—

'एकैक...तेऽर्घ इति'। अत्र 'सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः' इति चतुर्थ्यर्थे षष्ठी विभक्तिः। एकैकस्य पित्रादेः सम्बन्धिब्राह्मणहस्तेषु सपवित्रेषु या दिव्या इति मन्त्रेण अमुकशर्मन् एष ते अर्घ इति अर्घं दद्यात्। असावित्यत्र यथादैवतं नामग्रहणं कार्यम्। 'असावित्यपनोदे' इति परिभाषायामुक्तत्वात्। तस्यायमर्थः—यत्र मन्त्रमध्ये असावित्येवं सर्वनामपदं पठितं भवति तत्र तत्सर्वनामपदमपनोदे अपनये वर्तते, तस्यापनोदमपनयं निष्कासनं कृत्वा तस्य स्थाने यद्विवक्षितं तस्य नाम्नः प्रक्षेपः कार्यः। सपवित्रेष्वित्यनेन तन्त्रेण सर्वब्राह्मणहस्तेषु सूचितम्। न प्रतिहस्तं मन्त्रावृत्तिः। एकैकस्येत्यनेन प्रतिपुरुषं हस्तार्घदानमिति सूचितम्। अत्राह कात्यायनः—अर्घेऽक्षय्योदके चैव पिण्डदानावनेजने। तन्त्रस्य तु निवृत्तिः स्यात्स्वधावाचन एव च॥ इति। अत्रायं प्रकारः—पितुर्यावन्तो ब्राह्मणास्तेषां सपवित्रेषु ज्येष्ठोत्तरहस्तेषु पितुरेकस्यैकोऽर्घो दातव्यः। एवं पितामहप्रपितामहयोः। मातामहानामप्येवं ज्ञेयम्। पवित्राणि यान्यन्तर्द्धायोदकमासिक्तं तान्येव भवन्ति, प्रकृतत्वात्। अत्रैके पवित्रान्तरमुत्पादयन्ति। एषामेकत्र विनियुक्तानां विनियोगान्तराभावात्। तदयुक्ततरम्। यथा मन्त्राणां क्रियया पुनः पुनर्विनियोगः, एवं कुशानामपि। तथाहि—दर्भाः कृष्णाजिनं मन्त्रा ब्राह्मणाश्च विशेषतः। न ते निर्माल्यतां यान्ति योज्यमानाः पुनः पुनः॥ इति। तस्मात्तान्येव भवन्ति। अत्र केचिदेकद्रव्ये कर्मावृत्तौ सकृन्मन्त्रवचनं कृतत्वादिति न्यायेन सकृन्मन्त्र-

वचनमिच्छन्ति । कर्कमते तु प्रतिप्रक्षेपं मन्त्रो ग्रहणवत् । तथाऽस्माकमपि । अत्र केचि-द्दैवं पूरयित्वा तदनन्तरं चार्घं दत्वा ततः पित्र्यस्य पात्रजातस्य पूरणादि कुर्वन्ति । तदसत् । नहि काण्डानुसमयस्यात्र प्रमाणमस्ति, पदार्थानुसमयोऽयम्, तस्मात् समानं पूरणम् । ततो दानम् । स्मृत्यन्तरसम्भवेऽपि प्रवाहो यद्यस्ति ततो विकल्पोऽयमिति । अत्रैके 'पूरयेत् पात्रयुग्मं तु' इति मत्स्यपुराणोक्तेः 'एकैकस्य तु विप्रस्य अर्घं पात्रे विनिक्षिपेत्' इति प्राचेतसोक्तेश्च वैश्वदेविके ब्राह्मणसङ्ख्यया पात्राणि कुर्वन्ति । कर्कमते त्वेकमेव पात्रं दैवे । केचिद् द्विजहस्तधृतं पवित्रं पुनरर्घपात्रे गृह्णन्ति । तदतीव मन्दम् । दत्तस्योपादाने प्रमाणाभावात् । यादिव्या इत्यस्यार्थः—आपः पानीयानि पयसा सम्बभूवुः सङ्गमना बभूवुः । माधुर्यशीतत्वादिना एकीभूताः । कस्ता आपः या दिव्याः दिवि स्वर्गे भूताः उत अपि या आन्तरिक्षाः आकाशे भूताः । उत अपि पार्थिवीर्याः पृथिव्यां भूताः उतशब्द उभाभ्यां सम्बध्यते । किम्भूताः ? हिरण्यवर्णाः हिरण्यं रजतं तत्समानवर्णाः शुक्लवर्णा इत्यर्थः । पुनः किम्भूताः ? यज्ञियाः यज्ञार्हाः । ता आपः नः अस्माकं शिवाः क्षेमा भवन्तु व केवलं क्षेमाः, अपि शं कल्याण्यो भवन्तु । स्योनाः सुखदा भवन्तु । सुहवाः सुष्ठु ब्राह्मणहस्ते कृता भवन्त्वित्यनेनैव सम्बन्धः । स्योना इति सुखस्य नाम इति यास्कः । एकैकमुभयत्र वेत्यस्मिन्पक्षेऽपि पित्र्यपात्रत्रयं कार्यम् ।

'प्रथमे···धाति' । संस्रवशब्देनार्घपात्रलग्ना अवयवा अभिधीयन्ते । सꣳस्रवो ह्येव खलु परिशिष्टो भवतीति श्रुतिवाक्यात् । प्रथमे पात्रे पितुः प्रथमे अर्घपात्रे संस्रवान् समवनीय निक्षिप्य पितृभ्यः स्थानमसीत्यनेन मन्त्रेण तत्प्रथमं पात्रं न्युब्जमधोमुखन्निद-ध्यात् । अत्राह यमः—पैतृकं प्रथमं पात्रं तस्मिन्पैतामहं न्यसेत् । प्रपितामहं ततो न्यस्य नोद्धरेन्न विचालयेत् ॥ पैतामहं संस्रवमित्यर्थः । पुराणे विशेषाः—आसिच्य प्रथमे पात्रे सर्वपात्रस्थसंस्रवान् । ताभिरद्भिर्मुखं सिञ्चेद्यदि पुत्रमभीप्सति ॥ चतुर्विंशतिमते—संस्रवान्प्रथमे पात्रे निर्णीयाद्भिर्मुखं स्पृशेत् । अद्भिर्मुखस्पर्शनस्य पुरुषार्थत्वाद्विकृताव-प्रवृत्तिः । तच्च न्युब्जीकरणं पित्र्यब्राह्मणस्य वामपार्श्वे । तथा मत्स्यपुराणे—या दिव्येत्यर्घमुत्सृज्य दद्याद् गन्धादिकं ततः । वस्त्रोत्तरं चानुपूर्वं दत्त्वा संस्रवमादितः ॥ पितृपात्रे प्रदायाथ न्युब्जमुत्तरतो न्यसेदिति । उत्तरशब्दो वामवचनः, स चाचाराद् भोक्तुरेव । ब्राह्मणहस्तगलितार्घोदकानि पितृपात्रे प्रसिच्य दक्षिणाग्रेषु कुशेषु पितृभ्यः स्थानमसीति सपवित्रं न्युब्जं कृत्वा तस्योपर्यर्घ्यपात्रपवित्राणि क्षिप्त्वा तिलपुष्पादि क्षिप्त्वा तत्पात्रमासमाप्तेर्नं चालयेत् । मातामहेषु चैवमिति स्मृत्यर्थसारे ।

'अत्र गन्धपुष्पधूपदीपवाससां च प्रदानम्' । अत्रास्मिन्नवसरे विप्रेभ्यो गन्धादिकं दद्यात् । गन्धादीनां स्मृत्यन्तरोक्तो विशेषो द्रष्टव्यः । चन्दनकुङ्कुमकर्पूरागुरुपद्म-काष्ठान्यनुलेपनार्थे इति विष्णुनोक्तम् । पुष्पे पद्मोत्पलमल्लिकायूथिकाशतपत्रचम्पकानि गन्धरूपसम्पन्नान्यपि श्वेतानि, धूपे घृतमधुसंयुक्तं गुग्गुलं श्रीखण्डागुरुरसादि दद्यात् । प्राण्यङ्गं सर्वं धूपार्थे न दद्यात् । दीपे शङ्खः—घृतेन दीपो दातव्यस्तिलतैलेन वा पुनः । वसामेदोद्भवं दीपं प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥ वस्त्रे—शुक्लं शुद्धमहतं सदशं वस्त्रं दद्यात् । चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः । तेन सत्यां सम्पत्तौ सूत्रोक्तेभ्योऽन्यदपि दातव्यम् । तथा

वायुपुराणे—लोके श्रेष्ठतमं सर्वमात्मनश्चापि यत्प्रियम् । सर्वं पितॄणां दातव्यं तदेवाक्षयमिच्छता ॥ इति । यज्ञोपवीतं यो दद्याच्छ्राद्धकाले तु धर्मवित् । पावनं सर्वविप्राणां ब्रह्मदानस्य तत्फलम् ॥ दानं च पितृसम्प्रदानकम् । प्रतिपत्तिस्तु ब्राह्मणेषु । अत्र यद्यपि गन्धपुष्पधूपदीपाच्छादनानां मिलितानां प्रदानं प्रतीयते, तथापि स्मृत्यन्तरदर्शनाद् गन्धादीनामेकैकं देवादिमातामहाद्यन्तमुत्सृज्य दद्यात् । तथा च छन्दोगपरिशिष्टे—गन्धोदकं च दातव्यं सन्निकर्षक्रमेण तु । गन्धान्ब्राह्मणसात्कृत्वा पुष्पाण्यृतुभवानि च ॥ धूपं चैवानुपूर्व्येण अग्नौ कुर्यादतः परमिति । वस्त्राभावे मूल्यं वा अलाभे उत्तरीयं यज्ञोपवीतं वा दद्यादिति स्मृत्यर्थसारे । अस्मिन्नवसरे ब्राह्मणाग्रे भोजनानि निधाय मण्डलानि कुर्यात् । अत्राह शङ्ख—चतुष्कोणं द्विजाग्र्यस्य त्रिकोणं क्षत्रियस्य तु । मण्डलाकृति वैश्यस्य शुद्रस्याभ्युक्षणं स्मृतम् ॥ इति । ब्रह्मपुराणे—मण्डलानि च कार्याणि नैवारैश्चूर्णकैः शुभैः । गौरमृत्तिकया वापि प्राणीतेन च भस्मना ॥ प्रणीत आवसथ्याग्निस्तदीयेन भस्मना ॥ तत्र मन्त्रः—यथा चक्रायुधो विष्णुस्त्रैलोक्यम्परिरक्षति । एवं मण्डलभस्मैतत्सर्वंभूतानि रक्षतु ॥ इति ।

इति श्रीगदाधरविनिर्मिते कातीयश्राद्धसूत्रभाष्ये द्वितीया कण्डिका ॥ २ ॥

अनुवाद—वैश्वदेव पूर्वक श्राद्धजन्य पितृकर्म में पिण्ड पितृयज्ञ के समान ही अनुष्ठान होता है । पितृकर्म में उसकी संख्या दुगुनी होती है, क्योंकि पितृकर्म में या देवकर्म में जो कुछ भी दिया जाता है, हाथ में उस स्थिति में उसकी पवित्री का होना आवश्यक होता है । आवाहन आदि प्रश्नों को पंक्ति के प्रारम्भ में बैठे हुए पहले ब्राह्मण से पूछना चाहिए अथवा ऐसी स्थिति में कुछ आचार्यों का विचार है, कि कर्मस्थल पर उपस्थित सभी ब्राह्मणों से एक साथ ही प्रश्न पूछना चाहिए । आसनों पर पहले कुशों को फैला देना चाहिए, उसके बाद यह प्रश्न पूछना चाहिए कि 'हम सभी देवताओं का आवाहन करेगें' । जब ब्राह्मण यह कहे कि आवाहन करो तब 'विश्वेदेवास आगत:' इस ऋचा से आवाहन करके वैश्वदेव ब्राह्मणों के समक्ष प्रदक्षिणा-विधि से जौ को बिखेर देना चाहिए । पुनः कर्त्ता ब्राह्मणों से 'विश्वेदेवा शृणुते मम' इस मंत्र को पढ़ते हुए पूछे कि 'हम पितरों का आवाहन करेगें' । जब ब्राह्मण कहे 'आवाहन करो' तब उनका आदेश लेकर 'उशन्तस्त्वा' इस मंत्र से पितरों का आवाहन करे, फिर पितृ और ब्राह्मणों के आगे तिलों को फैला दे और 'आयन्तु नः पितर:' इत्यादि मंत्र पढ़े । इसके बाद पलाश की लकड़ी से बने चमसों में जिसमें घी लगा हो 'शन्नो देवीरभिष्टय' मन्त्र पढ़कर जल डाल दे । इसके बाद 'तिलोऽसि' इत्यादि मन्त्र पढ़कर प्रत्येक पात्र में थोड़ा-थोड़ा तिल डाल दे । पहले देवपात्र में तिल डाले उसके बाद ही पितृ-पात्रों में सोने, चाँदी, ताँबे, शंख, सीपी, स्फटिक आदि के बने बर्तनों में अथवा यदि इनका अभाव हो तो पत्तों के बने दोनों में एक-एक के लिए ब्राह्मणों के पवित्र हाथों में 'या दिव्या आप:' यह मन्त्र पढ़कर तथा 'अमुकशर्मन् एष ते अर्घ:' कहकर अर्घ्य दे देना चाहिए । पिता के लिए प्रथम अर्घ्य-पात्र में रखे जल-बिन्दुओं को डालकर 'पितृभ्यः स्थानमसि' इस मन्त्र से उसे उलट कर रख देना चाहिए । इसके बाद ब्राह्मणों को गन्ध, पुष्प, धूप-दीप, अन्न-वस्त्र प्रदान करना चाहिए ॥ २ ॥

उद्धृत्य घृताक्तमन्नं पृच्छत्यग्नौ करिष्य इति कुरुष्वेत्यनुज्ञातः पिण्डपितृयज्ञवद्धुत्वा हुतशेषं दत्वा पात्रमालभ्य जपति पृथिवी ते पात्रं द्यौरपिधानं ब्राह्मणस्य मुखे अमृते अमृतं जुहोमि स्वाहेति वैष्णव्यर्चा यजुषा वाऽङ्गुष्ठमन्नेऽवगाह्यापहता इति तिलान्प्रकीर्योष्णꣳ स्विष्टमन्नं दद्याच्छक्त्या वाऽश्नत्सु जपेद्व्याहृतिपूर्वाङ्गायत्रीꣳ सप्रणवाꣳ सकृत्त्रिर्वा राक्षोघ्नीः पित्र्यमन्त्रान्पुरुषसूक्तमप्रतिरथमन्यानि च पवित्राणि तृप्तान् ज्ञात्वाऽन्नं प्रकीर्य सकृत्सकृदपो दत्वा पूर्ववद्गायत्रीञ्जपित्वा मधुमतीर्मधुमध्विति च तृप्ताः स्थेति पृच्छति तृप्ताः स्म इत्यनुज्ञातः शेषमन्नमनुज्ञाप्य सर्वमन्नमेकतोद्धृत्योच्छिष्टसमीपे दर्भेषु त्रींस्त्रीन् पिण्डानवनेज्य दद्यादाचान्तेष्वित्येक आचान्तेषूदकं पुष्पाण्यक्षतानक्षय्योदकं च दद्यादघोराः पितरः सन्तु सन्त्वित्युक्ते गोत्रं नो वर्धतां वर्धतामित्युक्ते दातारो नोऽभिवर्धन्तां वेदाः सन्ततिरेव च । श्रद्धा च नो माव्यगमद् बहुधेयञ्च नोऽस्त्वित्याशिषः प्रतिगृह्य स्वधावाचनीयान्त्सपवित्रान् कुशानास्तीर्य स्वधां वाचयिष्य इति पृच्छति वाच्यतामित्यनुज्ञातः पितृभ्यः पितामहेभ्यः प्रपितामहेभ्यो मातामहेभ्यः प्रमातामहेभ्यो वृद्धप्रमातामहेभ्यश्च स्वधोच्यतामित्यस्तु स्वधेत्युच्यमाने स्वधावाचनीयेष्वपो निषिञ्चति ऊर्ज्जमित्युत्तानं पात्रं कृत्वा यथाशक्ति दक्षिणां दद्याद् ब्राह्मणेभ्यो विश्वेदेवाः प्रीयन्तामिति दैवे वाचयित्वा वाजेवाजेवतेति विसृज्यामावाजस्येत्यनुव्रज्य प्रदक्षिणीकृत्योपविशेत् ॥ ३ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'उद्धृत्य···रिष्य इति'। वैश्वदेवादन्नादुद्धृत्य घृताक्तमन्नं घृतप्लुतं पात्रान्तरे कृत्वा ततः पृच्छति, अग्नौ करिष्य इत्यनेन मन्त्रेण। प्रश्नस्वरूपनिर्देशार्थं इतिकारः। अतश्च पर्यायान्तरेण प्रश्नाभावः। घृताक्तमिति निष्ठा भूतेऽर्थे। ततश्चाधिश्रितस्यैवाभिघारणम्। श्रुतिः—ताꣳश्रपयति तस्मिन्नधिश्रित आज्यं प्रत्यानयत्यग्नौ वै देवेभ्यो जुह्वत्युद्धरन्ति मनुष्येभ्योऽथैवम्पितृणामिति पिण्डपितृयज्ञे हेतूपन्यासात् पित्र्यत्वस्यात्रापि तुल्यत्वात्। घृताक्तग्रहणं सूपशाकादिनिवृत्त्यर्थम्। तथा च विष्णुपुराणे—जुहुयाद्व्यञ्जनक्षारवर्जमिति।

'कुरुष्वे···स्वाहेति'। ततः पङ्क्तिमूर्द्धन्येन सर्वैर्वा कुरुष्वेत्यनुज्ञातः पिण्डपितृयज्ञवद्धुत्वा हुतशेषं ब्राह्मणभाजनेषु दत्वा पात्रमालभ्य समन्तात्स्पृष्ट्वा पृथिवीत इति मन्त्र जपेत्। पात्रमालभ्य जपः, न तु मन्त्रान्ते आलभेत, पात्रस्योद्देश्यमानत्वात्प्रतिपात्रमालम्भनम्। पिण्डपितृयज्ञवदुपचार इत्यनेन पिण्डपितृयज्ञातिदेशश्चोक्तः, पुनः पिण्डपितृयज्ञग्रहणं परिस्तरणादिपदार्थनिवृत्त्यर्थं द्रष्टव्यम्। होममात्रस्यात्रातिदेशः। स चायमग्नौकरणहोमः साग्निनाऽऽवसथ्येऽग्नौ कर्तव्यः। तथा च याज्ञवल्क्यः—कर्म स्मार्तं विवाहाग्नौ कुर्वीत प्रत्यहं गृही। दायकालाहृते वाऽपि श्रौतं वैतानिकाग्निषु॥ इति। स्मार्तमत्र श्राद्धं तदङ्गभूतः अग्नौकरणहोम आवसथ्येऽग्नौ भवति। न च प्रकृतिविकृतिभावेनास्य श्रौतत्वम्। कार्यातिदेशात्। स्वरूपातिदेशे तु अवहननफलीकरणपूर्वकचर्वादि-

प्रवृत्तिरपि स्यात् । कार्यातिदेशे तु पुनरितिकर्तव्यतामात्रमेव प्राप्नुयात् । अतः स्मार्तत्वादावसथ्याग्नावेव होमः । आहिताग्निस्तु जुहुयाद् दक्षिणाग्नौ समाहितः, इति यन्मार्कण्डेयेनोक्तं तत्सर्वाधानपक्षे ज्ञातव्यम् । आहृत्य दक्षिणाग्निं तु होमार्थं वै प्रयत्नतः । अग्न्यर्थं लौकिकं वापि जुहुयात्कर्मसिद्धये ॥ इति वायुपुराणीयमपि औपवसथ्याहरणपक्षे वेदितव्यम् । अग्न्यभावे मनुराह—अग्न्यभावे तु विप्रस्य पाणावेवोपपादयेत् । यो ह्यग्निः स द्विजो विप्रैर्मन्त्रदर्शिभिरुच्यते ॥ इति । कात्यायनः—पित्र्ये यः पङ्क्तिमूर्द्धन्यस्तस्य पाणावनग्निकः । कृत्वा मन्त्रवदन्येषां तूष्णीं पात्रेषु निक्षिपेत् ॥ इति । द्विजाभावे मत्स्यपुराणे—अग्न्यभावे तु विप्रस्य पाणौ वाऽथ जलेऽपि वा । अजकर्णेऽश्वकर्णे वा गोष्ठे वाऽथ शिवान्तिके ॥ इति । पाणिहोमपक्षे अनुज्ञावचने न स्तः प्रतिकृतित्वात् । हुतशेषदाने विप्रतिपत्तिः । हुतशेषानुल्लेखात्साधारण्याद् दैवे पित्र्ये च देयमिति कर्काचार्यमतम् । कल्पतरुहेमाद्रिमिताक्षराकाराणां मते पित्र्य एव । एतदुभयं समूलम् । शाटचायनिः—हुतशेषं पूर्वं दैवे दत्त्वा पश्चात् पित्र्ये दद्यादिति । यमः—अग्नौकरणशेषं तु पित्र्ये तु प्रतिपादयेत् । प्रतिपाद्य पितॄणां तु न दद्याद्वैश्वदेविके ॥ इति । धर्मप्रदीपके—अग्न्यभावे तु विप्रस्य हस्ते हुत्वा तु दक्षिणे । शेषयेत् पितृविप्रार्थं पिण्डार्थं शेषयेत्ततः ॥ इति । पात्रमालभ्य जपतीत्यत्र पात्रस्थान्नालम्भ इति केचित् । तदतीव मन्दम् । यथा—'गार्हपत्यमुत्तरेणोदपात्रं निधायालभते' इत्यत्र कर्काचार्यैः पात्रालम्भ उक्तस्तथाऽत्रापि पात्रालम्भ एव । ब्रह्मपुराणे विशेषः—दक्षिणं तु करं कृत्वा वामोपरि निधापयेत् । दैवं पात्रमथालभ्य पृथिवी ते पात्रमुच्चरन् ॥ दक्षिणोपरि वामं च कृत्वा पित्र्यपात्रस्यालम्भनमिति । पृथिवी ते पात्रमित्यस्यार्थः । हे अग्नौकरणशेष ! ते तव पात्रम् आधारः पृथिवी विश्वाधारभूता अपिधानं द्यौः आकाशं त्वाममृतं हुतशेषं ब्राह्मणस्य मुखे जुहोमि । किं लक्षणे अमृते अभक्ष्यभक्षणादिभिरदूषित इत्यर्थः । ब्राह्मणस्य मुखे अग्निसदृशे त्वाममृतञ्जुहोमीति वाक्यार्थः । ब्राह्मणस्याग्निसदृशत्वमाहापस्तम्वः—पितरोऽत्र देवता ब्राह्मणस्त्वाहवनीयार्थ इति ।

'वैष्ण···न्विकीर्य' । वाशब्दो विकल्पार्थः । नियताक्षरपादावसाना ऋक् । अनियताक्षरपादावसानं यजुरुच्यते । अत्र ऋग् इदं विष्णुः । विष्णो हव्यं रक्षस्वेति यजुः । इदं विष्णुरित्यन्ने द्विजाङ्गुष्ठं निवेशयेदिति वचनात् तयोरन्यतरेण ब्राह्मणभोजनस्थिते अन्ने द्विजाङ्गुष्ठमधोमुखं निवेश्यापहता इति मन्त्रेण ब्राह्मणानामग्रतो भूमावेव तिलान्प्रकिरेत् । रक्षोघ्नत्वादुदङ्मुखानामिति कर्कः । अविशेषादितरेषामपीति केचित् । तन्न । स्वत एव रक्षोघ्नत्वात्तेषाम् ।

परिवेषणमाह—'उष्ण६·स्विष्टमन्नं दद्यात्' । यावदुष्णं भवेदन्नं तावद् देयम् । स्विष्टं यद् ब्राह्मणाय प्रेताय कर्त्रे वा रोचते । अन्नं भक्ष्यभोज्यलेह्यचोष्यपेयात्मकं पञ्चविधम् । यद्यप्यत्र सूत्रकृता सामान्येनोक्तमन्नं दद्यादिति, तथापि स्मृत्यन्तराद्धविष्यं, व्रीहिशालियवगोधूममुद्गमाषमुन्यन्नकालशाकशुण्ठीमरिचहिङ्गुगुडशर्कराकर्पूरसैन्धवसम्भारपनसनारिकेलकदलीबदरगव्यपयोदधिघृतपायसमधुमांसप्रभृतीनि दद्यात् । सस्यं क्षेत्रगतं प्राहुः सतुषं धान्यमुच्यते । आमान्नं वितुषं ज्ञेयं पक्वमन्नमुदाहृतम् ॥ इति

परिभाषणात्केचिदत्र पक्वमेवान्नमित्याहुः। परिवेषणं तूभाभ्यामपि हस्ताभ्यामादाय कुर्यात्। तदुक्तं मनुना—उभाभ्यामुपसङ्गृह्य स्वयमन्नस्य वर्द्धितमिति। विशेषमाह कार्ष्णाजिनिः—अपसव्येन कर्तव्यं पित्र्यं कृत्यमशेषतः। अन्नदानादृते सर्वमेव माता-महेष्वपि ॥ इति। अपसव्येन यस्त्वन्नं ब्राह्मणेभ्यः प्रयच्छति। विष्ठामश्नन्ति पितरस्ते च सर्वे द्विजोतमाः ॥ इति। तदेतद् दानं परिवेषणमेव। 'शक्त्या वा'। स्विष्टान्नाभावे यदन्नमेव शक्त्या दातुं शक्यते तद्देयमित्यर्थः। अस्मिन्समये अन्नसङ्कल्पः कार्यः। तत्रैवं प्रयोगः—इदमन्नं यद् दत्तं यच्च दास्यमानं तृप्तिपर्यन्तं तत्सर्वं विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा। ततोऽमुकसगोत्रेभ्योऽस्मत्पितृपितामहप्रपितामहेभ्योऽमुकामुकशर्मभ्यो वसुरुद्रादित्यस्व-रूपेभ्यः इदमन्नं यद् दत्तं यच्च दास्यमानं तृप्तिपर्यन्तं तत्सर्वं तेभ्यः स्वधेति। मातामहा-नामप्येवं सङ्कल्पं कुर्यात्। यद्यप्यत्र ब्राह्मणहस्तेषूदकदानमाम्नातं नास्ति, तथापि शाखान्तरसूत्रात्कर्तव्यम्। द्विजैश्च पर्युंक्षणादिप्राणाहुत्यन्ताः सर्वेऽपि भोजननियमा विधेयाः। केवलं भूसौ बलिहरणमेव न कार्यम्। तत्र बलिहरणे महादोषश्रवणात्।

'अश्नत्सु···वित्राणि'। एकवारमिति सकृत्, वारत्रयमिति त्रिः। अत्र सङ्ख्याभ्या-वृत्तिगणनेऽर्थे 'द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्' इति सूत्रेण कृत्वसुचोऽपवादत्वेन त्रीत्यस्याग्रे सुच् प्रत्ययः। एकस्य सकृच्चेति सूत्रेणैकस्य सकृदादेशः। सुच् प्रत्ययश्चोक्तार्थे। अश्नत्सु ब्राह्मणेषु व्याहृतिपूर्वां गायत्रीं सप्रणवां सकृत्त्रिर्वा जपेत् संहितास्वरेण पठेत्। तत्रायं क्रमः—प्रणवं प्राक् प्रयुञ्जीत व्याहृतीस्तदनन्तरम्। सावित्रीश्चानुपूर्व्येण ततो वर्णान्सि-मुच्चरेत् ॥ राक्षोघ्नीः कृणुष्व पाज इत्याद्याः पञ्चर्चः। पित्र्यमन्त्रानुदीरतामवर इत्यादि-कास्त्रयोदशर्चः। पुरुषसूक्तं सहस्रशीर्षेत्यादिकाः षोडशर्चः। अप्रतिरथम् आशुः शिशान इत्याद्याः सप्तदशर्चः द्वादशर्चो वा। अन्यानि रुद्रप्रभृतीनि। अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहे-त्यादीन्पित्र्यमन्त्रान् जपेत्। अत्र च व्यपदेशस्तानस्वरबाधनार्थः। मनुः—स्वाध्यायं श्रावयेत्पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हीति। मत्स्यपुराणे विशेषः—ब्रह्मविष्ण्वर्करुद्राणां स्तोत्राणि विविधानि च। इन्द्रेशसोमसूक्तानि पावमानीश्च शक्तितः ॥ बृहद्रथन्तरं तद्वज्ज्येष्ठसाम सरौरवम्। मण्डलब्राह्मणं तद्वत्प्रीतिकारि च यत्पुनः ॥ विप्राणामात्मन-श्चैव तत्सर्वं समुदीरयेत्। इन्द्रादिसूक्तानि च ऋग्वेदे प्रसिद्धानि। पुनन्तु मेत्याद्याः पाव-मान्यः। त्वामिद्धि हवामह इत्यस्यामृचि गीयते यत्तद् बृहत्साम। अभित्वाशूरनोनुम इति रथन्तरम्। मूर्द्धानन्दिव इति ज्येष्ठसाम। पुनानः सोमेति रौरवम्। ऋचं वाच-मिति शान्तिकाध्यायः। यदेतन्मण्डलमित्यग्निरहस्ये मण्डलब्राह्मणं प्रसिद्धम्। इयं पृथिवीति बृहदारण्यके मधुब्राह्मणम्। गरुडपुराणे—यो विष्णुहृदयं मन्त्रं श्राद्धेषु नियतः पठेत्। पितरस्तर्पितास्तेन पयसा च घृतेन च ॥ चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च द्वाभ्यां पञ्चभिरेव च। हूयते च पुनर्द्वाभ्यां स मे विष्णुः प्रसीदतु ॥ यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपोयज्ञ-क्रियादिषु। न्यूनं सम्पूर्णतां याति सद्यो वन्दे तमच्युतम् ॥ इति विष्णुहृदयमन्त्रः। ओ श्रावयेति चत्वारि अक्षराणि, अस्तु श्रौषडिति चत्वारि, यजेति द्वे, यजामहे इति पञ्च, वौषडिति द्वे, एतैर्यो हूयते स यज्ञपुरुषो विष्णुर्मम प्रसीदत्वित्यर्थः। एतदनुसारि शतपथे वाक्यम्। तदेतद्य ज्ञानस्यायातयामो श्रावयेत्यारभ्य ओश्रावयेति चतुरक्षरमस्तु श्रौष-

डिति चतुरक्षरं यजेति द्व्यक्षरं ये यजामहे इति पञ्चाक्षरं द्व्यक्षरो वषट्कार इति। उक्तजपासम्भवे मत्स्यपुराणे—अभावे सर्वविद्यानां गायत्रीजपमाचरेदिति।

'तृप्तान्···ध्विति च'। तृप्तान्ब्राह्मणान् ज्ञात्वा ब्राह्मणानामग्रतोऽन्नं विकिरेदिति। मनुः—सार्ववर्णिकमन्नाद्यं सन्नीयाप्लाव्य वारिणा। परिक्षिपेद् भुक्तवतामग्रतो विकिरन् भुवि।। वृहस्पतिः—सोदकं विकिरेदन्नं मन्त्रं चेमं समुच्चरेत्। अग्निदग्धाश्च ये जीवा येऽप्यदग्धाः कुले मम।। भूमौ दत्तेन तृप्यन्तु तृप्ता यान्तु पराङ्गतिमिति। तत्रैवं सर्वमन्न-मेकत्र पात्रे कृत्वोदकं निषिच्याचामेत्। ब्राह्मणानामग्रतोऽन्नं प्रकिरेदिति कर्काचार्याः। पङ्क्तिमूर्द्धन्यस्योत्तरदिग्भागे अरत्निमात्रे विकिरं दद्यादिति हेमाद्रिः। तीर्थश्राद्धे विकिराभावः। सकृत्सकृदिति वीप्सा ब्राह्मणापेक्षया, तेन वैश्वदेविकद्विजपूर्वकमेकैकस्य पाणौ तु उत्तरापोशनार्थं सकृत्सकृदुदकं दद्यात्। पूर्ववदिति प्रणवेन व्याहृतिभिश्च सर्वां गायत्रीं सकृत्त्रिर्वा जपेत्। मधुमतीरिति मधुवाता इति तिस्र ऋच उच्यन्ते, मधुमध्विति चेति च मधुमधुमध्वित्येवं त्रिरुच्चारणं कर्तव्यम्।

'तृप्ताः स्थेति पृच्छति'। तृप्ताः स्थ इत्येवं ब्राह्मणान्प्रति पृच्छति प्रश्नं करोति। अत्र बहुवचनात्सर्वे प्रष्टव्याः।

'तृप्ताः···दद्यात्'। ततस्तैर्द्विजैस्तृप्ताः स्म इत्यनुज्ञातः शेषमन्नमनुज्ञाप्य उर्वरित-स्यान्नस्यानुज्ञां दापयित्वा सर्वमन्नं सर्वप्रकारं माषान्नवर्जं पिण्डपर्याप्तमेकस्मिन्पात्रे उद्धरेद् दर्भेषु त्रींस्त्रीन्पिण्डानिति दर्भग्रहणमुपमूलसकृदाच्छिन्नोपलक्षणार्थम्। त्रींस्त्री-निति वीप्सा मातामहाभिप्रायेण। पिण्डपितृयज्ञवदुपचार इति सूत्रितत्वादत्र पिण्डपितृ-यज्ञवत्पिण्डदानम्। तेनोल्लिखत्यपहता इत्यपरेण वोल्मुकं परस्तात्करोतीत्यारभ्य वय-स्युत्तरे यजमानलोमानि वेत्यन्तं लभ्यते। अत्राह याज्ञवल्क्यः—सर्वमन्नमुपादाय सतिलं दक्षिणामुखः। उच्छिष्टसन्निधौ पिण्डान्दद्याद्वै पितृयज्ञवदिति।।

अत्र पदार्थक्रमः। उल्लेखनम् उदकालम्भः उल्मुकनिधानम् अवनेजनं सकृदा-च्छिन्नास्तरणं पिण्डदानम्। अत्र पितर इत्युक्त्वोदङ्ङातमनम्। आवृत्यजपः। पुनर-वनेजनम्। नीवीविसर्गः। नमो व इति षण्णमस्काराः। सूत्रदानम्। स्मृत्युक्तं पूजनम्। इति क्रमः।।

'आचान्तेष्वित्येके'। एके आचार्याः आचान्तेषु ब्राह्मणेषु पिण्डदानमिच्छन्ति।

'आचा···दद्यात्'। ब्राह्मणेषु सत्सु तेभ्य उदकादिकं च दद्यात्। पुष्पाणि चाप्रति-षिद्धानि पद्मोत्पलमल्लिकायूथिकाशतपत्रचम्पकाद्यानि गन्धरूपसम्पन्नान्यन्यान्यपि दद्यात्। तत्रायं प्रयोग उक्तश्छन्दोगपरिशिष्टे। अथात्र भूमिमासिञ्चेत्प्रोक्षितमिति। शिवा आपः सन्त्विति युग्मानेवोदकेन च सौमनस्यमस्त्विति पुष्पदानमनन्तरम्। अक्षतं चारिष्टं चास्त्वित्यक्षतान्प्रतिपादयेत्। अक्षय्योदकदानं तु ह्यर्घदानवदिष्यते। षष्ठ्यैव नियतं कुर्यान्न चतुर्थ्या कदाचन।। युग्मानिति वृद्धिपरं प्रकरणात्। पित्र्याद्युल्लेखा-भावाद्धस्ते प्रक्षेपमात्रस्य विधानादिदं जलादित्रिकं दैवे पित्र्ये च कार्यम्। यज्ञोपवीतिना देयमिति शङ्खधराचार्यः। तथा शातातपोऽपि—ततः पुष्पाणि सव्येन उदकानि पृथक् पृथगिति। इदं जलादिदानं दैवे सव्येनेति, पित्र्ये त्वपसव्येनेति कर्काचार्याः। हस्ते प्रति-

पादितानामपां चिरधारणे प्रयोजनाभावाच्छुचौ देशे स्थापनमेव । पुष्पाणां त्वत्र ब्राह्मणा यजमानायाशिषं प्रयच्छन्ति । मत्स्यपुराणे—आचान्तेषु पुनर्दद्याज्जलपुष्पाक्षतोदकम् । दत्वाशीः प्रतिगृह्णीयाद् द्विजेभ्यः प्राङ्मुखो द्विजः । अक्षय्योदकशब्देन दत्तान्नपानादेरानन्त्यप्रार्थनसम्बन्धि जलमभिधीयते । तच्च पितृब्राह्मणेभ्य एवेति कर्कः । सर्वेभ्यो दद्यादिति स्मृत्यर्थसारे ।

'अघोराः'''स्त्विति' । आशीःप्रार्थनं प्रपञ्चयति—तत्र यजमानः अघोराः पितरः सन्त्विति ब्रूयात् । ब्राह्मणाश्च सन्त्विति ब्रूयुः । तैस्तथोक्ते यजमानो गोत्रन्नो वर्द्धतामित्याह । ब्राह्मणैश्च वर्द्धतामित्युक्ते यजमानो दातारो नोऽभिवर्द्धन्तामिति ब्रूयात्, द्विजैर्वर्द्धन्तामित्युक्ते कर्ता वेदा वर्द्धन्तामिति ब्रूयात् । तैर्वर्द्धन्तामित्युक्ते यजमानः सन्ततिर्वर्द्धतामिति । वर्द्धतामिति ब्राह्मणाः । श्रद्धा च नो मा व्यगमदिति यजमानः, मागादिति ब्राह्मणाः । बहुदेयं च नोऽस्त्विति कर्ता । अस्त्विति ते ब्रूयुः । अत्र मनुराह—दक्षिणां दिशमाकाङ्क्षन्याचेतेमान्वरान्पितॄनिति ।

'आशिषः'''पृच्छति' । उक्तप्रकारेणाशीर्ग्रहणं कृत्वा स्वधावाचनीयसंज्ञकान् सपवित्रान्कुशानास्तीर्य पिण्डसमीपे भूमौ स्तृत्वा स्वधां वाचयिष्य इति पङ्क्तिमूर्द्धन्यं सर्वान्वा पृच्छेत् । सपवित्रान्साग्रानित्यर्थः । न्युब्जपात्रोपरिस्थितपवित्राण्यर्घपवित्रैः सह समानीय पिण्डानां पश्चिमतो दक्षिणाग्राणि निधाय स्वधां वाचयिष्य इति पृच्छेदिति हेमाद्रिः । सकुशानि पवित्राणि पिण्डानामुपर्यास्तीर्य स्वधां वाचयिष्य इति पृच्छेदिति देवयाज्ञिकाः ।

'वाच्य'''च्यतामिति' । ततस्तैर्द्विजैर्वाच्यतामित्यनुज्ञातः पितृभ्य इत्यादि स्वधोच्यतामित्येवं मन्त्रमुदाहरेत् ।

'अस्तु'''र्जमिति' । अस्तु स्वधेत्युच्यमाने सति स्वधावाचनीयेषूदकं निषिञ्चत्यूर्जमित्यनेन मन्त्रेण । आसेचनप्रयोगानामङ्गाङ्गीभावः । अवसरनिर्देशकत्वाच्छानचः । अतो वृद्धिश्राद्धेऽपि भवति । मन्त्रश्चायं समवेतार्थः । अतोऽस्य मातृश्राद्धे मातृभ्यः पितामहीभ्य इत्याद्यूहः सङ्ख्यासमवेतार्थः । अतश्चैकोद्दिष्टे नोहः ।

'उत्ता'''दद्यात्' । शक्तिमनतिक्रम्येति यथाशक्ति । अत्र शातपथी श्रुतिः—स एष यज्ञो हतो न ददक्षे । तं देवा दक्षिणाभिरदक्षयँस्तद्यदेनं दक्षिणाभिरदक्षयँस्तस्माद्दक्षिणा नामेति । स्मृतौ—गोभूहिरण्यवासांसि कन्याभवनभूषणम् । दद्याद्यदिष्टं विप्राणामात्मनः पितुरेव च ॥ इति । अदक्षिणं च श्राद्धं न कुर्यात् । तथा च श्राद्धकल्पे—न कुर्याद् दक्षिणाहीनं दहेच्छ्राद्धमदक्षिणमिति । तथा च शतपथब्राह्मणे—तस्मान्नादक्षिणं हविः स्यादिति ।

'विश्वे'''सृज्य' । वाचयित्वेति कारितत्वादध्येषणा भवति 'विश्वेदेवाः प्रीयन्तामि'ति ब्रूहीति । दैवब्राह्मणाश्च विश्वेदेवाः प्रीयन्तामिति ब्रूयुः । ततो वाजे वाजे वत इति मन्त्रेण विप्रान्विसर्जयेत् । विसर्जनं तु पितृपूर्वकम् । तथा च याज्ञवल्क्यः—वाजे वाजे इति प्रीतः पितृपूर्वं विसर्जयेदिति । निमन्त्रणादिपदार्थजातं देवपूर्वं भवति । विसर्जनं तु पितृपूर्वमिति मेधातिथिः । देवलोऽपि—पूर्वमुत्थापयेत्पितॄन्वाच्यतामिति च

ब्रुवन् । उत्थितताननुगच्छेत्तु तेभ्यः शेषं च संहरेत् ॥ पश्चात्तु वैश्वदेविकान्विप्रानुत्थापयेत् तथा । एते हि पूर्वमासीनाः समुत्तिष्ठन्ति पश्चिमाः ॥ इति ।

'आमा···विशेत्' । आमावाजस्येति मन्त्रेणानुव्रज्यानुपश्चात् द्विजान्सीमान्तं गत्वा प्रदक्षिणीकृत्य स्वगृहं प्रविशेत् ॥

अथ प्रयोगपद्धतिः—तत्र कालाः—अमावास्याऽष्टका वृद्धिः कृष्णपक्षोऽयनद्वयम् । विषुवत्सूर्यसङ्क्रमो व्यतीपातो गजच्छाया ग्रहणयुगादिमन्वादयश्च । तथा विशिष्टे देशे गयादौ विशिष्टे काले च मृताहादौ द्रव्यब्राह्मणसम्पत्सु चात्मरुचिश्चेत्याद्याः कालाः ।

अथ श्राद्धाधिकारिनिर्णयः—प्रमीतयोः पित्रोर्मुख्यो गौणाश्च पुत्राः श्राद्धं कुर्युः । तदभावे दायहरः । पौत्रः पुत्रिकापुत्रो वा तदभावे सरोदराः तत्सन्ततिर्वा तदभावे पुरोहितः तदभावे भृत्याः सुहृदश्च कुर्युः । सर्वाभावे नरपतिस्तज्जातीयैः कारयेत् । नरपतिः सर्ववर्णानां बान्धव इति स्मरणात् । ब्राह्मविवाहोढा साध्वी चेत्पुत्राभावे पत्न्येवाधिकारिणी यदि क्रयक्रीता न भवति । क्रयक्रीता च या नारी न सा पत्नी विधीयते । न सा दैवे न सा पित्र्ये दासीं तां केवलां विदुः ॥ सर्वाभावे त्वस्या अप्यमन्त्रके श्राद्धेऽधिकारः । एक एव चेत्पुत्रस्तदाऽसावनुपनीतोऽपि कृतचौलश्चेदमन्त्रकं श्राद्धं कुर्यात् । अपुत्रायाः पतिर्दद्यात्सपुत्रायाश्च न क्वचित् । पित्रा श्राद्धं न कर्तव्यं पुत्राणां च कदाचन ॥ भ्रात्रा चैव न कर्तव्यं भ्रातॄणां च कनीयसाम् । अपि स्नेहेन कुर्याच्चेत्सपिण्डीकरणं विना ॥ गयायां तु विशेषेण ज्यायानपि समाचरेत् । धनहारित्वादिनियमाभावे प्रीत्या यस्य कस्यापि वर्णस्य श्राद्धे कृते महत्फलमाह शातातपः—प्रीत्या श्राद्धं तु कर्तव्यं सर्वेषां वर्णलिङ्गिनाम् । एवं कुर्वन्नरः सम्यङ् महतीं श्रियमाप्नुयात् ॥ ब्राह्मणो ह्यसवर्णस्य यः करोत्यौर्ध्वदेहिकम् । तद्वर्णत्वमवाप्नोति इह लोके परत्र च ॥ दौहित्रेण तु सपिण्डीकरणादिव्यतिरेकेण यदा यदा पितृश्राद्धं तदा तदा मातामहश्राद्धं कर्तव्यमेव । पितरो यत्र पूज्यन्ते तत्र मातामहा अपि । अविशेषेण कर्तव्यं विशेषान्नरकं व्रजेत् ॥ तत्पिण्डपितृयज्ञव्यतिरिक्तविषयम् । अन्वष्टकासु पूर्वं सुरातर्पणेन तथैव पश्चादन्वष्टक्यां त्रिपार्वणं सपिण्डीकरणम् । यः पुनर्धनहारी दौहित्रस्तेन त्ववश्यं नवश्राद्धाद्यपि कार्यमेव । क्षयाहे तु एकपार्वणमेव साग्निकानामेकोद्दिष्टं वा । यो यत आददीत स तस्यैव श्राद्धं कुर्यादिति स्मरणात् । मातामह्यं नवश्राद्धमवश्यं धनहारिणा दौहित्रेण कार्यम् । दौहित्रेणार्थनिष्क्रत्यै कर्तव्यं विधिवत्सदा । आदेहपतनात्कुर्यात्तस्य पिण्डोदकक्रियाम् । यस्तु केवलं मातामहेन सम्बद्धः पुत्रिकापुत्रः स मातामहस्यैव नियमेन श्राद्धं कुर्यात् । पुत्रिकापुत्रश्राद्धे विशेषमाह मनुः—मातुः प्रथमतः पिण्डं निर्वपेत्पुत्रिकासुतः । द्वितीयं तु पितुस्तस्यास्तृतीयमपि तत्पितुः ॥ द्व्यामुष्यायणे पुत्रिकापुत्रे उशनसोक्तो विशेषः—मातामह्यं तु मात्रादि पैतृकं पितृपूर्वकम् । मातृतः पितृतो यस्मादधिकारोऽस्ति धर्मतः ॥ इति । क्षेत्रजे तु द्व्यामुष्यायणे देवलोक्तम्—द्व्यामुष्यायणका दद्युर्द्वाभ्यां पिण्डोदकं पृथगिति । द्वाभ्यां पितृवर्गाभ्यामित्यर्थः । द्विपितुः पिण्डदानं स्यात्पिण्डे पिण्डे द्विनामता । षण्णामत्र त्रयः पिण्डा एकैकं तु क्षयेऽहनि । पोषकः प्रथमः ततो जनकः ।

अत्र क्रमविशेषमाह । मरीचिः—सगोत्रो वाऽन्यगोत्रो वा यो भवेद्विधवासुतः ।

पिण्डश्राद्धविधानं च क्षेत्रिणे प्राग्विनिर्वपेत् ।। बीजिने तु ततः पश्चात्क्षेत्री जीवति चेत्क्वचित् । बीजिने दद्युरादौ तु मृते पश्चात्प्रदीयते ।। इति । जीवत्पितृकस्यापि क्वचित्क्वचिच्छ्राद्धाधिकारः । तत्र मैत्रायणीयपरिशिष्टे विशेषो दर्शितः—उद्वाहे पुत्रजनने पित्र्येष्ट्यां सौमिके मखे । तीर्थे ब्राह्मण आयाते षडेते जीवतः पितुः ।। पुत्रस्य श्राद्धकाला इति शेषः । जीवत्पितृकेण आश्विनप्रतिपदि मातामहश्राद्धं फलातिशयप्राप्तये नियमेन कार्यम् । जातमात्रोऽपि दौहित्रो विद्यमानेऽपि मातुले । कुर्यान्मातामहश्राद्धं प्रतिपद्याश्विने सिते ।। इति ।

अथ श्राद्धार्हब्राह्मणलक्षणम् । तत्र महाभारते—विद्यावेदव्रतस्नाता ब्राह्मणाः सर्व एव हि । सदाचारपराश्चैव विज्ञेयाः सर्वपावनाः ।। पाङ्क्तेयांस्तु प्रवक्ष्यामि ज्ञेयास्ते पङ्क्तिपावनाः । तृणाचिकेतः पञ्चाग्निस्त्रिसुपर्णः षडङ्गवित् ।। ब्रह्मदेयानुसन्तानश्छन्दोगो ज्येष्ठसामगः । मातापित्रोर्यश्च वश्यः श्रोत्रियो दशपूरुषः ।। ऋतुकालाभिगामी च धर्मपत्नीषु यः सदा । वेदविद्याव्रतस्नातो विप्रः पङ्क्तिं पुनात्युत ।। अथर्वशिरसोऽध्येता ब्रह्मचारी यतव्रतः । सत्यवादी धर्मशीलः स्वकर्मनिरतश्च यः ।। ये च पुण्येषु तीर्थेषु अभिषेककृतश्रमाः । मखेषु च समन्त्रेषु भवन्त्यवभृथप्लुताः ।। अक्रोधना ह्यचपलाः क्षान्ता दान्ता जितेन्द्रियाः । सर्वभूतहिता ये च श्राद्धेष्वेतान्निमन्त्रयेत् ।। इति । यथोक्तगुणाभावे किञ्चिद्धीनगुणाश्च वैश्वदेविकार्थमुपवेशनीयाः । पित्र्ये तु यथोक्तगुणा एव भोज्याः । गयायां तु निर्गुणा अपि तत्रस्था एव द्विजा भोज्याः । यथोक्तद्विजाभावे मातामहमातुलस्वस्रीयश्वशुरदौहित्रजामातृऋत्विग्याज्यशिष्या अपि गुणवन्तश्चेच्छ्राद्धे भोजनीयाः । अथैकस्यापि ब्राह्मणस्यालाभे अनुकल्पान्तरमुक्तं प्रभासखण्डे—अलाभे ब्राह्मणस्यैव कौशः कार्यो बटुः प्रिये । एवमप्याचरेच्छ्राद्धं षड्दैवत्यं समाहितः ।। विभक्तिङ्कारयेद्यस्तु पितृहा स प्रजायते । कौशः कुशमयो बटुः लघुमनुष्यप्रकृतिः तं बटुं ब्राह्मणत्वेन परिकल्प्य सर्वं श्राद्धं समाचरेत् । विभक्तिः कर्मणश्छेदो लोप इति यावत्, तन्न कुर्यात् । 'पात्राभावेऽखिलं कृत्वा पितृयज्ञविधिं नरः । निधाय वा दर्भबटूनासनेषु समाहितः ।। प्रेषानुप्रेषसंयुक्तं विधानं प्रतिपादयेत् । सर्वाभावे क्षिपेदग्नौ गवे दद्यादथाप्सु वा ।। नैव प्राप्तस्य लोपोऽस्ति पैतृकस्य विशेषतः' । इति देवलः । प्रैषानुप्रैषसंयुक्तमिति श्राद्धं सम्पन्नमित्यादिप्रैषप्रतिवचने स्वयमेव वदेदित्यर्थः ।।

अथ नियमाः ।। मनोवाक्कर्मभिरहिंसा निमन्त्रितब्राह्मणापरित्यागस्ताम्बूलक्षुरकर्माभ्यञ्जनदन्तधावनपरित्यागश्चेति कर्तृनियमाः । निमन्त्रणमभ्युपगम्यानपक्रमणमन्यत्राभोजनमेकत्रनिमन्त्रितस्यान्येषामन्नादेरप्यग्रहणम् । आहूतस्य कुतपकालाद्यनतिक्रमणम् । इति द्विजनियमाः । निमन्त्रणादुपरि श्राद्धान्नव्यतिरिक्तभोजनपुनर्भोजनासत्यवादिताशौचमत्वरितत्वमृतौ स्वदारेष्वपि नियुक्तस्यापि मैथुनाकरणं विशेषतः शूद्रायाः परिहरणम् । श्रमस्वाध्यायक्रोधक्रौर्यकलहद्यूतभारोद्वहनप्रतिग्रहप्रमादमुदमोहलोभाहङ्कारकार्पण्यस्तेयवर्जनम् । इत्युभयनियमाः ।

अथ श्राद्धदिनात्प्राचीनदिनकृत्यम् । तत्र कर्ता स्वगृहे निरामिषं भुक्त्वा ब्राह्मणनिमन्त्रणं प्रदोषान्ते करोति । विष्णुस्मरणं प्राणायामत्रयं कृत्वा यज्ञोपवीती उद-

ङ्मुखः प्राङ्मुखस्य द्विजस्य दक्षिणञ्जानूपस्पृश्य ॐ दैवे क्षणः क्रियतामिति वदेत्। ॐ तथेति प्रत्युक्तिः। प्राप्नोतु भवानित्युक्ते प्राप्नवानीति प्रत्युक्तिः। तत अक्रोधनै-रित्यादि श्रावयेत्। एवं मातामहविश्वदेवसम्बन्धिनिमन्त्रणम्। ततः प्राचीनावीती दक्षिणाभिमुख उदङ्मुखद्विजस्य दक्षिणञ्जानूपस्पृश्य ॐ अमुकगोत्रस्यामुकशर्मणोऽस्म-त्पितुः सपत्नीकस्य श्राद्धे क्षणः क्रियतामित्यादि। एवमयं पितुरयं पितामहस्यायं प्रपि-तामहस्येत्यादिनिर्द्धारणं कृत्वा मातामहद्विजान्निमन्त्रयेत्। यावत्सङ्ख्याश्च पितृद्विजा-स्तावत्सङ्ख्या एव मातामहद्विजास्तथैव निमन्त्रणीयाः। ततः 'अक्रोधनैः शौचपरैः सततं ब्रह्मचारिभिः। भवितव्यं भवद्भिश्च मया च श्राद्धकारिणा'॥ इति नियमाञ्छ्राव-येत्। तन्त्रेण वा वैश्वदेविकम्॥ इति श्राद्धदिनात्प्राचीनदिनकृत्यम्। पूर्वदिने निमन्त्रणासम्भवे श्राद्धदिने प्रातर्निमन्त्रणम्।

अथ श्राद्धदिनकृत्यम्। तत्र दन्तधावनवर्जं प्रातःकालिकं कर्म कृत्वा उद्वर्तनद्रव्य-स्नानीयतिलामलककल्कांस्ताम्रपात्रे सम्भृतान्कृत्तश्मश्रुनखेभ्यो निमन्त्रितद्विजेभ्यो देव-पूर्वकं प्रेष्यद्वारा दापयेत्। ततः पाकभूमेर्गोमयोपलेपादिसंस्कारकरणं महानसे च। सचै-लस्नातः सपत्नीको यजमानः स्वयं पाकमारभेत। असम्भवे तु शुचिभिः स्नातैः सवर्णैर्वा कारयेत्। ततः श्राद्धसम्भारोपकल्पनम्। अथाह्नः षष्ठे मुहूर्ते नद्यादौ नित्यस्नानं ततः कर्माङ्गस्नानम्। ततः श्राद्धार्थमुदकमानीय पत्न्या सह शुचिः शुक्लवासाः श्राद्धदेशमा-गत्योदकं स्थापयेत्।

अथापराह्णकृत्यम्। तत्रागतान्द्विजान् दृष्ट्वा भवतां स्वागतमिति प्रत्येकं ब्रूयात्। सुस्वागतमिति द्विजैर्वक्तव्यम्। ततस्तेभ्य उदकदानम्। मण्डलकरणम् आचमनार्थ-ञ्जलदानम्। तैश्चाचमनकरणम्। ततो यजमानस्य पादप्रक्षालनपूर्वकं द्विराचमनम्। ब्राह्मणानामुपवेशनम्। अस्मिन्नवसरे दीपानां स्थापनम्। ततः कर्तोपविश्य 'गङ्गायै नमः। गदाधराय नमः' इति वदेत्। पुण्डरीकाक्षं स्मृत्वा—'देवताभ्यः पितृभ्यश्च महा-योगिभ्य एव च। नमः स्वाहायै स्वधायै नित्यमेव नमोनमः॥ इति त्रिः पठेत्। ततः अद्येत्यादिकालज्ञानं कृत्वा, अमुकसगोत्राणामस्मत्पितृपितामहप्रपितामहानां सपत्नीकानां वसुरुद्रादित्यस्वरूपाणां तथा मातामहादीनां सङ्कीर्तनं कृत्वा पार्वणद्वयविधिनाऽमुक-निमित्तं श्राद्धं करिष्य इति सङ्कल्पं कुर्यात्। ततो 'निहन्मि सर्वं यदमेध्यमत्र निहन्मि सर्वानपि दानवासुरान्। यक्षाश्च रक्षांसि पिशाचगुह्यका हता मया यातुधानाश्च सर्वे'॥ इति पठेत्। नीवीबन्धनम्। ततः—तिला रक्षन्त्वसुरान्दर्भा रक्षन्तु राक्षसान्। पङ्क्तिं वै श्रोत्रियो रक्षेदतिथिः सर्वरक्षकः॥ इति द्वारि तिलकुशनिक्षेपः। अग्निष्वात्ताः पितृगणाः प्राचीं रक्षन्तु मे दिशम्। तथा वर्हिषदः पान्तु याम्यां ये पितरस्तथा॥ प्रतीचीमाज्य-पास्तद्वदुदीचीमपि सोमपाः। ऊर्ध्वतस्त्वर्यमा रक्षेत्कव्यवाडनलोऽप्यधः॥ रक्षोभूत-पिशाचेभ्यस्तथैवासुरदोषतः। सर्वतश्चाधिपस्तेषां यमो रक्षां करोतु मे॥ इति यथा-लिङ्गं दिशि दिशि तिलान्प्रकिरेत्। रक्षोभूतेति सर्वतः प्रकिरणम्। ततः कर्मार्थं जलाभि-मन्त्रणं दर्भैरालोडयन् यद्देवा इति तृचेन। अत ऊर्ध्वं जलकार्यमनेन। दुष्टदृष्टि-निपातनादिदूषितः पाकः पूतो भवत्विति पाकप्रोक्षणम्। सव्यम्। पुरूरवार्द्रवसञ्ज्ञकानां

विश्वेषान्देवानामिदमासनम् । हस्तप्रक्षालनम् । अपसव्यम् । गोत्राणाम्पितृपितामहप्रपितामहानाममुकामुकशर्मणामिदमासनम् । हस्तप्रक्षालनम् । एवं मातामहादीनाम् । सव्यं पुरूरवार्द्रवसंज्ञकान्विश्वान्देवानावाहयिष्ये, इति प्रश्नः । आवांहयेति प्रत्युक्तिः । दक्षिणं जान्वालभ्य विश्वेदेवास इत्यावाहनम् । यवविकिरणम् । विश्वेदेवाः शृणुतेममिति जपः । आगच्छन्त्वित्यपि जपेत् । अपसव्यम् । अमुकगोत्रान्पितॄनावाहयिष्ये, इति प्रश्नः । आवाहयेति प्रत्युक्तिः । उशन्तस्त्वेत्यावाहनम् । तिलविकरणम् । आयन्तु न इति जपः । एवं मातामहादीनामावाहनम् । ततः सव्यं कृत्वा वैश्वदेविकं पात्रं निधाय पवित्रान्तर्हिते शन्नोदेवीरिति जलमासिच्यापसव्यं कृत्वा पितृपात्राणि निधाय पवित्रान्तर्हितेषु शन्नो देवीरिति जलासेकः । सव्यम् । यवोऽसि धान्यराजो वा वारुणो मधुसंयुतः । निर्णोदः सर्वपापानां पवित्रमृषिभिः स्मृतः ।। इति देवपात्रे यवप्रक्षेपः । यवोसि यवयेति मन्त्रेण वा यवप्रक्षेपः । तिलपक्षे तु तिलोसीति मन्त्रेण । तिलोसीति पितृपात्रेषु मन्त्रावृत्त्या तिलप्रक्षेपः । सर्वपात्रे चन्दनपुष्पप्रक्षेपो देवपितृधर्मेण । सव्यम् । वैश्वदेविकपवित्रदानम् । पूजनम् । यादिव्या इत्यर्घदानम् । एवं सर्वत्र । प्रथमे पात्रे संस्रवान्समवनीय पितृभ्यः स्थानमसीति पात्रन्युब्जीकरणम् । तदुपरि कुशनिधानम् । पुत्रकामश्चेत्संस्रववन्दनम् 'आपः शिवा' इति । ततो गन्धादिदानम् । तत्रैवम्—सव्यम् । यथादत्तं गन्धाद्यर्चनं पुरूरवार्द्रवसंज्ञकेभ्यो विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा । अपसव्यं कृत्वैवं पितृभ्यो दानम् । आचमनं प्राणायामः । ब्राह्मणाग्रे भाजनानि निधाय उक्तप्रकारेण मण्डलानि कुर्यात् । अपसव्यम् । अन्नमुद्धृत्य 'अग्नौकरिष्ये' इति प्रश्नः । कुरुष्वेति प्रत्युक्तिः । ॐ अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा । इदमग्नये कव्यवाहनाय न मम । ॐ सोमाय पितृमते स्वाहा । इदं सोमाय पितृमते न ममेति द्वयोस्त्यागौ । स्वयङ्कर्तृके त्यागाभाव इति हेमाद्रिपद्धतौ । हुतशेषं पात्रे दत्वा पात्रमालभ्य जपति 'पृथिवी त' इति प्रतिपात्रं मन्त्रावृत्तिः । वैष्णव्यर्चा यजुषा वाऽन्नेऽङ्गुष्ठावगाहनम् । तिलविकिरणम् । परिवेषणम् । सङ्कल्पः पूर्वोक्तप्रकारेण । सकृत्सकृदुदकदानं विप्रहस्तेषु । ततोऽश्नत्सु जपो यथोक्तः । तृप्तान् ज्ञात्वोक्तप्रकारेणान्नप्रकिरणम् । आचमनम् । सकृत्सकृदुदकदानं विप्रहस्तेषु । पूर्ववद् गायत्रीजपः । मधुव्वाता० भवन्तु नः, मधु मधु मधु, इति जपेत् । तृप्ताः स्थेति प्रश्नः, तृप्ताः स्म इति प्रत्युक्ते शेषमन्नमप्यस्तीति ब्रूयात् । इष्टैः सह भुज्यतामिति प्रतिवचनम् । हेमाद्रिणा कर्कमते पिण्डार्थमुपयुज्यतामिति प्रयोगो दर्शितः । सर्वमन्नमेकत उद्धृत्य उल्लेखनमपहता इति । साग्निकस्य वज्रेण । इतरस्य तु कुशमूलेन । जलस्पर्शः । अग्निमत् उल्मुकनिधानं प्रतिपार्वणम् । अमुकगोत्र पितरमुकशर्मन्नित्यवनेजनम् । एवं पितामहप्रपितामहयोर्मातामहादीनां च । सकृच्छिन्नास्तरणम् । अमुकगोत्र पितरमुकशर्मन्नेतत्तेऽन्न६ स्वधेति पिण्डदानम् । इदममुकाय न ममेत्येवमुभयत्र । सर्वत्र मातामहानामप्येवमेव विधेयम् । अत्र पितर इत्युक्त्वा उदङ्ङातमनम् । आवृत्त्यामीमदन्तेति जपः । पूर्ववदवनेजनम् । नीवीविसर्गः । नमो व इति षडञ्जलिकरणम् । एतद्व इति सूत्रदानम् । पञ्चाशद्वर्षादूर्ध्वं यजमानहृदयलोम्नां वा दानम् । पिण्डपूजनम् । चन्दनपुष्पधूपदीपनैवेद्यानि गोत्रेभ्यः पितृपितामहप्रपितामहेभ्यः स्वधेति । एभिः पिण्डदानै-

रस्मत्पितृणामक्षय्या तृप्तिरस्तु । काले श्राद्धं भवतु इति प्रार्थना ॥ आचमनम् । सुप्रोक्षितोऽयं देशोऽस्त्विवति जलेन भूमिं सिञ्चेत् । शिवा आपः सन्त्विति उदकदानं ब्राह्मणेभ्यः । सौमनस्यमस्त्विति पुष्पदानम् । अक्षतं चारिष्टं चास्त्वित्यक्षतदानम् । अमुकगोत्रस्य पितुरमुकशर्मणो दत्तं श्राद्धमुदकं चाक्षय्यमस्तु । एवं पितामहप्रपितामहयोः । ततो द्विजानां प्रार्थना । येषामुद्दिष्टं तेषामक्षय्यमस्तु । अस्त्विति प्रत्युक्तिः, अघोराः पितरः सन्त्विति प्रश्नः । सन्त्विति प्रत्युक्तिः । गोत्रन्नो वर्द्धतामिति प्रश्नः । वर्द्धतामिति प्रत्युक्तिः । दातारो नोऽभिवर्द्धन्तामिति प्रश्नः । वर्द्धन्तामिति प्रत्युक्तिः । वेदा वर्द्धन्तामिति प्रश्नः । वर्द्धन्तामिति प्रत्युक्तिः । सन्ततिर्वर्द्धतामिति प्रश्नः । वर्द्धतामिति प्रत्युक्तिः । श्रद्धा च नो माव्यगमत् । मागादिति प्रत्युक्तिः । बहुदेयं च नोऽस्तु, अस्त्विति प्रत्युक्तिः । पात्रोपरि स्थापितकुशानां भूभावास्तरणम् । ततः स्वधापितॄन्वाचयिष्ये इति प्रश्नः । वाच्यतामित्युक्ते । पितृभ्यः स्वधोच्यतां पितामहेभ्यः स्वधोच्यतां प्रपितामहेभ्यः स्वधोच्यतां मातामहेभ्यः स्वधोच्यतां प्रमातामहेभ्यः स्वधोच्यतां वृद्धप्रमातामहेभ्यः स्वधोच्यताम् इति मन्त्रं पठेत् । अस्तु स्वधेति प्रत्युक्ते । आस्तृतकुशेषु ऊर्जमित्युदकासेकः । पात्रोत्तानकरणम् । ततः श्राद्धस्य प्रतिष्ठाभिवृद्धयर्थं दक्षिणां मुखवासताम्बूलं च विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा इदं वि० न मम । अस्य श्राद्धस्य प्रतिष्ठासिद्धयर्थं दक्षिणां मुखवासताम्बूलं चामुकगोत्रेभ्य इत्यादि स्वधा न ममेति त्यागः । विश्वेदेवाः प्रीयन्तामिति वदेत् । प्रीयन्तामिति प्रत्युक्तिः । विश्वेदेवाः शान्तिदाः पुष्टिदा वरदा भवन्तु । भवन्त्विति द्विजाः अन्नं च नो वहु भवेत् । वहु भूयात् । अतिथींश्च लभेमहि, लभध्वम् । याचितारश्च नः सन्तु. सन्तु । मा च याचिष्म कञ्च न । मा याचेथाः एता एवाशिषः सन्तु । इतिं प्रार्थना । ततः स्वयमेव तिलककरणम् । पिण्डानां प्रत्यवधानम् । सव्यम् । पिण्डावघ्राणम् । सकृदाच्छिन्नानामग्नौ प्रक्षेपः । पश्चादुल्मुकस्य च । भोजनपात्राणि चालयित्वा सञ्चराभ्युक्षणम् । कालज्ञानं कृत्वा अमुकपितॄणां कृतस्य श्राद्धविधेर्यन्न्यूनातिरिक्तं तत्परिपूर्णमस्तु । अस्तु परिपूर्णमिति ब्राह्मणोक्तिः । वाजे वाजे इति पितृपूर्वं विसर्जनम् । आमावाजस्येत्यनुव्रज्य प्रदक्षिणीकृत्य नमस्कृत्य गृहप्रवेशः ॥

अथ साग्निकनिरग्निकादीनां दर्शाष्टकादिश्राद्धे निमित्ततः पिण्डाभाव उच्यते । तदाह कार्ष्णाजिनिः—मौञ्जीवन्धाद्विवाहाच्च वर्षोर्ध्वं वर्षमेव वा । पिण्डान्सपिण्डा नो दद्युः सपिण्डीकरणादृते ॥ अत्र सपिण्डीकरणे पिण्डविधानात्तत्पूर्वत्वात्मुत्क्रान्तप्रभृतीनां श्राद्धानामर्थात्पिण्डदानमनुज्ञातमिति । उद्वाहे कृतेऽपि महालयगयाश्राद्धमृताहेषु पिण्डान्दद्युः । तदुक्तम्—महालये गयाश्राद्धे मातापित्रोर्मृतेऽहनि । कृतोद्वाहोऽपि कुर्वीत पिण्डनिर्वपणं सुतः ॥ इति । गयाशब्देन तीर्थान्युपलक्ष्यन्ते । मृतेऽहनीति मातापित्रोस्तद्व्यतिरिक्तानामपि च मृताहेऽनुमासिकेषु च । सङ्ग्रहेऽपि—विवाहोपनयादूर्ध्वं वर्षार्द्धं वर्षमेव वा । न कुर्यात्पिण्डनिर्वापं न दद्यात्करणानि च ॥ करणान्यावाहनार्घादीनि । विवाहादिनिमित्तेनोक्तकालपर्यन्तममावास्याष्टकासु साङ्कल्पिकं श्राद्धं कुर्यात् । श्रुतिबलात्पिण्डपितृयज्ञस्तु भवत्येव । अथ सांवत्सरिके विशेषः । तत्र विभक्ताश्चेत्सर्वे नो चेज्ज्येष्ठपुत्र एव । मातृसांवत्सरिके यथोचित ऊहः कार्यः । यत्र च मात्रा स्वामिचित्या-

रोहणं कृतं तत्रैकमेव पाकं कृत्वा पितृश्राद्धं पृथक् कृत्वैकबर्हिषि षट् पिण्डान्दद्यात्। विप्रपङ्क्तौ सुवासिनीं चाधिकां भोजयेदिति श्राद्धभास्करे। एकदिनेऽनेकश्राद्धप्रसक्तौ पूर्वं पितुः पश्चात्पितृव्यादीनां श्राद्धं कार्यम्। मृताहे ग्रहणं चेदामेन हेम्ना वा आब्दिकं कार्यम्। क्षयाहे आशौचादिप्रतिबन्धे तदन्ते कर्तव्यम्। मातृपितृक्षयाहे श्राद्धकर्तुः स्त्री स्त्रीकर्तृके वा श्राद्धे सा रजस्वला चेत्पञ्चमेऽहनि श्राद्धं कुर्यात्।

अथ महालये विशेषः—तत्रोद्देश्या उच्यन्ते—पितृव्यभ्रातृपुत्रपितृपुत्रपितृष्वसृमातुलमातृष्वसृभार्यापितृव्यपुत्रभ्रातृपुत्रभगिनीदुहितृभागिनेयाचार्यश्वशुरश्वश्रूपाध्यायगुरुसखिद्रव्यदशिष्यादय इति। संन्यासविषये वायुपुराणे विशेषो दर्शितः—संन्यासिनोऽप्याब्दिकादि पुत्रः कुर्याद्यथाविधि। महालये तु यच्छ्राद्धं द्वादश्यां पार्वणेन तु ॥ अथ भाद्रपदापरपक्षभरणीश्राद्धे विशेषः। तदुक्तं मात्स्ये—भरणी पितृपक्षे तु महती परिकीर्तिता। तस्यां श्राद्धं कृतं येन स गयाश्राद्धकृद्भवेत् ॥ तत्र सपत्नीकपितृपितामहप्रपितामहान्सपत्नीकमातामहादींश्चोद्दिश्य साङ्कल्पिकं श्राद्धं कुर्यात्। भविष्यपुराणे—अग्नौकरणमर्घं चावाहनं चावनेजनम्। पिण्डश्राद्धे प्रकुर्वीत पिण्डहीने निवर्तते ॥ पिण्डनिर्वापरहितं यत्र श्राद्धं विधीयते। स्वधावाचनलोपोऽस्ति विकिरस्तु न लुप्यते ॥ अक्षय्यदक्षिणास्वस्तिसौमनस्यं यथा स्थितमिति। चतुर्दश्यां पित्रादित्रयमध्ये एकस्य द्वयोर्वा विषशस्त्राद्युपघातैर्मृतयोः पितृव्यादेर्वा तथाविधस्यैकोद्दिष्टविधिना श्राद्धं कुर्यात्। इदं चैकोद्दिष्टं सदैवम्। तथा च सङ्ग्रहे—चतुर्दश्यामेकोद्दिष्टविधानतः। दैवयुक्तं तु यच्छ्राद्धं पितॄणामक्षयं भवेत् ॥ इति ॥

अथ तीर्थश्राद्धे विशेषः—तच्च षट्पुरुषोद्देशेन। तत्र दिग्बन्धनावाहनार्घद्विजाङ्गुष्ठनिवेशनतृप्तिप्रश्नविकिरा न कर्तव्याः। ब्राह्मणपरीक्षा च न कार्या। न च दृष्टिदोषादिविचारः। षट्पुरुषपिण्डदानानन्तरं किञ्चिद्दूरे हविःशेषेण मातृपितामहीप्रपितामहीभ्यः पिण्डदानमात्रम्। तदनन्तरं मात्रादिपिण्डपूर्वतः कुशेषु ज्ञातिवर्गमुद्दिश्यैको बृहत्पिण्डो दातव्यः। पिण्डानां तीर्थसलिले प्रक्षेपः ॥

अथ नित्यश्राद्धे विशेषः—सङ्कल्पः। पुष्पाक्षतादिभिरासनादिदीपान्तोपचारैर्ब्राह्मणपूजनम्। मण्डलं कृत्वा भाजनानि निधाय परिवेषणम्। पात्रालम्भादिब्राह्मणभोजनान्तं कृत्वा किञ्चिद् दद्यात्। नात्र कर्तृभोक्तृनियमाः। भोज्याद्यशक्तावन्नमुद्धृत्य स्वशक्तितः षोढा विभज्य पितॄनुद्दिश्य त्यजेदिति नित्यश्राद्धम्। इति पार्वणश्राद्धविधिः ॥

इति श्रीगदाधरविनिर्मिते कातीयश्राद्धसूत्रभाष्ये तृतीया कण्डिका ॥ ३ ॥

अनुवाद—घी से सिक्त वैश्वदेव के अन्न से कुछ अन्न दूसरे बर्तन में निकालकर 'अग्नौ करिष्ये' इत्यादि मन्त्र पढ़कर पंक्ति-प्रमुख ब्राह्मण से पूछे। जब ब्राह्मण उसे करने का आदेश दे, तब पिण्डपितृयज्ञ की तरह होम करके हवन से बचे हुए अन्न को ब्राह्मण के पात्रों में डाल दे। पात्र के चारों ओर से उसे छूकर 'पृथ्वी ते पात्रम्' इस मन्त्र का जप करे; इसके बाद 'इदम् विष्णुः' इस विष्णुदेव के मन्त्र से अथवा 'विष्णो हव्यं रक्षस्व' इस यजुर्मन्त्र से अँगूठे को ब्राह्मण पात्र में रखकर 'अपहता' इत्यादि मन्त्र से ब्राह्मणों के सामने धरती पर तिल को बिखेर दे। पुनः पक्वान्न

जैसा ब्राह्मण को, मृतक को अथवा श्राद्धकर्त्ता को रुचे, उस ढंग से परोस देना चाहिए अथवा रुचिकर अन्न के अभाव में यथाशक्ति जो भी उपलब्ध हो सके उसे परोसना चाहिए। जब ब्राह्मणभोजन हो रहा हो तो प्रणव और व्याहृतियों से युक्त गायत्रीमंत्र का एक बार या तीन बार पाठ करे तथा पितृमन्त्र 'उदीरतामवर' इत्यादि तेरह ऋचाएँ, पुरुषसूक्त, 'अप्रतिरथम् आसुः शिसान' इत्यादि सत्रह मन्त्र और शतरुद्री आदि का पाठ करना चाहिए। जब ब्राह्मण लोग भोजन कर सन्तुष्ट हो जायें तब उनके आगे अन्न फैला देना चाहिए। पहले की तरह गायत्रीमंत्र का जप करके तथा 'मधुमती' या 'मधुव्वाता ऋतायन्ते' प्रभृति तीन ऋचाओं का पाठ कर ब्राह्मणों से पूछे कि आप लोग सन्तुष्ट तो हैं; जब उत्तर मिले कि हम सन्तुष्ट हैं, तब हर तरह के अन्न को एक बर्तन में उतनी मात्रा में निकालें जितने से एक पिण्ड बन जाय, तब उच्छिष्ट स्थान के समीप कुशों पर अवनेजन पूर्वक तीन पिण्डदान करे। कुछ आचार्यों के विचार से जब ब्राह्मण आचमन कर चुके हों तब पिण्डदान करना चाहिए। आचमन कर चुके ब्राह्मण को जल, पुष्प, अक्षत तथा अर्घ्यदान करना चाहिए। इसके बाद यजमान कहे—'अघोराः पितरः सन्तु' अर्थात् हमारे पितृगण अघोर हों। इसके उत्तर में ब्राह्मण कहे—हाँ आपके पितृगण अघोर हों। इसके बाद यजमान कहे—'गोत्रं नो वर्धताम्' अर्थात् हमारा गोत्र बढ़े; तब ब्राह्मण कहे—'वर्धताम्' अर्थात् हाँ आपका गोत्र बढ़े। फिर यजमान—'दातारो नो' इत्यादि कहे। इसके उत्तर में प्रत्येक बार ब्राह्मण 'वर्धन्ताम्' कहकर आर्शीवाद दे। ब्राह्मणों से आशीर्वाद प्राप्त करने के बाद पवित्र कुशों को पिण्ड के समीप धरती पर फैला दे, फिर 'स्वधां वाचिष्ये' इत्यादि मन्त्र पढ़कर ब्राह्मण से आज्ञा ले। ब्राह्मण से अनुज्ञात होकर 'पितृभ्यः' इत्यादि मन्त्र का उच्चारण करे। इसके उत्तर में ब्राह्मण जब 'अस्तु स्वधा' कहे तब यजमान 'ऊर्जम्' प्रभृति मन्त्र को पढ़कर 'स्वधावाचनीय' कुशों के ऊपर पात्र को ऊपर उठाकर जल छिड़क दे। फिर यथाशक्ति ब्राह्मणों को दक्षिणा प्रदान करे; तब दैव ब्राह्मण कहे—'विश्वदेवाः प्रीयन्ताम्' अर्थात् सभी देवगण प्रसन्न हों। इसके बाद 'वाजेवाजेवत' इत्यादि मन्त्र पढ़कर ब्राह्मणों को विदा करते हुए 'अमावाजस्य' इत्यादि मन्त्र पढ़कर उन्हें सीमान्त तक पहुँचा कर तत्पश्चात् यजमान को अपने घर में प्रवेश करना चाहिए ॥ ३ ॥

एकोद्दिष्टविधिः

अथैकोद्दिष्टमेकोऽर्घ एकं पवित्रमेकः पिण्डो नावाहनं नाग्नौकरणं नात्र विश्वेदेवाः स्वदितमिति तृप्तिप्रश्नः। सुस्वदितमितीतरे ब्रूयुरुपतिष्ठता-मित्यक्षय्यस्थानेऽभिरम्यतामिति विसर्गोऽभिरताः स्म इतीतरे ॥ ४ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—सर्वश्राद्धप्रकृतिभूतं पार्वणमुक्त्वाऽधुना विकृतिभूतमेकोद्दिष्ट-मारभ्यते—'अथैकोद्दिष्टम्'। अथ पार्वणानन्तरमेकोद्दिष्टं व्याख्यास्यते। अथान्वर्थसंज्ञा चैषा। एकमुद्दिश्य यत्क्रियते तदेकोद्दिष्टमिति। 'एकोऽर्घ एकं पवित्रमेकः पिण्डः'। अस्मिन्नेकोद्दिष्टे एकोऽर्घः एकं पवित्रमेकः पिण्डश्च स्यात्। अर्घस्यैकत्वश्रवणात्पात्र-

मप्येकमिति ज्ञायते । अतः प्रथमशब्दस्यानुपपत्तेः पितृभ्यः स्थानमसीत्यस्यानुपपन्नत्वात्संस्रवस्य बहुत्वाभावाच्चात्र पात्रन्युब्जीकरणाभावः । 'नावाहनं नाग्नौकरणं नात्र विश्वेदेवाः स्वदितमिति तृप्तिप्रश्नः । सुस्वदितमितीतरे ब्रूयुरुपतिष्ठतामित्यक्षय्यस्थानेऽभिरम्यतामिति विसर्गोऽभिरताः स्म इतीतरे' । स्पष्टमेतत् । अत्राग्नौकरणनिषेधादेव पात्रालम्भनिषेधो हुतशेषदानानन्तरं तस्य विहितत्वात् । अमृतं जुहोमीति मन्त्रलिङ्गाद्धुतशेषस्यैव परामर्शात् । हुतशेषाभावे पात्रालम्भाभाव इति निश्चीयते । इति हलायुधभाष्ये ॥

अथ प्रयोगः । निमन्त्रणम् । ततो मध्याह्नस्नानम् । ततः कर्माङ्गस्नानम् । द्विजेभ्य उदकदानम् । मण्डलकरणम् । द्विजैराचमनकरणम् । पादप्रक्षालनम् । ब्राह्मणस्योपवेशनम् । दीपस्थापनम् । देवताभ्यश्चेति पाठः । सङ्कल्पः । ततो निहन्मि सर्वमिति पाठः । नीवीबन्धनम् । तिला रक्षन्त्वित्यारभ्य दिशि दिशि प्रकिरणान्तम् । जलाभिमन्त्रणम् । पाकप्रोक्षणम् । आसनदानम् । हस्तप्रक्षालनम् । नावाहनम् । नावकिरणम् । जपः एकस्यार्घस्य पूरणं दानम् । न पात्रन्युब्जीकरणं न संस्रवदानम् । ततो गन्धादिदानम् । नाग्नौकरणम् । पात्रालम्भो न भवतीति हलायुधमतम् । अन्येषां मते तु भवत्येव । अङ्गुष्ठस्यान्नेऽवगाहनम् । तिलविकिरणम् । परिवेषणम् । सङ्कल्पः । उदकदानम् । जपः । अन्नप्रकिरणम् । आचमनम् । उदकदानम् । जपो यथोक्तः । न स्वदितमिति तृप्तिप्रश्नः । सुस्वदितमिति ब्राह्मणा ब्रूयुः । शेषान्नस्यानुज्ञापनादि पिण्डपूजान्तं च पूर्ववत् । एकः पिण्डो देयः । ततः सुप्रोक्षिताद्यक्षतदानान्तम् । अक्षय्योदकदानम् । उपतिष्ठतामित्यक्षय्यस्थाने । प्रार्थनादि उदकासेकान्तम् । दक्षिणादानम् । न विश्वेदेवाः प्रीयन्तामिति प्रैषः । प्रार्थनापि न । तिलकम् । पिण्डप्रत्यवधानम् । सव्यम् । अवघ्राणम् । अग्निमत उल्मुकसकृदाच्छिन्नयोरग्नौ पक्षेपः । पात्रचालनम् । सञ्चराभ्युक्षणम् । ततोऽद्य पूर्वोच्चरितेत्यादि । अभिरम्यतामिति विसर्जनम् । अभिरताः स्म इति प्रत्युक्तिः । अनुगमनम् । गृहप्रवेशः ॥ इति नवकण्डिकागदाधरभाष्ये एकोद्दिष्टपद्धतिः ।

अथैकोद्दिष्टप्रसङ्गात्क्रियापद्धतिर्लिख्यते—तत्र सायमाहुत्यां हूतायां यजमानस्य मरणशङ्का चेत्तदैव प्रातराहुतिर्दातव्या । जीवेत्पुनः काले प्रातराहुतिर्नैव होतव्या । पौर्णमासेष्टचनन्तरं प्राग्दर्शाद्यदा यजमानस्य मरणशङ्का स्यात्तदैव पिण्डपितृयज्ञवर्जितामवास्येष्टिं कुर्यात् । तत्पर्यन्तं पक्षहोमः । आह्रियमाणे हविषि चेन्म्रियेत तदा हविषो दक्षिणाग्नौ प्रक्षेपः । ग्रहणप्रभृतिप्रागघविरासादनान्मरणं चेद् गार्हपत्ये हविषां दहनम् । आसादनोत्तरकालमाहवनीये । एवं वैश्वदेवपर्वणि कृते यजमानस्य मरणशङ्कायामवशिष्टपर्वणां समापनं कार्यम् । सकलेष्टचसम्भवे वाऽऽज्यं संस्कृत्य पुरोऽनुवाक्यायाज्याभ्यां स्वस्वहविषा यागः कार्यः । तदसम्भवे च केवलेनाज्येन चतुर्गृहीतेन प्रधानदेवतायागमात्रं कुर्यात् । तस्याप्यसम्भवे प्रतिदैवतं पूर्णाहुतिं जुहुयात् । अग्नये स्वाहा विष्णवे स्वाहा इन्द्राय स्वाहेति । असन्नयतस्तु अग्नये विष्णवे इन्द्राग्निभ्यामिति । एवं स्मार्तं पक्षादि सकलङ्कर्म ज्ञेयम् । चरुहोमासम्भवे देवतानामाज्याहुतिमात्रं वा । यद्यमावास्यापर्यन्तं यजमानो जीवति तदाऽमावास्यायां दक्षिणाग्निमुद्धृत्य पिण्डपितृयज्ञः कार्यो

नाग्न्यन्वाधानम् । न ब्रह्मासनम् । न चामावास्येष्टिः । कृतत्वात् । सर्वङ्कर्मं मरणान्तं भवति । कर्तुरसम्भवात् । हविःप्रतिपत्तिविधानाच्च । अग्निहोत्रहोमेऽप्याहुते हविषि दक्षिणाग्नौ ग्रहणादिप्रागासादनाद् गार्हपत्ये दहनम् । आसादनाद्याहवनीये, एवमेव पशुयागसोमयागादावारब्धेऽन्तरा मरणशङ्कायां यथासम्भवं समापनङ्कार्यम् । मृते पुत्रादिः स्नातः कृतापसव्यः सकृत्सकृत्परिसमूहनादिसंस्कारान्कुर्यात् । गार्हपत्यादाहवनीयदक्षिणाग्न्योर्विहरणम् । तिस्र एव स्थालीरेष्टवै इत्यध्वर्युराह । गार्हपत्याहवनीयदक्षिणाग्निषु तिसृणां गोमयशम्बलव्रतीनां मृन्मयीनामुखानामधिश्रयणम् । अत्र सर्वङ्कर्मापसव्येन दक्षिणामुखेन कर्तव्यम् । सभ्यावसथ्ययोरुखाधिश्रयणं न कुर्यात् । तौ प्रत्यक्षावेव स्थाल्योर्मध्ये निधाय नीयेते । सर्वासु स्थालीषु चिह्नकरणम् । अथ मरणस्थाने एकोद्दिष्टविधिना श्राद्धम्—तत्र सङ्कल्पः । मरणस्थाने एकोद्दिष्टश्राद्धमहङ्करिष्ये । उपहारप्रोक्षणम् । आचमनम् । आमान्नसङ्कल्पः । पिण्डदानम् । आवाहनार्घार्चनपात्रालम्भनावगाहनविकिरावनेजनरेखाप्रत्यवनेजनगन्धाद्यर्चनाक्षय्योदकदानाशीःस्वधावाचनीयनिषेकाभावः । सव्येन दक्षिणादानम् । दक्षिणाकाले माषान्नजलसंयुक्तकुम्भदानम् । इति मरणस्थाने एकोद्दिष्टविधिना श्राद्धम् । ततो मृतस्थाने शवनाम्ना पिण्डदानम् । अमुकगोत्र अमुकशव इति प्रयोगः । सजलमाषान्नकुम्भदानम् । ततः पूर्ववदेकोद्दिष्टविधिना द्वितीयं द्वारदेशे श्राद्धम् । श्राद्धान्ते तत्रैव पान्थनाम्ना पिण्डदानम् । पान्थ एतत्ते इति प्रयोगः । माषान्नजलसंयुक्तकुम्भदानम् । सन्तापजानग्नीनादायानसि शरीरमारोप्य दक्षिणागमनम् । यमगाथाङ्गायन्तो यमसूक्तं च जपन्त इत्येके आहुः । अहरहर्नीयमानो गामश्वं पुरुषं ह्यजम् । वैवस्वतो न तृप्यति सुराप इव दुर्मतिः । इति यमगाथा । अपेतो यन्तु पणय इत्ययमध्यायो यमसूक्तम् । ततश्चत्वरे प्रेतनाम्ना पिण्डदानम् । माषान्नजलयुक्तघटदानम् । ग्रामश्मशानयोरर्द्धमार्गे नीते तत्र पूर्ववदेकोद्दिष्टविधिना श्राद्धम् । अमुकप्रेतस्य दाहार्थं श्मशानं नीयमानस्य अर्द्धमार्गे विश्रामस्थाने श्राद्धमहङ्करिष्ये, इति सङ्कल्पः । श्राद्धान्ते भूतनाम्ना पिण्डदानम् । अमुकभूत एष ते पिण्डः । माषान्नजलसंयुक्तकुम्भदानम् । समे बहुलतृणे देशे क्षीरिण्याद्या उद्धृत्य वितानसाधनम् । गार्हपत्याहवनीयदक्षिणाग्निषु सकृत्सकृत्संस्कारकरणम् । तत्र गार्हपत्यादीनां स्थापनम् । सभ्यावसथ्ययोश्चितेरुत्तरतः सप्तसु प्रक्रमेषु स्थापनम् । ततो गार्हपत्याहवनीययोर्मध्ये काष्ठैश्चितिं सञ्चिनुयात् । ततः प्रेतस्य केशश्मश्रुनखलोम्नां छेदनम् । केशादीनान्निखननम् । प्राग्ग्रीवमुत्तरलोमं कृष्णाजिनं चितायामास्तीर्य तस्मिन् यजमानं प्राक्शिरसमादधाति । ततः प्रेतस्य करे प्रेतनाम्ना पिण्डदानम् । अमुकप्रेत एतत्त इति । माषान्नजलयुक्तकुम्भदानम् । ततः प्रेतस्याज्येनाभ्यञ्जनम् । मुखे दक्षिणोत्तरनासिकाचक्षुःश्रोत्रेषु हिरण्यशकलप्रासनम् । श्रुतौ चितिचयनात्प्राक् हिरण्यशकलप्रासनमाम्नातम् । सूत्रे तु, शाखान्तरादयङ्क्रमोऽवसितः । चितिचयनात्पूर्वं वा कर्तव्यम् । प्रेतस्य वस्त्रैकदेशं सञ्चयनार्थं गृहीत्वा सुगुप्तन्निदधाति । सर्वाणि पात्राणि प्रागग्राण्युत्तानानि वक्ष्यमाणविधिना प्रेतशरीरे निदधाति । जुहूं घृतेन पूरयित्वा दक्षिणे हस्ते सादयति । सव्ये पाणौ रिक्तामुपभृतम् । हृदये ध्रुवां रिक्ताम् । दक्षिणनासिकायां वैकङ्कतं स्रुवम् । कर्णयोः प्राशित्र-

हरणे । शिरसि रिक्तं प्रणीताप्रणयनं चमसम् । कपालानि वा शिरसि, अप्सु वा प्रक्षेपः कपालानाम् । पार्श्वयोः शूर्पे दक्षिणपार्श्वे ऐष्टिकम्, उत्तरपार्श्वे प्रतिप्रस्थातृकर्तृकवरुणप्रघासिकमैष्टिकम् । अकृतवरुणप्रघासस्य ऐष्टिकमेव द्विधा कृत्वा पार्श्वयोरेकैकं खण्डमासादयेत् । उदरे पृषदाज्यवतीमिडापात्रीम् । शिश्नसमीपे शम्याम् । अण्डयोः समीपे अरणी । तत्समीपे अधोमुखमुलूखलं मुसलं च । अनवेषाभिश्रुतावदानपुरोडाशपात्रीपूर्णपात्रषडवत्तकूर्चप्रमुखानि सर्वाणि पात्राणि ऊर्वोर्मध्ये आसादयेत् । स्मार्तपात्राण्यप्यरणीसहितानि वरुणप्रघासिकानि च तत्रैवासादयेत् । मृन्मयाश्ममयानामप्सु प्रक्षेपः । लोहमयानां च ब्राह्मणाय दानमप्सु प्रक्षेपो वा । त्रेताग्निभिश्चितेरादीपनम् । तत्रैवम्—अग्निचितिपर्यन्तं तृणैराच्छादनं कृत्वा ततस्तान्प्रदीपयेत् । आहवनीयगार्हपत्यदक्षिणाग्न्युत्पन्नज्वालया चितेरादीपनं यथा भवति तथा विधेयम् । पुत्रो वा भ्राता वाऽन्यो वा ब्राह्मण आहुतिं जुहुयात् । ब्राह्मण एव क्षत्रियवैश्ययोराहुतिं जुहुयात् न पुत्रो भ्राता वा । गार्हपत्ये आज्यसंस्कारः । अग्निहोत्रहवण्यां सकृद् गृहीत्वा आहवनीये समित्पूर्वकं जुहोति । तत्र मन्त्रः—अस्मात्त्वमधिजातोऽसि त्वदयं जायतां पुनः । असौ स्वर्गाय लोकाय स्वाहा इत्यनेन मन्त्रेण होमः । ॐ इदमग्नये न ममेति त्यागः । असौस्थाने प्रेतस्य प्रथमान्तं नामग्रहणम् । अस्य मन्त्रस्य स्त्रियामप्यूहः । ततोऽग्निहोत्रहवणीं मुखे प्रागग्रामासादयेत् । खादिरं स्रुवं सव्यनासिकायाम् । स्फ्यं दक्षिणहस्ते । आज्यस्थाल्या ऊर्वोरन्तरे प्रक्षेपः । पात्रत्वाविशेषात् । मृन्मयी चेदप्सु प्रासनम् । अथ प्रसङ्गादावसथ्यसम्बन्धिपात्रप्रतिपत्तिरुच्यते । उक्तञ्च—आहिताग्निर्यथान्यायं दग्धव्यस्त्रिभिरग्निभिः । अनाहिताग्निरेकेन लौकिकेनेतरे जनाः ।। अथ पुत्रादिराप्लुत्य कुर्याद्दारुचयं बहु । भूप्रदेशे शुचौ युक्ते पश्चाच्चित्यादिलक्षणम् ।। तत्रोत्तानं निपात्यैनं दक्षिणाशिरसं मुखे । हिरण्यं न्यस्य शिरसि प्रणीताचमसं तथा ।। शूर्पे तत्पार्श्वयोरेकञ्चेद्द्विधा पूर्ववन्न्यसेत् ।। श्रवणाकर्मसम्बन्धि द्वितीयं पिण्डयज्ञियम् । अण्डयोररणी तद्वत्प्रोक्षणीपात्रमादितः ।। पात्राणि चान्तरे ऊर्वोर्मृन्मयान्यम्भसि क्षिपेत् । अथाद्यं सजात्वक्तो (?) दद्याद्दक्षिणतः शनैः ।। पूर्ववज्जुहुयाद्वह्नौ समिद्वर्जं स्रुवेण सः । दक्षिणायां स्रुवं दद्यान्नसि स्फ्यं दक्षिणे करे ।। समिधो वा ततो वह्नि शेषं स्यादाहिताग्निवत् । उखाधिश्रयणाद्यूर्वोरन्तरे पात्रप्रक्षेपान्तं सर्वमाहिताग्निवत् । केवलोपासनाग्नि चितौ मृतं दक्षिणाशिरसं निदध्यान्न प्राक्शिरसमिति विशेषः । इत्यावसथ्यसम्बन्धिपात्राणां प्रतिपत्तिः । अथ सूतिकामरणे विशेषः । सूतिकायां मृतायां कुम्भे उदकं कृत्वा तत्र पञ्चगव्यं प्रक्षिप्य आपोहिष्ठा इदमाप इत्यादिपुण्यर्गिभरभिमन्त्र्य ब्राह्मणानुज्ञया पञ्चदश प्राजापत्यान्कृत्वा तेन कुम्भोदकेन शतकृत्वस्तां स्नापयित्वा वस्त्रान्तरेण सर्वां वेष्टयित्वा दाहः कार्यः । रजस्वलामरणेऽप्येवम् । उदक्या सूतकी वा यं स्पृशति तस्याप्येष एव विधिः । दाहे जाते किञ्चित्परिशेषणीयम् । निःशेषस्तु न दग्धव्य इति वचनात् ।।

अथ स्मार्तमुदककर्मोच्यते । नद्याद्युदकसमीपे गमनम् । समीपे स्थितं योनिसम्बन्धिशालकं वा उदकं करिष्यामह इति मन्त्रेणोदकं याचयेयुः सपिण्डादयः । यदि शतवर्षादवाक् प्रेतो भवेन् तदा कुरुध्वमिति वचनमित्युक्ते सप्तपुरुषसम्बन्धिनः सपिण्डाः दशपुरुष-

सम्बन्धिनः समानोदकाश्चैकग्रामनिवासे यावत्स्मृतं जलं प्रविशन्त्येकवस्त्राः । अशिखाः प्राचीनावीतिनः सन्तः । ततः सव्यपाणेरनामिकयाङ्गुल्या जलम् अपनःशोशुचदघमित्येतावता मन्त्रेणापनोद्य दक्षिणाभिमुखास्तूष्णीं निमज्जन्ति । कर्कादिभाष्यकाराणां मतेऽपनोदने मन्त्रः । देवयाज्ञिकादिमते निमज्जने । ततः प्रेतमुद्दिश्यैकैकमञ्जलिं सकृद् भूमौ प्रक्षिपन्ति । अमुकसगोत्रामुकशर्मन्प्रेत एतत्ते उदकमित्यनेन मन्त्रेण । तत उदकादुत्तीर्य शुचौ देशे शाद्वलवत्युपविष्टान्सपिण्डादीनन्ये सुहृद इतिहासपुराणादिकथाभिः संसारस्यानित्यतां दर्शयन्तो वदेयुः । शाद्वलं हरिततृणमस्ति यस्मिन्निति शाद्वलवान् तस्मिन् शाद्वलवति भूमौ उपविष्टानित्यर्थः । रोदनं न कर्तव्यम् । तदुक्तम्—श्लेष्माश्रु बान्धवैर्मुक्तं प्रेतो भुङ्क्ते यतोऽवशः । अतो न रोदितव्यं हि क्रियाः कार्याः स्वशक्तितः ।। इति । ततः पश्चादनवलोकयन्तः पङ्क्तिव्यवस्थानेन कनिष्ठानग्रतः कृत्वा ग्राममागच्छन्ति । गृहद्वारसमीपे आगत्य सर्वे त्रीणि त्रीणि निम्वपत्राणि दन्तैरवखण्डयाचम्योदकमग्नि गोमयं गौरसर्षपाँस्तैलमित्येतानि प्रत्येकं स्पृष्ट्वा पादेन पाषाणमाक्रम्य गृहं प्रविशन्ति । ततःप्रभृति ब्रह्मचारिणोऽधःशायिनो न किञ्चन कर्म कुर्वन्ति न कारयन्ति । क्रीत्वा लब्ध्वा वा दिवा प्राश्नीयुः । अमांसं पिण्डं दत्वा ततो भोजनम् । भोजनकाले भोज्यादन्नाद्भक्तमुष्टिञ्च प्रेतोद्देशेन भूमौ निक्षिपेत् । अमुकसगोत्रामुकप्रेत भक्तमुष्टिरुपतिष्ठतामिति । यावत्प्रत्यहमेकैकमवयवपूरकं पिण्डं प्रेताय दद्यात् । तत्र विधिः । स्नानं कृत्वाऽहते आर्द्रे वाससी परिधाय पिण्डपितृयज्ञवत्तूष्णीं पिण्डदानम् । तूष्णीं प्राणायामः । आचमनम् । देशकालौ स्मृत्वाऽमुकसगोत्रस्यामुकप्रेतस्य प्रेतत्वनिवृत्त्यर्थं क्षुत्तृषानिवृत्त्यर्थं शिरोनिष्पत्त्यर्थं च पिण्डदानं कुम्भभोजनदानमुदकदानं चाहं करिष्ये, इति सङ्कल्पः । अवनेजनम् । अमुकसगोत्रामुकप्रेतावनेनिक्ष्वेति । दर्भास्तरणम् । पिण्डदानम् । अमुकसगोत्रामुक प्रेतैष ते शिरःपूरकपिण्डो मया दत्त इति । पूर्ववत्पुनरवनेजम् । अनुलेपनपुष्पधूपदीपशीतलतोयकुम्भोर्णातन्तुदानं पिण्डे स्मृत्यन्तरोक्तमपि कुर्यात् । ततः पिण्डसमीपे भूमौ एकाञ्जलितोयदानम् । अमुकसगोत्रामुकप्रेत एष ते तोयाञ्जलिरुपतिष्ठताम् । इदं तोयपात्रं ते उपतिष्ठताम् । अमुकसगोत्रस्यामुकप्रेतस्यानेन प्रेतत्वनिवृत्तिरस्तु । क्षुत्तृषानिवृत्तिरस्तु । शिरोनिष्पत्तिरस्तु । पिण्डमुदके प्रक्षिप्य स्नात्वा नवश्राद्धं कुर्यात् । ततस्तूष्णीं पूर्ववत्कर्म । युग्मा विप्राः । तूष्णीं निमन्त्रणादि । पादप्रक्षालनम् । आचमनम् । उपवेशनम् । तूष्णीं प्राणायामः । द्विराचमनम् । देशकालौ स्मृत्वाऽमुकसगोत्रस्यामुकप्रेतस्य प्रेतत्वनिवृत्त्यर्थमेकोद्दिष्टविधिना प्रथमदिवसनिमित्तं नवश्राद्धमहं करिष्ये । उपहारप्रोक्षणम् । तिलदर्भविकिरणम् । आचमनम् । आमान्नसङ्कल्पः । इदमामान्नं ते उपतिष्ठतु । तिलविकिरणम् । दक्षिणाग्रदर्भास्तरणम् । अमुकसगोत्रामुकप्रेतैष ते पिण्ड इति पिण्डद्वयं दद्यात् । अवनेजनप्रत्यवनेजने न स्तः । प्रत्येकं गोत्रोच्चारणादि- सूत्रदानम् । न पूजनम् । आचम० । आमान्नसं० । अक्षय्योदकदानम् । अमुकसगोत्रस्यामुकप्रेतस्य दत्तमुपतिष्ठताम् । दक्षिणादानम् । पिण्डोद्धरणम् । कृतस्य नवश्राद्धविधेर्यन्न्यूनं यदतिरिक्तं तत्सर्वमित्यादि । पिण्डयोरुदके प्रक्षेपः । एत एव पदार्था अत्र भवन्ति नान्ये । पूर्वंन्नवश्राद्धं वा पश्चात्पिण्डदानम् । गर्ते तैलकल्कोष्णोदकानां प्रेतोद्देशेन प्रक्षेपः । अमुक-

सगोत्रामुकप्रेतात्र जलेन स्नाहीत्यादि। अथ यस्मिन्नहोरात्रे स मृतो भवति (तस्य वा) तस्मिन्नेकस्मिन्मृन्मये पात्रे उदकं द्वितीये क्षीरं कृत्वा यष्टयादिकमवलम्ब्याकाशे धारयेत्। अमुकसगोत्रामुकप्रेतात्र स्नाहि पिबेदमिति मन्त्रेण। इति प्रथमदिनकृत्यम्। अथ द्वितीयदिने प्रेतस्य कर्णाक्षिनासिकानिष्पत्त्यर्थं पिण्डदानम्। कुम्भभोजनदानम्। द्वावञ्जली द्वे तोयपात्रे। त्रय उदकाञ्जलय एव वा देया न पात्रे। इति द्वितीयदिनकृत्यम्। तृतीये गलांसभुजवक्षोनिष्पत्त्यर्थं पिण्डदानम्। त्रयोऽञ्जलयः। त्रीणि तोयपात्राणि। अथ वा पञ्चोदकाञ्जलय एव। प्रथमदिवसवन्नवश्राद्धम्। इति तृतीयदिनकृत्यम्। अथ चतुर्थेऽहनि सञ्चयननिमित्तमेकोद्दिष्टश्राद्धम्। तच्च प्रथमदिनवत्। अत्रैक एव पिण्डः। श्मशानवासिदेवतानां बलिहरणम्। पुष्पधूपदीपनैवेद्यानि सम्भृत्य ॐ क्रव्यादमुखेभ्यो देवेभ्यो नम इति मन्त्रेणार्घादिना पूजां कुर्यात्। ततः क्रव्यादमुखेभ्यो देवेभ्यो बलिदानम्। तत्र मन्त्रः—देवा येऽस्मिन् श्मशाने स्युर्भगवन्तः सनातनाः। तेऽस्मत्सकाशाद् गृह्णन्तु बलिमष्टाङ्गमक्षयम्॥ प्रेतस्यास्य शुभाँल्लोकान्प्रयच्छन्त्वपि शाश्वतान्। अस्माकमायुरारोग्यं सुखञ्च श्रियमुत्तमाम्॥ इति। एवं बलिं दत्वा विसर्जयेत्। पलाशवृन्तेनास्थीनि प्रकटानि कृत्वा अङ्गुष्ठकनिष्ठिकाभ्यामादाय पलाशपुटे प्रासनम्। तत्र शमीशैवालकर्दमानां च प्रासनम्। ततो घृतेनाभ्यज्य सर्वसुरभिभिश्चन्दनागुरुकर्पूरकेसरकस्तूरिकाभिर्मिश्रणम्। दक्षिणपूर्वायतां कर्षूं खात्वा तत्र कुशास्तरणम्। हरिद्रालापितवस्त्रखण्डमास्तृत्य तस्मिन्वस्त्रे वाङ्निवपामि इत्यनेन मन्त्रेणास्थिप्रक्षेपः। ॐ आ त्वा मनसानार्तेन वाचा ब्रह्मणा त्रय्या विद्यया पृथिव्यामक्षिकायामपाꣳ रसे निवपाम्यसावित्यनेन मन्त्रेण वा। असौस्थाने प्रेतनामोद्देशः। पितृमेधं चिकीर्षतः कुम्भे अस्थिसञ्चयनं कर्तव्यम्। अस्मिन्पक्षे कुशास्तरणं हरिद्रालापितवस्त्रास्तरणं कुम्भे एव कर्तव्यमस्थिसंस्कारत्वात्। क्वचिद् भूप्रदेशे कुम्भनिधानं तूष्णीम्। कुम्भमध्येऽस्थिप्रक्षेपे मन्त्रो भवत्येव। इत्यस्थिसञ्चयनम्॥ चिताभूमिङ्गोमयेनोपलिप्य तत्र तेनैव पूर्वोक्तबलिमन्त्रेण बलिं दद्यात्। ततश्चतुर्थदिवससम्बन्धिपिण्डदानम्। नाभिलिङ्गगुदनिष्पत्त्यर्थं कुम्भभोजनदानम्। जलाञ्जलयश्चत्वारः चत्वारि जलपात्राणि च। अथ वा सप्ताञ्जलय एव। इति चतुर्थदिनकृत्यम्। पञ्चमेऽहनि जानुजङ्घापादनिष्पत्त्यर्थं पिण्डदानम्। कुम्भो जलपूरितः, पञ्च जलाञ्जलयः पञ्च पात्राणि च, नवाञ्जलय एव वा। ततो नवश्राद्धं प्रथमदिनवत्। इति पञ्चमदिनकृत्यम्। षष्ठे सर्वमर्मनिष्पत्त्यर्थं पिण्डदानम्। कुम्भदानम्, षट् जलाञ्जलयः, षट् तोयपात्राणि। अथ एकादशाञ्जलय एव वा। इति षष्ठदिनकृत्यम्। सप्तमेऽहनि नाडिकानिष्पत्त्यर्थं पिण्डदानम्। कुम्भभोजनदानम्। सप्ताञ्जलयः सप्त पात्राणि, त्रयोदशाञ्जलय एव वा। प्रथमदिनवन्नवश्राद्धम्। इति सप्तमदिनकृत्यम्। अष्टमेऽहनि लोमदन्तनिष्पत्त्यर्थं पिण्डदानम्। कुम्भभोजनदानम्। अष्टाञ्जलयः अष्टौ पात्राणि। पञ्चदशाञ्जलय एव वा। इत्यष्टमदिनकृत्यम्। नवमेऽहनि वीर्यनिष्पत्त्यर्थं पिण्डदानम्। कुम्भभोजनदानम्। नवाञ्जलयो नवपात्राणि, सप्तदशाञ्जलय एव वा। ततो नवश्राद्धं प्रथमदिनवत्। इति नवमदिनकृत्यम्। दशमेऽहनि शरीरपूरणार्थं पिण्डदानम्। कुम्भभोजनदानम्। दशाञ्जलयो दशपात्राणि, एकोनविंश-

तिर्जलाञ्जलयो वा। अथ वा दशाहमध्ये प्रत्यहं दशाञ्जलय एव देयाः न पात्राणि। अत्र पिण्डत्रयदानम्। एकं तत्सखिभ्यो द्वितीयं प्रेताय तृतीयं यमाय। तत्र देशकालौ स्मृत्वा प्रेतस्य प्रेतत्वनिवृत्त्यर्थं पिण्डदानमहङ्करिष्ये। प्रेतसखायः अवनेनिग्ध्वम्। गोत्र प्रेत अवनेनिक्ष्व यम अवनेनिक्ष्व दर्भास्तरणम्। अवनेजनक्रमेण पिण्डदानं प्रत्यवनेजनञ्च। पिण्डानामुदके प्रक्षेपः। ततः सूतकनिवृत्त्यर्थं सर्वे केशश्मश्रुवपन कारयेयुः नखलोमनिकृन्तनञ्च। ततः सर्वेषां सचैलस्नानम्। इति दशाहसम्बन्धि कर्म समाप्तम्॥

दशाहमध्ये दर्शपाते दर्शदिन एव सर्वं दशाहिकं कर्म समापनीयम्, न त्रिरात्रादर्वागिति केचित्। पित्रोस्तु यावदाशौचं दशाहे एवेति मदनपारिजातकारः। अन्येषां तु मातृपितृव्यतिरिक्तानां प्रथमदिनप्रभृतिदर्शपाते सर्वं समापनीयमेव। एतच्च प्रेतनिर्हरणादिकं यतिव्यतिरिक्तानां प्रथमत्रयाणामाश्रमाणां कुर्यात्। तथा च स्मृतिः—त्रयाणामाश्रमाणाञ्च कुर्याद्दाहादिकाः क्रियाः। यतेः किञ्चिन्न कर्तव्यं न चान्येषाङ्करोति सः॥ इति। तथा—एकोद्दिष्टं जलं पिण्डमाशौचं प्रेतसत्क्रियाम्। न कुर्यात्पार्वणादन्यद् ब्रह्मीभूताय भिक्षवे॥ अहन्येकादशे प्राप्ते पार्वणं तु विधीयते॥ इति। ब्रह्मचारी त्वाचार्योपाध्यायमातृपितृव्यतिरिक्तानां निर्हरणादिकं न कुर्यात्। यथाह याज्ञवल्क्यः—आदिष्टी नोदकं कुर्यादाव्रतस्य समापनात्। समाप्ते तूदकं दत्वा त्रिरात्रमशुचिर्भवेत्॥ इति। आचार्यपित्रुपाध्यायान्निर्हृत्यापि व्रती व्रती। सूतकान्नं च नाश्नीयान्न च तैः सह संवसेत्॥ इति। यदि च मोहात्करोति तदा ब्रह्मचर्यव्रतात्प्रच्यवते। पुनरुपनयनेन शुद्धयतीति। सपिण्डीकरणान्तानि श्राद्धानि लौकिकाग्निना कार्याणि। तदुक्तम्—सपिण्डीकरणान्तानि प्रेतश्राद्धानि यानि वै। तानि स्युर्लौकिके वह्नावित्याह चाश्वलायनः॥

अथैकादशाहविधिः। तत्र साग्नेर्दाहदिनादारभ्यैकादशाहे निरग्निकस्य तु मरणदिनादारभ्यैकादशाहे कर्ता विधिवत्स्नात्वा षोडशोपचारैर्विष्णोः पूजनं तर्पणं च कुर्यात्। तत्र समन्त्रकप्राणायामत्रयं विधाय देशकालौ सङ्कीर्त्यामुकगोत्रस्यामुकप्रेतस्य प्रेतत्वनिवृत्त्यर्थं श्रीविष्णोः षोडशभिरुपचारैः पूजनपूर्वकं तर्पणमहङ्करिष्ये। तत्र सर्वौषधितुलसीदुग्धमिश्रमञ्जलिं कृत्वा दक्षिणाभिमुखो यज्ञोपवीती ऋजुदर्भैर्देवतीर्थेन हस्तेनैव तर्पणं कुर्यान्न शङ्खेन। सहस्रशीर्षा पुरुषः इति षोडशभिः प्रत्यृचं तर्पणम्। अनादिनिधनो देवः शङ्खचक्रगदाधरः। अक्षय्य पुण्डरीकाक्ष प्रेतमोक्षप्रदो भव॥ पापहा महाविष्णुस्तृप्यतु। गोविन्दस्तृप्यतु। नारायणस्तृ०। युञ्जते मनः। इदं विष्णुः। इरावती०। देवश्रुतौ देवेषु०। विष्णोर्नुकं०। दिवोवा०। प्रतत्। विष्णोरराटम्। इत्यष्टौ। अदित्यै०। दिवि विष्णुः। अग्नेस्तनूः रक्षोहणं०। रक्षोहणोवो०। अत्यन्याम्। विष्णोः कर्माणि। तद्विष्णोः। वाचस्पतये। उपयामगृहीतोस्यादित्येभ्यस्त्वा। विष्णोः क्रमोऽसि। तद्विप्रासः। त्रीणि पदा। अनेन विष्णुतर्पणेन प्रेतत्वनिवृत्तिरस्तु। इति पुराणोक्तं विष्णुतर्पणम्॥

अथ वृषोत्सर्गः। तत्र देशकालौ स्मृत्वा प्रेतस्य प्रेतत्वनिवृत्त्यर्थमेकादशाहश्राद्धादिकर्तृयोग्यताप्राप्त्यर्थं च वृषोत्सर्गङ्करिष्ये, इति सङ्कल्पः। ततो वस्त्रचन्दनपुष्पताम्बूलादिना होतृब्रह्माणौ वृणुयात्। कर्कमते तु ब्रह्मवरणमात्रम्। होमस्य स्वकर्तृकत्वात्।

अस्माकं तु पुराणे दृष्टत्वादुभयवरणमत्र । ततः स्वयं पञ्चभूसंस्कारान् कृत्वा आवसथ्याग्नेः स्थापनम् । ततोऽष्टानां कलशानां स्थापनम् । ततः प्रतिष्ठा । इमे कलशाः सुप्रतिष्ठिता भवन्तु । होतृब्रह्मप्रणीतानामासनदानम् । ब्रह्मोपवेशनम् । प्रणीतापात्रमध्ये पिष्टादिना व्यवधानं कृत्वा मूलदेशे पय इतरत्र जलं प्रक्षिप्य प्रणयनमग्नेरुत्तरतो निधानं परिस्तरणमग्नेरुत्तरतः पश्चाद्वा पात्रासादनम् । तद्यथा—पवित्रच्छेदनानि । पवित्रे द्वे । प्रोक्षणीपात्रम् । आज्यस्थाली । सम्मार्गकुशाः । उपयमनकुशाः । समिधस्तिस्रः । स्रुवः । आज्यम् । तण्डुलाः । पौष्णश्चरुः पिष्टमयः । तस्य च श्रपणानुपदेशात् सिद्ध एवोपादीयते । होतुर्वस्त्रयुगमं सुवर्णकांस्यादिदक्षिणा च । ब्रह्मणः पूर्णपात्रं वरो वा दक्षिणा । इति पात्रासादनम् । चरुस्थालीमेक्षणयोरुपकल्पनम् । पवित्रकरणम् । प्रोक्षणीसंस्कारः । ततो यथाऽऽसादितानां पात्राणां प्रोक्षणम् । असञ्चरे प्रोक्षणीनान्निधानम् । आज्यस्थाल्यामाज्यनिर्वापः । चरुस्थाल्यां प्रणीतोदकं पय आसिच्य सपवित्रायां तण्डुलावापः । ब्रह्मण आज्याधिश्रयणम् । स्वयमेव चरोरधिश्रयणम् । उभयोः पर्यग्निकरणं स्रुवप्रतपनम् । स्रुवं सम्मृज्य पुनः प्रतपनम् । प्रणीतोदकेनाभ्युक्ष्य देशे निधानम् आज्योद्वासनम् । उत्पूयावेक्षणम् । प्रोक्षण्युत्पवनम् । उपयमनकुशादानम् । समिधोऽभ्याधानम् । प्रोक्षण्युदकेन पर्युक्षणम् । तत इहरतिरिति षडाहुतीर्जुहुयात् । ॐ इह रतिः स्वाहा ॐ इह रमध्वꣳस्वाहा ॐ इह धृतिः स्वाहा ॐ इह स्वधृतिः स्वाहा । एतेषामिदं पशुभ्य इति त्यागः । इहरतिः पशुदेवत्य इति सर्वानुक्रमण्यामुक्तत्वात् । ॐ उपसृजन्धरुणम्मात्रे धरुणो मातरं धयन्स्वाहा । इदमग्नये । ॐ रायस्पोषमस्मासुदीधरत् स्वाहा । इदमग्नये । तत आघारावाज्यभागौ । ॐ प्रजापतये स्वाहा । ॐ इन्द्राय स्वाहा । ॐ ॐ अग्नये स्वाहा । ॐ सोमाय स्वाहा । ततः पायसचरोर्होमः—ॐ अग्नये स्वाहा । ॐ रुद्राय स्वाहा । ॐ शर्वाय स्वाहा । ॐ पशुपतये स्वाहा । ॐ उग्राय स्वाहा । ॐ अशनये स्वाहा । ॐ भवाय स्वाहा । ॐ महादेवाय स्वाहा । ॐ ईशानाय स्वाहा । यथादैवतं त्यागाः । ततः पिष्टचरुहोमः । ॐ पूषा गा अन्वेतु नः पूषा रक्षत्वर्वतः । पूषा वाजान्सनोतु नः स्वाहा । इत्येकामाहुतिं जुहुयात् । इदं पूष्णे० । ततः पायसपिष्टचरुभ्यां स्विष्टकृत् । ॐ अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा । इदमग्नये स्विष्टकृते० । ततो भूराद्या नवाहुतयः—ॐ भूः स्वाहा ॐ भुवः स्वाहा ॐ स्वः स्वाहा ॐ त्वन्नो अग्ने० ॐ सत्वन्नो अग्ने० ॐ अयाश्चाग्ने० ॐ ये ते शतं० ॐ उदुत्तमम्० ॐ भवतन्न० । ॐ प्रजापतये स्वाहा । संस्रवप्राशनम् । आ० पवित्राभ्यां मार्जनम् । अग्नौ पवित्रप्रतिपत्तिः । ब्रह्मणे पूर्णपात्रवरयोरन्यतरस्य दक्षिणात्वेन दानम् । प्रणीताविमोकः । ततोऽश्वत्थपत्रयुक्तकलशे रुद्रमावाह्य गन्धमाल्यादिभिः सम्पूज्य हस्तेन कलशं स्पृशन् रुद्राध्यायं जपेत्, ततः पुरुषसूक्तम् । कुष्माण्डीसंज्ञिकम् । यद्देवादेवहेडनमिति तिस्र ऋचः । षडङ्गरुद्रजपो वा । गरुडपुराणवचनात् । ततो वृषवत्सतरीणां लापनम् अलङ्करणम् । चक्रत्रिशूलकरणम् । अङ्कनम् । वृषस्य कर्णे जपः । वृषो हि भगवान्धर्मश्चतुष्पादः प्रकीर्तितः । वृणे हितमहं भक्त्या स मा रक्षतु सर्वतः । ततो गृहीतपुष्पाञ्जलिर्वृषं त्रिः प्रदक्षिणीकृत्य नमस्कुर्यात् । ततो वृषवत्सतरीणां वस्त्रेण संश्लेषः । अयं हि वो मया दत्तः

सर्वासां पतिरुत्तमः । तुभ्यं चैता मया दत्ता पत्न्यः सर्वा मनोरमाः ।। ततश्चतुःकृत्वोऽग्निं प्रदक्षिणीकृत्य वत्सतरीणामग्निप्रदक्षिणाश्चतस्रः कारयित्वा पुच्छे पुरुषसूक्तेन प्रेतनाम्ना च तर्पणं कार्यम् । तत उत्सर्गः । अद्येत्यादिदेशकालौ स्मृत्वा एतं वृषं रुद्रदैवतं यथाशक्त्यलङ्कृतं गन्धाद्यर्चितमेवंविधवत्सतरीसहितममुकगोत्रस्यामुकप्रेतस्य प्रेतत्वमुक्तयेऽहमुत्सृजामि । एवं युवानं पतिं वो ददामि तेन क्रीडन्तीश्चरथ प्रियेण । सा नः साप्तजनुषा सुभगा रायस्पोषेण समिषा मदेमेति सव्येन पाणिना वृषपुच्छं गृहीत्वा दक्षिणेन कुशतिलसहिता अप आदाय अमुकगोत्रायामुकप्रेताय एष एवं मया दत्तः सन्तारयितुं सर्वदा इत्युच्चार्य तिलहिरण्यसहितमुदकं भूमौ निक्षिपेत् । ततो वत्सतरीमध्यस्थितस्य वृषस्य मयोभूरभिमा वाहिस्वाहेत्यादि स्वर्णसूर्यः स्वाहेत्यन्तेनानुवाकशेषेणाभिमन्त्रणम् । ततो दक्षिणस्कन्धेन वृषप्रेरणम् । यथेष्टपथं पर्यटेति । ततः शक्त्यनुसारेण पायसेन ब्राह्मणानां भोजनम् । सहिरण्यस्य रुद्रकुम्भस्य धेनोश्च होत्रे प्रदानम् । इति वृषोत्सर्गः ।।

ततस्तन्त्रेण चत्वारि श्राद्धानि । आद्यन्नवश्राद्धं प्रथमदिनवत् । तदुक्तङ्गरुडपुराणे स्मृतौ च—प्रथमेऽह्नि तृतीये वा पञ्चमे सप्तमेऽपि वा । नवमैकादशे चैव नवश्राद्धानि कारयेत् ।। इति । पूर्वदिवसमारभ्य न कृतञ्चेदेकादशेऽह्नि कुर्यात् । नवश्राद्धानामन्त्यमासिकानामाद्यं स्वतन्त्रमेकोद्दिष्टमेवेति तत्र स्वतन्त्रैकोद्दिष्टे क्रियमाणे देशकालकर्त्रैक्यात्तन्त्रेणानुष्ठानसिद्धिः । पृथगनुष्ठानपक्षे त्वादौ स्वतन्त्रेणैकोद्दिष्टं ततो नवश्राद्धं ततो मासिकमिति स्मृत्यर्थसारे । तत्रैकादशाहे आद्यमासिकश्राद्धे एकादशब्राह्मणानामामन्त्रणम् । पूर्वेद्युः स्नात्वा विप्रेषु प्रेतनियोजनम् । गतोऽसि दिव्यलोके त्वं कृतान्तविहितात्पथः । मनसा वायुभूतेन विप्रे त्वाऽहन्नियोजये ।। पूजयिष्यामि भोगेन एवं विप्रे निवेदयेत् । अस्तमिते विप्रनिवेशनम् । पाद्यं दत्वा नमस्कृत्य तैलेन पादौ प्रक्षालयेत् । उदिते विप्रस्य केशश्मश्रुनखच्छेदं कारयित्वा स्नानाभ्यञ्जनं च दद्यात् । ततो भूमिभागग्रहणम् । महास्थण्डिलस्य करणम् । नद्यादौ सचैलं स्नात्वा तीर्थानि मनसा ध्यात्वा आत्मनोऽभ्युक्षणम् । एवं शुद्धिङ्कृत्वा ब्राह्मणानामावाहनम् । आगतं दृष्ट्वा स्वागत करणम् । अर्घ्यपाद्यदानम् । आसनोपकल्पनम् । आसने उपवेशनम् । छत्रोपानहद्दानम् । तिलोपचारकरणम् । नामगोत्रमुदाहृत्य प्रेताय तदनन्तरम् । शीघ्रमावाहयेद्विप्रे दर्भहस्तोऽथ भूतले ।। तत्र मन्त्रः—इहलोकं परित्यज्य गतोऽसि परमाङ्गतिम् । मनसा वायुरूपेण विप्रे त्वां योजयाम्यहम् ।। एवमावाह्य तं गन्धपुष्पधूपैः समर्चयेत् । ततो वस्त्राभरणदानम् । पक्वान्नदानम् । अष्टादशपदार्थवर्जितं सकलं श्राद्धम् । वासोहिरण्यदास्युपानच्छत्रोदकुम्भानां गुणवते ब्राह्मणाय दानम् । ततः स्नानम् । तत एकादशभिर्ब्राह्मणै रुद्रश्राद्धम् । ततः स्नानम् । विष्णुपूजनम् । प्रेतोद्देशेन त्रयोदशकुम्भदानम् । त्रयोदशपददानम् । भाजनानि सतिलानि त्रयोदश देयानि । मुद्रिकावस्त्रयुग्मच्छत्रोपानहदानम् । अश्वरथगजमहिषीशय्यादानम् । गोभूतिलहिरण्यादिदानम् । ताम्बूलपूगदानम् । एकादशाहादारभ्याब्दं यावत्सान्नघटदानम् । देवालये पाषाणे वा उपदानदानम् । ऋणधेनुदानम् । ततो वैश्वदेवः ।। इति क्रियापद्धतिः ।।

इति श्रीगदाधरविनिर्मिते कातीयश्राद्धसूत्रभाष्ये चतुर्थी कण्डिका ।। ४ ।।

अनुवाद—सभी प्रकार के प्रकृतिभूत पार्वणश्राद्ध को बतलाकर अब विकृतिभूत एकोदिष्ट श्राद्ध के सम्बन्ध में बतला रहे हैं। एकोदिष्ट श्राद्ध में किसी एक को उद्दिष्ट मानकर एक अर्घ्य, एक पवित्र और एक ही पिण्ड होना चाहिए। इसमें न तो आवाहन होता है और न ही 'अग्नौकरण'। इसमें 'विश्वेदेवाः स्वदित्तम्' इस प्रकार का तृप्ति-प्रश्न भी नहीं किया जाता है। ब्राह्मणों को 'सुस्वदितम्' कहना चाहिए; यजमान के 'उपतिष्ठताम्' ऐसा कहने पर ब्राह्मण कहे 'अक्षय्यस्थाने'। 'अभिरम्यताम्' यह कहकर जब ब्राह्मणों का विसर्जन किया जाये, तब ब्राह्मण कहे—'अभिरताः स्म' ॥ ४ ॥

सपिण्डीकरणविधिः

ततः संवत्सरे पूर्णे त्रिपक्षे द्वादशाहे वा यदहर्वा वृद्धिरापद्येत चत्वारि पात्राणि सतिलगन्धोदकानि पूरयित्वा त्रीणि पितॄणामेकं प्रेतस्य। प्रेतपात्रं पितृपात्रेष्वासिञ्चति, ये समाना इति द्वाभ्याम्। एतेनैव पिण्डो व्याख्यातः। अत ऊर्ध्वᳬ संवत्सरे संवत्सरे प्रेतायान्नं दद्यात् यस्मिन्नहनि प्रेतः स्यात् ।५।

(गदाधरभाष्यम्)—सपिण्डीकरणमाह—'ततः…प्रेतस्य'। संवत्सरे पूर्णे सपिण्डीकरणङ्कार्यम्। अथवा त्रिपक्षे द्वादशाहे वा वृद्धिप्राप्तौ वा कुर्यात्, इति चत्वारः पक्षा दर्शितास्तत्रेयं व्यवस्था—द्वादशाहे पितुः सपिण्डीकरणमग्निमता कार्यम्, सपिण्डीकरणं विना पिण्डपितृयज्ञस्यासिद्धिः; साग्निकस्तु यदा कर्ता प्रेतो वाऽप्यग्निमान्भवेत्। द्वादशाहे तदा कार्यं सपिण्डीकरणं पितुरिति वचनात्। निरग्निकस्तु त्रिपक्षे वृद्धिप्राप्तौ संवत्सरे वा कुर्यात्। यदा प्राक्संवत्सरात्सपिण्डीकरणं तदा षोडश श्राद्धानि कृत्वा सपिण्डीकरणङ्कार्यम् उत सपिण्डीकरणं कृत्वा स्वकाले तानीति संशयः। उभयथा वचनदर्शनात्। श्राद्धानि षोडशादत्वा न तु कुर्यात्सपिण्डनम्। श्राद्धानि षोडशापाद्य विदधीत सपिण्डनम् ॥ इति। षोडश श्राद्धानि च—द्वादशाहे त्रिपक्षे च षण्मासे मासि चाब्दिके। श्राद्धानि षोडशैतानि संस्मृतानि मनीषिभिः ॥ इति दर्शितानि। तथा—यस्यापि वत्सरादर्वाक् सपिण्डीकरणं भवेत्। मासिकञ्चोदकुम्भञ्च देयं तस्यापि वत्सरम् ॥ इति। तत्र सपिण्डीकरणं कृत्वा स्वकाले तानि कर्तव्यानीति प्रथमः कल्पः। अप्राप्तकालत्वेन प्रागनधिकारात्। यदपि वचनं षोडशश्राद्धानि कृत्वैव सपिण्डीकरणं संवत्सरात्प्रागपि कर्तव्यमिति सोऽयमापत्कल्पः। यदा त्वापत्कल्पेन प्राक् स चेत्सपिण्डीकरणात् प्रेतश्राद्धानि करोति तदैकोद्दिष्टविधानेन कुर्यात्। यदा तु मुख्यकल्पेन स्वकाल एव तानि करोति तदाऽऽब्दिकं यो यथा करोति पार्वणमेकोद्दिष्टं वा तथा मासिकानि कुर्यात्। सपिण्डीकरणादर्वाक् कुर्वञ्छ्राद्धानि षोडश। एकोद्दिष्टविधानेन कुर्यात्सर्वाणि तानि तु ॥ सपिण्डीकरणादूर्ध्वं यदा कुर्यात्तदा पुनः। प्रत्यब्दं यो यथा कुर्यात्तथा कुर्यात्स तान्यपि, इति स्मरणात्। चत्वारि पात्राणि पूरयित्वेति चतुर्ग्रहणात् त्रिभ्यः प्रेतस्य पितृपितामहप्रपितामहेभ्य एव दानम्। न च षड्भ्योऽपि। तत्र च त्रीणि पात्राणि पितॄणाम् एकं प्रेतस्य भवति।

'प्रेतपात्रं पितृपात्रेष्वासिञ्चति ये समाना इति द्वाभ्याम्'। प्रेतसम्बन्धि पात्रं गृहीत्वा

पितृपितामहप्रपितामहपात्रेषु ये समाना इति द्वाभ्यां मन्त्राभ्यामासिञ्चति प्रत्यासेकं मन्त्रौ भवतः। आसेकप्रकारो ब्रह्मपुराणे—चतुर्थ्यंश्चार्धपात्रेभ्य एकं वामेन पाणिना। गृहीत्वा दक्षिणेनैव पाणिना सतिलोदकम्॥ संसृजेच्च तथाऽन्येषु ये समाना इति स्मरन्। प्रेतं प्रेतस्य हस्तेषु चतुर्भागजलं क्षिपेत्॥ ततः पितामहादेस्तु तन्मन्त्रैश्च पृथक् पृथक्। इति। वाजसनेयिभिस्तु पूर्वं पितृभ्यो देयं पश्चात्प्रेताय दानम्।

'एतेनैव पिण्डो व्याख्यातः'। यथा प्रेतार्घपात्रस्थं जलं ये समाना इति द्वाभ्यां मन्त्राभ्यां पात्रत्रये स्थापितम् एवमेव प्रेतपिण्डमपि त्रेधा कृत्वा पिण्डत्रितये निदध्यादित्यर्थः। तत्प्रकारश्च ब्रह्मपुराणे—दत्वा पिण्डमथाष्टाङ्गं ध्यात्वा तच्च सुभास्वरम्। सुवर्णरौप्यदर्भैस्तु तस्मिन्पिण्डं ततस्त्रिधा॥ कृत्वा पितामहादिभ्यः पितृभ्यः प्रेतमर्पयेत्। तथा—सुवर्तुलांस्ततस्तांस्तु पिण्डान्कृत्वा प्रपूजयेत्। अर्घैः पुष्पैस्तथा धूपैर्दीपैर्माल्यानुलेपनैः॥ इति। एतच्च प्रेतश्राद्धसहितं सपिण्डीकरणं संविभक्तधनेषु बहुषु भ्रातृषु सत्स्वपि एकेनैव कृतेनालं न सर्वैः कर्तव्यम्। नवश्राद्धं सपिण्डत्वं श्राद्धान्यपि च षोडश। एकेनैव तु कार्याणि संविभक्तधनेष्वपि॥ इति स्मरणात्। मातुः पिण्डदानादौ गोत्रे विप्रतिपत्तिः। भर्तृगोत्रेण पितृगोत्रेण वा देयम्। उभयथा वचनदर्शनात्। मातुः सपिण्डीकरणे विरुद्धानि वाक्यानि दृश्यन्ते। तत्रापि पितामह्यादिभिः सह सपिण्डीकरणं स्मृतमिति। तथा भर्त्राऽपि भार्यायाः स्वमात्रादिभिः सह सपिण्डीकरणं कर्तव्यमिति। पैठीनसिराह—अपुत्रायां मृतायां तु पतिः कुर्यात्सपिण्डताम्। श्वश्र्वादिभिः सहैवास्याः सपिण्डीकरणं भवेत्॥ इति। पत्या सह सपिण्डीकरणं यम आह—पत्या चैकेन कर्तव्यं सपिण्डीकरणं स्त्रियाः। सा मृतापि हि तेनैक्यं गता मन्त्राहुतिव्रतैः॥ इति। उशनसा तु मातामहेन सह सपिण्डीकरणमुक्तम्। पितुः पितामहे यद्वत्पूर्णे संवत्सरे सुतैः। मातुर्मातामहे तद्वदेषा कार्या सपिण्डता॥ इति। एवंविधेषु वचनेषु सत्सु अपुत्रायां भार्यायां प्रमीतायां भर्ता स्वमात्रैव साण्डिच्यं कुर्यात्। अत्राचारादनुष्ठानम्।

'अत ऊर्ध्वं प्रेतायान्नं दद्याद्यस्मिन्नहनि प्रेतः स्यात्'। अतः सपिण्डीकरणादूर्ध्वंम्प्रेतायान्नं दद्याद्यस्मिन्नहनि यस्यान्तिथौ प्रेतः स्यादित्यर्थः। यद्यप्यत्र प्रेतायेत्येकवचननिर्देशस्तथाऽपि स्मृत्यन्तरात् त्रिभ्यो देयम्। मासश्चात्र चान्द्रो ग्राह्यः। यथा परमेष्ठी—आब्दिके पितृकार्ये च चान्द्रो मासः प्रशस्यते। विवाहादौ स्मृतः सौरो यज्ञादौ सावनः स्मृतः॥ इति।

अथ प्रयोगः। द्वादशाहे विधिवत्स्नात्वा विष्णुं सम्पूज्य ऊनमासिकमेकोद्दिष्टं कुर्यात्। ततः स्नानम्। प्रेतोद्देशेन सान्नानां सजलानां द्वादशघटानां दानम्। एका वर्द्धनी पक्वान्नजलपूरिता विष्णवे देया। एको धर्मराजाय घटो देयः। एकश्चित्रगुप्ताय। ततो मासिकानि चतुर्दश श्राद्धान्येकतन्त्रेण। तत्र क्रमः—द्वितीयमासे त्रिपक्षे तृतीयमासे चतुर्थमासे पञ्चममासे षष्ठे ऊनषष्ठे सप्तमे अष्टमे नवमे दशमे एकादशे द्वादशे ऊनाब्दे चेति प्रेतैकोद्दिष्टवत्कार्याणि। ततः स्नात्वा सपिण्डीकरणं कुर्यात्। तत्र पूर्वं वैश्वदेवश्राद्धम्। देवपादप्रक्षालनम्। ततः पार्वणं प्रेतस्य पितृपितामहप्रपितामहानाम्। तदर्थं त्रयाणां पादप्रक्षालनम्। तत्र सर्वम्पार्वणे पार्वणवत् एकोद्दिष्टे एकोद्दिष्टवत्, अत्राद्य

मासे पक्षे तिथौ अमुकगोत्रस्यामुकप्रेतस्य वसुरुद्रादित्यलोकप्राप्त्यर्थम्प्रेतत्वनिवृत्त्यर्थं च अमुकगोत्रस्यामुकप्रेतस्य अमुकगोत्राणां पितृपितामहप्रपितामहानाममुकामुकशर्मणां वैश्वदेवपूर्वकं सैकोद्दिष्टं पार्वणविधिना सपिण्डीकरणश्राद्धं युष्मदनुज्ञयाऽहङ्करिष्ये । आसनम् । आवाहनम् । विश्वेषां देवानां पितॄणां प्रेतस्य चार्घपात्राणि पूरयित्वाऽभ्यर्च्य विश्वेभ्यो देवेभ्योऽर्घं दत्वा ततः प्रेताय जलम्, प्रेतपात्रे जलचतुर्थभागेनार्घन्दत्वाऽवशिष्टमर्घपात्रस्थितञ्जलं पित्रादिपात्रेषु विभज्य तृतीयांशन्निनयेत् । तत्र प्रेतपात्रं पितृपात्रेषु संयोजयिष्य इति पृष्ट्वा संयोजयेत्यनुज्ञातोऽर्घं संयोजयेत् । एवं पिण्डयोजनेऽप्यनुज्ञाप्रार्थनम् । तत्रेदं ये समाना इति मन्त्रद्वयं पठित्वा अमुकगोत्रस्यामुकप्रेतस्यार्घः अमुकगोत्रस्य प्रेतस्य पितुरमुकशर्मणोऽर्घेण सह संयुज्यताम्, वसुलोकप्राप्तिरस्त्विति वदेत् । एवं पितामहपात्रे प्रपितामहपात्रे च । ततस्तेभ्योऽर्घन्दद्यात् । पार्वणे नियमेन विकिरः । पिण्डदाने पूर्वम्पार्वणसम्बन्धिनः पिण्डान्निरुप्य पश्चात्प्रेतपिण्डं त्रेधा विभज्य तत आद्यं भागमादाय ये समाना इति मन्त्रद्वयं पठित्वा अमुकगोत्रस्यामुकप्रेतस्य पिण्डः अमुकगोत्रस्य प्रेतस्य पितुरमुकशर्मणः पिण्डेन सह संयुज्यतामित्युक्त्वा प्रथमं पिण्डं संयोज्य प्रथमम्पिण्डं वर्तुलं कुर्यात् । ततो वसुलोकप्राप्तिरस्त्विति वदेत् । एवमितराभ्यां पिण्डाभ्यां संयोजनम् । अनन्तरं रुद्रलोकप्राप्तिरस्तु, आदित्यलोकप्राप्तिरस्तु, इति यथाक्रमं वदेत् । अत ऊर्ध्वमत्र पितर इति जपादि । पूजनानन्तरं पिण्डानभिमृश्येदं वदेत् । एष वोऽनुगतः प्रेतः पितरस्तं दधामि वः । शिवमस्त्विति शेषाणां जायताञ्चिरजीवितम् ॥ समानीव आकूतिः समाना हृदयानि वः । समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासती ॥ अत ऊर्ध्वं प्रेतशब्दो नोच्चार्योऽक्षय्यादिषु । श्राद्धं समाप्य मोक्षधेनुसङ्कल्पः ॥

इति नवकण्डिकागदाधरभाष्ये सपिण्डीकरणप्रयोगः ।

अनुवाद—इसके बाद एक वर्ष बीत जाने पर सपिण्डीकरण करना चाहिए अथवा बारहवें दिन या तीन पक्ष में या जिस दिन वृद्धिकर्म हो, उस दिन सपिण्डीकरण करना चाहिए । चार अर्घ्यपात्रों को तिल, जल और फूल से भरकर उनमें से तीन पात्रों से पिता-पितामह-प्रपितामह प्रभृति पितरों को अर्घ्य दिया जाय और एक से मृतक को 'ये समाना' मन्त्र पढ़कर मृतक के अर्घ्यपात्र का पितरों के अर्घ्यपात्र से आसेक अर्थात् मृतक के पात्र के जल के चौथे भाग से अर्घ्य देकर शेष जल को पिता आदि के पात्रों में बाँटकर ब्राह्मणों से पूछे—'प्रेतपात्र को हम पितरों के पात्र में मिलायेगें' । जब 'मिलाओ' ऐसा आदेश ब्राह्मण दे, तब ऊपर लिखित ढंग से जल को मिला दें । इसी तरह सपिण्डीकरण के बाद प्रत्येक वर्ष मृतक को जिस तिथि में उसकी मृत्यु हुई हो, अन्न-दान करना चाहिए ॥ ५ ॥

आभ्युदयिकश्राद्धप्रयोगः

आभ्युदयिके प्रदक्षिणमुपचारः पूर्वाह्णे पित्र्यमन्त्रवर्जं जप ऋजवो दर्भा यवैस्तिलार्थाः सम्पन्नमिति तृप्तिप्रश्नः सुसम्पन्नमितीतरे ब्रूयुर्दधिबदराक्षतमिश्राः पिण्डा नान्दीमुखान् पितॄनावाहयिष्य इति पृच्छत्यावाहयेत्यनु-

ज्ञातो नान्दीमुखाः पितरः प्रीयन्तामित्यक्षय्यस्थाने नान्दीमुखान् पितॄन्वाचयिष्य इति पृच्छति वाच्यतामित्यनुज्ञातो नान्दीमुखाः पितरः पितामहाः प्रपितामहा मातामहाः प्रमातामहा वृद्धप्रमातामहाश्च प्रीयन्तामिति न स्वधां प्रयुञ्जीत युग्मानाशयेदत्र ॥ ६ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—वृद्धिश्राद्धमाह—'आभ्युदयिके प्रदक्षिणमुपचारः' । पुत्रजन्मविवाहादौ अभ्युदये यच्छ्राद्धं तदाभ्युदयिकशब्देनोच्यते । तत्र प्रदक्षिणमुपचारः । प्रदक्षिणग्रहणेन यज्ञोपवीतिना प्राक्संस्थमुदक्संस्थं वा प्राङ्मुखेन वा कार्यमिति लभ्यते । शातातपः—अनिष्ट्वा पितृयज्ञेन वैदिकङ्किञ्चिदाचरेत् । तत्रापि मातरः पूर्वं पूजनीयाः प्रयत्नतः ॥ अकृत्वा मातृयागन्तु वैदिकं यः समाचरेत् । तस्य क्रोधसमाविष्टा हिंसामिच्छन्ति मातर इति । मातृगणस्तु भविष्यपुराणे निरूपितः—गौरी पद्मा शची मेधा सावित्री विजया जया । देवसेना स्वधा स्वाहा मातरो लोकमातरः ॥ धृतिः पुष्टिस्तथा तुष्टिरात्मदेवतया सह ॥ इति । विष्णुपुराणे—कन्यापुत्रविवाहेषु प्रवेशे नववेश्मनः । शुभकर्मणि वालानां चूडाकर्मादिके तथा ॥ सीमन्तोन्नयने चैव पुत्रादिमुखदर्शने । नान्दीमुखान्पितॄनादौ तर्पयेत्प्रयतो गृही ॥ इति । जावालिः—यज्ञोद्वाहप्रतिष्ठासु मेखलाबन्धमोक्षयोः । पुत्रजन्मवृषोत्सर्गे वृद्धिश्राद्धं समाचरेत् ॥ मातृश्राद्धं तु पूर्वं स्यात्पितॄणान्तदनन्तरम् । ततो मातामहानां च वृद्धौ श्राद्धत्रयं स्मृतम् ॥ इति । वैदिककर्मसु प्रतिप्रयोगं श्राद्धावृत्तिप्रसक्तावाह कात्यायनः—असकृद्यानि कर्माणि क्रियेरन्कर्मकारिभिः । प्रतिप्रयोगन्नैताः स्युर्मातरः श्राद्धमेव च ॥ इति । सत्यपि वैदिककर्मत्वेऽष्टकादिषु न श्राद्धं कर्तव्यमित्याह कात्यायनः—नाष्टकासु भवेच्छ्राद्धं न श्राद्धे श्राद्धमिष्यते । न सोष्यन्तीजातकर्मप्रोपितागतकर्मसु ॥ 'पूर्वाह्णे' एतदाभ्युदयिकं पूर्वाह्णे भवति नापराह्णे । पुत्रजन्मादौ तु तत्काल एव । 'पित्र्यमन्त्रवर्जञ्जपः' अयच्चाशनत्सु यो जपः स निषिध्यते न त्वायन्तु न इत्ययम् । उदीरतामिति त्रयोदशर्चं पित्र्यमिति पित्र्यमन्त्रसंज्ञा तस्यैव श्रवणात् । 'ऋजवो दर्भाः' । अत्र ऋजवो दर्भा भवन्ति न द्विगुणाः । 'यवैस्तिलार्थाः' । अत्र तिलार्थाः सर्वे यवैः कार्याः । तदत्र मन्त्रेऽपि यवोऽसीत्यूहः कार्यो मुख्यद्रव्याभिधायकत्वात् । 'सम्पन्नमिति तृप्तिप्रश्नः' । तृप्ताःस्थेति पृच्छतीत्यत्र तृप्ताःस्थेत्यस्य स्थाने सम्पन्नमित्ययं प्रश्नो भवति । तथा च छन्दोगपरिशिष्टे—सम्पन्नमिति तृप्ताःस्थप्रश्नस्थाने विधीयते । सुसम्पन्नमिति प्रोक्ते शेषमन्नं निवेदयेत् ॥ इति । 'सुसम्प···पिण्डाः' । दध्ना बदरीफलैरक्षतैश्च मिश्राः पिण्डा अत्र देयाः । 'नान्दी···पृच्छति' । क्व पितॄनावाहयिष्य इत्यस्य स्थाने नान्दीमुखान्पितॄनावाहयिष्य इत्ययं प्रश्नो भवति । 'आवां··· स्थाने' । प्रयोगो भवतीति शेषः । 'नान्दी····पृच्छति' । पितॄन्वाचयिष्य इत्यस्य स्थाने इत्यर्थः । 'वाच्यता···प्रीयन्तामिति' । द्विजैर्वाच्यतामित्यनुज्ञातो नान्दीमुखाः पितर इत्यादि प्रीयन्तामित्यन्तं पठेत । 'न स्वधां प्रयुञ्जीत' । स्वधोच्चारणन्न कुर्यादित्यर्थः । 'युग्मानाशयेदत्र' । अत्रास्मिन्नाभ्युदयिके युग्मान्ब्राह्मणान्भोजयेत् ॥

इति नवकण्डिकागदाधरभाष्ये षष्ठी कण्डिका ॥ ६ ॥

अथ प्रयोगः । तत्र पूर्वं देशकालौ स्मृत्वा अमुकनिमित्तं मातृपूजापूर्वकं वसोर्धारापूर्वकं

च नान्दीश्राद्धमहं करिष्य इति सङ्कल्पः। ततः क्षालितैः शुक्लतण्डुलैः पीठस्योपरि गौर्यादिषोडशमामातॄः स्थापयेत्। तद्यथा—ॐ भूर्भुवः स्वः गणपतिं स्थापयामि। एवं गौरीं स्थापयामि, पद्मां, शचीं, मेधां, सावित्रीं, विजयां, जयां, देवसेनां, स्वधां, स्वाहां, मातॄः, लोकमातॄः, धृतिं, पुष्टिं, तुष्टिम्, आत्मनः कुलदेवतां, स्थापयामि। तत आसां मनोजूतिरिति प्रतिष्ठापनं च। ततः पूजा, गणपतिसहितषोडशमातृभ्यो नमः गन्धं समर्पयामि। पुष्पं धूपं नैवेद्यं ताम्बूलं दक्षिणाः। गणपतिसहितानां षोडशमातॄणां पूजनविधेर्यन्न्यूनं यदतिरिक्तं तत्परिपूर्णमस्तु। इति मातृपूजनम्॥

अथ वसोर्द्धारापूजनम्। द्रवीभूतं घृतं गृहीत्वा कुड्यादिषु वसोः पवित्रमसीति धाराः पञ्च सप्त वा उदक्संस्थाः कुर्यात्। मनोजूतिरिति प्रतिष्ठापूर्वकं वसोर्द्धारादेवताभ्यो नम इति पञ्चोपचारैः पूजयेत्। इति वसोर्द्धाराकरणम्। अथ नान्दीश्राद्धम्। तच्च यथाकुलदेशाचारेण सपिण्डकमपिण्डकं वा कार्यम्। तदुक्तं भविष्यपुराणे—पिण्डनिर्वपणं कुर्यान्न वा कुर्याद्विचक्षणः। वृद्धिश्राद्धे कुलाचारो देशकालाद्यवेक्ष्य हि॥ अपिण्डकेऽग्नौकरणादीनामपि निषेधः। तथाहि—अग्नौकरणमर्घं चावाहनं चावनेजनम्। पिण्डश्राद्धे प्रकुर्वीत पिण्डहीने निवर्तते॥ पिण्डनिर्वापरहितं यत्र श्राद्धं विधीयते। स्वधावाचनलोपोऽस्ति विकिरस्तु न लुप्यते। अक्षय्यं दक्षिणा स्वस्ति सौमनस्यं यथास्थितम्॥ इति।

तच्च सपिण्डकमाभ्युदयिकं लिख्यते। आचमनं प्राणायामः वैश्वदेवार्थे मात्राद्यर्थे पित्राद्यर्थे सपत्नीकमातामहाद्यर्थे च द्वौ द्वौ विप्रौ युग्माः शक्तितो भोज्याः। अमूला ऋजवो दर्भाः। यज्ञोपवीती प्राङ्मुखो दद्यात्। तिलार्थे यवाः। नान्दीमुखाः सत्यवसुसंज्ञका विश्वेदेवा एतद्वः पाद्यम्पादावनेजनं पादप्रक्षालनम् एषोऽर्घः इदमत्र चन्दनं पुष्पं च। अमुकगोत्राः मातृपितामहीप्रपितामह्यः नान्दीमुख्यः एतद्वः पाद्यं पादावनेजनं पादप्रक्षालनम्। एष वोऽर्घः इदमत्र चन्दनं पुष्पम्। अमुकगोत्राः पितृपितामहप्रपितामहाः नान्दीमुखाः युग्मरूपाः एतद्वः पाद्यं पादावनेजनं पादप्रक्षालनम्। एष वोऽर्घः इदमत्र चन्दनं पुष्पम्। अमुकगोत्राः मातामहप्रमातामहवृद्धप्रमातामहाः नान्दीमुखा युग्मरूपा एतद्वः पाद्यं पादावनेजनं पादप्रक्षालनम्। एष वोऽर्घः इ०। तत आचमनं दिग्बन्धनम्। अग्निष्वात्ताः पितृगणाः प्राचीं रक्षन्तु मे दिशम्। तथा बर्हिषदः पान्तु याम्यां ये पितरस्तथा॥ प्रतीचीमाज्यपास्तद्वदुदीचीमपि सोमपाः। उर्ध्वतस्त्वर्यमा रक्षेत्कव्यवाडनलोऽप्यधः॥ रक्षोभूतपिशाचेभ्यस्तथैवासुरदोषतः। सर्वतश्चाधिपस्तेषां यमो रक्षां करोतु मे॥ तिला रक्षन्त्वसुरान्दर्भा रक्षन्तु राक्षसान्। पङ्क्तिं वै श्रोत्रियो रक्षेदतिथिः सर्वरक्षकः॥ निहन्मि सर्वं यदमेध्यवदित्यादि सर्वे इत्यन्तेन मन्त्रेण नीवीबन्धनम्। श्राद्धभूमौ गयामित्यारभ्य गयायै नमः इत्यन्तं पठेत्। ततः कर्मार्थं जलाभिमन्त्रणं, यद्देवा इति तिसृभिर्ऋग्भिः। ततः पाकप्रोक्षणम्। दुष्टदृष्टयादिशूद्रसम्पर्कदोषाः पाकादीनां पवित्रताऽस्त्विति। देशकालपाकपात्रद्रव्यश्राद्धसम्पदस्तु। अद्येत्यादि देशकालौ स्मृत्वा अमुकगोत्राणां मातृपितामहीप्रपितामहीनां नान्दीमुखीनां, तथाऽमुकगोत्राणां पितृपितामहप्रपितामहानां नान्दीमुखानां युग्मरूपाणां तथाऽमुकगोत्राणां मातामहप्रमातामहवृद्धप्रमातामहानां सपत्नीकाना

नान्दीमुखानां युग्मरूपाणां पार्वणत्रयविधिना आभ्युदयिकं श्राद्धमहं करिष्ये । सत्यवसुसंज्ञकानां विश्वेषां देवानामिदमासनम् । हस्तप्रक्षालनम् । उपग्रहविष्टः । गोत्राणां मातृपितामहीप्रपितामहीनां नान्दीमुखीनामिदमासनम् । हस्तप्रक्षालनमुपग्रहविष्टः । गोत्राणां पितृपितामहप्रपितामहानां नान्दीमुखानामिदमासनम् । हस्तप्रक्षालनमुपग्रहविष्टः । गोत्राणां मातामहप्रमातामहवृद्धप्रमातामहानां नान्दीमुखानामित्यादि । सत्यवसुसंज्ञकान्विश्वान्देवानावाहयिष्ये । आवाहयेत्यनुज्ञातो 'विश्वेदेवास' इत्यावाहयेत् । ततो यवैरवकीर्यं 'विश्वेदेवाः श्रृणुतेमम्' इति जपेत् ॥ 'आगच्छन्तु० भवन्तु ते' इति पठेत् । गोत्राः मातृपितामहीप्रपितामहीः नान्दीमुखीः आवाहयिप्ये । आवाहयेत्यनुज्ञातः 'उशन्तस्त्वा' इत्यनया आवाहयेत् । ततो यवैरवकीर्यं 'आयन्तुनः' इति जपेत् । गोत्रान्पितृपितामहप्रपितामहान् नान्दीमुखानावाहयिष्ये । आवाहयेत्यनुज्ञात उशन्तस्त्वेत्यावाहयेत् । यवैरवकीर्यं 'आयन्तुन' इति जपेत् । गोत्रान्मातामहप्रमातामहवृद्धप्रमातामहान्सपत्नीकान्नान्दीमुखानावाहयिष्ये । आवाहयेत्यनुज्ञात आवाहनावकिरणजपाः पूर्ववत् । ततोऽर्घपूरणम् 'शन्नोदेवीः' इत्यनेन । ततो यवावपनम् । यवोऽसि सोमदैवत्य इति । इदमत्र चन्दनं पुष्पं च । अर्घं गृहीत्वा 'या दिव्या' इति मन्त्रेण सत्यवसुसंज्ञका विश्वेदेवा एष वोऽर्घं इति दद्यात् । या दिव्या इति पठित्वा अमुकगोत्रा मातृपितामहीप्रपितामह्य एष वोऽर्घं इति । एवं सर्वत्र । प्रथमे पात्रे संस्रवान्समवनीय पितृभ्यः स्थानमसीति न्युब्जं पात्रं करोति । ततो गन्धपुष्पधूपदीपवाससां च प्रदानम् । सत्यवसुसंज्ञकेभ्यो विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहेति दत्त्वा । गोत्राभ्यो मातृपितामहीप्रपितामहीभ्यो नान्दीमुखीभ्यो यथादत्तङ्गन्धाद्यर्चनम् । गोत्रेभ्यः पितृपितामहप्रपितामहेभ्यो नान्दीमुखेभ्यो यथादत्तं गन्धाद्यर्चनम् । गोत्रेभ्यो मातामहप्र···भ्यो० नान्दी···भ्यो यथाद० । आचमनम् । उद्धृत्य घृताक्तमन्नं पृच्छत्यग्नौ करिष्य इति । कुरुष्वेत्यनुज्ञातस्ततो मेक्षणेनाहुती जुहोति । अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा, सोमाय पितृमते स्वाहेति । निरग्निकस्तु विप्रपाणौ जले वा कुर्यात् । हुतशेषं दत्वा पात्रमालभ्य जपति—'पृथिवी ते पात्रं० स्वाहा'इति । इदं विष्णुर्वि० सुरे इत्यङ्गुष्ठमन्नेऽवगाह्य 'अपहता' इति यवान्विकीर्य । एवं सर्वत्र उष्णह- स्विष्टमन्नं दद्याच्छक्त्या वा । ततः पित्र्यमन्त्रवर्जं जपः । अन्नप्रकिरणम् । आचमनम् । सकृत्सकृद् ब्राह्मणेभ्य उदकदानम् । ततः सप्रणवां गायत्रीं मधुव्वाता इति तृचं च पठेत् । ब्राह्मणाः सम्पन्नमिति तृप्तिप्रश्नः । सुसम्पन्नमिति प्रतिवचनम् । शेषमन्नमप्यस्ति । इष्टैः सह भुज्यताम् । अपहता इत्युच्छिष्टसमीपे । उल्लेखनम् । उदकोपस्पर्शनम् । साग्निकस्योल्मुकनिधानम् । अवनेजनम् । सकृदाच्छिन्नास्तरणम् । पिण्डदानम् । दधिबदराक्षतमिश्रं यथोक्तम् । अत्र पितर इत्युक्त्वोदङ्मुख आस्ते, आतमनात् । आवृत्त्यामीमदन्तेति जपः । ततोऽवनेजनम् । नीवीविसर्गः । नमोव इति षडञ्जलिकरणं घोरशोषवर्जम् । एतद्व इति सूत्रदानम् । पिण्डानामभ्यर्चनादिनैवेद्यान्तम् । आचमनम् । ततः सुप्रोक्षितादि ऊर्ज्जमित्युदकनिषेकान्तम् । नान्दीमुखाः पितरः प्रीयन्तामित्यक्षय्योदकदानम् । तत ऊर्ज्जमित्युदकनिषेकान्तं स्वधावाचनवर्जं पात्रोत्तानकरणम् । ततो दक्षिणादानादिगृहप्रवेशनान्तम् ॥ ६ ॥

इति नवकण्डिकागदाधरभाष्ये आभ्युदयिकश्राद्धप्रयोगः ॥

अनुवाद—आभ्युदयिक श्राद्ध में पूर्व की ओर या उत्तर की ओर मुख कर बैठना चाहिए। उस दिन पहले प्रहर में पितृ मन्त्र की तरह ऋचाओं को छोड़कर 'अयन्तु नः' इत्यादि मन्त्र का जप होगा। प्रयोग में आने वाले कुश पितृकर्म की तरह दुगुने न होकर सामान्य होंगे। तिलों से श्राद्धकर्म यहाँ जौ से सम्पन्न होगा। तृप्ति प्रश्न पहले की तरह न होकर 'सम्पन्नम्' होगा। श्राद्ध में निमन्त्रित अन्य ब्राह्मणों को कहना चाहिए—'सुसम्पन्नम्'। दही, बेर और अक्षतों से युक्त पिण्डदान होना चाहिए। जब यजमान पूछे 'नान्दीमुख पितरों का आवाहन करेंगे' जब उन्हें यह आदेश मिल जाय कि 'आवाहन करो' तो 'अक्षय्योदक' के स्थान पर 'नान्दीमुख पितर प्रसन्न हों' ऐसा प्रयोग होता है। पुनः यजमान पूछे—'हम नान्दीमुख पितर का वाचन करेंगे।' जब उसे 'वाचन करो' ऐसा आदेश मिले तो 'नान्दीमुखा पितरः' इस ऋचा का पाठ करे। 'स्वधा' का उच्चारण नहीं करना चाहिए। इस आभ्युदयिक श्राद्ध में दो ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिए ॥ ६ ॥

द्रव्यविशेषेण तृप्तिविशेषः

अथ तृप्तिर्ग्राम्याभिरोषधीभिर्मासं तृप्तिस्तदभाव आरण्याभिर्मूलफलैरोषधीभिर्वा सहान्नेनोत्तरास्तर्पयन्ति छागोस्रमेषानालभ्य क्रीत्वा लब्ध्वा वा न स्वयम्मृतानाहृत्य पचेन्मासद्वयं तु मत्स्यैर्मासत्रयं तु हारिणेन चतुरऽऔरभ्रेण पञ्च शाकुनेन षट् छागेन सप्त कौर्मेणाष्टौ वाराहेण नव मेषमांसेन दश माहिषेणैकादश पार्षतेन संवत्सरं तु गव्येन पयसा पायसेन वा वार्ध्रीणसमांसेन द्वादश वर्षाणि ॥ ७ ॥

(गदाधरभाष्यम्)—'अथ तृप्तिः'। उच्यत इति शेषः। 'ग्राम्या···तृप्तिः'। पितॄणामिति शेषः। ताश्च यवव्रीहिमाषतिलाद्याः। मनुः—तिलैर्व्रीहियवैर्माषैरद्भिर्मूलैः फलेन वा। दत्तेन मासं प्रीयन्ते विधिवत्पितरो नृणाम्॥ इति। 'तद···ण्याभिः'। मासं तृप्तिरिति वर्तते। ग्राम्याणामभावे आरण्याभिः श्यामाकनीवाराद्याभिः। 'मूल···भिर्वा' स्पष्टमेतत्। 'सहा···यन्ति'। उत्तरा अग्रे वक्ष्यमाणाः पदार्थाः छागादयः सर्वे अन्नेन मूलफलौषधीभिः सह दत्तास्तर्पयन्तीत्यर्थः। न तु केवलाः। 'छागोस्र···पचेत्'। छागोस्रमेषाणां मध्येऽन्यतममन्येन हतं क्रयेण गृहीत्वा अथ लब्धं वाऽऽनीय पितॄँस्तर्पयेत् न तु स्वयम्मृतानामाहरणम्। 'मासद्वयं तु···वर्षाणि'। पाठीनादयो मत्स्याः हरिणादयो मृगाः उरभ्र आरण्यो मेषः शकुनिः पक्षी सोऽप्यनिषिद्धो ग्राह्यः, मेषश्चित्रमृगः वार्ध्रीणसो निगमोक्तः। त्रिपिबं त्विन्द्रियक्षीणं श्वेतं वृद्धमजापतिम्। वार्ध्रीणसं तु तं प्राहुर्याज्ञिकाः श्राद्धकर्मणि॥ त्रिपिबमित्युदकपानसमये मुखं कर्णद्वयं चोदकमध्ये पततीति त्रिपिबः॥

इति नवकण्डिकागदाधरभाष्ये सप्तमी कण्डिका ॥ ७ ॥

अनुवाद—ऊपर श्राद्धकर्म में अनेकों बार तृप्ति शब्द का प्रयोग हुआ है। अतः इस समय उसी तृप्ति की व्याख्या कर रहे हैं। पितरों की तृप्ति एक महीने तक ग्राम्य औषधियों और फल और जल से होती है। ग्राम्य औषधि का तात्पर्य जो, चावल और

तिल से है। यदि ग्राम्य औषधियों का अभाव हो तो जंगली कंद-मूल और फलों से अथवा औषधियों से उन्हें तृप्त किया जा सकता है। आगे कहे जा रहे छागादि पदार्थ जब अन्न, फल, मूल, औषधियों के साथ प्रदान किये जाते हैं, वे भी तुष्टिकारक होते हैं। सींग रहित छाग या भेंड़ खरीद कर या बिना मूल्य दिये पाकर पितरों के उद्देश्य से पकाना चाहिए, परन्तु यह ध्यान रहे कि उस पशु को स्वयं न मारे अथवा वह अपनी स्वाभाविक मौत से न मरा हो। मछली या मांस से दो महीने तक, हिरण के मांस से तीन महीने तक, जंगली भेंड़ के मांस से चार महीने तक, किसी चिड़िया के मांस से पाँच महीने तक, छाग के मांस से छः महीने तक, कछुए के मांस से सात महीने तक, सूकर के मांस से आठ महीने तक, ग्राम्य भेंड़ के मांस से नौ महीने तक, भैंसे के मांस से दस महीने तक, चित्रमृग के मांस से ग्यारह महीने तक, दूध से या दूध के बने पदार्थ से बारह महीने तक और बारह वर्ष तक लाल रंग के छाग के मांस से पितरों की तृप्ति होती है॥ ७॥

अक्षय्यतृप्त्युपायाः

अथाक्षय्यतृप्तिः खड्गमाꣳसं कालशाकं लोहच्छागमाꣳसं मधु महाशल्को वर्षासु मघाश्राद्धꣳहस्तिच्छायायाञ्च, मन्त्राध्यायिनः पूताः शाखाध्यायी षडङ्गविज्ज्येष्ठसामगो गायत्रीसारमात्रोऽपि पञ्चाग्निः स्नातकस्त्रिणाचिकेतस्त्रिमधुस्त्रिसुपर्णी द्रोणपाठको ब्राह्मोढापुत्रो वागीश्वरो याज्ञिकश्च नियोज्या अभावेऽप्येकं वेदविदं पङ्क्तिमूर्धनि नियुञ्ज्यात्, आसहस्रात्पङ्क्तिं पुनातीति वचनात्॥ ८॥

(गदाधरभाष्यम्)—'अथाक्षय्यतृप्तिः'। उच्यत इति शेषः। किमक्षय्यकं द्रव्यमित्यत आह—'खड्ग···सम्'। ललाटे शृङ्गवान्पशुः खड्गः। रक्तच्छागो लोहच्छागः। मधुः, महाशल्कः मत्स्यविशेषः। 'वर्षासु···यायां च'। श्राद्धं तृप्तिकरमिति शेषः। 'मन्त्रा···नियोज्याः'। एते मन्त्राध्यायीमुख्या याज्ञिकान्तास्ते सर्वे पङ्क्तिपावनाः श्राद्धे नियोज्याः। एतेषां नियोजनेन पितृणामक्षय्यतृप्तिरित्यर्थः। मन्त्राध्यायिनः संहिताध्यायिनः। पूता आचरणेन पूताः। षडङ्गवित् शिक्षाकल्पादीनामर्थतो ग्रन्थतश्च वेत्ता। ज्येष्ठसाम्नः सन्ततगाता ज्येष्ठसामगः। अथ ज्येष्ठसाम छन्दोगानां व्रतं साम च तद्योगाज्ज्येष्ठसामगः। गार्हपत्याहवनीयदक्षिणाग्निसभ्यावसथ्याग्निमान् पञ्चाग्निः। त्रिणाचिकेतः यजुर्वेदभागस्तद्व्रतं च तदुभयं योऽधीते यश्च करोति सोऽपि तद्योगात् त्रिणाचिकेतः। त्रिमधुः ऋग्वेदैकदेशः तदधीते तद्व्रतं चरति यः स त्रिमधुः। त्रिसुपर्णी अध्वर्युवेदभागस्यार्थतो ग्रन्थस्याध्येता। द्रोणपाठको धर्मशास्त्रपाठकः। ब्राह्मोढापुत्रो ब्राह्मविवाहपरिणीतापुत्रः। वागीश्वरो विद्वान्। 'अभावे···वचनात्'।

इति नवकण्डिकागदाधरभाष्ये अष्टमी कण्डिका॥ ८॥

अनुवाद—अब अक्षयतृप्ति के सम्बन्ध में बतला रहे हैं। सींग वाले पशु का मांस, काला साग, लाल छाग, मधु, महाशल्क (मछली) आदि से वर्षा ऋतु और मघा

नक्षत्र में तथा हस्ति छाया में किया गया श्राद्ध तृप्तिकारक होता है। हस्ति छाया किसे कहते हैं? इसके सम्बन्ध में बौधायन का एक वचन है—

'सैंहिकेयो यदा भानुं ग्रसते पर्वसन्धिषु।
हस्तिच्छाया तु सा प्रोक्ता तत्र श्राद्धं प्रकल्पयेत्॥
हंसे हस्तस्थिते या स्यादमावास्या करान्विता।
सा ज्ञेया कुञ्जरच्छाया इति बोधायनीस्मृतिः॥
वनस्पतिगते सोमे छाया या प्राङ्मुखी भवेत्।
..................गजच्छाया तु सा प्रोक्ता॥'

श्राद्ध में वेदमन्त्रों के अध्येता, पंक्ति-पावन, किसी शाखा का अध्ययन करनेवाले षडंग वेद के ज्ञाता, ज्येष्ठ नामक साम विशेष का गायन करने वाले, गायत्री जप में निरन्तर निरत, अग्निहोत्री, स्नातक, तृणाचिकेत, अग्निचयन करने वाले, विद्या, जन्म और कर्म से प्रसिद्ध, अनुवाकों के अध्येता, धर्मशास्त्र के विद्वान्, ब्राह्म-विधि से विवाहित दम्पत्ति की संतान, व्याकरणवेत्ता और याज्ञिक ब्राह्मणों की नियुक्ति श्राद्धकर्म में करनी चाहिए। यदि ऐसे ब्राह्मण उपलब्ध न हों तो एक वेद के अर्थ ज्ञाता को ही पहली पंक्ति के प्रारम्भ में बैठा देना चाहिए; क्योंकि ऐसा वचन प्राप्त होता है कि हजारों की संख्या में ब्राह्मणों की पंक्ति को केवल वेद के अर्थ जानने वाला एक ब्राह्मण पवित्र कर देता है॥ ८॥

काम्यश्राद्धानि

अथ काम्यानि भवन्ति स्त्रियोऽप्रतिरूपाः प्रतिपदि द्वितीयायाᳪं स्त्रीजन्माश्वास्तृतीयायां चतुर्थ्यां क्षुद्रपशवः पुत्राः पञ्चम्यां द्यूतर्द्धिः षष्ठ्यां कृषिः सप्तम्यां वाणिज्यमष्टम्यामेकशफं नवम्यां दशम्यां गावः परिचारका एकादश्यां धनधान्यानि द्वादश्यां कुप्यᳪं हिरण्यं ज्ञातिश्रैष्ठ्यं च त्रयोदश्यां युवानस्तत्र म्रियन्ते शस्त्रहतस्य चतुर्दश्याममावास्यायाᳪं सर्वमित्यमावास्यायाᳪं सर्वमिति॥ ९॥

(गदाधरभाष्यम्)—'अथ...सर्वमिति'। प्रतिपदादयश्च कृष्णपक्षजाः। स्त्रीजन्म कन्योदयः। क्षुद्रपशव अजादयः। कृषिः कृषिफलम्। वाणिज्यं वाणिज्यफलम्। परिचारका दासादयः कुप्यं सुवर्णरूप्यव्यतिरिक्तं ताम्रादि। यूनां मृतानां त्रयोदश्यां श्राद्धं देयम्। शस्त्रहतस्येति जलादिद्वात्रिंशद्दुर्मरणेन मृतानामुपलक्षणम्। प्रतिपदादितिथिष्वभिहितानि यानि फलानि तेषु स्वीयमनसोऽभीष्टान्सर्वान्कामानमावास्यायां श्राद्धदः प्राप्नोति। अत्र यद्यपि सर्वकामप्राप्तिरविशेषेण कथिता, तथापि न युगपत्सर्वकामनाप्राप्तिः, अपि तु अमावास्यायामनुष्ठितेन श्राद्धेनैकेनैककामनाप्राप्तिः। एवममावास्यारन्तानुष्ठितेनान्येन श्राद्धेनान्यः काम इति॥

इति श्रीत्रिरग्निचित्सम्राट्स्थपतिश्रीमहायाज्ञिकवामनात्मजदीक्षितगदाधरकृते कातीयश्राद्धसूत्रभाष्ये नवमी कण्डिका॥ ९॥

अनुवाद—श्राद्ध सम्बन्धी उपर्युक्त बातों की चर्चा समाप्त करने के बाद काम्यश्राद्ध का विवेचन करते हैं। काम्यश्राद्ध का अर्थ है—अभीप्सित करना। प्रतिपदा में यह कर्म करने से अद्वितीय सौन्दर्य वाली पत्नी, द्वितीया में कन्या, तृतीया में अश्व, चतुर्थी में छोटे-छोटे पशु, पंचमी में पुत्र, षष्ठी में द्यूतजन्य समृद्धि, सप्तमी में कृषिफल, अष्टमी में वाणिज्य फल, नवमी में एक खुर वाले पशु, दशमी में गायें, एकादशी में भृत्य, द्वादशी में धनधान्य तथा बिरादरी में श्रेष्ठता प्राप्त होती है। युवावस्था में मरे लोगों का या शस्त्राघात से मरे लोगों का यह काम्यश्राद्ध चतुर्दशी को करना चाहिए। अमावास्या के दिन श्राद्ध करने से सभी प्रकार की कामनाओं की सम्पुष्टि होती है।

विशेष—इनके अतिरिक्त कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण गृह्य-कृत्य भी हैं, जो विवेचन-सापेक्ष्य हैं। पञ्चमहायज्ञ, समावर्तन-विधि, उपाक्रम, उत्सर्जन या उत्सर्ग, लांगलयोजन, श्रवणाकर्म, इन्द्रयज्ञ, सीतायज्ञ, नवान्नप्राशन, आग्रहायणी; अष्टकाएँ, शालाक्रम, शूलगव, वृषोत्सर्ग जैसे कर्म हैं—ये सभी व्याख्या-सापेक्ष्य हैं। इन सभी के विवरण अपेक्षित हैं। किन्तु ग्रन्थ-विस्तार के भय से इनका नामोल्लेख मात्र किया गया है। अनुष्ठान-विधि मूल ग्रन्थ में ही दर्शनीय है ॥ ९ ॥

भोजनसूत्रम्

वन्दे श्रीदक्षिणामूर्ति सच्चिदानन्दविग्रहम् ।
सर्वार्थानां प्रदातारं शिवादेहार्धधारिणम् ॥ १ ॥

अनुवाद—श्रीदक्षिणामूर्ति परमात्मा के उस अर्धनारीश्वर रूप की वन्दना करता हूँ, जो सबको अभीष्ट फल देने वाले हैं ॥ १ ॥

अथातः श्रुतिस्मृतीरनुसृत्य भोजनविधिं व्याख्यास्यामः । आचान्तो धृतोत्तरीयवस्त्रो धृतश्रीखण्डगन्धपुण्ड्रो भोजनशालामागत्य गोमयेनोपलिप्य शुचौ देशे विहितपीठाधिष्ठितो नित्यं प्राङ्मुखो न दक्षिणामुखो न प्रत्यङ्मुखो न विदिङ्मुखः । श्रीकामश्चेत्प्रत्यङ्मुखः सत्यकामश्चेदुदङ्मुखो यशस्कामश्चेद्दक्षिणामुखो जीवन्मातृकवर्जं हस्तपादास्येषु पञ्चस्वार्द्रो नीवारचूर्णैर्गोमृदा भस्मनोदकेन वा मण्डलं कुर्यात् । चतुष्कोणं ब्राह्मणस्य त्रिकोणं क्षत्रियस्य मण्डलाकृति वैश्यस्याभ्युक्षणꣳ शूद्रस्य, यथा चक्रायुधो विष्णुस्त्रैलोक्यं परिरक्षति । एवं मण्डलभस्मैतत्सर्वंभूतानि रक्षत्विति । तत्र भूमौ निहितपात्रेऽन्ने परिविष्टे पितुन्नुस्तोषमित्यन्नꣳ स्तुत्वा मानस्तोके नमोवः किरिकेभ्यो नमः शम्भवायेत्यभिमन्त्र्य प्रोक्षयेत्, सत्यन्त्वर्तेन परिषिञ्चामीति प्रातर्ऋतं त्वा सत्येन परिषिञ्चामीति सायम् । तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसीति यजुषाऽन्नमभिमृश्याग्निरस्मीत्यात्मानमग्निं ध्यात्वा भूपतये भुवनपतये भूतानां पतय इति चित्राय चित्रगुप्ताय सर्वेभ्यो भूतेभ्यो नम इति दिवा प्रणवादिकैः स्वाहानमोन्तैर्मन्त्रैः प्रतिमन्त्रं बलीन् हरेत्, अन्तश्चरसि भूतेषु गुहायां विश्वतोमुखः ॥ त्वं ब्रह्म त्वं यज्ञस्त्वं वषट्कारस्त्वमोङ्कारस्त्वं विष्णोः परमं पदम् । अमृतोपस्तरणमसि स्वाहेति विष्णुमन्त्रमभिध्यायन्नाचम्यान्नममृतं ध्यायन् मौनी हस्तचापल्यादिरहितो मुखे पञ्च प्राणाहुतीर्जुहोति ॥ १ ॥

अनुवाद—अब वेद और स्मृति के अनुसार भोजन की रीति की व्याख्या करेंगे । पवित्र जल से आचमन करने के बाद देह पर कोई चादर, दुपट्टा या अंगोछा रखकर, श्रीखण्डचन्दन या सुगन्धित सम्प्रदाय द्योतक कोई तिलक के साथ भोजनालय में आकर पवित्र भूमि को गोबर से लिपकर उस पवित्र स्थान में निर्धारित आसन पर बैठ जाये । नियमित ढंग से पूर्वदिशा की ओर मुँह करके बैठे । पश्चिमाभिमुख न बैठे । दो दिशाओं के मध्यवर्ती बिन्दु की ओर मुँह करके भी नहीं बैठे । लक्ष्मी की कामना से पश्चिम मुँह बैठे । सत्य की कामना से उत्तर दिशा की ओर मुँह करके बैठे । यश की कामना से दक्षिण मुँह बैठे । सजीव मातृकारेखा को छोड़कर हाथ, पैर, मुँह प्रभृति अर्थात् दो हाथ, दो पैर एवं मुँह, इन पाँचों अङ्गों को प्रक्षालित कर अर्थात् गीला कर तिन्नी के चूरे से, कंडे की राख से या जल से गोल या वृत्ताकार मण्डल बनाये । ब्राह्मणों का चतुष्कोण, क्षत्रियों का त्रिकोण और वैश्यों का गोल मण्डल बनाना

चाहिए, शूद्रों का केवल जल से ही अभिषेक होता है। जैसे चक्रायुध भगवान् विष्णु अपने हथियार चक्र से त्रिलोक की रक्षा करते हैं, उसी प्रकार ये मण्डल भस्म सभी प्राणियों की रक्षा करे। वहीं धरती पर रखी थाली के अन्न की—'पितुन्नुस्तोष-मित्यन्नꣳ' इत्यादि मन्त्र पढ़कर स्तुति करे। पुनः—'मानस्तोके नमोवः किरिकेभ्यो नमः शम्भवाय' इस मन्त्र से उस परोसे हुए अन्न को अभिमन्त्रित कर। उस पर जल छिड़क दे। 'सत्यन्त्वर्त्तेन परिषिञ्चामि' यह मन्त्र पढ़कर पूर्वाह्न में तथा—'ऋतं त्वा सत्येन परिषिञ्चामि' पढ़कर उस भोजनार्थ रखे अन्न को जल से अभिषिञ्चित करे। फिर निम्नलिखित मन्त्र पढ़ते हुए अपने आप में अग्निदेव का ध्यान करे—तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसीति यजुषान्नमभिमृश्याग्निरस्मि'। फिर दैनिक पंच महायज्ञों में से एक वलि वैश्वदेव यज्ञ करे। अर्थात् भोजन से पूर्व आहार का कुछ अंश निम्न-लिखित प्रत्येक मन्त्र के साथ वलि दे—'ॐ भूपतये स्वाहा नमः, ॐ भुवनपतये स्वाहा नमः, ॐ भूतानां पतये स्वाहा नमः, ॐ चित्राय नमः स्वाहा, ॐ चित्रगुप्ताय नमः स्वाहा'। तत्पश्चात् निम्नलिखित विष्णु मन्त्र पढ़ते हुए भगवान् विष्णु का ध्यान करते हुए—अन्तश्चरसि भूतेषु गुहायां विश्वतो मुखः। त्वं ब्रह्म त्वं यज्ञस्त्वं वषट्कार-स्त्वमोङ्कारस्त्वं विष्णोः परमं पदम्। अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा'—आचमन करे। तत्पश्चात् परोसे हुए भोजन में 'अमृत' का ध्यान करते हुए स्थिर हाथ से मौन होकर मुख में पाँच प्राणाहुतियाँ डाले ॥ १ ॥

प्राणाय स्वाहाऽपानाय स्वाहा व्यानाय स्वाहा समानाय स्वाहोदानाय स्वाहेति क्रमं याज्ञवल्क्यो मन्यत उदानाय स्वाहेति शौनकबौधायनौ। याज्ञ-वल्क्योदितक्रमो वाजसनेयिनाम्। दन्तैर्नोपस्पृशेत्। जिह्वया ग्रसेदङ्गुष्ठ-प्रदेशिनीमध्यमाभिः प्रथमामङ्गुष्ठमध्यमानामिकाभिर्द्वितीयामङ्गुष्ठाना-मिकाकनिष्ठिकाभिस्तृतीयां कनिष्ठिकातर्जन्यङ्गुष्ठैश्चतुर्थीꣳ सर्वा-भिरङ्गुलीभिः साङ्गुष्ठाभिः पञ्चमीम्। अङ्गुष्ठानामिकाग्राह्यान्ने नैता आहुतय इति हारीतव्याख्यातारः। सर्वाभिरेता इति बौधायनः। मौनं त्यक्त्वा प्राग्द्रवरूपमश्नीयान्मध्ये कठिनमन्ते पुनर्द्रवाशी स्यान्मधुरं पूर्वं लव-णाम्लौ मध्ये कटुतिक्तादिकान् पश्चाद्यथासुखं भुञ्जीत भुञ्जानो वामह-स्तेनान्नं न स्पृशेन्न पादौ न शिरो न बस्ति न पराभोजनꣳ स्पृशेदेवं यथा-रुचि भुक्त्वा भुक्तशेषमन्नमादाय "मद्भुक्तोच्छिष्टशेषं ये भुञ्जते पितरो-ऽधमाः। तेषामन्नं मया दत्तमक्षय्यमुपतिष्ठतु॥" इति पितृतीर्थेन दत्वा-ऽमृतापिधानमसि स्वाहेति हस्तगृहीतानामपामर्धं पीत्वाऽर्धं भूमौ निक्षिपेत्। रौरवे पूयनिलये पद्मार्बुदनिवासिनाम्। अर्थिनाꣳ सर्वभूतानामक्षय्यमुप-तिष्ठत्विति, तस्माद्देशादपसृत्य गण्डूषशलाकादिभिस्तर्जनीवर्जमास्यꣳ शोधयेत् ॥ २ ॥

अनुवाद—पूर्वोक्त पाँच प्राणाहुतियों के ये पाँच मन्त्र हैं—१. प्राणाय स्वाहा, २. अपानाय स्वाहा, ३. व्यानाय स्वाहा, ४. समानाय स्वाहा, ५. उदानाय स्वाहा। मुनि

याज्ञवल्क्य इस क्रम को मानते हैं। ऋषि शौनक और बौधायन के मत से केवल—'उदानाय स्वाहा' कहना ही पर्याप्त है। याज्ञवल्क्य द्वारा प्रतिपादित क्रम केवल वाजसेनेयियों के लिए ही है। इन प्राणाहुतियों को दाँत से न चबाये, प्रत्युत जीभ से चाटकर ही ग्रहण करना चाहिए। अंगूठेभर का वह ग्रास मध्यमा से ग्राह्य है। पहला कौर अंगूठा, मध्यमा और अनामिका अंगुलियों के सहयोग से ग्रहण करना चाहिए, दूसरा कौर अंगूठा, अनामिका और कनिष्ठा के सहयोग से, तीसरा कौर कनिष्ठा, तर्जनी और अंगूठे के सहयोग से, चौथा कौर अंगूठे को छोड़कर चारो अंगुलियों के सहयोग से और पाँचवाँ अन्तिम कौर पाँचों अंगुलियों के सहयोग से ग्रहण करना चाहिए। हारीत के व्याख्याकारों ने केवल अंगुष्ठ और अनामिका से ग्राह्य अन्नों से ही इन आहुतियों का सम्बन्ध माना है। इन सभी से आहुतियाँ दी जायें; यह बौधायन का मत है। मौन छोड़कर पहले गीले पदार्थ खाना चाहिए। भोजन के बीच में कड़ा पदार्थ खाना चाहिए। अन्त में पुनः गीले पदार्थ खाकर ही भोजन समाप्त करना चाहिए। पहले मीठी वस्तु खानी चाहिए, फिर नमकीन और खट्टे या तीखे पदार्थ खाना चाहिए, भोजन के बीच में कडुवा या चरपरा और तिक्त अर्थात् तीता आदि खाना चाहिए। अन्त में अपनी इच्छा के अनुसार भोजन करना चाहिए। भोजन करते समय बाँये हाथ से अन्न को नहीं छूना चाहिए। पैर से, सिर से, पेडू से, या विपरीत दिशा में रखे भोजन का स्पर्श नहीं करना चाहिए। इस प्रकार यथारुचि खाकर भोजनोपरान्त बचे अन्न को लेकर—'मद्भुक्तोच्छिष्टशेषं ये भुञ्जते पितरोऽधमाः। तेषामन्नं मया दत्तमक्षय्यमुपतिष्ठतु'॥ यह पढ़ते हुए अंगूठे और तर्जनी के बीच से गिरा देना चाहिए। फिर हाथ में जल लेकर—'अमृतोपिधानमसि स्वाहा' पढ़कर हाथ का आधा जल पीकर शेष आधे को धरती पर गिरा दे। पुनः—'अर्थिवां सर्वभूतानामक्षय्यमुपतिष्ठत्विति' यह मन्त्र पढ़कर भोजनस्थान से कुछ अलग हटकर, तर्जनी अंगुलि को छोड़कर भरकुल्ला जल और सींक (खरका) से मुँह को साफ करे॥ २॥

न भार्यादर्शनेऽश्नीयान्न भार्यया सह न सन्ध्ययोर्न मध्याह्ने नार्धरात्रे नायज्ञोपवीती नाऽऽर्द्रशिरा नार्द्रवासा नैकवासा न शयानो न ताम्रभाजने न भिन्ने न राजतसौवर्णशङ्खस्फाटिककांस्यभाजनवर्जं न लौहे न मृन्मये न सन्धिसंस्थिते न भुवि न पाणौ न सर्वभोजी स्यात्किञ्चिद्भोज्यं परित्यजेदन्यत्र घृतपायसदधिसक्तुपललमधुभ्यः, साध्वाचान्तो दक्षिणपादाङ्गुष्ठे पाणिं निःस्रावयेदङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो अङ्गुष्ठं च समाश्रितः। ईशः सर्वस्य जगतः प्रभुः प्रीणातु विश्वभुगिति श्वात्राः पीता इति नाभिमालभेत, अमृता इत्यतः प्राग्—'अगस्त्यं वैनतेयं च शनिं च वडवानलम्। आहारपरिणामार्थं स्मरेद्भीमं च पञ्चमम्'॥ इत्युदरमालभ्य—'शर्यातिं च सुकन्यां च च्यवनं शक्रमश्विनौ। भोजनान्ते स्मरेन्नित्यं तस्य चक्षुर्न हीयते'॥ इति स्मृत्वा मुखशुद्धिं कुर्यान्नमो भगवते वाजसनेयाय याज्ञवल्क्याय नमो भगवते वाजसनेयाय याज्ञवल्क्याय॥॥ ३॥

अनुवाद—पत्नी के सम्मुख भोजन न करे, पत्नी के साथ कदापि भोजन न करे। शाम में, दोपहर-दिन में, आधी रात में, जनेऊ के बिना, भींगे सिर, गीले कपड़े पहने, एक ही वस्त्र पहने तथा लेटकर भोजन नहीं करना चाहिए। ताँबे के बरतन में, टूटी-फूटो थाली में भोजन नहीं करना चाहिए। चाँदी, सोने, शङ्ख, स्फटिक और काँसे के बरतन को छोड़कर अन्य किसी पात्र में नहीं खाना चाहिए। लोहे, मिट्टी या जोड़े गये किसी पात्र में भोजन नहीं करना चाहिए। धरती पर या हाथ में लेकर भी भोजन नहीं करना चाहिए। थाली पोछकर सब नहीं खा जाना चाहिए। कुछ भोज्य पदार्थ अवश्य छोड़ देना चाहिए। जिनमें दूसरी जगह घी, खीर, दही, सत्तू, माँस और मधु से भुक्तशेष छोड़ना चाहिए। पुनः अच्छी तरह कुल्ला व आचमन कर दाहिने पैर के अंगूठे में अंगुष्ठमात्र पुरुष की भावना से निम्नलिखित मन्त्र पढते हुए हाथ से जलधारा गिरायें—

'ईशः सर्वस्य जगतः प्रभुः प्रीणातु विश्वभुगिति, श्वात्राः पीता इति नाभिमालभेत, अमृता इत्यतः प्राग्—अगस्त्यं वैनतेयं च शनिं च बडवानलम्॥ आहारपरिणामार्थं स्मरेद्भीमं च पञ्चमम्'॥

यह पढ़ते हुए पेट पकड़कर पुनः पढ़े—

'शर्यातिञ्च सुकन्याञ्च च्यवनं शक्रमश्विनौ।
भोजनान्ते स्मरेन्नित्यं तस्य चक्षुर्न हीयत॥'

इन्हें स्मरण करते हुए—१. नमो भगवते वाजसनेयाय याज्ञवल्क्याय, २. नमो भगवते वाजसनेयाय याज्ञवल्क्याय'—मुँह को अच्छी तरह साफकर 'मुखशुद्धि' करे।

॥ अथ श्रीयोगीश्वरद्वादशनामानि ॥

वन्देऽहं मङ्गलात्मानं भास्वन्तं वेदविग्रहम्।
याज्ञवल्क्यं मुनिश्रेष्ठं जिष्णुं हरिहरप्रभम्॥ १॥
जितेन्द्रियं जितक्रोधं सदा ध्यानपरायणम्।
आनन्दनिलयं वन्दे योगानन्दं मुनीश्वरम्॥ २॥
एवं द्वादश नामानि त्रिसन्ध्यं यः पठेन्नरः।
योगीश्वरप्रसादेन विद्यावान्धनवान् भवेत्॥ ३॥

अनुवाद—मैं मङ्गलात्मन्, देदीप्यमान, वेदरूपी शरीरवाले, सर्वत्र विजेता, भगवान् विष्णु और शिव की प्रभा से युक्त मुनियों में श्रेष्ठ मुनि याज्ञवल्क्य को प्रणाम करता हूँ॥ १॥

इन्द्रियजेता, क्रोधविजेता, सर्वदा ध्यान में तत्पर, आनन्द के आवास, योगानन्द मुनीश्वर को प्रणाम करता हूँ॥ २॥

योगीश्वर के ये बारह नाम प्रातः, सायं और मध्याह्न काल में प्रतिदिन जो पढ़ेगा, वह निश्चित रूप से विद्वान् एवं धनवान् बनेगा॥ ३॥

शुभं भूयात्।

पारस्करगृह्यसूत्रस्थ-अनुक्रमणिका

नोट—प्रस्तुत अनुक्रमणिका में परिशिष्ट भाग में सन्निहित सूत्रों को भी ग्रहण किया गया है। सूची में उनके नाम संक्षेप में उल्लिखित हैं, जिन्हें इस प्रकार समझें — उत्स०—उत्सर्गसूत्रम् (वाप्यादिस्थापनविधिः); शौ०—शौचसूत्रम्; स्ना० = स्नानसूत्रम्; श्रा० = श्राद्धसूत्रम् तथा भो० = भोजनसूत्रम्।

पारस्करगृह्यसूत्रोद्धृत-मन्त्रानुक्रमणिका